गीता-दर्पण

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता पर

श्रीरामेश्वरानन्दी अनुभवार्थ-दीपक भाषा-भाष्य

लेखक—

श्रीस्वामी आत्मानन्दजी मुनि

❀

प्रकाशक—

श्रीआनन्दकुटीर-ट्रस्ट, पुष्कर

❀

द्वितीयावृत्ति २००० } दीपमालिका सं० २००८ { मूल्य ४॥)

पुस्तक मिलनेका पता—

(१) अ० गणपतराम गङ्गाराम सर्राफ,
नया बाज़ार, अजमेर

(२) आनन्द-कुटीर पुष्कर

मुद्रक—
वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर

ग्रन्थ-समर्पणम्

राम ईश्वर इत्याद्या विभोस्तस्यैव चात्मनः ।
संज्ञाः सर्वविदां ज्ञाताः संज्ञाभेदान्न तद्भिदाः ॥ १ ॥
श्रीमद्रामेश्वरानन्द्यनुभवार्थस्य दीपकम् ।
भाष्येदं स्याद्धि सर्वेषामात्मानन्दप्रदायकम् ॥ २ ॥
श्रीकृष्णवदनाम्भोजनिःसृतायाः समन्ततः ।
प्रकाशनाच्च गीताया गीतादर्पणमेव तत् ॥ ३ ॥
आत्मप्रेरणया ह्येतदात्मनैव प्रसादितम् ।
रामेश्वराख्ये सप्रेम सर्वात्मनि निवेदितम् ॥ ४ ॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरिति गीतोक्तितोऽपि च ।
अर्पणीयोऽर्पकश्चापि नो भेदेनोपयुज्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—'राम' 'ईश्वर' इत्यादि उसी व्यापक आत्माकी संज्ञाएँ हैं, ऐसा सर्वज्ञ लोग कहते हैं, इनके संज्ञाभेदसे आत्मभेद नहीं हो जाता । 'श्रीमद्रामेश्वरानन्दी अनुभवार्थ-दीपक' नामका यह भाषा-भाष्य सबको आत्मानन्द प्रदान करनेवाला हो । भगवान् श्रीकृष्णके मुखाम्बुजसे विनिःसृत गीताका सर्वथा प्रकाशक होनेसे यह भाष्य वस्तुतः (गीताका मुख स्पष्टरूप से दिखलानेवाला) 'गीता-द र्पण' रूप ही है । आत्माकी प्रेरणासे आत्मा-द्वारा ही यह भाष्य रचा गया है और श्रीरामेश्वराख्य सर्वात्माके चरणोंमें उसको सप्रेम समर्पण किया जाता है । यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि आत्मा ही आत्माको कैसे समर्पण कर सकता है ? क्योंकि—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ (४ । २४)

इस गीताश्लोकसे भी समर्प्य व समर्पकमें तात्त्विक भेद सिद्ध नहीं होने पर भी व्यवहारिक भेदकी कल्पना करके समर्प्य-समर्पक भाव बनता ही है।

प्राक्कथन

इस ग्रन्थकी प्रथमावृत्ति ब्रह्मलीन योगनिष्ठ स्वामी श्रीत्रिलोकचन्द्रजी मुनि महाराजने अपने 'योगाश्रम उत्कण्ठेश्वर महादेव' की ओरसे प्रकाशित कराई थी, जिसके लिये वे धन्य हैं। इसके बाद इस ग्रन्थके लेखकने अपनी एक दूसरी पुस्तक 'आत्म-विलास'के सहित इस ग्रन्थका प्रकाशन-अधिकार श्रीआनन्द-कुटीर-ट्रस्ट, पुष्करको प्रदान कर दिया था। अत अब इस ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति उक्त ट्रस्टकी ओरसे प्रकाशित हो रही है।

इस ग्रन्थके लेखकने इस आवृत्तिमें इसकी भाषाको अधिक शृङ्खलाबद्ध करनेके लिये इसमें बहुत-कुछ सुधार किया है तथा जहाँ आवश्यकता समझी गई कठिन विषयको अधिक स्पष्ट करनेकी चेष्टा की है। इस ग्रन्थकी प्रथमावृत्तिपर जिन समा-लोचक महाशयोंने इसके विषयपर जो आपत्तियाँ उपस्थित कीं और ग्रन्थके लेखकद्वारा उनका जो समाधान किया गया, पाठकोंके बोधकी वृद्धिके लिये वह सब विषय प्रस्तावनाके अन्तमें 'शङ्का-समाधान' शीर्षकसे जोड़ दिया गया है। महाभारतकी वे घटनाएँ जो गीतोक्त युद्धके परिणाममें फूट निकली थीं, ऐतिहासिक-रूपसे घटित हुई या नहीं, इस विषयमें नई रोशनीके क्षेत्रमें बहुत-कुछ किंवदन्तियाँ फैल रही हैं। 'अहिंसा-तत्त्व' शीर्षक लेखसे इसके लेखकने अपनी अकाट्य युक्तियों व प्रमाणोंद्वारा उनकी ऐतिहासिक सत्यता भली भाँति प्रमाणित की है, जो कि इस आवृत्तिमें महाभारतके 'सक्षिप्त वृत्तान्त'के साथ जोड़ा गया है।

यूँ तो श्रीमद्भगवद्गीतापर अनेक विद्वानोंकी अनेक भाषाओं में अनेक दृष्टिकोणसे अनेक टीका-टिप्पणियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, परन्तु इस ग्रन्थका यह महत्त्व है और इसमें इस विषयपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है कि जिन अनेक साधनोंका गीता में वर्णन हुआ है, उन साधनोंकी ओटमें मूल साध्य ही गुम न

हो जाय । अर्थात् वे साधन ही साध्य मानलिये जायँ, बल्कि वे अपने स्तरपर बने रहकर साध्यकी सिद्धि कर सकें । अतः लेखक महोदयने पाठकोंकी सच्ची सेवा और उनके पारमार्थिक लाभके लिये केवल विद्वत्ताके आधारपर ही नहीं, किन्तु अपने निजी अनुभवके आधारपर अपने विचार पाठकोंके सम्मुख रखे हैं, ऐसी हमारी मान्यता है ।

स्वामी श्रीसनातनदेवजीने इस आवृत्तिकी भाषा संशोधनमें उचित सहायता की है । ट्रस्टकी पुस्तकोंके विक्रियार्थ म० श्रीगणपतरामजी गङ्गारामजी सर्राफकी ओरसे ट्रस्टकी निष्काम सेवा हो रही है । वैदिक-यन्त्रालयके मैनेजर श्रीभगवानस्वरूपजी न्यायभूषण, श्रीवसन्तीलालजी ओझा तथा श्रीकान्तीप्रसादजी रावतने इस प्रकाशनकार्यमें तन-मनसे अपना सहयोग प्रदान किया है । उपर्युक्त सभी सज्जनोंकी निष्काम सेवाके लिये हम आभारी हैं । इसके अतिरिक्त कुछ सज्जनोंने बिना किसी प्रेरणाके अपने ही उदार भावसे प्रेरित हो इस आवृत्तिके प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायता दी है; इसके साथ ही अपने नामोंको प्रकट करनेकी स्वीकृति नहीं दी । इसलिये उनका नाम प्रकाशित न करके केवल रकमकी संख्या ही प्रदर्शित की जाती है—
२०००), १०००), ५००), ५००), ५००), ३००) कुलयोग—४८००)
उनके इस उदारभाव तथा गुप्त दानके लिये हम विशेष कृतज्ञ हैं ।

प्रथमावृत्तिपर जिन समालोचक महाशयोंने अपने उदार भाव इस ग्रन्थके विषयमें प्रकट किये हैं, वे पाठकोंकी जानकारीके लिये प्रकाशित किये जाते हैं ॥ ॐ ॥

मदनमोहन वर्मा एम. ए.
रजिस्ट्रार, राजपूताना-विश्वविद्यालय, जयपुर
(प्रधान, आनन्द-कुटीर-ट्रस्ट, पुष्कर)

इस ग्रन्थके सम्बन्धमें कुछ महानुभावोंके सद्विचार

(1) 'Sind Observer' Karachi, Dated 8/11/44

Prof R S Dwivedi M. A, St Johns College, Agra says —

I have read with great interest & profit Swami Atmanandji's Gita-Darpan in Hindi Its merit lies in the correct exposition of the highest philosophical truths of the Gita in a language that is intelligible to the mind of a layman like myself The treatment of the subject matter is marked by a depth of learning and thought that is rare Swamiji's interpretation establishes a synthesis between 'Karmyog' and Sankhyayog' that is at once masterly & convincing

The most important point emphasised by swamiji is that Karmyog taught by Bhagwan Krishna consists in 'skilled action' (योग कर्मसु कौशलम्) which is neither inaction nor action whose fruit is dedicated to God, but action that is devoid of reactions which create bondage for the doer & cause the endless chain of births and deaths This is अकर्म or सहजकर्म

Gita Darpan thus corrects erroneous views of some of the modern commentations whose approach has been mainly intellectual & who have read in the divine words little more than the approval of their own mental inclinations tempered, as they are, by the contemporary environment Any one interested in the right message of the Gita ought to read Gita Darpan

(१) 'सिंध-ऑबज़र्वर' कराची, ता० ८-११-४४, समालोचक—
पं० श्रीरामस्वरूपजी द्विवेदी एम० ए०, प्रोफेसर सेण्ट-जोन्स कालेज, आगरा

मैंने अत्यन्त रुची तथा लाभके साथ स्वामी आत्मानन्दजीद्वारा रचित 'गीता-दर्पण'का स्वाध्याय किया है। इस ग्रन्थकी विशेषता यह है कि इस में गीताके उच्चतम दार्शनिक तथ्योंका यथार्थ विवेचन ऐसी सरल भाषामें किया गया है, जिसे मेरे-जैसा साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। विषय का प्रतिपादन जिस पाण्डित्य तथा गम्भीर विचारसे किया गया है, वह अन्यत्र नहीं मिलेगा। स्वामीजीकी व्याख्या 'कर्म-योग' व 'सांख्य-योग'का जैसा समन्वय करती है, वह एकदम अनूठी तथा हृदयग्राही है।

स्वामीजीके दृष्टिकोणसे भगवान् श्रीकृष्णद्वारा प्रतिपादित 'कर्म-योग' अर्थात् 'कर्मकौशलता' न तो निष्क्रियतामें ही है और न उस कर्ममें ही है जिसका फल भगवान्के अर्पण कर दिया जाय, वरन् उस यथार्थ कर्ममें है जिसमें वह बन्धनात्मक प्रतिक्रिया नहीं रहती जो कि कर्ताके असंख्य जन्म-मरणके प्रवाहका हेतु होती है। यही वास्तवमें 'अकर्म' या 'सहज कर्म' है। इसप्रकार गीता-दर्पण कतिपय टीकाकारोंके उस नितान्त बौद्धिक दृष्टि-भ्रमका उन्मूलन करता है, जिसके अनुसार उन्होंने तत्कालीन वातावरणसे प्रभावित होकर भगवद्वचनोंमें केवल अपने ही विचारोंकी पुष्टि समझ ली है। अतः गीताके सत्य सन्देशके जिज्ञासुओंको गीता-दर्पण अवश्य पढ़ना चाहिये।

THE 'MODERN REVIEW', Sep. 1942.

Reviewer Swami Jagdishwaranandji

The Sub-title of the book is rightly given Jnana-Yoga-Shastra, as Gita expounds Brahma-Jnana and the means to its realisation. In the lengthy introduction covering more than three hundred pages, the Swami gives a critical analysis of each chapter of the Gita and useful annotations on the nature of Freedom, Bondage, Yoga and other relevant

problems This has made the volume quite interesting and attractive to the general readers for whom it is primarily intended The historical setting in the form of a narrative leading to the origin of the Gita, is appropriately appended to the introduction It must be said to the credit of the author that his exposition has succeeded in carrying his understanding and insight to the reader in a simple manner Because he practises what he writes about, his exposition is so clear and convincing It is a book unique of its kind & is sure to democratise the massage of Gita among the Hindi Reading Public

(२) 'मोडर्न-रिव्यु' कलकत्ता सितम्बर सन् १९४२ समालोचक श्रीस्वामी जगदीश्वरानन्दजी महाराज—

प्रस्तुत पुस्तकका नाम जो 'ज्ञान-योग-शास्त्र' रखा गया है वह उपयुक्त ही है, क्योंकि गीता ब्रह्मज्ञान और उसके साक्षात्कारके साधनोंका ही प्रतिपादन करती है। तीन सौ (३००) पृष्ठसे अधिक इस ग्रन्थकी विस्तृत प्रस्तावनामें स्वामीजीने गीताके प्रत्येक अध्यायका आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए 'मुक्ति', 'बन्धन', 'माया' तथा अन्य सम्बन्धित विषयोंकी उपयोगी व्याख्या की है, जिससे यह ग्रन्थ साधारण जनताके लिये, मुख्यतया जिनको लक्ष्य करके ही यह लिखा गया है, अत्यन्त रोचक तथा हृदयग्राही बन गया है। महाभारतका वह ऐतिहासिक वृत्तान्त भी जो गीताके जन्मका कारण बना, प्रस्तावनाके साथ जोड़ा गया है, वह उपयुक्त ही है। यह माननीय है कि स्वामीजी अपने विश्लेषणद्वारा अपने भाव व अनुभवको सरलताके साथ पाठकोंतक पहुँचानेमें सफल हुए हैं, क्योंकि वे अपने अनुभवके आधारपर लिखते हैं। इसलिये उनकी व्याख्या स्पष्ट व विश्वास करानेवाली है। यह ग्रन्थ अपने ढङ्गका अनुपम है और हिन्दीजनतामें निश्चयसे गीताका सन्देश विस्तृतरूपमें प्रचार कर सकेगा।

(3) 'BOMBAY CHRONICLE' Dated 19-12-43.

Reviewer Hon. Manu Subedar M. L. A. Central

This is an outstanding publication consisting of two parts. The original verses with explanation for each verse are in the second part. There is a note at the end of each chapter, giving a review of the teaching therein. It is, however the first part which is remarkably original contribution to the Gita literature of India. In this the author has dealt in fine terse language with plenty of illustrations and stories with some of the basic doctrines both of Sankhya and of yoga philosophy. He has further given a discourse on each chapter correlating the teaching and picking out the central thread, which is running throughout this great and universally accepted revelation.

A variety of new standpoints, the same teaching in a different form and from a new angle, is therefore helpful, and it is in this light that we strongly recommend lovers of Gita to read this Hindi Publication of Swami Atmanand Muni.

(३) 'बोम्बे-क्रानिकल' ता० १९-१२-४३ समालोचक माननीय श्रीमनु सूबेदार (M. L. A. Central)

यह अमूल्य रचना दो खण्डोंमें विभक्त है। दूसरे खण्डमें मूल श्लोक और उनका भावार्थ दिया गया है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसी अध्याय का स्पष्टीकरण भी दिया गया है। परन्तु यह वह पहला खण्ड है, जो कि भारतके गीता-साहित्यके लिये एक मौलिक और स्वतंत्र देन है। इसमें लेखकने 'सांख्य' व 'योग' दोनोंके मूलभूत सिद्धान्तको अनेकों युक्तियों व दृष्टान्तोंसे सुन्दर व संक्षिप्त भाषामें खोला है। उन्होंने प्रत्येक अध्यायपर समालोचना भी दी है, जिसके द्वारा उन्होंने गीताके उपदेशोंका समन्वय

किया है तथा इस विशाल जगन्मान्य भगवद्वाणीमें आदिसे अन्ततक चलनेवाले सारभूत सूत्रको पकड़कर प्रकट कर दिया है।

नये नये मतोंका कई रूपोंमें प्रतिपादन तथा मूलभूत उपदेशका एक निराले ढंगसे तथा नये दृष्टिकोणसे विवेचन बहुत उपयोगी है। इस आधारपर हम गीताप्रेमियोंको सानुरोध परामर्श देते हैं कि वे इस हिन्दी रचनाका मनन करें।

(४) 'माधुरी' लखनऊ, अक्टूबर सन् १९४४, समालोचक
राय बहादुर श्रीमदनमोहनजी वर्मा, एम० ए०, सेक्रेटरी शिक्षा बोर्ड, अजमेर—

हिन्दुधर्मके आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें श्रीमद्भगवद्गीताका अनूठा स्थान है और यह सद्ग्रन्थ भारतके अतिरिक्त पाश्चात्य देशोंमें भी प्रतिष्ठित है। इस की अनेक टीकाएँ तथा टिप्पणियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, परन्तु बहुधा टीकाकारोंने अपनी-अपनी निष्ठाके अनुसार अपनी टिप्पणियोंमें 'कर्म'को विशेष स्थान देकर साधन और साध्यको अभेद सा कर दिया है। स्वर्गीय विद्यावाचस्पति तिलक महोदयने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'गीता रहस्य'में गीताके सूक्ष्म उपदेशको कर्मपर ही तोड़ दिया है। ज्ञाननिष्ठ श्रीआत्मानन्द मुनिजी महाराजने 'गीता दर्पण' रचकर एक प्रकारसे दूध-का-दूध और पानी का-पानी कर दिया है और अपने स्थानपर कर्मकी उपयोगिताको मानते हुए यह सिद्ध किया है कि निष्काम-कर्म गीताके सूक्ष्म उपदेशकी पराकाष्ठा नहीं है, वरन् आत्म-साक्षात्कारके पात्र बननेका एक साधन है। स्वामीजीने बड़े परिश्रम तथा बड़ी विद्वत्तासे ही नहीं, बल्कि स्वानुभवसे गीताके अमृतमय उपदेशोंमें पद-पदपर जो रहस्य भरा पड़ा है, उसपर खूब ही प्रकाश डाला है। हो सकता है कि आधुनिक टीकाकारोंकी भर-मारसे पीड़ित होकर लेखककी लेखनीमें कर्मवादियोंके प्रति कहीं-कहीं किसी अंशमें कठोरता नहीं तो पक्षपातकी-सी झलक प्रतीत हो और भाषाकी दृष्टिसे कई बातें अनेक बार दुहराई गई मालूम हों, परन्तु उससे यह लाभ

भी होगा कि अधिकतर आधुनिक टीकाकारोंकी टीकाएँ जिन्होंने पढ़ी हैं, उनको तथा अन्य पाठकोंको स्वामीजीके स्पष्ट, विस्तृत व सरल लेखनीद्वारा समझनेमें बड़ी सुगमता होगी। इस दृष्टिसे 'गीता-दर्पण' एक बड़ी ही उपयोगी और नवीन पुस्तक साबित होगी, जिससे जिज्ञासु व विद्वान् परम लाभ उठावेंगे।

(5) 'TRIBUNE' Monday January 10,1944.

What is Karma: wherein lies the salvation of man? What is freedom, bondage, Yoga, knowledge, happiness and Maya? How the universe grew? These and many other relevant questions pertaining to the philosophy of the Gita have been answered in this work of great utility in a lengthy introduction forming the first part, covering more than 300 pages, with a critical analysis of each chapter with useful annotations. It must be said in fairness to the author that the exposition of the various difficult subjects has been given in simple language which is quite understandable by an average reader for whom this work is meant.

The rendering of the original "Slokas" of the Gita into simple Hindi and the lucid disserations given by Swamiji, will certainly help to popularise the great teachings of Lord Krishna, the gospel of Truth and Karma, which has moved many a time the infidels to the depth of their very souls.

(५) 'ट्रिब्यून' लाहौर ता० १० जनवरी सन् १९४४—

कर्म क्या है और किस स्थलपर मनुष्यका इससे निस्तार हो सकता है? 'मुक्ति', 'बन्धन', 'योग', 'ज्ञान', 'आनन्द' और 'माया' क्या हैं? विश्व कैसे उत्पन्न हुआ? ये तथा अन्य बहुत-से गीता-दर्शनसे सम्बन्धित प्रश्न

बड़े रहस्यके साथ इस ग्रन्थकी विशाल प्रस्तावनामें, जो २०० पृष्ठमें है, प्रत्येक अध्यायका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए लाभदायक व्याख्याके साथ हल किये गये हैं। यह कहना न्यायसगत ही होगा कि अनेक कठिन विषय एक सरल भाषामें समझाये गये हैं, जो कि साधारण पाठकके समझमें आने योग्य हैं, जिनको लक्ष्य करके ही यह पुस्तक लिखी गई है। गीताके असली श्लोकोंका हिन्दीमें सरल अनुवाद तथा स्पष्ट विवरण, जो स्वामीजीके द्वारा दिया गया है, वह निश्चयसे भगवान् श्रीकृष्णके महान् उपदेशके प्रचारमें सहायक होगा, जो कि 'सत्य' व 'कर्मका' सन्देश है और जिसने अनेकों बार नास्तिकोंके भी हृदयतलको हिला दिया है।

(6) 'HINDUSTAN TIMES' Monday Jan 10,1944

Commentaries on the Gita are legion. Almost every major Philosophical writer and religious teacher during the last seven hundred years has reinterpreted its rich doctrine to gain support for his own point of view. Swami Atmanand Muni's commentary is an interesting addition to the Gita literature. Swamiji has emphasized the Jnana aspect of Yoga in a way somewhat different from Shankara and reinforced his argument with a wealth of homely illustrations.

(६) 'हिन्दुस्तान टाइम्स' १० जनवरी सन् १९४४

गीतापर अनेकानेक भाष्य हैं, लग भग प्रत्येक दर्शनाचार्य और धर्मोपदेशकने गत ७०० वर्षमें अपने-अपने दृष्टिकोणको समर्थन करनेके लिये गीताके अमूल्य सिद्धान्तकी पुन:पुन: व्याख्या की है। स्वामी आत्मानन्द मुनिका भाष्य गीतासाहित्यके लिये एक चित्ताकर्षक वृद्धि करनेवाला है। स्वामीजीने 'योग' को ज्ञानके पहलूमें ग्रहण किया है जो कि शङ्करसे यत्किञ्चित् भिन्न है और सबके निजी अनुभवमें आनेवाली बहुत-सी साधारण युक्तियों और दृष्टान्तोंसे उसकी पुष्टि की है।

भूमिका

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

अर्थ—गीता ही भली भाँति गायन करनेयोग्य है, जो कि स्वयं पद्मनाभ श्रीभगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली हुई है । अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?

वृत्तान्त सन् १९३४ ई० के प्रारम्भ की चर्चा है कि उस समय लेखक अपने पूज्यपाद श्रीगुरुदेवजीकी सेवामें श्रीराम-झरोखा-आश्रम, बेणेश्वर-धाम (डूँगरपुर-स्टेट राजपूताना) पर निवास कर रहा था । उन्हीं दिनों माघी-पूर्णिमा मेलेके अवसरपर बाँसवाड़ेके एक भक्त कोठारी छगनलालजी श्रीगुरुदेवजीके दर्शनार्थ आश्रमपर आये । सत्संगकी चर्चा-वार्ता चलनेपर उक्त कोठारीजीने अपना यह मन्तव्य प्रकट किया कि 'उस निष्काम-कर्म-योगीके लिये तो उसके अपने कर्मोंका कोई फल शेष रहना ही न चाहिये, जो कर्म-फल ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्मोंमें प्रवृत्त हो रहा है ।' उत्तरमें लेखकका कथन था कि 'ऐसा निष्काम-कर्मयोगी कर्तृत्व अहंकार व कर्तव्य-बुद्धिसंयुक्त है और भेद व परिच्छेद-दृष्टि रखता है, इसलिये उसके कर्मोंका फल अवश्य है । कर्म-फल-त्याग की भावनासे ही उसके कर्म फलशून्य नहीं हो जाते । यद्यपि ऐसी भावना का फल उत्तम है, परन्तु फल है ज़रूर ।' अस्तु, उक्त कोठारीजी एक-दो दिन सत्संग करके अपने गृहको पधारे और लेखक भी कुछ दिनोंके पश्चात् पूज्यपाद श्रीगुरुदेवजीसे आज्ञा प्राप्त कर आश्रमसे विदा हुआ । बाँसवाड़ा, रतलाम, उज्जैन व ग्वालियरकी ओर पर्यटन करता हुआ यह ग्रीष्मऋतुके आरम्भ होनेपर एप्रिल मासमें आबू-पर्वतपर पहुँचा और यहाँ भी रामझरोखा नक्की-तालाबपर आसन किया गया । प्राकृतिक पर्वतीय दृश्य एवं सुन्दर एकान्तवाससे चित्त बहुत मग्न रहने लगा । एकाएक जो विचार

श्रीकोठारीजीके साथ गुरुस्थानपर हुए थे, वे स्फुरण हो आये और इसी विषयमें गम्भीरतापूर्ण विचार होने लगा। इसी आशयसे श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्यपूर्ण मनन किया जाने लगा। उस समय लेखकके पास गीताप्रेस से प्रकाशित भाषा-टीकासहित एक प्रति गीता गुटकाकी ही मौजूद थी। उसीके द्वितीय अध्यायसे मनन आरम्भ किया गया और जहाँ-कहीं उसकी टीका लेखकके विचारोंके साथ मेल नहीं करती थी, वहाँ अपने विचारानुसार उस टीकाकी शुद्धि भी की जाती रही। जिस-जिस श्लोकमें जो-जो गम्भीर भाव लेखककी बुद्धिमें आरूढ हुआ उसको अलग कागज़पर नोट करके उस श्लोकके साथ चस्पाँ किया जाता रहा और अध्यायकी समाप्तिपर उस अध्यायका रहस्यमय स्पष्टीकरण भी लिखकर उसी अध्यायके अन्तमें लगाया जाता रहा। उस समय लेखकके चित्तमें ग्रन्थ-रचनाका कोई विचार उत्पन्न नहीं होता था, किन्तु आत्म-चिन्तनके साथ एक-एक श्लोकको जोड़ कर जो चिन्तनमें चित्तकी प्रवृत्ति होती था, उसमें एक विचित्र आनन्दकी अभिव्यक्ति होती थी। वह आनन्दकी अभिव्यक्ति ही इस कार्यके अग्रसर होनेमें निमित्त बनी। इस प्रकार कभी एक श्लोक और कभी दो श्लोकका मनन शनैः-शनैः स्थिरचित्तसे होता रहा। वर्षारम्भ होनेपर आबू पर्वत तो छूट गया, परन्तु यह कार्य न छूटा। जहाँ-कहीं भी लेखकका पर्यटन होता रहा, इसी प्रकार यह कार्य शान्त चित्तसे चलता रहा।

इस प्रकार एक वर्षमें लगभग ११ अध्याय समाप्त होनेको आये थे कि लेखक सिन्ध व पञ्जाबमें पर्यटन करता हुआ मार्च सन् १९३४ ई० में पटियाला पहुँचा। वहाँ श्रीमान् आर० एन० नारायणस्वामीद्वारा रचित 'भगवदाशयार्थ दीपिका' नामक गीता टीका दृष्टिगोचर हुई। इसका विचार करनेपर जिस अंशमें यह ग्रन्थ लेखकके विचारोंसे मेल नहीं खाता था, उसके नोट किये गये। श्रीलोकमान्य तिलक महोदयके 'गीतारहस्य' तथा कुछ आधुनिक टीकाओंके संस्कार तो लेखकके हृदयमें पूर्वसे ही विद्यमान थे। ग्रीष्म-ऋतुके आरम्भमें सुहृद्वर डाक्टर श्रीपन्नालालजीकी प्रेरणासे लेखक

कालका शिमला-रेल्वेपर पहाड़ी मुक़ाम सलोगड़ा पहुँचा। डाक्टर साहिबने वहाँ श्रीयुत् सरदार हज़ारासिंहजी करोड़ाकी कोठीके एक भागमें लेखकका आसन करा दिया, जो कि एक बहुत ही सुन्दर पर्वतीय दृश्यसे परिपूर्ण एकान्त स्थान था। सर्वप्रकारसे प्रशान्त चित्तमें फिर गुद्गुदी उत्पन्न हुई कि पहले गीतापर सबसे निराली एक तत्त्वपूर्ण प्रस्तावना लिखी जानी चाहिये। अस्तु, यह कार्य आरम्भ हुआ, परन्तु जिस समय चित्त तत्त्व-चिन्तनसे विराम होता था, केवल उस समय ही यह लेख-कार्य हाथमें लिया जाता था। मानो ख़ाली समयका यह एक अवलम्बनमात्र था, यह लेखकार्य ही अपना कोई कर्तव्य नहीं बनाया गया था। इस प्रकार पाँच मास वहाँ रहकर प्रस्तावना बड़े शान्तचित्तसे तथा चित्तके विनोदके लिये लिखी गई। वर्षा-ऋतु वहाँ समाप्त करके हेमन्त व शिशिर-ऋतु लेखकने श्रीपुष्करराजमें निकाली। यहाँ भी दैवयोगसे लेखकको एक सुन्दर एकान्त स्थान मिला, जो कि बुड्ढे-पुष्करके कच्चे रास्तेपर एक ऊँचे टीलेपर 'लालदास के झोंपड़े'के नामसे विख्यात है। यहाँ विचार हुआ कि प्रस्तावना तो लिखी गई, परन्तु जो दृष्टि प्रस्तावनामें स्थिर की गई है, उसी दृष्टिको लेकर गीताके सम्पूर्ण अध्यायोंकी समालोचना भी करनी चाहिये, इसके बिना प्रस्तावना अधूरी ही रह जाती है। अस्तु, प्रस्तावनाके अन्तर्गत समालोचनाका कार्य आरम्भ हुआ। इस प्रकार लग-भग १६ मासमें यह प्रस्तावना-कार्य समाप्त हुआ। प्रस्तावना समाप्त होनेपर श्रीगुरुदेवजीके चरण-कमलोंमें वह निवेदन की गई, जिसको श्रवणकर वे बहुत हर्षित हुए और अपना हार्दिक आशीर्वाद प्रदान किया। इसके लग-भग १५ दिन पीछे अकस्मात् एक विचित्ररूपसे श्रीगुरुदेवजी व्यावरमें ही सगुणरूपको परित्यागकर अपने निर्गुण ब्रह्मस्वरूप में लीन हो गये। शोक है कि वे अपने सगुणरूपसे वस्त्राभूषणसे विभूषित इस ग्रन्थको देख न सके, यद्यपि वे अब भी अपने साक्षीस्वरूपसे इसके साक्षात्-द्रष्टा हैं। जब प्रस्तावना संतोषजनकरूपसे लिखी जा चुकी तो मूल-ग्रन्थ लिखनेका उत्साह हृदयमें उमड़ा और मई सन् १९३८ ई० में

आबूपर्वतपर यह कार्य आरम्भ हुआ। गीतापर नोट तो पहलेसे मौजूद थे ही इसके अतिरिक्त कुछ नवीन विचार और मड़के और इसी प्रकार जहाँ-कहीं लेखकका पर्यटन हुआ, यह कार्य चलता रहा। अन्तत श्रीकृष्ण जन्माष्टमी सम्वत् १९९९ के दिन तीर्थराज पुष्करमें इस ज्ञान-यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। यह लग भग साढे पाँच वर्षके यज्ञका फल है जो आज सहर्ष पाठकोंको समर्पण किया जा रहा है।

ग्रन्थ-महिमा उपर्युक्त श्लोकके अनुसार वस्तुत गीता एक अद्वितीय ग्रन्थ है जो कि वेदान्तके प्रस्थान-त्रयमें सम्मिलित है और व्यावहारिक वेदान्तकी शिक्षा देनेवाला अपने नमूनेका आप ही है। जिस प्रकार समुद्रतीरपर जो-जो मनुष्य जैसा-जैसा पात्र लेकर जाता है वह अपने-अपने पात्रको परिपूर्ण करके ही लौटता है, खाली नहीं आ सकता, इसी प्रकार गीता एक समुद्ररूप गम्भीर ग्रन्थ है। सकाम, निष्काम, भक्तिमान्, वैराग्यवान् अथवा ज्ञानी जैसा जैसा अधिकारी होगा और अपने जैसे-जैसे बुद्धिरूपी पात्रको लेकर वह गीतारूप अमृतके समुद्रको शरणको प्राप्त होगा, उसीके अनुसार वह कृतकृत्य ही होकर लौटेगा, किसी प्रकार खाली नहीं आ सकता।

लेखक अपनी बाल्यावस्थासे ही गीतारूपी कमलका भँवरा बना है और गृहस्थ-कालमें यह लेखकके नित्य पुण्य-पाठका ग्रन्थ रहा है। उस समय वह नित्य ही बड़े प्रेमसे इसका पाठ किया करता था और उस समय की अपनी बुद्धिके अनुसार इसका आशय ग्रहण करके और उसको व्यवहार में लाकर बहुत-कुछ सन्तुष्ट हुआ करता था। तब समय समयपर इसको भगवान्‌से यही प्रार्थना हुआ करती थी कि गीताका यथार्थ आशय हमारी बुद्धिमें आरूढ हो। भगवत्कृपा तथा श्रीसद्गुरु-चरण-कमल-सन्निधानसे जैसा आशय बुद्धिमें आरूढ हुआ है, वह स्वतन्त्रतापूर्वक ज्यों-का-त्यों पाठकोंके सम्मुख रख दिया गया है। ग्रन्थ रचना करते समय किन्हीं अन्य टीकाओंका अनुसरण नहीं किया गया, स्वतन्त्र अपने ही अनुभव

और विचारका आलम्बन लिया गया है। विद्वान् पाठकगण इस त्रुटिके लिये क्षमा करेंगे, हंस-वृत्तिसे साररूप दुग्धको ग्रहणकर असाररूप जलका परित्याग कर देंगे और जो भूल-चूक प्रतीत हो उसको सुधार लेंगे, ऐसी आशा की जाती है।

लेखक अपने व्यक्तिरूपसे अपनेमें इस प्रकारकी कोई योग्यता नहीं पाता, जिससे इस ग्रन्थके लेखक बननेका दावा किया जा सके। किन्तु अपने अनुभवसे इस विषयकी प्रत्यक्ष साक्षी देता है कि कोई एक शक्ति लेखकके हृदयमें अपना आसन जमाये हुए थी, जो यथार्थरूपसे अपना प्रकाश मन-बुद्धिमें फैला रही थी और जो अपने साक्षीरूपसे सब प्रकारकी शंकाओंका समाधान करती रहती थी, जिसके सम्मुख लेखक तो अपने व्यक्तिरूपसे वास्तवमें आज्ञा-पालनरूपसे एक लेखक ही था और नतमस्तक होकर उस की आज्ञाका पालन ही अपना कर्तव्य बनाये हुए था। गीताप्रतिपादित 'कर्म-संन्यास' व 'कर्म-योग' गीताका एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसपर अबतक विभिन्न विचारोंके व्यक्तिगत व सम्प्रदायगत बहुत-से भाष्य व टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इससे यह विषय सरलचित्त जिज्ञासुके लिये और भी अधिक विचारणीय व गम्भीर हो गया है। यदि पाठक पक्षपातरहित दृष्टि धारणकर शान्तचित्तसे इस ग्रन्थका मनन करेंगे तो यह अवश्य इस विषयमें उन पारस्परिक विरोधोंका परिहार करके उन सबका युक्तिपूर्वक यथार्थ समन्वय करनेमें समर्थ होगा, ऐसी लेखककी अपनी धारणा है।

नाम-संस्कार

जिन ब्रह्मलीन श्रीसद्गुरुदेवकी कृपा-कटाक्षसे उक्त विचारोंका स्फुरण हुआ, उनकी अपार कृपाके स्मारकरूपमें इस भावार्थ-दीपक भाष्यका नाम <u>श्रीरामेश्वरानन्दी अनुभवार्थ-दीपक</u> रखा गया है।

यद्यपि देव-वाणीमें अनेक भाष्य व टीकाओंकी उपलब्धि होती है जिनसे गीताका गम्भीर रहस्य प्रकट होता है, तथापि साधारण बुद्धिवालोंके लिये देवनागरीमें यह ग्रन्थ गीताका वास्तविक रहस्य प्रकट करेगा। अर्थात्

ज्यों-का-त्यों गीताका मुँह स्पष्ट दिखलायेगा, ऐसा निश्चय धारकर इस ग्रन्थका नाम 'गीता दर्पण' रखा गया है।

ग्रन्थ-परिचय मूल ग्रन्थके आरम्भसे पहले इस ग्रन्थकी गम्भीर व विस्तृत प्रस्तावना ३३८ पृष्ठ में लिखी गई है। उक्त प्रस्तावनामें जिन विषयोंपर विचार किया गया है, वे पाठकोंको विषय-सूचीसे विदित होंगे। यदि पाठक शान्तचित्तसे उन्हें विचारेंगे तो गीताका वास्तविक रहस्य उनकी बुद्धिमें यथार्थरूपसे आरूढ़ हो सकेगा, इसमें सन्देह नहीं है। इस ग्रन्थकी प्रथमावृत्तिपर जिन समालोचक महाशयोंने इस ग्रन्थके विषयपर जो आपत्तियाँ उपस्थित कीं और लेखकके द्वारा उनका जो समाधान किया गया, प्रस्तावनाके अन्तमें वह सब विषय 'शंका-समाधान' शीर्षकसे उद्धृत किया गया है। इससे ग्रन्थका विषय अधिक स्पष्ट एवं सुदृढ हो जाता है। मूलग्रन्थमें नित्य पुण्य-पाठकोंके लाभके लिये महात्म्य-दृष्टिसे गीताके अङ्गन्यास व करन्यास भी लिखे गये हैं और गीता-ध्यान भी दिया गया है। किन-किन निमित्तोंको लेकर कौरवों तथा पाण्डवोंका युद्ध हुआ, धर्म किस पक्षमें था तथा कैसी-कैसी विषमताओंमें धर्म कैसा-कैसा रूप धारण करता है? इत्यादि विषयोंका दिग्दर्शन करानेके लिये महाभारतका सचित्र ऐतिहासिक वृत्तान्त भी दिया गया है। इसके साथ ही ऐतिहासिक दृष्टिसे गीतोक्त युद्धकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये 'अहिंसा-तत्त्व' शीर्षक एक लेख जोड़ा गया है, जिसमें युक्तियों व प्रमाणोंद्वारा महाभारत तथा गीताकी घटनाएँ ऐतिहासिकरूपसे घटित प्रमाणित की गई हैं।

गीताके मूल श्लोकोंके नीचे प्रत्येक श्लोकके साथ सरल अर्थ दिया गया है, जिससे पाठकोंको श्लोकका शब्दार्थ भली भाँति विदित हो सके। ऊपरके श्लोकसे सम्बन्ध जोड़नेके लिये जिन पदोंका प्रयोग किया गया है वे इस [ ] आकारके कोष्ठमें दिये गये हैं तथा श्लोकका अर्थ सुस्पष्ट करनेके लिये जो पद ऊपरसे लिये गये हैं वे इस ( ) आकारके कोष्ठमें दिये गये हैं। शब्दार्थके नीचे (साधारण श्लोकोंको छोड़कर) प्रत्येक श्लोकका

तात्त्विक भावार्थ भी दिया गया है, जिससे उस श्लोकका तत्त्व पाठकोंके हृदयङ्गम हो सके। भावार्थमें जहाँ-कहीं आवश्यकता समझी गई और प्रस्तावनाके जिस पृष्ठसे उसका सम्बन्ध पाया गया, उस प्रस्तावना-पृष्ठका हवाला भी दिया गया है। यदि पाठक प्रस्तावनाके उस पृष्ठके साथ जोड़ कर भावार्थको विचारेंगे तो विषय यथार्थरूपसे स्पष्ट हो जायगा। प्रत्येक पूर्व श्लोकका अगले श्लोकसे सम्बन्ध भी दिखलाया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्तमें उसी अध्यायका स्पष्टीकरण भी दिया गया है, जिससे समूचे अध्यायका भावार्थ एकत्रितरूपसे पाठकोंको समझनेमें सुगमता हो। इस स्पष्टीकरणमें श्लोकोंके संक्षिप्त रहस्यको थोड़े शब्दोंमें प्रकट करनेका उद्योग किया गया है और जहाँ-जहाँ आवश्यकता पड़ी, अपने तत्त्वनिर्णायक अनुभवको इनके साथ ऊपरसे जोड़ा गया है, जिससे गीताका तत्त्वार्थ पाठकोंके हृदयमें भली भाँति स्थिर हो जाय। स्पष्टीकरणके आदि व अन्तमें एक अध्यायका दूसरे अध्यायसे सम्बन्ध भी दिखलाया गया है। तथा सर्वसाधारणकी बुद्धिमें इस ग्रन्थका तत्त्व आरुढ हो सके, इस दृष्टिसे इस भूमिकाके साथ ही वेदान्तके उन पारिभाषिक शब्दोंकी लक्षणोंसहित वर्णानुक्रमणिका भी दी गई है, जो इस ग्रन्थमें अनेक स्थलोंपर प्रयुक्त हुए हैं। यदि पाठक इनको समझकर और कण्ठ करके इस ग्रन्थका विचारपूर्वक मनन करेंगे तो यह उनको पूर्णतया सन्तोषप्रद होगा।

प्रार्थना

जैसा गीता अ० १८ श्लो० ३०, ३१ व ३२ में कहा गया है, जिस बुद्धिद्वारा धर्माधर्म व कार्याकार्य यथावत् न जाना जा सके वह राजसी बुद्धि है और जिस बुद्धिद्वारा सभी अर्थोंको विपरीत जाना जाय वह तामसी बुद्धि है। केवल एक सात्त्विक बुद्धि ही इस योग्य है जो कि शास्त्रके अर्थ, धर्माधर्म तथा बन्ध-मोक्षका यथार्थ निर्णय करनेमें समर्थ है। इसलिये पाठकमहोदय अपनी शुद्ध सात्त्विक बुद्धिद्वारा इस ग्रन्थ का मनन करनेकी कृपा करके लेखकके परिश्रमको सफल करें और आप नैष्ठिक शान्तिके भागी बनें। जैसा आधुनिक कालमें हिन्दी-साहित्यकी भाषा प्रचलित

है, उसकी बराबरीका भाषा-लालित्य पाठकोंको इस ग्रन्थमें कहीं ढूंढ़ेसे भी न मिलेगा। इसके साथ ही लेखसम्बन्धी व प्रेससम्बन्धी अनेक प्रकारकी अशुद्धियाँ भी पुष्कल मिलेंगी। इन सब त्रुटियोंके रहते हुए पाठकमहोदय अपनी अर्थग्राही सात्त्विक बुद्धिसे इस ग्रन्थमें जो गम्भीर तत्त्व छुपा हुआ है, उसको इसी प्रकार ढूँढ निकालनेकी चेष्टा करेंगे, जिस प्रकार चतुर किसान इक्षु-दण्डमें छुपे हुए रसको निकालकर छिलकोंका परित्याग कर देता है, यही पाठकमहोदयोंसे प्रार्थना है। साथ ही सर्वहृदयविहारी अन्तर्यामीदेवके प्रति विनम्र निवेदन है कि वे अपने वचनानुसार* पाठकोंको ऐसा शुद्ध सात्त्विक बुद्धियोग प्रदान करें, जिससे इस ग्रन्थके विचारद्वारा उनके हृदय हरे-भरे हों और वे परमार्थके अधिकारी बनें।

धन्यवाद

सबसे प्रथम कोटिशः हार्दिक धन्यवाद जगन्नियन्ता सर्वान्तर्यामी श्रीपरमात्मदेवके चरण-कमलोंको है, जिन्होंने अपनी अपार कृपा-कटाक्षसे श्रीसद्गुरुदेवके रूपमें अवतीर्ण हो इस ग्रन्थाकारमें अपने गुणानुवाद गायन करनेका सौभाग्य प्रदान किया।

दूसरा धन्यवाद उन महाशयोंको है जो इस ग्रन्थके प्रकाशनमें सहायक हुए।

हम सबकी ओरसे और सबसे अधिक धन्यवादके पात्र वे पाठक महोदय होंगे, जो श्रद्धासहित व पक्षपातरहित दृष्टि धारकर दत्तचित्तसे इस ग्रन्थका मनन करेंगे और यथाशक्ति धारणापगयण होंगे। क्योंकि केवल उन दुरुहाओं (सच्चे जिज्ञासुओं) को लक्ष्य करके ही और केवल उनके पारमार्थिक लाभके लिये ही ये सब मङ्गलाचरणकी सामग्री एकत्रित की गई है, अर्थात् उनके पारमार्थिक योगके लिये ही यह 'कुङ्कुम पत्र', 'लग्नपत्रिका' रची गई है।।ॐ।।

---

* तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता अ० १० श्लो० १०-११)

लक्षणसहित वेदान्तके उन पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिका

जो इस ग्रन्थमें अनेक स्थलोंपर प्रयुक्त हुए

अधिष्ठान—जिस सत्य वस्तुके आश्रय भ्रम होता है, वह उस भ्रमका 'अधिष्ठान' कही जाती है। जैसे सर्प-भ्रमका रज्जु अधिष्ठान होती है।

अध्यस्त—भ्रमरूप कल्पित वस्तु 'अध्यस्त' कहाती है; जैसे सर्प रज्जुमें अध्यस्त होता है।

अध्यास—भ्रमका नाम 'अध्यास' है। अध्यास दो प्रकार का होता है—(१) अर्थाध्यास (२) ज्ञानाध्यास। भ्रमरूप विषय 'अर्थाध्यास' कहाता है तथा भ्रम-ज्ञान 'ज्ञानाध्यास' कहलाता है। जैसे रज्जुमें भ्रमरूप सर्प 'अर्थाध्यास' तथा सर्प-ज्ञान 'ज्ञानाध्यास' कहा जाता है।

अर्थाध्यासके दो भेद हैं—(१) सम्बन्धाध्यास, इसको पर्याय से संसर्गाध्यास भी कहते हैं और (२) स्वरूपाध्यास। रज्जुमें जब सर्पका भ्रम होता है, तब 'यह सर्प है' ऐसा भ्रमका आकार होता है। तहाँ 'यह' अर्थात् इदंता-धर्म है तो रज्जुगत, परन्तु भ्रमसे प्रतीत होता है सर्पके साथ मिलकर। इस प्रकार रज्जुगत इदंताके सम्बन्धका सर्पमें भान होना 'सम्बन्धाध्यास' कहा जाता है। तथा सर्प तो अपने स्वरूपसे सारे-का-सारा ही भ्रमरूप होनेसे रज्जुमें उसका 'स्वरूपाध्यास' होता है।

अतिव्याप्ति-दोष—जो लक्षण अपने लक्ष्यमें व्यापकर अलक्ष्यमें भी व्याप जाय, ऐसे दुष्ट लक्षणको 'अतिव्याप्ति-दोष' वाला कहते हैं। जैसे 'सींगवाली गौ होती है' ऐसा गौका लक्षण किया जाय तो यह 'अतिव्याप्ति-दोष' है, क्योंकि यह लक्षण महिषीमें भी चला जाता है।

अव्याप्ति-दोष—जो लक्षण अपने लक्ष्यके सर्व अंशमें न व्यापे सो 'अव्याप्ति-दोष' वाला कहाता है। जैसे 'गौ कपिला होती है'

ऐसा गौका लक्षण किया जाय तो यह अव्याप्ति-दोष है, क्योंकि गोजातिमात्रमें यह लक्षण नहीं व्यापता।

आभास—जो वस्तु अपनी कोई सत्ता (हस्ति) न रखती हो, किन्तु दूसरेकी सत्तापर प्रतीतिमात्र हो, सो 'आभास' कही जाती है। जैसे पुरुषकी छाया पुरुषका आभास है।

उपाधि—जो वस्तु अन्य पदार्थसे पृथक् कर दे और आप पृथक् किये गये पदार्थके स्वरूपमें प्रवेश न पावे, उसे 'उपाधि' कहा जाता है। जैसे घट अपने अन्तर्गत आकाशको व्यापक आकाशसे जुदा कर देता है और वह आप आकाशके स्वरूपमें प्रवेश नहीं पाता, इसलिये घट स्वगत आकाशकी उपाधि है।

उपहित—जो वस्तु उपाधिद्वारा जुदा की गई, सो 'उपहित' कहाती है। जैसे घटगत आकाशमात्र घटमें उपहित है।

कारण—जिससे कार्यकी उत्पत्ति हो, वह 'कारण' कहा जाता है। सो कारण दो प्रकारका है—(१) उपादान-कारण—कार्यके स्वरूपमें जिसका प्रवेश हो और जिसके बिना कार्यकी स्थिति न रह सके, सो 'उपादान-कारण' कहा जाता है। जैसे मृत्तिका घट का उपादान-कारण है। (२) निमित्त कारण—कार्योत्पत्तिसे पूर्व जो कार्यसे तटस्थ होकर रहे और जिसके नाशसे कार्यका नाश न हो, सो 'निमित्त कारण' कहा जाता है। जैसे कुम्भकार, दण्ड व चक्रादि घटके निमित्त-कारण हैं।

परिणाम—जो कार्य अपने उपादानमें विकार करके उत्पन्न हो, सो 'परिणाम' कहाता है। जैसे दधि दूधका परिणाम है।

परिणामी-उपादान—जो कारण कार्यरूपमें विकारी हो, सो 'परिणामी-उपादान' कहाता है। जैसे दूध दधिका परिणामी-उपादान है।

परिच्छेद—हद अर्थात् सीमाका नाम 'परिच्छेद' है, सो तीन प्रकारका है। (१) देश-परिच्छेद—जो वस्तु एक देशमें हो और अन्य देशमें न हो, सो 'देश परिच्छेद' है। (२) काल-

परिच्छेद—जो वस्तु एक कालमें हो और अन्य कालमें न हो, सो 'काल-परिच्छेद्य' है। (३) वस्तु-परिच्छेद—जिसमें जाति व व्यक्तिका भेद रहे, सो 'वस्तु-परिच्छेद्य' है।

बाध—तीनों कालमें अभाव-निश्चयका नाम 'बाध' है। जैसे रज्जुज्ञानसे सर्पका बाध, अर्थात् त्रिकालाभाव निश्चय हो जाता है।

भेद—सजातीय, विजातीय व स्वगतरूपसे भेद तीन प्रकारका होता है। (१) एक गौका दूसरी गौसे सजातीय भेद है, (२) गौ का घोड़ेसे 'विजातीय भेद' है तथा (३) अपने शरीरमें हाथका पाँवसे और आँखका नाकसे 'स्वगत भेद' है।

मोक्ष—जन्म-मरणरूप संसारकी निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिका नाम 'मोक्ष' है।

मुमुक्षु—जिसको मोक्षकी तीव्र इच्छा है सो 'मुमुक्षु' है।

विवर्त—जो मिथ्या कार्य अपने सत्य उपादान-कारणमें विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रतीत हो, सो कार्य अपने उपादानका 'विवर्त' कहा जाता है; जैसे मिथ्या-सर्प सत्य-रज्जुका विवर्त है। विवर्त-रूप वस्तुकी अपनी कोई सत्ता नहीं होती, न वह अपने अधिष्ठानमें कोई विकार उत्पन्न कर सकती है।

विवर्तोपादान—जो कारण आप ज्यों-का-त्यों रहकर अपने आश्रय भ्रमरूप कार्यकी प्रतीति करावे, सो 'विवर्तोपादन' कहा जाता है; जैसे रज्जु सर्पका विवर्तोपादन है।

विशेषण—जो अन्य पदार्थोंसे जुदा कर दे और जुदा किये गये पदार्थके स्वरूपमें मिलकर रहे, सो 'विशेषण' कहाता है: जैसे 'नील घट'। यहाँ नीलने स्वगत घटको अन्य घटोंसे पृथक् कर दिया और आप घटके स्वरूपमें प्रविष्ट होकर रहा, इसलिये 'नील' घटका विशेषण है।

विशेष्य—जो वस्तु विशेषणद्वारा जुदा की गई सो 'विशेष्य' कहाती है। जैसे 'नील' विशेषण है 'घट' विशेष्य है।

विशिष्ट—विशेषण व विशेष्य दोनों मिले हुएको 'विशिष्ट' कहते हैं।

सत्ता—हस्ती, अर्थात् भावका नाम 'सत्ता' है, सो तीन प्रकारकी है, (१) व्यावहारिक सत्ता—ब्रह्म-ज्ञान बिना जिसका बाध (तीनों कालमें अभाव-निश्चय) न हो, सो 'व्यावहारिक सत्ता' कही जाती है, जैसे जाग्रत् प्रपञ्चकी व्यावहारिक सत्ता है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान बिना इसका बाध नहीं होता। (२) प्रातिभासिक सत्ता—ब्रह्म-ज्ञान बिना ही जिसका बाध (त्रिकालाभाव-निश्चय) हो जाय, सो 'प्रातिभासिक सत्ता' कहाती है। जैसे स्वप्न-प्रपञ्च तथा भ्रम-रूप सर्पादिकी प्रातिभासिक सत्ता है, क्योंकि दोषके निवृत्त होने पर ब्रह्म-ज्ञान बिना ही इनका त्रिकालाभाव निश्चय हो जाता है। (३) पारमार्थिक सत्ता—जिसका तीनों कालमें अभाव न हो, ऐसे ब्रह्मकी 'पारमार्थिक सत्ता' है।

साक्षी-द्रष्टा—देहेन्द्रियमनबुद्धि यादि देशमें आया हुआ शुद्ध चेतनमात्र, जो आप अचल-कूटस्थ रहता हुआ देहादि और इनके विकारोंको प्रकाश करे, सो 'साक्षी' कहा जाता है। जैसे दो पुरुषोंके झगड़ेमें तीसरा उदासीन पुरुष जो उनके झगड़ोंका देखने-वाला है, साक्षी कहा जाता है। 'साक्षी' 'द्रष्टा' पर्याय शब्द हैं।

साक्ष्य—साक्षीद्वारा जिस वस्तुका प्रकाश हो, सो 'साक्ष्य' कही जाती है।

साधन-चतुष्टय—इनके नाम ये हैं—(१) विवेक—सार क्या है, असार क्या है? ऐसे यथार्थ विचारका नाम 'विवेक' है। (२) वैराग्य—ब्रह्म-लोकपर्यन्त भोग्य पदार्थोंमें रागका अभाव 'वैरा-ग्य' कहाता है। (३) शमादि-षट्-सम्पत्ति, इनके ये नाम हैं—(अ) 'शम'—मनका दमन, (आ) 'दम'—इन्द्रिय-निग्रह, (इ) 'श्रद्धा'—गुरु-शास्त्रके वचनोंमें विश्वास, (ई) 'समाधान'—मानसिक विक्षेप का अभाव, (उ) 'उपराम'—साधनसहित कर्म-त्याग तथा विषवत् विषयोंसे अरुचि, (ऊ) 'तितिक्षा'—क्षुधा-पिपासा व शीतोष्णादि द्वन्द्व-सहिष्णुता। (४) मुमुक्षुता—मोक्षकी तीव्र इच्छा।

ऐसा चार साधनसम्पन्न पुरुष ज्ञानका अधिकारी है।

विषय-सूची

प्रस्तावना (पृ० १-३५८)

श्रीमद्भगवद्गीता (पृ० ३५९-९४०)

॥ इति ॥

प्रस्तावना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पुरुषार्थ क्या है ? संसारमें प्राणिमात्रकी चेष्टा जिस वस्तुके लिये 'आसुप्तेरामृतेः' अर्थात् जाग्रत्से स्वप्नपर्यन्त और जन्मसे मरणपर्यन्त, अविराम गतिसे हो रही है, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सभी प्राणी एक स्वरसे अपनी प्रत्येक चेष्टामें जिसका गीत गा रहे हैं, अर्थात् जिस मधुर वस्तुके लिये जीवमात्रकी दौड़-धूप अटल रूपसे हो रही है और जिसने अपने लिये भूतजातको ऐसा उन्मत्त बनाया हुआ है, मानो उसके बिना संसार शून्य है, उससे भिन्न क्या और कुछ पुरुषार्थ हो सकता है ? पुरुषस्य अर्थः ='पुरुषार्थः' प्राणिमात्रकी इच्छाका जो विषय हो वही पुरुषार्थ है । प्रश्न होता है कि वह वस्तु क्या है, जो बिना किसी विवादके प्राणिमात्रकी इच्छाका विषय बनी हुई है ? कुछ कहनेकी आवश्यकता है ? सुख ! सुख !! केवल सुख !!! हाय ! अरे सुख ! तू कैसा रसीला होगा? जिसने सर्व साधारणके सिरपर हाथ रक्खा हुआ है, किसी एकको भी तो खाली न छोड़ा। कहावत है कि

भस्मासुरने शिवजीकी तपस्या करके यह वर प्राप्त किया कि जिसके सिरपर तू हाथ रखेगा वही भस्म हो जायगा। परन्तु तेरा हाथ तो स्वाभाविक ही सबके सिरोंपर रक्खा हुआ है। न जाने, तुझको यह वर कहाँसे प्राप्त हुआ, जिससे सभी भस्म हो रहे हैं? एक नन्हे-से नन्हा बच्चा भी गर्भसे बाहर निकलते ही तेरे लिये नन्हा-सा होंठ निकाले विलाप करता दीख पड़ता है। तूने तो सबके ही सीनोंको जन्मसे ही दागदार किया हुआ है। रेलें सर-सर दौड़ रही हैं, जहाज़ भर-भर बह रहे हैं, पूजाएँ हर-हर हो रही हैं, सेनाएँ कट-कट लड़ रही हैं, बाज़ारोंमें खच-पच मच रही है, न्यायालयोंमें बक-बकका तार लगा हुआ है, बुलबुलें रो रही हैं, कलियाँ खिल रही हैं, हाथी चिंघाड़ते हैं, शेर दहाड़ते हैं। ये सब किस लिये? साक्षात् अथवा परम्परा करके, जाने अथवा बेजाने, सभी अपने-अपने विचारानुसार अपनी सभी चेष्टाओंमें पूजा कर रहे हैं केवल तेरी ही।

गुञ्चेमें आके महका, बुलबुलमें जाके चहका।
इसको हँसाके मारा, उसको रुलाके मारा ॥

कहा जाता है कि 'उपर्युक्त सभी झमटोंमें सभी प्राणी संसारसम्बन्धी विषय-भोगोंको बटोरते हुए दीख पड़ते हैं, इसलिये विषय-भोग ही पुरुषार्थ ठहरना चाहिये।' परन्तु यह विचार असंगत है क्योंकि भोगोंके लिये कोई भी भोगोंको नहीं चाहता, भोगोंके द्वारा भी सभी प्राणी निर्विवादरूपसे उस सुखको ही बटोरते दीख पड़ते हैं। अर्थात् भोगोंके द्वारा भी सभी प्राणी उस सुखस्वरूपको ही आलिङ्गन करनेके लिये व्याकुल हो रहे हैं और जब-जब जो-जो विषय उनके लिये सुखदायी नहीं रहते, तब-तब उन-उन विषयोंकी उस सुखस्वरूपपर

बलि चढ़ा दी जाती है। आशय यह कि ये विषय-भोग तो हमारे उस सुखस्वरूपकी झाँकी अर्थात् मुँह दिखानेके लिये केवल दर्पण-स्थानीय थे। जबतक उनके द्वारा उस सुखस्वरूपकी झाँकी मिली वे छातीसे चिपटाये रक्खे गये, परन्तु जब वे हमारे दुलारे-प्यारेका मुँह दिखानेके योग्य न रहे, तत्काल पत्थरपर मारकर फोड़ दिये गये। अजी! दर्पण उस समयतक ही बगलमें दबाये फिरते हैं, जबतक वह हमको हमारा मुँह दिखलाता है! परन्तु जब उसकी क़लई उतर गई, तो उस दो कौड़ीके काँचके टुकड़े को कौन चपेटे फिरे! फिर तो वह पत्थरपर रखकर चकनाचूर कर दिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि काँच प्यारा नहीं था, अपना मुँह ही प्यारा था। इसी प्रकार ये विषय प्यारे नहीं थे, किन्तु 'सुख' ही प्यारा था। जबतक 'सुख-बुद्धि' व 'आत्म-बुद्धि' रूपी क़लई इन विषयोंपर लगी हुई रहती है और ये हमको हमारे आत्म-सुखका दर्शन करानेके योग्य रहते हैं, तबतक इनको चिपटाया जाता है; परन्तु जिस काल 'सुख-बुद्धि' व 'आत्म-बुद्धि' रूपी क़लई इनपरसे सर्वथा छूट जाती है, वे तत्काल परित्याग कर दिये जाते हैं। गोपीचन्द्र व भर्तृहरि आदिने धन-दौलत, राज-सिंहासन, वैभव, पुत्र, स्त्री आदि सब पर सुहागा फेर दिया। मीराँ-महारानीने पति और संसार-सम्बन्धी सभी विद्यमान भोगोंपर चौका फेर दिया, जबकि वे उसके लिये सुखस्वरूप न रहे। इससे प्रत्यक्ष है कि विषय-भोग प्यारे नहीं हैं, सुख ही प्यारा है।

यद्यपि प्रत्येक प्राणीको संसारसम्बन्धी विषय-भोग किसी-न-किसी मात्रामें प्राप्त हैं, परन्तु सुखके निमित्त उसकी तृप्ति किसी भी अंशमें दिखाई नहीं पड़ती; बल्कि अधिक ही दौड़-धूप दृष्टि आती है। यहाँतक कि जितना-जितना विषय-भोग

अधिक प्राप्त हुआ, उतनी-उतनी ही सुखकी अग्नि अधिक भड़की। हे परमात्मा ! यह कैसा रोग लगा ? वैरीको भी नसीब न हो ! क्षुधातुरको तो प्रत्येक ग्रासमें संतुष्टि व क्षुधा निवृत्ति देखनेमें आती है, परन्तु यहाँ तो मामला दूसरा ही है, क्षुधा-निवृत्तिके स्थलपर क्षुधा-वृद्धि ही दीख पड़ती है। इसका कारण क्या ? कारण तो स्पष्ट ही है, ये विषय भोग हमको हमारे वाञ्छित सुखस्वरूपका किसी भी अंशमें आलिङ्गन नहीं दिलाते, किन्तु दूरसे ही जुगनूँकी दुमके समान एक क्षणके लिये उसके सौन्दर्यकी झलकमात्र दिखला जाते हैं। जैसे एक मनमोहिनी दूरसे ही परदेकी ओटमें नयनोंकी चोट मार जाती है और प्रेमीका हृदय उसके आलिङ्गनके लिये अधिकाधिक मचलने लग पड़ता है।

[1]वायदे वस्ल चूँ शवद नजदीक ।
आतिशे शौक तेजतर गर्दद ॥

इसी प्रकार ये विषय भोग उस प्रियतमाका किसी भी अंशमें अपने स्वरूपसे आलिङ्गन नहीं कराते, बल्कि उसकी झलकमात्र दिखलाकर प्रेमीके हृदयको अधिक घायल कर देते हैं और उसके मिलापके लिये प्रेमीको जल बिनु मीनकी भाँति अधिक तड़फा देते हैं। तथा अग्निमें घृतकी आहुतिके समान यह प्रेमकी अग्नि इतनी भड़कती है और जोश मारती है, जिससे प्रेमीके हृदयमें यह व्याकुलता होती है कि इसके आलिङ्गनके लिये संसारसे देश-कालकी मर्यादा लुप्त हो जाय और ऐसा गाढ़ आलिङ्गन हो कि जिसमें देश-कालका परिच्छेद

१ अर्थ यह है कि अपने प्यारेसे मिलापका वचन ज्यों-ज्यों निकटतर आता जाता है, त्यों-त्यों उत्साहकी अग्नि अधिकाधिक भड़कती है

ही न रहे। परन्तु यह ही कैसे सकता है? परिच्छिन्न रहकर अपरिच्छिन्नसे भेट कैसे हो? तुच्छ रहकर महान्‌को आलिङ्गन कैसे करें? मैले-कुचैले कपड़े धारण किये रखकर बादशाहसे हाथ कैसे मिलाये जाएँ? यह तो सिरपरसे गुज़रनेकी बाज़ी है।

प्रेम पियाला जो पिये शीश दक्षिणा देय।
लोभी शीश न दे सके नाम प्रेमको लेय ॥

जामे-वहदत (अभेद-प्याला) पीना चाहते हो, तो परे फेंको सांसारिक वासना-कामनारूपी चीथड़े, हाथमें पकड़ो ज्ञानरूपी खड्ग और तीक्ष्ण करो इसको श्रद्धारूपी सानपर। फिर तन-मन-धनसे सद्‌गुरु व सच्छास्त्रकी शरणमें आकर उनकी बतलाई हुई युक्तियोंसे इस (खड्ग) का वार चलाना सीख लो और अपने सिरपर दृढ़तासे ऐसा वार चलाओ कि सिर तनसे जुदा हो जाय। फिर तुम्हारी जय है! सूर्य-चन्द्रमा सबको प्रकाश देनेवाले तुम्हीं हो, तारागण सब तुम्हारे ही हस्त-कौशल हैं, तुम्हारी आँखें खोलनेसे संसारकी उत्पत्ति और तुम्हारी आँखें बंद करनेसे संसारका प्रलय स्वतः सिद्ध है!

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(४।३४,३९)

अर्थ—तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी-पुरुषोंकी भली-भाँति सेवा करके, नम्र भावसे उनको दण्डवत् प्रणाम करके और निष्कपट भावसे बारम्बार प्रश्न करके तू उस ज्ञानको प्राप्त कर, वे तत्त्ववेत्ता ज्ञानी तब तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।

श्रद्धावान् दृढ़तासे तत्पर हुआ व जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है और उस ज्ञानको प्राप्त करके तत्काल ही परम शान्तिरूप परम सुखको प्राप्त हो जाता है। अर्थात् ज्ञान प्राप्त करनेके लिये श्रद्धा, दृढ़ता और जितेन्द्रियता तीनोंका होना ज़रूरी है, तीनोंमेंसे एकके बिना भी न सरेगा।

मोक्ष और बन्धनका स्वरूप

उपर्युक्त व्याख्यासे सिद्ध हुआ कि जिस सुखका देश-काल वस्तुसे परिच्छेद न हो, ऐसा परम सुख ही प्राणिमात्रके जीवन का लक्ष्य है और वही परम पुरुषार्थ है। नित्य एवं अचल सुखकी प्राप्ति और दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिका नाम मोक्ष है। अथवा ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति और बन्धरूप संसारकी निवृत्तिका नाम मोक्ष है। सुखकी नित्य प्राप्ति और दुःखकी नित्य निवृत्ति सर्व साधारणको ही वाञ्छित है, इसलिये मुमुक्षु तो सभी हैं। इस स्थलपर प्रश्न होता है कि बन्धन क्या है और मुक्त किससे होना है? थोड़े विचारसे ही यह स्पष्ट है कि —

'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'

ही बन्धन है। अर्थात् जीवको बारम्बार जन्म लेना और मरणको प्राप्त होना यह जो लख-चौरासीका चक्कर घटी-यन्त्र के समान संसाररूपी कूपके सिरपर चल रहा है जिसमें जीव-रूपी कुम्भ वासनारूपी रज्जुके साथ बंधे हुए अपने-अपने कर्मानुसार जन्म मरणके प्रवाहमें नीचे-ऊपर आते-जाते हैं। संसार-रूपी कूपके सिरपर कालरूपी किसानके द्वारा घुमाया हुआ यह चक्कर कदाचित् समाप्त नहीं होता, यही बन्धन है, यही दुःख है और इससे छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

इसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि—

१—जीवको जन्म-मरण, अहंता-ममतारूप संसारके सम्बन्धसे है।

२—अहंता-ममतारूप संसारका सम्बन्ध शरीरके सम्बन्धसे है। सुषुप्ति-अवस्थामें जब जीवका सम्बन्ध शरीरसे छूट जाता है, तब अहं-ममरूप संसारभी लोप हो जाता है। इस अन्वय-व्यतिरेकसे देहसम्बन्धसे ही संसारसम्बन्ध स्पष्ट सिद्ध है।

३—शरीरसम्बन्ध परिच्छिन्न-दृष्टि करके है।

४—परिच्छिन्न-दृष्टि भेद-दृष्टिरूप है और भेद-दृष्टि अज्ञान-जन्य है।

अथवा इस विषयको यों स्पष्ट किया जा सकता है कि जब यह जीव अपने स्वरूपके अज्ञान करके अपने-आपको किसी परिच्छिन्नरूपमें देखता है और अपनेसे भिन्न इतर संसारको कुछ और जानता है, तब इस भेद-दृष्टि करके अहंता-ममता-द्वारा इसको सुख-प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न हो आती है। था तो अनन्त एवं सुखरूप ही, परन्तु अपने स्वरूपसे च्युत होनेके कारण सुखका इच्छुक होता है। जिस वस्तुके संस्कार भीतर होते हैं उसीकी इच्छा होती है, यह नियम है। जैसे कस्तूरी-मृगके अन्दर कस्तूरीका नाफ़ा विद्यमान होनेसे उसकी गन्धके संस्कारोंसे आवेशमें आया हुआ वह उस गन्धकी तलाशमें वन-वन भटकता फिरता है; इसी प्रकार यह जीव सुखका भण्डार अपने अन्दर भरपूर रखता हुआ, अज्ञानके कारण उसको अपने अन्दर न जान, मृगके समान उस परम सुखकी महकसे मोहित हुआ चारों ओर सुखके लिये भटकता फिरता है:—

अब मोहें फिर फिर आवत हाँसी।
सुखस्वरूप हो सुखको ढूँढे, जलमें मीन पियासी ॥

सुखकी इच्छा अज्ञान करके ही होती है और यही दुःख है। सारांश, कुछ परिच्छिन्नरूप बनकर अहंता-ममताद्वारा सुखकी इच्छासे यह जीव कर्तृ-बुद्धि धारकर कर्ममें प्रवृत्त होता है और भेद-दृष्टि करके किसी वस्तुमें अनुकूल-बुद्धि और किसीमें प्रतिकूल-बुद्धि करता है। फिर अनुकूल-बुद्धिके विषय पदार्थोंमें राग और प्रतिकूल-बुद्धिके विषय पदार्थोंमें द्वेष करने लगता है। इस प्रकार यह प्रकृतिकी नीतिके साथ बन्धायमान हो जाता है। और उस नीतिमें यह नियम किया गया है कि राग पुण्यका हेतु है और द्वेष पापका। इस प्रकार अज्ञान करके सुखकी इच्छासे कर्तृत्व बुद्धिके बन्धनमें फँसा हुआ यह जीव राग-द्वेषद्वारा पुण्य-पापके फल सुख-दुःखके भोगके निमित्त देहरूपी कारागारमें डाला जाता है। फिर सुखकी इच्छासे देहके द्वारा कर्म करता है और उसके फलभोगके लिये फिर देहको प्राप्त होता है, क्योंकि देहके बिना भोग हो नहीं सकता, इसीलिये इसे 'भोगायतन'[१] कहा गया है। इस रीतिसे कर्मसे देह और देहसे कर्मका प्रवाह ऐसा अटल रूपसे चल पड़ता है कि जिसका कदाचित् अन्त नहीं आता, चाहे संसारका प्रलय भी क्यों न हो जाय। एक प्रलय क्या, चाहे अनन्त ब्रह्मा भी अपनी-अपनी आयु व्यतीत करके विदेहमुक्त क्यों न हो जाएँ, परन्तु इस जीवका यह देह व कर्मका चलाया हुआ चक्र कदापि शान्त नहीं हो सकता.—

> अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
> राञ्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥

१. भोग भोगनेका स्थान ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ (८।१८,१९)

अर्थ—ब्रह्माके दिन-प्रवेश कालमें अव्यक्तरूप मायासे ये सभी व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं और ब्रह्माके रात्रि-प्रवेश कालमें उसी अव्यक्त संज्ञावाली मायामें सब प्रलय हो जाते हैं। हे पार्थ! इसी प्रकार यह भूतसमुदाय हो-होकर परवश ब्रह्माकी रात्रिमें अव्यक्तमें लीन होता है और दिनमें उत्पन्न होता रहता है।

संसारमें ऐसी कोई शक्ति नहीं जो इसपर दया करके इसके इस अनिष्ट प्रवाहको रोक देवे, जबतक यह आप ही उलटकर अपने स्वरूपकी ओर न आवे और ज्ञानाग्निसे अज्ञानजन्य इस कर्ता-बुद्धि व भेद-दृष्टिको दग्ध न कर देवे। क्योंकि प्रकृतिके राज्य में यह नियम किया गया है कि 'जो करेगा वही भरेगा', कर्ताको भोक्ता बनना पड़ेगा ही। कर्मसंस्कार सदैव कर्ता-बुद्धिके आश्रय रहते हैं, इसलिये जबतक कर्ता-बुद्धि हाज़िर है और अपने परमानन्दस्वरूपमें ठीक-ठीक प्रवेश करके इसको दग्ध नहीं किया गया, वे कर्मसंस्कार अवश्य कर्ताको भोक्तृत्वके बन्धनमें लायेंगे, यह अनिवार्य है। है भी यों ही, कि जब इन कर्तापन व कर्म आदि सभी संकल्पोंमें यह सत्यस्वरूप परमात्मा विराजमान है और उसकी देख-रेखमें यह सब व्यापार हुआ है, फिर उसको अन्यथा करनेको कौन समर्थ है? उस त्र्यम्बक की आँखोंमें कोई कैसे लौन डाल सकता है? करते समय यह थोड़े ही जाना था कि मुझे किसीने देखा है; यदि जाना होता तो करता ही नहीं; परन्तु उस देखनेवालेसे आँखें कौन चुरा सकता है? वह तो दिव्य-दृष्टि है।

यह सितम[1] है कि उसके हैं चश्म[2] कहाँ ?
पर ऐसी किसीकी नज़र[3] ही नहीं।
है नूर[4]का उसके ज़हूर[5] खिला,
पर है वह कहाँ ? यह खबर ही नहीं ॥

खाते समय तो मीठी-मीठी जानकर गाजरें खा गये, पर अब पेटमें चलने लगीं कटारियाँ। आशय यह है कि कर्मोंमें सत्यस्वरूप परमात्मा विराजमान है, इसलिये वे किसी प्रकार फलशून्य नहीं हो सकते, वे अवश्य फलोन्मुख होकर कर्ताको भोक्ताके बन्धनमें डालते हैं। साराश, देहकी प्राप्ति दु:खभोगके लिये ही है, क्योंकि सासारिक सुख भी दु:खसे सना हुआ होनेके कारण दु:खरूप ही है। दु:ख सुखके हेतु पुण्य-पापके संस्कार हैं। पुण्य-पाप राग-द्वेष करके होते हैं। राग-द्वेषका मूल अनुकूल व प्रतिकूल-ज्ञान है। अनुकूल व प्रतिकूल-ज्ञानका हेतु अहंता-ममताद्वारा सुखके निमित्तसे कर्ता-बुद्धि है। कर्ता-बुद्धि भेद-दृष्टि करके है और भेद-दृष्टि अपने स्वरूपके अज्ञानसे है। अर्थात् भेद-दृष्टि करके अहंता-ममताद्वारा जब इस जीवको यह इच्छा होती है कि 'मैं सुखी होऊं', तब उस सुखकी इच्छा से कर्ता-बुद्धिके बन्धनमें आया हुआ अनुकूल-प्रतिकूल, राग-द्वेष, पाप-पुण्य, सुख-दु:ख एव जन्म-मरणके प्रवाहमें बहता चला जाता है। और कहीं किनारा नहीं पाता। यह सभी बन्धन है और इसी बन्धनसे मुक्त होना 'मुक्ति' है।

चेतन रोगी है रह्यो, ग्रस्यो वहम आज़ार[6]।
कहुँ स्वर्ग पुनि नरककी, लाग्यो खान पैज़ार[7] ॥

---

१ आश्चर्य २ नेत्र ३ दृष्टि ४ प्रकाश ५ तेज ६ दु:ख ७ जूता

लाग्यो खाल पैज़ार, रैन दिन राखे क़िस्सा।
हम अमुक, तुम अमुक, इसमें मेरा हिस्सा॥
कहे गिरधर कविराय, बुद्धि भइ नख शिख सोगी।
बिना पित्त कफ़ वाय, भयो परमेश्वर रोगी॥

मोक्षका साधन ज्ञान है

उपर्युक्त व्याख्यासे बन्धनका स्वरूप स्पष्ट किया गया। इस पर मनन करनेसे मोक्षका साधन शीघ्र ही जाना जा सकता है। बन्धनके तोड़नेका नाम ही मुक्ति है, इसलिये जिस साधन-द्वारा बन्धन तोड़ा जाय वही मोक्षका साधन हो सकता है। जन्म-मरण, सुख-दुःख एवं पुण्य-पापका मूल कर्तृत्व-बुद्धिरूप अहंकार ही है, यही सब बन्धनका हेतु है। सभी राग-द्वेष एवं पुण्य-पापादि कर्मोंके संस्कार इसी कर्तृत्व-बुद्धिके आश्रय रहते हैं। क्योंकि 'अहं-कर्ता-बुद्धि' के अभिमान करके जो भी कुछ स्फुरणा व चेष्टा, शुभ अथवा अशुभ, इसके द्वारा होती हैं वे स्फुरणा व चेष्टा तो समुद्रमें तरङ्गोंके समान उत्तर कालमें ही लीन हो जाती हैं, परन्तु वे अपने बीजरूप संस्कार हृदय-क्षेत्रमें छोड़ जाती हैं, जहाँ कर्तृत्व-अहंकारका निवास है। इसी अहंकारके आश्रय वे संस्कार सूक्ष्म रूपसे रहते हैं, क्योंकि उन चेष्टाओंके कर्तापन का यही अभिमानी हुआ है। फिर वे सूक्ष्म संस्कार अपने समयपर स्थूल रूपमें उसी प्रकार फलोन्मुख हो जाते हैं, जिस प्रकार भूमिमें सूक्ष्म रूपसे छिपे हुए नाना जातिके बीज वर्षा-कालमें फूट निकलते हैं, अथवा मेंढककी चर्मके सूक्ष्म परमाणु वर्षा-कालमें सजीव हो जाते हैं और फलके सम्मुख होते हैं। इसी प्रकार वे कर्म-संस्कार फलोन्मुख होकर अपना मज़ा चखानेके लिये बरबस कर्ताको जन्म-मरणके बन्धनमें लाते हैं।

चाहे शुभ हों अथवा अशुभ, भोगके लिये शरीरके बन्धनमें अवश्य आना पड़ेगा, चाहे देव-योनिके भोग ही क्यों न हों। इस प्रकार शरीरके सम्बन्ध करके ही इस जीवात्माको जन्म-मरण है, जिसके समान संसारमें और कोई दुःख नहीं है। शरीर-सम्बन्ध करके ही इस अच्युतको च्युत, अपरिच्छिन्नको परिच्छिन्न, निर्मलको मलिन, सुखस्वरूपको दुःखस्वरूप, अजन्माको जन्म और अविनाशीको नाशके बन्धनमें बारम्बार आना पड़ता है। इसीलिये शास्त्रकारोंने सिद्धान्त किया है कि जीव कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र है, करे या न करे, परन्तु करके भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं कि भोग भोगे या न भी भोगे, किन्तु भोगनेमें तो वह परतन्त्र ही है, अवश्य भोगना ही पड़ेगा। जैसे ऊर्णनाभि जन्तु अपने अन्दरसे जाला निकालनेमें तो स्वतन्त्र है, परन्तु निकाल लेनेपर तो उसको फँसना ही पड़ेगा, क्योंकि,—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

'अवश्यम्भावीभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥'

अर्थ यह कि 'भोगे बिना कर्मका क्षय नहीं है, चाहे शत-कोटि कल्प भी क्यों न बीत जावें'। 'यदि अवश्य होनेवाली घटनाओंको रोका जा सकता, अर्थात् यदि भोगके बिना कर्मों का क्षय सम्भव होता तो राजा नल व युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा व प्रतापी और भगवान् रामचन्द्र जैसे अवतारी पुरुष शरीर करके दुःखोंसे लिपायमान न होते।'

इस रीतिसे कर्तृत्व अभिमान करके ही कर्म है और कर्म करके ही जन्म मरण है। जबतक कर्तापन दग्ध न हो जन्म-मरणसे छुटकारा कहाँ? कर्तापनका मूल 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि'

'वह और है, मैं और हूँ' यह भेद-दृष्टि है, भेद-दृष्टि अपने स्वरूपके अज्ञानसे है और अज्ञानकी निवृत्ति अपने स्वरूपके अपरोक्ष ज्ञानसे होती है ! किसी प्रकार कर्मों करके अज्ञानको निवृत्त करना चाहें तो असम्भव है, जैसे अन्धकारको किसी प्रकार अस्त्र-शस्त्रसे निवृत्त करना चाहें तो नहीं हो सकता, अन्धकारको दूर करनेके लिये तो प्रकाश ही चाहिये।

अज्ञान अन्धकाररूप है, कर्मरूपी ठोकरें तो अज्ञानरूप अन्धकारमें ही हैं। अर्थात् जब मनुष्य अन्धकारमें चलता है, तभी उसको ठोकर लगती है; प्रकाशमें नहीं। इसी प्रकार जीव जब अज्ञान-अन्धकारसे आवृत होता है तभी उसको कर्मरूपी ठोकरें लगती हैं। इस प्रकार कर्म अज्ञानजन्य है, फिर वही अन्धकाररूप अज्ञानको कैसे दूर कर सकता है ? दूसरे, कर्म करके जो कुछ भी बनाया जाता है वह स्थिर नहीं रह सकता, नाशको प्राप्त होकर रहता है, क्योंकि बननेके साथ बिगड़ना, उत्पत्तिके साथ नाश लगा हुआ है। इसीलिये वेदका ढिंढोरा है—

१—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ।'

२—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'

३—'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'

४—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

अर्थ यह है कि:—

१—जिस प्रकार कर्मरचित यह लोक क्षयको प्राप्त होता है, उसी प्रकार कर्मसे बनाया हुआ पुण्यरचित परलोक आदि भी नाशको प्राप्त होते हैं।

२—ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं है।

३—केवल ज्ञानसे ही मोक्ष सम्भव है।

४—मुक्तिके लिये और कोई मार्ग ही नहीं है।

इस प्रकार ज्ञानके बिना केवल कर्मसे ही मोक्ष ख-पुष्पके समान है। वास्तवमें सत्य यही है, सभी वेद-शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि संसारकी उत्पत्ति मायारूप अज्ञान करके ही है। वस्तु होवे कुछ और जान लेना कुछ और, इसीका नाम विपरीत ज्ञानरूप अज्ञान है। जैसे सम्मुख देशमें होवे तो रज्जु और उसे जान लेना सर्प, यही अज्ञान है। अब बतलाइये इस सर्पको निवृत्त करने के लिये यदि मन्त्र-जन्त्रका उपयोग किया जाय अथवा लाठीसे मारा जाय तो इसकी निवृत्ति कैसे हो? लाठी आदिसे निवृत्ति तो तभी सम्भव हो सकती थी, जब कि सर्प वास्तव में बाह्य देशमें होता, परन्तु बाहर सम्मुख देशमें तो रज्जु है, सर्प है ही नहीं, फिर वह लाठीके प्रहारसे कैसे दूर हो? केवल मन्द अन्धकार दोषसे रज्जुमें सर्पकी भ्रांति हो रही है। यदि अन्धकार दूर करनेके लिये दीपक लाया जाय तो रज्जु स्पष्ट भान हो और तब सर्पका त्रिकालाभाव सिद्ध हो जाय। सर्प-प्रतीति-कालमें भी थी तो वास्तवमें रज्जु ही, सर्प कहींसे आया नहीं था, न पश्चात् कहीं नष्ट हुआ, केवल रज्जुके अज्ञान से सर्प अपनी प्रतीतिमें ही भान हो रहा था और रज्जुके ज्ञानसे सर्पका भाव व अभाव दोनों ही भ्रमरूप सिद्ध हो गये। ठीक, इसी प्रकार परमात्मामें अपने आत्मस्वरूपके अज्ञानसे अहंत्वम्, जन्म मरण, पुण्य-पाप तथा सुख-दुःखरूप संसारकी प्रतीति हो रही है। यदि इसको केवल कर्म करके ही नष्ट किया जाय तो असम्भव ही है, केवल कर्म करके आजतक न किसीने इसकी निवृत्ति

की है और न कोई करेगा। इसको दूर करनेके लिये तो साधनसंपन्न अधिकारीको गुरु व शास्त्रकी कृपा और अपने पुरुषार्थद्वारा अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान ही सम्पादन करना चाहिये, तभी इस जन्म-मरणरूप संसारकी निवृत्ति सम्भव हो सकती है। क्योंकि संसार वास्तवमें उत्पन्न नहीं हुआ, अपनी उत्पत्तिसे पहले भी यह नहीं था और अपने नाशके पश्चात् भी इसे नहीं रहना है, केवल मध्यमें ही इसकी भ्रमरूप प्रतीति है:—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (२।२८)

अर्थ—सब भूतजात अपनी उत्पत्तिसे पहले भी अपनी कोई आकृतिरूप व्यक्ति नहीं रखते और अपने नाशके अनन्तर भी इन्हें आकृतिहीन रह जाना है, केवल मध्यमें ही ये व्यक्तिरूप में प्रतीत हो रहे हैं। इसलिये हे भारत ! इनके लिये रुदन कैसा ?

क्योंकि जो वस्तु पहले व पीछे न हो, केवल मध्यमें ही प्रतीत हो, वह वास्तवमें मध्यप्रतीति-कालमें भी अपनी कोई हस्ती नहीं रखती, बल्कि रज्जुमें सर्पके समान मध्यमें भी भ्रम करके ही प्रतीत होती है, वास्तवमें होती नहीं। इसी प्रकार मध्य-प्रतीतिकालमें भी यह संसार है नहीं, केवल अपने अज्ञानरूप भ्रम करके ही जीवको यह प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है। प्रतीति-कालमें भी जिसको हम प्रपञ्चरूपसे जान रहे हैं, वह वास्तवमें सत्स्वरूप, परमात्मा ही होता है, जैसे भ्रमकालमें जिसको हम सर्परूपसे देखते हैं, वह वास्तवमें रज्जु ही होती है। जैसे निद्रादोष करके स्वप्न-संसार प्रतीत होता है और स्वप्नसे जागकर उसका त्रिकालाभाव सिद्ध हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानरूप

निद्रा करके ही इस संसारकी प्रतीति है और ज्ञान-जागृति आनेपर इसका त्रिकालाभाव सिद्ध हो सकता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (२।६६)

अर्थ—जिस नित्य, शुद्ध, परमानन्दस्वरूपकी ओरसे सर्व भूतप्राणी सोये हुए हैं, अर्थात् अचेत हैं, उस परमात्मस्वरूप में वह संयमी ज्ञानी पुरुष सचेत हो रहा है, जाग रहा है, उसका भोग कर रहा है। और जिस जन्म-मरणरूप संसारमें सर्वभूत जाग रहे हैं, अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्वके बन्धनमें पड़े हुए हैं उस संसारकी ओरसे वह तत्त्ववेत्ता मुनि सो रहा है, उसकी दृष्टि में यह संसार शून्यरूप हो गया है अर्थात् इसका त्रिकालाभाव सिद्ध हो गया है।

सारांश—भ्रान्त्या प्रतीतः संसारो विवेकान्न तु कर्मभिः ।
न हि रज्जुरगारोपो घण्टाघोषान्निवर्तते ॥

अर्थ —भ्रांतिसे प्रतीत होनेवाला संसार केवल आत्मस्वरूप के ज्ञानसे ही निवृत्त होना सम्भव है, कर्मसे कदाचित् नहीं, जिस प्रकार रज्जुमें भ्रमसे प्रतीत हुआ सर्प घण्टा आदि शब्द से दूर नहीं किया जा सकता, केवल प्रकाशसे ही इसकी निवृत्ति सम्भव है।

सारांश, कर्मोंका मूल अज्ञान है और वह कर्मद्वारा किसी प्रकार निवृत्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि अज्ञान मूल है, कर्म उसका फल है, फल मूलका विरोधी नहीं, अज्ञान का विरोध तो ज्ञानरूप कुठार ही है जिससे अज्ञान मूल काटी जाकर कर्म-फल भी कट जाता है।

संसारकी उत्पत्तिका निमित्त व कर्मकी प्रबलता

अब हमें यह विचार कर्तव्य है कि ज्ञानके द्वारा कर्मोंका क्षय किस प्रकार संम्भव है तथा उस ज्ञानका क्या स्वरूप है ? वेदान्तका यह स्थिर सिद्धान्त है कि यह संसार जीवके अपने भोगके लिये ही रचा गया है, अर्थात् अपने कर्मोंद्वारा इसको रचनेवाला यह जीव आप ही है। जैसे बागबान आप ही अपना बगीचा लगाकर आप ही उसके खट्टे-मीठे फल चखता है, इसी प्रकार संसार-रचनाका इसके सिवा और कोई प्रयोजन नहीं कि यह जीवको अपने किये हुए कर्मोंका फल-भोग करावे; इसलिये यह संसार भोगरूप ही है। कर्तृत्वके बन्धनमें आया हुआ यह जीव, अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये मायारूप प्रकृतिके साथ बँधा हुआ आप ही अपना संसार बनाता है, इसीलिये यह संसार कर्मरचित ही कहा गया है।

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते
एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।

अर्थात् क्या यह लोक और क्या परलोक, सभी जीवोंके अपने-अपने कर्मोंद्वारा ही रचे गये हैं और अपना-अपना फल-भोग देकर नष्ट हो जाते हैं। शुद्धस्वरूप परमात्मा तो केवल जीवोंके अपने-अपने कर्म, कर्मरचित संसार और फलभोगके नीचे साक्षीरूपसे विराजमान है और उदासीनरूपसे इन सभी व्यापारोंका द्रष्टा है, आप किसी भी विकारसे इसी प्रकार लेपायमान नहीं होता, जैसे पृथ्वीमें नाना जातिके बीज छिपे हुए होते हैं और पृथ्वी उदासीनवत् केवल अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे उनको फलोन्मुख कर देती है, आप किसी प्रकार उनसे

क्षेपायमान नहीं होती। इस प्रकार कर्तृत्वके बन्धनमें आया हुआ यह जीव प्रकृतिके अधीन रहकर जन्म-मरणके प्रवाहमें अटलरूपसे बहता रहता है। यहाँतक कि कल्पके अन्तमें भी यह प्रकृतिके अधीन रहकर प्रकृतिमें ही लय पाता है, परमात्मा में लय नहीं हो सकता, क्योंकि यह अभी कर्तृत्वके बन्धनमें है। अतः दूसरे कल्पके आदिमें यह फिर प्रकृतिसे निकाल फैंका जाता है और इसी प्रकार घटीयन्त्रके समान भटकता फिरता है। इस विषयकी साक्षीमें स्वयं भगवान् अपने श्रीमुख से यूँ आज्ञा करते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (९।७-१०)

अर्थ—हे कौन्तेय ! सभी भूत-प्राणी कल्पके नाश हो जाने पर मेरी प्रकृतिमें लय हो जाते हैं। (प्रकृतिमें लय होनेका यह कारण है कि कर्तृत्व-अभिमानके कारण कर्मोंका वेग कदापि शान्त नहीं हो सकता। क्योंकि जहाँ यह जीव भोक्ता बनकर सञ्चित-कोशमेंसे कुछ कर्म प्रारब्ध-भोगके लिये लेता है, वहाँ भोगके साथ-साथ कर्ता भी बनता है और उस कर्तृत्व-अभिमान के कारण किये हुए कर्म-संस्कारोंको फिर सञ्चित-कोशमें जमा

करता रहता है। इस प्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीजके समान यह सञ्चित-कोश सदैव अटूट, हरा भरा व भरपूर रहता है और कर्मोंके साथ ही प्रकृतिका बन्धन है। यदि वर्तमानमें इस जीवके कर्मोंका भोग समाप्त हो जाता और भविष्यमें कर्तापन न रहता तो यह अवश्य प्रकृतिके बन्धनसे छूट सकता था। परन्तु अज्ञानके सद्भावसे न कर्तापनसे ही छुटकारा मिलता है और न भोगोंसे। इसलिये यह प्रकृतिके बन्धनसे छूट नहीं सकता) और कल्पके आरम्भमें मैं उनको फिर प्रकृतिसे उत्पन्न कर देता हूँ। (जैसे जीव कर्म करता-करता जाग्रत्से सुषुप्तिमें चला जाता है और सुषुप्तिसे उठकर फिर उसी प्रवृत्तिमें लग जाता है, इसी प्रकार कल्पके आदिमें प्रकृतिसे निकाल फैंका जाता है)। इस प्रकार अपनी प्रकृतिको आश्रय करके मैं बारम्बार सम्पूर्ण भूतसमुदायको वरवश (अर्थात् अपनी किसी इच्छाके बिना) प्रकृतिके अधीन रचता हूँ। परन्तु हे धनञ्जय ! वे कर्म मुझे बन्धन नहीं करते, क्योंकि मैं तो उन कर्मोंमें अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे उदासीनके समान स्थित रहता हूँ। इस प्रकार मेरी अधिष्ठानतामें प्रकृति चराचर जगत्को रचती है और इसी हेतुसे जगत् विशेष परिवर्तनको प्राप्त होता रहता है।

आशय यह कि शुद्धस्वरूप परमात्माकी अधिष्ठानतामें प्रकृतिके आधार संसारकी रचना होती है और प्रकृतिका बन्धन कर्तृत्व-अहंकारके साथ है। कर्तृत्व-अहंकारद्वारा किये हुए कर्म-संस्कारों के अनुसार ही प्रकृति फल-भोगके लिये संसारकी रचना करती है और उस जीव-प्रकृतिके आधार ही यह जगत् है। यथा—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥(७।४,५)

अर्थ—पञ्चभूत, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार-यह आठ प्रकार की प्रकृति तो 'अपरा' अर्थात् कार्य-प्रकृति है। इससे भिन्न मेरी जीवरूपा दूसरी 'परा' अर्थात् मूल-प्रकृति है, जिससे यह सम्पूर्ण संसार धारण किया गया है।

अर्थात् शुद्धस्वरूप परमात्मा तो विना किसी विकारके केवल सत्तामात्र साक्षीरूपसे स्थित है और इस संसारका विवर्तोपादान है। प्रकृति परिणामी होकर संसारके रूपमें परिणाम भावको प्राप्त होती है और इस संसारका परिणामी[१]-उपादान है। तथा जीवके कर्म-संस्कार निमित्तरूप बनकर प्रकृतिको प्रेरणा करनेवाले हैं और अपने संस्कारोंके अनुसार जीव भोक्ता होता है। जैसे स्वामीकी भावनाके अनुसार स्वामीका रुख पाकर कारीगर भित्तिपर भाँति-भाँतिके चित्र निकालता है और वे स्वामीके भोगके लिये होते हैं तथा जैसे महाराजाधिराजके संकेतमात्रसे उसके सेवक महल, मन्दिर, बाग व बगीचे उसके भोगके लिये तत्काल निर्माण कर देते हैं, इसी प्रकार भित्तिके समान अचलरूप परमात्माकी अधिष्ठानतामें इस जीवरूप महाराजाधिराजके भोगके लिये यह परा-प्रकृति आनन-फाननमें यह भोगरूप संसार इसके लिये रच देती है। परन्तु प्रकृतिका इसमें स्वतन्त्र कर्तृत्व रञ्चकमात्र भी नहीं है, केवल एक आज्ञाकारी चाकरकी भाँति ही इसका सब व्यवहार होता है और इस महाराजाधिराजके इशारेपर ही वह नाचती

१, २ वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिकामें इनके स्वरूपोंका मनन करिये।

है, सब कुछ कर्ता-धर्ता तो महाराजाधिराज आप ही हैं। अपने भीतरसे आप ही अपनी प्रकृतिको निकालता है और संसाररूपी नाटक-घरकी रचना करता-कराता है। तथा जब अपना खेल खेलकर अपना भोग भोग लेता है, तब सब संसार व प्रकृतिको अपनेमें इसी प्रकार लय करके सुषुप्तिमें अपने परमानन्दमें विश्राम करता है, जैसे बाज़ीगर अपनी सब माया अपने बटुएमें समेटकर शान्त हो जाता है। उस सुषुप्ति अवस्थामें न पिता पिता रहता है, न माता माता रहती है, न लोक लोक, न देवता देवता, न वेद वेद, न चोर चोर, न हत्यारा हत्यारा, न चाण्डाल चाण्डाल, न शूद्र शूद्र, न संन्यासी संन्यासी और न तपस्वी तपस्वी ही रहता है। यथाः—

अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता, लोका अलोका, देवा अदेवा, वेदा अवेदा। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहाऽभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः, पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसः। (बृहदा० उप० ४।३।२२)

बल्कि क्या पिता, क्या माता, क्या लोक, क्या देव, क्या वेद, क्या चोर, क्या हत्यारा, क्या चाण्डाल और क्या शूद्र सभी अभेद रूपसे स्थित होते हैं। सब भेदभाव यहाँ (जाग्रत्‌में) ही रह जाते हैं और वहाँ (सुषुप्तिमें) सबकी ही एकता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह सब भेदभाव जीवोंके अपने-अपने कर्म-संस्कारोंके भोगके अधीन ही रचे गये हैं। जब-जब भी उनके अपने कर्म-संस्कार भोगसे उदासीन होते हैं, तब-तब ही सुषुप्ति अवस्थामें सभी भेदभाव कपूरकी भाँति उड़ जाते हैं। न भोग-स्थल संसार रहता है, न भोग रहते हैं और न भोगायतन शरीर ही रहता है। न कोई जाति रहती है और न

व्यक्ति। यदि कर्म-संस्कारोंके बिना यह संसार, यह शरीर ये भोग हुए होते तो इन सबको उस कालमें भी विद्यमान रहना चाहिये था, जबकि कर्म-संस्कार उद्‌बुद्धरूपसे स्थित नहीं हैं, बल्कि अनुद्‌बुद्धरूपसे स्थित हैं। सुषुप्ति-अवस्थामें कर्म-संस्कार अनुद्‌बुद्धरूपसे रहते हैं, इसीलिये वहाँ संसारका लय है। और जब वे फिर फलके सम्मुख उद्‌बुद्ध होते हैं तब फिर सुषुप्तिसे संसार, भोग व भोगायतन शरीर निकल पड़ता है। इस अन्वय-व्यतिरेकसे संसारके मूलमें निमित्तरूप जीवोंके अपने-अपने कर्म-संस्कार ही स्पष्ट रूपसे सिद्ध होते हैं, कर्म-संस्कारोंके बिना संसारका और कोई निमित्त नहीं बनता। अर्थात् अपने कर्म-संस्कारोंसे जीव अपने संसारको आप ही इसी प्रकार निकाल लेता है, जैसे ऊर्णनाभि अपने भीतरसे जाला निकाल लेती है और उसमें फँस मरती है, अथवा जैसे नन्हे-से वट-बीजसे विशाल वट-वृक्ष निकल पड़ता है। इस प्रकार जीव शुद्धस्वरूप परमात्माकी साक्षीमें अपने बोये हुए कर्म-संस्कारोंका फल भोगनेके लिये परवश होता है। सारांश, अपने अज्ञान करके आवृत हुआ यह जीव अपने दुःख-सुखका कर्ता व भोक्ता आप ही होता है। भेद-दृष्टिरूप कर्तृत्व-अभिमानके कारण अपने-अपने कर्मसंस्कारोंकी विलक्षणता करके उनके फल-भोगके लिये जीव देव, मनुष्य, कीट, पतङ्ग, पशु व पक्षी आदि भिन्न-भिन्न योनियाँ धारण करता है और फल-भोगके बिना सभी जीवोंका एक ही स्वरूप है, जैसे सुषुप्तिमें सबका अभेद हो जाता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥(५।१४)

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ (५।१५)

अर्थ—परमात्मा भूत-प्राणियोंके न तो कर्तापनको, न कर्मों और न कर्मफल-संयोगको ही रचता है, किन्तु जीव-प्रकृति ही परमात्माकी साक्षीमें इन सब व्यापारोंमें वर्त रही है। वास्तवमें सर्वव्यापी परमात्मा तो न किसीके पापको और न पुण्यको ही ग्रहण करता है, केवल अज्ञानके द्वारा ज्ञान-स्वरूप परमात्मा ढका हुआ है, जिससे जीव (स्वयं कर्तापनके अभिमानको धारण करके अपनी प्रकृतिके द्वारा बँधे हुए भोक्तृत्वके बन्धनमें पड़कर) मोहित हो रहे हैं।

उपर्युक्त व्याख्यासे सिद्ध हुआ कि संसार जीवोंके किये हुए कर्म-संस्कारोंसे ही रचा गया है और उनके फल-भोगके निमित्त ही है। जबतक कर्म-संस्कार हैं संसार निवृत्त नहीं होता और जबतक संसार है जन्म-मरणसे छुटकारा कहाँ? कर्म-संस्कारों का अन्त ज्ञानके विना हो नहीं सकता। ज्ञानके विना जब यह जीव इस प्रारब्धके भोग भोग चुकता है और अन्तकालमें मृत्यु-शय्यापर पड़ा होता है, तब इस संसारकी ओरसे अचेत हो जाता है। उस समय सब इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इस संसारकी ओरसे थकित होजाती हैं और अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करना छोड़ देती हैं। इस संसारको देखें कैसे? इस संसारका मूल जो प्रारब्ध के भोग-संस्कार थे वे तो कट चुके, उन्होंने ही अपने भोगके लिये इसकी रचना की थी, सो उनकी अवधि पूरी हो चुकी। अब इसकी बलासे चाहे इस शरीर, कुटुम्ब व संसारको आग लगे. अब तो वह अपनी परलोक-यात्राकी तैयारी कर रहा है, प्राणरूपी घोड़ेपर आरूढ होनेके लिये रकाबमें पाँव दे रहा

है। इस अवस्थामें सभी इन्द्रियाँ, मन व सुखदादि हृदयाकाश में इस जीवात्माके साथ अभिन्न हो जाते हैं और तब इन सबका अपना-अपना व्यापार बन्द हो जाता है। जैसे किसी महाराजको जब देशान्तरगमन करना होता है, तब इसके सभी हुजूरी इसके साथ चलनेके लिये इसके पास हाजिर हो जाते हैं। उस समय सभी सम्बन्धी कुटुम्बी चारों ओरसे इसे घेर लेते हैं और कहते हैं कि अब यह अचेत हो गया, नहीं बोलता। पुत्र कहता है-"हे पिता! तू मुझ प्यारे पुत्रको प्यार क्यों नहीं करता?" पत्नी कहती है-"हे प्राणनाथ! मुझको किसके हवाले कर चले?" परन्तु यह उत्तर नहीं देता। सुने कौन और बोले कौन? सुननेवाले और बोलनेवाले चाकर तो उस महाराजाधिराजके साथ अभिन्न हुए बैठे हैं, फिर वहाँतक संदेश कौन पहुँचावे? यह न समझना चाहिये कि इस समय वह अचेत है, बल्कि वह तो सचेत है, भीतर अपने निजी महलमें सफ़रकी तैयारियोंमें लगा हुआ है, अपने भोगके लिये तोशेका प्रबन्ध करनेमें लग रहा है और सञ्चित-कोशका चिट्ठा खोले हुए है। शास्त्रोंका कथन है कि जब प्रारब्ध-भोग समाप्त हो चुकते हैं, तब इस जीवको पिछले अनेक जन्मोंकी स्मृति होती है, किन्तु वर्तमान जन्ममें वह असम्भव है, क्योंकि वर्तमान कालमें सिनेमाकी भाँति प्रारब्धकी फिल्म भोगरूपी मशीनपर चढ़ी हुई है, इसलिये पीछे मुड़कर देखनेका अवकाश कहाँ? परन्तु जब यह रील समाप्त हो जाती है तो भूत जन्मोंकी स्मृतिका अवकाश मिलता है और उन जन्मोंमें किये हुए कर्मोंमेंसे जो बलवान् होकर फल देनेयोग्य होते हैं, उनके भोगके लिये यह प्रकृतिकी नीतिके साथ मिलकर स्वयं विचार करता है। तथा अपने लिये वैसा ही भोग और वही

योनि पसन्द करता है, जिनमें प्रकृतिके नियमके अनुसार उनका भोग हो सके। यद्यपि सिंह, सर्प व बिच्छू आदि निकृष्ट योनियोंको कोई भी पसन्द नहीं कर सकता, तथापि मायाका प्रभाव ऐसा है कि वह अपने किये हुए कर्मोंके आवेशमें अपने लिये वही पसन्द कर लेता है. जैसे बड़े-बड़े अमीर-वज़ीर भी मदिराके नशेमें आकर न करनेयोग्य कर्मोंको भी कर डालते हैं। इसी प्रकार यह कर्मोंके साथ बँधा हुआ और उनके आवेशमें आया हुआ, ठीक अपने लिये वही पसन्द कर लेता है जो प्रकृतिकी नीतिमें नियत हो चुका है। इस प्रकार जब वह अपना तोशा ले चुकता है तो दसों इन्द्रियों और मन-बुद्धिको अपनेमें लय करके तथा सम्पूर्ण सञ्चित-कर्म-संस्कारों एवं नवीन प्रारब्धकी पूँजी अपने साथ लेकर प्राणरूपी घोड़ेपर आरूढ हो परलोक-गमनके लिये इसको ऐसी ठोकर मारता है कि जाता हुआ किसीको दृष्टि भी नहीं पड़ता! भला, जो सबका देखनेवाला है वह आप कैसे दिखाई पड़े?

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ॥

इस प्रकार अपनी पूर्व राजधानी छोड़ते समय जहाँ जानेका इसने विचार किया था और जैसा-जैसा अपने लिये प्रस्ताव मंजूर किया था, उसीके अनुसार उदाननामा प्राण-वायु इसके लिये नवीन राजधानी (शरीर), नवीन निजी महल (हृदय) तथा इसके मंत्री (बुद्धि), मुसाहिब (मन), हुज़ूरियों (इन्द्रियों) और चौकीदारों (प्राणों) के लिये भिन्न-भिन्न उचित स्थान आँखकी झपकमें तैयार कर देता है, जैसे स्वप्नसे स्वप्नान्तरका जगत् उत्पन्न हो जाता है। फिर यह महाराज वहाँ अपने निजी महलमें प्रवेश करके अपने सभी मंत्री, मुसाहिब, हुज़ूरी और चौकीदारोंको अपने-अपने स्थानपर नियत कर देता है और इस

प्रकार अपने भोगके लिये भोगरूप संसारकी रचना करता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥(८।६)

अर्थ—हे कौन्तेय ! यह जीव अन्तकालमें जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, सदा उन्हीं भावोंमें भावित हुआ यह प्राणी वैसे-वैसे भावोंको ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार भोगरूप व कर्मरूप लेन देनका व्यापार वहाँ फिर चल पड़ता है; जहाँ कुछ खट्टे-मीठे फलोंका स्वाद लेता है और फल उपजानेके लिये हृदय क्षेत्रमें कुछ बीजारोपण करता है। इसी प्रकार यह कर्म (बीज) और भोग (फल) का बाज़ार नित्य-निरन्तर गर्म रहता है, कदाचित् शान्त नहीं होता। क्योंकि प्रकृतिमें यह नियम किया गया है कि कर्मोंका कर्ता बनकर जो कुछ भी चेष्टा की जायगी वह बीजरूप होगी। और कर्मरूपी बीज जब फूटता है तब उसकी दो पत्तियाँ निकलती हैं, एक भोगरूप और दूसरी वासनारूप। भोगरूप पत्ती तो अपने कर्ताको उसी समय खट्टा-मीठा फल चखाएगी और सुख-दुःख का भोग भुगाएगी, दूसरी वासनारूप पत्ती संस्काररूप गन्ध कर्ताके हृदयमें छोड़ देगी और कर्ताको फिर भोगके बन्धनमें लाएगी। वह फिर अपने फल-भोगके समय कर्ताके हृदयमें वासनारूपसे तरङ्गायमान होगी और उसे फल-भोगके लिये कर्ममें प्रवृत्त कराएगी। उस कर्मसे पूर्वोक्त रीति से वर्तमान भोग तथा भावी नवीन वासना फिर उत्पन्न होगी। इसी प्रकार कर्म, कर्मसे वर्तमान भोग व भावी वासना, वासना से संस्कार, संस्कारसे फिर कर्म-प्रवृत्तिकी वासना और वासना से फिर कर्म, फिर भोग और फिर वासना। इसी प्रकार अटूटरूपसे यह प्रवाह चलता रहेगा, ईश्वर अपनी कृपा करें, अकथ कहानी है।

कर्मोंका क्षय केवल ज्ञानसे सम्भव है

इस रीतिसे कर्मका वेग कदापि शान्त होनेवाला नहीं है। और जब कर्म-संस्कार शेष हैं तब शरीर व संसार का अभाव कैसे सम्भव हो? क्योंकि जब कि वे कर्म सत्यस्वरूप परमात्माकी साक्षीमें किये गये हैं, तब वे अपना भोग दिये बिना कैसे रह सकते हैं? चाहे कोई कितना भी छिपावे, परन्तु उस सब को देखने व जाननेवालेसे आँखें कैसे चुराई जा सकती हैं? भला, उस त्र्यम्बककी आँखोंमें लौन कैसे डाला जा सकता है? मूर्ख समझता है कि मुझे किसीने देखा नहीं, परन्तु देखनेवाला तो अपने हृदयमें ही बैठा हुआ है, जहाँसे सब वासना, सब संकल्प और सब चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। उससे दुराव कैसे हो?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (१८। ६१)

अर्थ—'हे अर्जुन! ईश्वर सर्व भूतोंके हृदय-देशमें ही विराजमान है।' और जबकि उनका भोग अवश्य है तो भोगायतन शरीर व भोग्यरूप सामग्री भी अवश्य चाहिये। भोग स्थल व भोग्यरूप सामग्री बिना भोग कैसे सम्भव हो? जबतक शरीर व संसार है, तबतक जन्म-मरण कैसे दूर हो? और जबतक जन्म-मरण है दुःखोंका अन्त कैसे आवे? इसलिये मोक्षार्थीको परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये सब अनर्थोंके मूल कर्म-संस्कारों का क्षय अवश्य कर्तव्य है।

कर्म-क्षय यद्यपि तीन प्रकारसे माना गया है:—

(१) फलके भोगसे, (२) प्रायश्चित्तसे, अथवा (३) ज्ञान से। तथापि—

(१) फल-भोगसे तो सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय सर्वथा असम्भव ही है, क्योंकि फल भोगसे जहाँ एक कर्मका क्षय होगा, उतने

कालमें तो कर्तापन विद्यमान रहनेके कारण असंख्य नवीन कर्मोंका उपार्जन कर लिया जायगा, जिससे तो उल्टा डाढ़ीसे मूँछ भारी हो जायगी। फिर वह भी भोग हुआ तो केवल प्रारब्ध कर्मोंका, जो फलके सम्मुख हो रहे हैं, परन्तु सञ्चित कर्मोंका कोश तो अभी ज्यों-का त्यों बना ही हुआ है जो अभी भोगके सम्मुख ही नहीं हुआ उसका तो अभी भोग हो ही कैसे सकता है?

(२) यदि प्रायश्चित्तसे कर्मका क्षय करना चाहें तो यही अवस्था प्रायश्चित्तकी है।

प्रथम तो प्रायश्चित्त पाप कर्मोंका ही शास्त्रने विधान किया है, पुण्य-कर्मोंको प्रायश्चित्तसे दग्ध किया जाय, ऐसा किसी शास्त्रमें विधान नहीं मिलता। और पुण्य कर्म भी अपने भोगके लिये जन्म-मरणके बन्धनमें लाये बिना नहीं रह सकते, इसलिये जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ानेवाले वे भी नहीं होते।

द्वितीय, जहाँ किसी एक पाप कर्मका प्रायश्चित्त होगा, उतने कालमें तो असंख्य पुण्य-पापरूप नवीन कर्मोंका उपार्जन हो जायगा। क्योंकि मन-बुद्धिमें जो कुछ भी भावरूप तरङ्गे उत्पन्न होती हैं वे सब कर्म हैं। चाहे शुभ भावना हो चाहे अशुभ, वे सभी पुण्य-पापके संस्कारोंको उत्पन्न करनेवाली हैं। और जबतक परिच्छिन्न-दृष्टिरूप अहङ्कार एवं कर्तापन विद्यमान है, भावजन्य वह रह कैसे सकता है?

तृतीय प्रायश्चित्त भोगके सम्मुख प्रारब्ध कर्मोंका ही हो सकता है, जो सञ्चित-कोश अभी भोगके सम्मुख ही नहीं हुआ और अज्ञात है, उसका तो प्रायश्चित्त ही असम्भव है। और जब कि सञ्चितकी निवृत्ति असम्भव हुई, तो असंख्य जन्मोंका हेतु तो वह सञ्चित ही है, प्रारब्ध-संस्कारोंकी तो वार्ता ही क्या? वे तो आज नहीं कल, अपना भोग देकर

निवृत्त होवेंगे ही। इस प्रकार कर्म-संस्कारोंकी अत्यन्त निवृत्ति न भोगसे और न प्रायश्चित्तसे ही की जा सकती है, यह तो एकमात्र ज्ञानसे ही सम्भव है, ज्ञान बिना सरेगा नहीं। इसलिये कर्मोंकी अत्यन्त निवृत्ति करना चाहते हो तो ज्ञानरूपी प्रचण्ड अग्नि अपने हृदयमें प्रज्वलित करो और वहाँ ही भूत, भविष्य व वर्तमान सभी कर्मोंको जलाकर भस्म कर डालो, अपने आपे परसे गुज़र जाओ, जब तुम रहे ही नहीं तो भोगेगा कौन? आकाशको तो कोई बाँध नहीं सकता। इसके सिवा और कोई मार्ग है ही नहीं।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ (४। ३६)
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (४। ३७)

अर्थ—यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है तो भी ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पापोंको भली प्रकार तर जायगा। क्योंकि हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको जलाकर भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जलाकर भस्मीभूत कर देती है।

कर्मका मूल कर्तृत्व-बुद्धि-रूप अज्ञान है।

अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण इस जीवका बुद्धि व मनमें अहन्ता-अभिमान हो रहा है। इसीलिये बुद्धि व मनके द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसके कर्तापनका यह आप अभिमानी बन बैठता है। इसके साथ ही मन-बुद्धिद्वारा शरीर व इन्द्रियों के साथ इसका 'तादात्म्य-सम्बन्ध'[1] है, इसलिये शरीर से

[1] परस्पर अभेदको 'तादात्म्य-सम्बन्ध' कहते हैं।

इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ चेष्टा प्रकट होती है उनका भी यह जीव अभिमानी बन जाता है। वास्तवमें अहंरूप व आत्मरूप है तो वह साक्षी चेतन, जो मन बुद्धिमें प्रकाश रहा है और जिसके प्रकाशसे ये जड़-स्वभाव होते हुए भी चेतन हो रहे हैं, जैसे जड़ लोहा प्रकाशशून्य होता हुआ भी अग्निके सम्बन्धसे प्रकाशमान होता है। यह साक्षी चेतन ही इस जीवका वास्तव स्वरूप है, ज्ञानरूप प्रकाश मन-बुद्धिमें अपना नहीं, किन्तु इस साक्षी-चेतन का ही है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि जाग्रत्-अवस्थामें जब यह साक्षी चेतन अपनी सत्ता मन, बुद्धि इन्द्रियों एवं शरीर सबको प्रदान करता है तब तो ये सब अपने-अपने व्यवहारमें बर्ताव करते रहते हैं,परन्तु स्वप्न-अवस्थामें जब यह साक्षी-चेतन शरीररूपी रथ और इन्द्रियोंरूपी घोड़ोंको त्याग जाता है और उस अवस्थामें केवल मन-बुद्धिके साथ ही उसका बर्ताव होता है, तब देह व इन्द्रियाँ उस कालमें इसी प्रकार पदच्युत हो जाती हैं, जैसे राजा अपने नौकरोंसे अपना अधिकार छीन लेता है तो वे अपना कार्य करनेके योग्य नहीं रहते। कानोंमें शब्दका प्रवेश होते हुए भी वे नहीं सुनते, आँखें खुली हों तब पदार्थ उनके निकट होते हुए भी वे नहीं देखतीं, घ्राणके साथ सुगन्धित द्रव्यों का संयोग रहते हुए भी वह नहीं सूँघता, रसनाके साथ पान-इलायची आदिका संयोग-सम्बन्ध रहते हुए भी वह रस ग्रहण नहीं कर सकती और त्वचाके साथ कोमल-से-कोमल एवं कठोर से-कठोर वस्तुका आलिङ्गन रहते हुएभी वह अनुभव नहीं कर सकती। तथा सुषुप्ति अवस्थामें जब यह साक्षी-चेतन मन-बुद्धि को भी त्याग देता है, तब वे भी इसी प्रकार पदच्युत हो जाते हैं, न कुछ मनका संकल्प-विकल्प रहता है और न बुद्धिकी सोच। और फिर जाग्रत्में जब यह साक्षी-चेतन इन सबके

भीतर सूर्यके समान अपना प्रकाश डालता है तो ये सब फिर इसी प्रकार सचेत हो जाते हैं; जैसे सूर्यके उदय हुए क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या पक्षी, सभी अपने-अपने कार्यमें लग पड़ते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि वास्तवमें मन-बुद्धि आदि सभी अविद्या का परिवार अपने स्वभावसे जड़ है और केवल इस साक्षी-चेतन के प्रकाशसे ही ये सब प्रकाशमान् हो रहे हैं। यदि इन सबमें अपनी कोई शक्ति, अपनी कोई अहन्ता हुई होती तो उस समय भी इनका व्यवहार चालू रहना चाहिये था, जब वह चेतन-शक्ति इनको छोड़ जाती है, परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि अहंरूप व आत्मरूप वही है न कि ये जड़ पदार्थ। उसीकी शक्ति, उसीकी चेतनता और उसीकी अहन्ता इनमें इसी प्रकार प्रतिबिम्बित हो रही है जैसे दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब होता है और उसीसे धन्य होकर ये सब अपने-अपने व्यवहारमें प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि ये मन-बुद्धि उस साक्षी-चेतनके अति सन्निकट हैं, इसलिये सम्बन्धाध्यास [1] करके उसकी अहन्ता व आत्मता का सम्बन्ध मन-बुद्धिमें प्रकट हो रहा है, जिससे ये मन-बुद्धि ही अहंरूप व आत्मरूपसे ग्रहण हो रही हैं। जैसे 'यह सर्प है' रज्जु में जब ऐसा भ्रम होता है, तब वास्तवमें इदंरूप होती तो रज्जु ही है और इदंताका विषय भी वही है, परन्तु अज्ञानरूप भ्रम करके रज्जुकी इदन्ताका सम्बन्ध सर्पमें प्रतीत होता है। इसी प्रकार साक्षी-चेतनस्थ आत्मता व अहन्ताका भ्रम मन-बुद्धिमें हो रहा है। मन-बुद्धिका तादात्म्य-सम्बन्ध शरीर व इन्द्रियोंसे है, इसलिये मन-बुद्धिद्वारा इस जीवकी 'अहन्ता-बुद्धि'

[1] वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिकामें 'अध्यास' शीर्षकसे विचारपूर्वक इसपर मनन कीजिये।

शरीर व इन्द्रियोंमें भी हो रही है। इस रीतिसे मन-बुद्धिद्वारा जो कुछ भी चेष्टाएँ व भावनाएँ प्रकट होती हैं, अथवा मन-बुद्धिकी जानकारीमें जो कुछ क्रिया शरीर व इन्द्रियोंसे प्रकट होती है, उन सबमें अज्ञानसे ढका हुआ यह जीवात्मा तादात्म्य-अध्यास करके 'अहं-कर्ता' का अभिमान धार लेता है। इस प्रकार मन-बुद्धिमें अथवा मन-बुद्धिकी जानकारीमें शरीर व इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ स्फुरण अथवा क्रिया प्रकट होती है, उसीका नाम 'कर्म' है। यथा—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ (गी० ८। ३)

आशय यह है कि भूतोंके अन्दर भावको उत्पन्न करने-वाला जो भी कुछ विसर्ग अथवा व्यापार है उसीका नाम 'कर्म' है। मन-बुद्धिके अन्दर जो कुछ भी स्फुरणरूप तरंग उत्पन्न होती है, उसीका नाम 'भाव' है। इस प्रकार जो कुछ कर्म मन, बुद्धि, इन्द्रियों व शरीरद्वारा प्रकट होता है, वह आप तो क्रियारूप होनेसे उत्तर कालमें ही नष्ट हो जाता है। परन्तु उन पराई क्रियाओंमें अपने अज्ञान करके आप कर्तापनका अभिमानी हो जानेके कारण यह जीव उन कर्मोंके संस्कारोंको अपने अन्दर ले जाता है और आप ही उनके फल-भोगके लिये बन्धायमान हो बैठता है। इस प्रकार जबतक यह अज्ञानजन्य कर्तृत्व-अभिमान मौजूद है, कर्म-संस्कारोंका अन्त कदाचित् नहीं आता, क्योंकि सब कर्मोंका मूल व आश्रय यही है। जबतक यह मूल व आश्रय दग्ध न हो, कर्म-संस्कार कदापि दग्ध नहीं हो सकते। वास्तवमें तो यह जीवात्मा आप कर्ता कुछ नहीं, केवल द्रष्टा है। जैसे राजासे अधिकार प्राप्त करके नटनी अपने परिवारसहित राजाके विनोदके लिये विचित्र-

विचित्र खेल रचती है और राजा केवल उनका द्रष्टा होता है, इसी प्रकार इस जीवात्मासे सत्ता प्राप्त करके मन-बुद्धि आदि यह अविद्याका परिवार अपने स्वामीके विनोदके लिये शरीर-रूपी रङ्ग-भूमि रचकर भोग व विषयरूप संसारका तमाशा रच रहे हैं। परन्तु इस खेलमें यह चेतनदेव अपने स्वरूपको भूलकर इस नटनीके चिरकेमें ऐसा आया कि अपनी सत्ताको ही भूल बैठा और इसकी सब चेष्टाओं व लीलाओंमें अहं-कर्तृत्वाभिमान धार बैठा। आया तो था तमाशा देखनेके लिये, परन्तु ऐसा मुग्ध हुआ कि देखना छोड़ आप ही नाचने लगा और पिटने-पिटानेका बाज़ार गर्म हो गया। शोक ! महाशोक!!

॥ होरी ॥

साँवरो (आत्मा) कैसी खेलत होरी।
अचरज खूब बनो री, कोई जन भेद लहो री ॥ टेक ॥ १ ॥
तन रङ्गभूमि बनी अति सुन्दर, बालन बाग लगो री।
नाड़ी अनेक गली जहाँ शोभत, तहाँ खेलत कान्ह दौड़ी।
सङ्ग वृषभानु किशोरी (बुद्धि) ॥ साँवरो० ॥ २ ॥
पञ्च सखी (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) मिल,
पञ्च रङ्ग (पाँच विषय) भर देत बहोरि बहोरी।
राधिका लेकर डारे श्यामपर, सब तन देत भिगो री।
कृष्ण मन मोद भयो री ॥ साँवरो० ॥ ३ ॥
होरीमें मोद मानकर श्यामने, राधिका वेष धरो री।
मिल सखियन संग फाग मचायो, खेलत मगन भयो री।
आप सुधि भूलि गयो री ॥ साँवरो ॥ ४ ॥
खेलत खेलत जान न पायो, दीर्घ काल गयो री।
बन बन (योनि-योनि) फिरत रूप तब जान्यो, सखियन संग बिछो री।
श्याम ब्रह्मानन्द मिलो री ॥ साँवरो० ॥ ५ ॥

अरी नटनी ! तेरा बेड़ा गरक हो, तेरा सत्यानाश जाय ! जिसके आश्रय तू स्थित हुई उसीको आवरण किया ! जिससे पली उसीको बरबाद किया ! जिससे जो शस्त्र प्राप्त किया उसीपर उसका वार चलाया ! तूने ही अपने सम्बन्धसे महान्‌को तुच्छ बनाया और अजन्मा-अविनाशीको जन्म-मरणके बन्धनमें डाला ! नित्य-निर्मल को मलिन, सुख-शान्तस्वरूपको दुखी और अशान्त किया ! सच बता, तू कौन पिशाचिनी है ? कहाँसे आई है ? और तेरा क्या प्रयोजन है ?

उत्तर मिला, न मैं कुछ हूँ, न मैं कहींसे आई हूँ और न मेरा कुछ प्रयोजन ही है। मैं तो इस दुल्हाकी छायामात्र हूँ, छाया भी भला छायावान्‌से कोई भिन्न वस्तु हो सकती है ? इसलिये मैं तो वास्तवमें मेरे दुल्हासे भिन्न अपनी कोई व्यक्ति रखती ही नहीं, मैं तो वही हूँ, वही। भला, तरङ्ग अपने जलरूपसे, भूषण अपने सुवर्णरूपसे, सुन्दरियोंकी चटक-मटक सुन्दरियोंसे भिन्न अपनी कोई सत्ता रखती हैं ? इसी प्रकार मैं तो मेरे दुल्हाकी एक छवि हूँ और उसीकी शान हूँ। मेरी अपनी तो कोई सत्ता ही नहीं, मैं तो मेरे दुल्हाकी सत्तापर ही नाच रही हूँ, मुझे भाव-अभाव करनेवाला तो मेरा दुल्हा ही है, चाहे वह मुझे हस्त करे चाहे नेस्त। इसलिये मैं क्या हूँ? यह तो मेरा दुल्हा ही कह सकता है, मैं तो अपनी कोई वाणी ही नहीं रखती, इसलिये उनसे ही पूछो कि 'मैं कौन हूँ ?'

भला, छाया भी पुरुषसे पृथक् कहीं रह सकती है? पुरुष कब प्रबन्ध करता है कि उसकी छाया उसके साथ रहे, परन्तु वह तो नित्य उसके साथ-साथ लगी ही फिरती है। बेचारीको ठौर कहाँ, कि उसको छोड़कर कहीं अन्यत्र रहे ? इसी प्रकार मैं मेरे दुल्हा की छाया अपने दुल्हासे जुदी कहाँ रह सकती हूँ और मुझको

ठौर कहाँ, जो अपने दुल्हाको छोड़ कहीं अन्यत्र रहूँ ? बल्कि मैं तो बिना ही किसी प्रबन्धके उसके साथ-साथ लगी फिरती हूँ। इसलिये 'मैं कहाँसे आई हूँ' ? इसका उत्तर तो आपसे ही पूछना है।

अब रहा प्रयोजनसम्बन्धी प्रश्न, यह तो आपका टेढ़ा प्रश्न है। इसका भला क्या उत्तर बने ? प्रयोजन ! प्रयोजन !! मेरा भी भला कोई अपना प्रयोजन हो सकता है ? पतिव्रताका भी भला अपना कोई प्रयोजन हुआ है ? उसका तो तन-मन सब कुछ पतिके चरण-कमल की सेवा ही है। अपने पतिके विनोदके लिये भाँति-भाँतिके शीश-महल, क्या जाग्रत्-प्रपञ्च व क्या स्वप्न-प्रपञ्च, पलककी झपक में खड़े कर देना, कि जिससे यह दुल्हा इन भिन्न-भिन्न दर्पणोंकी उपाधियोंमें अपने ही मुखको देख-देखकर प्रसन्न हो, सब रूपोंमें अपने ही सौन्दर्यकी छवियोंको देख-देखकर मुग्ध हो और इस प्रकार मेरी रचनाओंकी दाद[1] दे तथा अपनी प्रसन्नतासे मुझको तालियाँ बजा-बजाकर ताल दे और मैं उसकी तालपर अधि-काधिक नृत्य करके उसको रिझाऊँ ! इससे भिन्न भला मेरा अपना कोई प्रयोजन हो सकता है ? परन्तु जिस प्रकार मैं अपने दुल्हाके संकेतमात्रपर नृत्य करती हूँ, उसी प्रकार मेरा दुल्हा भी इतना प्रेमकी मूर्ति, इतना कोमल और सरल है कि मेरी जिस-जिस रचनाके साथ मिलता है आप भी वही रूप बन जाता है, रञ्चक-मात्र भी अपना कोई भेदभाव नहीं रखता। इस प्रकार अपनी सरलता करके वास्तवमें आप कुछ न करता हुआ भी मेरे कर्तापन को अपनेमें आरोप करके आप ही कर्ता बन बैठता है। धन्य है ! इस सरलता व कोमलताको बारम्बार धन्य है !! क्या संसारमें ऐसी सरलता और कोमलता कहीं मिल सकती है ? सरल-से-सरल आकाश भी स्थूल-से-स्थूल पाषाण-पर्वतादि और कोमल-से-कोमल

१. अनुमोदन करना।

जल, अग्नि एवं वाय्वादिके साथ मिलकर आकाश ही रहता है, पाषाणादि व जल-वाय्वादिरूपको नहीं प्राप्त होता। परन्तु मेरा यह दुल्हा तो इतना सरल है कि पाषाण पर्वतादि जड़ोंसे मिलकर जड़ ही हो जाता है, अग्निसे मिलकर गर्म, वायुसे मिलकर नर्म और जलके साथ मिलकर द्रवरूप ही बन जाता है। गुणसे मिलकर स्वयं गुणरूप क्रियाके साथ मिलकर क्रियारूप और द्रव्यसे मिलकर स्वयं द्रव्यरूप ही बन जाता है अपना आपा रञ्चकमात्र भी भिन्न करके नहीं रखता। दूरसे मिलकर दूर, निकटसे मिलकर निकट बन जाता है। परन्तु वास्तवमें न दूर है न निकट न गर्म है न शीतल, न जड़ है न चेतन और न गुण, क्रिया या द्रव्य ही है। सबसे निराला ज्यों-का-त्यों है। वारी-वारी जाऊँ इस सरलता व कोमलता पर।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
(ईशा० उप० म० ५)

अर्थ—वह चलता है, पर नहीं चलता। वह दूर-से-दूर, निकट-से-निकट, सबके अन्दर और सबके बाहर सब कुछ है।

लोजी! हमको तो जाना था कहीं और चले गये कहीं और। प्राकृतिक प्रसंग तो यह था कि सब प्रकारसे हो तो रहे हैं कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा परन्तु अहङ्कार करके मूढभावको प्राप्त हुआ यह जीवात्मा आप ही 'अहंकर्ता' बन बैठता है। इस जीवका वास्तव स्वरूप था तो साक्षी-चेतन, परन्तु मन, बुद्धि व इन्द्रियादिके साथ मिलकर यूँ ही अभिन्न हो बैठा, और इनके कर्मोंको अपनेमें आरोप करके आप ही इनके फल-भोगका संकल्प करने लगा, यही इसका बन्धन है। इस प्रकार सभी कर्म, सभी भोग तथा जन्म-मरणादि सभी प्रपञ्चका

मूल व आश्रय यह 'अहं-कर्तृत्वाभिमान' ही है। जबतक यह दग्ध न हो, कर्म और जन्म-मरणादि भोगका अन्त कैसे आवे, चाहे अनन्त कोटि कल्प भी क्यों न बीत जायँ? और इसका दग्ध होना तो केवल ज्ञानरूप अग्निसे ही सम्भव है, कर्मसे कदापि नहीं। क्योंकि यह कर्तृत्वाभिमान कोई घटादिरूप द्रव्य नहीं, कि दण्डादिसे इसको चूर्ण किया जाय। अथवा जैसे वस्त्रका मल साबुनकी क्रियासे दूर किया जाता है, इसी प्रकार इस कर्तृत्वाभिमानको किसी कर्मद्वारा किसी मलनिवर्तक द्रव्यकी सहायता से दूर किया जाय। अथवा जैसे वस्त्रपर कोई उज्ज्वल रंग चढ़ा कर उसको पवित्र किया जाता है, इसी प्रकार इसपर कोई विजातीय रंग चढ़ाकर इसको किसी कर्मसे उज्ज्वल किया जाय। अथवा जैसे कोई अर्थार्थी देशान्तर गमनरूप क्रियासे तीर्थाटनादि करके तथा पापोंका प्रायश्चित्त करके पापोंको निवृत्त कर देता है, इसी प्रकार किसी गमनरूप तथा प्रायश्चित्त-रूप क्रियासे इसको निवृत्त किया जाय। अथवा किसी परिणाम-रूप क्रिया करके इसको इसी प्रकार निवृत्त किया जाय, जैसे सुवर्णको कुन्दनके रूपमें परिणामी किया जाता है। इस प्रकार इस कर्तृत्वाभिमानकी निवृत्तिमें इससे भिन्न कर्मका और कोई प्रयोजन बन नहीं पड़ता और ये सभी अपने स्वरूपसे इसके इस प्रकार निवृत्त करनेमें निष्फल सिद्ध होते हैं। क्योंकि कर्म के ये पाँच ही प्रयोजन हो सकते हैं—

१. पदार्थकी उत्पत्ति।
२. पदार्थका नाश।
३. पदार्थकी प्राप्ति।
४. पदार्थका विकार, जैसे अग्निद्वारा अन्नका रोटीरूप विकार उपयोगी होता है।

४. संस्कार, अर्थात् वस्त्रादिका मल-निवृत्तिरूप संस्कार, अथवा कुसुमादिमें मज्जनरूप संस्कार । किन्तु कर्मके इन प्रयोजनोंद्वारा इस कर्तृत्वाभिमानकी निवृत्ति सर्वथा असम्भव ही है।

आशय यह है कि कर्मके द्वारा किसी प्रकार भी इसकी निवृत्ति सम्भव हो नहीं सकती, बल्कि कर्मसे तो इसको उल्टा दृढ करना होता है, क्योंकि कर्म-प्रवृत्ति कर्ताके बिना हो नहीं सकती और यह कर्तापन ही एकमात्र रोग है । भला, मल करके मलको कैसे निवृत्त किया जाय ? यह तो पानीसे घृत निकालनेके तुल्य है ।

मल कि जाय कहुँ मलके धोये ।
घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये ॥

जो वस्तु अज्ञानसिद्ध है उसकी निवृत्ति ज्ञानसे, जो अविचारसिद्ध है उसकी निवृत्ति विचारसे और जो वस्तु अन्धकारसिद्ध है उसकी निवृत्ति प्रकाशसे ही हो सकती है, अन्य उपायसे कदापि नहीं ।

गाथा है कि उत्तराखण्डके किसी एक निर्जन देशमें कुछ पहाड़ी जङ्गली मनुष्योंकी एक बस्ती थी । उन लोगोंने अपने जीवनमें कभी अन्धकार नहीं देखा था । वे लोग दिनभर तो कठिन परिश्रम करते थे और सूर्यास्त होते ही सो जाया करते थे तथा सूर्योदय होनेपर जागकर फिर काममें लग जाया करते थे । उनमेंसे एक मनुष्यने अपनी आबादीके निकट एक पहाड़ी गुहा देखी, जो अन्धकारसे भरी हुई थी । चूंकि उसने अन्धकार कभी देखा नहीं था, उसको देखकर वह घबराया और कुछ आदमियोंको जो उस समय ग्राममें मौजूद थे भागकर

बुला लाया। वे सभी उस अन्धकारको देखकर चकित हुए और उन्होंने परस्पर विचार किया कि 'इस स्थलमें यह कोई पिशाच आ गया है, जब हम सो जायँगे तब यह हमको मार जायगा। इसलिये और लोगोंके ग्राममें आनेसे पहले ही हम इसको यहाँसे मार भगावें।' ऐसा निश्चय करके वे लोग अपने-अपने तीर-भाले ले-लेकर आ गये और उस पिशाचको बड़ी वीरतासे मारने लगे। अन्ततः वे अपने शस्त्र चलाते-चलाते थक गये, परन्तु पिशाच एक इञ्च भी न हिला और ज्यों-का-त्यों ही स्थित रहा! थोड़ी देर पीछे कुछ और वृद्ध पुरुष आये और उन्होंने देखकर कहा कि 'यह शस्त्रोंसे कदापि न हटेगा, यह तो महाबलवान् पिशाच है। इसको दूर करनेके लिये तो दान करना चाहिये। दानसे प्रसन्न होकर यह आप ही चला जायगा।' इसपर उन वृद्धोंकी बात स्वीकार करके उन सबने यथाशक्ति दान दिया, परन्तु इसपर भी वह न हिला। इससे अधिक हैरानी हुई और कुछ अन्य पुराने लोग इकट्ठे होकर विचारने लगे कि इसको कैसे दूर किया जाय, यह तो हमारे बालकों व पशुओंको खा जायगा! फिर उन्होंने निश्चय किया कि 'जाप व भक्तिके बिना यह नहीं जा सकता, इसलिये सबको एक मन होकर ईश्वरका भजन करना चाहिये।' इसको भी सबने स्वीकार कर लिया, सभी उच्च स्वरसे ईश्वरकी आराधना करने लग गये और कितने ही दिनोंतक उन्होंने आराधना की, परन्तु सफल न हुए। इतनेमें कुछ यात्री जो मैदानमें रहनेवाले थे, वहाँ आ निकले और यह सब चहल-पहल देख उन्हें बड़ा आनन्द हुआ! उन्होंने कहा कि इस पिशाचको हम अभी तत्काल निकाल देते हैं, तुम थोड़ा तेल, एक लम्बा बाँस और कुछ फटे-पुराने चीथड़े ले आओ। इसपर उनको बड़ी खुशी हुई

और तत्काल उन्होंने यह सब सामग्री इकट्ठी कर दी। यात्रियोंने बाँसपर चीथड़े लपेटकर एक मशाल बनाई और उसको खूब तेलमें भिगोकर दियासलाई लगाई। जब वह प्रज्वलित हो गई तो उन्होंने सबको इकट्ठा करके कहा कि आओ हमारे साथ, तुम्हारे पिशाचको हम अभी निकाल देते हैं। वे सब उस मशालको लेकर उस गुहामें उतर पड़े और उसके एक-एक कोने में भ्रमण किया तो पिशाचका कहीं पता भी न चला। इससे वे सब ग्रामवासी बड़े प्रसन्न हुए और उनको शान्ति मिली।

इसी प्रकार यह अज्ञानरूप अन्धकार जो जीवके हृदयरूपी गुहामें दृढतासे स्थित हो रहा है कि सब कुछ चेष्टारूप व्यापार हो तो रहा है प्रकृतिके गुणोंद्वारा मन, बुद्धि, शरीर एवं इन्द्रियोंसे, परन्तु बीचमें ही कर्ता मान बैठता है यह जीवात्मा अपनेको, यह ज्ञानके प्रकाश बिना कैसे दूर हो?

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ (३।२७)

अर्थ—सब प्रकार प्रकृतिके तीनों गुणोंद्वारा ही कर्म हो रहे हैं, परन्तु जिसका आत्मा अहङ्कार करके मूढभावको प्राप्त हो गया है वह बीचमें ही 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान बैठता है।

सारांश, यह अज्ञानरूप अन्धकार कि दूसरेके धर्मों व कर्मोंको अपनेमें मान बैठना, ज्ञानरूप प्रकाशके बिना कर्मसे ही कभी दूर नहीं हो सकता।

कर्तापनका मूल भेद-दृष्टि है।

कर्ता-बुद्धिका मूल भेद-दृष्टि है, अर्थात् जब यह जीव अपने आत्माको देश-काल करके परिच्छिन्न कुछ और जानता है तथा अपनेसे भिन्न यावत्

प्रपञ्चको कुछ और, तभी इसके अन्दर कर्ता-बुद्धि उत्पन्न होती है। जब कुछ अप्राप्तकी प्राप्ति, कुछ प्रतिकूलकी निवृत्तिकी जिज्ञासा होती है तथा अपनेमें या अन्यमें कोई विकार भान होता है और उसको छोड़ने या छुड़ानेकी दृष्टि होती है, तभी इस जीव में कर्तापनका भाव उदय होता है, जो कि भेद-दृष्टिके निमित्तसे ही है। यदि इसने अपने सात्त्विक-ज्ञानसे सभी विषमरूप संसार में अपने आत्माको समरूपसे स्थित जाना होता और सभी विकारोंमें एक निर्विकार तथा सभी विभक्त भावोंमें अविभक्तरूप से स्थित एक अपने आत्मस्वरूपको ही देखा होता, तब कर्तापन का कोई अवसर कैसे प्राप्त हो सकता था? जबकि इसका कोई प्रयोजन ही नहीं पाया जाता।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥(१८।२०)

अर्थ—जिस ज्ञानद्वारा पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक, अविनाशी व विभागरहित परमात्मरूप भावको देखा जाय वह सात्त्विक ज्ञान है।

जिस प्रकार विषमरूप तरङ्ग, चक्र, फेन व बुद्बुदोंमें भेद-भावसे रहित एक ही जल है। ऊँच, नीच, छुटाई, बड़ाई, उत्पत्ति एवं नाश आदि विकार तरङ्गादिमें हैं, जलमें नहीं, जल तो सब अवस्थाओंमें ज्यों-का-त्यों है। जलदृष्टिवालेके लिये तरङ्गों का तमाशा कैसा प्रिय हो सकता है? इसी प्रकार यदि यह अभेद-दृष्टि परिपक्व हुई होती तो कर्तापनका कोई अवसर कदापि नहीं रह सकता था, चाहे लोक-सेवा आदि पवित्र-से-पवित्र कर्म भी क्यों न सम्मुख हों, जबकि उसको जल-दृष्टिसे भेद-रूप विकार अपने आत्मामें भान ही नहीं होता। अर्थात् जब

उसको साक्षात्‌रूपसे यह निश्चय हो गया है कि मेरे आत्मामें पर्वत, वृक्ष व पृथ्वी आदि पञ्चभूतात्मक चराचर जगत् स्वप्नके समान प्रतीतिमात्र है और मेरे अनन्तात्मामें इसका कोई स्पर्श नहीं, तब वह कर्ता बनकर किसी भी कर्ममें कैसे प्रवृत्त हो सकता है? कदापि नहीं। चाहे स्वाभाविक उसके देहेन्द्रियादि-द्वारा अनर्गल प्रवृत्ति प्रकट होती भी हो, परन्तु वह सब विनोद-मात्र हो सकती है, किसी कर्ताभावसे अथवा किसी फलको धार कर नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कर्तापनका मूल केवल भेद-दृष्टि है जो कि अज्ञानसिद्ध है।

भेद-दृष्टिका कारण परिच्छिन्न-दृष्टि है।

भेद-दृष्टिका कारण परिच्छिन्न-दृष्टि है, अर्थात् अपने आत्माको एक-देशीय जानना। प्रथम जब अपनेको एकदेशी मानता है तभी अन्यको अपनेसे भिन्न करके जानता है और भेदरूप प्रपञ्च दिखाई देता है। यदि इस जीवने अपने सात्त्विक ज्ञानद्वारा अपने आत्माको व्यापकरूपसे देश-काल-परिच्छेदरहित जाना होता, तो इसको भेदरूप प्रपञ्चकी प्रतीति न हुई होती। जैसे व्यापक समुद्र अपनेमें तरङ्गादिका कोई भेद नहीं देखता तथा व्यापक आकाश अपनेमें पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, वन व वस्ती आदिका कोई भेद नहीं देखता, किन्तु समुद्र सभी तरङ्गादिकों को जलरूप और आकाश सभी पृथ्वी, पर्वतादिको आकाश-रूप ही देखता है। यद्यपि मनुष्य समुद्रसे अलग रहकर समुद्रमें तरङ्गोंको और आकाशसे भिन्न होकर आकाशमें पृथ्वी व पर्वतादिकोंको भिन्न-भिन्न रूपसे निश्चय करता है, परन्तु वे समुद्र व आकाश तो अपनेमें इन विकारोंको नहीं देखते। इससे स्पष्ट है कि भेद-दृष्टिका कारण अपने आत्माको

परिच्छिन्नरूपसे कुछ जानना ही है और इस परिच्छिन्नता करके ही मन, बुद्धि, देह एवं इन्द्रियोंके साथ इसका बन्धन है। जबकि यह जीव अपने आत्माको इतने ही देश-कालमें परिच्छिन्न जानता है, जितने देश-कालमें मन, बुद्धि, देह व इन्द्रियोंका निवास है, तभी इस आत्माका इनके साथ तादात्म्याध्यास[1] हो जाता है और यह आप इनके धर्मोंका धर्मी बनकर जन्म-मरण व कर्ता-भोक्तापनके बन्धनोंमें फँस जाता है। यदि अपने अज्ञान करके इसने अपने आत्माको इतने ही देश-कालमें परिच्छिन्न न जाना होता, बल्कि ज्ञानद्वारा आकाशके समान सर्व देश-कालमें व्यापक जाना होता तो इन मन, बुद्धि, देह व इन्द्रियोंके साथ इसका तादात्म्य भी न होता। तथा यदि इस प्रकार इनके साथ इस जीवात्माका तादात्म्याध्यास न होता तो इसको जन्म-मरण और कर्ता-भोक्तापनका बन्धन भी न रहता। इससे स्पष्ट है कि सभी बन्धन और सभी भेदका मूल अपने आत्माको परिच्छिन्नरूपसे कुछ जानना ही है। यही अज्ञान, यही अविद्या और यही माया है।

भेद व परिच्छेद मायामात्र हैं।

वास्तवमें तो यह आत्मा देश, काल व वस्तुकृत सभी परिच्छेदों और सजातीय, विजातीय व स्वगतरूप सभी भेदोंसे नित्य ही मुक्त है और सभी भेद व परिच्छेद केवल मायारूप अवास्तविक ही हैं। यदि ये भेद व परिच्छेद वास्तविक हुए होते तो ज्ञानद्वारा इनकी निवृत्ति सम्भव न होती, बल्कि कर्मद्वाराही इनको काटना होता। क्योंकि ज्ञानद्वारा किसी वस्तुको काटा नहीं जा सकता, ज्ञानका फल तो वस्तुके आश्रय जो अज्ञान है केवल उसको निवृत्त करनामात्र ही

१. अभेद भ्रम, अर्थात् इनसे वस्तुतः अभेद न होते हुए भी अभेद जानना।

है। परन्तु वास्तवमें सभी भेद और सभी परिच्छेदोंसे यह आत्मा नित्य निर्लेप है और ये सब विकार केवल अज्ञानसम्भूत हैं, इसीलिये इनकी निवृत्ति केवल सात्त्विक ज्ञानसे ही सम्भव है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ (४।३५)

अर्थ—हे पाण्डव ! जिस आत्माको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको प्राप्त न होगा और जिस आत्मज्ञानद्वारा तू सभी भूतोंको अपने आत्मामें और मेरेमें अभेदरूपसे देखेगा।

भेद व परिच्छेदकी मायामात्रतामें दृष्टान्त व प्रमाण

जिस प्रकार एक ही व्यापक महाकाशमें भिन्न-भिन्न आकारके घट व मठादि स्थित होते हैं और उन भिन्न-भिन्न घट-मठादिकी उपाधि[1] करके उन घट-मठादिदेशमें आया हुआ महाकाश, अपनी-अपनी उपाधियोंको ग्रहण करके भिन्न-भिन्न और अपनी-अपनी उपाधिके समानाकार प्रतीत होता है। गोलाकार उपाधिमें गोल, चौकोर उपाधिमें चौकोर, लम्बी उपाधिसे मिलकर लम्बा, चौड़ीसे मिलकर चौड़ा इत्यादि। तथा जितनी संख्यामें उपाधियाँ हैं, उतनी ही संख्या घटाकाशादिकी प्रतीत होती हैं और एक उपाधिका दूसरी उपाधिके साथ पृथक्त्व व विभागसे उन घटाकाशादिका भी पृथक्त्व व विभाग प्रतीत होता है। यहाँतक कि घटादिकी उत्पत्तिसे घटाकाशोंकी उत्पत्ति, घटादिके नाशसे घटाकाशोंका नाश और घटादिके गमनागमनसे घटाकाशोंका गमनागमन भान होता है; परन्तु

१ वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिकामें उपाधि व उपहितके लक्षण देखिये।

वास्तवमें घटादिकी उपाधिके बिना शुद्ध आकाशमें तो न कोई रूप है न आकार, न संख्या है न परिमाण, न पृथक्त्व है न संयोग न विभाग, न उत्पत्ति है न नाश और न गमन है न आगमन। बल्कि इन सभी भेद व परिच्छेदोंसे शुद्ध महाकाश तो अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही है, केवल अज्ञानकालमें उन उपाधियोंके धर्म उस उपहित आकाशमें कल्पना किये जाते हैं, वास्तवमें तो उन उपाधियोंकी विद्यमानतामें भी उपाधियोंके धर्मोंका उस उपहित आकाशमें कोई स्पर्श नहीं होता है। न आकाश अपने स्वरूपमें किसी प्रकार किसी उपाधिको ही देखता है, बल्कि उपाधियोंकी उत्पत्ति, स्थिति व नाशमें वह तो अपने-आपको ही देखता है और किसी प्रकार उपाधियोंका उसको गुमान भी नहीं होता।

ठीक, इसी प्रकार सर्वभेदशून्य एक ही व्यापक चेतनघन आत्मामें भिन्न-भिन्न शरीर, इन्द्रियाँ व अन्तःकरण और पञ्चभूतात्मक चराचर बाह्य जगत् स्थित है। उन भिन्न-भिन्न उपाधियों करके भिन्न-भिन्न उपाधिदेशमें आया हुआ वह चेतन भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है और अपनी-अपनी उपाधिके आकारसे मिलकर समानाकार भान होता है; जैसे 'मैं लम्बा हूँ, मैं पतला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं गोल हूँ' इत्यादि ('मैं' शब्दका अर्थ चेतनस्वरूप आत्मा है)। इन्द्रियोंकी उपाधिके साथ मिलकर इन्द्रियवान् प्रतीत होता है; जैसे 'मैं सचक्षु हूँ, मैं अन्ध-बधिर हूँ और मैं लँगड़ा-लूला हूँ' इत्यादि। अन्तःकरणकी उपाधिसे मिलकर 'मैं सुबुद्धि हूँ, मैं दुर्बुद्धि हूँ, मैं कृपण हूँ, मैं उदार हूँ' ऐसा प्रतीत होता है। अपनी-अपनी जातिकी उपाधिसे मिलकर जातिवान् प्रतीत होता है; जैसे 'मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं पक्षी हूँ, मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र हूँ'

इत्यादि। अपनी उपाधियोंके संख्या-भेदसे संख्यावान् प्रतीत होता है, जैसे इस भारतवर्षकी मनुष्य-संख्या चालीस करोड़ है। तथा अपनी उपाधियोंके पृथक्त्व, संयोग व विभागको ग्रहण करके पृथक्त्व संयोग व विभागवाला दिखाई पड़ता है; जैसे 'मैं पृथक् हूँ वह पृथक् है, मेरा अमुकसे संयोग है अमुकसे विभाग।' एवं उपाधियोंकी उत्पत्तिसे उपजा हुआ, उपाधियोंके मरणसे मरा हुआ उपाधियोंके षड्-विकारोंसे षड्-विकारवान् और उपाधियोंके गमनागमनसे आवागमनवाला दृष्ट आता है जैसे 'मैं उपजा हूँ मैं स्थित हूँ, मैं बढ़ता हूँ, मैं परिणामी हो रहा हूँ, मैं क्षीण हो रहा हूँ, मैं नाशको प्राप्त होता हूँ और मैं आता-जाता हूँ' इत्यादि। किन्तु उपाधियोंके बिना वह आत्मा न अपना कोई आकार रखता है, न जाति, न संख्या, न परिमाण न पृथक्त्व, न विभाग, न संयोग, न विकार, न गमन और न आगमन। शरीरादिकी उपाधिको त्यागकर वह कोई संख्या नहीं रखता, न वह एक है न चालीस करोड़। इन्द्रियादिकी उपाधिको त्यागकर न वह सचक्षु है न अचक्षु, न काणा न बधिर, न सपाद न लंगड़ा। अन्तःकरण आदिकी उपाधिको त्यागकर न वह सुबुद्धि है न निर्बुद्धि, न सचित्त है न अचित्त, बल्कि सभी भेद व परिच्छेदसे शून्य सदा अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों स्थित है। केवल उपाधिके धर्म उस उपहित-चेतनमें कल्पनामात्र व्यवहार हो रहे हैं और वास्तव में उपाधियोंकी विद्यमानतामें भी उपाधि तथा उनके धर्मोंका उस उपहित-चेतनमें कदाचित् कोई स्पर्श नहीं है। न उपहित-चेतन अपने स्वरूपमें किसी उपाधिको देखता ही है, बल्कि उपाधियोंकी उत्पत्ति, स्थिति व नाश, सभी अवस्थाओंमें वह तो अपने-आपको ही ज्यों-का-त्यों देखता है और किसी

प्रकार उपाधियोंका उसको गुमान भी नहीं होता, केवल उपाधि-दृष्टिमें ही उपाधियोंकी प्रतीति होती है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ (९।६।)
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ (१३।३२)

अर्थ—जैसे महाकाश नित्य ही स्थित है और महान् वायु सर्वत्र ही आकाशके आश्रय विचरती है परन्तु आकाशको स्पर्श नहीं करती, इसी प्रकार सब भूत मेरे आश्रय मुझको स्पर्श किये बिना ही मेरेमें स्थित हैं, ऐसा तू जान।

जिस प्रकार सर्वगत आकाश अपनी सूक्ष्मता करके किसी से लेपायमान नहीं होता, इसी प्रकार देहमें सर्वत्र स्थित हुआ भी आत्मा देहादिसे किसी प्रकार लेप नहीं पाता।

भेद व परिच्छेदकी मायामात्रतामें युक्ति व विचार

दृष्टान्त व प्रमाणसे तो साक्षीस्वरूप आत्मा और उपाधिका स्वरूप स्पष्ट हुआ, अब संक्षेपसे युक्तिकी कसौटी पर भी हमें इसकी परीक्षा करनी चाहिये। सत्य व असत्यका स्वरूप स्पष्ट यही हो सकता है कि जो वस्तु सर्वदेश व सर्वकाल-व्यापी हो वह सत्य और जो वस्तु अल्पदेश व अल्पकाल में हो, अर्थात् किसी देशमें हो किसीमें नहीं तथा किसी कालमें हो किसीमें नहीं, वह असत्य है; क्योंकि देश-कालव्यापी वस्तु उत्पत्ति व नाशवान् तो अपने स्वभावसे होती ही है। थोड़े विचारसे ही यह बात तो स्पष्ट हो सकती है कि पञ्चभूतात्मक जितना कुछ यह प्रपञ्च-आडम्बर खड़ा हुआ है, वह केवल

इन्द्रियग्राह्य ही है। अर्थात् इन्द्रियों करके ही इसका ग्रहण है और इन्द्रियोंके बिना इसका रञ्चकमात्र भी ग्रहण नहीं होता। संसारमें यदि रूपको विषय करनेवाली चक्षु-इन्द्रिय न होती तो 'रूप' नामका विषय कोई पदार्थ भी न रहता। यदि संसारमें श्रोत्र-इन्द्रिय न होती तो शब्दकी गन्धमात्र भी न रहती। यदि त्वक्-इन्द्रिय न होती तो स्पर्शका नाममात्र भी न होता। यदि रसन-इन्द्रिय न होती तो रसरूपसे लेशमात्र भी कुछ न हुआ होता। तथा घ्राण-इन्द्रिय न होती तो गन्धकी गन्ध भी न मिलती। सुषुप्ति अवस्थामें ही इसका स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है कि जब उस कालमें इन्द्रियाँ अपने कारणमें लीन हो जाती हैं तब पञ्च विषयोंका भी लोप हो जाता है। यदि ये पञ्च विषय इन्द्रियनिरपेक्ष होते तो इनकी उस सुषुप्ति-अवस्थामें भी उपलब्धि होनी चाहिये थी जबकि इन्द्रियोंका लोप हो जाता है। परन्तु सभी जीव अपने-अपने जाग्रत्-स्वप्नमें ही इन्द्रियसापेक्ष विषयोंको ग्रहण करते हैं, इन्द्रियोंके लय हुए किसीको भी अपनी सुषुप्तिमें विषयोंकी उपलब्धि नहीं होती। और शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध, इन पञ्च विषयोंसे भिन्न संसारका और कोई रूप मिलता ही नहीं है, केवल पञ्च-विषयात्मक ही प्रपञ्च है और वह केवल इन्द्रियसापेक्ष ही है, वह भी स्व-स्व इन्द्रियसापेक्ष। अर्थात् रूप चक्षुग्राह्य है श्रोत्रग्राह्य नहीं, शब्द केवल श्रोत्रग्राह्य है चक्षुग्राह्य नहीं। इस प्रकार सभी अपने-अपने विषयको आप ही ग्रहण कर सकती हैं, अन्य कोई ग्रहण नहीं कर सकती। इस प्रकार विषयग्राहक इन्द्रियके बिना संसारमें विषयका त्रिकालाभाव सिद्ध होता है। जो वस्तु अपने व्यवहार-कालमें ही प्रतीत हो अपने व्यवहारसे भिन्न कालमें प्रतीत न हो, वह देश-काल-परिच्छेद्य होनेसे मिथ्या ही है और वास्तव

में अपनी प्रतीति-कालमें भी इसी प्रकार भ्रमरूप प्रतीतिका विषय है, जिस प्रकार रज्जुमें सर्प अपने व्यवहार-कालमें ही प्रतीत होता है और वास्तवमें कदाचित् भी नहीं होता।

ऐसा मिथ्या उपाधिरूप यह प्रपञ्च अपने अधिष्ठान साक्षी-चेतनमें किसी प्रकारसे अपना विकाररूप लेप करनेको समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि मिथ्या वस्तु अपने स्वरूपसे कुछ होती ही नहीं है, इसलिये वह अपने आश्रय आप नहीं रह सकती, किन्तु किसी सत्यके आश्रय ही उसकी केवल भ्रमरूप प्रतीति होती है। जैसे मिथ्या-रजत[1] सत्य-शुक्तिके[2] आश्रय ही प्रतीतिमात्र होती है, परन्तु वास्तवमें वस्तु कुछ नहीं होती। यदि मिथ्या वस्तुके नीचे कोई सत्य वस्तु न हो तो उसकी प्रतीति ही असम्भव है, क्योंकि वह आप तो स्वसत्ताशून्य होती है, केवल अपने अधिष्ठानकी सत्तासे ही सत्तावान् प्रतीत होती है। जैसे स्वसत्ताशून्य रजत शुक्तिकी सत्तासे ही सत्तावान् प्रतीत होती है, वास्तवमें तो आप शून्यरूप ही है। जैसे शून्य (०) अपना कोई मूल्य नहीं रखती, केवल एकाङ्क (१) के साथ मिलकर मूल्यवान् होती है। इसी प्रकार यह प्रपञ्च अपने स्वरूपसे तो नित्य विकारी व नाशवान् ही है, कदाचित् स्थिर नहीं रहता, इसलिये मिथ्या है और वास्तवमें है ही नहीं। इसके नीचे अवश्य कोई निर्विकार व अविनाशी वस्तु चाहिये, जिसके आश्रय इस मिथ्या प्रपञ्चकी प्रतीति सम्भव हो। क्योंकि सत्य अधिष्ठानके बिना मिथ्याकी तो प्रतीति ही असम्भव है और वह [3]त्रिकालाबाध्य, [4]अपरिच्छिन्न, सत्य चेतन ही हो सकता है। उस अधिष्ठानरूप साक्षी-चेतनकी

१. चाँदी २. सीपी। ३. तीनों कालमें जिसका मिथ्यात्व निश्चय न हो। ४. बेहद।

सत्तासे ही सत्तावान् हुआ यह उपाधिरूप प्रपञ्च सत् प्रतीत हो रहा है, वास्तवमें इसकी अपनी तो कोई सत्ता ही नहीं हो सकती। साथ ही, इसके विकारोंका इसके अपने अधिष्ठानमें कोई लेप भी नहीं हो सकता, जिस प्रकार मृग तृष्णाके जलसे पृथ्वी गीली नहीं हो जाती, मिथ्या सर्पसे रज्जु विषैली नहीं हो जाती तथा स्वप्नमें भिखारी दीखनेसे राजा दरिद्री नहीं हो जाता। क्योंकि यह नियम है कि समान-सत्तावाले पदार्थ ही परस्परमें साधक बाधक होते हैं, विषम-सत्ताके पदार्थ साधक-बाधक नहीं हो सकते, जैसे स्वप्नकी अग्निसे किसीके जाग्रत्-शरीरको कोई ताप नहीं लग जाता। हाँ, स्वप्न शरीरके लिये तो वह दाहक सिद्ध हो सकती है, परन्तु जाग्रत्-शरीर को तो उसका कोई लेप नहीं। इसी प्रकार उपाधिरूप प्रपञ्चकी व्यावहारिक सत्ता है और केवल व्यवहार-कालमें ही इसकी सिद्धि है। परन्तु अधिष्ठानरूप साक्षी-चेतनकी परमार्थ सत्ता है, वह सब कालमें स्वतःसिद्ध है और व्यावहारिक पदार्थोंके सब भाव व अभावका प्रकाशक है। इसलिये ये व्यावहारिक उपाधिवाले पदार्थ विषम-सत्तावान् होनेसे उसमें अपना कोई लेप नहीं कर सकते। यदि उपाधिके विकारोंका अधिष्ठान-चेतनमें भी कोई लेप हुआ होता तो उपाधिकी उत्तर प्रतीति ही न हुई होती, क्योंकि विकारी वस्तु तो उत्तर क्षणमें ही नष्ट हो जाती है, कदाचित् स्थिर नहीं रहती। जैसे गंगाका प्रवाह प्रत्येक क्षण परिणामको प्राप्त होता रहता है, इसी प्रकार विकारी वस्तु भी प्रत्येक क्षण परिणित हो रही है और कालके मुखमें जा रही है, वही कदाचित् नहीं रहती। इस प्रकार अपनी उपाधिके विकारोंके साथ साथ यदि अधिष्ठान-चेतन भी नष्ट-स्वभाव हुआ होता, तो उपाधिका प्रकाश किससे होता और

उपाधिको कौन सिद्ध करता? क्योंकि अभाव (०) से तो अभावकी सिद्धि हो नहीं सकती, भावसे ही अभावकी सिद्धि हो सकती है। परन्तु यह उपाधिरूप प्रपञ्च तो घट है, मठ है, आकाश है, पृथ्वी है—इत्यादि 'है, है' रूपसे सदा ही प्रतीत हो रहा है, सो अपने स्वरूपसे तो अत्यन्त अभावरूप ही है, परन्तु अभावरूप हुआ भी परम भावरूप उस चेतनके भावसे ही भाववाला बन रहा है। जैसे तरङ्ग अपने स्वरूपसे तो अत्यन्त अभावरूप है, अपनी कोई सत्ता नहीं रखती, परन्तु आप अभावरूप हुई भी भावरूप जलकी सत्तासे भावरूप प्रतीत होती है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इस उपाधिरूप प्रपञ्चका अपने अधिष्ठान-चेतनमें कोई लेप नहीं है और यह अपने स्वरूपसे है ही नहीं, केवल अधिष्ठानकी सत्तासे ही सत् प्रतीत हो रहा है, इसमें अपनी सत्ता तो रञ्चकमात्र भी नहीं है। जैसे अहरन आप अचल रहकर ही अपने आश्रय भूषणरूप विकारोंको सिद्ध करता है, यदि चोटोंसे वह आप भी चलायमान हुआ होता, तो भूषणादिकी सिद्धि असम्भव ही थी। इसी प्रकार साक्षीस्वरूप आत्मा आप कूटस्थ रहकर ही उपाधिरूप इस प्रपञ्चकी सिद्धि कर रहा है। इससे स्पष्ट हुआ कि असत् वस्तुका कदाचित् भाव नहीं है, चाहे वह प्रतीत भी होती हो, परन्तु वास्तवमें होती नहीं है, बल्कि वह अपनी प्रतीतिद्वारा किसी सत्य अचल वस्तुकी विद्यमानताको सूचित करती है। जैसे सर्प अपनी मिथ्या प्रतीतिमें प्रतीत होता हुआ भी होता नहीं है और अपनी प्रतीतिद्वारा वहाँ सत्यस्वरूप रज्जुकी ही विद्यमानताका पता देता है। तथा सत्य वस्तुका कदाचित् अभाव नहीं होता, चाहे स्थूल दृष्टिसे वह प्रतीत न भी होती हो, परन्तु वस्तुतः होती वही है। 'सत्यस्वरूप आत्माका तीनों कालमें अभाव

नहीं और भेद व परिच्छेदवाले इस दृश्य प्रपञ्चका किसी कालमें भी भाव नहीं'—इस विषयमें हमारे द्वारा तत्त्व-विचार विस्तारसे 'आत्म-विलास' ग्रन्थके 'ज्ञान' शीर्षक अध्यायमें दिये गये हैं, जिनको जिज्ञासा हो वहाँ देखें।

> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ (२।१६)
> अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
> विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ (२।१७)
> अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
> अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ (२।१८)

अर्थ—असत् वस्तुका तो कदाचित् भाव है ही नहीं, (अर्थात् असत् वस्तु तो कदाचित् भी विद्यमान नहीं होती, वर्तमान कालमें उसकी प्रतीति तो रज्जुमें सर्पके समान केवल इन्द्रियोंका भ्रम ही होता है, विद्यमान तो वह प्रतीति-कालमें भी नहीं होती) और सत्य वस्तुका कदाचित् लोप नहीं होता, (अर्थात् अपनी अप्रतीति-कालमें भी चाहे वह भ्रमके प्रभावसे प्रतीत न हो, परन्तु होती वही है, जैसे सर्प प्रतीति-कालमें चाहे रज्जु प्रतीत न हो, परन्तु होती वही है)। ऐसा सत्य व असत्यका निर्णय अन्य तत्त्वदर्शियोंद्वारा भी किया गया है। इस निष्कर्षके अनुसार अविनाशी वस्तु तो वह जान, जिससे यह सब प्रपञ्च परिपूर्ण हो रहा है (क्योंकि उस अविनाशीके बिना इस नाशवान् प्रपञ्चको अन्य कौन धारण कर सकता है), उस अविनाशीका नाश करनेको तो कोई भी

समर्थ नहीं है। उस अविनाशी, नित्यस्वरूप व अप्रमेय (जो किसी भी प्रमाणका विषय नहीं है) देही-आत्माके (जो सब देहोंमें वर्त रहा है) ये सब देह नाशवान् कहे गये हैं, अर्थात् प्रतीतिमात्र हैं, इसलिये हे भारत ! तू (ऐसे भ्रमरूप शरीरोंका विचार न करके) युद्ध कर।

यदि यह उपाधिरूप प्रपञ्च सत्य हुआ होता तो अन्य अवस्थाओंमें भी इसकी प्रतीति होनी चाहिये थी; परन्तु इसकी प्रतीति तो केवल अपने कालमें ही है। क्योंकि जाग्रत् अवस्थामें तो न स्वप्न-प्रपञ्च रहता है न सुषुप्ति और स्वप्नमें न जाग्रत्-प्रपञ्च रहता है न सुषुप्ति तथा सुषुप्तिमें न जाग्रत् रहता है न स्वप्न। इसलिये ये तीनों अवस्थाएँ व्यभिचारी हैं। जो वस्तु कदाचित् हो और कदाचित् न हो, वह देश-कालपरिच्छिन्न होनेसे मिथ्या ही होती है, ऐसा अपने स्वभावसे ही यह प्रपञ्च है। परन्तु आत्मा तो सब अवस्थाओंमें हाज़िर-हुज़ूर है, सब अवस्थाओंको देखने-जाननेवाला है और सब अवस्थाओंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है। क्योंकि स्वप्न व सुषुप्तिसे निकलकर जब यह जीवात्मा जाग्रत्‌में आता है, तब तीनों अवस्थाओंको देखने-जाननेकी अपनी स्पष्ट साक्षी देता है और बतलाता है कि 'स्वप्नमें मैंने देखा कि अवस्था बड़ी चञ्चल थी, कभी मैं हाथी था, कभी घोड़ा, कभी चिड़िया, कभी राजा तथा सुषुप्तिमें मैंने देखा कि वहाँ कुछ भी नहीं था, न आकाश था न पृथ्वी आदि कोई तत्त्व, न शरीर, न इन्द्रियाँ, न मन, न बुद्धि, कुछ भी नहीं था केवल सुख-ही-सुख था और वही मैं जाग्रत्‌में इस अखिल प्रपञ्चको देख रहा हूँ।' इससे स्पष्ट सिद्ध है कि तीनों अवस्थाओंका देखनेवाला कोई एक ही है और वह साक्षीस्वरूप आत्मा ही हो सकता है, जो कि सब अवस्थाओंमें हाज़िर है और सब अवस्थाओंमें अपने देखनेको प्रत्यक्ष

प्रमाणसे सिद्ध कर रहा है । सुनी-सुनाई अपनी साक्षी नहीं देता, बल्कि प्रत्यक्ष दृष्ट साक्षी देता है और आप उन सब अवस्थाओंके विकारोंसे निर्विकारी है यही उसका देखना व जानना है, उससे भिन्न देह, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि तो उदय-अस्तवाले विकारी होनेसे द्रष्टा नहीं हो सकते, किन्तु दृश्य ही रहते हैं। यदि वह देखनेवाला भी किसी अवस्थाके विकारोंसे विकारी हुआ होता तो वह विकार उसमें अन्य अवस्थामें भी प्रतीत होना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं होता । क्योंकि जाग्रत्‌के दु:ख-सुखादि स्वप्नमें नहीं रहते और स्वप्नके दु:ख-सुख जाग्रत्‌में नहीं रहते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वह आत्मा तो केवल साक्षीमात्रही है और ज्यों-का-त्यों सब अवस्थाओंमें निर्विकार रहता हुआ अपने-आपमें स्थित है। वही सत्य है और वह सर्व देश तथा सर्व कालमें व्यापक है। ये देह, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि तो केवल उसके ऊपर पोशाककी भाँति हैं, जिनके साथ उसका कोई लगाव नहीं होता और वे अपने-अपने समयपर उससे उतर जाते हैं। जैसे मनुष्य अपने ऊपर वस्त्र धारण करके आप वस्त्र नहीं हो जाता और वस्त्रोंके जीर्ण होनेसे तथा फटजानेसे आप जीर्ण नहीं हो जाता, ठीक इसी प्रकार यह आत्मा शरीरादिकोंसे भिन्न है और उनके विकारोंसे निर्विकारी है। इसीलिये स्वप्नमें देह व इन्द्रियाँ इससे इसी प्रकार उतर जाते हैं, जैसे मनुष्य अपना कोट उतारकर खूँटी पर टाँग देता है और सुषुप्तिमें मन व बुद्धि भी इससे इसी प्रकार उतर जाती हैं, जैसे मनुष्य अपना कुरता व वास्कट उतारकर सुखकी नींद सोता है। यदि जाग्रत् शरीर, इन्द्रियाँ एव सुख-दु:खादिसे इस आत्माको कोई लेप हुआ होता तो वे स्वप्न व सुषुप्तिमें भी इसके साथ रहते और यदि मन व बुद्धिसे इसका कोई लगाव होता तो वे सुषुप्तिमें भी इसके साथ रहते,

परन्तु ये सब तो यहीं रह जाते हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(२।२०)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(२।२२)

अर्थ—यह आत्मा किसी कालमें भी न जन्मता है, न मरता है और न होकर फिर अभाव होनेवाला है; बल्कि यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत व पुरातन है, शरीरादिके नाश होने पर यह नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार पुराने वस्त्रोंको त्यागकर मनुष्य दूसरे वस्त्रोंको धारण कर लेता है, इसी प्रकार यह आत्मा पुराने शरीररूपी वस्त्रोंको त्यागकर अन्य नये शरीरोंको धारण कर लेता है।

इससे स्पष्ट है कि सब अवस्थाओंको देखने-जाननेवाला और सब अवस्थाओंसे निर्लेप, सब देश-कालमें रहनेवाला और आप सब देश-कालके परिच्छेदसे मुक्त वह आत्मा ही सत्य है। यह देहादि प्रपञ्च तो व्यभिचारी एवं प्रतीतिमात्र ही है तथा वह आत्मा इनके भावाभावको देखने-जाननेवाला और इनके भावाभावसे असंग है। उसीके प्रकाशसे ये सब प्रकाशमान हो रहे हैं और उसीकी सत्तासे सत्तावान् बने हुए हैं। वही मैं हूँ 'सोऽहमस्मि'। शरीरदेशमें आये हुए चेतनका व्यापक चेतनसे कोई भेद नहीं है, केवल शरीरकी उपाधि करके व्यापक चेतनसे उसके सोपाधिक भेदकी कल्पना की जाती है, वास्तवमें तो अभेद ही है। जैसे घटकी उपाधि करके घटदेशमें आये हुए

आकाशके व्यापक आकाशसे भेदकी कल्पना की जाती है, परन्तु वास्तवमें उपाधिरूप घटने घटाकाशको व्यापक आकाशसे भिन्न नहीं कर दिया, किन्तु घटाकाशका व्यापक आकाशसे सर्वदा अभेद ही है।

ज्ञानसे कर्मोंका क्षय क्योंकर सम्भव है ?

इस रीतिसे विवेक-वैराग्यादि साधन-सम्पन्न जिस अधिकारीके पवित्र हृदयमें इस प्रकार तत्त्व-विचारोंका प्रवाह उमड़ा और देह, इन्द्रियों, मन व बुद्धयादिसे अहं-भाव गलित होकर जिसने सर्वसाक्षी अपने आत्मस्वरूपमें 'अहं' रूपसे स्थिति पाई, उसकी यह परिच्छिन्न-दृष्टि कि 'मैं इतने ही देश-काल में हूँ, अन्य देश कालमें नहीं' स्वतः ही छूट जाती है। इस प्रकार जब उसने सर्वदेश, सर्वकाल और सर्ववस्तुरूपी तरङ्गोंमें एक अपने ही आत्माको आनन्दकी थलैयाँ लेते हुए पाया, तब 'वह और है मैं और हूँ'—इस भेद दृष्टिको ठिकाना कहाँ? तथा 'आत्मैवेदं सर्वम्' यह सब आत्मा ही है—जब इस अभेद दृष्टि करके उसे न कुछ प्राप्तव्य शेष रहा और न कुछ त्याज्य, तो फिर कर्तापनको अवकाश कहाँ और कर्तव्य क्या? क्योंकि भेद-दृष्टि करके जबतक ग्रहण-त्याग-बुद्धि विद्यमान थी, तब तक ही कर्तृत्व व कर्तव्यका भूत सिरपर सवार रहना अनिवार्य था। परन्तु तत्त्व-दृष्टिके प्रभावसे जब अपने आत्मस्वरूपमें कुछ भवितव्य ही न रहा, अर्थात् अपने आत्मामें विकाररूपसे कुछ बनता हुआ ही न देखा गया और अहं-स्वरूप इस प्रपञ्चकी अपने आत्मासे भिन्न कोई सत्ता ही न पाई गई, तो ग्रहण त्यागको ठौर कहाँ? और जब ग्रहण-त्यागकी ही सफाई हुई, तो कर्तृत्व व कर्तव्यको अवकाश कहाँ? क्योंकि कर्तृत्व व कर्तव्य तो परिच्छिन्नरूप देहादिमें आत्मदृष्टि करके ग्रहण त्यागबुद्धिसे

ही बने हुए थे। परन्तु तत्त्व-विचारद्वारा इन मन-बुद्धयादि सभी अविद्या प्रपञ्चसे आत्मदृष्टि दग्ध होकर जब अपने अपरिच्छिन्न वास्तव सर्वसाक्षीस्वरूपमें आत्मभावसे दृढ़ स्थिति पा ली गई तो ग्रहण-त्यागके अभावसे इन कर्तृत्व व कर्तव्यका दग्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। स्वप्नसे जागे हुएके समान जब अपने आत्मामें कर्तापनका कदाचित् कोई स्पर्श ही नहीं पाया गया, अर्थात् त्रिकालाभाव सिद्ध हुआ और न अपने आत्मामें कुछ होता हुआ ही देखा गया, तब कर्म-संस्कारों का बेड़ा कैसे गरक न हो? क्योंकि कर्ता व कर्म तो अज्ञान-निद्रामें भेद-दृष्टिजन्य ही थे और वे ही सब कर्म-संस्कारोंके अधिकरण बने हुए थे, परन्तु जब सर्वभेदाभावरूप ज्ञान-जागृति आई तब कर्ता व कर्म-संस्कारादिका स्वतः ही अत्यन्ताभाव सिद्ध हो गया, अर्थात् ये भाव चरितार्थ हो गये—

न हमने बोया, न हमने काटा,
न हमने जोता, न हमने गाहा।
उठा जो दिल से भरमका पड़दा,
तो उसके उठते ही फिर अहा हा!!

मिथ्या अज्ञानजन्य यह 'अहं-अभिमान' ही देह, इन्द्रियों मन व बुद्धिको अपने सूत्रमें इसी प्रकार धारण किये हुए था, जिस प्रकार मालाके मणके धागेमें पिरोये हुए इकट्ठे रहते हैं और पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते। परन्तु ज्ञानद्वारा जब यह 'अहं-अभिमानरूपी सूत्र खण्डित हुआ और वास्तव 'अहं' सर्वसाक्षी अपने आत्मामें दृढ़ स्थिति पाई, तब ये देहादि प्रकृतिका सभी परिवार इसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो गया, जिस प्रकार धागेके टूटनेपर मालाके दाने बिखर जाते हैं। इस

प्रकार उपादान-कार्य एवं कर्ता-कर्मरूप सभी व्यवहार बाधित हो गया और क्या कारण, क्या कार्य, क्या कर्ता और क्या कर्म—सभी सम्बन्ध अपने आत्माके विवर्त[1] सिद्ध हुए तथा सब सम्बन्धोंसे रहित सभी कारक अपने आत्माके चमत्कार भान हुए। जैसे स्वप्नमें स्वप्न-द्रष्टा आप ही कुलाल आप ही घट, आप ही पिता आप ही पुत्ररूपमें दृष्ट आता है और अनहुई ही कारण-कार्यकी कल्पना भान होती है, इसी प्रकार यह कारण-कार्यकी कल्पना ही अज्ञान था और यही बन्धन, जो तत्त्व-दृष्टिद्वारा स्वतः ही निवृत्त हो गया। सब कर्मरूप चेष्टाएँ हो तो रही थीं प्रकृतिके कार्य मन, बुद्धि देह व इन्द्रियोंद्वारा, परन्तु इनके व्यापारोंका मिथ्या ही अभिमान यह आत्मा अपनेमें अपने अज्ञान करके धारण किये हुए था। अब जो इसने तत्त्वविचारद्वारा वास्तव दृष्टिसे देखा तो जाना कि मैं तो कदापि कर्ता था ही नहीं, किन्तु मैं तो सदा केवल द्रष्टा-साक्षी ही था और वृथा ही पराये व्यापारोंमें कर्तापनका अभिमान करके भोक्तापनके बन्धनमें पड़ा हुआ था तथा जन्म-मरणके चक्करमें घटीयन्त्रके समान यूँ ही घूम रहा था।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥(१३।२१)
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ (१३।२२)

अर्थ—प्रकृतिमें स्थित हुआ यह चेतन पुरुष, प्रकृतिजन्य गुणोंका भोग करता है और इन गुणोंके साथ इसका सम्बन्ध ही इसके लिये भली बुरी योनियोंमें जन्मका कारण है। (वास्तवमें तो

[1] वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंकी पर्यायक्रमणिकामें इसका लक्षण देखिये।

यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी आकाशके समान प्रकृतिसे अतीत ही है) केवल साक्षी होनेसे 'उपद्रष्टा', यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे 'अनुमन्ता', सबको धारण करनेवाला होनेसे 'भर्ता', सब भोगोंकी सत्ता होनेसे 'भोक्ता', ब्रह्मादिका स्वामी होनेसे 'महेश्वर' और वास्तवमें शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे 'परमात्मा'—ऐसा कहा गया है।

जिस प्रकार मोहनीके नृत्यसे मुग्ध हुआ भस्मासुर आप भी उसके साथ नृत्य करने लगा था और फिर आप ही अपने सिरपर हाथ रखकर अपनेको भस्म कर बैठा था; इसी प्रकार इस प्रकृतिके नृत्यसे मुग्ध हुआ यह आत्मदेव आप ही इसके नृत्यमें सम्मिलित हो यूँ ही अपने-आपको इसके साथ बन्धायमान कर बैठा था। परन्तु जब इस शिवस्वरूपने अपना तृतीय ज्ञान-नेत्र खोला तो प्रकृतिका सारा ही परिवार आँखें खोलते-खोलते भस्म हो गया और सभी बन्धनोंको चकनाचूर कर स्वप्नसे जागे हुएके समान इसने अपने-आपको नित्य-मुक्त व असंग पाया। और जाना कि जिस प्रकार आकाशमें आकाशके आश्रय अग्नि, वर्षा व आँधी इत्यादि उत्पत्ति-नाशको प्राप्त होती हुई भी न आकाशको तपा सकते हैं, न भिगो सकते हैं, न चला सकते हैं और न मैला ही कर सकते हैं; इसी प्रकार सब कर्म कर्मोंके संस्कार और कर्मके पाँच दृष्ट साधन, इन सबसे मेरा कदाचित् कोई सम्बन्ध न हुआ था, न है और न होगा। यथा—

> अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
> विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ (१८ । १४)

अर्थ—कर्मके पाँच दृष्ट साधन होते हैं—

(१) अधिष्ठानरूप शरीर, जिसमें कर्म होता है।

(२) अहङ्काररूप कर्ता।

(३) मन इन्द्रियादिरूप करण, जिनके द्वारा क्रिया होती है।

(४) प्राणापानादिकी भिन्न-भिन्न चेष्टारूपे व्यापार, जिनके द्वारा देहेन्द्रियादिमें क्रिया उत्पन्न होती है।

(५) दैव, अर्थात् मन इन्द्रियादिके सञ्चालक भिन्न-भिन्न आधिदैव शक्तियाँ, जैसे चक्षुका अधिदेव सूर्य, श्रोत्रका दिशा इत्यादि।

सभी कर्मरूप व्यापार इन पाँचोंकी सहायतासे ही होता है और ये पाँचों ही कर्मके कारण हैं, परन्तु इस तत्त्ववेत्ताने तो अपने-आपको इन पाँचोंसे ही असङ्ग व निर्लेप जाना और साक्षात्‌रूपसे अनुभव किया कि यद्यपि आकाशके समान ये सब मेरे आश्रय वर्तते हैं, परन्तु मुझमें इनका कोई लेप नहीं है और मैं प्रकृतिक सब व्यापारोंको साक्षीरूपसे सत्ता देता हुआ भी सबसे निर्लेप हूँ। यथा—

> न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
> इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ (४ । १४)
> न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
> उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ (९ । ९)
> प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
> यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ (१३ । २९)

अर्थ—मुझ सर्वसाक्षीको कर्म नहीं छूते और न मेरी कर्म-फलमें कोई आसक्ति ही है, इस प्रकार जो मेरे स्वरूपको साक्षात्‌रूपसे जानता है वह कर्मोंसे बन्धायमान नहीं होता। (प्रकृतिद्वारा जो सृष्टि-लयादि कर्म हो रहे हैं) हे धनञ्जय!

वे कर्म मुझ साक्षीस्वरूपको बन्धन नहीं करते, क्योंकि मैं उदासीनके समान असक्तरूपसे उन कर्मोंमें स्थित रहता हूँ। प्रकृतिद्वारा ही सब प्रकारसे कर्मादि किये जा रहे हैं, परन्तु जो अपने आत्माको उन व्यापारोंमें साक्षीरूपसे अकर्ता देखता है वही यथार्थ देखता है।

इस अवस्थापर पहुँचकर इस जीवन्मुक्त विद्वान्के हृदयकी चिज्जड़-ग्रन्थि कि 'मैं कर्ता, भोक्ता और संसारी हूँ'—स्वरूप-साक्षात्कारसे टूट पड़ती है, उसके सब संशय भेदन हो जाते हैं और सब कर्म क्षयको प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि इस अज्ञान-जन्य मिथ्या कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धिके आश्रय ही इन सब कर्म-संस्कारोंकी स्थिति थी और इसीके आश्रय वे सब फल-फूल रहे थे। ज्ञानद्वारा आधारभूत इस मिथ्या बुद्धिके दग्ध हो जानेपर आधेयरूप कर्मसंस्कार स्वतः ही दग्ध हो जाते हैं। यथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मु० उप० द्वि० मु० मं० ८)

(अर्थ ऊपर आ चुका है)

केवल इसी ज्ञानद्वारा जीवके अखिल कर्म-संस्कारोंका दग्ध होना सम्भव है, कर्मसंस्कारोंसे छुटकारा पानेका और कोई उपाय न हुआ है न होगा। भोग अथवा प्रायश्चित्तादिद्वारा कर्म-संस्कारोंसे छुटकारा पाना सर्वथा असम्भव है, जैसा इस विषयको पीछे पृ० २७ से २९ पर स्पष्ट किया जा चुका है। केवल इसी प्रकार यह जीवात्मा अखिल कर्म-संस्कारोंको दग्ध करके और जन्म-मरणके बन्धनसे छूटकर मुक्त हो सकता है।

इस अवस्थामें आरूढ होकर इस जीवन्मुक्त विद्वान्के देह, इन्द्रियों, मन व बुद्धिकी चेष्टाएँ बन्द नहीं हो जातीं, परन्तु भुने बीजके समान वे चेष्टाएँ किसी फल की हेतु नहीं रहतीं। क्योंकि कर्मरूप व्यापार अपने स्वरूपसे बन्धनका हेतु नहीं होता, किन्तु केवल अज्ञानजन्य अहं-कर्ता व कर्तव्य-बुद्धि ही बन्धन होता है। यदि केवल कर्म ही बन्धनरूप हों और फल के हेतु होते हों तो पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादि और शिशुके उस अवस्थामें किये हुए कर्म भी, जिनमें कर्तृत्व-बुद्धि जागृत नहीं हुई है, उनके लिये फलप्रद होने चाहियें। परन्तु चूँकि उनमें अभी अहं-कर्ता व कर्तव्य बुद्धि जागृत नहीं हुई है, इसलिये उनके अपनी-अपनी योनिमें किये हुए कर्म बन्धनरूप नहीं होते और फलके हेतु भी नहीं बनते। तथा उस जीवन्मुक्त विद्वान्के कर्म भी बन्धनके हेतु नहीं होते जिसकी कर्तृत्व व कर्तव्य बुद्धि जागृत होकर ज्ञानद्वारा दग्ध हो गई है। केवल उन पुरुषोंको ही कर्मका बन्धन होता है जिनकी कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धि जागृत होकर विकासको तो प्राप्त हो गई है, परन्तु ज्ञानद्वारा दग्ध नहीं हुई। इससे स्पष्ट है कि बन्धनका हेतु जागृतिको प्राप्त हुई केवल कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धि ही है, कर्म अपने स्वरूपसे बन्धनरूप नहीं हैं। इस नियमके अनुसार चूँकि इस विद्वान्की अहं-कर्ता व कर्तव्य-बुद्धि तत्त्व-ज्ञानद्वारा सोलह-आने दग्ध हो चुकी है और इन देहेन्द्रियादिके नृत्यसे अब वह आप नाचनेवाला नहीं रहता, किन्तु सुत्रधारकी भाँति अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे इन देहेन्द्रियादि कठपुतलियोंको केवल नचानेवाला आप अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही रहता है, इसलिये आकाशकी भाँति सब चेष्टारूप व्यापार यद्यपि अब इसके आश्रय ही हो रहा है, परन्तु यह स्वयं कुछ नहीं करता।

सर्व कर्ता-धर्ता यही है, परन्तु सोलह-आने अकर्ता है। यथा—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ (५।८-९)

अर्थ—तत्त्वको जाननेवाला और अपने परमात्मामें योग पाया हुआ योगी, 'इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें वर्त रही हैं' ऐसा निश्चय धारण करके देहेन्द्रियादिद्वारा देखता हुआ, सुनता हुआ, सूँघता हुआ, छूता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ और आखें खोलता व वन्द करता हुआ भी 'वास्तवमें मैं कुछ नहीं करता' ऐसा मानता है। अर्थात् अपने साक्षीस्वरूपमें स्थित हुआ सब कुछ करता हुआ सदा अकर्ता रहता है। उसके सभी कर्म कर्तृत्व-अभिमानके न रहने के कारण अकर्म ही होते हैं और किसी फलके हेतु नहीं रहते।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥(४।१८)

भावार्थ—अपने साक्षीस्वरूपमें अहंरूपसे स्थित होकर जो कर्तृत्वाभिमानसे मुक्त हुआ है, ऐसे पुरुषके देहेन्द्रियादिद्वारा कर्मों का प्रवाह प्रकट होते हुए भी कर्तापन न रहनेके कारण, वे किसी फलके हेतु नहीं होते और वे अकर्म ही होकर रहते हैं। इसके विपरीत कर्तृत्वाभिमानके सहित जिस पुरुषने देहादि से तो कर्मोंका त्याग कर दिया है, परन्तु कर्तापन और वासना-

संयुक्त है, ऐसे पुरुषके कर्मत्यागमें भी अहंकारके सद्भावसे कर्मका बन्धन है। ऐसा जो तत्त्वसे जानता है वही मनुष्योंमें ज्ञानी है, वही अपने परमात्मामें योग पाया हुआ है और उसने सब कुछ कर लिया है।

इस अवस्थामें आनन्द होकर पहुँचा हुआ विद्वान् ही सब कुछ करके सच्चा अकर्ता है। क्योंकि सब कर्म अकर्तव्य होकर रहते हैं और सबको अपनी आत्मा जाननेवाला यही सर्वज्ञ है। इसीको कर्ममें प्रवृत्त रहकर भी सच्ची समाधि है। यही सर्वत्यागी है। यहाँ पहुँचकर ज्ञान व कर्मकी यथार्थ संपत्ति होती है। यही सब कुछ करके वस्तुतः कर्मसंन्यासी है, यही वास्तव कर्मयोगी है और यही सच्चा निष्कामी। यही सांख्य व योगकी एकता है और यही गीतात्व निष्पादित योग है।

सांख्य व योग। — आधुनिक टीकाकारोंने गीताके इस सौन्दर्यको ग्रहण न करके और सांख्य व योग तथा ज्ञान व कर्मके इस उपर्युक्त अभेदमें न पहुँचकर शाङ्कर-भाष्यके उन रहस्ययुक्त वचनोंकी, कि ज्ञानी कोई कर्म नहीं करता वह अकर्ता है और कर्मसंन्यासी है—अवहेलना की है। और उन्होंने सांख्य व योग का भेद बताते रहकर मोक्षप्राप्तिके ये दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न व स्वतन्त्र रक्खे हैं।

दोनों मार्गोंका भेद उन्होंने इस प्रकार किया है—

१ 'सांख्य' (अर्थात् कर्मसंन्यासमार्ग)—लौकिक वैदिक सब कर्मोंका त्याग करके गृहस्थाश्रमको छोड़ संन्यास अर्थात् चतुर्थाश्रमको धारण करते हुए केवल निवृत्ति-मार्गको ग्रहण किया जाय और शरीर-निर्वाहमात्र कर्मोंके सिवा अन्य सब कर्मोंका सर्वथा त्याग किया जाय। तथा

एकान्त कुटीमें निवास करके शम-दमादिका पालन करते हुए वेदान्तका मनन व चिन्तन करते-करते अपने ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया जाय। इस मार्गका नाम 'सांख्य' व कर्म-संन्यास रखा गया है।

२. 'योग-मार्ग' (अर्थात् निष्काम-कर्मयोग)— प्रथम आत्माका स्वरूप शास्त्रोंसे जान लेना, जैसा गी० अ० २ श्लो० ११ से ३० तक भगवान्ने निरूपण किया है कि आत्मा अजर-अमर है, शरीरादिके नाशसे उसका नाश नहीं होता और वह न शस्त्रादिसे कट सकता है, न जल सकता है, न भीग सकता है और न सूख सकता है इत्यादि। फिर इसका साक्षात्कार करनेके लिये प्रवृत्ति-मार्गमें ही रहकर, कर्मोंका त्याग न करके, किन्तु अपने स्वार्थके लिये कोई कर्म न करते हुए केवल निष्काम-भावसे कर्म किया जाय। और वे सब कर्म कर्तापनके अभिमानको छोड़कर किये जायँ, परन्तु अपने ऊपर कर्तव्य लागु रखकर उनका फल ईश्वरके अर्पण किया जाय और फलकी सिद्धि व असिद्धिमें समता-भाव रहे। तथा लोक-कल्याण व लोक-सेवाके उद्देश्यसे ही वे कर्म किये जायँ और जीवनपर्यन्त यह चक्र चालू रक्खा जाय। इस मार्गका नाम 'योग' अथवा 'कर्म-योग' कहा गया है। इसीको 'बुद्धि-योग' भी कहा गया है। केवल इस प्रकार कर्म करते रहनेसे ही आत्मा का स्वरूप, जैसा भगवान्ने गी० अ० २। श्लो० ११ से ३० तक बतलाया है, अपरोक्ष हो जाता है। इस प्रकार कर्म करते रहनेसे ही मनुष्य इसी जीवनमें जन्म-मरणके बन्धनसे छूटकर मोक्ष पा जाता है और उसको फिर अन्य जन्म नहीं धारण करना पड़ता। तथा उपर्युक्त रीतिसे आत्माका अपरोक्ष-ज्ञान हो चुकनेपर भी उस ज्ञानीपर उपर्युक्त रीतिसे जीवन-

पर्यन्त कर्ममें प्रवृत्त रहना कर्तव्यरूप विधि है, ऐसा माना गया है।

३ मोक्ष यद्यपि सांख्य-मार्गसे भी हो सकता है, परन्तु ऐसा मार्गी केवल आलसी हो जाता है, उससे संसारका कोई कल्याण नहीं होता और वह केवल स्वार्थी ही जाता है। यद्यपि मोक्षप्राप्तिमें ये दोनों मार्ग समान बलवाले हैं और दोनों स्वतन्त्र व निरपेक्ष हैं, तथापि लोक-हितकी दृष्टिसे दूसरा योग-मार्ग ही उत्तम है। गीताका ऐसा आशय उनके द्वारा निकाला गया है।

इस रीतिसे किसी मतमें 'योग' व 'सांख्य' मोक्षके भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र मार्ग माने गये हैं। किसी मतमें इन दोनों मार्गोंको स्वतन्त्र मानकर 'योग'को अधिक श्रेयस्कर माना गया है। किसी मतमें 'सांख्य से परोक्ष-ज्ञान और 'योग' (निष्काम-कर्म) से अपरोक्ष ज्ञान होता है, ऐसा मन्तव्य रखा गया है। तथा कोई मत 'योग'को साधन मानता है और 'सांख्य' (कर्म-संन्यास) को साध्य। इस प्रकार गीतोक्त 'सांख्य' व 'योग'के विषयमें अनेक प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हो रही हैं।

अस्तु, हमको भी इस विषयमें अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट करनेका साहस हुआ है, इसलिये इस विषयपर स्वानुभवसे कुछ विचार किया जाता है। हमारे विचारसे गीताको 'सांख्य' (कर्म-संन्यास) शब्दका अर्थ केवल सर्वथा कर्म-त्याग अथवा चतुर्थाश्रमरूप सन्यास, वा निवृत्ति-मार्ग ही मान्य नहीं है और न 'योग' शब्दका अर्थ इतना ही मान्य है कि केवल कर्तव्य धारण करके लोकहितार्थ कर्मफल ईश्वरके अर्पण करते हुए निस्स्वार्थ-बुद्धिसे आजीवन कर्म किये जाएँ। यही कर्मका सर्वश्रेष्ठ व निर्दोष साधन है, न ऐसा गीताका मत है और न गीताको ये दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न ही मान्य हैं। गीताका न यही मन्तव्य हो सकता है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये

ये दोनों मार्ग स्वतन्त्र व निरपेक्ष हैं। गीता प्रवृत्ति-निवृत्तिकी खट-पट ग्रहण करनेको उद्यत हुई है, न यही हमारा मत है और न गीता-श्लोकोंसे ऐसा प्रमाणित ही होता है। इसके साथ ही वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त भी, जिसके प्रस्थानत्रयमें गीता शामिल है, इन विषयोंको ऐसा स्वीकार नहीं करता, जैसा कि आधुनिक टीकाकारोंने मान लिया है। न यह मत प्रकृतिके नियमका पालन करता है और न युक्तिकी ही सहार सकता है।

हमारे विचारसे गीताका तात्पर्य तो यह है कि प्रकृतिके राज्यमें रहता हुआ जीव कर्मसे कदापि छूट नहीं सकता, कर्म उसके लिये सर्वथा अनिवार्य है (३ । ५)। साथ ही, अपने आचरणमें आया हुआ कर्म अपने फलभोगके लिये कर्ताको वरवश देहके बन्धन में लाये बिना भी नहीं छोड़ता, क्योंकि स्थूल देहके सम्बन्ध बिना और किसी भी प्रकार फलका भोग असम्भव है, ऐसी ईश्वरकी नीति है। इसलिये चाहे कितना भी महान् पुण्यरूप कर्म क्यों न हो, वह भी जीवको अपने फल-भोगके लिये शरीररूपी कारागारमें अवश्य बाँधता है। इस प्रकार शरीरके साथ इस जीवात्माका सम्बन्ध ही इसके लिये सब दुःखोंका मूल है। इस अपरिच्छिन्न आत्माको परिच्छिन्न बनानेवाला, अजन्माको जन्मी, अविनाशीको नाशवान्, नित्यानन्दरूपको दुःखी, नित्य-चेतनको जड़, नित्य-निर्मल को मलिन, महान्‌को तुच्छ, नित्य-मुक्तको बद्ध और नित्य-तृप्त को आशाओंके बन्धनमें डालनेवाला अपने सम्बन्धसे यह जड़ शरीर ही है। इसलिये जीवको कर्म करनेकी वह युक्ति उपदेश की जाय, जिससे वह कर्म करके भी फल-भोगके बन्धनमें न आवे। अरे! यह तो विचित्र असमञ्जसमें जीव फँसा है! कर्म तो किसी प्रकार छूट नहीं सकता, यहाँतक कि यदि कोई पुरुष

हठ करके अपने शरीर व कर्मेन्द्रियोंको रोककर बाँध भी ले, तो भी मनको कैसे बाँधा जाय? और यदि मनका संकल्प-विकल्परूप व्यापार चालू रहता है, तो गीता कहती है कि यह तो कर्मत्याग न हुआ, बल्कि कर्म तो हुआ, किन्तु झूँठ-मूँठ ही इन्द्रियोंको रोक रखनेसे मिथ्याचारित्वका वह और दोषी बन बैठा (३।६)। इस प्रकार जब कर्म विद्यमान है, तो फल-भोग बिना छुटकारा कहाँ? फल-भोग है, तो शरीरके बन्धन से छुट्टी कैसे मिले? और शरीरका बन्धन है, तो जन्म-मरण का चक्र कैसे बन्द हो? हाय! यह तो जीव बेढब फँसा। अरे! यह तो ईश्वरकी नीति बड़ी ही कठोर और निर्दयतापूर्ण निकली, इससे तो बचनेका कोई मार्ग ही नहीं। जीव न कर्मसे छूट सकता है और न जन्म-मरणसे। लोककल्याणकी चिन्ता करनेवाले भले ही पड़े लोक-कल्याणके गीत ऊपर-ऊपरसे गाया करें, परन्तु मुझको तो मेरे आत्म-कल्याणने मार दिया! अरे परमात्मा! पहले मुझे मेरे आत्म-कल्याणका मार्ग दिखा! यह तो प्रकृतिकी नरकरूपी चारदीवारीमें मैं अन्धा जीव बुरा फँसा! अरे महर्षियो व शास्त्रो! मुझे छुड़ाओ! अरे लोगो, गुरुजनो! तुम ही कोई युक्ति बताओ। पहले मेरा कल्याण करो मेरे आत्मकल्याणपर ही लोककल्याण निर्भर है, क्योंकि लोक-कल्याणके मार्गको मैं ही रोके बैठा हूँ। जिस प्रकार एक स्थानकी वायु जबतक सूर्यतापसे हलकी होकर ऊँची न उठ जाय और अपना स्थान खाली न कर दे, तबतक वह ब्रह्माण्ड वायुमें हल-चल पैदा कर नहीं सकती, अपना स्थान रोके रखकर वही ब्रह्माण्ड-वायुमें हल-चलको रोके हुए है। इस प्रकार अरे लोगो! मैं नाबीना[1] इस प्रकृतिके परदेशमें, इसके हाथों फैलाये हुए

[1] अन्धा

कर्मके जालमें भूलसे फँस गया हूँ और पक्षीके समान इससे छूटनेके लिये तड़फड़ाता हूँ। है कोई ऐसा सखी[1] परमेश्वरका प्यारा! जो मुझ पर मारते[2] हुएको इस जञ्जालसे नजात[3] दिलाए? इस प्रकार अर्जुनके रूपमें जिज्ञासुने उच्च स्वरसे रोदन किया और कहा कि जो सन्ताप मेरे मन-इन्द्रियोंको इस समय हो रहा है, इस संसारके भोग तो क्या ब्रह्मलोकके भोग भी मेरे इस कष्टका प्रतीकार नहीं हो सकते (२ । ७-८)।

इसपर द्रवीभूत हो गीता अवतीर्ण होकर, उसके कंधोंपर हाथ रखकर और उसके आँसू पोंछकर बड़े प्रेमसे हँसती हुई कहती है—ठहरो! ठहरो!! घबराओ नहीं। हम तुमको तुम्हारे रोगकी औषधि बतलाते हैं। थोड़ी देरके लिये चिल्लाना बन्द करो, विक्षेपको दूर करके अपने हृदयको शान्त करो और हमारे प्रति पूर्ण श्रद्धा करो, इसके विपरीत—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ (६ । ३)

अर्थ—'जो मेरे इस धर्मपर श्रद्धा नहीं करते वे मुझे न पाकर मृत्युरूप संसारचक्रमें ही लौट आते हैं'।

इस प्रकार श्रद्धायुक्त होकर जब तुम अपने हृदयको आसक्ति व राग-द्वेषादि मलसे छुड़ाकर इसी प्रकार कोमल बना लोगे, जिस प्रकार सुवर्ण अग्निमें तपाया हुआ अपना मल त्यागकर कोमल हो जाता है, फिर जब ध्यानपूर्वक हमको सुनोगे, स्वयं अपनी निर्मल बुद्धिसे उसको विचारोगे, तब तुम्हारी चिल्लाहट एकदम बन्द हो जायेगी और तब तुम स्वयं अपने लिये तथा दूसरों के लिये भी शान्तरूप होगे। परन्तु ऊपर कथन किये हुए साधनों

१. उदारात्मा २. तड़फड़ाते हुए ३. छुटकारा, मुक्ति।

के बिना कुछ न सरेगा। अब विचार करनेयोग्य बातें ये हैं—

(१) तुम कौन हो?

(२) कर्म क्या है और इसका कर्ता कौन है?

(३) कर्ममें बन्धकत्व क्या है?

अब देखो, आगे चलनेसे पहले हमारा यह ढिंढोरा सुन लो, जो हम ऊँचे-से ऊँचे मीनारोंपर चढ़कर पुकारते हैं।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

अर्थात् 'असत् वस्तु लो कदाचित् है ही नहीं और सत् वस्तुका कदाचित् अभाव नहीं होता।

अब हमारे प्रथम प्रश्नके उत्तरमें कि 'तुम कौन हो?' यदि तुम अपनी छातीकी ओर अङ्गुली करके कहो, कि 'यही तो मैं हूँ, जो तुम्हारे सम्मुख खड़ा हूँ, इसका तो पूछना ही क्या है' तब उपर्युक्त सिद्धांतके अनुसार तुम्हारा यह कथन सर्वथा असंगत है, क्योंकि—

(१) यह शरीर और इन्द्रियाँ किसी भी कालमें टिकी हुई नहीं हैं, बल्कि क्षण-परिणामी हैं और परिणामी वस्तु हमारे ढिंढोरेके अधीन सत्य नहीं ठहरती तथा जो वस्तु कदाचित् होती है कदाचित् नहीं वह तो अपने स्वरूपसे कभी भी नहीं होती, उसकी तो केवल भ्रमरूप ही प्रतीति होती है। क्योंकि पूर्व-उत्तर कालके बिना केवल मध्य कालमें ही उसकी प्रतीति है और मध्य कालमें ही प्रतीयमान पदार्थ रज्जुमें सर्पके समान केवल भ्रमरूप ही होता है, यह सिद्धान्त है (२। २८)।

(२) तुम अपने-आपको अपने आचरणोंसे भ्रमरूप होना कदापि सिद्ध नहीं करते, बल्कि कर्ता-भोक्तारूपसे सत्य मानते हो। परन्तु ये देहेन्द्रियाँ तो न कर्ता ही सिद्ध होती

हैं और न भोक्ता ही। 'भोक्ता' तो इसलिये नहीं कि इस शरीर का सम्बन्ध तो इस जन्मतक ही है और यह यहीं दग्ध कर दिया जाता है, पुनर्जन्ममें भोगके लिये यही शरीर मिले, यह सर्वथा असम्भव है। यदि इस शरीरमें किये हुए कर्मोंका फल इसी शरीरमें पूरा हो जाता हो, तो पुनर्जन्म निष्फल होगा। और जिस शरीरमें जो कर्म होते हैं उन कर्मोंका निःशेष भोग यदि उसी शरीरमें पूरा हो जाता हो, तो वर्तमान शरीरकी उत्पत्तिका कोई निमित्त न होना चाहिये था, क्योंकि पूर्वकृत कर्मोंके भोगके सिवा और कोई निमित्त वर्तमान शरीरकी उत्पत्तिका हो नहीं सकता। इसलिये यह शरीर भोक्ता तो हो नहीं सकता। 'कर्ता' इसलिये नहीं कि यह अपने स्वरूपसे स्वयं जड़ है और जड़ वस्तुमें अपने-आप कोई क्रिया नहीं होती, बल्कि किसी दूसरेके अधीन ही उसमें हिलन-चलन होता है। जैसे पत्थरमें अपने-आप कोई चेष्टा नहीं होती, किसी चेतन-शक्तिके आश्रय ही उसमें क्रिया प्रकट होती है, इसी प्रकार जड़ यह शरीर है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण स्वप्न-काल और मरण-कालमें ही मिल जाता है, क्योंकि इन अवस्थाओंमें जब कोई चेतन-शक्ति इस स्थूल शरीर और इन्द्रियोंको छोड़ देती है, तब यह शवरूप होकर ही रहता है और कुछ नहीं कर सकता। इसलिये ये देहेन्द्रियादि कर्ता भी नहीं बनतीं। हाँ, इतना अवश्य है कि इनके द्वारा क्रिया इसी प्रकार होती है, जिस प्रकार मनुष्य चाक़ूसे क़लम बनाता है, परन्तु चाक़ू कर्ता नहीं हो जाता, केवल साधन (करण) ही रहता है। और जो वस्तु केवल साधन है, कर्ता नहीं, वह भोक्ता भी नहीं हो सकती। जैसे कोई मनुष्य खड्गसे किसीका सिर काट दे तो खड्ग भोक्ता नहीं बनता, बल्कि भोक्ता तो वह मनुष्य ही होता है जो कि कर्ता था। इसी प्रकार वास्तवमें ये

देहेन्द्रियाँ उस कर्ता-भोक्ताके कर्तृत्व व भोक्तृत्व दोनोंमें साधन हैं, न कि स्वयं कर्ता-भोक्ता। जैसे कोई मनुष्य छुरीसे खरबूजे को काटता है और छुरीसे ही उसके गूदेको छिलकेसे भिन्न करके खाता है तो छुरी कर्तृत्व व भोक्तृत्व दोनोंमें साधनभूत होती है, इसी प्रकार ये देहेन्द्रियाँ उस कर्ता-भोक्ताके कर्तृत्व-भोक्तृत्वमें साधन हैं। फिर यह भी ज़रूरी नहीं कि जिस साधनसे कर्ता होता है उसीसे भोक्ता भी बने, जैसे मनुष्य कड़छीसे पकाता है और चम्मचसे खाता है। तथा यह भी ज़रूरी नहीं कि जहाँ पकावे वहीं खावे, बल्कि पकाता दूसरी जगह है और खाता किसी दूसरी जगह। इसी प्रकार यह 'कर्ता-भोक्ता' करता है देहसे और भोगता है मन-इन्द्रियोंसे तथा करता है मन-इन्द्रियोंसे और भोगता है शरीरसे। इसी प्रकार यह कर्म करता तो है इस शरीरमें और इसका भोग चाहे इसी शरीरमें बैठकर करे, अथवा किसी दूसरे शरीरमें।

यदि तुम यह कहो कि 'देह और इन्द्रियाँ तो बेशक मैं न हुआ, परन्तु अन्तःकरण-चतुष्टय अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार तो मैं अवश्य हूँ'—तब तुम्हारा यह कथन भी उचित नहीं ठहरता। क्योंकि जो दोष तुम्हारे देह व इन्द्रियाँ बननेमें लागू होते हैं, वे ही दोष सब-के-सब तुम्हारे अन्तःकरणरूप बननेमें भी आरोपित होते हैं। अन्तःकरण भी इसी प्रकार जड़ है जैसे देह व इन्द्रियाँ, और इसमें भी अपने-आप कोई चेष्टा नहीं होती, बल्कि किसी अन्य चेतन-शक्तिद्वारा नचाया हुआ ही यह नाचता है। जिस कालमें वह चेतन-शक्ति इसको भी त्याग जाती है तब इसका भी सब नृत्य बन्द हो जाता है। सुषुप्ति अवस्थामें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है। उस अवस्था में जबकि वह चेतन-शक्ति इस अन्तःकरणसे निकलकर

अपने निजालयमें चली जाती है, तब यह भी मुर्दा-सा हो जाता है, न मनका कुछ संकल्प-विकल्प रहता है, न बुद्धिकी सोच, न चित्तका चिन्तन रहता है और न अहंकारका अहंपन। बल्कि ये भी सब उस अवस्थामें इसी प्रकार बेकार हो जाते हैं, जिस प्रकार इञ्जीनियरके बिना मशीन बेकार हो जाती है। और जब वह इञ्जीनियर फिर इनके भीतर प्रवेश करता है, तब फिर ये सब मशीनकी भाँति चलने लग पड़ते हैं और अपने-अपने कामको करने लग पड़ते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि यह अन्तःकरण भी वास्तवमें न कर्ता है न भोक्ता, बल्कि उस 'कर्ता-भोक्ता' के कर्तृत्व-भोक्तृत्वमें साधन ही है।

सारांश, न तुम देह हो सकते हो, न इन्द्रियाँ और न अन्तःकरण-चतुष्टय ही तुम्हारा रूप हो सकता है। बल्कि ये सब तो तुम्हारे भोगके साधनरूप करण हैं और अपने-आप इनमेंसे कोई भी कुछ भी चेष्टा करनेके योग्य नहीं है। जिस प्रकार खड्ग अपने-आप कोई वार नहीं कर सकता यों ही निश्चेष्ट पड़ा रहता है, परन्तु जब किसी चेतन वीर पुरुषके हाथमें पकड़ा जाता है तब अनेक प्रकारके वार चलाता है। इसी प्रकार ये सब तुम्हारे वर्तावके लिये ही हैं, इनमेंसे जिस-जिस शस्त्रको तुम अपने हाथमें लेते हो, अर्थात् अपनी शक्ति प्रदान करते हो, वही सजीव होकर क्रिया करने लग पड़ता है। जैसे विद्युत्की शक्ति जिस-जिस उपाधिके साथ मिलती है, अपने स्वभावानुसार वैसी-वैसी ही चेष्टा जड़ उपाधिसे प्रकट होने लगती है। वही बिजली पंखोंमें आई हुई पंखोंको चलाती है, फ़ानूसमें आई हुई प्रकाश देती है, तारके साथ मिलकर दूतका काम देती है और वायुयानादिके साथ मिलकर उड़नेका कार्य करती है। इस प्रकार यद्यपि भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ

प्रकट होती हैं अपनी-अपनी उपाधिके अनुसार, तथापि उन जड़ उपाधियोंको सजीव करनेवाली तो वह विद्युत्-शक्ति ही है। इसी प्रकार इन मुर्दोंको सजीव करना यह तुम्हारी ही करतूत है परन्तु अपने अज्ञानके कारण इनके साथ मिलकर तुम इनके धर्मोंके आप धर्मी बन जाते हो और इनकी क्रियाओंके आप कर्ता बन बैठते हो। यही तुम्हारा बन्धन है और इसी अज्ञान करके तुमको जन्म-मरण है। जब मनुष्य अन्धकारमें चलता है तभी ठोकरें खाता है कहीं पत्थरसे टकराता है, कहीं गड्ढेमें गिरता है और सिर, मुँह व घुटने फुड़वा लेता है। इसी प्रकार तुम भी जब अज्ञानरूप अन्धकारमें चलते हो और अपने स्वरूपको न जान अन्यके धर्मोंको अपनेमें मान बैठते हो, तभी कर्मरूपी ठोकरें लगती हैं और जन्म-मरणरूप गड्ढेमें गिरते हो, जहाँ दाँत पीसने और रोनेके सिवा और कोई चारा नहीं रहता। जो कुछ चेष्टा इनके द्वारा प्रकट होती हैं, उनके मूलमें शक्तिरूपसे तुम ही होते हो, परन्तु वास्तवमें तुम्हारा इनके साथ कोई संग नहीं और तुम तो इनसे केवल निस्संग ही हो। जैसे चुम्बकके सकाशसे जड़ लोहा नृत्य करता है और चुम्बक उससे निस्संग रहता है, वैसे ही केवल तुम्हारी विद्यमानतामें तुम्हारी सत्तामात्रसे ये सब नृत्य करते हैं और तुम केवल इनका नृत्य देखनेवाले ही रहते हो। परन्तु अपनी अज्ञानताके कारण इनके साथ मिलकर तुम आप ही अपनेको कर्तृत्व व भोक्तृत्वके बन्धनमें डाल लेते हो। भला, तुम्हारा इनके साथ सङ्ग कैसा? सङ्ग सदैव सम-सत्ता व समान-धर्मा वस्तुओंका ही सम्भव होता है, विपरीत सत्ता और विरोधी धर्म-वाले पदार्थोंका तो सम्बन्ध ही कैसे हो? जैसे जाग्रत्के राजाका स्वप्नके हस्तीसे कोई सम्बन्ध कैसे हो? तथा विरोधी धर्मवाले अग्नि व जलका सम्बन्ध कैसे बने? ये केवल जाग्रत् अवस्था

और अपने व्यवहार कालमें ही प्रतीत होते हैं, परन्तु तुम तो सब अवस्थाओंमें रहनेवाले हो। जैसे पीछे पृ० ४३ से ४६ तक स्पष्ट किया जा चुका है, तुम तो सब अवस्थाओंको और इनके भाव-अभावको प्रत्यक्ष देखते हो और प्रत्यक्ष देखनेकी अपनी साक्षी भी देते हो। ये सब जड़-धर्मी हैं परन्तु तुम चेतन, ये विकारी हैं तुम निर्विकार। फिर जड़का चेतनसे, सविकारीका निर्विकारीसे और मिथ्याका सत्यसे सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है? जैसे स्वप्न-द्रष्टाका स्वप्न-विकारोंसे कोई लगाव नहीं, तैसे ही तुम भी इन सबसे असंग हो। ये सब देह-इन्द्रियादि तो प्रकृतिके ही परिणाम हैं और प्रकृतिके गुणोंद्वारा तुम्हारी सत्तामात्रसे ही अपने-अपने कार्यमें वर्त रहे हैं। इसलिये कर्तृत्व तो सकल प्रकृतिका ही है और वह तुम्हारी सत्ता पाकर तुम्हारे भोगके लिये ही वर्त रही है, तुम्हारा अपना कर्तृत्व तो रञ्चकमात्र भी नहीं है। क्योंकि जो कर्ता होता है, वह विकारी होता है और जो विकारी होता है, वह नाशवान् होता है, परन्तु तुम तो सब अवस्थाओंमें ज्यों-के-त्यों अविनाशी ही हो। जैसे महाराजाकी सत्ता पाकर उसका जनरल अपनी सेनाके सहित युद्धमें प्रवृत्त होता है और वह सब महाराजाके भोगके लिये ही होता है। यद्यपि व्यवहारमें वर्ताव होता है कि महाराजा युद्ध कर रहा है, परन्तु महाराजा तो अपने महलमें ही विश्राम करता होता है और जिस कालमें उसके जनरलके किये हुए युद्धका उसमें व्यवहार होता था उस कालमें भी वह तो सर्वथा अकर्ता ही था और अपने पदसे कदापि च्युत नहीं हुआ था। ठीक, इसी प्रकार सब कर्तृत्व व कर्म तो प्रकृतिकी रचना है और जिस कालमें प्रकृतिका व्यवहार तुम्हारेमें आरोप किया जाता है, उस कालमें भी तुम तो सर्वथा अकर्ता

ही रहते हो और अपने साक्षीस्वरूपसे कदापि च्युत नहीं होते, इसलिये वास्तवमें न कर्ता ही हो और न भोक्ता। क्योंकि जो कर्ता होता है वही भोक्ता होता है, करे कोई और भरे कोई और, यह असम्भव है। भोक्तृत्व भी वास्तवमें तुम्हारेमें कुछ भी नहीं, केवल प्रकृतिके साथ तुम्हारे कल्पित सम्बन्ध करके तुम्हारेमें कल्पित भोगकी कल्पना की जाती है। जिस प्रकार स्फटिक मणि जिस-जिस रंगके पुष्पसे मिलती है उसी रंग-वाली दृष्ट आती है, परन्तु वस्तुतः वह सब रंगोंसे निर्लेप अपने-आपमें ज्यों-की-त्यों है। इसी प्रकार यद्यपि प्रकृतिके कल्पित संग करके प्रकृतिके कर्तृत्व-भोक्तृत्व तुम्हारेमें कल्पना किये जाते हैं, परन्तु वस्तुतः तुम तो अपने-आपमें ज्यों-के-त्यों ही हो।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ (१३ । २०)
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ (१३ । २१)
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ (१३ । २२)

अर्थ—सभी कार्यरूप कर्म, साधनरूप करण और कर्तापन में हेतु प्रकृति कही गई है, 'शरीररूपी पुरमें रहनेवाला परन्तु इस शरीरके विकारोंसे निर्विकारी' पुरुष', अर्थात् जीवात्मा सुख-दुखके भोगनेमें हेतु कहा गया है। प्रकृतिमें स्थित हुआ ही, अर्थात् प्रकृतिके कल्पित संग करके ही यह 'पुरुष' प्रकृतिजन्य गुणोंका भोग करता है और प्रकृतिके गुणोंका संग ही इस पुरुषके लिये भली-बुरी योनियोंमें जन्मका कारण है। (परन्तु

वास्तवमें तो यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी प्रकृति और इसके गुणोंसे सर्वथा आकाशवत् असंग व निर्लेप ही है)। केवल प्रकृति के गुण व कर्मोंका द्रष्टा होनेसे 'उपद्रष्टा' और जैसे नटनी जिस-जिस प्रकार नृत्य करती है ढोलक बजानेवाला अपनी इच्छासे रहित केवल उसको ताल देता रहता है, उसी प्रकार स्वेच्छारहित उन गुणों-कर्मोंको अपनी सत्तामात्रसे सम्मति देनेवाला होनेसे 'अनुमन्ता', अपने स्फुरणमात्रसे सबको धारण-पोषण करने-वाला होनेसे 'भर्त्ता', सभी भोगोंका अपने साक्षी—प्रकाशसे प्रकाशक होनेसे 'भोक्ता', सभी देवताओंका भी ईश्वर होनेसे 'महेश्वर' और वास्तवमें सभी उपाधियोंसे शुद्ध होनेसे 'परमात्मा'—ऐसा कहा गया है।

सारांश, तुम जो वास्तवमें आत्मस्वरूप साक्षी-चेतन हो इस शरीरमें रहते हुए भी कुछ नहीं करते, केवल अपने प्रकाशसे शरीरकी सब चेष्टाओंको प्रकाशते हो। और इसी प्रकार द्रष्टा हो जिस प्रकार दीपक आप प्रकाशमान होता हुआ घरमें जो कुछ भला-बुरा कार्य होता है उसको केवल प्रकाशित कर देता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ (५। १३)

अर्थ—वशमें है मन जिसके, ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष मनसे सब कर्मोंको त्यागकर कि 'मैं कुछ नहीं करता केवल द्रष्टा हूँ' नव-द्वारवाले शरीररूपी पुरमें साक्षी-आत्मस्वरूपसे निवास करता हुआ न कुछ करता है और न कराता ही है।

इस प्रकार 'तुम कौन हो', 'कर्ता कौन है' और 'कर्ममें बन्धन क्या है'? यह निरूपण किया गया। इस ज्ञानका नाम ही 'सांख्य' है और इस ज्ञानकी दृढ़ता करके अपने वास्तव

स्वरूप सर्वसाक्षी, सर्वात्मामें स्थिति पाकर उससे अभेद हो जाना और देहाभिमानको खो बैठना, इसीका नाम 'योग' है। योग नाम मेल पानेका है। संसारमें दो ही वस्तु हैं एक जड़, दूसरी चेतन। मेल पाना उस सच्चिदानन्दसे ही है, जड़से तो सभी मेल पाये हुए हैं। इसलिये उस सच्चिदानन्दस्वरूपमें मेल पानेका नाम ही 'योग' है। वास्तव योग तो उसके साथ सदा ही था, वियोग तो कदापि हुआ ही न था, जैसे तरङ्गका जलसे, भूषणका सुवर्णसे नित्य ही योग है। परन्तु कल्पित अज्ञान करके जो कल्पित वियोग हो रहा था, सांख्यद्वारा उस कल्पित अज्ञानजन्य कल्पित वियोगकी निवृत्तिका नाम ही 'योग' है। इस प्रकार योग व वियोग केवल बुद्धिद्वारा ही सम्भव है। अविचारवश अहंभावकी जड़ता करके स्वार्थपरायण बुद्धि करके ही वियोग है और सर्वसंग परित्यागपूर्वक सूक्ष्म विचारद्वारा ही योग है, इसलिये इस योगको 'बुद्धि-योग' भी कहा गया है। यही गीता-प्रतिपादित 'सांख्य' व 'योग' है, और दोनों ही अभिन्न हैं, एक ही साधन व एक ही फलवाले हैं।

'सांख्य व योग दोनों स्वतन्त्र व भिन्न-भिन्न मार्ग हैं' इस उक्तिका खण्डन और दोनोंका अभेद कथन।

इसके विपरीत सर्वथा कर्म-संन्यासका नाम 'सांख्य' और 'कर्तव्य व कर्तव्य-संगयुक्त तथा कर्मफल-वियुक्त कर्मप्रवृत्ति का नाम जो 'योग' कहा गया है, अथवा निवृत्तिको 'सांख्य' और प्रवृत्तिको जो 'योग' नाम दिया गया है, ये सब अविचार-मूलक कल्पनाएँ हैं। तथा मोक्षके जो दो भिन्न-भिन्न मार्ग बनाये गये हैं और रात व दिनके समान परस्पर विरोधी होते हुए भी मोक्ष-प्राप्तिमें जो दोनोंको निरपेक्ष व स्वतन्त्र माना गया

है, यह आश्चर्यजनक है। क्योंकि कर्म-प्रवृत्ति व कर्म-निवृत्ति ग्रहण व त्यागरूप होनेसे Plus & Minus 'जोड़' (+) व 'बाक़ी' (–) के समान परस्पर विरोधी हैं। विचारसे जाना जा सकता है कि प्राप्तव्य वस्तु तो एक, और उसकी प्राप्ति के मार्ग दो; साथ ही दोनों परस्पर विरोधी और दोनों सम-कालीन एवं स्वतन्त्र ! अर्थात् जिज्ञासुकी इच्छापर यह निर्भर किया गया है कि एक ही कालमें चाहे वह 'सांख्य'(कर्म-निवृत्ति) के एक विरोधी मार्गसे जाय, चाहे 'योग' (कर्मप्रवृत्ति) के दूसरे विरोधी मार्गसे, वह अवश्य मोक्ष पा जायगा। यह तो ठीक ऐसा ही होगा, जैसे दिल्लीसे हरिद्वारके यात्रीको ऐसा कहा जाय कि 'चाहे तुम उत्तरकी ओर मुँह करके चलो चाहे दक्षिणकी ओर, तुम अवश्य हरिद्वार पहुँच जाओगे'। ऐसा कहनेवाला प्रमादी ही कहा जायगा, मार्ग तो एक ही होना चाहिये; हाँ, पड़ावोंका भेद हो सकता है। इसी प्रकार मोक्ष-प्राप्तिके दो विरोधी मार्ग 'कर्म-प्रवृत्ति' और 'कर्म-निवृत्ति' को स्वतन्त्रता से निरपेक्ष व समकालीन बतलानेवाले भगवान् भी अवश्य प्रमादी होने चाहियें। परन्तु नहीं जी ! भगवान्‌का तो ऐसा आशय कदापि नहीं हो सकता और न 'योग' व 'सांख्य' के रञ्चक भेदमें ही उनका तात्पर्य है। बल्कि 'जल' व 'उदक' का जैसे अभेद है, वैसे ही वस्तुतः 'सांख्य' व 'योग' का अभेद उनको मन्तव्य है। क्योंकि कल्पित 'निष्काम-कर्म' और कल्पित 'कर्म-संन्यास' (कर्मत्याग) बालकोंके समान उनको इष्ट नहीं हैं, बल्कि ठोस निष्कामता और ठोस संन्यास ही उनका लक्ष्य है। तथा ठोस 'निष्काम-कर्म' और ठोस 'कर्म-संन्यास' दोनों अभिन्न होकर ही रह सकते हैं। अर्थात् उस अवस्थापर पहुँच कर ही दोनोंका वास्तव रूपसे ठीक-ठीक आचरण हो सकता

है, जहाँपर कर्मका कर्ता 'कर्ता' न रहे और कर्तृत्व-अहंकार अपनी मूल अविद्यासहित ज्ञानाग्निसे दग्ध होकर देहेन्द्रिय-मन-बुद्धिसे अहंता व ममताका सम्बन्ध छूट जाय, देहेन्द्रियादि थोथी बाँसुरीके समान रह जाएँ और वे उस वंशीधर (सर्वसाक्षी) की सत्तामात्रसे अपने किसी प्रकार कर्तृत्वके बिना स्वर निकालनेवाली सिद्ध हों। इस प्रकार जब उस वंशीधरके हाथमें यह बाँसुरी दे दी जाय, तब इसमें स्वयं मीठे-मीठे स्वर निकल सकते हैं, क्योंकि अहंकारके सम्बन्ध करके और स्वार्थपरायणता करके इसके सभी स्वर रोदनके समान ही थे (५।७६)। यहाँ पहुँचकर ही देहेन्द्रियादिद्वारा अनर्गल प्रवृत्ति करता हुआ भी, वस्तुतः कर्तृत्व-अहंकारके सर्वथा अभाव करके वह सच्चा अकर्ता है, कर्म-संन्यासी है, यथार्थ निष्कामी है और उसके सभी कर्म अकर्म व फलशून्य ही हैं। क्योंकि कर्मका कर्ता और फलका भोक्ता, शरीरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध करके यह तुच्छ अहंकार ही था जब वह ज्ञानाग्निमें दग्ध हुआ तब फलाशी कौन हो सकता है और कर्ता-भोक्ता कौन (४।१९-२०)? इसके बिना, अर्थात् कर्तृत्व-अहंकारसे इस प्रकार छुट्टी पाये बिना न यथार्थ कर्म संन्यास (सांख्य) ही सिद्ध हो सकता है और न सच्चा कर्म योग (योग)।

आधुनिक टीकाओं द्वारा निरूपित कर्म-संन्यासके स्वरूपकी असमीचीनता।

इस प्रकार जबतक इस जिज्ञासु की परिच्छिन्न-दृष्टि व भेद-दृष्टि बनी हुई है और देहादिमें अहंता-ममताका अभिमान विद्यमान है, तबतक वस्तुतः न वह कर्म-संन्यासी ही हो सकता है और न कर्म-योगी। देहका अहंकार रहते हुए चाहे उसने कर्मोंका त्याग कर दिया है तथापि-

वह कर्ता अवश्य है और वह कर्म-संन्यासके स्वरूपको नहीं पा सकता। क्योंकि चाहे उसने जड़ शरीरको रोककर बिठा दिया है, परन्तु मनका व्यापार चालू है। और जो व्यापार अहंकारसहित मनसे होता है वास्तवमें वही कर्म होता है क्योंकिः—

मनःकृतं कृतं कर्म न शरीरकृतं कृतम्।

अर्थात् केवल शरीरका किया हुआ कर्म नहीं होता, किन्तु कर्म वही होता है जो मन करके किया जाय। दूसरे, चाहे उसने कर्मोंका त्याग भी किया, परन्तु शरीरमें अहंकार रहनेके कारण वह उस कर्म-त्यागका कर्ता अवश्य बन जायगा। क्योंकि अहंकारपूर्वक जो कुछ भी ग्रहणरूप वा त्यागरूप व्यापार होता है वह सब कर्म बन जाता है और वह अपना फल अवश्य रखता है। शरीर, मन व इन्द्रियादिमें 'अहंता' रहते हुए उस कर्म-त्यागीमें यह भाव अवश्य उत्पन्न होना चाहिये कि 'मैंने अमुक त्याग किया है और यह एक उत्तम चेष्टा है'। क्योंकि जब शरीर, मन व इन्द्रियादिमें 'मैंपन' विद्यमान है तब जो कुछ त्यागरूप चेष्टा देह, इन्द्रिय, मन अथवा बुद्धिद्वारा की जायगी उसमें अवश्य कर्तृत्वाभिमान होगा और वह अवश्य मन-बुद्धि की जानकारीमें होगी। जब मन-बुद्धिकी जानकारी है तब वे भावशून्य कदापि नहीं रह सकते, भावरूप तरङ्गें उठाना मनका स्वाभाविक धर्म है। क्योंकि जहाँ-जहाँ परिच्छिन्न व भेद-दृष्टि है, वहाँ-वहाँ भावरूप तरङ्गें अनिवार्य हैं और जहाँ-जहाँ भाव-रूप तरङ्गें हैं, वहाँ-वहाँ फल अवश्य है। वे फलशून्य नहीं रह सकतीं, चाहे फल शुभ हो वा अशुभ परन्तु है ज़रूर, यह प्रकृति का अटल नियम है। इस प्रकार शरीरादिमें अहंकार रहते हुए कोई भी किसी भी प्रकार कर्मत्यागी नहीं हो सकता।

आधुनिक टीकाकारोंद्वारा निरूपित कर्मयोगके स्वरूपकी असगति व असमिचीनता।

इसी प्रकार शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अहभाव रहते हुए कोई निष्कामी भी नहीं हो सकता। क्योंकि जबतक उस योगीकी परिच्छिन्नदृष्टि विद्यमान है और वह अपने-आपको केवल शरीर व मनतक ही फैला हुआ देखता है, इससे अधिक नहीं तथा 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि (वह और है मैं और हूँ) इस रूपसे जबतक उसकी भेद-दृष्टि भी बनी हुई है, तबतक उसके कर्मोंमें उसकी 'कर्ता-बुद्धि'का रहना अनिवार्य व अटल है। क्योंकि कर्मके साधन जो देह, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि हैं, उनमें ही उसका 'मैंपन' मोजूद है और उनसे पृथक् उसने अपने-आपको अभी जाना नहीं है, तब कर्तापनसे वह कैसे छूट सकता है? कदापि नहीं। यदि उसको प्रत्यक्ष यह ज्ञान हुआ होता कि 'मैं न देह हूँ, न मन न इन्द्रिय और न बुद्धि ही हूँ, किन्तु मैं तो वह प्रकाश हूँ जिसके प्रकाशमें ये सब अपना व्यापार करते हैं और जिसके बिना ये सब जड़ व शून्य हैं—' तब निस्सन्देह वह देहादिके व्यापारोंमें अकर्ता हो सकता था। परन्तु जिनके द्वारा कर्मरूप व्यापार होता है उनमें ही इसका अहभाव टसा हुआ है, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि वह कर्तृत्व-संगसे असंग है? यदि ऐसा कहा जाय कि उसने शास्त्रोंद्वारा परोक्षरूपसे अपने स्वरूपको यह जाना है कि 'मैं देहेन्द्रियादिसे परे और उनका प्रकाशक आत्मा हूँ'—इसलिये उस परोक्ष-ज्ञान करके वह कर्तृत्व-संगसे असंग रहता है, तो यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि वेद-वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि परोक्ष ज्ञान अज्ञानका बाधक नहीं हो सकता, केवल अपरोक्ष ज्ञान ही अज्ञानका निवर्तक है।

कर्तृत्व-संग अज्ञानजन्य है, जबतक अज्ञान दूर न हो कर्तृत्व का अभाव कैसे हो ? अर्थात् अपने आत्मस्वरूपके अज्ञान करके वह अपने-आपको किसी देश-कालकी हदमें बँधा हुआ जानता है और अपनेसे भिन्न यावत् संसारको कुछ और करके मानता है, उसको अपना-आप नहीं जानता, इसी का नाम अज्ञान है। इस अज्ञानका परिणाम कर्ता, कर्तव्य, कर्म व फल अवश्य होना चाहिये, चाहे शुभ हो या अशुभ, परन्तु वह इन त्रिपुटियोंसे खाली नहीं रह सकता। यह सब अज्ञानका महत्त्व है, जोकि केवल अपरोक्ष तत्त्वज्ञान करके ही निवृत्त हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं। जैसे रज्जु में किसीको सर्पका भ्रम हो रहा है और उस भ्रम करके उसको भय-कम्पनादि भी हो रहा है। उस समय उसके निकट कोई अन्य पुरुष खड़ा है जिसको यह भ्रम नहीं हुआ। वह यथार्थदर्शी उसके भय-कम्पनादिको देखकर उसे कहे भी, कि 'यह सर्प नहीं रज्जु है', तो भी उसके कथनमात्रसे उसके भय-कम्पनादि निवृत्त नहीं हो सकते, जबतक कि वह दीपक लाकर उसको साक्षात् न दिखला दे कि 'देख, यह सर्प नहीं, रज्जु है'। दीपक लानेसे पूर्व यथार्थ-द्रष्टा पुरुषके वचनसे उस भ्रान्त-पुरुषको यद्यपि रज्जुका परोक्ष-ज्ञान हुआ भी, परन्तु वह रज्जुके अज्ञानको दूर नहीं कर सका और साथ ही उसका सर्पका अपरोक्ष भी निवृत्त न हुआ, ज्यों-का-त्यों बना रहा और भय-कम्पनादि भी दूर न हुए। क्योंकि रज्जुके अज्ञान के कारण ही सर्पका अपरोक्ष व भय-कम्पनादि हैं, सो रज्जुका अज्ञान रज्जुके अपरोक्ष-ज्ञानसे ही दूर हो सकता है, केवल परोक्ष-ज्ञानसे कदापि नहीं। परन्तु दीपकके प्रकाशद्वारा जब उसको रज्जुका अपरोक्ष हुआ, तब सर्पका अपरोक्ष अव्यवहित

उत्तर कालमें ही निवृत्त हो गया और उसके फलस्वरूप भय-कम्पनादि भी न रहे। यही वेद-वेदान्तका सिद्धान्त है कि एक परोक्ष-ज्ञान दूसरे अपरोक्ष-ज्ञानको दूर करनेमें कदापि समर्थ नहीं है, केवल द्वितीय अपरोक्ष-ज्ञान ही प्रथम अपरोक्षको दूर कर सकता है। सर्पका अपरोक्ष कदापि दूर नहीं हो सकता था, जबतक कि रज्जुका अपरोक्ष-ज्ञान ही न हो। क्योंकि रज्जु व सर्प दोनों एक ही देशमें हैं, इसलिये रज्जुका परोक्ष-ज्ञान और सर्पका अपरोक्ष-ज्ञान दोनों एक देश-कालमें रह सकते हैं, क्योंकि परोक्ष-ज्ञान अपरोक्ष-ज्ञानका बाधक नहीं है। परन्तु रज्जुका अपरोक्ष-ज्ञान और सर्पका अपरोक्ष-ज्ञान परस्पर बाधक होनेसे एक देश-कालमें नहीं रह सकते। इसी सिद्धान्त व दृष्टान्तके अनुसार उस जिज्ञासुका (जिसको कर्म-योगी कहा गया है और जो निष्काम-कर्ममें प्रवृत्त है) देह, इन्द्रिय, मन व बुद्धिमें 'अहं' ज्ञान तो अपरोक्ष है और शास्त्रद्वारा यह ज्ञान कि 'मैं देहादि नहीं हूँ और आत्मा हूँ' परोक्ष है। तथा 'मैं आत्मा हूँ' यह परोक्ष-ज्ञान और 'मैं देहेन्द्रियादि हूँ' यह अपरोक्ष-ज्ञान, दोनों एक देश-कालमें रह सकते हैं, क्योंकि एक अपरोक्ष-ज्ञानका दूसरे परोक्ष-ज्ञानसे विरोध नहीं है। इसलिये शास्त्रद्वारा इस परोक्ष-ज्ञानसे कि 'मैं आत्मा हूँ' देहादिमें जो अहंभाव अपरोक्ष है, कैसे दूर हो सकता है? जब तक अपने आत्मस्वरूपका कि मैं नित्यमुक्त व शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप हूँ' अपरोक्ष ही ज्ञान न हो। केवल अपने आत्माका अपरोक्ष-ज्ञान ही देहादिके अपरोक्षका बाधक हो सकता है, क्योंकि परस्पर बाधक होनेसे दो अपरोक्ष-ज्ञान एक देश-काल में नहीं रह सकते। अधिष्ठानके अपरोक्षसे ही कल्पितका अपरोक्ष निवृत्त हो सकता है, जैसे रज्जुके अपरोक्षसे ही सर्प

का अपरोक्ष दूर होता है। परन्तु यहाँ उस जिज्ञासुको देहादि का अधिष्ठान जो सत्यस्वरूप आत्मा है उसका तो अपरोक्ष है नहीं, इसके विपरीत उसको देहादिका अपरोक्ष तो हो ही रहा है। देहादिका अपरोक्ष केवल तभी निवृत्त हो सकता है जबकि आत्माका अपरोक्ष हो और तभी मूल अज्ञान और उसका फल कर्तृत्व-भोक्तृत्व दूर हो सकते हैं। परन्तु वह सामग्री हमारे इस जिज्ञासु (निष्काम-कर्मयोगी) ने अभी सम्पादन कर नहीं पाई है, फिर उसका देहादिमें अहंभाव और कर्तृत्व-संग कैसे दूर हो! इसलिये चाहे उसने भावनामात्र ऐसा संकल्प कर लिया है कि 'मैं कर्ता नहीं' तथापि वह कर्ता अवश्य है, जबकि उसकी देहमें अहं-बुद्धि बनी हुई है। और जब कर्तृत्व व कर्तव्य दोनों हैं तब उसके कर्मोंके साथ फल कहाँ जा सकता है? यद्यपि उसने अन्तःकरणकी निर्मलता करके यह भावना अपने चित्तमें धारण की है कि 'मैं अपने कर्मोंका फल अपने लिये कुछ नहीं चाहता और ईश्वरके अर्पण करता हूँ,' तथापि उसके लिये फल अवश्य है। क्योंकि देहादि में अहंकार विद्यमान रहनेके कारण वह इस भावनाका कर्ता ज़रूर है, जिससे किसी प्रकार इन्कार नहीं किया जा सकता। जबकि भावना, भावनाका कर्ता और कर्तव्य सभी हाज़िर हैं और इनमें सत्यतारूपी रस भी है, जोकि ज्ञानाग्निसे दग्ध नहीं किया गया, फिर फलने ही क्या गुनाह किया है? अजी! जबकि क्षेत्र (शरीरमें सत्य-बुद्धि) भी तैयार है, बीज बोनेवाला (कर्तृत्व-अहंकार) भी जीता-जागता है, बीज (कर्म) भी सजीव बोया गया है (अर्थात् ज्ञानाग्निद्वारा भूना नहीं गया) और जल (भावना) भी रससंयुक्त है, फिर फल ही कहाँ जा सकता है? चाहे बीज बोनेवाला ऊपर-ऊपरसे पुकारा करे

कि मुझे फल नहीं चाहिये, परन्तु बीजने तो नीचेसे जोर मारकर और फूटकर निकल पड़ना ही है, फल तो आता है और बोनेवालेको बरबश अपना मज़ा चखा देना है। जो फलसे घबराते थे तो बोनेवाले क्यों बने? इसीलिये कहा गया है कि जीव कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र है, परन्तु भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं किन्तु परतन्त्र है। हॉ, यह अवश्य है कि तुम्हारी भावना उत्तम है और उसमें त्याग की भावना भरी हुई है, ऐसी अवस्थामें तुमको फल शुभ मिलेगा, लेकिन फलशून्य नहीं रह सकते। फल तो भावनामें ही है, केवल जड़ कर्ममें तो कोई फल नहीं। यदि केवल कर्म ही फलका हेतु होता हो, तो पशु-पक्षीको भी अपने किये हुए कर्मोंका फल मिलना चाहिये तथा ज्ञानवानों को भी जिनकी भावना दग्ध हो गई है, कर्म-बन्धनमें आना चाहिये। परन्तु शास्त्रोंका कथन है कि अहंकार जागृत न होने के कारण पशु-पक्षियोंमें तो शुभाशुभकी भावना ही जागृत नहीं है, इसलिये उनके अपनी योनियोंमें किये हुए कर्मोंका कोई फल नहीं। तथा ज्ञानवानोंकी भावना जागृत होकर ज्ञानाग्निसे दग्ध हो गई है, इसलिये उनके कर्म भी किसी फलके हेतु नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि फलका हेतु भावना ही है, जिसका कारण कर्तृत्व-अहंकार है। यदि कर्ता, कर्तव्य व भावनाके सद्भावमें केवल इसी निमित्तसे फल न मिलता हो कि कर्ताने फलाशा का त्याग कर दिया है, तो दुःख-फलभोगके लिये तो प्राणिमात्र ही निष्कामी हैं कोई भी यह भावना नहीं करता कि हमको दुःख मिले। इसलिये फलाशा-त्यागके कारण किसीको भी दुःखकी प्राप्ति न होनी चाहिये। चोर भी चोरी करने जाता है, तब अपने इष्टदेव परमात्माकी आराधना करके जाता है और दुःख-फलभोग ईश्वरार्पण करके ही जाता है, परन्तु बच कैसे

सकता है ? मीठी-मीठी जानकर गाजरें खा तो बैठे, अब ऐंठनी-से क्यों घबराते हो ? सारांश, कर्ता, कर्तव्य व भावनाके सद्भाव-में कर्म फलशून्य नहीं हो सकते। हाँ, यह अवश्य है कि इसकी भावनामें त्यागकी मात्रा होनेसे फल उत्तम हो सकता है; जैसे दुर्गा-सप्तशतीके पाठमें सम्पुट लगाया जाय तो उसका फल अधिक होता है। इसी प्रकार यदि इस जिज्ञासुने हृदयसे (कथनमात्र नहीं) फलत्यागकी भावना अपने अन्दर भरी है तो इसका फल अवश्य महान् है, जिससे वह ईश्वर-प्रीति व भक्तिका अधिकारी होगा। क्योंकि इस भावनाके रूपमें वह अपना तन-मन भगवान्‌को समर्पण कर रहा है, परन्तु केवल इसीसे अपने आत्मस्वरूपमें योग सम्भव नहीं।

उक्त कर्मयोगके अंगोंकी परस्पर असम्बद्धता

आधुनिक टीकाकारोंने निष्काम-कर्मयोगका जो स्वरूप बनाया है, उसके तीन ही अंग हो सकते हैं—

(१) कर्तृत्वसंग-त्याग।

(२) कर्तव्य-बुद्धि, कि अमुक कर्म करना मेरा कर्तव्य है।

(३) कर्मफल-त्याग।

इनमेंसे दो अंगों अर्थात् कर्तृत्वसंग-त्याग और कर्म-फल-त्यागपर विचार किया गया। अब हमें तीसरे अंग 'कर्तव्य बुद्धि' पर विचार कर्तव्य है। थोड़े विचारसे यह बात समझमें आ सकती है कि इन तीनों अंगोंका जैसा स्वरूप बनाया गया है, विचारद्वारा इन तीनोंकी परस्पर वैसी संगति नहीं लगती।

(१) प्रथम तो कर्तृत्व-संग-राहित्य और कर्तव्य-साहित्य का ही मेल नहीं मिलता। अर्थात् 'मैं कर्ता नहीं' और 'मुझपर अमुक कर्तव्य है' ये दोनों भाव परस्पर विरोधी होनेसे एक अधिकरणमें नहीं रह सकते। वहाँ योगी जबकि अपने कर्तापनके

सम्बन्धको त्यागकर कि 'मैं कर्मका कर्ता नहीं हूँ' अपने कर्मों में प्रवृत्त हो रहा है, फिर कर्तव्यका भार किसपर रक्खा जाय, यह हमारी बुद्धिमें आरूढ नहीं होता। जब कर्ता ही अविद्यमान है, तो कर्तव्यको कौन संभाले? इसके विपरीत जिसपर कर्तव्य है वही तो कर्ता है, अर्थात् जहाँ 'कर्तव्य' है उसके नीचे ही 'कर्ता' पकड़ा जा सकता है। इस प्रकार कर्तव्य रहते हुए कर्तापनसे मुकरना तो 'वदतो व्याघात'[1] दोष है और 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' ऐसे कथनके तुल्य है। यदि कर्तृत्व-संग-त्यागका कोई और रूप बताया गया हो तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसका और कोई रूप समझमें आता नहीं है। 'कर्तृत्व' का अर्थ कर्तापन है कि 'मैं करता हूँ', 'संग' का अर्थ 'सम्बन्ध' है। कर्मोंके साथ यह सम्बन्ध कि 'मैं कर्मोंका कर्ता हूँ' कर्तापनके इस सम्बन्धके त्यागका नाम ही 'कर्तृत्वसंग त्याग' है। फिर उस कर्तृत्वसंग-त्यागका यही रूप हो सकता है कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ'। इस प्रकार जबकि 'कर्ता ही नहीं' है तो 'कर्तव्य' किसपर रक्खा जाय? आधार बिना तो आधेय रह नहीं सकता। जैसे पात्ररूप आधार बिना जलादिरूप आधेय रह नहीं सकते। परन्तु यहाँ आधेय (कर्तव्य) तो है और उसका आधारभूत-पात्र (अर्थात् कर्तापन) नहीं है। इसकी संगति न जाने कैसे लगाई गई होगी। सम्भव है 'कर्तृत्वसंग-त्याग' का कोई ऐसा ही रूप बना लिया गया हो, जैसे कोई यजमान हाथमें जल लेकर गोदानका संकल्प कर देता है। इसी प्रकार इस कर्तृत्व-संगको भी कोई पदार्थ मानकर इसके त्याग का संकल्प किया गया हो। ऐसा मान भी लिया जाय, तो इस संकल्पका कोई कर्ता बनना चाहिये, परन्तु यह त्याग तो

[1] मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है, इसीको 'वदतो व्याघात' दोष कहते हैं।

अपने स्वरूपसे प्राणशून्य अर्थात् जुलाहेके घृतके तुल्य है[१]। और कुछ भी हो, परन्तु कर्ता व कर्तव्य दोनोंका परस्पर जोड़ा है, एकके बिना दूसरा रह नहीं सकता और एकके आने से दूसरा भी अपने-आप चला आता है। कर्ता नहीं है तो कर्तव्य किसपर? जब ड्यूटी संभालनेवाला ही नहीं रहता, तब ड्यूटी अपने-आप उतर जाती है, ड्यूटी उतारनेकी ज़रूरत नहीं रहती। तथा जब कर्तव्य नहीं तो कर्ता भी कहाँ? अर्थात् किसी कर्तव्य करके ही 'कर्ता' नाम रक्खा जाता है। इसके साथ ही कर्ता है, तब कर्तव्य भी अवश्य कुछ-न-कुछ बन ही जाता है, चाहे कर्तव्य सात्त्विक हो, वा राजसिक, अथवा तामसिक। जबकि परिच्छिन्न-दृष्टि व भेद-दृष्टि उत्पन्न हुई और कुछ बना कि 'मैं अमुक हूँ' इस अहंकारके साथ ही यह इच्छा व कर्तव्य स्वाभाविक उत्पन्न हो आता है कि 'मुझे सुख मिले', वास्तवमें सुखस्वरूप तो आप ही है, परन्तु उसको भुलाकर ही यह सब झमेला है। इस इच्छाके साथ ही कर्तापनका सुदृढ हो आना ज़रूरी है कि 'मैं किसी प्रकार उसे प्राप्त करूँ' और फिर उसके साथ-साथ ही कर्तव्य भी चला आता है। अपने प्राकृतिक गुणोंके अनुसार वह अपना कर्तव्य चाहे मोक्ष बनावे, चाहे धर्म, चाहे अर्थ, चाहे काम, कुछ भी हो, परन्तु कर्ताके साथ कर्तव्य अटल है। थोड़ी देरके लिये ऐसा मान भी लिया जाय कि कर्तव्य न हो तो भी कर्ता ज़रूर होता है, अपनी खुशी है कि बिना किसी कर्तव्यके बच्चे आँख-मिचौनी का खेल खेलते हैं, तब कर्तव्य न रहते हुए भी कर्ता

१. एक जुलाहा भूखों मर गया था। उसकी माँ थोड़ा घृत उसके मुँह व पायुको लगाकर कहने लगी कि देख लो! मेरा बेटा भूखों नहीं मरा, बल्कि घृत खाता और त्यागता गया है।

कर्तव्यके बिना भी अवश्य रहता है। यद्यपि कर्तव्य बिना खेल भी नहीं हो सकता, जब पहले मनमें कर्तव्य आवेगा तभी हाथ-पाँवमें चेष्टा उत्पन्न होगी। परन्तु कर्तव्य हो और कर्ता न हो, यह तो किसी प्रकार भी सम्भव नहीं।

(२) द्वितीय कर्तृत्वसंग-त्यागके साथ कर्मफल-त्यागका मेल भी नहीं मिलता। क्योंकि जब कर्ताका अभाव है तब कर्म-फल-त्याग करना नहीं पड़ता, स्वत ही उसका त्याग हो जाता है। और यदि कर्म-फल-त्याग कर्तव्य है तब उस फल-त्यागका कर्ता अवश्य रहना चाहिये।

इस प्रकार जिस रूपसे वे योजना किये गये हैं, उस रूपसे कर्मयोगके अङ्गोंका परस्पर मेल नहीं बनता। इधर कर्तृत्वसंग-राहित्य व कर्तव्य-साहित्य परस्पर विरोधी हैं और दोनोंकी संगति असम्भव है, उधर इसी प्रकार कर्तृत्वसंग-त्याग और कर्मफल-त्याग भी परस्पर असंगत हैं। साराश, 'कर्तव्य' व 'कर्म-फल-त्याग' के रहते हुए दलात्कारसे कर्ताका रहना ज़रूरी है। इसलिये इन अङ्गोंकी योजना इस प्रकार बन सकती है कि—

(१) मैं कर्मका कर्ता हूँ।

(२) ईश्वरकी ओरसे मेरेपर कर्तव्य लगाया गया है कि मैं अपने कर्मोंके द्वारा उसकी पूजा करूँ।

(३) इसलिये मैं कर्मोंका फल अपने लिये न चाहकर उसीके अर्पण करता हूँ।

क्या उक्त कर्मयोग अपने स्वरूपसे मोक्ष दिलानेवाला है ?

अब आइये! यह विचार करें कि केवल इस कर्म-योगका आचरण आजीवन करते रहकर भी मोक्षकी प्राप्ति और आवागमनसे छुटकारा सम्भव है या नहीं? यह बात तो

निर्विवाद है कि आवागमन व जन्म-मरणका कारण जीवके अपने किये हुए कर्मोंके संस्कार ही हैं। जब जीव अज्ञानके कारण अपने-आपको परिच्छिन्नरूपसे कुछ जानता है, तभी इसको सुख पानेकी इच्छा स्वाभाविक उत्पन्न होती है। तब भेद-दृष्टि करके किसीको सुखरूप और किसीको दुःखरूप जानकर किसीमें अनुकूल और किसीमें प्रतिकूल-बुद्धि उत्पन्न होती है। फिर यह जीव अनुकूलके ग्रहण एवं प्रतिकूलके त्यागकी इच्छा करता है और उस इच्छा करके प्रेरा हुआ ग्रहण-त्यागबुद्धिको लेकर कर्मोंको ठानता है। वे किये हुए कर्म फिर स्वयं तो उत्तरकालमें ही लुप्त हो जाते हैं, परन्तु उनके संस्कार अहंकर्ता-बुद्धिरूप जो अहंकार है उसके आश्रय रहते हैं, जो समय-समयपर अपनी स्मृति कराते रहते हैं। वे कर्म-संस्कार ही अपने शुभाशुभ फल-भोगके लिये कर्ताको जन्म-मरणरूप देहके बन्धनमें लाते हैं। जहाँपर यह जीव एक ओर तो पूर्वकृत कर्मोंसे सुख-दुःखका भोग भुगतता है, परन्तु साथ ही दूसरी ओर सुखी होनेकी इच्छासे फिर भी कर्मोंको ठानता है और अन्य कर्म-संस्कारोंका उपार्जन करता है। क्योंकि अहं-कर्ता-बुद्धिरूप अहंकार अभी विद्यमान है और यह इच्छा भी कि 'मुझे सुख मिले और ऐसा सुख मिले जिसका कभी क्षय न हो' ज्यों-की-त्यों खड़ी हुई है। इसलिये कर्म-प्रवृत्ति भी छूट नहीं सकती, यही अज्ञानका महत्त्व है। इस प्रकार कर्मोंके द्वारा यह जीव कदापि सुखी हो नहीं सकता, बल्कि कर्म ही इसका बन्धन है, क्योंकि वह उलटा कर्ताको फल-भोगके बन्धनमें डालता है। चाहे कितना भी पवित्र एवं शुभ कर्म क्यों न हो, वह भी कर्ताको फल-भोगके लिये शरीरके बन्धनमें लाये बिना नहीं रहता और अन्ततः उसका फल तो नाशवान् है ही। परन्तु

इसको भड़क लगी हुई है अविनाशी सुखकी, फिर कर्मोंद्वारा इसकी इच्छा कैसे पूर्ण हो ? क्योंकि जो कुछ भी कर्मोंद्वारा बनाया जाता है वह अवश्य नष्ट होता है। यथा श्रुति—

'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'।

अर्थात् जिस प्रकार कर्मसे बनाया हुआ यह लोक क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार पुण्यरचित परलोक भी फल देकर नष्ट हो जाता है। बल्कि असल बात तो यह है कि कर्म करके रचा हुआ जो सुख है, वह भी दुःखसे ग्रसा हुआ रहनेके कारण वास्तवमें दुःख ही है। जितना भी कर्मरचित विशाल सुख होगा, वह अपने नाशमें उस सुखको कई गुणा अधिक दुःखरूपमें बदल देगा, यह सबके ही अनुभवगम्य है। इसलिये कर्म अपने स्वरूपसे कदापि सुखरूप नहीं बनता, बल्कि दुःखरूप ही होकर रहता है। यही आशय श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्ध, दशम अध्याय कृष्ण-उद्धवसंवादमें भली-भाँति स्पष्ट किया गया है।

सारांश, जन्म-मरणके कारण केवल कर्म-संस्कार ही हैं और वे कर्ता-बुद्धिरूप अहंकारके आश्रय रहते हैं। अब देखना यह है कि कर्मयोगका जो स्वरूप आधुनिक टीकाकारोंने बनाया है, उसके आचरणसे इन कर्म संस्कारोंका नाश हो सकता है वा नहीं। कर्म संस्कारोंको दग्ध किये बिना तो और किसी भी उपायसे यह कर्मयोग अथवा कोई और साधन जन्म-मरणसे छुटकारा दिलानेमें कदापि समर्थ हो नहीं सकता, क्योंकि जन्म-मरणका बीज ये ही हैं। किये हुए कर्मोंके संस्कार तीन प्रकारके माने गये हैं—

(१) जो कर्म वर्तमानमें हो रहे हैं, उनको 'क्रियमाण कर्म-संस्कार' कहते हैं, जिनकी इस जीवनमें स्मृति भी होती रहती है।

(२) अनेक जन्मोंके क्रियमाण कर्मोंके संस्कार जो हृदयमें कर्तृत्व-अहंकारमें सञ्चय होते रहते हैं उनको 'सञ्चित-संस्कार' कहते हैं।

(३) सञ्चित कर्म-संस्कारोंमेंसे जो संस्कार फलके सम्मुख हुए हैं और जिन्होंने अपने फल-भोगके लिये वर्तमान शरीरकी रचना की है, उनका नाम 'प्रारब्ध-संस्कार' है। प्रारब्ध-संस्कार जो फलोन्मुख हो गये हैं, वे तो अपना फल-भोग देकर स्वतः ही निवृत्त हो जायँगे, चाहे कोई ज्ञानी हो वा अज्ञानी। अब विचार यह करना है कि यह कर्मयोग अपने आचरणसे सञ्चित तथा क्रियमाणको दग्ध करनेमें समर्थ है वा नहीं। विचारसे स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त रीतिसे इस कर्मयोगका आचरण न तो सञ्चित-कोषको ही छू सकता है और न क्रियमाणको। बल्कि इस प्रकारके आचरणसे क्रियमाण-कर्म अपने संस्कारोंको उत्पन्न कर रहे हैं और सञ्चित-कोषको अधिक भरपूर कर रहे हैं, खाली करना तो कैसा? क्योंकि प्रथम तो यह कर्मयोगी परिच्छिन्न-अहंकार और भेद दृष्टि-संयुक्त है, जिससे कर्मके साधन जो देह, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि हैं, उनमें इसका 'अहंभाव' घर किये बैठा है, इसीसे उसकी 'अहंकर्ता-बुद्धि' भी विद्यमान है, यही सब संस्कारोंका आधार है और यह सजीव है, दग्ध नहीं हुई। और यह कर्मयोग अपने आचरणमात्रसे ही इस अहंकर्ता-बुद्धिको दग्ध करनेमें समर्थ है नहीं, चाहे ब्रह्माकी आयुपर्यन्त भी इसका आचरण क्यों न किया जाय। बल्कि यह तो अपने आचरणसे इस कर्तृत्व-अहंकारको चुपके-चुपके सुदृढ कर रहा है, क्योंकि

देहेन्द्रियादिद्वारा जो कुछ व्यापार हो रहा है, उन्हींमें इसका 'मैंपन' रहनेके कारण यह अपने आपको उन व्यापारोंका कर्ता अवश्य जानता है तथा इन कर्मोंमें, अपनेमें और देहादिमें सत्यता बनी रहनेके कारण उन कर्मोंकी स्मृतिके हेतु संस्कारोंको अपने अन्दर सञ्चय भी कर रहा है। वह इस प्रकार—

(१) मैं कर्मका कर्ता हूँ।

(२) मुझपर अमुक कर्तव्य है।

(३) अपने लिये नहीं, किन्तु लोक-कल्याणके निमित्त मैं कर्ममें प्रवृत्त होता हूँ।

(४) अपने कर्मोंको मैं ईश्वरके अर्पण करता हूँ।

(५) फल इसका चाहे कुछ भी हो या न हो, मैं फलकी सिद्धि-असिद्धिमें सम हूँ।

इन पाँच अङ्गोंमें ही इस कर्मयोगको विभक्त किया जा सकता है। अब हमें प्रत्येक अङ्गको विचारकी कसौटीपर कसकर देखना है कि इनमें कोई भी इस कर्तृत्व-अहङ्कारसे पल्ला छुड़ानेमें समर्थ है या नहीं—

प्रथम, थोड़ा ध्यान देनेसे यह बात तो स्पष्ट मान ही ली जायेगी कि इसकी दृष्टि भेदसयुक्त है। इसकी दृष्टिमें (१) कर्ता भी सत्य है, (२) कर्तव्य भी सत्य है, (३) कर्मके साधन देहादि भी सत्य हैं, (४) कर्म भी सत्य है, (५) फल भी सत्य है, (६) फलत्याग भी सत्य है, (७) संसार जिसके कल्याणके निमित्त यह कर्म कर रहा है वह भी सत्य है, (८) अपनेसे भिन्न फल-प्रदाता ईश्वर भी सत्य है, (९) और कर्मफल-समर्पण भी सत्य है। जबकि ये सभी सत्य हैं, तब किये हुए कर्मोंके संस्कार ही मिथ्या कैसे बनाये जा सकते हैं?

फिर वे तो सत्यसे भी अधिक सत्य हुए। और जब कर्म-संस्कार सत्य ठहरे, तब उनका फल क्यों न हो, उस फलको ही कैसे मिथ्या बनाया जा सकता है? यह तो हमसे चाहे जब और चाहे जहाँ कहला लो कि उनका फल महान् उत्तम है, परन्तु है नाशवान् और वह फल अपने स्वरूपसे जन्म-मरणके बन्धनमें लानेवाला है, छुटकारा दिलानेवाला नहीं।

दूसरे, यह योगी कर्तव्यसंयुक्त भी है, कि मुझपर अमुक कर्म कर्तव्य है। कर्तव्य नाम विधिका है, 'कर्तव्य' व 'विधि' पर्याय शब्द हैं। शास्त्रने विधिरूप कर्मका फल पुण्य और निषेधरूप कर्मका फल पाप निरूपण किया है। जबकि निषिद्ध कर्मोंके फलमें पापकी उत्पत्ति अवश्य होती है, ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसको रोक सके, ईश्वरकी नीति जब इतनी कठोर है, तब विधिरूप कर्मका ही फल पुण्य न मिले, यह अन्याय कैसे हो सकता है? क्योंकि यह योगी क्या कर्ता, क्या कर्तव्य, क्या कर्म, क्या फल, क्या ईश्वर और क्या संसार सभीको सत्य-रूपसे ग्रहण कर रहा है। अथवा यों समझो कि कर्म-प्रवृत्ति जब इसने अपने लिये कर्तव्यरूप विधि बनाई, तब कर्म-निवृत्ति इसके लिये अवश्य अकर्तव्य एवं निषिद्ध बन जायगी और निषेधरूप होनेसे वह कर्म-निवृत्ति इसके लिये पापका जनक भी बनेगी। जब कर्म-निवृत्ति पाप है, तब कर्म-प्रवृत्ति पुण्य क्यों न हो? इस प्रकार जब कर्म-प्रवृत्ति पुण्यरूप हुई, तब वह अवश्य अपना फल लायेगी और देहके बन्धनमें आना पड़ेगा।

तीसरे, अब रहा प्रश्न फलमें समता-बुद्धिका, कि यह फल की सिद्धि व असिद्धिमें समान रहकर कर्म करता है। इसपर थोड़े विचारसे यह स्पष्ट होगा कि कर्ममें तो वह सम है नहीं कि कर्म करे या न करे, किन्तु कर्म तो उसे अवश्य कर्तव्य ही

है, विधि ही है। इसलिये कर्मत्यागमें तो वह सम व स्वतंत्र नहीं है। तथा लोक-कल्याणके निमित्त भी करे वा न करे, इसमें भी वह सम नहीं है, किन्तु लोक-कल्याणके निमित्त ही उसे कर्म कर्तव्य है। और अपने कर्मोंको ईश्वरके अर्पण भी करे वा न करे, इसमें भी वह सम नहीं है, किन्तु ईश्वरार्पण ही उसको कर्तव्य है। अर्थात् 'मेरी खुशी है कि मैं कर्म करूँ या न करूँ, लोक-कल्याण के निमित्त करूँ या अपने ही निमित्त करूँ, अथवा किसीके भी निमित्त न करूँ, केवल अपने विनोदके लिये ही करूँ और मेरी खुशी है कि फल भी ईश्वरके अर्पण करूँ या न करूँ'— इन सब विषयोंमें वह सम नहीं, किन्तु विषम है। जब अन्य सब विषयोंमें ही वह विषम है और बन्धनमें है, तब उसको केवल फलमात्रमें ही समता कैसे और कहाँसे आ जायगी? यह समझमें नहीं आता। जहाँ सब ओरसे कर्तव्यताका बन्धन है, वहाँ समता आयेगी ही किधरसे? कर्तव्य' अपने स्वरूपसे ही विषम है। विषमता विना कर्तव्य आ ही नहीं सकता। 'नामर्दी तो खुदाने दी, पर मार-मार तो किये जाओ' केवल इसी हिसाबसे समताकी डींग मारी जाय तो बात दूसरी है। वास्तवमें जहाँ स्वभावसिद्ध अकृत्रिम व प्राकृतिक समता है, वहाँतक न पहुँचकर ऊपरसे ही समताका स्वाँग भरा जाय, तो यह बहुरूपियेका ही खेल समझा जायगा। विषमताका मूल तो भेददृष्टि करके यह परिच्छिन्न-अहंकार ही है, इस कुफ्फको तोड़े विना समता बनाई जाय तो बन नहीं पड़ेगी। जबकि देहादि परिच्छेदोंके साथ यह योगी बन्धायमान है, तब इसका वासना-संयुक्त होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि जहाँ भेद व परिच्छेद है वहाँ वासना कहाँ चली जायगी? और जब वासना है तब समता कैसी? कृत्रिम समता तो धोखा दिये विना न रहेगी,

आज नहीं तो कल, खोटे काँसीके सिक्केका रुपया कबतक चलेगा। ऊपर-ऊपरसे समताके गीत भले ही गाये जाएँ कि हम फलकी सिद्धि व असिद्धिमें समान हैं, परन्तु भीतरसे विषमता अपना तीर चलाये बिना कब रह सकती है? जबकि उसका मूल परिच्छिन्न-अहंकार अन्दर मौजूद है। इस प्रकार यह योगी परिच्छिन्न-दृष्टिसंयुक्त होनेसे वास्तविक समतासे अभी दूर है। चाहे यह अपने अन्दर समता-बुद्धिकी भावना भर रहा है, परन्तु वह भावना न क्रियमाण कर्म-संस्कारोंको ही दग्ध कर सकती है और न सञ्चित-संस्कारोंको ही स्पर्श कर सकती है। बल्कि वह समत्व-बुद्धिकी भावना अन्तःकरणका सात्त्विक परिणाम होनेसे स्वयं अपने संस्कारोंका हेतु है।

अब रहा 'अहंकर्तारूप अहंकार,' जो कि सब कर्म-संस्कारों का मूल है, उसको काटनेका कोई उपाय व साधन इस कर्म-योगके आचरणमें नहीं मिलता, बल्कि कर्तव्यका भार धारण करके इसको उल्टा दृढ किया जा रहा है। कर्तव्य ही अज्ञान है और अज्ञान करके ही कर्तव्य है। जब परिच्छिन्नरूपसे यह जीव कुछ बनता है, तब बलात्कारसे कर्तव्य इसके सिरपर चढ़ जाता है और यह सिरपर सवार हुआ कि परिच्छिन्न-अहं और भी दृढ होता जाता है। सारांश, येन-केन प्रकारेण इस कर्तव्यके भूतको सिरसे उतारकर ही हम इस अहंभावसे छूट सकते हैं। और कर्तव्यसे छुट्टी तब मिले, जबकि यह अहंभाव सिरसे उतरे, क्योंकि इस अहंभावके पीछे-पीछे ही यह कर्तव्य चलता है। इस प्रकार अहंभावसे कर्तव्य निकलता है और कर्तव्यसे अहंभाव सुदृढ होता जाता है। वस्तुतः यह अहंभाव केवल अज्ञानजन्य ही है, किसी आरम्भ-परिणाम करके उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये केवल ज्ञानसे ही यह निवृत्त हो सकता है,

कर्मसे कदापि नहीं, कदापि नहीं, न हुआ है और न होगा। वह ज्ञान भी परोक्ष-ज्ञान नहीं, किन्तु अपने स्वरूपका नक़द अपरोक्ष-साक्षात्कार—

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गं,
नाहंकारः प्राणवर्गो न बुद्धिः।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः,
साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ॥

अर्थ—मैं न देह हूँ, न इन्द्रियाँ, न अन्त करण, न अहङ्कार, न प्राण और न बुद्धि ही हूँ, किन्तु मैं तो स्त्री-पुत्रादि व क्षेत्र-वित्तादिसे पृथक् इन सबका अन्तरात्मा नित्य साक्षी शिव ही हूँ।

जब इस प्रकार आत्मस्वरूपका नक़द साक्षात्कार हुआ, तब क्या कर्ता, क्या कर्तव्य, क्या कर्म, क्या संस्कार, क्या सञ्चित और क्या क्रियमाण सभी इसी प्रकार देखते-देखते दग्ध हो जायेंगे, जैसे प्रज्वलित हुई अग्नि ईंधनके ढेरको जलाकर भस्म कर देती है (४।३६-३८)। फिर सब कुछ करके भी आप अकर्ता हैं, आपके सभी कर्म अकर्म हैं और स्वतः फलशून्य हैं। तब सभी विधि-निषेधोंसे आप मुक्त हैं, आप सच्चे निष्कामी हैं, सच्चे कर्मयोगी हैं और आप मूर्तिमान् समता हैं। तब तो देहेन्द्रियादि इसी प्रकार प्रारब्धके वेगसे घूमते रहेंगे, जिस प्रकार घड़ीमें चाबी लगादी जाय और वह अपने नियत समयतक ठिक-ठिक करती रहे। तब आप इन देहादिसे अलग खड़े हुए होंगे और इनका तमाशा देखनेवाले होंगे। ये अपना रोने-धोनेका काम करेंगी, परन्तु आप हँसेंगे। ये हाय-हाय करेंगी, परन्तु आप मज़ा लेंगे। इसी प्रकार आप सब संसारके लिये प्रकाशमान होंगे और कुछ न करके भी केवल अपनी सत्तासे सब कुछ

कर जायेंगे और सब कुछ करके भी कर्तृत्वके बन्धनमें न आयेंगे।

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम् ॥

(अष्टावक्र गीता)

अर्थ—अपने आत्माको ब्रह्मरूप जानकर और भावाभावरूप जगत्को कल्पित जानकर, ऐसा जो सच्चा निष्कामी है वह और क्या जाने, क्या कहे और क्या करे ? अर्थात् उसका सब कुछ कहना करना न करनेके तुल्य ही है और उसका सब जानना, कहना व करना पूर्ण हो चुका है।

सारांश, आधुनिक टीकाकारोंद्वारा उक्त कर्मयोग मोक्षका स्वतन्त्र व निरपेक्ष साधन माना गया है, परन्तु यह मोक्षका स्वतन्त्र साधन तब हो सकता है, जबकि सञ्चित व क्रियमाण कर्म-संस्कारोंको दग्ध कर सके। परन्तु यह तो अपने स्वरूपसे क्रियमाण-संस्कारोंको ही निवृत्त करनेमें समर्थ न हुआ, तब सञ्चित-संस्कारोंकी तो वार्ता ही क्या है ? इस प्रकार जबकि यह मोक्ष का स्वतन्त्र साधन ही सिद्ध न हुआ, तब मोक्षप्राप्तिके दो स्वतन्त्र मार्ग मान बैठना तो भ्रममूलक ही कहा जायगा। वस्तुतः जीव-जगत् अज्ञानजन्य होनेसे अज्ञाननिवर्तक ज्ञान ही एकमात्र मार्ग हो सकता है। यह निष्काम-कर्म ज्ञानका साधन होनेसे उस एक मार्गका सोपान तो बन सकता है, न कि स्वतन्त्र मार्ग।

उक्त निष्काम-कर्म का उपयोग

परिणाम यह कि यह कर्म-योग जिस रूपमें पेश किया गया है, उस रूपमें न तो यह क्रियमाण-कर्मोंको ही दग्धकर सकता है और न सञ्चितको, प्रारब्धने तो आप ही अपना फल देकर दग्ध हो जाना है। और न यह

अपने आचरणमात्रसे जन्म-मरणसे ही छुट्टी दिला सकता है। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं कि यह सर्वथा निष्फल है। नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है? बल्कि अधिकारीके लिये तो यह अमृत है, परन्तु एक हदतक। न यह कि यही रामबाण है और यही हमको अपने स्वरूपसे मुक्त कर देगा। प्रकृतिके राज्यमें ऐसा नियम है कि प्रत्येक पदार्थ एक कालमें एक अधिकारीके लिये उचित मात्रामें फलरूप हो सकता है, परन्तु अन्य कालमें वह उसी अधिकारीके लिये विषरूप भी हो सकता है। तथा एक अधिकारीके लिये जो पथ्य हो सकता है, अन्यके लिये वह कुपथ्य। और जिस मात्रामें एक ओषधि गुणकारी हो सकती है अधिक मात्रामें वह हानिकारक। रेचक द्रव्य रोगीके लिये एक कालमें ज़रूरी है, परन्तु पेट साफ़ हो जानेपर भी यदि उसीका सेवन जारी रक्खा जाय तो वह अवश्य रोगवृद्धि करेगा और जठराग्निको मन्द कर देगा। बलवान् मनुष्यके लिये घृत पुष्टिकारक है, परन्तु ज्वरपीड़ित रोगीके लिये वह दुर्बल करनेवाला हो जाता है। भूमिमें खाद उचित मात्रामें दिया जाय तो वह फलवृद्धि करेगा, परन्तु यदि खाद डेते ही रहें, बन्द न करें तो उल्टा फल को दग्ध कर देगा। इसी नियमके अनुसार निष्काम-कर्मयोग भी योग्य अधिकारीके लिये अपने कालमें और उचित मात्रामें सफल है। इस कर्मयोगका आशय तो यह है कि सभी धार्मिक प्रवृत्तियोंका लक्ष्य केवल त्याग है और प्रत्येक धार्मिक चेष्टा अपने आचरणमें लानेवाले अधिकारीके अधिकारके अनुसार उचित मात्रामें त्यागकी भेट माँगती है। परन्तु इसके विपरीत अज्ञानके बन्धनमें आया हुआ प्राणी सुख-प्राप्तिके लिये कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और कर्तृत्वाभिमान धारण करके तथा कर्तव्य ग्रहण करके कर्मको ठानता है। इस प्रकार जिस विषयी

पुरुषकी प्रवृत्ति सांसारिक भोगोंमें ही हो रही है और जिसने तुच्छ स्वार्थको सम्मुख करके इहलौकिक भोगोंकी प्राप्ति, अथवा पारलौकिक स्वर्गादि भोगोंकी प्राप्ति ही अपने जीवनका लक्ष्य बनाया है, ऐसे पुरुषोंको तुच्छ स्वार्थ और भोगोंके बन्धनोंसे छुड़ानेके लिये श्रुतिभगवतीने कृपाकर स्वर्गपर्यन्त भोगोंकी निन्दा की, उनका फल नाशवान् बतलाया और उन भोगोंको क्षय-अतिशय दोषयुक्त जितलाकर उनको दुःखरूप कहा (२। ४२-४४)। और उनको उपदेश किया कि तुम कर्म तो करो, परन्तु अपने स्वार्थको सम्मुख रखकर नहीं, किन्तु लोक-कल्याणके निमित्त ही करो। इस प्रकार अपने कर्मोंको ईश्वरके अर्पण करके अपने कर्मोंद्वारा भगवान्की सेवा करो और फलके लिये व्याकुल न रहो। किन्तु अपने चित्तमें यह भावना भरो कि—

'कर्म करना हमारा अधिकार है, फल हमारे अधिकारकी वस्तु है ही नहीं, किन्तु वह तो ईश्वरके अधिकारकी चीज़ है (२। ४७)। यदि सचाईसे देखा जाय तो अपने कर्म व कर्मफल भगवान्को अर्पण करना, यही महान् फल है जिससे भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होती है। यही स्थाई फल है, बल्कि सच पूछिये तो सांसारिक फल वास्तव फल नहीं, किन्तु नाशवान् होनेसे विफल ही है। इसलिये फलके लिये व्याकुल होकर हम अपने-आपको नास्तिक क्यों बनावें और ईश्वरके अधिकार को अपने हाथमें क्यों ले लेवें? तथा भगवान्के प्रति मंगनपन क्यों धारण करें, जबकि वह हमारा पिता है और सर्व प्रकारसे हमारा हितु है। वह हमारी भलाईको सब प्रकार जानता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है परन्तु हम अल्पज्ञ। जो कुछ भी सुख अथवा दुःख उसके द्वारा आता है वह सदैव हमारी भलाईके

लिये ही आता है, क्योंकि जब वह आप मूर्तिमान् शुभ है तब उससे अशुभ कैसे प्रकट हो ? अत: हम आप ही अपनी मूर्खता करके और अपनी तुच्छ बुद्धि करके उसके प्रसादमें (चाहे सुख हो वा दु:ख, सब उसका प्रसाद है जो सदैव हमारी भलाईके लिये ही होता है) भलाई-बुराईकी कल्पना करके उसके प्रति नास्तिक हो जाते हैं, यही सब पापोंका मूल महापाप है। जब हम फलके लिये चिन्तातुर होते हैं तभी हमारी चाल बेढंगी हो जाती है और हम फलसे दूर जा पड़ते हैं। फलकी आशा रजोगुणको अधिक बढा देती है, रजोगुण ही दु:खका मूल है और रजोगुण ही हमारे लिये असफलता लाता है। इस प्रकार जब रजोगुण करके हमारा हृदय हिलता रहता है तो सफलता हमसे दूर चली जाती है। जिस प्रकार एक शीशीसे दूसरी शीशी में तेल डालना चाहें और हमारे चित्तमें यह चिन्ता रहे कि कहीं तेल ढुलककर बाहर न गिर पड़े, तब इस रजोगुणी चिन्ताके कारण हमारा हाथ अवश्य हिल जायगा और तेल बाहर गिर ही पड़ेगा। परन्तु यदि हम इस चिन्ताको दूर करके निर्भयतासे डालने लगें तो एक बूँद भी नहीं गिर सकती। प्रकृतिका यह अटल नियम है कि सफलता सदैव सत्त्वगुण करके ही प्राप्त होती है और सत्त्वगुण फलाशा त्यागसे ही आता है।'

इस प्रकार श्रुतिभगवतीने उन विषयी पुरुषोंपर दया करके और यह बात मनमें विचारकर कि वे पुरुष जिनके हृदयोंमें रजोगुण भरपूर है उनका एकाएक कर्मोंसे छूटना असंभव है। क्योंकि उनके चित्तोंमें रजोगुणकी स्टीम भरी हुई है इसलिये जबतक यह स्टीम खलास न हो वे शान्त नहीं रह सकते जिस प्रकार फोड़ेमें पीप पैदा हो गई हो तो उसको निकाले बिना रोगी को शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिये इस रजोगुणकी भाप

को कर्मोंके द्वारा ही निकाला जा सकता है। अतः इसको निकलनेका मार्ग तो दिया जाय, परन्तु ऐसी युक्तिसे निकाला जाय जिससे—'(१) एक तो कर्म-प्रवृत्तिमें जो फलाशारूपी वेदना है, वह इसके लिये फल-त्यागकी भावनाद्वारा दुःखदायी न हो। (२) दूसरे, कर्ममें जो कष्ट है वह पवित्र कर्तव्यकी भावना से और स्वार्थत्याग व लोकसेवाके निमित्तसे उत्साहमें बदल जाय। (३) तीसरे, ईश्वरार्पण-भावनाकी दृढ़ता करके ये कर्म भक्तिके रूपमें बदल जायँ, जिससे इस अधिकारीके चित्तमें कुछ शान्ति उद्बुद्ध होने लगे। इस प्रकार जब इस शान्तिकी चटक मिलने लगेगी, तब स्वाभाविक ही भक्तिका स्रोत खुलेगा और जब भक्तिका स्रोत प्रबल होगा, तब क्या कर्तव्य और क्या कर्म अपने-आप इससे इसी प्रकार छूट जायँगे, जिस प्रकार किसी शराबीको शराब पीते-पीते मस्ती आ जाती है और उसके हाथसे अपने-आप प्याला छूट पड़ता है।' इस प्रकार श्रुतिभगवती और प्रकृतिदेवीने द्रवीभूत हो अपने जीवरूपी पुत्रपर महान् करुणा करके इस निष्काम-कर्मकी इस प्रकार रचना की, जिससे इधर तो इस बढ़े-चढ़े रजोगुणके वेगको निकलनेका अवसर मिले और उधर तुच्छ स्वार्थ व भोग-बुद्धिसे छूटकर भक्तिका अधिकार प्राप्त हो जाय, क्योंकि वस्तुतः कर्मका फल केवल यही है कि रजोगुणसे हृदय निर्मल हो जाय। इस प्रकार श्रुतिभगवतीको इस कर्म-योगद्वारा रजोगुण निवृत्त करके भक्तिरूपी फल पकाना ही इष्ट था, (देखो श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध-अ० ११ श्लोक० २२ से २५ तक भगवान्‌के आरम्भके वचन, अ० २० श्लो० ६ से ११ तक और पिप्पलायन वचन अ० ३ श्लो० ४०)। इस प्रकार भक्तिके द्वारा ही अहंकारको पतला करके ज्ञानाग्निद्वारा उड़ाया जा सकता है, जैसे बर्फ गलकर और पानी

के रूपमें रहकर आपके रूपमें उड़ाई जा सकती है। सारांश, इस प्रकार इस कर्मयोगका सदुपयोग करके अन्तःकरणकी निर्मलता-द्वारा ज्ञानका अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इस कर्म-योगके ही आचरणमात्रसे न ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और न मोक्ष। यद्यपि यह कर्म योग्य परम्परासे रजोगुणकी निवृत्तिद्वारा ज्ञान तथा मोक्षमें सहायक अवश्य है, परन्तु जो लोग इस कर्म-योगको ही केवल जीवनका लक्ष्य बना बठते हैं और 'इससे आगे और कुछ है ही नहीं' यों इस प्रकार आगे बढ़नेसे इन्कार करते हैं, वे तो उल्टा इस पवित्र भक्तिके स्रोत को भी बह निकलनेसे रोक देते हैं। क्योंकि वे इस पड़ावको ही उद्दिष्ट स्थान मान बैठे और यहीं डेरे डाल दिये, फिर आगे क़दम कैसे उठे? इस असदुपयोगके कारण उनके लिये यह कर्म-योग भी वास्तविक रूपसे सफल नहीं होने पाता। यह चिन्ता मत करो कि कर्म योगके छूट जानेपर लोक-कल्याण कैसे होगा? वस्तुतः तो केवल तुम्हारी आत्मोन्नतिपर ही अखिल संसारका कल्याण निर्भर है। भला, जबतक तुम आप रोग-मुक्त नहीं होते दूसरोंको कैसे नीरोग कर सकते हो? नीम हकीम (अधवैद्य) बने रहकर तुम दूसरोंके दुःख दर्द मिटानेके बजाय उल्टा उनके लिये खतरनाक बन सकते हो। पहले स्वय तो मंज़िलपर पहुँचो, फिर तुम ठीक-ठीक जान सकोगे कि संसारका कल्याण किसमें है? संसारमें प्रत्येक पदार्थ त्यागके लिये है, कोई भी वस्तु पकड़ रखनेके लिये है ही नहीं। भोग भी भोगोंसे छूटने के लिये हैं, कर्म-प्रवृत्ति भी कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिये है और कर्तव्य भी कर्तव्यसे छुटकारा पानेके लिये ही है। जबकि शरीर भी छूटनेके लिये स्पष्ट ही है, फिर पकड़ रखनेके लिये कौन-सी वस्तु हो सकती है? परन्तु आप तो पकड़े रखनेकी सौगन्ध

कर चुके हैं और इसके विपरीत प्रकृतिने प्रत्येक वस्तु छुड़ाने पर कमर बाँधी हुई है। देखिये, इस संग्राममें कौन जीते? यह सब हमारी अपनी ही कपोल-कल्पना नहीं है इस सिद्धान्तकी सत्यतामें हम इन्हीं भगवान् कृष्णके वचनोंको प्रमाणमें देते हैं, जो श्रीमद्भागवतमें उन्होंने उद्धवके प्रति कहे हैं। गीताके कृष्ण और भागवतके कृष्ण एक ही हैं, इससे तो किसीको इन्कार न होगा। जिनको इस सिद्धान्तकी सत्यताको प्रमाणित करना हो, वे श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध अ० १०, ११, १२, १३, १४, १६, २० शान्त चित्तसे मनन करें।

> उक्त प्रकारसे सांख्य व योगका अभेद और इस अभेदद्वारा मोक्ष व लोकसंग्रह की सिद्धि

सारांश, अपने परिच्छिन्न-अहंकार को ज्ञानाग्निमें दग्ध करके अपने आत्मस्वरूपमें स्थितिरूप योग पानेसे ही एकमात्र सच्चा कर्म-संन्यास और सच्चा निष्काम-कर्मयोग, यथार्थ 'सांख्य' और यथार्थ 'योग' प्राप्त किया जा सकता है। और इस प्रकार कर्तृत्वाध्याससे छूटकर क्या सञ्चित, क्या क्रियमाण सभी कर्म और संस्कारोंको भस्म किया जा सकता है। जन्म-मरणसे छुटकारा पानेका एकमात्र यही उपाय है और कोई उपाय न हुआ है न होगा। इसीका नाम 'योग' है, इसीका नाम 'सांख्य' है और यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। इसी भूमिकामें आरूढ होकर यह योगी करता हुआ भी अकर्ता है, इसके सभी कर्म अकर्म हैं और भुने हुए बीजके समान तथा जली हुई रस्सीके तुल्य हैं जोकि अपना आकार तो रखते हैं, परन्तु दग्ध-बीजके समान न फल उपजानेके योग्य हैं और दग्ध-रस्सीके तुल्य न बन्धनके योग्य। कर्मरूप चेष्टाओंका स्वरूपसे त्याग बैठना 'कर्म संन्यास'

नहीं है, जैसा कि आधुनिक टीकाकारोंने इस कर्म-संन्यासको उपहासरूप बनाया है और प्रकृतिके राज्यमें स्वरूपसे न कभी कोई निश्चेष्ट हो ही सकता है (३ । ५)। बल्कि सच्चा कर्म-संन्यास यही है कि ज्ञानद्वारा देहादि और देहादिजन्य सर्व संगोंसे अपने आत्माको ज्यों का-त्यों पृथक् कर लिया जाय। जैसे दहीसे मक्खनको पृथक कर लेते हैं तो फिर वह मक्खन उस तक्रके साथ नहीं मिलता इसी प्रकार इस आत्माका देहादिसे फिर किसी प्रकार संग न हो, वह देहादिमें रहता हुआ भी सदा उनसे निर्लिप्त रहे और पद्म-पत्रके समान फिर वह देहादि व देहादिजन्य सर्व चेष्टाओंसे लेपायमान न हो (५ । १०) तथा शरीरादिके संगमें अहता-ममता व आशा कदापि न फुरे, यही वास्तवमें सच्चा कर्म-संन्यास है। इसी कर्म-संन्यासको सम्पादन करके गीता (३ । ३०) में भगवान्ने अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त होनेके लिये आज्ञा दी है।

> मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
> निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥ (३।३०)

अर्थ—अध्यात्म-दृष्टि अर्थात् तत्त्व-दृष्टिसे मेरे ब्रह्मस्वरूप में सब कर्मोंका संन्यास करके (अर्थात् मैं जो वास्तव ब्रह्मस्वरूप हूँ, उस मेरे स्वरूपमें क्या कर्ता, क्या कर्म, क्या देहादि सभी प्रपञ्च आभासमात्र है। यद्यपि मेरी सत्ता-स्फूर्तिसे ये सब जड़ इसी प्रकार नृत्य कर रहे हैं, जिस प्रकार सूत्रधारकी सत्तासे जड़ काष्ठकी पुतलियाँ नृत्य करती हैं, परन्तु मेरेमें इनका कोई लेप नहीं है। मैं इनके विकारोंसे स्वयं विकारी नहीं होता, किन्तु मैं तो इनकी सर्व चेष्टाओंका साक्षीरूप द्रष्टा हूँ। इस प्रकार अपने आत्मस्वरूपको अपरोक्ष करके) और आशा-

ममतासे छूटकर सन्तापरहित हुआ (इस विचारसे कि आकाशवत् न मैं कुछ करता हूँ, न मेरे में कुछ बनता है) युद्ध कर।

यही जीता-जागता कर्म-संन्यास है, यही गीता व वेदान्तका निष्कर्ष है। निश्चेष्टता गीता अथवा वेदान्तका निष्कर्ष कदापि नहीं हो सकता और न ऐसा दृष्टान्त-प्रमाणसे ही सिद्ध होता है। यदि निश्चेष्टता ही वेदान्तका निष्कर्ष होता तो वेदान्तके स्तम्भ भगवान् व्यास और जगद्गुरु श्रीशङ्करद्वारा जो महान् कार्य हुआ है, जैसा कि साधारण व्यक्तियोंद्वारा जन्म-जन्मान्तरमें भी सिद्ध होना असम्भव है, वह न होता। जो शक्तिका प्रवाह इन महापुरुषोंद्वारा बहाया गया है तथा आधुनिक कालके भव्य-मूर्ति गुरु नानक, स्वामी रामदास, श्रीज्ञानेश्वर महाराज, श्रीकबीरदेव, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ आदिने अल्प कालमें ही जो जागृति व चमत्कार उत्पन्न किये हैं, वे इसी वेदान्त व गीताप्रतिपादित कर्म-संन्यासके फल हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। ये सब इसी 'सांख्य' और इसी 'योग' के चमत्कार हैं। इसके विपरीत जो 'सांख्य' व 'योग' का स्वरूप आधुनिक टीकाकारोंने दर्शाया है वह कृत्रिम है, केवल बेजानका पुतला है जिसमें प्राण नहीं और यह उस सच्चे योगका केवल फ़ोटोमात्र है जो केवल देखनेके लिये ही है, परन्तु उससे यथार्थ अर्थसिद्धि नहीं हो सकती। परिणाम यह कि कुछ न करनेवाले बनकर ही सब कुछ किया जा सकता है और करनेवाले बनकर जो कुछ भी किया जाता है वह तुच्छ कार्य ही होता है, जो अवश्य किसी दोष करके युक्त होना चाहिये, ऐसे कार्यका निर्दोष होना असम्भव है। क्योंकि जब हम कुछ करनेवाले बनते हैं, तब अपने वास्तविक ईश्वरीय स्वरूपसे च्युत होकर तुच्छ जीवभावमें अधःपतनको प्राप्त हो

जाते हैं। जब जीवभावमें अपने-आपको परिच्छिन्न बना लिया, तब जीवभाव करके जो कुछ किया जायगा वह अवश्य संकुचित होगा, विशाल नहीं हो सकता और जो संकुचित हुआ वह अवश्य दोषयुक्त होगा। इसके विपरीत जब हम अपने परिच्छिन्न अहंभावसे ऊँचे उठे हुए होंगे और कर्ता व कर्तव्यसे हाथ धो बैठे होंगे, तब अवश्य हमारा आसन जीवभावसे ऊँचा उठकर ईश्वरीयभावमें जमा हुआ होगा और तभी शक्तिका स्रोत हमारे अन्दरसे इसी प्रकार वेगसे निकल रहा होगा, जिस प्रकार विशाल चश्मेसे जलका प्रवाह तीव्र वेगसे निकलता हुआ महानदके रूपमें वह निकलता है। उस समय हम पूर्ण पवित्रता व उदारतासे भरपूर होंगे और स्वाभाविक बिना किसी कर्तव्यके जो कुछ हमारे द्वारा हो रहा होगा, वह केवल ईश्वरकृत होगा। उस समय क्या हाथ, क्या पाँव, क्या नेत्रादि इन्द्रियाँ, क्या दिल और क्या दिमाग, सबमेंसे तुच्छ अहंकाररूपी शैतान अवश्य निकल चुका होगा, इन सब अङ्गोंका समर्पण ईश्वरको किया जा चुका होगा और तब केवल वही इनके भीतर विराजमान होकर इनका सञ्चालक हो रहा होगा। यथा—

मुग्वए गुफ़्तारे हक़ गुफ्तारे मा ।
चश्मए दीदारे हक दीदारे मा ॥

अर्थात् 'उस समय हमारा कथन ईश्वरीय कथन होगा और हमारी दृष्टि ईश्वरीय दृष्टि होगी।' यही दशा वर्त रही होगी और तब सब अंगोंसे प्रकाश इसी प्रकार निकल रहा होगा, जिस प्रकार झीने वस्त्रमेंसे सूर्य रश्मि फूट निकलती हैं। उस समय जो कुछ भी क्रिया इन अंगोंसे प्रकट हो रही होगी, वह अवश्य विशाल व निर्दोष होगी और सर्वहितकारी होगी। वास्तवमें यह कर्तव्य ही जीवका

बन्धन है, इस कर्तव्य करके ही अहंकारकी दृढ़ता होती है, इसी करके कर्मोंका फल है और यही जन्म-मरणका हेतु है। जिस प्रकार घटीयन्त्रके टिंडे (बर्तन) रस्सीके साथ बँधे हुए कूपके ऊपर घूमते हैं, कभी नीचे आते हैं, कभी ऊपर आते हैं; इसी प्रकार ये जीवरूपी टिंडे (पात्र) संसाररूपी कूपके सिरपर कर्तव्यरूपी रज्जुके साथ बँधे हुए नीचे-ऊपर भटकते फिरते हैं, छूटने नहीं पाते। परन्तु अब अपने स्वरूपके ज्ञानद्वारा इस कर्तव्यकी फाँसीसे छुटकारा मिला, तब कौन कर्ता, कैसा कर्तव्य, कहाँका जन्म-मरण और कैसा संसार? तब सबके दुलारे-प्यारे तुम ही हो, सब तुम्हारी ही याचना करनेवाले हैं, सबको प्रकाश देनेवाले तुम ही हो, सूर्य तुम्हारा ही भिखारी होगा, चाँदको शीतलता बख्शनेवाले तुम ही होगे, तारोंमें तुम्हारी ही जगमगाहट होनी चाहिये और मृत्यु तुम्हारे भयसे काँपती है, जन्म-मरण कैसा!

भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

अर्थात् इसके भयसे वायु चलती है, इसके ही भयसे सूर्य उदय होता है तथा इसीके भयसे अग्नि व इन्द्र कार्य कर रहे हैं और मृत्यु दौड़ती फिरती है। यही अवस्था वर्तनी चाहिये।

आत्मदेव! तू अपने स्वरूपमें जागकर देख, तेरे लिये कदापि कोई कर्तव्य नहीं। तू अपने साक्षीस्वरूपसे नित्य ही सब कर्तव्योंसे मुक्त है, तू सबका प्रकाश है, सबका स्वामी है। महाराजाधिराजके लिये भी भला कभी कोई कर्तव्य हुआ है? कर्तव्यकी ड्यूटी तो उसके सेवकोंपर है। इसी प्रकार कर्तव्यके

भारवाही तो वे ही हैं, जो संसारके साथ बँधे हुए हैं और जिनकी आँखें तुझसे नहीं लड़ीं, अथवा जिन्होंने तुझमें योग नहीं पाया। महाराजाधिराज तो अपने सिंहासनपर विराजमान रहता हुआ अपने परम विश्राममें निश्चल हो रहा है और उसकी सत्ता-मात्रसे सब कार्य ठीक-ठीक हो रहे हैं, किसी काठके टुकड़ेकी मजाल है जो चूँ करे? वह आप कुछ न करता हुआ भी सर्व कर्ता-धर्ता वही है। इसके विपरीत जिनके कन्धेपर कर्तव्यका जूआ धरा हुआ है, वे सदैव कर्ममें प्रवृत्त रहकर भी कुछ नहीं कर पाते। वे तो कर्तव्यसे बँधे हुए इधर-उधर हिल ही नहीं सकते। वे स्वय बन्धायमान रहकर कर क्या सकते हैं? करेंगे तो वे ही जो आप स्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार तेलीका बैल दिन-भर चलता हुआ भी सायंकालको वहीं है, जहाँपर वह प्रभातमें था; इसी प्रकार जो कर्तव्यके नीचे दबे हुए हैं, वे क्या कर सकते हैं? कर्तव्य तो उनकी ग्रीवाको उठने ही नहीं देता। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध २१ वें अध्यायके आरम्भमें ही यही कृष्ण उद्धवके प्रति कहते हैं कि 'विधि-निषेधरूप कर्तव्य उन पशु अति अज्ञानियोंके लिये ही है जो शरीरमें ही बँधे रह-कर बहुत कामनाओंको हृदयमें धारते हैं और उन कामनाओं करके प्रेरे हुए बहुत कर्मोंका विस्तार करते हैं। वे पशु निर-न्तर दुःखको ही प्राप्त होते हैं और संसारमें बहे जाते हैं। उन्हींके लिये यह विधि-निषेध कहा गया है, जिससे उनके बहुत-से कर्मोंका त्याग कराके थोड़े कर्मोंमें ही उनको ठहराया गया है। यह विधि-निषेधरूप कर्तव्य कोई यथार्थ वस्तुरूप नहीं है, केवल उन पशु-जीवोंके लिये एक बन्धन है जिससे वे इसके क़ाबूमें रहें"। अपने 'एकादश स्कन्ध भाषा' नामक ग्रन्थमें संत चतुर्दासजीने भगवद्वचनोंकी व्याख्या करते हुए यही आशय स्पष्ट-

रूपसे व्यक्त किया है। गी० अ० ६। श्लो० ४४ में भगवान्‌का भी यही वचन है, कि—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।'

अर्थात् आत्मस्वरूपमें स्थितिरूप योगका जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्म (वेद) के विधि-निषेधरूप कर्तव्यको उल्लङ्घन कर जाता है।

इस प्रकार जबकि इस योगका जिज्ञासु भी कर्तव्यसे मुक्त हो जाता है, तब इस योगीका तो कहना ही क्या है? जिस प्रकार नदी दोनों तटोंकी मर्यादामें चलती हुई समुद्रसे अभिन्न होकर तटोंके बन्धनसे मुक्त हो जाती है, इसी प्रकार जीव-नदी का प्रवाह भी वेदके विधि-निषेधरूप तटोंकी मर्यादामें इसीलिये चलाया गया था कि 'इश्क़ हक़ीक़ी' जाग उठे। और जब यह जागृत हो आया, तब कर्तव्य कैसा? फिर तो कर्तव्य इसके लिये पाप है और उस सच्चे प्रेममें बाधक है। भला, प्रेममें भी कोई नियम हुआ है?

सारांश, उस कर्म-संन्यासद्वारा ही (जहाँ देहाध्याससे छूटकर सांख्य व योग दोनोंका अभेद है) कुछ न करते हुए भी सब कुछ किया जाता है और इस कर्म-योगद्वारा (जहाँ देहादिमें बँधे रहकर कर्तव्यसाहित्य और फलाशासाहित्य है) सब कुछ करते हुए भी यथार्थरूपसे कुछ नहीं बन पड़ता। न यह जन्म-मरणसे छुटकारा ही दे सकता है और न यथार्थ लोकसंग्रह ही सम्पादन करनेमें समर्थ है। यथार्थ लोकसंग्रह तो केवल 'अपने आत्मस्वरूपमें स्थितिरूप योग' द्वारा ही सम्पादन किया जा सकता है, जैसाकि आधुनिक कालके भव्य-मूर्ति श्रीकबीर-देव, श्रीज्ञानेश्वर महाराज, श्रीस्वामी रामदास, गुरु नानकदेव, अल्पायु श्रीस्वामी विवेकानन्द और श्रीस्वामी रामतीर्थद्वारा

सम्पादन हुआ। स्वामी राम 'विजयिनी अध्यात्म शक्ति' शीर्षक अपने अमेरिकाके व्याख्यानमें यों कहते हैं—

"जिस क्षण हम संसारके सुधारक बनकर खड़े होते हैं, उसी क्षण हम संसारके बिगाड़नेवाले बन जाते हैं। 'Physician heal thyself' अर्थात् 'वैद्य! पहले तू अपनी चिकित्सा कर'। वेदान्तके अनुसार संपूर्ण संसार ईश्वरसे इतर और कुछ नहीं है। समग्र संसार परिपूर्ण है, समग्र संसार ब्रह्म है, मेरा ही अपना-आप है, समग्र संसार एक अकेला है। यदि यही बात है, फिर यदि मैं सुधारका कोई उपाय ग्रहण करता हूँ, फिर यदि मुझे यह समझ पड़ता है कि तुम पददलित हो और फिर यदि मुझे ऐसा दिखाई पड़ता है कि तुम तुच्छ अभिलाषाओंके कारण दुःखित और पीड़ित हो, तो मैं तुरन्त तुम्हें बिगाड़ रहा हूँ (और आप बिगड़ रहा हूँ)। क्योंकि इस रीतिसे मैं तुमको अपनेसे कोई भिन्न वस्तु समझ रहा हूँ (और वास्तवमें भेद-बुद्धि भ्रम है)। इसलिये वेदान्त कहता है कि सुधारको! सुधारकोंका पद लेनेवालो! तुम दुनियाँको पापिनी समझते हो, तुम दुनियाँको कुरूपा समझते हो और उसे गाली देते हो (यह सब तुम्हारी दृष्टिका भ्रम है)। दुनियाँ इतनी दीन क्यों मानी जाय कि उसको तुम्हारी सहायताकी ज़रूरत हो? ईसा-मसीह आया और उसने यथाशक्ति लोगोंको उठाने और प्रबुद्ध करनेकी चेष्टा की, परन्तु दुनियाँका सुधार नहीं हुआ। भगवान् कृष्ण आये और जो कुछ कर सके, किया। भगवान् बुद्ध आये और अन्य बहुतेरे तत्त्वज्ञानी आये, परन्तु आज भी अभीतक वही पीड़ा, वही दुःख और वही क्लेश है, संसारको हम ज्यों-का त्यों पाते हैं। आज क्या लोग पहलेसे किसी तरह अधिक खुश हैं? तुम्हारी रेलगाड़ियाँ, तुम्हारे तारों, तुम्हारे टेलीफोनों,

तुम्हारे बड़े-बड़े जहाजों अर्थात् तुम्हारी समस्त वैज्ञानिक रचनाओंने क्या लोगोंको पहलेसे कुछ अधिक सुखी बनाया है? बात ठीक उसी अपूर्णाङ्क (Fraction) के समान है, जिसके ऊपर व नीचेके अंक (Numerator & Denominator) दोनों बढ़ा दिये गये हों। अर्थात् $\frac{1}{2} = \frac{2}{4} = \frac{4}{8} = \frac{8}{16}$ इत्यादि रूपसे अपूर्णाङ्क चाहे पहलेसे भिन्न मालूम पड़ने लगे, वह बढ़ा हुआ भले ही प्रतीत हो, परन्तु वस्तुतः वही अपूर्णाङ्क समानतासे बढ़ा हुआ होता है और इसके अनुपातमें कोई अन्तर नहीं आया है। यदि तुम्हारी सम्पत्ति बढ़ गई है, तो इसके साथ-साथ तुम्हारी अभिलाषाएँ भी तो बढ़ गई हैं! सारांश, यह संसार कुत्तेकी दुमकी तरहसे है, जो कभी सीधी नहीं होती। इस तरहपर वे लोग जो सुधार करनेकी इच्छासे उठते हैं, स्वयं धोखेमें हैं। युवको! याद रक्खो, संसारके सम्बन्धमें किसी कामको शुरू करके तुम बड़ी भूल करते हो, (अर्थात् सुधार अपना करना है न कि संसारका, क्योंकि आपा बिगड़कर ही संसार बिगड़ा नज़र आता है)। अपना आकर्षण केन्द्र (Centre of gravity) अपनेसे बाहर मत जमाओ (अर्थात् अपना सुधार करो) निश्चयसे जानो और अपने वास्तविक ईश्वरत्वका अनुभव करो। जिस क्षण तुम ईश्वरभावसे परिपूर्ण हो जाओगे, उसी क्षण अनायास ही सदाके लिये जीवन, शक्ति और उत्साहकी धारा तुमसे बहने लगेगी। सत्यके फैलानेका यही उपाय है। ॐ।"

कर्मका स्वरूप

अब हमें देखना यह है कि कर्म-संन्यास व कर्म-योगका जैसा स्वरूप आधुनिक टीकाकारोंने निरूपण किया है, स्वयं गीताद्वारा भी वैसा प्रमाणित होता है वा नहीं। परन्तु आगे चलनेसे पहले हमें कर्मके स्वरूप और उसके उपयोग व फलपर

थोड़ा विचार कर लेना चाहिये। कर्मका स्वरूप स्वय गीता यों वर्णन करती है—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ (८।३)

अर्थ—भूतोंमें भावको उत्पन्न करनेवाला जो विसर्ग अर्थात् चेष्टारूप व्यापार है, उसीकी 'कर्म' नामसे संज्ञा की गई है।

मन-बुद्धिमें किसी प्रकार जो स्फुरण अथवा तरङ्ग उत्पन्न हो, उसका नाम 'भाव' है। इस योजनाके अनुसार मन-बुद्धिमें स्वतन्त्र जो भावरूप तरङ्ग उत्पन्न हो, अथवा देह इन्द्रियोंका वह व्यापार जो मन-बुद्धिकी जानकारीमें और मन-बुद्धिके द्वारा हो, 'कर्म' कहा जा सकता है। शरीरादिके जिन व्यापारोंमें मन-बुद्धिकी जानकारी नहीं, वे सब क्रिया 'कर्म' रूप भी नहीं बनतीं। क्योंकि मन-बुद्धिकी जानकारी बिना वे किसी भावको उत्पन्न नहीं करतीं और भावोत्पत्ति बिना किसी फलके हेतु भी नहीं होतीं। उदाहरणार्थ शरीरमें भोजन करनेके पश्चात् मल-मूत्र विसर्जन होनेतक उस खाद्यको असंख्य क्रियाओंमें बदलना पड़ता है। वह भोजन रस, रक्त, मांस, अस्थि, मेद, मज्जा, त्वचा, नख और बाल आदि अनेक रूपोंमें परिणत होता है और इन सब परिणामोंमें असंख्य क्रियाएँ भी उत्पन्न होती हैं। यद्यपि वे सब क्रियाएँ शरीरमें ही बर्त रही हैं, परन्तु उन क्रियाओंके साथ मन-बुद्धिका किसी प्रकार संयोग न होनेके कारण और उनमें मन-बुद्धिकी जानकारी न रहनेके कारण वे किसी भावको उत्पन्न नहीं करतीं, इसीलिये वे कर्मकी संज्ञामें भी नहीं आतीं। इस व्याख्याकी सत्यतामें यह भी प्रमाण है कि मनुष्यसे इतर पशु-पक्षी आदि जितनी योनियाँ हैं, उनमें किये गये व्यापार शास्त्रोंमें किसी पुण्य-पापादि फलके हेतु नहीं बतलाये गये। इसका कारण यही है कि यद्यपि उन योनियोंमें व्यापार तो असंख्य

उत्पन्न होते हैं, परन्तु उन व्यापारोंके साथ उनके मन-बुद्धिका जाग्रत् सम्बन्ध न होनेके कारण वे किसी शुभाशुभ भावकी उत्पत्तिके हेतु नहीं होते और इसीलिये पुण्य-पापादि फलके हेतु भी नहीं बनते। क्योंकि उन योनियोंमें अभी आनन्दमय कोशका विकास नहीं है, इसी लिये उनकी बुद्धि स्वप्नतुल्य है और इसी लिये वह किसी भावका उद्बोध नहीं कर सकती। इसी नियमके अनुसार ज्ञानीके कर्म भी फलके हेतु नहीं होते, क्योंकि उसके व्यापारोंके साथ ज्ञानकी प्रौढ़ता करके भेद-दृष्टि के दग्ध हो जानेके कारण उसकी शुभाशुभकी भावना ही दग्ध हो जाती है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भावोत्पादक व्यापारकी ही 'कर्म' संज्ञा होती है, अन्यकी नहीं।

कर्मकी इस व्याख्याके अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति और प्रत्येक निवृत्ति, चाहे वह ग्रहणरूप हो अथवा त्यागरूप, साक्षात् मन-बुद्धिका परिणाम होनेसे, अथवा मन-बुद्धिकी जानकारीमें होनेसे भावोत्पादक होती है और कर्मकी संज्ञामें आती है। यह बात तो स्पष्ट ही है कि क्या प्रवृत्ति और क्या निवृत्ति दोनोंका ही प्रकृतिसे सम्बन्ध है और इन दोनोंकी प्रकृतिके राज्यमें ही रचना हुई है। जबकि प्रकृतिका राज्य विस्तृत है तब अधिकारकी विलक्षणता भी स्वाभाविक है। यदि सभी प्राणी एक ही अधिकारके होते तो प्रकृतिकी विचित्रता ही लोप हो जाती और भेदभाव भी उड़ जाता, परन्तु यह हो कैसे सकता है? प्रकृतिके राज्यमें तो विलक्षणता ही चाहिये। जबकि प्रकृति अपने स्वरूपसे त्रिगुणमयी ही है, तब इन त्रिगुणके भेदसे असंख्य भेद प्रकृतिके राज्यमें हों, इसमें आश्चर्य ही क्या है? जबकि मूलमें ही भेद पड़ा हुआ है, तब कार्यमें भेद होना स्वाभाविक ही है। यहाँतक कि इस असंख्य ईश्वर-सृष्टिमें ऐसे

कोई भी दो पदार्थ प्राप्त न हो सकेंगे जो आकृति व प्रकृतिमें समान हों, चाहे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको क्यों न खोज डाला जाय। जबकि आकृति व प्रकृतिका भेद स्वाभाविक सिद्ध हुआ, तब अधिकारका भेद भी अनिवार्य सिद्ध होता है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अधिकारका भेद होना ही चाहिये। पिताका जो अधिकार है वह पुत्रका नहीं, जो पुत्रका है वह माताका नहीं, माताका जो अधिकार है वह स्त्रीका नहीं, बालकका जो अधिकार है वह युवाका नहीं, जो युवाका है,वह वृद्धका नहीं, ब्राह्मणका जो अधिकार है वह क्षत्रियका नहीं, जो क्षत्रियका है वह वैश्य व शूद्रका नहीं, ब्रह्मचारीका जो अधिकार है वह गृहस्थका नहीं, गृहस्थका जो अधिकार है वह वानप्रस्थ और संन्यासीका नहीं और वानप्रस्थ व संन्यासीका जो अधिकार है वह गृहस्थका नहीं इत्यादि। इसके साथ ही प्रकृतिके राज्यमें कोई पदार्थ निष्फल भी नहीं है, बल्कि अपनी-अपनी प्रकृति व अधिकारके अनुसार प्रत्येक वस्तु सफल है। यहाँतक कि संखिया भी अधिकारीके अधिकारके अनुसार अमृतरूप बन सकता है। जबकि ऐसा है तब अपने-अपने अधिकारानुसार प्रवृत्ति व निवृत्तिका भी सफल होना अवश्यम्भावी है। किसीके लिये प्रवृत्ति सफल है तो किसीके लिये निवृत्ति, इसके साथ ही यदि किसीके लिये निवृत्ति त्याज्य है तो किसीके लिये प्रवृत्तिका त्याज्य होना भी आवश्यक है। जिसके लिये प्रवृत्ति कर्म है उसके लिये निवृत्ति विकर्म तथा जिसके लिये निवृत्ति कर्म है उसके लिये प्रवृत्ति विकर्म होना निश्चय ही है। जब प्रकृति राज्य त्रिगुणमय है, तब त्रिगुणात्मक सभी चेष्टाएँ कर्म बन सकती हैं न यह कि रजोगुणी चेष्टाओं ही कर्म मान लिया जाय और सत्त्वगुणी चेष्टाओंको कर्मकी हदसे ही निकाल दिया जाय, बल्कि

अधिकारानुसार रजोगुणात्मक प्रवृत्ति और सत्त्वगुणात्मक निवृत्ति सभी कर्म हैं। फिर रजोगुणात्मक प्रवृत्तिरूप चेष्टाओं को ही कर्मकी व्याख्यामें शामिल करना और सत्त्वगुणात्मक निवृत्तिको कर्मशून्य ठहराना तथा इसको कर्मकी व्याख्यासे ही पृथक् कर देना तो कोरा हठ है। किसीके चित्तमें यदि रजोगुण भरपूर है तो प्रकृतिके नियमानुसार उसके लिये प्रवृत्ति ही उपादेय है और निवृत्ति हेय। क्योंकि जिस प्रकार किसीके शरीरमें फोड़ा पका हुआ है और उसमें पीप भर गई है तो आयुर्वेदिक दृष्टिसे जबतक उस पीपको निकलनेका मार्ग न दिया जाय, फोड़ा कदापि अच्छा नहीं हो सकता, बल्कि वह रुकी हुई पीप उसके शरीरकी हड्डियोंको छान डालेगी, इसलिये पीपको निकलनेका मार्ग देना अत्यन्त आवश्यक है। ठीक, इसी प्रकार संसार-रोगके रोगीके लिये, जिसके हृदयरूपी फोड़ेमें रजोगुण व चञ्चलतारूपी पीप भर गई है, प्रवृत्तिद्वारा उसको निकलनेका मार्ग देना ज़रूरी है। यदि इस रजोगुणको निकलनेका मार्ग न दिया गया और उसको निवृत्तिद्वारा रोक दिया गया तो वह रजोगुणी पीप रुक न सकेगी, बल्कि अपने-आप निकलनेका कोई अन्य मार्ग खोल लेगी, जिससे वह निवृत्ति उलटी दूषित हो जायगी और संसाररूपी रोगको उलटा बढ़ा देगी। इसीलिये इस रजोगुणी पीपको शुभ मार्गद्वारा निकालनेके लिये प्रकृतिदेवीने निष्काम-कर्मकी रचना की है। परन्तु प्रकृतिके राज्यमें प्रत्येक प्रवृत्ति अन्ततः अपनी तृप्ति कराकर और थकित करके निवृत्तिमें बदल जानेके लिये है, प्रकृतिका यही अटल नियम है। कोई भी वस्तु प्रकृति-राज्य में स्थिर रहनेके लिये है ही नहीं, बल्कि प्रत्येक क्षण परिवर्तन होनेके लिये है। क्षुधा-प्रवृत्ति भी तृप्त कराके निवृत्त होनेके लिये है, प्रत्येक भोग-प्रवृत्ति भोगोंसे रजकर हाथ उठा लेनेके लिये

है, जागरण-प्रवृत्ति थकित कराके निवृत्तिके लिये है, इधर शयन-प्रवृत्ति भी पूर्ण विश्रामको देकर टूट पड़नेके लिये ही है। यहाँतक कि आवागमनका चक्र भी पूर्णतया हृदय-वेदना उत्पन्न करके छुटकारा पानेके लिये ही है।

जब ऐसा है तब रजोगुणी कर्म-प्रवृत्ति ही स्थिर रहनेके लिये कैसे मानी जा सकती है? ऐसा मानकर तो प्रकृतिके अटल नियमको भंग करना है। अजी! जबकि रजोगुणी पीप हृदयरूपी फोड़ेसे निकलकर साफ हो चुकी, तब उल्टा बाहरसे उस पीपको भरना कौन सी दानाई है? अन्दरसे पीप बाहर निकालनेके लिये थी, न कि बाहरसे अन्दर भरनेके लिये। जबकि पीप साफ़ हो चुकी, तब तो सत्त्वगुणमय शान्तिरूपी मरहम ही इस हृदयरूपी फोड़ेपर रखना जरूरी है। इस प्रकार ऐसे रोगीके लिये तो निवृत्तिरूप चेष्टा ही उपादेय हो सकती है और प्रवृत्ति हेय। यदि कोई प्रमादी डाक्टर ज़रूरतसे अधिक फोड़ेको चीरता ही चला जाय और बस न करे, तो फोड़ेको अच्छा करनेके बजाय वह एक और नया फोड़ा पैदा कर देता है, जिसमें पीपका पड़ जाना अवश्यम्भावी है। इसलिये प्रत्येक अवस्थामें अधिकारानुसार किसीके लिये प्रवृत्ति उपादेय है तो निवृत्ति हेय, फिर अन्य अवस्थामें उसीके लिये निवृत्ति उपादेय हो सकती है और प्रवृत्ति हेय।

जबकि प्रकृतिका नियम ऐसा है, तब भगवान् ऐसे प्रमादी डाक्टर कैसे बन सकते हैं कि प्राकृतिक नियमके विरुद्ध वे प्रवृत्तिरूप चेष्टाओंको ही कर्मकी संज्ञामें रखें और निवृत्तिको विकर्म व कर्मशून्य कहा करें? और न यही किसी प्रकार समझमें आता है कि गीता प्राकृतिक नियमके विरुद्ध शिक्षा देनेके लिये अवतीर्ण हुई है। नहीं जी! यह हो कैसे सकता है?

न तो भगवान् ही प्रमादी डाक्टर हो सकते हैं और न गीता ही प्रकृति-नियमविरुद्ध शिक्षा देनेके लिए अवतीर्ण हुई है, हमारे अर्वाचीन प्रेमी अपने बढ़े-चढ़े रजोगुणके नशेमें चाहे कुछ भी प्रलाप किया करें। गीता तो स्पष्ट कहती है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ (६।३)

अर्थ—(अभेदरूप) योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले जिज्ञासुके लिये तो (अभेद प्राप्त करनेके निमित्त) कर्म ही कारण कहा गया है, परन्तु उसीके योगारूढ हो जानेपर (कर्ता व कर्तव्यादि सर्व संकल्पोंका) शमन ही (इस योगारूढ अवस्थामें स्थिर रहनेके लिये) हेतु कहा गया है।

गीता उदारतापूर्ण विशाल ग्रन्थ है, वह संकीर्ण दृष्टिसे किसी विषयका कैसे प्रतिपादन कर सकती है? वह तो जो कुछ कहेगी, पूर्ण व्यापक दृष्टिसे सार्वभौमताको सुरक्षित करके ही कथन करेगी। फिर प्राकृतिक-नियमविरुद्ध गीतासे यह वाणी कैसे निकल सकती है कि प्रवृत्तिरूप व्यापार ही कर्म है और निवृत्तिरूप व्यापार कर्महीनता व कर्मशून्यता है? और यह भी गीता कैसे कह सकती है कि प्रवृत्तिरूप रजोगुणी कर्म आजीवन छूटनेके लिये हैं ही नहीं, जबकि कर्मके साधन देह, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी अपने-अपने समयपर थककर विश्राम पानेके लिये हैं? अन्ततः प्रकृतिके राज्यमें थकान है, जिसका स्पष्ट प्रमाण हमको नित्य ही सुषुप्ति अवस्थामें मिल जाता है। प्रत्येक प्राणी-जीव अपनी-अपनी प्रवृत्तिसे थककर नित्य ही निवृत्तिरूप सुषुप्ति-अवस्थाको प्राप्त होता है और उस निवृत्तिरूप सुषुप्तिसे ही इसको भावी प्रवृत्तिके लिये बल प्राप्त होता है। जबकि प्रत्येक प्रवृत्तिका फल निवृत्ति ही है, प्रत्येक

ग्रहणका फल त्याग ही प्रकृतिराज्यमें नियत हुआ है, तब निवृत्तिको कैसे ठुकराया जा सकता है? यहाँतक कि प्रवृत्तिको भी यदि कुछ आदर मिला है तो एकमात्र निवृत्तिके सम्बन्धसे। हलवेको यदि मधुरता मिली है तो केवल शक्करके संयोगसे, इसके बिना हलवेमें अपना कोई मिठास नहीं है। इसी प्रकार निष्काम-कर्मको भी यदि कुछ आदर मिला है तो केवल फल-त्यागके सम्बन्धसे ही। जितना-जितना प्रवृत्तिके साथ त्यागका सम्बन्ध हुआ उतना-उतना ही वह मानपात्र हुई और उतना-उतना ही वह अधिक फलकी हेतु हुई। जब ऐसा है तो गीता निवृत्तिको कैसे त्याज्य बना सकती है और वह निवृत्ति कैसे ठुकराई जा सकती है? हाँ! वह स्वयं तो नहीं ठुकराई जा सकती, परन्तु उसको ठुकरानेवाले अवश्य ठोकर खायेंगे और अन्तत: ठोकर खा-खाकर उनको इस निवृत्तिदेवीके सामने नत-मस्तक होना ही पड़ेगा। गीता (१३।७-११) और (१८।४७-५४)में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान प्राप्तिमें पूर्ण त्यागरूप निवृत्ति ही आवश्यक साधन है और वह उपादेय है, हेय नहीं।

सारांश, गीता प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिके आदर व अनादरके लिये अवतीर्ण नहीं हुई और न किसी एकके ग्रहण और अन्यके त्यागमें ही इसका तात्पर्य है। बल्कि गीता-दृष्टिसे तो क्या प्रवृत्ति व क्या निवृत्ति दोनों ही अपने-अपने स्थानपर आदर पानेके लिये हैं, दोनोंही सफल हैं और दोनों ही कर्मकी संज्ञामें आती हैं। यह कैसे कहा जा सकता है कि गीता केवल प्रवृत्तिको ही आदर देनेके लिये है? जबकि वह देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि व अहङ्कार सभीकी बलि माँगनेके लिये उद्यत है, बल्कि उसको तो किसी भी वस्तु पर परिच्छिन्न-अहंरूपसे अधिकार जमाना इष्ट है ही नहीं, बाह्य पदार्थोंपर ममता तो कैसी? गीताका तो सिद्धान्त यही है कि देह,

इन्द्रिय, मन, बुद्धि व अहङ्कार सबसे ही अहंभाव तोड़ बैठा जाय और इनमें 'अहं-कर्ता' भाव भी उदय न हो, केवल तभी तुम्हारे द्वारा कर्म निर्दोष हो सकता है और तुम कर्म-बन्धनसे छूट सकते हो, अन्यथा कर्म-बन्धनसे मुक्ति है ही नहीं। जिस प्रकार संसारमें शारीरिक रोग भिन्न-भिन्न हैं और रोगियोंकी प्रकृतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये उनके रोग व प्रकृतिके अनुसार औषधिका भेद, मात्राका भेद, अनुपान-भेद और पथ्य-भेद होना ज़रूरी है। जो वैद्य अपने सब रोगियोंके लिये एक ही ओषधि, एक ही मात्रा और एक ही अनुपान व पथ्यसे सेवन कराता है वह अवश्य हानिकारक सिद्ध होगा। जब स्थूल शारीरिक चिकित्साका यह हाल है, तब सूक्ष्म मानसिक रोगोंमें साधन-भेद व मार्ग-भेद हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु जो गुरु व शास्त्र सबके लिये एक ही मार्ग बतलाता है और अधिकारका भेद कुछ नहीं रखता, वह अवश्य हानिकारक होगा और वह सङ्कीर्णचित्त ही कहलायेगा। इसी प्रकार जो महानुभाव गीताका तात्पर्य मार्ग-भेदमें ही निकालते हैं, अर्थात् किसी एक मार्गके आदर व अन्य मार्गके अनादरमें गीताका आश्रय लेते हैं, वे गीताकी व्यापकता व सार्वभौमताके हन्ता होते हैं। भला, गीता जैसे पूर्ण ग्रन्थसे यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह प्रवृत्ति के ग्रहण व निवृत्तिके त्यागके लिये ही प्रवृत्त हुई है, जबकि सब प्रवृत्तियोंका फल केवल निवृत्ति ही है। अथवा यह भी कैसे माना जा सकता है कि गीतादृष्टिसे रजोगुणी प्रवृत्तिरूप चेष्टाएँ ही 'कर्म' हैं और सत्त्वगुणी निवृत्तिरूप चेष्टाएँ कर्म ही नहीं?

कर्ममें प्रवृत्तिका हेतु व फल

कर्मकी व्याख्या व्यापक दृष्टिसे की गई। अब हमें यह देखना है कि कर्ममें प्रवृत्तिका हेतु क्या है और उसका

फल क्या है ? विचारसे स्पष्ट होगा कि कर्ममें प्रवृत्तिका हेतु बाह्य पदार्थ कोई भी नहीं है, न संसार ही कर्म प्रवृत्तिका हेतु हो सकता है और न भोग। यद्यपि कर्म-प्रवृत्तिमें बाह्य पदार्थ निमित्त तो बनते हैं, परन्तु उपादान नहीं बन सकते। किसी भी कार्यका उपादान कार्यसे बाहर नहीं हुआ करता, बल्कि कार्य का उपादान कार्यके अन्दर ही देखना चाहिये, यही प्रकृतिका नियम है। जैसे घटका उपादान रूप मृत्तिका, घटरूप कार्यके अन्दर ही मिल सकती है, उससे बाहर नहीं। इसी प्रकार कर्म-प्रवृत्तिका उपादानरूप हेतु वहीं अन्वेषण करना चाहिये, जहाँसे कर्म-प्रवृत्तिकी तरङ्ग उत्पन्न होती है और वह कर्ताके हृदय-देशमें ही मिल सकती है। अब देखना यह है कि हृदय-देशमें वह कौन-सी वस्तु हो सकती है जो कर्ताको कर्ममें प्रवृत्त करती है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि हृदयमें जिस वस्तुके उत्पन्न हुए कर्ममें प्रवृत्ति उत्पन्न हो और जिस वस्तुके अभाव हुए कर्म प्रवृत्तिका अभाव हो जाय, वही वस्तु कर्म-प्रवृत्तिका उपादान-कारण है। हम देखते हैं कि जीवकी भोजन व जलपानमें प्रवृत्ति केवल उसी समय होती है, जबकि क्षुधा व पिपासा हृदयमें विक्षेप उत्पन्न करते हैं और जब क्षुधा-पिपासाका विक्षेप हृदयसे निकल जाता है, तब खानपान-प्रवृत्ति भी अपने-आप निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार व्यवहारसम्बन्धी विक्षेप होनेपर व्यवहार प्रवृत्ति, गमन-सम्बन्धी विक्षेप होनेपर गमन-प्रवृत्ति, शयनसम्बन्धी विक्षेप होनेपर शयन-प्रवृत्ति होती है और तत्तत् विक्षेपके निवृत्त होने पर वह-वह प्रवृत्ति भी निवृत्त हो जाती है। अन्य शब्द स्पर्शादि विषयोंमें भी प्रवृत्ति केवल उसी समय होती है, जबकि तत्तत्

१, २ वेदान्तमें पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिकामें 'कारण' शीर्षकसे इनके लक्षण देखें।

विषयसम्बन्धी विक्षेप पहले हृदयमें उत्पन्न हो चुका होता है। और जब-जब तत्तत् विषयसम्बन्धी विक्षेप जिस किसी प्रकारसे हृदयसे निवृत्त हो चुका होता है, तब-तब उस-उस विषयसम्बन्धी प्रवृत्ति भी स्वतः ही निवृत्त हो जाती है। यद्यपि वे भोग्य विषय उत्तर कालमें सम्मुख विद्यमान भी हों, परन्तु विक्षेपका अभाव हो जानेपर वे प्रवृत्तिके हेतु नहीं रहते। इससे स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थ प्रवृत्तिमें कारण नहीं, किन्तु निमित्तमात्र ही हैं। जैसे क्षुधाकी निवृत्ति हो जानेपर चाहे अत्युत्तम भोजन भी सम्मुख विद्यमान हो, परन्तु वह प्रवृत्तिका हेतु नहीं रहता। लोकोपकार, लोकसेवा आदि धार्मिक प्रवृत्तियाँ भी केवल उसी कालमें उत्पन्न होती हैं, जब पहले लोकोपकार व लोक-सेवासम्बन्धी विक्षेप हृदयमें उत्पन्न हो चुका होता है और जब येन-केन-प्रकारेण यह विक्षेप हृदयसे निकल जाता है, तब यह प्रवृत्ति भी अपने-आप छूट जाती है। इसी प्रकार तत्त्व-विचारादि और तत्त्व-विचार के साधन निवृत्तिरूप कर्मोंमें प्रवृत्ति भी केवल तभी होती है, जबकि तत्त्वानुसंधानरूपी विक्षेप पहले हृदयमें उत्पन्न होता है, और इस विक्षेपके निवृत्त होनेपर यह निवृत्तिरूप प्रवृत्ति भी निवृत्त हो जाती है। इससे स्पष्ट हुआ कि कर्म-प्रवृत्तिका कारण एकमात्र हृदयस्थ विक्षेप ही है और विक्षेपसे छुटकारा पाना ही कर्मका फल है। सार्वभौम दृष्टिसे कर्म-प्रवृत्तिका और कोई हेतु व फल नहीं हो सकता, सब कर्म-प्रवृत्तियोंमें यही हेतु और यही फल मिल सकता है, अन्य कोई नहीं। कर्म का फल किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति अथवा किसी अनिष्ट वस्तु की निवृत्ति कदापि नहीं हो सकता। यद्यपि वह इष्ट-प्राप्ति व अनिष्ट-निवृत्ति हृदयस्थ विक्षेप-निवृत्तिमें सहायक है, तथापि साक्षात् फल केवल विक्षेप-निवृत्ति ही है। इस रीतिसे यदि

विचारसे देखा जाय तो कर्मका फल केवल निवृत्ति ही है, प्रवृत्ति कदापि कर्मका फल नहीं हो सकती।

जिस प्रकार एक फोड़ा हमारे शरीरमें उत्पन्न हो गया है और उसमें पीप भर गई है, जिससे हम बेचैन हो रहे हैं। उसमेंसे डाक्टरने ओपरेशन करके पीप निकाल दी है, जिससे हमको शान्ति मिल गई है। इस शान्तिकी प्राप्तिमें मुख्य हेतु पीपकी निवृत्ति ही है। डाक्टर व छुरी आदि साधन पीप-निवृत्ति में सहायक होनेसे गौण हेतु हैं, मुख्य नहीं। क्योंकि यदि पीप किसी प्रकार अपने-आप निकल जाय तो डाक्टरके बिना भी शान्ति मिल सकती है और यदि डाक्टरकी विद्यमानतामें भी पीप न निकले तो शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिये शान्ति की प्राप्तिमें मुख्य हेतु पीपकी निवृत्ति ही है। ठीक इसी प्रकार इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति भी हमको शान्ति प्रदान करनेमें गौण हेतु हैं, मुख्य हेतु तो एकमात्र विक्षेप-निवृत्ति ही है। क्योंकि यदि विचार-वैराग्यादि साधनोंद्वारा विक्षेप-निवृत्ति कर ली जाय तो इष्ट-प्राप्ति व अनिष्ट-निवृत्तिके बिना भी शान्ति प्राप्त की जा सकती है। यही अवस्था लोकोपकारादि साधनों में है, लोकोपकार व लोकसेवादि साधनोंमें प्रवृत्त होकर भी हम वास्तवमें अपना ही उपकार करते हैं। क्योंकि इस प्रवृत्तिका मुख्य फल तो यही है कि इस निमित्तको लेकर हमारे हृदयमें जो वेदना उत्पन्न हो रही थी, ये लोकोपकारादि अपनी सिद्धिद्वारा इस वेदनाकी निवृत्ति कराके हमको शान्ति प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार लोकोपकारादि तो इस वेदना निवृत्तिमें सहायक होनेसे गौण हेतु हैं, मुख्य हेतु तो वेदना-निवृत्ति ही है। यथार्थ तो यों है कि लोकसेवादि करके हम लोकपर उपकार नहीं कर रहे हैं, बल्कि लोकका हमारे ऊपर उपकार है।

क्योंकि यदि हमको इस सेवाका सौभाग्य प्राप्त न होता तो जो वेदना हमारे अन्दर हमको बेचैन कर रही थी, वह निवृत्त न होती और हमारे लिये कष्टरूप ही रहती। इसलिये हमको तो सर्वथा उनका आभारी होना है कि उन्होंने अपनी सेवाका सौभाग्य प्रदान करके हमको हमारे कष्टसे छुटकारा दिलाया है।

गाथा है कि अमेरिकाका प्रेसिडेण्ट अब्राहमलिंकन बड़ा ही पवित्र चित्त था। एक दिन जबकि उसको अपनी कौन्सिलमें अपने आसनको ग्रहण करनेके लिये जाना था, उससे पहले वह वायुसेवन करनेके लिए जंगलमें निकल पड़ा। उसने विचार किया था कि वायुसेवन करके सीधे ही अपनी कौन्सिलमें सम्मिलित हो जाऊँगे। परन्तु जंगलमें उसने एक पशुको कीचड़में धसा हुआ देखा, जिसके कष्टसे वह बुरी तरह चिल्ला रहा था। उसके कष्टको देखकर प्रेसिडैण्ट महोदयके चित्तमें तीव्र वेदना उत्पन्न हुई, जिससे प्रभावित हो वह उसी पोशाकसे कीचड़में घुस गया और ज्यों-त्यों करके बड़े कष्टसे उस पशुको बाहर निकाला। चूँकि इस कार्यमें उसको बहुत विलम्ब हो गया था, इसलिये प्रेसिडैण्ट महोदय अपने स्थानपर लौटकर अपने वस्त्र न बदल सके और उन्हीं वस्त्रोंसे सीधे अपने दरबारमें आये। सभासद् चिरकालसे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, इसलिये देरीके कारण और ऐसे कीचड़से सने हुए वस्त्रोंमें प्रेसिडैण्ट महोदयको देखकर वे चकित हुए और उनसे इसका कारण पूछा। प्रेसिडैण्ट महोदयने सब समाचार ज्यों-के-त्यों सुना दिये, इस पर सभासद् बड़े प्रसन्न हुए और उनकी प्रशंसा करने लगे कि आप बड़े दयालु हैं और बहुत ही करुणामय हैं। प्रेसिडैण्ट ने उत्तर दिया, "चुप रहिये, मैंने किसीपर कोई उपकार नहीं किया, बल्कि जो कुछ भी किया केवल अपने ही दुःख-दर्दको

मिटानेके लिये किया था। इससे स्पष्ट है कि कर्मका फल केवल विक्षेप-निवृत्ति ही है।

यही नीति है, यही नियम है, वास्तवमें जो कोई किसीपर उपकार करता है अथवा किसीकी सेवा करता है, वह वस्तुतः अपने ऊपर ही उपकार करता है और अपनी ही सेवा करता है। परोपकार तो यथार्थमें अपने ऊपर अपना उपकार करनेके लिये एक ज़रिया है, साधन है। जैसे दीवारपर फेंककर मारा हुआ गेंद, लौटकर फेंकनेवालेकी ओर ही आता है, दीवार तो गेंदको अपनी ओर लौटानेके लिये साधनमात्र है, दीवारकी सहायताके बिना हम गेंदको अपनी ओर नहीं लौटा सकते। ठीक इसी प्रकार परोपकार भी उस उपकारको अपनी ओर लौटानेके लिये दीवारकी भाँति साधनमात्र है। इस रीतिसे प्रत्येक चेष्टा का मुख्य फल आत्म-कल्याण ही होता है। जिस प्रकार दूधको अग्निमें तपानेसे इसमें भाप उत्पन्न होती है और वह भाप दूध में क्षोभ अर्थात् उफान उत्पन्न करती है। यदि उसमें थोड़ा पानी छोड़ा जाय तो भापके निकल जानेसे वह फिर नीचे बैठ जाता है, परन्तु जबतक अग्निका उससे सम्बन्ध है वह फिर भाप उत्पन्न करेगी, जबतक कि वह दूध खोया न बन जाय। इसी प्रकार अज्ञानरूपी अग्निके कारण इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट निवृत्तिके निमित्तको लेकर हृदयमें इच्छारूपी भाप उत्पन्न होती है, जोकि हृदयमें क्षोभ अर्थात् उफान उत्पन्न करती है। इस क्षोभका नाम ही विक्षेप है और यही कर्म-प्रवृत्तिका मुख्य हेतु है। जब तक वह इच्छारूपी भाप हृदयमें खड़ी रहती है, विक्षेपकी निवृत्ति नहीं होने पाती, परन्तु जिस कालमें वह हृदयसे निकल जाती है, तब वह विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है। कहना चाहिये कि इच्छा ही विक्षेप है। इच्छाकी निवृत्ति या तो (१) इच्छा-

पूर्तिद्वारा होती है (२) अथवा जब जीव कर्म करते-करते थकित हो जाता है और इच्छित कामनासे सब प्रकार नैराश्य हो जाता है, तब भी इच्छा निवृत्त होकर विक्षेपको निवृत्त कर देती है। (३) अथवा विचार, वैराग्य व ज्ञानद्वारा इच्छाकी निवृत्ति होकर विक्षेप-निवृत्ति होती है। उक्त तीन ही प्रकार से इच्छा व विक्षेपसे छुटकारा सम्भव है। पूर्व दो प्रकारसे इच्छारूपी भाप हृदयसे निकली हुई यद्यपि क्षणिक विक्षेपको दूर तो करती है, परन्तु अज्ञानरूप अग्निके संयोग करके उत्तर कालमें ही अन्य रूपसे इच्छा व विक्षेपका पुनरुत्थान होता है। जैसे दूधमें थोड़ा पानी छोड़नेसे उफान थोड़ी देरके लिये दब जाता है, परन्तु उत्तर कालमें ही अग्निके संयोग करके अन्य उफानकी उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत तृतीय प्रकारसे निवृत्त हुए इच्छा व विक्षेप स्थिर शान्तिको प्रदान करते हैं। निष्कर्ष यह कि कर्मका फल केवल विक्षेप-निवृत्ति ही है, वास्तव प्राप्तव्य वस्तुकी प्राप्ति कर्मका फल कदापि नहीं।

विक्षेपकी मुख्य-मुख्य श्रेणियाँ और कर्ताके भेद।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हुआ कि कर्म-प्रवर्तक सभी साधनोंका फल केवल हृदयस्थ विक्षेप-निवृत्ति ही है, अन्य कुछ नहीं। सो विक्षेप यद्यपि असंख्य प्रकारका होता है, तथापि उसको मुख्यतया निम्न लिखित श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है।

(१) प्रथम श्रेणीमें वे पुरुष हैं, जो 'पामर' कहे जा सकते हैं। जो पुरुष सब शास्त्र तथा लोक-मर्यादाओंको नमस्कार करके मनमाने अनर्गल भोगोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं और जो अपने स्वार्थके लिये दूसरोंके स्वार्थोंको भी कुचल डालते हैं, वे 'पामर' कहे जाते हैं। उनके हृदयोंमें जो विक्षेप है, उसको 'गाढ़ तमोगुणी

विक्षेप' कहा जा सकता है। ऐसे ही पुरुष 'निषिद्ध सकामी' भी कहे जा सकते हैं। येन-केन-प्रकारेण अपने स्वार्थोंको सिद्ध कर लेना और विषयोंकी प्रज्वलित अग्निमें अपने तन मन-धनकी आहुति देते रहना, यही उन्होंने अपना कर्तव्य बनाया है और वे इस कर्तव्य-पूर्तिद्वारा ही अपने हृदयस्थ विक्षेपसे छुटकारा पानेमें लगे हुए हैं।

(२) दूसरी श्रेणीमें व पुरुष आते हैं, जो 'विषयी' कहे जा सकते हैं। ये शास्त्रकी मर्यादा में रहकर ही विषयोंका भोग करते हैं। यद्यपि ये भी अपने स्वार्थपरायण तो हैं, तथापि अपने सजातियोंके स्वार्थोंपर भी दृष्टि रखते हैं, अर्थात् उनके स्वार्थोंको कुचलकर ही स्व-स्वार्थपरायण नहीं हैं। उन्होंने अपने जीवनका यही लक्ष्य बनाया है और इसी कर्तव्यकी पूर्तिमें तत्पर हुए वे अपने विक्षेपको निवृत्त करनेमें लगे हुए हैं। ऐसे पुरुषोंको 'शुभ सकामी' कहा जाता है। ऐसे पुरुषोंके हृदयोंमें जो विक्षेप है, उसको 'क्षीण तमोगुणी विक्षेप' कहा जा सकता है। क्योंकि जहाँ स्वार्थ है वहाँ तमोगुण तो अवश्य है ही।

यदि जीवको अपना कल्याण अभीप्सित हो तो प्रकृतिका यह नियम है कि वह माताके समान करुणामयी होकर जीवको नीची श्रेणीसे उठाकर ऊँची श्रेणीमें पहुँचानेमें सदैव सहायता देती है। जैसे बीज पृथ्वीमें आरोपण किया हुआ, कोमल भूमि व जलके संयोग करके प्रकृतिद्वारा विकासको प्राप्त होता है और क्रम-क्रमसे कोंपल, टहनी, तने, डाल, पात व फूलके रूपमें विकसित हुआ फल के रूपमें परिपक्व हो जाता है।

(३) तीसरी श्रेणीमें वे पुरुष हैं, जो 'निष्काम-कर्मी' कहे जाते हैं। अर्थात् यद्यपि उनमें स्व-स्वार्थरूपी तमोगुण तो अब नहीं रहा है, तथापि कर्म-प्रवृत्तिरूप रजोगुण अभी भरा हुआ

है, 'प्रवृत्तिका आरम्भ और कर्ममें शमन न होनेवाली स्पृहा' का नाम ही रजोगुण है (१४।१२)। यद्यपि यह रजोगुण तुच्छ स्वार्थसे मिला हुआ तो नहीं है, तथापि प्राकृतिक विकासके नीचे विकसित हुआ निष्काम-प्रवृत्तिका हेतु बन रहा है। यद्यपि यह रजोगुण अपने सम्बन्धसे स्टीमकी भाँति शरीर, मन व इन्द्रियोंको निश्चल तो नहीं रहने देता, तथापि इसका वेग तुच्छ स्वार्थको त्यागकर निष्काम-भावसे परोपकारके रूपमें निकल रहा है और इस भावनाको लिये हुए है। (१) 'मैं कर्मका कर्ता हूँ, (२) अपने कर्मोंद्वारा लोक-कल्याणमें प्रवृत्त होना ईश्वरकी ओर से मुझपर कर्तव्य है, (३) इसलिये मैं उसकी आज्ञापालनरूपमें कर्मफल ईश्वरार्पण करके कर्ममें प्रवृत्त होता हूँ।' इस विक्षेप का नाम 'रजोगुणी-विक्षेप' कहा जा सकता है। रजोगुणका लक्षण प्रवृत्ति है और तमोगुणका लक्षण स्वार्थरूप जड़ता है। इस जिज्ञासुमें प्रवृत्ति तो है परन्तु स्वार्थरूप जड़ता नहीं है, अतः यह प्रवृत्ति केवल रजोगुणी है। इस कर्तव्यकी पूर्तिद्वारा वह अपने इसी हृदयस्थ विक्षेपके वेगको निवृत्त कर रहा है और साथ ही जैसा गीता (१८।४६) में कथन किया गया है, वह अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा कर रहा है जो कि भक्तिका पूर्वाङ्ग है। अब इसके विक्षेपकी निवृत्ति न शुभ-सकाम कर्मोंद्वारा ही हो सकती है और न कर्मत्यागसे ही, केवल यह निष्काम-प्रवृत्ति ही अब इसके इस विक्षेप-निवृत्तिका साधन है।

(४) चतुर्थ श्रेणीमें वे पुरुष आते हैं, जो 'निष्काम-भक्त' कहे जाते हैं और निष्काम-कर्मोंद्वारा जिनके हृदयोंमें भगवान्‌की सगुण भक्तिका स्रोत खुला है। जिन भगवान्‌को तृतीय श्रेणीमें कर्म व कर्मफल समर्पण किये जा रहे थे, अब उनकी प्रीति हृदयमें भरी गई, उनके दर्शनोंकी लालसा बढ़ी और

नवधा भक्तिके सम्यक् आचरणसे अब अपना जीवन ही उनको अर्पण किया जाने लगा। जैसा कि गीता (१०।९) में निरूपण किया गया है—'जिनके चित्त व प्राण मुझमें ही हैं, जो परस्पर बोधन व कथन करते हुए मेरेमें ही सन्तुष्ट हो रहे हैं और मुझमें ही रमण कर रहे हैं' इत्यादि वचन अब सफल होने लगे। ऐसे पुरुषोंका संसारभाव प्रायः गलित होता जाता है, वे सब संसारको अपने इष्टदेवकी छविरूपमें ही निहारने लगते हैं और उनका हृदय केवल अपने इष्टदेवके प्रेमसे ही परिपूर्ण हो जाता है। लोक-कल्याण व परोपकारादिकी भावना अब उनके हृदयोंसे निकल जाती है, जो तीसरी श्रेणीके निष्काम-कर्मीकी अवस्थामें उनमें विद्यमान थी। क्योंकि सत्य प्रेम जो उनके हृदयोंमें उमड़ा और उससे कलेजेको शान्ति मिलने लगी, तो वह गुण दोषदृष्टिको बहा ले गया। गुण-दोषदृष्टि तबतक ही थी, जबतक यह सत्य प्रेम फूट नहीं निकला था। जब यह फूट पड़ा तो इसने तत्काल गुण-दोषदृष्टिपर परदा डाल दिया और सभी गुण-दोष उस मुरली-मनोहरकी चुटकियाँ दीख पड़ने लगे। इस प्रकार जब गुण-दोषदृष्टि ही न रही, तब लोक-कल्याण व परोपकार कैसा? ये सब झंझटें तो उसी समयतक थीं, जबतक हृदय सत्य प्रेमसे शुष्क हो रहा था और भेद-दृष्टि दृढ हो रही थी। भेद-दृष्टिकी दृढता करके ही भले-बुरेकी भावना बन रही थी और यह पवित्र दृष्टि भी बन रही थी कि संसारमेंसे बुराईको निकाला जाय तथा भलाईको सम्पादन किया जाय। इन सब झंझटोंके मूलमें एकमात्र कारण था तो यही कि हृदय सत्य प्रेमकी हरयावलसे शून्य बयावान हो रहा था। क्योंकि सिद्धान्त यही है कि वस्तुतः भलाई-बुराई संसारमें नहीं हुआ करती, किन्तु केवल अपनी दृष्टिमें

ही होती है और जैसी अपनी दृष्टि होती है वैसा ही संसार दृष्ट आता है। इस प्रकार जब सत्य प्रेमकी वर्षा इस प्रेमीके हृदयमें होने लगी तो गुण-दोषरूपी कल्लर बह गया। इस प्रकार गुण-दोषके अभावसे जब प्रेमकी बाढ़ आई और प्रेमरूपी जल हृदयमें न समा सका, बल्कि नेत्रोंके द्वारसे बह निकला, तब ऐसी अवस्थामें परोपकारादिको अवकाश कहाँ? यही निष्काम-कर्म व भक्तिमें अन्तर है। इस रीतिसे इस प्रेमीके हृदयमेंसे यद्यपि परोपकारादिका कर्तव्य व विक्षेप तो अब निवृत्त हो चुका है, तथापि भगवद्-दर्शनरूप विक्षेपने अब उस स्थानको निरोध कर लिया है। इस विक्षेपको 'रजसत्त्व-गुणी विक्षेप' कहा जा सकता है। अब यह भगवान्‌के सगुण लीला-विग्रहादि के स्मरण, कीर्तन. अर्चन व ध्यानादिद्वारा ही इस विक्षेपकी निवृत्तिमें तत्पर है, निष्काम-कर्म-प्रवृत्ति अब इसके इस विक्षेप को निवृत्त करनेमें समर्थ नहीं है। 'मैं कर्ता हूँ और मुझपर अमुक कर्तव्य है' अब यह भावना निकलकर 'सर्व कर्ता भगवान् ही हैं, मैं कुछ नहीं करता, मैं तो केवल कठपुतलीके समान नाचनेवाला निमित्तमात्र ही हूँ,' इस रूपसे इसमें भावना जाग्रत् हो आई है। इस प्रकार इस पवित्र भावनाकी दृढता करके इसकी कर्तापनकी भावना शिथिल हो रही है और कर्तापनके शिथिल होनेसे 'कर्तव्य' भी, जो निष्काम-प्रवृत्तिमें दृढ हो रहा था, शिथिल पड़ रहा है।

(५) पाँचवीं श्रेणीमें वे पुरुष आते हैं जो वैराग्यवान् जिज्ञासु हैं। चतुर्थ श्रेणीमें भगवान्‌की भक्तिद्वारा इसके हृदय में जो शान्तिका उद्‌बोध हुआ, सांसारिक चंचल भोग्य विषयों के सम्बन्ध बिना ही जो निर्विषयक सुखकी प्राप्ति होने लगी और उस शान्ति करके जो सत्त्वगुणका विकास हुआ तो विवेक-

रूपी राजाका हृदयमें सिंहासन जम गया और उस सारासार-विवेकने संसारकी असत्यता व नश्वरताका फोटो भली-भाँति नेत्रोंमें जमा दिया। इस प्रकार इस विवेकरूपी नृपकी दुन्दुभि बजी तो सांसारिक राग हृदयसे इसी प्रकार लुप्त हो गया, जैसे प्रकाशके उदय होनेपर उलूक-पक्षी अपने-आप लुप्त जाते हैं। अत रागाभावरूप वैराग्यने हृदयरूपी किलेको चहुँ ओरसे घेर लिया, अब इसको सारा संसार अग्नि काडके तुल्य जलता हुआ दीखने लगा, किसी भी पदार्थमें सत्यता व सुन्दरता-दृष्टि नहीं रही और संसारके अवधिरूप भोग भी अब इसको सुखशून्य दृष्ट आने लगे (२।८)।

'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।'

अर्थात् 'वारम्वार जनमना, वारम्वार मरना और वारम्वार माताके गर्भमें शयन करना' इस रूपसे अब यह वारम्वार आवा-गमनरूपी विषूचिका-रोगसे भारी रोगी हुआ है। जिस भगवान्‌की भक्तिद्वारा इसके हृदयमें शान्तिका उद्बोध हुआ था, उस शान्तिकी चटकने अब इसके हृदयमें अग्नि प्रज्वलित कर दी। और तीव्रतर जिज्ञासा हुई कि यह शान्ति अखण्ड बनी रहे तथा जिस शान्तस्वरूप भगवान्‌की सन्निकटतासे यह शान्ति मिली है, उसके वास्तव स्वरूपको ही प्राप्त किया जाय जिससे दुःखों का अत्यन्ताभाव हो। इस प्रकार विवेक, वैराग्य और जिज्ञासा के तीव्र होनेपर शमादि-षट्-सम्पत्ति अनायास सिद्ध हो जाती हैं और मन-इन्द्रियोंका विषयोंसे निरोध, श्रद्धा व उपरामतादि गुण स्वाभाविक ही संग्रह हो जाते हैं, ऐसा नियम है। जैसे चारपाईके एक पाँवको पकड़कर खैंचा जाय, तो शेष तीन पाद अपने-आप खिंचे चले आते हैं। अब इसके हृदयमें एकमात्र

विक्षेप यही है कि 'यह शान्ति कहाँसे आती है? इसका उद्गमस्थान कहाँ है? किसी तरह उसको प्राप्त किया जाय, अपना व परमात्माका स्वरूप जाना जाय और यह भी जाना जाय कि यह संसार क्यों हुआ? किसने इसकी रचना की? और कैसे यह रचना हुई?' क्योंकि इस विक्षेपके मूलमें एकमात्र सत्य की खोज है, इसलिये इसको केवल 'सत्त्वगुणी-विक्षेप' कहा जा सकता है। अब इस विक्षेपकी निवृत्ति न निष्काम-प्रवृत्तिसे ही सम्भव है, न सगुण परमात्माके स्मरण-ध्यानादिके द्वारा ही इससे छुटकारा हो सकता है। केवल सत्संग, सच्छास्त्र-श्रवण, मनन व निदिध्यासन ही इस विक्षेपकी निवृत्ति करानेमें समर्थ हो सकते हैं, अन्य कोई साधन नहीं हो सकता। अतः अब अन्य सब प्रवृत्तियोंको छोड़कर इन साधनोंमें प्रवृत्त होना ही इसने अपना एकमात्र लक्ष्य बनाया है।

(६) छठी श्रेणीमें वे महापुरुष आते हैं जो तत्त्ववेत्ता ज्ञानी कहे जाते हैं। पाँचवीं श्रेणीके कठिन साधनोंको साधकर जिन्होंने अपना व परमात्माका अभेद अपरोक्ष निश्चय कर लिया और अपने आत्माको अकर्ता, अभोक्ता, असंग, अज एवं अव्ययरूप निश्चय करके जिन्होंने साक्षीरूपसे सबमें सब रूप अपने आत्माको ही अपरोक्ष किया है। जिस प्रकार ईखमेंसे रस को ग्रहण करके छिलकेको निस्सार जान त्याग दिया जाता है, इसी प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मको आत्मरूपसे ग्रहण करके और उसमें भली-भाँति स्थित होकर जो मन, बुद्धि, देह, इन्द्रिय और पञ्च विषयात्मक दृश्य प्रपञ्चको निस्सार जान छिलकेके समान त्याग बैठे हैं और जीते-जी ही मुक्त (जीवन्मुक्त) हुए हैं। जो राग-द्वेष और ग्रहण-त्यागादि सम्पूर्ण कर्तव्योंसे छुटकारा पाकर बन्ध-मोक्षकी कल्पनासे भी मुक्त हो गये हैं और

शरीरादिद्वारा सब कुछ करते-से दीख पड़ते हुए भी वास्तवमें अकर्ता हैं तथा शरीरादिद्वारा भोग भोगते हुए-से और दुःख-सुख पाते-से दीखते हुए भी जो वास्तवमें अभोक्ता एवं दुःख-सुखादिसे निर्लेप रहते हैं। इस प्रकार प्रारब्ध-भोगपर्यन्त शरीरमें रहते हुए-से दिखलाई पड़ते हुए भी जो आकाशके समान असंग हैं। वस्तुतः ऐसे महापुरुष ही गुणातीत कहे जाते हैं। यद्यपि प्रारब्धके वेगसे आभासमात्र विक्षेप उनमें दृष्ट आते हैं, परन्तु इस ज्ञानकी प्रौढ़ता करके कि 'मैं असंग आत्मा हूँ और मन, इन्द्रिय व देहादि सकल प्रपञ्चका केवल द्रष्टा हूँ, न मैं कुछ करता हूँ, न मेरे स्वरूपमें कुछ बनता है, पञ्चभूतात्मक कोई विकार मेरे स्वरूपको स्पर्श नहीं कर सकता,' सर्व विक्षेपोंसे दूर रहते हैं। इस प्रकार सब कुछ करके भी कुछ नहीं करते और नहीं बँधते। इस अवस्थाकी प्राप्ति ही सब साधनोंका मुख्य फल है, इस अवस्थामें आरूढ होकर ही 'कर्ता' व कर्तव्यादि सब बन्धनोंसे यथार्थ मुक्ति होती है और इस ज्ञान करके ही सम्पूर्ण सञ्चित-क्रियमाणादि कर्म-संस्कार वस्तुतः दग्ध हो जाते हैं। यहाँ ही 'योग' व 'सांख्य'की एकता है, यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है, इसी अवस्थामें आरूढ होकर अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त होनेके लिये भगवान्‌का उपदेश है।

निष्कर्ष यह कि नीची श्रेणियोंमें जो हृदयस्थ विक्षेप है, वह यद्यपि जीवको कर्ममें इसी निमित्त प्रवृत्त करता है कि उस प्रवृत्तिद्वारा उसकी इच्छापूर्ति होकर विक्षेपसे छुटकारा मिल जाय। जिस प्रकार शरीरके किसी अंगमें खुजली उत्पन्न होती है तो हाथ उस स्थानपर इसी निमित्तसे पहुँचता है कि उस खुजलीको निकल जानेका अवकाश दे दिया जाय। परन्तु उन नीची श्रेणियोंका विक्षेप ऐसे प्रकारका है कि किसी एक

इच्छाकी पूर्ति करके यद्यपि वह क्षणभरके लिये निवृत्त हो जाता है, तथापि उत्तर कालमें ही वह अन्य रूपसे फिर विद्यमान हो जाता है, समूल निवृत्त नहीं हो पाता। जैसे जुगनूँका प्रकाश एक क्षणके लिये अन्धकारको निवृत्त करता है, परन्तु उत्तर कालमें ही अन्धकार फिर विद्यमान हो जाता है। अथवा जैसे मच्छरके दंशपर खुजलानेसे थोड़ा चैन पड़ता है, परन्तु वह उल्टा खुजलीको बढ़ा देता है। इसी प्रकार नीची श्रेणियों का विक्षेप अपने स्वरूपसे कदापि छुटकारा नहीं देता, बल्कि वृद्धिको ही प्राप्त करता है। इधर सभी भूत-प्राणियोंमें विक्षेपसे छुटकारा पानेकी तीव्र इच्छा स्वाभाविक ही भरपूर है, चाहे वह किसी श्रेणीका क्यों न हो। इस प्रकार सभी भूत-प्राणियोंकी सभी प्रवृत्तियोंका मुख्य हेतु एकमात्र यह विक्षेप-निवृत्ति ही है चाहे वे अपनी भूल करके विक्षेपसे छूटनेके स्थानपर उल्टा विक्षेपोंको बढ़ा लें, परन्तु इष्ट व अनिष्ट सभी प्रवृत्तियोंमें प्रत्येक प्राणी लक्ष्य यही बनाते हैं कि हम किसी प्रकार विक्षेपोंसे निवृत्त हों। प्रकृति-देवीने एक ओर तो विक्षेप-निवृत्तिकी तीव्र इच्छा जीवमें भरपूर कर दी है और उधर दूसरी ओर नीची श्रेणियों की प्रवृत्तियोंद्वारा एक ओरसे विक्षेपको निकालनेका मार्ग देती है तो दूसरी ओर अढीठके फोड़ेके समान उस विक्षेपको अन्य रूपसे भर देती है। इस प्रकार जब जीव अपनी श्रेणीके कर्म करते-करते थकित हो जाता है परन्तु विक्षेपोंसे छुटकारा नहीं देखता, तो वह थकान ही इस जीवको ऊँची श्रेणीमें उठा ले जानेका हेतु होती है। क्योंकि थकान यद्यपि कर्मोंसे है, परन्तु विक्षेप-निवृत्तिकी इच्छासे यह कदापि नहीं थकता, बल्कि यह इच्छा तो अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है कि किसी प्रकार हम विक्षेपसे छूटें, किसी प्रकार इससे मुक्त हों। यही प्रकृतिकी

सुहृदतापरायण नीति है, इसी प्रकार वह जीवको नीची श्रेणियोंसे रिझाकर क्रम-क्रमसे ऊँचा उठाती हुई जीवसे शिवरूपमें आरूढ करा देती है और तब अपने बन्धनसे भी मुक्त कर देती है। क्योंकि सब बन्धन व विक्षेप वस्तुतः इसीलिये थे कि इस साक्षी अवस्थामें आरूढ कराके सभी बन्धन और सभी विक्षेप समूल निवृत्त हो जाएँ।

पृष्ठ १२७ से १३६ तक निरूपण की गई विक्षेप-श्रेणियोंका संक्षिप्त ब्यौरा कोष्ठके रूपमें पृ० १३८ से १४३ पर देखिये

१	२	३	४
संख्या	नाम कर्ता	गुण	विक्षेपकी अवस्था
१	निषिद्ध-सकाम-कर्ता (पामर पुरुष)	गाढ़-तमो-गुण	मुझे भोगसम्बन्धी विषय-सुख चाहिये। शास्त्र-मर्यादाका मुझे कोई बन्धन नहीं । मेरा स्वार्थ सिद्ध होना चाहिये, चाहे सारे संसारकी हानि हो।
२	शुभ सकाम-कर्ता (विषयी पुरुष)	क्षीण-तमो-गुण	विषय-भोग तो मुझे चाहिये, परन्तु शास्त्र-मर्यादामें रहकर ही भोग मेरे लिये इष्ट है। मर्यादाशून्य व्यवहार पशुधर्म है। तथा अपने स्वार्थके लिये दूसरोंके स्वार्थोंको कुचलना भी नीच कर्म है। इसलिये मैं यहाँ शास्त्रमर्यादामें रहकर ही भोग करूँ और परलोकमें भी सुखी रहूँ।
३	निष्काम-कर्ता (निष्काम कर्म-जिज्ञासु)	रजो-गुण	विषय-भोग तुच्छ हैं, इनसे मुझे क्या ? इनमें मैं कोई सुख नहीं देखता। शरीरसम्बन्धी स्वार्थसाधन में भी मैं कोई स्थिर शान्ति नहीं पाता, जबकि यह शरीर ही नाशवान् है। इसलिये इस शरीरको

५	६
कर्तव्य-श्रेणी, अर्थात् किस भावसे कर्ममें प्रवृत्त हो रहा है ?	फल व गति
मैं कर्मका कर्ता हूँ और शुभ हो वा अशुभ, भोगप्रवृत्ति ही मेरा कर्तव्य है । पुण्य-पाप, सुख-दुःख भविष्यमें कोई नहीं, न कुछ कर्मका फल है और न ईश्वरादि कोई फल-प्रदाता ही हैं। (गीता १६। ८-१८में कहे हुए आसुरी संपद् के लक्षणोंवाले)	वर्तमानमें काम-क्रोधादि की अग्निमें तपते रहना और मरणोपरान्त कूकर-शूकरादि आसुरी योनियों की प्राप्ति। (गी.१६-१९)
मैं कर्मका कर्ता हूँ और शुभ फलकी कामना से कर्मोंमें प्रवृत्त होता हूँ । मैं शास्त्र-मर्यादित भोग भी भोगूँ और साथ ही पर-लोक भी बनाऊँ । संसार ईश्वररचित है, शुभाशुभ कर्मोंका फल पुण्य-पाप अवश्य होता है । इसलिये मैं यज्ञ-दानादि शुभ कर्मोंद्वारा पुण्योंका संग्रह करूँ और यशका भी भागी बनूँ । इस प्रकार लोक-परलोक उभय सुखों का सम्पादन करना मेरा कर्तव्य है ।	वर्तमान में ऐहलौकिक सुख और मरणोपरान्त दक्षिणायन-मार्गद्वारा मनुष्य-योनिकी प्राप्ति ।
मैं कर्मोंका कर्ता हूँ और परोपकार-परायण होना ईश्वरकी ओरसे मुझपर कर्तव्य है। इसलिये परोपकारपरायण रहकर मैं ईश्वरीय आज्ञाका पालन करता हूँ । कर्म करना मेरा कर्तव्य है सो मैं करूँ । फल मेरे अधिकारकी वस्तु नहीं है, बल्कि वह तो	अन्तःकरणकी शुद्धि, शुद्धान्तःकरणमें ईश्वरीय भक्तिका सञ्चार तथा शरीर त्यागकर योग-भ्रष्ट-गतिकी प्राप्ति, जैसा

१	२	३	४
संख्या	नाम कर्ता	गुण	विक्षेपकी अवस्था
			परोपकारके निमित्त लगाया जाय, इसीमें इस जन्मकी सार्थकता है । इसलिये मैं इसी निमित्त शरीरको व्यय करके ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त करूँ ।
४	निष्काम-प्रेमी-भक्त (प्रेम-जिज्ञासु)	रज - सत्त्व	यह सम्पूर्ण संसार भगवान्‌की ही छवि है । इन सब छवियोंमें वह छविला बिहारीजी ही अपना विहार कर रहा है और यह सब उसीकी लीला है । जबकि सब रूप उसीकी झाँकीमात्र हैं, तब किसीमें गुण-दृष्टि और किसीमें दोष-दृष्टि करना पाप है । परोपकारकी भावना गुण-दोष-दृष्टि करके ही होती । फर परोपकार भी किसका किया जाय, जब सब उसीकी लीला है । मुझे तो उसी छैल-छविलेका दर्शन मिले, जो इन सब रूपोंमें उतरकर हमारे मन को मोहित कर रहा है ।

५	६
कर्तव्य-श्रेणी, अर्थात् किस भावसे कर्ममें प्रवृत्त हो रहा है ?	फलव गति
ईश्वरके अधिकारकी वस्तु है। इसलिये मैं अपना कर्तव्य पालन करूँ, फलसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं। फलकी सिद्धि-असिद्धिमें मैं सम रहूँगा और अपने कर्मोंद्वारा ईश्वरकी सेवा करूँगा।	गीता (६।४०-४१) में वर्णन किया गया है।
सर्व कर्ता भगवान् ही हैं, वही हमारे देहेन्द्रियमनबुद्धिमें प्रवेश करके इन सबको कठपुतलीके समान नचा रहा है। मैं स्वयं कुछ नहीं करता, केवल उस सूत्रधारीद्वारा नचाया हुआ कठपुतलीके समान नाचकर उसको रिझाना और प्रसन्न करना, यही एकमात्र मेरा कर्तव्य है। (यद्यपि इसमें कर्तापन है, परन्तु अपनी पवित्र भावनाद्वारा अपने कर्तापनको भगवान्‌के साथ जोड़ रहा है।)	वर्तमानमें हृदयकी शीतलता, अहंकर्ता-भाव का शिथिल हो जाना और सांसारिक विषयोंमें से सुख-बुद्धिका खिसक जाना। तथा मरणोपरान्त— (१) यदि जिज्ञासु उपासके अहंग्रह-ध्यान-द्वारा उपास्यरूपसे उपासनामें प्रवृत्त हुआ है, तब क्रमोपास्ति होनेपर उपास्य-लोककी प्राप्ति। (२) अन्यथा वैराग्य-वानोंके कुलमें योगभ्रष्ट होकर जन्म। (गी. ६।४२)

संख्या	नाम कर्ता	गुण	विक्षेपकी अवस्था
५	वैराग्यवान्-जिज्ञासु (तत्त्व-जिज्ञासु)	केवल सत्त्व	जिस भगवान्‌की प्रेमा-भक्तिद्वारा मुझे शीतलता प्राप्त हुई है, ऐसी ही शान्ति मुझे अखण्ड चाहिये । इस शान्तिकी अपेक्षा यह संसार तुच्छ है, यह तो अग्निकी भाँति दुःखोंसे तपा हुआ है । इसलिये इससे छूटकर मैं उस वास्तविक शान्तिको प्राप्त होऊँ और उसके वास्तविक स्वरूपको जानूँ तथा अपने व संसारके स्वरूपको भी जानूँ इस प्रकार दुःखरूप आवागमनसे छूटकर मैं कैवल्य विदेह-मोक्ष प्राप्त करूँ ।
६	तत्त्वज्ञानी	गुणातीत	शरीरकी स्थितिपर्यन्त प्रारब्ध-वेगसे विक्षेपाभास ।

कर्तव्य-श्रेणी, अर्थात् किस भावसे कर्ममें प्रवृत्त हो रहा है?	फल व गति
यह संसार अनन्त कालसे चला आता है, भगवान्‌के अनन्त अवतार भी हुए, परन्तु इस संसारका सुधार तो अभीतक कुछ भी न हुआ। बल्कि कुत्तेकी पूँछके समान यह तो टेढ़ा ही रहा। इसलिये इस संसारमें मुझे अपना आत्म-कल्याण ही कर्तव्य है, मेरे आत्म-कल्याणपर ही लोक-कल्याण निर्भर है। इस प्रकार बाह्य दृष्टिको त्यागकर मैं अन्तर्मुख होऊँ। इस रीतिसे अहंकर्ता-भावका अधिक गलित हो जाना।	वर्तमानमें परदोष-दर्शनसे सर्वथा मुक्ति, राग-द्वेष एवं काम-क्रोधादि का दब जाना और शान्ति की विशेष अभिव्यक्ति। तथा मरणोपरान्त— (१) यदि जिज्ञासु मन्द बुद्धिके कारण ॐकारकी ब्रह्मरूपसे उपासना करने में प्रवृत्त हुआ है तो ब्रह्म-लोककी प्राप्ति।(८।८-१३) (२) यदि तत्त्वचिन्तन-द्वारा तत्त्वसाक्षात्कारमें त्रुटि रह गई है तो उत्तम योगियों के कुलमें जन्म और जन्मा-न्तरमें मोक्ष (६।४२-४५)
न मैं कुछ कर्ता हूँ और न भोक्ता ही हूँ, किन्तु मैं तो देहादिसे सर्वथा असंग-निर्लेप हूँ। ये देहादि भले ही अपने भोगोंको भोगें, मुझे क्या? मैं तो सुख-दुःखादिका केवल द्रष्टा-साक्षी हूँ, मेरेमें कदाचित् कोई दुःख-सुख नहीं। मैं तो निर्विशेष आत्मा हूँ। (अपने साक्षीस्वरूपमें वास्तविक अभेद होकर अहं-कर्तृत्वका सर्वथा त्याग)	जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखकी प्राप्ति और प्रारब्धक्षयके अनन्तर विदेह-मोक्ष।

उपसंहार

उपर्युक्त विक्षेप-श्रेणियोंकी विवेचना और तत्सम्बन्धी कोष्ठसे विदित होगा कि कर्म-प्रवृत्ति का फल केवल इतना ही है कि यह प्रकृतिके तमोगुणी व रजोगुणी वेगको, जो जीवके हृदयमें भरपूर है और उसे संसारकी ओर ले जा रहा है तथा परमार्थमें प्रतिबन्धक है, शुभ मार्गसे निकालकर हृदयमें सत्त्वगुण भर दे। क्योंकि तमोगुण व रजोगुणके नीचे ही सत्त्वगुण दबा हुआ है, इनके दूर हुए बिना उसका उद्बोध हो नहीं सकता। इस प्रकार सत्त्वगुणके उदय हो जानेपर कर्म निष्फल हो जाता है और तब जीवमें ज्ञान का प्रकाश होता है, क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशरूप ही है। इसके विपरीत तमोगुण अंधकाररूप और रजोगुण चञ्चलरूप है, यथा—

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ (१४।१७)

अर्थ—सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणसे लोभरूप चञ्चलता तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान (अन्धकार) उत्पन्न होता है।

अतः निष्काम-कर्मप्रवृत्तिका मुख्य उद्देश्य यही है कि इसके द्वारा रजोगुणका प्रवाह जो संसारकी ओर चल रहा है, उसको उधरसे मोड़कर ईश्वरके साथ जोड़ दिया जाय। भगवान्‌के प्रति जुड़ा हुआ रजोगुणी वेग घटता हुआ स्वयं सत्त्वगुणमें बदल जायगा, क्योंकि इसके साथ त्याग, अर्थात् फल-त्यागका सम्बन्ध हो गया है। त्यागसे स्वाभाविक सत्त्वगुणका उद्बोध होता है और सत्त्वगुणसे त्यागकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार फल-त्यागके साथ साथ सत्त्वगुणके अधिक विकास होनेपर ज्ञानद्वारा कर्तृत्व व कर्तव्यका त्याग भी सम्भव हो सकता है। जिस प्रकार शास्त्रने जीवहिंसाके वेगको रोकनेके लिये, उस हिंसाका सम्बन्ध यज्ञके

साथ जोड़ दिया है कि यदि हिंसा ही इष्ट हो तो यज्ञद्वारा ही की जाय। इसी प्रकार रजोगुणरूप कर्मके वेगको रोकनेके लिये फल-त्यागके साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा गया, जिससे सत्त्वगुणका विकास होकर रजोगुणी कर्मोंसे ही छुट्टी मिल जाय। इससे स्पष्ट है कि कर्मका फल केवल इतना ही है कि वह तम-रजको निकालकर सत्त्वगुणका विकास कर दे। सत्त्वगुणके विकास होनेपर कर्म निष्फल हो जाता है, तब तो केवल ज्ञानद्वारा ही परमात्माको पाया जा सकता है, जो कि कर्मके द्वारा असम्भव है। क्योंकि कर्मके द्वारा जो कुछ भी बनाया जाता है वह अवश्य नाशवान् होता है, अविनाशी वस्तु कर्मका विषय नहीं हो सकती। इसीलिये कहा गया है—

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते'।

अर्थात् कर्मसे जीव बन्धनमें आता है और ज्ञानसे मुक्त होता है। कर्मके द्वारा तो परमात्माकी प्राप्ति उसी कालमें सम्भव हो सकती थी, जबकि परमात्मा सर्वव्यापी न होता और हमसे पृथक् किसी दूर देशमें स्थित होता। परन्तु जबकि वह सर्वव्यापी है और इस प्रकार हमारे अन्दर ही है, तब उसको कर्मसे कैसे प्राप्त किया जाय? ऐसी अवस्थामें तो केवल अज्ञानरूप अन्धकारको ही दूर करनेकी आवश्यकता है और वह प्रकाशसे ही दूर हो सकता है, कर्मसे कदापि नहीं। हाँ, अन्धकारको दूर करनेके लिये तेल, बत्ती व दियासलाईके संग्रह करनेमें तो कर्मकी उपयोगिता है, परन्तु अन्धकारकी निवृत्ति तो फिर प्रकाशसे ही होगी। इसी प्रकार ज्ञानके लिये सामग्री संग्रह करनेमें तो यद्यपि कर्मकी उपयोगिता होती है, परन्तु तद्-नन्तर उसकी अनुपयोगिता ही हो जाती है। अतः रजोगुणकी निवृत्तिद्वारा सत्त्वगुणके विकासमें तो निष्काम-कर्म उपयोगी होता है, परन्तु सत्त्वगुणके भली-भाँति विकसित हो जानेपर उसकी

अनुपयोगिता ही रह जाती है। इस प्रकार सत्वगुणके विकास होनेपर ज्ञानद्वारा जब आत्मस्वरूपस्थिति प्राप्त हो गई, तब ऐसे महापुरुषके शरीरद्वारा स्वाभाविक जो कुछ चेष्टाएँ होती हैं वे सब आभासमात्र ही कर्म होते हैं, क्योंकि वे किसी कर्ता व कर्तव्य-बुद्धि से नहीं किये जाते और न किन्हीं गुणोंका उन कर्मोंसे सम्बन्ध रहता है। जब कि वह स्वयं गुणातीत पदको प्राप्त हो चुका है, फिर किसी गुणका उसके साथ क्या सम्बन्ध? बल्कि तब तो वह कर्म करता-सा दीखता हुआ भी वास्तवमें अकर्ता ही है, 'सर्वारम्भ-परित्यागी' है और यथार्थ निष्कामी है। क्योंकि शरीरादिसे निकलकर अब उसने अपने आत्मस्वरूपमें स्थिति पा ली है और वहाँ सह अपनेमें कर्मका कोई लेप नहीं देखता, इसलिये शरीरादिद्वारा करता हुआ भी अकर्ता है (३।२८, १४।२३-२५)। इस प्रकार ऐसे महापुरुषके शरीरद्वारा स्वाभाविक जो कुछ भी चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं, वे किसी फलका हेतु न होनेसे अकर्म ही रहती हैं और केवल कर्माभास ही सिद्ध होती हैं। इस लिये ऐसे पुरुषपर लोकसंग्रहादिकी कोई विधि नहीं रहती, क्योंकि तब तो उसकी दृष्टिमें सारा संसार स्वप्नवत् हो जाता है। तथापि स्वाभाविक ही जो चेष्टाएँ इसके शरीरसे प्रकट होती हैं, वे स्वत ही आदर्शरूप ठोस लोकसंग्रहको सिद्ध कर देती हैं, जोकि नीची कोटिके पुरुषोंद्वारा कर्तव्य-बुद्धिसे जन्मान्तरमें भी पूरा नहीं हो सकता। इस अवस्थामें आरूढ करानेवाली स्वाभाविक कर्म-प्रवृत्ति ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। कर्तव्यादिके बन्धनमें बँधकर कर्ममें प्रवृत्त होना गीताका प्रतिपाद्य विषय कदापि नहीं हो सकता और इस रीतिसे किये गये कर्म निर्दोष ही हो सकते हैं। क्योंकि बँधा हुआ बँधे हुएको छुड़ा नहीं सकता, बल्कि खुला हुआ ही बँधे हुएको खोल सकता है।

गीता-दृष्टिसे योगका तात्पर्य

द्वितीयोऽध्यायकी समालोचना ।

गीताके अध्यायों और श्लोकोंकी परस्पर सङ्गति कैसे है ? यह विषय तो आगे चलकर गीताके टीकार्थ व भावार्थसे स्पष्ट होगा। अब हमें यहाँ केवल इतना देखना है कि गीता 'योग' शब्दका क्या भावार्थ निकालती है ? और आधुनिक टीकाकारोंने 'कर्मयोग' का जो तात्पर्य निकाला है, उनके अपने विचाररूपी कसौटीपर यदि गीताके उन श्लोकोंको, जिनमें 'कर्मयोग', 'बुद्धि-योग', 'योग' और 'योगयुक्त' इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, कसा जाय तो वे श्लोक उनके विचाररूपी कसौटीपर कहाँतक खरे उतरते हैं। अर्थात् आधुनिक टीकाकारोंके दृष्टिबिन्दुसे यदि उक्त श्लोकोंको ग्रहण किया जाय तो उन श्लोकोंके शब्द व अर्थकी संगति लगती है या नहीं ? आगे चलनेसे पहले यह बात अवश्य ध्यानमें रखनेयोग्य है कि गीतामें जितना कुछ भी कथन किया गया है वह सब यथार्थ वचन है और अर्थवादका उनमें लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, बल्कि अर्थवादको तो गीताने निन्दित ठहराया है (२।४०-४४)। इसलिये उक्त श्लोकोंको उनके विचाररूपी कसौटीपर आँच करते समय हमारे लिये केवल यथार्थ वचन ही ग्रहण करनेयोग्य होगा। अर्थवाद तो उसी स्थलपर ग्रहण करनेयोग्य होता है, जहाँ यथार्थ वचनकी संगति न लगती हो। यथार्थ वचनकी संगतिका परित्याग करके अर्थवादको ग्रहण करना तो ऐसा ही है, जैसे कोई माता गोदीके पुत्रको त्यागकर पेटके पुत्रकी आशा करे—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ (२।३९)

अर्थ—यह बुद्धि तो तेरे लिये 'सांख्य' के विषयमें कही गई और अब इसको 'योग' के विषयमें सुन। हे पार्थ ! जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको भली-भाँति काट डालेगा।

आशय यह कि जो सांख्य ज्ञान पीछे तुझे कहा गया है कि—'तेरा, मेरा और इन राजाओंका आत्मा पहले भी थी और आगे भी रहेगी, शरीरोंके नाश होनेपर इसका नाश नहीं होता। जिस प्रकार 'मैं कुमार हूँ, युवा हूँ व वृद्ध हूँ' इत्यादि स्थूल शरीरकी अवस्थाएँ अज्ञानसे आत्मामें कल्पना की जाती हैं, इसी प्रकार 'मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ' इत्यादि सूक्ष्म शरीरकी अवस्थाएँ भी आत्मामें कल्पना की जाती हैं, वास्तवमें आत्माका जन्म-मरण नहीं है (२। १२-१३)। यथार्थ तो यों है कि असत् वस्तु शरीरादि तो कदाचित् हैं ही नहीं, क्योंकि असत् वस्तुकी कदाचित् स्थिरता है ही नहीं, किन्तु रज्जुमें सर्पभ्रमके समान आत्मामें शरीरादिकी भ्रममात्र ही प्रतीति होती है, वस्तुत. सत्य वस्तु आत्माका कदाचित् नाश नहीं होता। इस सिद्धान्तके अनुसार इस देही आत्माके जो अविनाशी व अप्रमेय है, ये देहादि तो स्वभावसे ही नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भारत ! (जबकि आत्माका नाश नहीं होता और शरीरादि कदाचित् रहते नहीं हैं) तू धर्म-युद्ध कर, (२।१६-१८)। जिसने इस आत्माको मारनेवाला जाना, या मरनेवाला माना, उन दोनोंने ही कुछ नहीं जाना, क्योंकि वास्तवमें यह आत्मा न मरता है और न मारता ही है। न तो यह कदाचित् उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह होकर फिर अभाववाला होता है, बल्कि यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत व पुराण है, शरीरके नाश होनेसे इसका नाश नहीं होता (१९-२०)। इस प्रकार जिस पुरुषने इस आत्माको साक्षात् अज-अविनाशी जाना कि 'व.ी

मैं हूँ।' फिर हे पार्थ ! वह पुरुष किसका नाश कर सकता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें आत्माके सिवा कुछ है ही नहीं, जिस प्रकार तरङ्गोंके उत्पत्ति-नाशमें जल अपना उत्पत्ति-नाश नहीं देखता (२१)। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंका त्याग करके अन्य नवीन वस्त्रोंको धारण कर लेता है और वस्त्रोंके नाशसे अपना नाश नहीं देखता, इसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर अन्य नवीन शरीरोंको धारण कर लेता है, ऐसा आत्माको अपरोक्ष जाननेवाला पुरुष सब शरीरोंमें अपने आत्माको निर्विकार ही जानता है (२२)। वास्तवमें इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है और न वायु ही सुखा सकती है। पाँचों भूत इस आत्मापर अपना प्रभाव डालनेसे कुण्ठित हैं; अर्थात् यह आत्मा किसीके भी प्रभावमें नहीं आता, बल्कि यह तो नित्य, सर्वगत, अचल और सनातन है (२३-२४)। इस प्रकार यह आत्मा मन-इन्द्रियोंका अविषय व अविकारी कहा गया है, ऐसा इसको जानकर तेरे लिये शोकका कोई भी अवसर नहीं है (२५)।'

उस उपर्युक्त सांख्य-ज्ञानमें बुद्धिद्वारा मेल पानेका नाम ही 'योग' है। क्योंकि अज्ञानद्वारा मलिन बुद्धि और 'अहंकर्ता' भाव करके ही उस आत्मासे वियोग हुआ है। तथा निर्मल बुद्धिद्वारा इस ज्ञान करके कि 'न मैं कुछ कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, बल्कि मैं तो असंग-निर्विकार साक्षीस्वरूप हूँ' अपने आत्मामें योग सम्भव है। और किसी प्रकारसे तो अपने आत्मामें योग सम्भव है ही नहीं, क्योंकि आत्मा कोई द्रव्य नहीं, जिसमें जञ्जीरकी दो कड़ियोंके समान संयोग-सम्बन्धरूप योग सम्भव हो। केवल इस बुद्धिद्वारा कि 'मैं अकर्ता, अभोक्ता, असंग व निर्विकार हूँ' अपने साक्षी स्वरूपमें स्थित होकर कर्मोंका बन्धन काटा जा

सकता है। कर्मोंका बन्धन तो उसी समयतक था, जबतक यह जीव अपने साक्षि स्वरूपको भुलाकर देहस्वरूप हुआ कर्मों का कर्ता बन रहा था। परन्तु जब इसने अपने-आपको ज्यों-का-त्यों देहसे पृथक् देह व कर्मोंका द्रष्टा साक्षीमात्र जाना, तब कर्मोंका बन्धन स्वतः ही टूट जाता है, क्योंकि साक्षी सर्वथा असङ्ग है, यह नीति है। इसके सिवा अन्य किसी प्रकार से कर्तव्य-बुद्धि धारकर कर्म-बन्धनका तोड़ना तो असम्भव ही है, क्योंकि कर्तव्यताकी मूल कर्तापन ही है और कर्तव्य करके ही कर्तापन दृढ होता है। आधुनिक टीकाकारोंके विचारानुसार यदि कर्तव्य-बुद्धिसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते रहें तो वह कर्तव्य बुद्धि कर्तापनको सुदृढ ही करेगी और अपने आत्मासे वियुक्त ही रक्खेगी युक्त कदापि नहीं, चाहे कोटि जन्मोंतक भी इस कर्तव्य-बुद्धिसे कर्मोंमें क्यों न प्रवृत्त होते रहें। अन्ततः जब कभी भी आत्मामें योग प्राप्त किया जायगा, तब इस कर्तव्य-बुद्धिको तिलाञ्जलि देकर ही प्राप्त किया जा सकेगा। क्योंकि कर्तव्य-बुद्धि कर्तापनको सुदृढ रखती है और किये हुए कर्मोंके संस्कारोंको हरा-भरा रखती है, इसलिये वह अपने स्वरूपसे सञ्चित व क्रियमाण कर्म-संस्कारोंको दग्ध करनेमें समर्थ है ही नहीं और जबकि कर्म-संस्कार सब प्रकार से हरे-भरे हैं फिर कर्म-बन्धन टूटनेका प्रसंग ही क्या है?

इसके विपरीत तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धिके अभावसे इस बुद्धि योगके प्राप्त होनेपर कि 'मैं न कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, किन्तु मैं तो असंग-निर्विकार साक्षीस्वरूप आत्मा हूँ' सभी कर्म-संस्कार क्या सञ्चित क्या क्रियमाण छिन्नमूल वृक्ष की भाँति तत्काल दग्ध हो जाते हैं और वस्तुतः अपने बन्धन से छुटकारा दे देते हैं। क्योंकि तब इस तत्त्व-वेत्ताने कर्मोंके

साधन जो देह, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि हैं, इनसे पृथक् अपने-आपको ज्यों-का-त्यों अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार आत्मा जाना और वस्तुतः देहेन्द्रियादिका प्रकाशक केवल साक्षीमात्र देखा, तब इसको किसी प्रकार कर्मोंका लेप हो नहीं सकता। जिस प्रकार सूर्य इष्ट-अनिष्टरूप प्रपञ्चको प्रकाशित करता हुआ स्वयं साक्षीरूपसे निर्लेप रहता है; इसी प्रकार यह तत्त्ववेत्ता अपने आत्मस्वरूपमें ज्योंका-त्यों स्थित होकर देहेन्द्रियादिके विकारों और व्यापारोंको प्रकाशित करता हुआ स्वयं निर्विकार व निर्लेप-रूपसे स्थित रहता है और देहेन्द्रियादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी किसी प्रकार कर्मके बन्धनमें नहीं आता। इस प्रकार 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि,' अर्थात् तू कर्मबन्धनको काट डालेगा, इन वचनोंकी सार्थकता आधुनिक टीकाकारोंके निष्काम-कर्मद्वारा असम्भव ही है, किन्तु 'आत्मस्वरूप-स्थितिरूप'योगद्वारा ही ये वचन सार्थक किये जा सकते हैं। यदि किसी प्रकार निष्काम-कर्मको ही 'योग' रूपसे माना जाय, तो आत्मज्ञानरूप 'सांख्य'के उपदेशके पश्चात् इस योगका उपदेश किसी भी शास्त्रमर्यादाका पालन नहीं करता और मर्यादाविरुद्ध भगवान्का अर्जुनके प्रति उपदेश किसी प्रकार शोभा नहीं देता। क्योंकि शास्त्र-मर्यादाके अनुसार सांख्यज्ञानका उपदेश उसी अधिकारीके प्रति किये जानेकी विधि है जिसके हृदयसे प्रथम निष्काम-कर्मद्वारा सकाम वासनारूपी मल निवृत्त हो गया हो और तदनन्तर विवेक-वैराग्य-द्वारा राग-द्वेषसे हृदय निर्मल हो चुका हो। सांख्योपदेशके बाद यदि बाह्य कर्मयोग ज्ञानका साक्षात अन्तरङ्ग साधन माना गया होता, तब तो यह योग कर्मयोग हो सकता था, परन्तु शास्त्र-मर्यादाके अनुसार तो निष्काम-कर्म ज्ञानका बहिरंग साधन है अन्तरंग नहीं। और निष्काम-कर्मद्वारा वैराग्यके उत्पन्न होनेपर

वह श्रवणमें साधक नहीं किन्तु बाधक है। तथा बहिरंग साधन होनेसे श्रवण मननके लिये वह उपादेय नहीं किन्तु हेय है। जबकि तीव्र वैराग्यके प्रभावसे अर्जुनके हृदयसे उन शत्रुओंके प्रति भीद्वेष निवृत्त हो गया, जिनके प्रति बाल्यपनसे ही द्वेष-रूपी वृक्ष दृढमूल होता चला आ रहा था और जिसका परिणाम यह घोर युद्ध था (१।२८-४६, २।४-८), तब ऐसे रागद्वेष-विनिर्मुक्त अर्जुनके प्रति सांख्योपदेशके पश्चात् निष्काम-कर्मरूप योगका उपदेश किसी प्रकार शोभा नहीं पाता और ऐसा उपदेश अनधिकार चेष्टारूप प्रलापमात्र ही होगा, ऐसा दोष भगवान्‌के मत्थे आ जाता है। इसके साथ ही जिस अर्जुनका व्यवहार आजीवन निष्कामभावसे धर्मपरायण ही रहा, धर्मपाशमें बँधे रहकर भरी सभामें सर्व समर्थ होते हुए भी द्रौपदीका घोर अपमान अपनी आँखोंसे देखना, वनवासके घोर संकट सहन करना इत्यादि निष्काम-कर्मकी अवधि थी और जिसका फल यह तीव्र वैराग्य फूट निकला था। फिर उसके फलस्वरूप सांख्यका उपदेश करके निष्काम कर्मकी ओर ही धकेलना किसी भी मर्यादाका पालन नहीं करता। इसलिये यह योग किसी प्रकार भी निष्काम कर्मयोग नहीं कहा जा सकता, किंतु सांख्योपदेशके पश्चात् आत्मामें अभेदरूपसे स्थितिके लिये यह केवल ज्ञानयोग ही हो सकता है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ (२।४८)

अर्थ—हे धनञ्जय ! तू योगमें स्थित हुआ संग त्याग करके और सिद्धि-असिद्धिमें समान होकर कर्मोंको कर। इस समत्व भावको ही 'योग' नामसे कहा गया है।

आधुनिक टीकाकारोंके विचारानुसार यदि कर्तव्य-बुद्धिको धारकर और कर्म-फल त्यागकर, ऐसी कर्म-प्रवृत्तिका नाम ही

'योग' रक्खा जाय, (इस योगको हम 'आधुनिक योग'के नामसे अभिहित करेंगे) तो यह 'योग' इस श्लोककी शर्तोंको पूरा करने में समर्थ नहीं होता। प्रथम तो 'मैं कर्मका कर्ता हूँ' कर्मोंमें इस प्रकारके कर्तृत्व-सम्बन्धका नाम ही 'संग' है और कर्तव्य-बुद्धि की विद्यमानतामें इस संगका त्याग असम्भव ही है। क्योंकि जब यह जीव अपने-आपेको आत्मासे भिन्न परिच्छिन्नरूपसे कुछ जानता है, तभी यह कर्मोंका कर्ता बनता है। कर्तापन सदैव परिच्छिन्न भावमें ही उत्पन्न होता है और कर्तापनके उदय होते ही कर्तव्यरूप विधि-निषेध स्वतः निकल पड़ता है, कि अमुक रूपसे कर्म करना मुझपर विधि है और अमुक रूपसे निषेध। अर्थात् फलाशा त्यागकर कर्ममें प्रवृत्त होना मुझपर विधि है और फलाशासहित कर्म मेरे लिये निषेध है। तथा विधिरूप से प्रवृत्त होना और निषेधरूपसे निवृत्त होना मुझपर कर्तव्य है। कर्तापनके बिना इस प्रकारका कर्तव्य स्वतन्त्र रह नहीं सकता, बल्कि 'कर्तापन'का परिणाम ही यह 'कर्तव्य' है। इस लिये कर्तव्यकी विद्यमानतामें कर्तृत्व-संग-त्याग सर्वथा असम्भव है। चाहे यह योगी इस भावनासे कर्ममें प्रवृत्त होता हो कि 'मैं कर्मका कर्ता नहीं हूँ, अमुक कर्म मुझपर कर्तव्य है और अपने किये हुए कर्मोंका फल मैं ईश्वरार्पण करता हूँ'; तथापि वह कर्मोंका कर्ता अवश्य रहता है और वस्तुतः संग-त्याग सिद्ध नहीं होता। क्योंकि उपर्युक्त भावनामें परिच्छिन्न भाव विद्यमान है और परिच्छिन्नताके विद्यमान रहनेपर, चाहे उस योगीने कर्तृत्व-संगत्यागकी भावना की है, तथापि इस भावनाका कर्ता वह अवश्य बना हुआ है। और जबकि वह इस भावनाका कर्ता बन चुका है तो फिर इस पवित्र भावनाके फलका भोक्ता भी उसको अवश्य होना पड़ेगा। क्योंकि फल जड़ कर्ममें नहीं है, किन्तु

अन्त'करणकी भावना ही फलका हेतु होती है। इस रीतिसे जबतक भावना किसी प्रकारसे भी विद्यमान है और वह ज्ञानाग्नि में भर्जित नहीं हुई, तबतक उक्त योग कर्तृत्व-संग-त्यागको तो किसी प्रकार सिद्ध कर ही नहीं सकता। यद्यपि उक्त भावना पवित्र है और वह संसारका हेतु नहीं है, किन्तु परमार्थमें अग्रसर करनेवाली है, *तथापि अपनी विद्यमानतामें कर्ता-बुद्धि* को निर्मूल करके संग-त्यागको सिद्ध नहीं कर सकती। द्वितीय, परिच्छिन्न-भाव, कर्तृत्व-संग और कर्तव्य-बुद्धिकी विद्यमानतामें उक्त योग, जैसा इस श्लोकमें कहा गया है 'सिद्धि व असिद्धिमें समता'को भी वस्तुत' पूरा करनेमें असमर्थ है। परिच्छिन्न-भाव व कर्तृत्व-संगके फलस्वरूप जब कर्तव्य-बुद्धि हाजिर है, तब सिद्धि-असिद्धिमें समता कैसे सम्भव हो सकती है? क्योंकि कर्तव्य-बुद्धि, जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, विधि निषेधरूप ही है। और जबकि विधि-निषेधका सम्बन्ध उक्त योगीकी ग्रीवा पर सवार है, तब सिद्धि-असिद्धिमें समता कहाँसे आ जायेगी, यह समझमें नहीं आता। विधि-निषेध अपने स्वरूपसे ही विषम रूप हैं। समता तो तभी आ सकती है जबकि विधि-निषेधका बन्धन टूटे, परन्तु कर्तव्य-बुद्धि होनेसे इस योगीके साथ विधि-निषेध लगा हुआ है। चाहे इस योगीने अपने कर्मोंके साथ यह भावना की है कि 'मैं अपने किये हुए कर्मोंका फल अपने लिये नहीं चाहता, किन्तु कर्मफल ईश्वरार्पण करता हूँ,' तथापि 'सिद्धि-असिद्धिमें समता' यथार्थ रूपसे सिद्ध नहीं हो सकती। मान लिया जाय कि इसने अपनी पवित्र भावना करके अपने किये हुए कर्मोंका फल अपने लिये नहीं चाहा और ईश्वरके ही अर्पण किया, तथापि 'कर्मफल ईश्वरार्पण करके मेरे अन्त.-करणकी निर्मलता होगी' यह फल इसने चुपचाप अवश्य चुरा

लिया है। 'कर्मफल ईश्वरार्पण करके मेरे अन्तःकरणकी निर्मलता हो या न हो, इससे भी मुझे क्या प्रयोजन ?' इस विषयकी सिद्धि-असिद्धिमें वह सम नहीं है, किन्तु विषम है। अन्तःकरणकी निर्मलता तो होनी ही चाहिये, इस विषयमें वह अवश्य फलाशी है, फलत्यागी नहीं। इस प्रकार यद्यपि सांसारिक भोगोंके लिये तो वह सकामी नहीं है, तथापि सर्वथा निष्कामी भी नहीं। और जहाँ अन्तःकरण कामनासहित है, वहाँ सिद्धि-असिद्धिमें समता कहाँसे आ सकती है? क्योंकि कामना ही विषमताका हेतु होती है, चाहे कामना सांसारिक हो अथवा पारमार्थिक, जबतक वह अन्तःकरणमें टिकी हुई है, अपनी विद्यमानतामें समताको कदापि प्रवेश न होने देगी, कामना व समताका परस्पर अन्धकार-प्रकाशके समान विरोध है। इस रीति से परिच्छिन्न-भाव, कर्तृत्व-संग और विधि-निषेधरूप कर्तव्यके रहते हुए सिद्धि व असिद्धिमें समता असंभव है।

इसके विपरीत अपने आत्मस्वरूपमें योग पाया हुआ योगी, परिच्छिन्न-भाव निवृत्त हो जानेसे न तो कुछ करता है, न कर्तव्य है और न फल ही है। बल्कि ज्यों-का-त्यों तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा कर्मके साधन जो देहेन्द्रियमनबुद्धि हैं, उनसे असंग हुआ उनका तमाशाई है और देहादिसे सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें अकर्ता है। जिस प्रकार सूर्यरश्मि सब पदार्थोंपर पड़ती हुई और सबको प्रकाशित करती हुई स्वयं सबसे निर्लेप रहती है, संसारमें जो कुछ भी व्यवहारकी सिद्धि होती है, वह सब सूर्य-प्रकाशसे ही सिद्ध होता है, परन्तु स्वयं सूर्य सब व्यवहारसे असंग, केवल साक्षी-प्रकाश ही है। इसी प्रकार यह योगी अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हुआ अपने साक्षी-प्रकाशसे

कर्ता, कर्म व फल सबको प्रकाशमान् करता हुआ आप सबसे असंग व निर्लेप है। तथा जैसा इस श्लोकमें कहा गया है वस्तुत 'संगत्यागी' है और सिद्धि व असिद्धिमें सम है। यह 'आत्मस्वरूप-स्थिति' ही वास्तव समता है और 'समत्वं योग उच्यते' यह वाक्य यहाँ ही पूर्णरूपसे सिद्ध होता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥(२।५०)

अर्थ—समत्व-बुद्धिसे युक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनोंको यहीं त्याग देता है, इसलिये तू योगमें जुड़, कर्मोंमें कुशलताका नाम ही योग है।

'आधुनिक योग' कर्तव्य बुद्धिसहित होनेसे इसी लोकमें पुण्य-पापके बन्धनसे छुटकारा देनेमें समर्थ नहीं है, जैसा इस श्लोकमें कहा गया है। विधिके पालन करने और निषेधके त्याग करने का नाम पुण्य है तथा निषेधके पालन करने एवं विधिके त्याग करनेका नाम पाप है, इससे भिन्न पुण्य-पापका और कोई स्वरूप नहीं बन पड़ता। तथा विधिके पालन करने और निषेध के त्यागनेका नाम ही कर्तव्य है, अर्थात् कर्तव्य बुद्धिसे कर्ममें प्रवृत्त होना इसपर विधि है और कर्तव्य-त्याग इसके लिये निषेध है। इसलिये उक्त योग कर्तव्यसहित होनेके कारण यद्यपि पापरूप तो नहीं होता, तथापि पुण्यरूप अवश्य होगा, वह इसी लोकमें पुण्य-पाप दोनोंके बन्धनसे छुटकारा दिलानेवाला सिद्ध नहीं हो सकता। जब हम कोई कर्म अपने लिये कर्तव्य-रूपसे धारण करेंगे तो उससे विपरीत कर्म हमारे लिये अकर्तव्य हो जायगा और तब उस अकर्तव्यका पालन हमारे लिये अवश्य प्रत्यवायरूप भी होना ही चाहिये। यदि वह प्रत्यवायरूप नहीं

है तो अकर्तव्य भी नहीं है, परन्तु चूँकि वह हमारे लिये अकर्तव्य है, इसलिये प्रत्यवायरूप भी है ही। इस रीतिसे अकर्तव्यके पालनमें जब हम प्रत्यवायसे बन्धायमान होते हैं, तो कर्तव्य-पालनमें पुण्यसे क्योंकर बन्धायमान न होंगे ? बल्कि अवश्य होंगे। यह तो किसी प्रकार ईश्वरीय नीति सम्भव हो नहीं सकती कि जब एक व्यक्ति अनियत कर्म करनेसे दुष्कृतका भागी हो सकता है, तो नियत कर्म करके उसको सुकृतकी प्राप्ति ही न हो। यदि ऐसी नीति हो तो अन्यायपूर्ण ही होगी। इस प्रकार परिच्छिन्न-भाव, कर्तृत्व व कर्तव्यके बन्धनमें रहते हुए मनुष्य सुकृत-दुष्कृतके बन्धनसे छूट नहीं सकता। इस नियमके अनुसार हमारा 'आधुनिक योगी' कर्तव्यसहित होने से अवश्य सुकृतका भागी होगा और वह इस श्लोककी कसौटी पर खरा नहीं उत्र सकता।

इसके विपरीत अपने आत्मस्वरूपमें योग पाया हुआ योगी देहादिके परिच्छेदसे निकला हुआ और कर्तृत्व व कर्तव्य-भाव से छूटा हुआ न कुछ करता है और न किसी सुकृत-दुष्कृत, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे बन्धायमान होता है, बल्कि इसी लोकमें नक़द मुक्ति पा जाता है। क्योंकि वह तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा आकाशके समान ज्यों-का-त्यों सर्वभूतोंमें स्थित हुआ सबसे निर्लेप है, जैसा स्वयं भगवान्‌ने अपना स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ (९ । ६)

अर्थ—जिस प्रकार आकाश नित्य ही अचलरूपसे स्थित है और महान् वायु सर्वत्र आकाशमें आकाशके आश्रय ही विचरती है, परन्तु आकाशको स्पर्श नहीं करती; इसी प्रकार

सब भूत मेरे आश्रय स्थित हुए मुझको स्पर्श नहीं करते, ऐसा ही तू अपने आत्माको जान।

जब उस योगीने इस प्रकार भगवान्‌के स्वरूपमें एकत्वभाव से योग पा लिया है तब उसका सुकृत-दुष्कृतादिसे क्या सम्बन्ध? सुकृतादिका बन्धन तो परिच्छिन्नरूपसे देहादिमें 'अहं-कर्तृत्वाध्यास' करके ही था, जिसको ज्ञानाग्निसे भली-भाँति दग्ध करके अब वह अपरिच्छिन्नरूपसे स्थित हुआ है और साक्षीरूपसे सबका द्रष्टा होता हुआ सबसे असंग है। इसीका नाम 'कर्म कौशल' है, कि कर्म करके भी कर्मके बन्धनमें न आना। यह योगी ही वस्तुत इस ज्ञानके प्रभावसे सब कुछ करता हुआ वास्तवमें अकर्ता है। संसारमें जो कुछ भी सिद्ध होता है, वह इस सर्वसाक्षीकी सत्ता-स्फूर्तिरूप आशीर्वादसे ही सिद्ध होता है, परन्तु यह स्वयं सबसे असग है। जैसे मत्स्य जलमें रहता हुआ जलमें डूब नहीं जाता, बल्कि असंगरूपसे तैरता रहता है, तैसे ही यह सब कर्मोंमें स्थित हुआ सब कर्मोंसे निर्लेप है और इस प्रकार यही सुदृढ 'कर्म-कौशल' है। परन्तु हमारा 'आधुनिक-योगी' तो परिच्छिन्न-भाव व कर्तव्यादिके बन्धनमें बँधा हुआ फल-त्यागादिकी भावना करता हुआ भी इस कर्म-कौशलसे वञ्चित ही रहता है और फल-त्यागादिका कर्ता होनेके कारण बरबश फलके बन्धनमें बन्धायमान हो ही जाता है, क्योंकि प्रकृतिका गोरखधन्धा विचित्र है, जिससे यह अभी छूट नहीं पाया है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ (२।५१)

अर्थ—बुद्धियोगयुक्त ज्ञानीजन कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्म-बन्धनसे छूटे हुए अमृतमय परमपदको प्राप्त होते हैं।

कर्मसे उत्पन्न होनेवाला फल तो तभी छूट सकता है, जब सभी कर्ता, कर्तव्य, कर्म व फल अपने आत्मस्वरूपकी विवर्त[1]-रूप तरङ्गें भान होने लगें सर्वात्मैक्य-दृष्टिके प्रभावसे कर्म-संस्कारोंका बेड़ा डूब जाय और कारण-कार्य व आधाराधेयरूप भेदभाव दृष्टिसे निकल जाय। 'एकमेवाद्वितीयम्' अधिष्ठान रूप आत्मा ही सब कारण-कार्य व आधाराधेयका विवर्तोपादान[2] भान होने लगे। जिस प्रकार अधिष्ठानरूप रज्जुमें प्रतीयमान सर्प, दण्ड, माला व दरार आदि सब अध्यासोंका विवर्तोपादान एकमात्र रज्जु ही होती है, सर्पादि-अध्यास अधिष्ठानरूप रज्जुके केवल विवर्त ही होते हैं, जो अपने अधिष्ठानमें विकार उत्पन्न किये बिना ही उदय-अस्तको प्राप्त होते हैं। परन्तु इसके विपरीत जबतक 'मैं कर्मका कर्ता हूँ,' 'मुझपर अमुक कर्तव्य है' और 'मैं अपने कर्मोंका फल अपने लिये नहीं चाहता, किन्तु ईश्वरके ही अर्पण करता हूँ' इत्यादि भेदभावरूपसे कारण-कार्य व आधाराधेयरूप रज्जु जीवरूपी घटके गलेमें बँधी हुई संसाररूपी कूपके सिरपर घूम रही है, कर्म-संस्कारोंसे कैसे छुटकारा मिल सकता है और फिर क्योंकर कर्मफलका त्याग हो सकता है ? जैसा इस श्लोकमें कथन किया गया है।

थोड़ा विचार कीजिये, कि जब यह जीव अहंकार करके आवृत हुआ कर्तारूपसे आप कुछ बनता है, अपनेसे भिन्न किसी कर्तव्यको अपने ऊपर लागू करता है, कर्मोंको अपनेसे भिन्न जानता है जिनका यह उपादानरूप कर्ता बना हुआ है और कर्म-फलको अपनेसे भिन्न देखता है जिस फलको यह अपने लिये नहीं चाहता, बल्कि अपनेसे भिन्न किसी ईश्वर-विशेषके अर्पण करता है तथा उस अपनेसे भिन्न कर्मफल-त्यागका

१,२ वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिकामें इनके लक्षण देखिये।

कर्ता भी होता है—इत्यादि रूपसे अज्ञान करके आवृत हुआ जब यह अनेक भेद-भावनाओंके चक्रमें फँसा हुआ है, कर्तृत्व, कर्तव्य, कर्म, कर्मफल और फलत्याग-भावनाएँ जब इसके गलेको पकड़े हुए हैं, तब यह कर्म संस्कारोंके जालसे कैसे निकल सकता है? क्योंकि भेद-भावना ही एकमात्र संस्कारोंका हेतु होती है। और जब संस्कार सजीव हैं, तब कर्मफलसे छुटकारा कैसे हो सकता है? फलके हेतु तो ये संस्कार ही हैं जो अनेक प्रकारकी भेद-भावनाओं करके हरे-भरे हो रहे हैं और ज्ञानाग्निसे दग्ध नहीं हुए। इस प्रकार जब संस्कार व फल सभी विद्यमान हैं, तो जन्मके बन्धनसे छूटकर परमपदकी प्राप्ति मान बैठना तो एक मखौल है और केवल मनोमय मोदकके तुल्य ही है, इसका तो प्रसंग ही क्या है? अन्तःकरणके भावमय परिणाम को 'भावना' कहते हैं और जैसी-जैसी भावनाएँ अन्तःकरणमें उत्पन्न होती हैं, आत्मस्वरूप साक्षीद्वारा उनका प्रकाश होता है। उत्तरकालमें जब वे भावनाएँ अन्तःकरणमें विलीन हो जाती हैं, तब उनके संस्कार अन्तःकरणमें साक्षीके आश्रय रहते हैं। इस प्रकार जबकि उन संस्कारोंमें सत्यस्वरूप साक्षी विद्यमान है, तब वे फलशून्य कैसे रह सकते हैं इस त्र्यम्बककी आँखोंमें भी भला कोई लोन डाल सकता है? हाँ, यह हमसे चाहे जब कहला लो कि वे भावनाएँ पवित्र हैं और उनका फल भी पवित्र, परन्तु फलशून्य कदापि नहीं।

इसके विपरीत देहादि-अध्याससे निकला हुआ और अपने आत्मस्वरूपमें ज्यों-का-त्यों योग पाया हुआ योगी तो अपने साक्षीस्वरूपमें भली-भाँति स्थिति पा जानेके कारण देहादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें अकर्ता है। न उसमें कुछ कर्तृत्व है,- न कर्तव्य है, न कर्म है, न फल है और न

फलत्याग ही है, बल्कि वह तो तब सम्पूर्ण कर्तृत्वादिका केवल द्रष्टा-साक्षी ही है। यथा:—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते (६।३१)

अर्थ—सर्वभूतोंमें स्थित मुझ सच्चिदानन्दको जो पुरुष एकत्वभावसे स्थित हुआ भजता है, वह योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी मेरेमें ही वर्त रहा है।

इस दृष्टिसे जब ये कर्तृत्वादि कोई भी उसमें नहीं हैं, तब कर्म-संस्कारोंको अवकाश कहाँ? जब संस्कार नहीं तो फल कहाँ? फल नहीं तो जन्मका बन्धन कहाँ? और जब जन्म-बन्धन नहीं तो फिर परमपदने तो जाना ही कहाँ है? वह तो नित्य ही प्राप्त है। इन जन्मादिके अध्यासमें आया हुआ ही यह पुरुष उसमें स्थित हुआ भी यों ही उससे विमुख हो रहा था।

इस प्रकार वह योगी ही वस्तुतः कर्मसे उत्पन्न हुए फलको त्यागकर जन्मादि-बन्धनसे छूटा हुआ जीते-जी ही परमपदको प्राप्त होता है और इस श्लोककी कसौटीपर खरा जचता है।

इस प्रकार इस योगका स्वरूप निरूपण करके इस योगकी प्राप्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है, अब भगवान् दो श्लोकोंमें इसका निरूपण यों करते हैं:—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (२।५२)
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ (२।५३)

अर्थ—जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको बिल्कुल तर जायगी, तब तू सुननेयोग्य और सुने हुएके वैराग्यको प्राप्त होगा।

जब अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जायगी तब तू योग को प्राप्त होगा।

भगवान्‌ने इन श्लोकोंमें अपने परमात्मस्वरूपमें योग-प्राप्ति के लिये कर्मको किसी प्रकार भी हेतुरूपसे ग्रहण नहीं किया, किन्तु (१) मोहरूप दलदलमें बुद्धिका निकलना और (२) परमात्मस्वरूपमें बुद्धिका अचल स्थित होना, योगप्राप्तिमें स्पष्टरूपसे यही हेतु वर्णन किया है। आधुनिक योग (मैं कर्मों का कर्ता हूँ, मुझपर अमुक कर्तव्य है और मैं अपने कर्मोंका फल ईश्वरार्पण करता हूँ इत्यादि) अपनी विद्यमानतामें न तो मोहरूपी दलदलसे बुद्धिको निकालनेमें समर्थ है और न परमात्मस्वरूपमें बुद्धिको अचल स्थित करनेमें ही समर्थ है, बल्कि मोहरूपी दलदलकी वृद्धि ही करता है।

मोह नाम अज्ञानका है और विपरीत ज्ञानको अज्ञान कहते हैं; जैसे रज्जुका सर्परूपसे ज्ञान 'अज्ञान' कहलाता है। अज्ञान की साक्षात् निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही सम्भव है कर्मसे कदापि नहीं। जैसे रज्जुका सर्परूपसे विपरीत ज्ञान, प्रकाशद्वारा रज्जुज्ञानसे ही निवृत्त हो सकता है लठ्ठिकादि-प्रहारसे मिथ्या सर्पकी निवृत्ति असम्भव ही है। अब यहाँ कर्तृत्वादि संगरहित अपने आत्मामें कर्तृत्वादि आरोप करना और कर्तव्यादि अपने ऊपर लागू करके उसको सुदृढ कर देना, यही एक मूलरूप मोह-दलदल है। अन्य प्रकारके अहंता-ममता, राग-द्वेष, सुख-दुःख तथा जन्म-मरणादि सांसारिक मोह तो इस मूलरूप मोहकी शाखाएँ ही हैं। असंग-निर्विकार अपने आत्माको कर्तारूपसे विकारी जानना यही सब मोहोंका मूल है। अब देखिये, यह मूल कर्मके द्वारा कैसे निकाली जा सकती है?

वल्कि कर्मके द्वारा तो इसको सुदृढ़ करना ही होता है, क्योंकि कर्तृत्वादि-संगरहित अपने आत्मामें कर्तृत्वादि देखना तो विपरीत ज्ञानरूप अज्ञान ही है। यदि कर्तृत्व व कर्तव्य (जोकि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं) अपने ऊपर लागू रखकर कर्ममें ही प्रवृत्त होते रहें (और यही आधुनिक-योगका अंग है) तो इस अभ्यासको प्रौढ़तासे मोहरूपी दलदलकी वृद्धि स्वाभाविक ही होती है। कहीं अन्धकारसे भी अन्धकारकी निवृत्ति हुई है? आत्मामें तो कर्तृत्वादि संग है नहीं और हम अपने कर्मोंद्वारा उसमें कर्तृत्व व कर्तव्यादि आरोप करनेका अभ्यास सुदृढ़ करते रहें, तो यह मोहरूपी दलदलको निवृत्त करनेके स्थानपर इसकी पुष्टि ही करेगा। अतः तत्त्व-चिन्तनद्वारा कर्तृत्वादि-संगरहित अपने आत्माको असंग देखना, मोहरूपी दलदलसे बुद्धिको निकालनेका यही एक उपाय हो सकता है। 'मैं असंग आत्मा हूँ, देहादिसे मेरा कोई संग नहीं, मैं केवल उनका द्रष्टा-साक्षी हूँ, देहेन्द्रियादि अपने-अपने धर्मोंमें वर्तें, मुझे इनका कोई लेप नहीं, न मैं कर्ता हूँ, न मुझपर कोई कर्तव्य है, मैं तो केवल उनका तमाशाई हूँ'—ज्यों का-त्यों यह तत्त्वज्ञान ही मोहरूपी दलदलसे छुटकारा दिला सकता है (४।८-९)। यदि कर्तृत्वादि-मोहसे वस्तुतः अपने आत्मामें कोई लेप लगा होता, तो अवश्य कर्मसे ही उसको दूर किया जा सकता था। परन्तु गीताका तो स्थिर सिद्धान्त यह है, कि स्थूल-सूक्ष्म शरीरके सभी धर्म इस आत्माको छू नहीं सकते (२।१३)। यह आत्मा अविनाशी है, शरीरादिके नाशसे इसका नाश नहीं होता, न यह मरता है, न मारता है कोई विकार इसको स्पर्श नहीं कर सकते (२।१६-२५)। ऐसी अवस्थामें जबकि वास्तव में आत्मा कर्तृत्वादि-मोहसे नित्य मुक्त ही है और कर्तृत्वादि

विनिर्मुक्त आत्मामें कर्तृत्वादिका केवल भ्रम ही हो गया है, तब कर्मके द्वारा मोहरूपी दलदलसे बुद्धिको निकालना सर्वथा असम्भव ही है, यह तो केवल विचारद्वारा ही दूर किया जा सकता है। हाँ, कर्मका प्रयोजन इतना तो बन सकता है कि हृदयरूपी भूमिको जो दुर्वासनाओंसे अपवित्र हो रही हो, निष्काम-कर्मोंद्वारा साफ कर लिया जाय, ताकि उसमें शुद्ध विचाररूपी बीज डाला जा सके। परन्तु भूमि निर्मल होनेपर भी यदि उसमें खाद ही डालते रहें और बीज न डालें, तो फल प्राप्त करनेसे हम अवश्य वञ्चित ही रहेंगे। इसी प्रकार निष्काम-कर्मद्वारा हृदय निर्मल हो जानेपर अब आवश्यकता इस बातकी है कि दृढ तत्त्व-विचारद्वारा अपने आत्माको कर्तृत्वादि-भ्रमरूप मोहसे छुड़ा लिया जाय। परन्तु हृदय निर्मल हो जानेपर भी यदि कर्तृत्व व कर्तव्यादिको ही पुष्ट करते रहें तो अवश्य मोहरूपी दलदल वृद्धिको ही प्राप्त होगा, इसमें सन्देह ही क्या है? क्योंकि हृदय निर्मल होनेपर भी यदि कर्तव्यादिका ही अभ्यास चालू रक्खा जाय, तो ज़रूरी है कि निर्मल हृदयमें जैसा कुछ भरा जायगा, वह शीघ्र ही परिपक्व हो जायगा। इस रीतिसे जबकि यह 'आधुनिक-योग' मोहरूपी दलदलसे ही बुद्धिको न निकाल सका, तब परमात्मस्वरूपमें बुद्धिकी अचल स्थितिकी तो वार्ता ही क्या है? मोहकी निवृत्तिपर ही बुद्धिकी अचल स्थिति सम्भव हो सकती थी, जोकि मोहकी विद्यमानता में सर्वथा असम्भव ही है। परमात्मस्वरूपमें बुद्धिकी अचल स्थितिमें प्रतिबन्धक था तो यही था कि यह जीव अपने अज्ञान करके कर्तृत्व व कर्तव्यरूपसे आप कुछ बन बैठा था, फिर इस कर्तृत्व व कर्तव्यादिकी विद्यमानतामें अचल स्थिति कैसे हो?

हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि उपर्युक्त रीतिसे तत्त्व-

विचारद्वारा ज्यों-का-त्यों अपने आत्मस्वरूपमें योग प्राप्त कर चुकनेपर इस योगीको कर्म बन्धन नहीं कर सकते, इसके सभी कर्म अकर्म ही रहते हैं और भुने बीजके समान किसी फलके हेतु भी नहीं रहते। क्योंकि वस्तुत: यही 'काम संकल्प-वर्जित' है, इसीने 'ज्ञानाग्निसे सब कर्मोंको भस्म किया है' 'यही कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता' 'यही सिद्धि-असिद्धिमें सम है' 'यही कर्म करके भी बन्धनमें नहीं आता और 'यही मुक्तपुरुष गतसंग व ज्ञानावस्थित है' (४।१८-२३)। परन्तु योगप्राप्तिमें कर्मका इसके सिवा और कोई उपयोग नहीं कि हृदयरूपी भूमिको दुर्वासनादि कण्टकोंसे साफ़ कर लिया जाय। योगप्राप्तिरूप फल पकानेमें तो कर्म सर्वथा अशक्य ही है, यह फल तो केवल तत्त्व-चिन्तनरूपी बीज डालनेसे ही प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिये भगवान्‌ने इन श्लोकों (२।४२-४३) में योगप्राप्तिमें कर्मको हेतुता निरूपण नहीं की, बल्कि भगवान्‌का तो कथन है कि 'जब तेरी बुद्धि अच्छी तरहसे इस मोहरूपी दलदलको तर जायेगी तब गुरु-शास्त्रद्वारा] अपने आत्मस्वरूपके विषयमें जो कुछ तूने श्रवण किया है, अथवा जो कुछ श्रवण करनेयोग्य है, तू उसके वैराग्यको प्राप्त होगा'। आशय यह कि वह आत्मतत्त्व इतना गहन है कि 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' (२।२९), अर्थात् उसमें मन-वाणीकी साक्षात् गम नहीं है और वे वहाँतक न पहुँचकर वरे ही रह जाते हैं। शब्द उस अपरिच्छिन्न वस्तुका साक्षात् कथन कर नहीं सकता, क्योंकि वाणीद्वारा जो कुछ भी कथन किया जायगा, वह प्रतियोगिता[1] व व्यवच्छेदकता[2] को

१, २ विपरीतताका नाम 'प्रतियोगिता' व भेद करनेका नाम 'व्यवच्छेदकता' है। जैसे 'प्रकाश' शब्द अन्धकारका प्रतियोगी है और प्रकाश,

ही लिये हुए होगा। इसलिये भगवान्‌का कथन है कि वैराग्य-वती सूक्ष्म बुद्धिद्वारा शब्दमेंसे साररूप धान्यको लेना होगा और शब्दोंको भूसेके समान त्यागना होगा। जिस प्रकार यद्यपि धान्य की प्राप्ति होती तो भूसेसे ही है, तथापि भूसेको त्यागे बिना भी धान्य प्राप्त हो नहीं सकता। धान्यार्थीको धान्य प्राप्त करनेके लिये भूसेका त्याग करना ही होगा। इसी प्रकार शब्दमेंसे लक्ष्यार्थरूपी[1] धान्यको ग्रहण करके वाच्यार्थरूपी[2] भूसेको निस्सार जान जब तू उसका त्याग कर देगा और शब्दको असार जान उसके वैराग्यको प्राप्त करेगा, तब वेदके अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंको सुननेसे विचलित हुई (संशययुक्त हुई) तेरी बुद्धि कि 'यह सत्य है या वह सत्य है' निःसंशय होकर अपने आत्मस्वरूपमें अचल स्थित होगी और तभी तू योगको प्राप्त होगा। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि योगप्राप्ति क्या गीता-प्रमाणसे और क्या युक्ति-प्रमाणसे केवल ज्ञानद्वारा ही सम्भव है।

स्थितप्रज्ञके लक्षण

इसके आगे अर्जुनद्वारा पूछे जाने पर कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्व-रूपमें अचल स्थित हुई है, उस स्थित-प्रज्ञके लक्षण क्या हैं? भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञके जो लक्षण कथन किये हैं, उनपर विचार करनेसे स्पष्ट होता है कि केवल कर्म-

को छोड़कर अन्य सब पदार्थोंसे प्रकाशका भेद करनेवाला है। इस रीतिसे शब्द सविशेषको ही कथन करता है, निर्विशेषको कदापि नहीं।

१, २ शब्दकी शक्ति-वृत्तिसे जिस अर्थका बोध हो, उसको 'वाच्यार्थ' कहते हैं। परन्तु शब्दकी शक्ति वृत्तिसे जिसका बोध न हो सके, किन्तु लक्षणामें जिसका बोध हो, उसको 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं। निर्विशेष-ब्रह्मका बोध लक्षणासे ही होता है, इसलिये वह 'लक्ष्यार्थ' कहाता है।

द्वारा ही उन लक्षणोंको किसी प्रकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता, किन्तु केवल तत्त्व-विचाररूप ज्ञानद्वारा ही उनका प्रमाणित होना सम्भव है। भगवान्‌का कथन है—

"हे पार्थ ! जब मनोगत सब कामनाएँ छूट जाती हैं और जो अपने आत्मामें ही आत्मा करके (पदार्थों करके नहीं) सन्तुष्ट है, तब वह 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है। जो दुःखोंमें क्षोभसे और सुखोंमें आसक्तिसे रहित है और जिसके राग, भय व क्रोध छूट गये हैं, वह 'स्थितधी' कहलाता है। जो सभी शुभाशुभ प्रसंगोंमें स्नेहसे रहित है, अर्थात् राग-द्वेषवर्जित है, उसकी बुद्धि टिकी हुई है। कछुएके अंगोंके समान जो अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे समेट लेता है, उसकी बुद्धि टिकी हुई है.(२।५५-५८)।"

इन लक्षणोंसे स्पष्ट है कि कामनाका त्याग और समता-भावमें स्थिति, ये दो ही बातें स्थितप्रज्ञके लिये अत्यावश्यक हैं और दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। एकसे दूसरेकी सिद्धि हो सकती है और दूसरेसे पहलेकी पुष्टि। विषमताका हेतु कामना ही है, इसलिये कामनात्यागसे समताकी प्राप्ति स्वाभाविक होती है और समताभावका उद्‌बोध होनेसे कामना स्वाभाविक छूट जाती है। क्योंकि कामना सुखप्राप्तिके निमित्त से ही होती है और समताभाव स्वयं सुखरूप है, इसलिये समताभावकी प्राप्ति होनेपर कामनाका कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। इस प्रकार चाहे कामनाका त्याग कहो, चाहे समताभाव की प्राप्ति कहो, ये दोनों एक ही हैं, दो नहीं रहते। अब देखना यह है कि कामना अथवा विषमताका हेतु क्या है? विचारसे स्पष्ट है कि निर्दोष व समरूप अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें जब अज्ञान करके परिच्छिन्नरूप कोई तरङ्ग 'अहमस्मि' (मैं हूँ) रूपसे उत्पन्न होती है, तब उस अहंताकी दृढ़ता करके अहंकार उत्पन्न

होता है, अहङ्कारसे बुद्धि, मन, इन्द्रियों एवं देहादिकी उत्पत्ति होती है और तब अहङ्कारकी जड़ता करके उनमें आत्मबुद्धि दृढ़ हो जाती है। इसके साथ ही 'मैं सुखी होऊँ' ऐसी इच्छा स्वाभाविक होती है और तब भेददृष्टि करके किसी वस्तुमें अनुकूल और किसीमें प्रतिकूल-बुद्धि भी होती ही है। तब राग-द्वेष करके ग्रहण त्यागकी भावनासे यह जीव कामनाके वश हुआ कर्ममें प्रवृत्त होता है और कर्ता-बुद्धिसे कर्म करके जन्म-मरणके बन्धनमें आता है। इससे स्पष्ट है कि कामना अथवा विषमताका हेतु अपने स्वरूपके अज्ञानसे एकमात्र परिच्छिन्न-अहंकार ही है। इसीसे सब कामना व विषमताओंकी उत्पत्ति होती है, इसीसे कर्मका बन्धन होता है और यही जन्म मरण का हेतु है। इसलिये जबतक यह दग्ध न हो, कामना व विषमतासे छुटकारा हो नहीं सकता। और कर्म करके इस परिच्छिन्न-अहङ्कारको किसी प्रकार निवृत्त किया जा नहीं सकता, बल्कि कर्मके द्वारा तो इसकी पुष्टि ही होती है। क्योंकि 'कर्म-प्रवृत्ति' कर्तृत्व-अहंकारके बिना हो नहीं सकती और यह कर्तृत्व-अहंकार ही बन्धन है, इसलिये इसकी निवृत्ति कर्मद्वारा तो सर्वथा असम्भव ही है। इसकी निवृत्ति तो एकमात्र अपने आत्मस्वरूपके ज्ञानसे ही सम्भव है, क्योंकि केवल अपने आत्मस्वरूपके अज्ञान करके ही इसकी उत्पत्ति हुई है। घटादिके समान आत्मामें परिच्छिन्न-अहङ्कार कोई उत्पन्न नहीं हुआ, कि जिसका दण्डादि-प्रहाररूप कर्मसे प्रध्वंस किया जाय, केवल अपने आत्माके अज्ञानसे भ्रमरूप ही इसकी उत्पत्ति हुई है। और यह नियम है कि जिसके अज्ञानसे जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसके ज्ञानसे ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। जैसे रज्जुके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ सर्प, रज्जुके

ज्ञानसे ही निवृत्त हो सकता है। इस प्रकार विषमताका हेतु जो परिच्छिन्न-अहंकार, वह केवल आत्म-ज्ञानसे ही निवर्त्य है, कर्म से कदापि नहीं। इसकी निवृत्ति होनेपर ही 'स्थित-प्रज्ञ' अवस्थाको प्राप्त किया जा सकता है, इसके निवृत्त होनेपर ही सब कामनाएँ व विषमताएँ मूलके उखड़ जानेसे स्वाभाविक छूट जाती हैं और समताभावकी प्राप्ति होती है। स्वयं गीताका वचन है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥(५।१६)
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥(३।४३)

अर्थ—जिनका मन समताभावमें स्थित हुआ है, उन्होंने जीते-जी ही संसार जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष व सम है, उसमें उन्होंने स्थिति प्राप्त की है।

इस प्रकार अपनी बुद्धिसे मनको वशमें करके, बुद्धिसे परे जो सूक्ष्म आत्मतत्त्व है उसको जानकर हे महाबाहो! दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार।

इससे स्पष्ट है कि कामनाका त्याग और समताभावमें स्थिति एकमात्र आत्मज्ञान करके ही सिद्ध हो सकते हैं, कर्मद्वारा कदापि नहीं। यही गीताका मन्तव्य है और इसीके द्वारा स्थित-प्रज्ञ अवस्थाकी प्राप्ति है। उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें गीताने स्पष्ट रूपसे समताभावमें स्थित होनेके लिये तथा कामरूपी शत्रुको जीतनेके लिये आत्म-ज्ञानको ही हेतुता दी है। यदि गीता-दृष्टि-से समताभावकी प्राप्ति और कामरूप शत्रुको जीतनेके लिये कर्म हेतु बनता, तो यहाँ स्पष्टरूपसे कहना चाहिये था कि 'तू कर्मकर, कर्म करके ही समताको प्राप्त करेगा और काम-शत्रुको जय'

करेगा'। परन्तु यहाँ तो स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि 'समता-भावकी प्राप्तिपर जीते जी यहीं संसार जीत लिया जाता है और ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त करनेपर वह समत्व भाव प्राप्त होता है' 'बुद्धिसे जो परे है, उस आत्माको जानकर कामरूपी शत्रुको जीत'। इससे यह अभिप्राय नहीं कि इस स्थितप्रज्ञके शरीरसे कर्म कुछ होने ही नहीं है। स्वाभाविक कर्म इसके शरीरद्वारा सब कुछ होते हैं और बहुत कुछ होते हैं परन्तु किसी कर्तव्यको धारकर नहीं। क्योंकि कर्तव्य धारण करनेसे तो कर्ताभाव पहले ही जागृत हो आता है और यह कर्ताभाव ही अपने आत्मस्वरूपसे वियुक्त करता है। बल्कि उस स्थितप्रज्ञके तो सब कर्म अकर्म-रूप ही होते हैं और उसकी दृष्टिमें सब कर्ता व कर्म ब्रह्मरूप ही होते हैं (४।१८)। इस प्रकार इस स्थितप्रज्ञसे न तो कर्तव्य बुद्धि-युक्त कर्म ही होते हैं और न कर्तव्य-बुद्धियुक्त कर्मोंद्वारा इस स्थितप्रज्ञताकी प्राप्ति ही सम्भव है। कर्तव्य-बुद्धियुक्त कर्मोंका फल तो केवल इतना ही है कि जहाँ सकामतासे कर्म किये जा रहे थे, उसके वेगको निष्कामतामें इस भावनासे बदल दिया जाय कि 'मैं कर्मका फल ईश्वरके अर्पण करता हूँ और ईश्वरकी ओरसे इस प्रकार कर्म करना मुझपर कर्तव्य है'। इस भावनाका फल भी इतना ही है कि ईश्वरीय प्रेम हृदयमें उद्बुद्ध हो जाय, जिससे भक्तिका स्रोत चल पड़े। परन्तु भक्ति उत्पन्न होनेपर इस कर्तव्य-बुद्धिकी भावनाका तिलाञ्जलि देना भी ज़रूरी है। यदि इस भावनाको पकड़े ही रहे तो भक्ति प्रज्वलित नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रेममें नियम नहीं है। जिस प्रकार ज्वरपीड़ित रोगीको रूखा अन्न ही बल प्रदान कर सकता है, यदि उसको घृतका सेवन कराया जाय तो वह अवश्य बलहीन हो जायगा। परन्तु रोगमुक्त होनेपर भी यदि उसको रूखा अन्न ही चालू रक्खा जाय तो

फिर वह उसको उल्टा बलहीन कर देगा, तब तो रूखे अन्नका त्याग ही उसके लिये ज़रूरी होता है। इसी प्रकार कर्तव्य-बुद्धि भक्ति उत्पन्न होनेसे पूर्व ज़रूरी थी, परन्तु भक्ति उत्पन्न होनेपर उसका त्याग भी उतना ही ज़रूरी है। भक्तिके प्रज्वलित होनेपर कोई विधिरूप कर्तव्य नहीं रहता, यदि कोई विधिरूपी कण्टक लगा हुआ है तो भक्तिका मज़ा ही क्या? प्रेम-भक्ति ही नहीं तो विषयोंसे वैराग्य कहाँ? क्योंकि ईश्वरीय भक्तिका स्रोत ही सब विषय-रागको बहा सकता है। विषयोंका प्रेम तो हृदयसे तभी निकल सकता है, जबकि पहले हृदयमें विषय-विरोधी ईश्वरीय-प्रेम भर गया हो। क्योंकि यह नियम है कि हृदय सर्वथा प्रेमशून्य रह नहीं सकता, इसमें किसी-न-किसी आनका प्रेम अवश्य रहना चाहिये। दृष्टान्तस्थलपर देख सकते हैं कि यदि गोपियोंका भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेम न होता, तो कुटुम्बादि का त्याग जो उनके द्वारा हुआ, वह न हो सकता था। तथा यदि गोपियोंके चित्तमें कर्तव्यादिका बन्धन बना रहता, तो वे अनन्य प्रेमका पात्र कदापि नहीं हो सकती थीं। प्रेमके सम्मुख कर्तव्यादि तो उनके लिये उपहासका विषय था। इस प्रकार विषयों से वैराग्य ही नहीं तो कामना-त्याग कैसे हो? कामना-त्याग नहीं तो समता कहाँ? और समता नहीं तो स्थितप्रज्ञता कैसी? इस रीति से न 'कर्तव्य-बुद्धि स्थितप्रज्ञतामें हेतु है और न स्थितप्रज्ञद्वारा कर्तव्य-बुद्धिसे कोई कर्म किये ही आ सकते हैं।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने इस स्थितप्रज्ञतामें उपयोगी इन्द्रिय-संयमकी आवश्यकतापर ज़ोर दिया और इन्द्रियसंयमके बिना जिस प्रकार मन अधोगतिको प्राप्त हो जाता है, उसको स्पष्ट किया। फिर इन्द्रियसंयमसे जिस प्रकार शान्ति प्राप्त होती है और शान्त-चित्तमें तत्त्व-विचार उत्पन्न होकर जिस

प्रकार स्थितप्रज्ञताको प्राप्त किया जा सकता है, उसका वर्णन किया (२।६०-६८) । तदनन्तर उस स्थितप्रज्ञकी महिमा वर्णन की, कि वह संसारकी ओरसे सुषुप्त होकर अपने आत्मस्वरूपमें जाग्रत् हुआ रहता है और कोई सांसारिक कामनाएँ उसके हृदयमें किसी प्रकार क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकतीं। इस प्रकार वह निर्मम निरहंकार हुआ परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। इसीको 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं, जिसका यह प्रभाव है कि यदि अन्तकालमें भी इस स्थितिको प्राप्त कर लिया जाय तो जन्मादिका बन्धन कट जाता है (२।६९-७२)।

इस प्रकार द्वितीय अध्यायकी इस समालोचनासे स्पष्ट है कि 'बुद्धि-योग' अथवा 'योग' शब्द यहाँ जिन अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं, कर्तव्य बुद्धि उन अर्थोंको सार्थक करनेमें असमर्थ है। न कर्तव्य-बुद्धिद्वारा उक्त योगकी प्राप्ति सम्भव है और न उक्त योगद्वारा कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म-प्रवृत्ति ही सम्भव है। यद्यपि कर्तव्य-बुद्धि किसी निम्न अवस्थामें इस योगमें परम्परासे सहायक हो सकती है, परन्तु अन्य अवस्थामें उक्त योगमें प्रतिबन्धक भी हो जाती है और इसके त्यागके बिना साक्षात् इस योग-प्राप्तिका असम्भव ही रहता है, योग-प्राप्तिमें साक्षात् इस कर्तव्य-बुद्धिकी कोई सहायता नहीं है।

'कर्तव्य' एक बन्धन है, जिसमें एक नियमके अन्दर बन्धायमान रहनेकी विधि लगाई जाती है। और उस नियमसे इधर भी इधर उधर चलना उसके लिये निषेध ठहराया जाता है। यह स्पष्ट है कि बन्धन हमेशा उन पशुओंके ही गलेमें डालकर उनको खूँटेसे बाँधा जाता है, जोकि बन्धनके बिना प्रमाद करते हों। इसलिये उनको खूँटेसे बाँधकर, उस खूँटेके इर्द-गिर्द ही चक्कर लगानेकी छूट दी जाती है और इससे अधिक उनके लिये निषेध ठहराया जाता है। इसी प्रकार धर्मशास्त्रने मनुष्यपर दया करके

और प्रमादसे बचानेके आशयसे उसको धर्मरूपी रज्जु (शिखा व सूत्र) और वैदिक कर्मकाण्डके खूँटेसे बन्धायमान किया है, जिससे वह वेदकी मर्यादामें ही वर्ते। उस यज्ञोपवीतमें त्रिगुण (सत्त्व, रज व तम) रूप तीन डोरियाँ डाली गई हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि वह अभी प्रकृतिके गुणोंसे बँधा हुआ है। इसलिये वैदिक मर्यादारूपी खूँटेके इर्द-गिर्द घूमना ही उसपर कर्तव्य रखा गया है। परन्तु इससे वेदका तात्पर्य उसको बाँधे रखनेमें ही नहीं है, बल्कि बन्धन-मुक्त करनेमें ही है। वह इस प्रकार कि प्रथम भोगार्थ वैदिक मर्यादाके अन्दर-अन्दर ही कर्म-प्रवृत्ति कराई जाती है। जब मनुष्य भोगोंसे उपरामताको प्राप्त हो जाता है और उसको यह विश्वास हो जाता है कि 'यहाँ तो सुख कुछ भी नहीं है। प्रथम तो ये विषय 'विषकुम्भं पयोमुखम्' की भाँति केवल रमणीय ही भासते हैं, परन्तु वस्तुतः दुःखसे भरे हुए हैं। द्वितीयतः यह तो मज़दूरी है कि जितना मज़दूरी करो उतना ही खाओ और आखिर दरिद्री-के-दरिद्री, अर्थात् जितना पुण्य कर्म करो उतना ही भोगरूप फल पा सकते हो, उससे अधिक नहीं।' इस प्रकार सकाम प्रवृत्तिसे छुड़ाकर, चूँकि उसके अन्दर अभी रजोगुण विद्यमान है, इसलिये उसको निष्काम-प्रवृत्तिके कर्तव्यरूपी बन्धनसे बाँधा जाता है। क्योंकि यद्यपि वह भोगोंसे उपराम हुआ है, तथापि उसके हृदयमें अभी रजोगुण विद्यमान रहनेके कारण, वह निश्चल रह नहीं सकता। इसलिये आवश्यक है कि अब भोग-प्रवृत्तिसे उसका मुँह मोड़ कर ईश्वरार्पणरूपी खूँटेसे बाँधा जाय। जिससे वह इधर भोग-प्रवृत्तिकी ओर फिर फलाँग न मार सके और उधर रजोगुणसे निर्मल भी हो जाय। इस प्रकार जब उसका रजोगुण निकल जाय, सत्त्वगुण भरपूर हो जाय और टिके हुए निर्मल अन्तःकरण

में तत्त्व-जिज्ञासाका भाव प्रज्वलित हो जाय, तब शास्त्र उसको शिखा-सूत्ररूपी रज्जुके बन्धनसे मुक्त कर देता है और सभी सांसारिक कर्तव्योंसे भी छुट्टी दे देता है, क्योंकि इन सब बन्धनों का फल केवल यह तत्त्व-जिज्ञासा ही है। तत्त्व-जिज्ञासा प्रज्वलित हो जानेपर इसपर कोई बन्धन नहीं रहता। क्योंकि इस अग्निमें इतना तेज है कि यह प्रज्वलित होकर सभी संसारको भस्म किये बिना शान्त हो नहीं सकती। इसलिये भगवान्‌का वचन है—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते। (६।४४)

अर्थात् योगका जिज्ञासु भी वेदके विधि-निषेधरूप वचनोंसे पार हो जाता है।

इस प्रकार धर्म एव शास्त्र बन्धनका फल मुक्ति ही है परन्तु वे अर्वाचीन भद्रपुरुष, जो बन्धनमें बँधनेसे पूर्व ही बन्धनको तोड़ बैठे हैं और शिखा सूत्रको तोड़ डालना ही आज़ादीका श्रीगणेश मान बैठे हैं, वे निस्सन्देह जंगली मृगके समान हैं। वे अवश्य झूँठी और धोखा देनेवाली आज़ादीरूपी हरी-हरी घास चरते हुए उसके नीचे छुपे हुए जन्म मरणरूपी गड्ढेमें गिरेंगे, जहाँ लातें खायँगे, मुक्के सहेंगे और फिर चिल्लाने व दाँत पीसनेके सिवा कोई चारा न रहेगा।

तृतीय अध्यायकी समालोचना

द्वितीय अध्यायमें कहे गये भगवान्‌के आशयको यथार्थरूप से न जान कर अर्जुनने तृतीय अध्यायके आरम्भमें शंका की, कि 'हे जनार्दन! यदि कर्मकी अपेक्षा ज्ञान ही आपको श्रेष्ठ मान्य है तो हे केशव! इस घोर कर्ममें आप मुझे क्यों जोड़ रहे हैं? अपने मिले-जुले वाक्योंसे आप मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं, इसलिये निश्चय करके मुझे वह एक बात कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊँ (अर्थात् निश्चय करके बताइये कि कर्म करना मेरे लिये श्रेय है, वा कर्म त्यागरूप ज्ञान)।

वास्तवमें भगवान्‌ने तो कोई मिली हुई बातें कहीं ही नहीं। भगवान्‌के आशयसे तो गुरु-शास्त्रद्वारा अपने आत्माके स्वरूप का परोक्षरूपसे बोधन करना कि—

'तेरा आत्मा अजर, अमर एवं निर्विकार है और सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। पञ्चभूतात्मक सब जगत् और देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादि सब प्रपञ्चके भावाभावरूप सब विकार यद्यपि उसीके आश्रय विकृत हो रहे हैं, परन्तु उसको कोई भी विकार स्पर्श कर नहीं सकते'। इसीका नाम 'सांख्य' है। और इस सांख्य-ज्ञानके मननद्वारा उस आत्मामें अपरोक्षरूपसे स्थिति पा जाना कि—

'मैं नित्य मुक्त एवं असंग साक्षी हूँ और देहेन्द्रियादि सब प्रपञ्च से पृथक् सबका द्रष्टा हूँ और यह नियम है कि कोई भी व्यापार अन्धकारमें सिद्ध नहीं हो सकता, किसी-न-किसी प्रकाशमें ही व्यापारकी सिद्धि हो सकती है। इसलिये मैं तो वह अलुप्त प्रकाश हूँ, जिसके प्रकाशमें देहेन्द्रियादि प्रपञ्चका सब व्यवहार सिद्ध होता है, परन्तु मुझ चेतन प्रकाशको ये कोई भी स्पर्श नहीं कर सकते'। इसी का नाम 'योग' है।

भगवान्‌के आशयसे इसके सिवा कर्मोंको त्याग बैठना, न तो 'सांख्य' है और केवल कर्तव्य बुद्धिसे कर्मोंमें प्रवृत्त होते रहना, न योग ही है वल्कि सांख्य-ज्ञानद्वारा अपने आत्मामें अभेदरूप से स्थित प्राप्त करके देहेन्द्रियादिके सब व्यापारोंसे अपने आपको पृथक् कर लेना केवल उनका तमाशाई होना और देहेन्द्रियादिको निस्सार जान इसी तरह सब प्रकार खुला छोड़ देना, जिस तरह बाज़ीगर अपने तमाशेमें यदि हमारा कोई शत्रु सम्मुख खड़ा करे तो हम उसको मारनेकी कोई चेष्टा नहीं करते इस प्रकार मिथ्यात्व निश्चय करके सब कर्तव्योंसे अपने-आपको मुक्त कर लेना यही 'योग' है। यहीं ज्ञान व कर्मकी यथार्थ सङ्गति हो जाती है, यही परम पुरुषार्थ

है, यही नकद नजात है, यहाँ आनकर सब रगड़े-झगड़े अपने-आप फैसल हो जाते हैं और सब कर्मोंका बन्धन कट जाता है। यथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मु० उप०)

अर्थ—उस कारणकार्य-विनिर्मुक्त परमात्माके दर्शनसे इस जीवकी (अहं-मम) हृदय-ग्रन्थि भेदन हो जाती है, सभी संशय छेदन हो जाते हैं और इसके सभी कर्म क्षयको प्राप्त हो जाते हैं।

परन्तु जब अर्जुन भगवान्‌के इस आशयको कुछ भी ग्रहण न कर सका तो उन्हें नीचे उतरकर आना पड़ा और उन्होंने कहा "अरे भाई ! सृष्टिके आरम्भमें इस संसारमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा कथन की गई है—

(१) उन सांख्य-योगियोंके लिये जिनका ज्ञानमें अधिकार है और जिनका हृदय तम व रजरूपी धूलसे निर्मल हुआ है, 'ज्ञान-योग-निष्ठा' अर्थात् 'कर्मत्यागरूप निवृत्ति-मार्ग'। (२) उन कर्म-योगियोंके लिये, जिनका कर्ममें अधिकार है और जिनके हृदय से तमोगुण (अर्थात् निद्रा, प्रमाद, आलस्य, कर्मसे अरुचि) निवृत्त होकर रजोगुण विद्यमान है उनके उस रजोगुणके वेग को शास्त्रविहित उत्तम रीतिसे निकालनेके लिये 'कर्मयोग' निष्काम-कर्मरूप प्रवृत्ति-मार्ग, अर्थात् ईश्वरीय आज्ञा मानकर कर्ता व कर्तव्य-बुद्धिसे कर्मोंमें प्रवृत्त होना और कर्मफल अपने लिये न चाहकर ईश्वरको ही निवेदन करना (३।३)।

आशय यह कि इन दोनों ही मार्गोंमें कर्म (अर्थात् देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादिके व्यापार) का स्वरूपसे तो त्याग है ही नहीं, क्योंकि कर्मको आरम्भ किये बिना ही मनुष्य नैष्कर्म्य का भोग नहीं कर सकता। 'कर्म करके भी कर्मके बन्धनमें न आना और कर्मरूपी बीजको ज्ञानाग्निसे भूनकर अकर्मरूप व

फलशून्य सिद्ध कर देना, इसीका नाम नैष्कर्म्य है।' (आशय यह है कि इस नैष्कर्म्यकी सिद्धिमें रजोगुण ही प्रतिबन्धक है और वह कर्मके द्वारा ही निवृत्त किया जा सकता है इसलिये कर्मके द्वारा उस रजोगुणको निवृत्त करके ही इस नैष्कर्म्यकी प्राप्ति सम्भव है। हृदयमें रजोगुण रहते हुए यह आ नहीं सकता। इस प्रकार इस नैष्कर्म्यकी प्राप्तिमें भी कर्मकी आवश्यकता पाई गई।) और न कर्मसंन्यासमात्रसे ही कोई भगवत्-साक्षात्काररूप सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। (अर्थात् कर्मसंन्यास वास्तवमें वही है कि कर्म-प्रवृत्तिका हेतु जो हृदयस्थ रजोगुण, वह जब कर्म-प्रवृत्ति-द्वारा हृदयसे निकल चुके तब रजोगुणके अभाव करके पक-फल के समान कर्मका अपने-आप छूट जाना, न कि हठसे कर्मका त्याग करना। हठ करके कर्म छोड़ बैठना कर्मसंन्यास नहीं। इस प्रकार क्या कर्मसंन्यास और क्या कर्मयोग दोनोंमें ही कर्म उपयोगी हो सकता है।) व्यापक दृष्टिसे देखा जाय तो वास्तवमें किसी भी क्षण यह भूतप्राणी कर्मके बिना तो स्थित रह ही नहीं सकता है; बल्कि बलात्कारसे जोड़े हुएके समान परवश होकर यह प्रकृतिके गुणोंद्वारा कर्मोंको करता ही रहता है। (अर्थात् जबकि प्रकृति त्रिगुणमयी है, प्रकृतिजन्य ही यह सब संसार है और तीनों गुण चेष्टारूप ही हैं, तब ऐसी अवस्थामें प्रकृतिसे बन्धायमान जीव कर्मशून्य कैसे रह सकता है? क्योंकि तमोगुण प्रमादरूप है और जीवको जड़तामें प्रवृत्त करता है। रजोगुण चञ्चलरूप है, वह देहेन्द्रियादिको स्वभावसे ही चञ्चल करता है। सत्त्वगुण प्रकाशरूप है, वह यद्यपि देहेन्द्रियोंके बाह्य व्यापारको तो घटाता है, परन्तु निवृत्तिपरायण तत्त्व-चिन्तनादि व्यवहारमें मन-बुद्धिकी प्रवृत्ति करता है। तत्त्व-चिन्तनादि यद्यपि शारीरिक कर्म तो नहीं हैं, तथापि मानसिक व बौद्धिक कर्म तो अवश्य

हैं ही (३।४-५)। इस प्रकार जबकि प्रकृतिके राज्यमें कोई भी भूत-प्राणी कर्मशून्य नहीं रह सकता, तब केवल कर्मेन्द्रियोंको अकड़ कर ही जो मनसे विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह तो मिथ्याचारी ही कहा जायगा (३।६)। इसके विपरीत जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके, अर्थात् फलाशा त्यागकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है, वह इससे श्रेष्ठ है (३।७)। इसलिये हे मित्र ! तू शास्त्र-विधिके अनुसार नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको कर, सब प्रकार कर्म न करनेसे तो कर्म करना ही श्रेष्ठ है। फिर देख ! शरीर-यात्रा भी कर्मके बिना सिद्ध नहीं होती है (३।८)। जबकि कर्म तो किसी प्रकार छूट ही नहीं सकता और कर्म करके उसमें बँधना भी ज़रूरी है, तब तू यज्ञार्थ (यज्ञ नाम विष्णुका है) अर्थात् भगवदर्थ ही कर्म कर और कर्तृत्वाभिमानका त्याग कर। भगवदर्थ कर्म करनेसे कर्मका बन्धन भी तेरे लिये न होगा, क्योंकि इससे भिन्न जो कर्म हैं उनके द्वारा ही यह लोक कर्मके बन्धनमें आता है। भगवदर्थ कर्मों का फल अन्तःकरणकी निर्मलताद्वारा ज्ञानराज्यका अधिकारी बनाना है, इसलिये वे बन्धनरूप नहीं हैं (३।९)।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने बतलाया कि देखो ! कर्म कितना पुरातन है। ब्रह्माने प्रजाके साथ ही कर्मरूप यज्ञको रचा था और दोनों (अर्थात् प्रजा व कर्मरूप यज्ञ) को साथ-साथ रचकर ब्रह्माने प्रजासे कहा कि इसी कर्मरूप यज्ञके द्वारा तुम वृद्धिको पाओगे और यह तुमको इच्छित कामनाको देनेवाला होगा। (अर्थात् जो कुछ तुमको मिल सकता है, वह तुम्हारे कर्मोंद्वारा ही तुमको मिल सकता है, तुम्हारे कर्मोंके बिना परमात्मा भी तुमको कुछ नहीं दे सकता। यही आशय भागवत दशम स्कन्ध गोवर्धन-लीलामें भगवान्‌ने नन्दादि गोपोंको समझाया था कि

इन्द्र तुम्हारे कर्मोंके विना तुमको कुछ नहीं दे सकता, इसलिये इन्द्रकी पूजाका त्याग करके कर्मरूप इन्द्रकी पूजा करो)। इस प्रकार कर्म व प्रजाका यह अनादि चक्र घूमता रहता है, कर्मसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है और प्रजासे कर्म उत्पन्न होता है। स्थूल रीतिसे वह इस प्रकार जानो कि अन्नसे तो भूतोंकी उत्पत्ति, वर्षासे अन्नकी उत्पत्ति, यज्ञसे वर्षाकी उत्पत्ति, कर्मसे यज्ञकी उत्पत्ति, वेद से कर्मकी उत्पत्ति और परमात्मासे वेदकी उत्पत्ति होती है (अर्थात् यों समझो कि परमात्मासे वेद उत्पन्न हुआ, वेदसे कर्म, कर्मसे यज्ञ, यज्ञसे वर्षा, वर्षासे अन्न, अन्नसे भूतप्राणी और भूत-प्राणियोंसे क्रमशः फिर कर्म, यज्ञ, वर्षा व अन्न तथा अन्नादिद्वारा फिर भूतादि और भूतादिसे फिर कर्म और कर्मसे क्रमशः फिर भूतादि । इसी प्रकार कर्मसे प्रजा और प्रजासे कर्मका यह प्रवाह अनादि चला आया है। अतः जबकि प्रजा व कर्मका यह चक्र इस प्रकार अनादि है, तब कर्मसे विमुख होना तो मानो सृष्टि-चक्रका उच्छेदन करना है। जब कि सब वेद, कर्म व प्रजा, परमात्मासे ही उत्पन्न हुए हैं और सबका मूल वह परमात्मा ही है, तब वेद व कर्म का फल भी विना किसी विवादके यही सिद्ध होता है कि उस मूल (परमात्मा) की ओर अग्रसर हुआ जाय, न कि उल्टा कर्मोंद्वारा जन्म-मरणरूप संसार-दुःख मोल ले लिया जाय। बल्कि वास्तवमें अपने आचरणोंद्वारा अपने-आपको दृष्टान्त-स्वरूप बनाकर संसारके लिये उदाहरणरूपसे पेश किया जाय और स्वार्थ त्यागकर अपना जीवन परोपकाररूप बना दिया जाय। इस प्रकार अपना व संसारका सच्चा कल्याण साध लेना और संसार-चक्रको घुमानेमें अपना हाथ बटाना, यही कर्मका लक्ष्य है।) परन्तु इस लक्ष्यको त्यागकर जिन्होंने इस लोक अथवा स्वर्गादिके भोगोंको ही अपना लक्ष्य बनाया है, जो

इन्द्रियोंके विषयोंमें ही रमण कर रहे हैं और इस प्रकार जो अपने कर्मोंद्वारा अपने लिये तथा अपने आचरणोंद्वारा संसारके लिये अनर्थरूप सिद्ध हो रहे हैं, उनका तो जीवन ही व्यर्थ है (३।१०-१६)। इस प्रकार भगवान्‌ने प्रसंगसे कर्मकी अनादिता तथा कर्मका लक्ष्य व फल निरूपण किया।

इस स्थलपर यदि विचारसे देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि वास्तवमें कर्मका फल ब्रह्मप्राप्ति नहीं है, क्योंकि जो वस्तु अपनेसे भिन्न हो और अप्राप्त हो, उसकी ही कर्मद्वारा प्राप्ति हो सकती है। परन्तु वस्तुतः ब्रह्म अपनेसे भिन्न नहीं है, बल्कि अपनेसे अत्यन्त अव्यवहित होनेसे अपना आत्मा ही है, ऐसा वेद्का ढिंढोरा है। 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो-उप०)। अर्थात् हे श्वेतकेतु! ब्रह्मका तेरे आत्मासे अभेद होनेसे 'वह ब्रह्म तू ही है'। और ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सब चराचर भूतोंकी सत्ता होनेसे वह ब्रह्म सबसे अभिन्न है। ऐसा आत्मस्वरूप ब्रह्म सर्वात्मा होनेसे अप्राप्त भी नहीं, किन्तु नित्य ही प्राप्त है, केवल अज्ञान करके अप्राप्त हुआ-सा प्रतीत हो रहा है। जैसे कोई मनुष्य कानमें कलम लगाकर भूल जाय और उसको इधर-उधर ढूँढने लगे। जब उसको कोई दूसरा पुरुष बतला दे कि 'तेरी कलम तेरे कानमें ही है' तब उसको कलमकी प्राप्ति हो जाती है। वास्तवमें कलम प्राप्त हुई भी अप्राप्त-सी भान हो रही थी। इसी प्रकार ऐसे आत्म-स्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति कर्मद्वारा सम्भव नहीं है, केवल ब्रह्मके ज्ञान-द्वारा ही ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव है। कर्मका फल तो केवल इतना ही हो सकता है कि ज्ञानका प्रतिबन्धक जो रजोगुणी विक्षेप उसको निवृत्त कर दिया जाय (जैसा 'कर्मका स्वरूप, उपयोग व फल' शीर्षक से हम पीछे पृ० ११३ से १२७ पर निरूपण कर आये हैं)। इस प्रकार ज्ञान-प्रतिबन्धक दोष-निवृत्ति ही एकमात्र कर्मका फल है।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने कहा कि जिनमें यह दोष (रजोगुणी विक्षेप) नहीं है, अथवा होकर जिनका यह दोष निवृत्त हो चुका है तथा जिनकी आत्मामें ही रति है, जो अपने आत्मामें ही तृप्त हैं और आत्मामें ही सन्तुष्ट हैं, उनके लिये तो कुछ भी कर्तव्य नहीं है। इस संसारमें उस पुरुषके लिये न तो कुछ करनेसे ही कोई प्रयोजन है और न कुछ न करनेसे ही कोई प्रयोजन है।(अर्थात् 'मुझको कर्म कर्तव्य है' अथवा 'कर्मका त्याग मुझे कर्तव्य है' इस प्रकार वह सब विधी-निषेधोंसे मुक्त है। क्योंकि प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर लेनेके कारण उसको इन सम्पूर्ण भूतोंमें कोई ग्रहण-त्याग शेष नहीं रहता और कर्म करके कोई अर्थसिद्धि शेष नहीं रहती। यही सच्ची स्वतन्त्रता, यही आज़ादी और यही मुक्ति है)(३।१७-१८)।

इस स्थलपर आधुनिक टीकाकारोंका यह आग्रह है कि कर्तव्य उसके लिये भी नहीं छूटता, अपने लिये नहीं तो संसार के हितार्थ उसको कर्म-प्रवृत्ति अवश्य कर्तव्य ही है। परन्तु उनका यह कथन आत्मस्थितिसे अलग रहकर वास्तव अनुभवको प्राप्त किये बिना ही है। क्योंकि यदि उस तत्त्ववेत्ताने संसारको अपनी आत्मासे भिन्न और अपने-आपेको भिन्न जाना है, अपनेसे भिन्न संसारको सत्य जानकर यदि वह उसे बिगड़ा हुआ देखता है और उसका सुधार करना अपना कर्तव्य समझ रहा है। अथवा उसने पहले अपने-आपको बन्धनमें जाना था और अब संसार-बन्धनसे मुक्त हुआ जान लिया है तथा अपने से भिन्न संसारको वह अभी बँधा हुआ देखता है। इस प्रकार यदि वह संसार, जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष तथा पुण्य-पापादि को सत्य जानता है, तब न तो वह आत्मतृप्त है, न उसकी आत्मरति है और न आत्मसंतुष्टि ही। आत्मतृप्ति व आत्मसं-तुष्टि तो उसका नाम है, जहाँ तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा अखिल

संसार अपने आत्मसमुद्रकी तरङ्गें भान होने लग पड़े और सम्पूर्ण तरङ्गोंमें समुद्रकी भाँति एक ही आत्मदेव आनन्दकी डाढ़ें मारता हुआ दीख पड़े। कहाँका विगाड़ और किसका सुधार? जब शिवशम्भुके समान यह आत्मदेव अपना तृतीय ज्ञान-नेत्र खोले, तब इसको ज्ञात होगा कि संसार तो कभी कुछ विगड़ा था ही नहीं और न कभी इसका कुछ सुधार करनेयोग्य ही था, न किसीको कदापि कोई बन्धन था और न मोक्ष। विगाड़-सुधार तो केवल हमारे अपने अन्दर ही हुआ था, जिससे हमने अपने-आपको अपने आत्मासे भिन्न कुछ जान लिया था और स्वप्नकी भाँति अपने अन्दरसे आप ही संसारको निकालकर जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष और पुण्य पापादिकी कल्पना करने लग पड़े थे। और इस प्रकार ऊर्णनाभि[1] के समान आप ही अपने भीतरसे संकल्पोंका जाल निकालकर आप ही फँस गये थे। अब भला बतलाइये, जबतक वह सुषुप्त-पुरुष स्वप्नसे न जागे, उसका स्वप्न-संसार कैसे निवृत्त हो सकता है? परन्तु जब उसको यथार्थरूपसे ज्यों-की त्यों यह ज्ञान-जागृति प्राप्त हो जाय अर्थात् इन भगवद्वचनोंके अनुसार वह अपना और संसारका स्वरूप ठीक-ठीक अपरोक्ष कर ले। यथा—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (२।६९)

अर्थ—जिस आत्मतत्त्वसे सम्पूर्ण भूतप्राणी अचेत सोये हुए हैं, उस आत्मतत्त्वमें वह संयमी (आत्मतृप्त) पुरुष जागा हुआ है, अर्थात् देहादिसे ऊँचा उठकर उसने उसीमें भली-भाँति आत्म-स्थिति प्राप्त की है। और जिस संसार चक्रमें भूतप्राणी जागे

[1] मकड़ी, एक जन्तु विशेषका नाम है जो अपने भीतरसे जाला निकालकर आप ही उसमें फँस जाता है।

हुए हैं, अर्थात् इसे सत्यरूपसे ग्रहण कर रहे हैं, उस आत्म-तृप्तके लिये यह संसारचक्र रात्रिके समान शून्य हो गया है।

तब फिर ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लिये कहाँका संसार? किसका बिगाड़-सुधार? कैसा जन्म-मरण? किसको बन्धन? किसका मोक्ष ? ये सब जन्म-मरणादिकी व्यवस्था तो अज्ञान-निद्रामें ही बन रही थी और सब कर्तव्योंका बन्धन वहींतक था। परन्तु जब ज्ञान-जागृति आई तब उसने यथार्थरूपसे जाना कि—

न कोई तालिब हुआ हमारा, न हमने दिलसे किसीको चाहा।
न हमने देखीं ख़ुशीकी लहरें, न दर्दोग़मसे कभी कराहा।
न हमने बोया, न हमने काटा, न हमने जोता, न हमने गाहा।
उठा जो दिलसे भरमका पड़दा, तो उसके उठते ही फिर अहाहा!!

अब भला बतलाइये ! ऐसे आत्मतृप्त पुरुषके लिये कोई कर्तव्यरूप बन्धन बनाना कितना अन्याय है ? कैसी आत्महत्या है ? ऐसे छके हुए पुरुषपर भगवान् कैसे कोई कर्तव्य लागू कर सकते हैं ? बाबा ! ऐसे पुरुषको तो कर्तव्यकी फाँसीसे निकलने दो, सच्ची आज़ादीका भोग भोगने दो, सच्ची बादशाहतका मज़ा लूटने दो, कर्तव्यरूप बन्धनके लिये ऐसी समझके और ही बहुत हैं। कहावत है, 'मालपर ही जगात होती है'। कर्तव्यका बन्धन तो उसपर होता है जो देहमें बँधा हुआ हो। ऐसे आत्मतृप्तपर बन्धन कैसा? जो न देह है न इन्द्रियाँ, न मन है न बुद्धि, बल्कि सबसे परे सबका तमाशाई है। वह तो केवल चेतन-आकाश है। भला ! आकाशको भी किसीने बाँधा है ?

इस प्रकार यहाँतक कर्मकी अनिवार्यता, कर्म व प्रजाका ओत-प्रोतभाव और कर्मका उपसंहार, अर्थात् कर्म कहाँ आकर पर्यवसानको प्राप्त होते हैं, यह सामान्य दृष्टिसे निरूपण किया

गया। आशय यह है कि इस आत्मतृप्तिको प्राप्त करके ही कर्मों का पर्यवसान होता है और यहीं कर्मोंका उपसंहार है। क्योंकि प्रकृतिके राज्यमें यह नियम है कि जिसका आदि है उसका अन्त भी है। जब चेष्टारूप प्रत्येक कर्म उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाला है, तब कर्म प्रवाह भी उत्पन्न होकर पर्यवसानको प्राप्त होनेके लिये क्यों न हो? वस्तुत. प्रत्येक चेष्टारूप प्रवृत्ति सुखी होनेके लिये ही है और ब्रह्मासे लेकर चिऊँटीपर्यन्त प्रत्येक भूतकी दौड़-धूप केवल सुखके लिये ही है। और जिस वस्तुके लिये दौड़-धूप है, उसको प्राप्त करके दौड़-धूपका बन्द हो जाना भी स्वाभाविक ही है। जब इस आत्मतृप्तने स्थिर सुख-शान्तिको पा लिया, तब इस निमित्त इसकी कमरका खुल जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार अब तो इसके कर्म स्वाभाविक इसी रूपसे हो रहे हैं, जैसे कुम्हारका चक्र दण्ड निकल जानेके पश्चात् कुछ कालतक घूमता रहता है। यहीं कर्मका पर्यवसान है और यहीं उपसंहार। अब इसपर कर्म करना, वा न करना, कोई कर्तव्य नहीं रहा, बल्कि करने न करनेमें वह सम है।

अब अर्जुनको सम्मुख करके भगवान् फिर कहते हैं—हे अर्जुन! इसलिये (अर्थात् इस आत्मतृप्ति एवं आत्मरतिको प्राप्त करनेके लिये, जहाँ सब कर्म अकर्म हो जाते हैं और 'सब कुछ करके भी कुछ न करना' रह जाता है) तू सदा ही आसक्तिरहित होकर करने-योग्य कर्मोंको कर, क्योंकि अनासक्तभावसे कर्मोंका आचरण करते हुए पुरुष (अन्त.करणकी निर्मलताद्वारा) परमात्माको प्राप्त हो जाता है (३।१९)। ('कार्यं कर्म समाचर' में 'कार्यं' शब्द कर्म का विशेषण है, जिसका अर्थ है 'करनेयोग्य कर्म, अर्थात् स्वाभावतः प्राप्त कर्म')। और देखो! जनकादिकोंने भी कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त किया है तथा लोकसंग्रहकी ओर देखते हुए भी

तुमको कर्म करना ही उचित है (३।२०)। (अपने आचरणोंद्वारा संसारके लिये उपदेशरूप होना लोकसंग्रह कहलाता है। इससे यह तात्पर्य नहीं कि साक्षात् कर्मद्वारा ही परमात्माको प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु अन्तःकरणकी निर्मलताद्वारा ही कर्म ईश्वरप्राप्तिमें परम्परासे साधन बनता है, साक्षात् नहीं। जिस जनकका उदाहरण दिया गया है उस जनकको केवल कर्मद्वारा ही ईश्वरप्राप्ति नहीं हुई, किन्तु उसका फल अन्तःकरणकी निर्मलता ही हुआ है। निर्मल अन्तःकरणमें सन्त सिद्धोंके उपदेशरूप वचन और अपने विचारद्वारा ही जनकने परम सिद्धिको प्राप्त किया था, देखो योग-वासिष्ठ, उपशम प्रकरण,जनक आख्यान। और परम सिद्धिकी प्राप्तिके पश्चात् जो स्वाभाविक कर्म जनकद्वारा प्रकट हुए थे वे सब अकर्म ही हुए। क्योंकि अहंभाव गलित हो जानेके कारण उन कर्मोंके साथ जनकरूप व्यक्तिका किसी रूपसे कर्तव्यतारूप संग नहीं था, केवल लोकसंग्रह-दृष्टिसे विनोदार्थ ही वे सब कर्म होते थे)। हे अर्जुन! लोकसंग्रह-दृष्टिसे श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी उनके अनुसार ही बर्ताव करते हैं; अर्थात् अपने आचरणोंद्वारा वे जैसा-जैसा प्रमाण कर देते हैं, लोक उनके अनुसार ही चलते हैं (३।२१)। मुझको ही देखो कि तीनों लोकोंमें मुझको कुछ भी कर्तव्य नहीं है और न कोई ऐसी अप्राप्त वस्तु है, जिसको कर्मके द्वारा मुझे प्राप्त करना हो, परन्तु फिर भी मैं कर्ममें ही वर्तता हूँ। यदि मैं निरालस्य हुआ कर्ममें न वर्तूँ तो मनुष्य सब प्रकारसे मेरे बर्तावके अनुसार ही वर्तने लग जाएँ (३। २२-२३)। यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सारा संसार ही कर्मसे भ्रष्ट हो जाय और मैं कर्मसंकरता (अर्थात् कर्म-हीनता) का कर्ता हो जाऊँ, इस प्रकार मैं सारी प्रजाका नाश करनेवाला हो जाऊँ (३।२४)। इसलिये आसक्तिसहित अज्ञानी

पुरुष जिस प्रकार कर्म करते हैं, ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि उसी प्रकार आसक्तिरहित हुआ कर्मोंमें वर्ते और लोक-संग्रहका पालन करे (३।२५)। ज्ञानी पुरुषको उचित है कि कर्मके अधिकारी अज्ञानियोंकी बुद्धिमें कर्मसे ग्लानि उत्पन्न न करे, बल्कि अपने आत्मस्वरूपमें युक्त हुआ भली प्रकार कर्मोंका आचरण करे, (अर्थात् अपने साक्षीस्वरूपमें कर्मोंद्वारा कोई विकार न देखता हुआ, कर्ता व कर्तव्यभावसे मुक्त होकर कर्मोंमें वर्ते) और उन अज्ञानियोंसे भी कर्म करावे (३।२६)।

गीता अ० ३ श्लो० १६ से २६ तकका भावार्थ यह है, कि श्लो० १७ व १८ में कर्मका जो उपसंहार तथा पर्यवसान भगवान्ने निरूपण किया है कि—

'जिसकी अपने आत्मामें ही रति व तृप्ति है, उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। क्योंकि कर्म करके उसको कोई फल प्राप्त करना नहीं है और न कर्म त्याग करके ही कुछ फल पाना है। वह तो सब विधि-निषेधोंसे मुक्त है, सब भूतोंमें इसका किसी प्रकारसे कोई लगाव नहीं रहता।'

इससे अगले १९वें श्लोकमें ही भगवान्का वचन है—

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।'

(यहाँ 'तस्मात्' (अर्थात् इसलिये) शब्द अपनेसे पूर्व १७ व १८वें श्लोकसे सम्बन्ध जोड़ता है)।

'इसलिये तू आसक्तिरहित हुआ सदा ही करनेयोग्य कर्मका भली प्रकार आचरण कर।' 'तस्मात्' (इसलिये) शब्दसे पूर्व श्लोकों (१७, १८) से सम्बन्ध जोड़कर भगवान् यही आशय व्यक्त करते हैं कि कर्मोंका मुख्य फल तो यही है कि कर्मोंके द्वारा हृदयस्थ रजोगुणी विक्षेपको निवृत्त करके इस आत्मरति व आत्मतृप्तिमें स्थिति पा ली जाय। लोकसंग्रहादि कर्मोंका

मुख्य नहीं, किन्तु गौण ही फल है, क्योंकि इससे आगे २० वें श्लोकमें ही भगवान् कहते हैं—

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।'

'लोकसंग्रहकी ओर देखते हुए भी तुमको कर्म करना योग्य है'। इससे स्पष्ट है कि लोकसंग्रह कर्मका मुख्य फल नहीं, किन्तु वह लोकसंग्रह भी कर्म-प्रवृत्तिमें एक हेतु बनता है। कर्ममें प्रवृत्त होनेके लिये यह भी एक दूसरी दलील दी गई है। यदि भगवान्‌की दृष्टिसे लोकसंग्रह मुख्य हेतु होता तो पहले १९ वें श्लोकमें ही 'तस्मात्'के साथ भगवान् इसीको जोड़ते और कहते कि 'इसलिये तेरेको लोकसंग्रह करना कर्तव्य है।' परन्तु ऐसा न कर भगवान्‌ने तो कर्मका अन्तिम निष्कर्ष जो आत्मरति, उसीके साथ 'तस्मात्' शब्दका समन्वय किया है और लोकसंग्रहको कर्म-प्रवृत्तिमें एक दूसरी दलीलके तौरपर दिया है कि 'यदि लोक-संग्रहकी ओर भी देखा जाय तो भी कर्म करना चाहिये'। इस प्रकार भगवद्दृष्टिसे कर्मके केवल दो ही हेतु व फल हैं—

(१) मुख्य हेतु तो यह है कि वह रजोगुणी विक्षेप जो आत्म-रति व आत्मतृप्तिमें प्रतिबन्धक है, उसको निष्काम-कर्मके द्वारा निवृत्त कर दिया जाय और उसको निवृत्त करके ज्ञानद्वारा सर्व-कर्तव्य-विनिर्मुक्त होकर आत्मरतिमें आरूढ हुआ जाय। तथा चित्तके अधिकारानुसार क्रम-क्रमसे स्वार्थत्यागपूर्वक निष्काम धार्मिक प्रवृत्ति, निष्काम भक्ति तथा सांसारिक आसक्तियोंसे तीव्र वैराग्य सम्पादन करके वेदान्तके श्रवण-मननद्वारा आत्मतृप्ति व आत्मसन्तुष्टि प्राप्त कर ली जाय, यही कर्मका मुख्य फल है। और 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार' का यही भावार्थ है, जोकि पहले श्लोकों (१७ व १८) से समन्वित होता है। स्मरण रहे कि जैसा पीछे पृ० ११३ से १२१ तक विवेचन किया गया है,

अधिकारानुसार वेदान्त-श्रवण मननादि भी मानसिक कर्म होने से अनासक्त कर्मके अन्तर्गत ही हैं और क्षत्रिय धर्मके अनुसार धर्मयुद्ध भी धार्मिक प्रवृत्तिमें ही शामिल है।

(२) कर्म-प्रवृत्तिका गौण हेतु यह है कि उपर्युक्त रीतिसे आत्मस्थिति प्राप्त कर चुकनेपर और तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर, इस जीवन्मुक्त विद्वान्‌के द्वारा स्वाभाविक कर्म केवल लोक-संग्रहार्थ हों और वह लोक-कल्याणके निमित्त केवल विनोदमात्र कर्ममें प्रवृत्त हो किसी कर्तव्य करके नहीं। 'कर्तव्य' उसको कहते हैं, जिसके करनेके लिये किसी वेद-शास्त्रने कर्तापर विधि लगाई हो और जिसके न करनेसे कर्तापर प्रत्यवाय भी रक्खा गया हो। परन्तु जिस कर्मके करनेके लिये न तो कर्तापर कोई विधि ही आरोपित की गई हो और न प्रत्यवाय ही रखा गया हो, वह कर्तव्य-रूपसे कर्तापर लागू नहीं होता और न वह किसी प्रत्यवायका ही भागी बनाता है। वेद-शास्त्र कर्मोंकी कर्तव्यता सदैव भेद-दृष्टिसे देहादिमें अहंभाव रखनेवालेपर ही लगाते हैं, जिसका यही उद्देश्य होता है कि शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्यसे बँधकर शुभ व निष्काम प्रवृत्तिद्वारा इस जीवका आत्मविकास हो, क्रम-क्रमसे देहादिसे अहंभाव शिथिल होकर अन्तमें भेद-दृष्टि कर्पूरके समान उड़ जाय, अभेद-दृष्टिद्वारा सर्वात्मैक्य-दृष्टि प्राप्त हो और फिर सब कर्तव्योंका बन्धन अपने-आप कट जाय। कर्तव्यरूप बन्धनका इससे भिन्न और कोई प्रयोजन नहीं बनता। चूँकि इस जीवन्मुक्त विद्वान्‌को अभेद-दृष्टिद्वारा सर्वात्मैक्य-दृष्टि प्राप्त हो गई है, इसने ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सब भूतजातको अपरोक्षरूपसे अपना आत्मा जाना है और अपने आत्मामें सब प्रपञ्चको साक्षात् स्वप्न-वत् शून्यरूप निश्चय कर लिया है, फिर इसपर कोई शास्त्र किस प्रकार और क्योंकर कर्तव्य लागू कर सकते हैं ? वह तो तब

सभी वेद-शास्त्रोंकी मर्यादाओंसे पार हो गया है, फिर वह किस कर्तव्यमें बन्धायमान हो सकता है? दूसरे, वह उसी समयतक कर्तव्यको अपने ऊपर लागू रख सकता था, जबतक कि वह इस प्रपञ्चको सत्यत्व-बुद्धिसे ग्रहण कर रहा था। परन्तु जब उसने इस प्रपञ्चको बालकोंके समान अपनी ही रची हुई मृत्तिकाकी सेना जाना, तब वह किसी कर्तव्यमें कैसे बँध सकता है? बच्चों की खुशी है, जबतक मन माना हाथी-घोड़े रचकर अपना खेल खेलते रहें और जब जीमें आये लात मारकर और हाथ झाड़कर सबको बराबर कर डालें, 'हमींने खेला हमींने बुझाना'। अजी! वे अपने मनके बादशाह हीला-मौला हैं, किसकी मजाल है जो उनपर कोई कर्तव्य लगावे। बल्कि कहना पड़ेगा कि यदि वह विद्वान् अपने ऊपर कोई कर्तव्य देखता है, तब वह अभी मुक्त नहीं है, किन्तु बन्धनमें ही है। भगवान् अष्टावक्रजीका वचन है—

> ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
> नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

अर्थ—जो ज्ञानरूपी अमृतसे रज्जा है, ऐसे कृतकृत्य योगीके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, यदि वह अपनेमें कोई कर्तव्य देखता है तो वह तत्त्ववेत्ता ही नहीं है।

इसीलिये भगवान् भी बड़े नरम शब्दोंमें कहते हैं कि 'लोक-संग्रहकी ओर दृष्टि रखकर भी तुमको कर्म करना उचित है, न कि फ़र्ज़, ड्यूटी—

> 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।'

इससे आगे २१ वें श्लोकमें भी सरलतासे कहते हैं और दलील देते हैं—'क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं और अपने आचरणोंद्वारा वे जैसा प्रमाण कर देते हैं, संसार भी वैसा

ही वर्तने लग पड़ता है, इसलिये तुमको कर्म करना उचित है'। न यह कि 'लोकसंग्रह तुमपर कर्तव्य है और तुमको करना ही पड़ेगा', ऐसा डाटकर कहा गया हो। इससे आगे उसी नरम स्वरमें २२ वें श्लोकमें अपनेको भी दृष्टान्तमें रख देते हैं और साफ-साफ ही कह देते हैं कि 'हे पार्थ! देखो, यद्यपि मुझपर कोई कर्तव्य नहीं है और तीनों लोकोंमें मुझे कुछ पाना भी नहीं है, फिर भी मैं कर्ममें ही वर्त रहा हूँ'।

इस प्रकार क्या युक्ति और क्या प्रमाण, सब प्रकारसे यही सिद्ध होता है कि तत्त्ववेत्ता विद्वान्पर लोकसंग्रह कोई विधिरूप कर्तव्य नहीं है और उसके न चलानेसे उसको कोई प्रत्यवाय भी नहीं है। यदि कोई प्रत्यवाय होता तो भगवान्को इस स्थलपर अवश्य कथन करना चाहिये था, जब कि वे युद्धसे उपराम हुए अर्जुन को रण-संग्रामके लिये तैयार कर रहे थे। बल्कि वे तो लौकिक-दृष्टिकी नरम-नरम दलीलें ही इस स्थलपर पेश कर रहे हैं, शास्त्रदृष्टिसे नहीं। वे ये कि—

'देखो! यदि मैं निरालस्य हुआ कर्ममें न वर्तूं तो मनुष्य सब प्रकार मेरे वर्तावका अनुसरण करेंगे। फिर यह लोक भ्रष्ट हो जायगा और मैं कर्म-संकरताका करनेवाला तथा संसारको हनन करनेवाला हो जाऊँगा।'

यद्यपि लौकिक-दृष्टिसे वे ये सब दलीलें दे रहे हैं, परन्तु साथ ही अपनेको किसी कर्तव्यमें नहीं बाँध रहे और साफ-साफ कह रहे हैं कि—

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन' (श्लो० २२)

हाथ उठाकर कहते हैं कि तीनों लोकोंमें मुझपर कोई कर्तव्य नहीं है।

सारांश, लोकसंग्रह-प्रवृत्ति केवल जीवन्मुक्त विद्वान्‌के ही हिस्सेकी वस्तु है, अन्य पुरुष लोकसंग्रहका अधिकारी नहीं हो सकता और वह कर्तव्य न होनेसे कर्म-प्रवृत्तिका मुख्य हेतु नहीं, गौण ही है। गीतादृष्टिसे कर्म-प्रवृत्तिका मुख्य हेतु तो यही है कि अपने अधिकारानुसार आत्मतृप्तिके क्षेत्रमें अग्रसर होते हुए अन्ततः इस आत्मतृप्तिमें आरूढ हुआ जाय। इस प्रकार गीता-दृष्टिसे कर्म-प्रवृत्तिके ये दो ही हेतु बनते हैं। इससे भिन्न सकाम प्रवृत्ति तो गीताको 'कर्म'की संज्ञामें ही मन्तव्य नहीं है, बल्कि वह तो उसे विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म ही मान्य है।

लोकसंग्रहको स्पष्ट करके अब भगवान् ज्ञानी व अज्ञानीके कर्मोंमें भेद करके दिखला रहे हैं कि वास्तवमें ज्ञानीकी दृष्टिमें अपने आत्मासे भिन्न कर्मकी कोई सत्ता ही नहीं है। 'कर्मण्य-कर्म यः पश्येत्' (४।१८), अर्थात् उसकी दृष्टिमें तो सभी चेष्टारूप कर्म, निश्चेष्ट व निर्विकार ब्रह्मरूप ही हो गया है और वह अपने आत्मामें कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरणादि षट्-कारकोंमेंसे किसीका कोई लेप ही नहीं देखता। इसलिये वह 'मैं कर्मका कर्ता हूँ और लोकसंग्रह मुझपर कर्तव्य है', इत्यादि बाह्य आसक्तियोंको धारकर तो कर्ममें प्रवृत्त हो ही कैसे सकता है? तथापि वह इन सब आसक्तियोंसे स्वाभाविक मुक्त हुआ और अपनेमें इन सबका कोई लेप न देखता हुआ, जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष आसक्तिसहित कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार आप भी आसक्तिरहित हुआ कर्ममें बर्ते और लोक-संग्रहको चलावे। यद्यपि उसकी दृष्टिसे अपने आत्मामें कर्मोंद्वारा कुछ पाना अथवा निवृत्त करना नहीं है, तथापि वह कर्मके अधिकारी अज्ञानियोंकी बुद्धिमें कर्मसे ग्लानि न उपजावे। क्योंकि वे भी कर्म करते-करते ही अपने बड़े-बड़े रजोगुणको निवृत्त

करके इस अवस्थाको प्राप्त हो सकेगे, कर्मत्यागसे ही कदापि नहीं। इसलिये ज्ञानी आप अपने स्वरूपमें युक्त हुआ और अपने में कोई विकार न देखता हुआ इस प्रकार लोकसंग्रहको चलावे।

कर्मोंका कर्ता वास्तवमें कौन है? अज्ञान करके किस प्रकार कर्मोंका बन्धन हो जाता है? और ज्ञानद्वारा किस प्रकार कर्मबन्धनसे छुटकारा मिल जाता है? भगवान् इस आशयको आगे दो श्लोकोंमें यों वर्णन करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ (३।२७)
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ (३।२८)

अर्थ—सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही कर्म किये जाते हैं, परन्तु जिसका आत्मा (मन) अहङ्कारसे मूढ़भावको प्राप्त हो गया है, ऐसा पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान बैठता है। हे महाबाहो! गुण-कर्मके विभागको तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी पुरुष तो 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं' ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि हमें यह जानना चाहिये कि 'कर्म' वास्तवमें किस स्थलपर है और किस स्थलपर कर्मरूप व्यापार कुण्ठित हो जाता है? संसारमें मुख्य तत्त्व दो ही हैं—एक प्रकृति और दूसरा पुरुष, अर्थात् साक्षीस्वरूप आत्मा। 'साङ्ख्य व वेदान्त-मतसे सारा संसरणरूप संसार प्रकृतिके राज्यमें ही है और वह प्रकृति का ही विकार है। परन्तु प्रकृतिका अधिष्ठान जो निर्विकार निष्क्रिय आत्मा है वह तो सर्वव्यापक होनेसे सब विकारोंसे मुक्त ही है। क्योंकि यह नियम है कि विकार सदैव उस वस्तुमें ही प्रकट होता है जो स्थूल व परिच्छिन्न हो। सूक्ष्म एवं अपरिच्छिन्न वस्तुमें

तो किसी विकारका होना सर्वथा असम्भव ही है, क्योंकि अपनी सर्वव्यापकता करके उसमें किसी विकारका अवकाश ही नहीं हो सकता। जैसे सर्वव्यापी आकाश अपनी सूक्ष्मता व व्यापकता करके सब विकारोंसे मुक्त है। यद्यपि सब विकार आकाशके आश्रय ही प्रकट होते हैं, अर्थात् वायु बहती है, जल बरसता है, आँधी चलती है, सूर्य तपता है, इत्यादि असंख्य विकार होते तो आकाशके आश्रय ही हैं; परन्तु आकाश न चलता है, न मैला होता है, न भीगता है और न तपता ही है। अपनी सूक्ष्मता करके वह तो आप सब विकारोंका आश्रय होता हुआ भी स्वयं निर्विकार-रूपसे ही स्थित रहता है। इसी प्रकार आत्मा अपनी व्यापकता व सूक्ष्मता करके प्रकृतिके सब विकारोंका आश्रय होता हुआ भी स्वयं निर्विकाररूपसे स्थित रहता है।

चलती है वायु सर सर, बहते हैं बोंदें भर भर।
होती है पूजा हर हर, मुझमें मुझमें मुझमें॥

चूँकि वह सबमें एकरस नित्य ही स्थित है, इसलिये वह ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सभीकी आत्मा है, सबमें 'अहं' शब्दसे उसी का व्यवहार होता है और वही 'अहं' रूपसे ग्रहण किया जाता है, अर्थात् 'अहं' शब्दका प्रयोग उसीमें है। आत्मासे भिन्न जड़ प्रकृतिमें तो 'अहं' शब्दका प्रयोग सम्भव हो ही नहीं सकता, क्योंकि 'मैं जड़रूप हूँ' ऐसा तो कोई भी अपने व्यवहारसे अपने-आपको सिद्ध नहीं करता; बल्कि सभी अपने व्यवहारसे अपने-आपको चेतन व महान् सिद्ध करते हैं। जड़ प्रकृति तो कदाचित् है कदाचित् नहीं, परन्तु 'मैं कदाचित् नहीं हूँ' ऐसा भी कोई अपने व्यवहारसे सिद्ध नहीं करता। यद्यपि सुषुप्ति अवस्थामें प्रकृतिजन्य सब प्रपञ्च तथा देहेन्द्रिय अन्तःकरणादिका लय हो जाता है, परन्तु

'मैं तो उस कालमें भी हूँ और सबके अभावको देखता हूँ, मेरा अभाव नहीं होता' ऐसा सभी अपने अनुभवसे सिद्ध करते हैं। इस प्रकार 'मैं' शब्दका प्रयोग आत्मामें ही है जड़ प्रकृतिमें नहीं, यह सिद्ध हुआ। ऐसे व्यापक सर्वगत आत्मामें तो कर्मविकार, अर्थात् कर्मका कोई लेप किसी प्रकार सम्भव है ही नहीं। यदि प्रकृति के विकारोंसे वह आप भी विकारी होता हो तो फिर विकारोंकी उत्तर-प्रतीति ही असम्भव हो जाय, क्योंकि विकार स्वयं अभाव-रूप है,अपने-आप उसका प्रकाश हो नहीं सकता।इसलिये विकारों के मूलमें किसी एक निर्विकार कूटस्थ वस्तुका रहना निश्चित है, जिसके आश्रय विकारोंका प्रकाश हो। जैसे भूषणरूप सर्व विकार एक, निर्विकार, कूटस्थ अहरनके आश्रय ही सिद्ध होते हैं, यदि भूषणोंके विकारोंसे अहरन आप भी चलायमान व विकारी हो तो उसके आश्रय विकाररूप भूषणोंकी सिद्धि हो ही नहीं सकती। इस प्रकार जबकि आत्मा स्वय सर्व विकारों से निर्लेप पाया गया, तब सब कर्मरूप विकार केवल प्रकृतिके राज्यमें ही जाने गये, क्योंकि और तो कोई तीसरी वस्तु है ही नहीं, जिसके मत्थे कर्मरूप विकारोंको लगाया जाय। प्रकृति अपने स्वरूपसे सत्त्व, रज व तम त्रिगुणमयी ही है, अर्थात् इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम ही प्रकृति है। जिस अवस्था में ये तीनों गुण अपने समताभावमें स्थित रहते हैं, उस अवस्थामें कोई कर्मरूप विकार प्रकट नहीं हो सकता। जैसे शरीरके वात, पित्त व कफ तीनों दोष जब अपनी समतामें रहते हैं, तब शरीर निर्विकाररूपसे निरोग स्थित रहता है। इसी प्रकार तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृतिमें कोई विकार न होनेसे उस साम्या-वस्थामें संसार लयरूपसे सुषुप्तिवत् स्थित रहता है, इसलिये उस अवस्थामें भी कोई कर्म नहीं होते। कर्म तो केवल प्रकृति

की विकृतिमें ही सिद्ध होते हैं, जबकि तीनों गुणोंकी समता भंग होकर गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न होता है। गुण-क्षोभ-कालमें तीनों गुणोंमेंसे कोई एक गुण जीवमें विकसित रहता है, शेष दो गुण दबे रहते हैं। जो गुण जिस समय जीवमें खिला हुआ रहता है, वैसा ही कर्म जीवके द्वारा सिद्ध होता है। जैसा गीता कहती है कि सत्त्व गुणसे ज्ञान, प्रकाश, त्यागादि कर्म होते हैं, रजोगुण लोभ व चञ्चलता आदिको प्रकट करता है, तमोगुण प्रमाद, मोह, आलस्य और क्रोधादिको उपजाता है—

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥(१४।१७)

इससे सिद्ध हुआ कि अहंरूप आत्मामें तो किसी प्रकार कर्मका कोई लेप है ही नहीं और प्रकृतिकी साम्यावस्थामें भी कर्मका लोप ही है, केवल प्रकृतिकी विकृत अवस्थामें गुणोंद्वारा ही अपने-अपने गुणोंके अनुसार कर्म प्रकट होते हैं। इस प्रकार अहंरूप आत्मा निर्विकार होनेसे न तो कर्ता ही पाया गया और निर्लेप होनेसे न उसमें किसी प्रकार कर्मका स्पर्श ही सिद्ध हुआ। क्षोभको प्राप्त होकर केवल गुण ही कर्ता पाये गये और गुणोंद्वारा ही कर्मरूप विकारोंकी सिद्धि हुई। अब ऐसी अवस्थामें देखना यह है कि अकर्ता होता हुआ भी यह आत्मा कर्म-बन्धनमें क्योंकर फँस जाता है? इसका समाधान यह है कि उपर्युक्त रीतिसे प्रकृति व आत्माके यथार्थ स्वरूपका अविवेक ही इस बन्धनका मूल है। और इसी अज्ञानद्वारा प्रकृति व आत्माके धर्मोंका परस्पर अन्योन्याध्यास[1] होकर जीवभावमें बँधा हुआ

(१) एकका दूसरेमें भ्रम और दूसरेका पहलेमें भ्रम, इसको 'अन्योन्याध्यास' कहते हैं

यह चेतन पुरुष कर्मोंके बन्धनमें बँधकर पुण्य-पाप, जन्म-मरण तथा सुख-दुःखके साथ लगा हुआ घटीयन्त्रके समान भटकता फिरता है। उस अन्योन्याध्यासका प्रकार यह होता है कि आत्मा का अहता-धर्म तो प्रकृतिमें और प्रकृतिके गुणोंका कर्तृत्व आत्मा में अध्यस्त हो जाता है, जिससे मिथ्या अभिमानद्वारा प्रकृतिके गुण-कर्मोंको अपनेमें मानकर यह जीवात्मा 'मैं कर्मोंका कर्ता हूँ' इस प्रकार कर्तृत्वाभिमानके बन्धनमें बन्धायमान हो जाता है और यह अज्ञान ही सब अनर्थोंका मूल है। इसका स्पष्टीकरण यों समझा जा सकता है—

(१)
पुरुष (अर्थात् साक्षीस्वरूप-आत्मा)
अहंता-धर्म
(२)
प्रकृति (तीनों गुणोंकी साम्यावस्था)
विकृति (तीनों गुणोंकी विषमता अर्थात् गुणक्षोभ-अवस्था)
तीनों गुण ही वस्तुतः कर्मके कर्ता हैं
अहन्ता-धर्म है तो आत्मामें, परन्तु वह प्रकृतिके गुणोंमें अध्यस्त होकर 'मैं कर्ता हूँ' इस रीतिसे इसका गुणोंमें अभिमान हो जाता है।
कर्तृत्व है तो प्रकृतिके गुणोंमें, परन्तु उस कर्तृत्वका आत्माके 'अहंता-धर्म' में अध्यास होने लग जाता है। जिससे गुणोंका कर्तृत्व आत्मामें मान होकर 'कर्ता मैं हूँ' इस रूपसे आत्मामें अध्यास हो जाता है।

इस प्रकार आत्माके अहंता-धर्मका अभिमान गुणोंमें और गुणोंका कर्तृत्व आत्मामें भान होने लगा। इसीका नाम 'चिज्जड़-ग्रन्थि' है। इस प्रकार प्रकृतिके गुणोंके परिणाम जो बुद्धि, चित्त व मन हैं, अज्ञानद्वारा उनमें 'अहं-अभिमान' करके यह आत्मदेव जो कुछ व्यापार मन-बुद्धयादिमें होता है, अथवा मन-बुद्धयादिके द्वारा जो कुछ चेष्टा देहेन्द्रियोंमें होती है, उन सबमें ही 'अहं-कर्तृत्वाभिमान' धारने लगा। फिर प्रकृतिकी नीतिमें बँधकर शुभाशुभ कर्मोंके धर्माधर्मरूप संस्कारोंका सञ्चय करने लगा और उनके फलभोगके लिये देहादिमें बँधा हुआ जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया। अत: कर्मोंसे शरीर और शरीरसे कर्मका प्रवाह चल पड़ा। ऐसी अवस्थामें जबतक यह चिज्जड़-ग्रन्थि विद्यमान है और ज्ञानद्वारा इसको दग्ध नहीं किया गया, तबतक चाहे यह किसी भी प्रकारका कर्तव्य अपने ऊपर लागू रखकर सकाम अथवा निष्काम-कर्ममें प्रवृत्त हो, परन्तु फल उसका अवश्य है। क्योंकि गुणोंके साथ अहंकर्तृत्व-अभिमान विद्यमान रहनेसे यह धर्माधर्मरूप संस्कारों को अपनेमें अवश्य धारण करता है, जो किसी प्रकार फलशून्य नहीं हो सकते।

कर्म किस स्थलपर हैं? किस स्थलपर वे कुण्ठित हो जाते हैं? और कर्मोंके साथ जीवको बन्धन किस प्रकार हैं? यह वर्णन किया गया। अब यह विचार कर्तव्य है कि इस प्रकार अनर्थरूप प्रकृतिके जालमें फँसकर कर्मोंके बन्धनसे इस जीवका छुटकारा कैसे हो? उत्तर स्पष्ट है कि इस चिज्जड़-ग्रन्थिके छूटे बिना तो जीव का किसी भी प्रकार निस्तार है नहीं, क्योंकि सब अनर्थोंका मूल यही है। और किसी भी प्रकार कर्मों करके इस ग्रन्थिको तोड़ना ख-पुष्पके तुल्य ही है, कर्म तो इस ग्रन्थिका फल है, बल्कि कर्म के द्वारा तो उल्टा इस ग्रन्थिको पुष्ट किया जाता है। जबकि रोग

की मूल पा ली गई तब उसका काटना भी सहज है। अपने आत्मस्वरूपसे गिरकर ही जब जन्म-कर्मादिका विपूचिका रोग लगा है, तब उस आत्मस्वरूपमें स्थित होकर ही इसको निवृत्त किया जा सकता है। गीता (१५।२) में भगवान्‌ने इस संसारको वृक्ष की उपमा देकर बतलाया है कि इस संसार-वृक्षकी शाखाएँ नीचे-ऊपर सब ओर फैली हुई हैं और मनुष्य-योनिमें किये गये कर्मों के द्वारा ही इसकी जड़ें नीचे पातालतक पसर गई हैं—

अधश्च मूलान्यनुसंततानि,
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।

इसलिये कर्मोंसे तो किसी भी प्रकार इस ग्रन्थिका काटना असम्भव ही है और मलको मलसे धोनेके तुल्य ही है, यथा—

चौ०—मल कि जाय कहुँ मलके धोये,
घृत कि पाव कोउ वारि विलोये ।

भगवान् स्वयं ही अ० १५ श्लो० ३,४,५ में इस वृक्षके काटनेका उपाय भी बतलाते हैं—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

भावार्थ यह है कि पहले तो इस दृढ मूलवाले संसार-वृक्षको सर्वसंग-परित्यागरूप दृढ शस्त्रसे काटना चाहिये, अर्थात् सब आसक्तियोंसे छूटना चाहिये। फिर इसकी जड़ निकालनेके लिये उस पदको खोजना चाहिये जिसमें जाकर फिर आना नहीं होता और जिससे यह सब प्रवृत्ति पसरी हुई है। उस पदकी प्राप्तिका

उपाय यह बतलाया गया कि जो मान-मोहादिसे रहित हैं, जिन्होंने आसक्तिरूप सब दोषोंको जीत लिया है, जो सब कामनाओंसे मुक्त हैं और जो सुख-दुःखादि सब द्वन्द्वोंसे छूटे हुए हैं, ऐसे ज्ञानीजन ही जो नित्य परमात्माके स्वरूपमें स्थित हैं, उस अव्यय पदको प्राप्त कर सकते हैं और उसको प्राप्त करके ही इस संसारकी मूल उखड़ जाती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥(मुण्डकोप०)

अर्थ यह कि परमात्माके साक्षात्कारसे हृदयकी चिज्जड़-मन्थि टूट पड़ती है, सब संशयोंका छेदन हो जाता है और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं। ऐसा वेदका ढिंढोरा है।

बध्यतेऽविद्यया जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।

अर्थात् अज्ञान करके ही बन्धन है और ज्ञान करके ही मुक्ति है।

इसीलिये भगवान्ने इस स्थल अर्थात् गीता (३। २८) पर यही बतलाया है कि हे महाबाहो! गुण व कर्मके विभागको तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी पुरुष तो 'सम्पूर्ण गुण अपने गुणोंमें ही वर्तते हैं मुझ सर्वसाक्षी सर्वात्मामें उनका कदाचित् कोई स्पर्श नहीं होता है, मैं उन सबसे आकाशवत् असंग-निर्लेप हूँ' ऐसा जानकर उन गुण-कर्मोंमें बन्धायमान नहीं होता है। अर्थात् केवल तत्त्वज्ञानद्वारा ही भगवान्को कर्म-बन्धनसे मुक्ति इष्ट है।

इसप्रकार उपनिषद् व गीता-प्रमाणसे यह सिद्ध हुआ कि कर्म-बन्धनका मूल यह चिज्जड़-ग्रन्थि ही है और केवल तत्त्वविचार-द्वारा आत्म-स्थिति प्राप्त करनेपर ही इसका छेदन सम्भव हो सकता है। अनुभवसे भी यही सिद्ध होता है कि अबतक यह जीवात्मा अज्ञानके आवेशमें पड़ा हुआ पराये गुण एवं धर्मोंको अपनेमें

कल्पना करता रहेगा और गुणोंके कर्तृत्व-मलको अपने में गुणता रहेगा, वह कर्म-बन्धनसे कैसे छूट सकता है? परन्तु जब गीता (१५।५) के अनुसार अधिकार प्राप्त करके, मान-मोहादिसे छूटकर, अहं-ममरूप संग-दोषोंको जीतकर, सब कामनाओंसे पल्ला झाड़कर सुख-दुःखादिसे निर्द्वन्द्व हुआ एकान्त स्थित होकर अपना हिसाब करे,तब इसको ज्ञात होगा कि मुझको तो इन गुण-कर्मोंका लेप कदाचित् हुआ ही नहीं था। भला, गन्दले गड्ढेके अन्तःस्थित आकाश भी कभी कीचड़से लिपटा है? वह तो नित्य ही निर्लेप है। इसी प्रकार गुण-कर्मोंके मलसे मुझ साक्षी-स्वरूपको कदाचित् लेप नहीं हुआ था। यदि कोई दार्शनिक पण्डित दैवयोगसे मदिरा पान कर ले और नशेमें पुकारने लगे, 'मैं ब्राह्मण नहीं मैं तो चाण्डाल हूँ' तो मदिराके आवेशमें ऐसा पुकारनेसे वह चाण्डाल हो नहीं जाता,बल्कि ब्राह्मण ही रहता है और नशा उतरने पर वह स्वयं भी अपने-आपको ब्राह्मण ही निश्चय करता है। इसी प्रकार अज्ञानके आवेशमें आया हुआ यह जीवात्मा, प्रकृतिके गुण व धर्मोंको अपनेमें भले ही कल्पना कर ले, परन्तु वास्तवमें ज्यों-का-त्यों आकाशवत् नित्य निर्मल है और स्वयं भी अज्ञानके आवेशसे छूटकर अपने-आपको ऐसा ही असंग जानेगा। जिसके विद्यमान होने पर कार्यकी सिद्ध हो और जिसकी अविद्यमानतामें कार्य न रहे, वही कार्यके प्रति कारणरूपसे निश्चत होता है। जहाँ कारणका प्रत्यक्ष बोध न होता हो, वहाँ इस अन्वय-व्यतिरेक करके ही कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे अग्निकी विद्यमानतामें ही धूमकी सिद्धि होती है और अग्निके व्यतिरेक (अभाव) में धूम का अभाव हो जाता है, इसलिये धूमके प्रति अग्नि ही कारणरूपसे अनुमेय है। इसी प्रकार गुणोंकी विद्यमानतामें ही कर्मोंकी सिद्धि है और गुणोंकी अविद्यमानतामें कर्मोंका लोप है, इसलिये कर्मों

के कर्तारूप कारण गुण ही सिद्ध होते हैं। जाग्रत् व स्वप्न अवस्थामें अपने-अपने गुणोंके अनुसार सात्त्विक, राजसिक व तामसिक कर्मोंका प्रवाह अखण्डरूपसे चलता रहता है अर्थात् गुणोंकी विद्यमानतामें ज्ञानरूप व क्रियारूप व्यवहारका कदाचित् लोप नहीं होता, ऐसा कोई क्षण नहीं कि जो निर्व्यापार व्यतीत हुआ हो। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व चित्त कोई-न-कोई अवश्य अपना व्यापार करते रहते हैं। परन्तु सुषुप्ति अवस्थामें जबकि गुण अपनी प्रकृति में लीन हो जाते हैं, तब ज्ञानरूप व क्रियारूप सब का-सब व्यापार एकदम बन्द हो जाता है। यद्यपि उसकालमें गुणोंका लोप हुआ है, तथापि अहंरूप आत्मा तो उस कालमें भी हाज़िर है और अपने भाव तथा गुण कर्मोंके अभावका द्रष्टा है। जिसकी प्रत्यक्ष साक्षी वह जाग्रत्में आकर स्वयं देता है कि 'उस कालमें न कोई गुण था, न कोई ज्ञान व क्रियारूप व्यापार और न गुणोंके परिणाम मन, बुद्धि व इन्द्रियादि; परन्तु मैं तो वहाँ भी अवश्य था और निर्विषयक सुखका भोग करता था'। यदि कर्मोंका कर्तारूप कारण आत्मा होता, तो उस कालमें भी उससे कर्म प्रकट होना चाहिये था। जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप है, वह कदाचित् प्रकाशशून्य नहीं रहता, इसी प्रकार यदि आत्मा कर्तारूप हो तो कदाचित् कर्तृत्वशून्य नहीं रहना चाहिये। परन्तु उपर्युक्त युक्तियोंसे यह स्पष्ट है कि आत्मा कदाचित् कर्ता है ही नहीं, कर्ता तो केवल गुण ही हैं। बल्कि जिस कालमें गुणोंका कर्तृत्व आत्मामें आरोपित होता है, उस कालमें भी वह (आत्मा) तो कर्ता नहीं होता, केवल द्रष्टा ही रहता है, गुण ही अपना कर्तृत्व आत्मामें आरोप करते हैं। जैसे राजाकी सेना संग्राममें लड़ रही हो, तब कहा जाता है कि 'राजा लड़ता है,' परन्तु संग्रामकालमें भी राजा तो अपने विश्राममें ही रहता है और कदाचित् कुछ नहीं करता। वह तो केवल सत्तामात्र ही है और

अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों है, सेनाका संग्रामरूप व्यापार उसमें केवल आरोपमात्र ही होता है। इसी प्रकार आत्मा तो सदा अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों है, गुण-प्रवृत्ति-कालमें भी वह तो कदाचित् विकारी नहीं होता, अपनी सत्तामात्रसे गुणोंका केवल द्रष्टा ही रहता है और गुणोंका कर्तृत्व उसमें केवल आरोपमात्र ही है। सो आरोप भी गुणदृष्टिसे ही है, आत्मदृष्टिसे नहीं। जैसे आकाशमें 'घटाकाश' नाम और जलकी आनयनरूप क्रिया, घटदृष्टिसे ही है, आकाश-दृष्टिसे नहीं। आकाशदृष्टिसे तो आकाशमें न घटाकाश नाम है और न जलका आनयनरूप व्यापार, बल्कि 'नाम,' 'रूप' व 'क्रिया' से भिन्न आकाशमात्र ही है। इसी प्रकार आत्मामें 'साक्षी' नाम और सत्ता-स्फूर्तिरूप व्यापार भी गुणोंकी दृष्टिसे ही है, गुणोंके बिना आत्मदृष्टिसे तो आत्मामें न 'साक्षी' नाम है और न सत्ता-स्फूर्तिरूप व्यापार। यदि गुणोंके विकारोंसे आत्मा भी विकारी हो तो विकारोंकी सिद्धि ही कौन करे? क्योंकि विकार स्वयं नष्टस्वभाव होनेसे अपने आश्रय आप सिद्ध हो नहीं सकते, किन्तु किसी एक निर्विकार वस्तुके आश्रय ही उनकी सिद्धिका सम्भव हो सकता है, जो उन विकारसे निर्लेप रहता हो। जैसे अग्नि व जलके विकारोंकी सिद्धि आकाशके आश्रय ही होती है, परन्तु स्वयं आकाश न अग्निसे तपता है और न जलसे भीगता ही है। यदि अग्नि व जलके विकारोंसे आकाश स्वयं विकारी होता हो, तो इन विकारोंकी सिद्धि ही कैसे हो? सारांश—

> नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
> गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ (१४।१९)

अर्थ—'गुणोंसे भिन्न और कोई कर्ता नहीं है, गुण ही कर्ता हैं' जिस कालमें यह साक्षी-पुरुष ऐसा देखता है और अपने-

आपको गुणोंसे परे (अर्थात् निर्लेप) जानता है, ऐसा जाननेवाला पुरुष मेरे सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार जिसने अधिकार प्राप्त करके गुरुके उपदेश, शास्त्र-प्रमाण और अपनी निर्मल युक्ति व दृष्टान्तद्वारा दृढ पुरुषार्थ करके अपने-आपको (अपने आत्माको) गुण व कर्मसे तुलीसे मूँज के समान पृथक् कर लिया है, ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष—

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते। (३।२८)

'प्रकृतिके गुण ही अपने गुणोंमें (अर्थात् अपने धर्मोंमें) वर्तते हैं, मैं उनसे असंग-निर्लेप हूँ,' ऐसा तत्त्वसे जानकर गुण-कर्मोंमें आसक्त नहीं होता और नहीं बँधता। किन्तु जलमें जल-कुक्कुट (मुर्गाबी) के समान गुणों व कर्मोंमें असंगरूपसे निर्लेप रहता है।

इस प्रकार जिस तत्त्ववेत्ताने अपने-आपको ज्यों-का-त्यों जानकर प्रकृतिके गुणों व कर्मोंसे अपने आत्माको पृथक् कर लिया है, वह शूरवीर ही संसार-संग्रामका सच्चा विजेता है और जीते-जी ही मुक्त (जीवन्मुक्त) है। केवल उसीने कर्म बन्धनसे तत्काल नक़द मुक्ति पाई है। शरीरादिद्वारा सब कुछ करके वही सच्चा अकर्ता है। अनर्गल प्रवृत्तिमें रहकर भी वही सच्चा 'कर्म-संन्यासी' (कर्म-त्यागी)है।

'प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी'। (अष्टावक्र)

'अर्थात् ऐसे तत्त्ववेत्ता पुरुषकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिरूप ही है।' अन्तःकरणसे कामनासहित दीखता हुआ भी वही सच्चा निष्कामी है। वही वास्तवमें विधि-निषेधरूप सब कर्तव्योंसे मुक्त है। सब कर्तव्य इसी अवस्थाकी प्राप्तिके लिये थे, जो अपना फल देकर स्वयं भी कृतार्थ हुए। इसके अतिरिक्त गीता दृष्टिसे कर्ता-बुद्धि रखते हुए झूठ-मूँठ कर्मोंको छोड़ बैठना, न तो 'कर्म-

संन्यास' ही है और ऐसा कर्तव्य धारकर कि 'मैं अपने कर्म ईश्वरके अर्पण करता हूँ' भावनामात्र मिथ्या फल-त्याग, न 'कर्म-योग' ही है। बल्कि यह तत्त्वज्ञानरूप आत्मस्थिति ही सच्चा 'कर्म-संन्यास' है, यही सच्चा 'कर्म-योग' है, यहाँ 'सांख्य' व 'योग' का मेल है, यहाँ ज्ञान व कर्मका विरोध दूर होकर यथार्थ संगति हो जाती है और इसी सच्ची योगप्राप्तिके लिये गीता अवतीर्ण हुई है। केवल इसी अवस्थामें आरूढ होकर कर्म-फलको नमस्कार किया जा सकता है और यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। मिथ्या भावनामात्र फलत्याग गीताका विषय कदापि नहीं हो सकता और न वह अपने फलसे छुटकारा ही देता है। यद्यपि गीता इस भावनामय फलत्यागका निरादर नहीं करती और इसको भी सच्चे कर्मत्यागका साधनमात्र जानती है, परन्तु इतना मात्र ही गीताका फल नहीं हो सकता, जिन आधुनिक टीकाकारोंने गीता-फलकी इतनेपर ही 'इति श्री' कर दी है, वे भूल में हैं और अन्याय करते हैं। जो ग्रन्थ किसी एक निम्न साधन पर ही अलंबुद्धि करता है, उसीके लिये कर्ताको बाँधता है और अन्य साधनोंके लिये जिसका द्वार बन्द है, वह सङ्कीर्ण है और सच्छास्त्र कहलानेका पात्र नहीं। गीता ऐसा सङ्कीर्ण ग्रन्थ नहीं, यह समुद्र है, जिसमें सभी साधनरूप नदियोंका प्रवेश है। क्या प्रवृत्ति, क्या निवृत्ति, अधिकारानुसार सभी को गीता अवकाश देती है और सभीका फल यह सच्चा 'कर्म-संन्यास' ही है। इसी 'कर्म-संन्यास' में आरूढ होकर अगले ही श्लोकमें अर्जुनको युद्ध करनेका उपदेश किया गया है, यथा—

> मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
> निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ (३।३०)

अर्थ—इस अध्यात्म-दृष्टिसे कि 'गुण अपने-अपने धर्मोंमें वर्तते हैं, मैं साक्षी उनसे असंग हूँ' सब कर्मोंका (केवल कर्म-फलका ही नहीं) मुझमें संन्यास (त्याग) करके आशा व ममता से रहित हुआ निश्चिन्त होकर युद्ध कर।

इसके उपरान्त भगवानने अपने इस मतकी (कि गुण ही अपने धर्मोंमें वर्तते हैं, मुझ साक्षीस्वरूपमें गुणों व कर्मोंका कोई लेप नहीं है) महिमा वर्णन करते हुए कहा कि जो मेरे इस मत में ज्यों-के-त्यों यथार्थरूपसे आरूढ नहीं भी हुए हैं, परन्तु इस मतमें दोषबुद्धिसे रहित और श्रद्धासहित हुए नित्य ही इसका आचरण (अभ्यास) करते हैं, वे भी कर्म बन्धनसे छुट जायेंगे। इसके विपरीत जो मूर्ख लोग मेरे इस मतका आचरण (अभ्यास) भी नहीं करते, बल्कि दोषदृष्टि रखते हैं, (अर्थात् इस प्रकार अश्रद्धा करते हैं कि 'लो जी ! यह कैसे हो सकता है कि आत्मा में गुण-कर्मका कोई लेप ही नहीं है?') उन सम्पूर्ण ज्ञानोंसे शून्य चित्तवालोंको कल्याण-मार्गसे भ्रष्ट हुआ ही जानो (३१, ३२)।

अन्तमें भगवान्ने इस अध्यायका उपसंहार करते हुए कहा—जैसा तुमने इस अध्यायके आरम्भमें हमसे प्रश्न किया था कि 'यदि आपको कर्मसे ज्ञान ही श्रेष्ठ मन्तव्य है तो मुझको इस घोर कर्ममें क्यों जोड़ते हो' ? यह प्रश्न तुम्हारा अयुक्त है। उपर्युक्त रीतिसे हमारा तात्पर्य ज्ञान व कर्मकी संगतिमें ही है, सर्वथा कर्मत्यागमें नहीं है। क्योंकि चेष्टारूप व्यापार तो क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी, सभीका अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार होता ही रहता है। ज्ञानीको भी अपनी प्रकृतिके अनुसार शारीरिक व मानसिक चेष्टा करनी ही पड़ती है। ज्ञानका फल तो इतना ही है कि उपर्युक्त रीति व विचारसे अपने आत्माको कर्तृत्वरूप बन्धनसे निकालकर और अपने साक्षीस्वरूपमें ज्यों-का त्यों

अचल स्थित होकर कर्म-बन्धनको काट डाला जाय। प्रकृति के प्रवाहको रोकना, ज्ञानका फल नहीं है। क्योंकि सभी भूत-प्राणी क्या जड़, क्या चेतन, क्या स्थावर और क्या जङ्गम, अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वाभाविक प्राकृतिक प्रवाहमें चले जा रहे हैं, इसलिये इस विषयमें तो हठ ही क्या करना है? (३।३३)।

जबकि प्रकृति इस प्रकार बलवान् है, तब प्रकृतिके परिणाम-रूप जो इन्द्रियाँ हैं, उनका भी अपने-अपने अनुकूल विषयोंमें राग और प्रतिकूल विषयोंमें द्वेष होना स्वाभाविक ही है। परन्तु मनुष्यको चाहिये कि स्वयं इन्द्रियस्वरूप बनकर श्वानवत् भौंकने न लगे और इस प्रकार राग-द्वेषके वशीभूत न हो जाय, क्योंकि ये राग-द्वेष ही इसके कल्याण-मार्गमें वञ्चक हैं, जिससे जीव परमार्थ-पथसे भ्रष्ट हो जाता है (३।३४)। इन राग-द्वेषों को जीतनेके लिये भगवान्‌ने अन्तमें सूत्ररूप वचन कहे, कि हे अर्जुन! अपने धर्मका आचरण चाहे वह गुणरहित भी हो, तथापि वह जीवके लिये कल्याणकारी ही है। इसलिये अपने धर्मका आचरण करते-करते मर जाना भी भला है, परन्तु पराये धर्मका आचरण चाहे वह उच्चतर भी हो, भयको ही देनेवाला है, जिस प्रकार शिशुके लिये माताका स्तनपान तो पथ्य है, परन्तु अन्नाहार भयको देनेवाला होता है। तथा जिस प्रकार आम्रका बीज अपने अधिकारानुसार मिट्टी व खाद खाता हुआ अङ्कुर, पत्ती, डाली, तना व फूल आदिके रूपमें दिन-प्रतिदिन तह-पर-तह असंख्य अवस्थाओंमें खुलता हुआ रसीले मधुर आम्रफल को पका देता है, परन्तु खाद-मिट्टीको त्यागकर अन्य उत्तम पदार्थोंके भक्षणसे भी फलप्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार अधिकारानुसार 'स्वधर्म' गुणरहित हुआ भी अपने आचरण में आया हुआ जीवको दिन-प्रतिदिन ऊँचा उठाता हुआ रागद्वेष

को दबाकर और उस साक्षी-अवस्थामें आरुढ़ कराके जीवको शिवस्वरूप बना देनेका जुम्मेवार है। इसीलिये 'धर्म' शब्दका यही अर्थ किया गया है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति कथ्यते ॥

आशय यह कि अधिकारानुसार जो कुछ धारण किया जाय, धारण करने और व्यवहारमें लानेसे ही उसका नाम 'धर्म' कहा गया है। अर्थात् 'करनी' ही धर्म है, 'कथनी' नहीं। ऐसे धर्म ने ही संसारको धारण किया हुआ है, इसलिये जो धारणसंयुक्त हो वही 'धर्म' है, ऐसा कहा गया है (३।३५)।

तदुपरान्त अर्जुनके पुनः प्रश्नपर कि 'यह पुरुष न चाहता हुआ भी किस करके प्रेरा हुआ पापाचरणमें इसी प्रकार प्रवृत्त हो जाता है, जैसे किसीने हाथ पकड़कर जोड़ दिया हो'? अर्थात् वह कौन-सी शक्ति है, जो इस प्रकार इसको दुष्कर्ममें जोड़ देती है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम है और यही क्रोध है, कभी तृप्त न होनेवाले इसी महापापी कामको जीवका शत्रु जानो। त्रिगुण भेदसे यह तीन प्रकारका है—

(१) जैसे धूमसे अग्नि आच्छादित होती है। (सात्त्विक काम)
(२) जैसे मलसे दर्पण आच्छादित हो जाता है। (राजसिक काम)
(३) तथा जैसे जेर से गर्भ ढका हुआ रहता है। (तामसिक काम)

इसी प्रकार इस कामरूप शत्रुसे जीवका ज्ञान ढका हुआ होता है और इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इसके रहनेके स्थान हैं। इसलिये इसके निवास-स्थान इन्द्रियादिपर अधिकार पानेसे यह शत्रु पकड़ा तो जाता है, परन्तु मारा नहीं जा सकता। तथापि इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिसे परे जो आत्मा है, उसको 'अहं' रूप

साक्षात् अनुभव कर लेनेसे इस शत्रुको समूल नष्ट किया जा सकता है। (३ । ३६-४३)।

इस प्रकार इस अध्यायकी स्पष्ट समालोचना करने तथा इस अध्यायकी कसौटीपर 'आधुनिक योग' को कसनेपर कि 'मुझे अमुक कर्म कर्तव्य है और मैं अपने कर्मोंका फल अपने लिये न चाहकर ईश्वरार्पण करता हूँ' वह किसी प्रकार खरा नहीं उतरता। अपने स्वरूपसे न वह कर्म-बन्धनसे ही छुटकारा देता है, न जन्म-मरणसे ही मुक्ति दिलाता है और न वह गीता का प्रतिपाद्य विषय ही बनता है। यद्यपि वास्तविक योगमें स्थिर होनेके लिये वह एक दूरका साधन है, तथापि वह गीता-प्रतिपाद्य विषय किसी प्रकार नहीं ठहरता।

चतुर्थ अध्यायकी समालोचना

इस अध्यायके आरम्भमें ही भगवान्‌ने कहा—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । (४।१)

अर्थात् 'इस अविनाशी योगको कल्पके आदिमें मैंने सूर्यके प्रति कहा था।' ऐसा कहकर उन्होंने फिर इस योगकी परम्परा को बतलाया कि 'सूर्यने मनुको और मनुने राजा इक्ष्वाकुको यह योग कहा और इस प्रकार परम्परा करके इसको राजर्षियोंने जाना। वही यह योग इस संसारमें काल-प्रभावसे लुप्त हो गया था। चूँकि तू मेरा सखा है, इसलिये उस पुरातन योगके इस उत्तम रहस्यको आज मैं तेरे प्रति कह रहा हूँ।'

'इमं' (इस) शब्दसे पिछले अध्यायोंके साथ इस अध्यायका सम्बन्ध जोड़ा गया है। अर्थात् जो योग पिछले दोनों अध्यायोंमें वर्णन किया गया है, वही यह योग पहले कल्पके आदिमें कहा गया था।

'अव्ययं योगं' (अविनाशी योग) से तात्पर्य 'निष्काम-कर्म-योग' (आधुनिक योग) नहीं हो सकता। क्योंकि इस निष्काम-कर्ममें कर्ता भी सादि, कर्तव्य भी सादि और कर्म भी सादि ही है तथा जो वस्तु सादि है उसका सान्त होना भी ज़रूरी है। और जबकि ये कर्ता, कर्तव्य व कर्म, सभी सादि-सान्त हैं, तब इनके द्वारा जन्य फल अविनाशी कैसे हो सकता है ? फल भी सादि होनेसे सान्त होना निश्चित है, इसलिये यह 'निष्काम कर्म' किसी प्रकार भी 'अविनाशी योग' नहीं कहलाया जा सकता। 'अविनाशी योग' का तात्पर्य तो यह है कि इस जीवका साक्षी-स्वरूप अपने आत्मासे नित्य ही योग है, कदाचित् भी वियोग नहीं, जैसे तरङ्गका जलसे और भूषणका सुवर्णसे कदाचित् वियोग नहीं है। इसी प्रकार केवल अज्ञान कालमें तरङ्गकी भाँति देहादि में 'अहं-मम' अभिमान करके ही वियोगका भ्रम हो जाता है, कि 'आत्मा मुझे अप्राप्त है मैं उसे प्राप्त करके सुखी होऊँ' वस्तुतः वियोग नहीं हो जाता। ज्ञानद्वारा देहादिमें 'अहं-मम' अज्ञान निवृत्त होनेपर और ज्यों का-त्यों अपने साक्षीस्वरूप आत्माका साक्षात्कार प्राप्त हो जानेपर कि 'मैं देहादिसे पृथक् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-असंग आत्मा हूँ' ज्यों-का-त्यों अविनाशी योग ही सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानद्वारा भ्रम निवृत्त होनेपर वियोग प्रतीति-कालमें भी अचल-अटल योगकी ही सिद्धि होती है। यही अविनाशी योग है और यही कल्पके आदिमें सूर्यके प्रति कहा गया था (१-३)।

इसपर अर्जुनने इस अविनाशी योगको न समझ और भगवान्के यथार्थ स्वरूपको न जान, प्रश्न किया कि 'आप तो व्यक्ति-धारी इस समय मेरी नेत्र-इन्द्रियके विषय हो रहे हैं, आपका जन्म सूर्यसे भी पहले था, यह मैं कैसे जानूँ ? और आपने कल्प के आदिमें इसको कथन किया था, यह कैसे निश्चय करूँ (४)।'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि 'जिस प्रकार समुद्रमें असंख्य तरङ्गें उत्पन्न होती और लीन होती हैं, परन्तु जलस्वरूपमें उत्पत्ति-लयादिका कोई विकार नहीं होता। जल तो अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों है, तरङ्गायमान होना जलका स्वभाव है, जलस्वरूपमें तरङ्गें केवल आभासमात्र हैं, वस्तुतः उनका जलमें कोई स्पर्श नहीं है। इसी प्रकार मेरे-तेरे आत्मामें जन्म-कर्मादि अनन्त तरङ्गें उदय-अस्त को प्राप्त होती हैं, परन्तु हमारे आत्मामें उन जन्म-कर्मादिका कोई लेप नहीं होता। वे सब जन्मादि तरङ्गें हमारे आत्मामें आभासमात्र ही होती हैं। जिस प्रकार छायावान्‌से भिन्न छायाकी कोई सत्ता नहीं होती और छायावान्‌के स्वरूपमें उसका कोई प्रवेश भी नहीं होता, इसलिये छाया अपने छायावान्‌का आभास ही होती है। इसी प्रकार आत्मासे भिन्न जन्म-कर्मादिकी कोई सत्ता नहीं होती और आत्माके स्वरूपमें उनका कोई प्रवेश भी नहीं होता, इसलिये वे जन्मादि आत्माके केवल आभास ही हैं। अतः हमारे आत्मामें उनका कोई स्पर्श नहीं है, हमारा आत्मा तो अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही है। इस प्रकार अपने आत्माको यथार्थ जाननेसे मैं उन जन्मादिको अपने आत्माका चमत्कार ही देखता हूँ, परन्तु आत्म-ज्ञान न होनेसे तू उन जन्मादिको यथार्थ नहीं जान सकता। मैं अज-अविनाशी आत्मा होते हुए भी और सर्व भूतोंका अधिष्ठानस्वरूप स्वामी होते हुए भी अपनी प्रकृतिको आश्रय करके मायामात्र आभासरूपसे प्रकट होता हूँ।' इसके उपरान्त भगवान्‌ने उस निमित्त व कालका वर्णन किया, जबकि उनको इस प्रकार अवतीर्ण होना पड़ता है(४।८)।

तदनन्तर भगवान्‌ने बतलाया कि इस प्रकार जो पुरुष मेरे इन दिव्य जन्म व कर्मोंको तत्त्वसे जान लेता है कि मुझ सर्वात्मामें आभासमात्र जन्म-कर्मादि प्रतीत होते हुए भी मुझमें इनका कोई लेप नहीं होता, जन्मता-सा दीखता हुआ भी मैं वास्तवमें अजन्मा

ही रहता हूँ और सर्वकर्ता होता हुआ भी वस्तुत' अकर्ता ही होता हूँ—ऐसा तत्त्वसे जाननेवाला पुरुष इस ज्ञानके प्रभावसे शरीर त्यागकर फिर नहीं जन्मता और मुझे ही प्राप्त हो जाता है। यह मेरे ज्ञानकी महिमा है कि इस ज्ञानरूपी तपसे पवित्र हुए बहुत-से पुरुष जिनके राग, भय व क्रोध निवृत्त हो गये हैं और जो अपना-आपा खोकर मेरेमें ही तदाकार हुए हैं, वे मेरे ही स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं (६-१०)।

इस प्रकार अपने स्वरूपका बोधन करते हुए भगवान्ने आगे कहा कि जैसी-जैसी जीवकी भावना होती है, उसकी अपनी भावनाके अनुसार मैं उसको वैसा-वैसा ही प्रतीत होने लगता हूँ। इसलिये जो मुझे जिस भावसे भजते हैं, मैं भी प्रतीकार रूपसे उनको वैसे ही भजता हूँ। यहाँतक कि जो सकामी पुरुष अपने कर्मोंकी फलरूप सिद्धिकी आकाङ्क्षा रखते हुए देवताओंकी पूजा करते हैं, उनके कर्मानुसार उनको इसी मानुष लोकमें देवताओंके रूपमें मैं ही फलप्रदाता होता हूँ। अर्थात् वे जिस-जिस देवताकी भावना करते हैं, उनकी भावनाके अनुसार उस-उस देवताके रूपमें उनको मैं ही फल प्रदान करता हूँ। इस प्रकार जीवोंके भिन्न-भिन्न गुण एवं कर्मोंके अनुसार चार वर्णोंकी सृष्टि मेरे द्वारा ही रची गई है। मैं सर्वसाक्षी वस्तुत. अकर्ता व अविनाशी होता हुआ भी केवल अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे सर्वकर्ता होता हूँ, ऐसा तू जान। आशय यह कि मेरी साक्षीमें सब कर्मोंकी सिद्धि होते हुए भी आकाशवत् कर्म मुझे लेपायमान नहीं करते और न मेरी कर्मफलमें कोई आसक्ति ही होती है। जो मुझ सर्वात्माको भली-भाँति ज्यों-का-त्यों ऐसा जानता है, वह भी केवल इस ज्ञानके प्रभावसे ही कर्म बन्धनमें नहीं आता। मेरे स्वरूपको ऐसा जानकर पहले भी मुमुक्षुओंद्वारा

कर्म किया गया है, इसलिये तू भी अपने स्वरूपको इस प्रकार तत्त्वसे जानकर कि 'मेरा आत्मा सब प्रकार गुण-कर्मादिसे निर्लेप है' परम्परासे किये गये कर्मका आचरण कर। (११-१५)

उपर्युक्त भगवद्-वचनोंसे यह बात निर्विवादरूपसे प्रमाणित हो जाती है कि कर्म-बन्धनसे मुक्ति केवल अपने आत्मस्वरूपके साक्षात्कारपर ही निर्भर है, आधुनिक योग कि 'अमुक कर्म मुझपर कर्तव्य है और उसका फल मैं ईश्वरार्पण करता हूँ' किसी प्रकार अपने स्वरूपसे कर्म-बन्धनसे मुक्ति दिलानेमें पर्याप्त नहीं है। यदि भगवद्-दृष्टिसे यह आधुनिक योग किसी प्रकार अपने स्वरूपसे कर्म-बन्धनसे छुटकारा दिलानेवाला सिद्ध होता तो अब तक उसको किसी स्थलपर इस बन्धन-मुक्तिमें हेतुरूपसे वर्णन किया जाता। परन्तु अभीतक किसी अध्यायमें न तो योगका ऐसा स्वरूप ही वर्णन किया गया और न उसको कर्म-बन्धनसे छुटकारा दिलानेवाला ही सिद्ध किया गया है।

कर्म-अकर्मका स्वरूप बोधन करनेके लिये भगवान् फिर बोले—हे अर्जुन! कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इस विषय में बुद्धिमान् पुरूष भी मोहित हो जाते हैं। कर्मका वह तत्त्व हम तुमसे कहते हैं, जिसको जानकर तुम संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाओगे। इसलिये कर्म, अकर्म व विकर्मको तत्त्वसे जानना ज़रूरी है, क्योंकि कर्मकी गति बड़ी गहन है (१६-१७)। जो पुरुष कर्ममें अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म देखता है, वही बुद्धिमान् है और वही योगयुक्त है। अर्थात् ज्ञानद्वारा कर्तृत्वाभिमान गलित हो जानेसे जो पुरुष अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हुआ अपने आत्मामें कर्मोंका किसी प्रकार लेप नहीं देखता और आकाशवत् अपने स्वरूपमें कर्मोंका कोई विकार नहीं पाता, ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष देहादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें अकर्ता ही

होता है और वह कर्ममें 'अकर्म' ही देखता है। परन्तु इसके विपरीत कर्तृत्वाभिमान विद्यमान रहते हुए जो पुरुष केवल देहेन्द्रियादिके व्यापारोंको रोक बैठा है, ऐसे पुरुषके मानसिक सकल्प-विकल्प देहाभिमानके कारण रससंयुक्त ही होते हैं और अवश्य फलके हेतु बनते हैं। इस प्रकार उसका अकर्म (कर्मत्याग) भी फलसहित होनेके कारण 'कर्म' ही है। ऐसा 'अकर्म' व 'कर्म के तत्त्वको जाननेवाला जो बुद्धिमान् पुरुष है वही मेरे स्वरूपमें योगयुक्त है, वह सब कुछ कर चुका है और उसके सब कर्म 'अकर्म' ही हैं, अर्थात् किसी फलके हेतु नहीं होते, ऐसा जानो। यह तो हुआ 'अकर्म' का स्वरूप। इस अकर्म के स्वरूपकी प्राप्तिकी जिज्ञासामें जो कुछ साधन अधिकारानुसार किया जाय वह सब यथार्थ फलका हेतु होनेसे 'कर्म' कहलाता है। इसके विपरीत भोग-दृष्टिको सम्मुख रखकर स्वर्गादिपर्यन्त जो यज्ञ-यागादि सकाम-कर्म हैं, नाशवन्त होनेसे वे सब 'विकर्म' (निषिद्ध कर्म) जानो (१८)।

इस प्रकार अकर्म, कर्म व विकर्मका स्वरूप वर्णन करके भगवान्ने उस अकर्मी योगीका (अर्थात् जो ज्ञानद्वारा स्वरूपस्थित हुआ सब कुछ करके भी कुछ नहीं करता) विशेषरूप से इस प्रकार लक्षण वर्णन किया—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९

अर्थ—जिसके सम्पूर्ण कर्म काम व संकल्पसे शून्य हैं और ज्ञानरूप अग्निसे जिसके सभी कर्म भस्म हो गये हैं, उसको बुद्धिमान् पुरुष 'पण्डित' (योगयुक्त) कहते हैं।

आधुनिक योगीमें, जो ऐसा समझता है कि 'कर्म करना मुझपर कर्तव्य है और मैं अपने कर्मोंका फल अपने लिये न

चाहकर ईश्वरार्पण करता हूँ' उपर्युक्त लक्षण किसी प्रकार नहीं घट सकते। न वह 'काम-संकल्प-वर्जित' है और न वह 'ज्ञानाग्नि-दग्धकर्मा' ही सिद्ध होता है। 'मैं कर्मका कर्ता हूँ, कर्म करना मुझपर कर्तव्य है और कर्मत्याग मेरे लिये अकर्तव्य है' इत्यादि संकल्पसंयुक्त होते हुए वह 'संकल्पवर्जित' नहीं हो सकता। तथा अपने कर्मोंको दग्ध-बीजके समान वह फलशून्य भी नहीं देखता, बल्कि फलसे हरा-भरा ही जानता है, जो फल वह आप चखना नहीं चाहता, बल्कि अपनेसे भिन्न किसी व्यक्तिविशेषको निवेदन करता है। जब कि वह अपने कर्मोंके साथ फल देखता है और उस फलको दूसरेको निवेदन करता है, तब फल-निवेदन का फल उसके लिये अवश्य होना चाहिये। इसलिये वह 'काम-वर्जित' भी नहीं हो सकता। और जब कर्ता, कर्तव्य, कर्म व फल सभी अलग-अलग मौजूद हैं और अभेद दृष्टि करके अपने आत्मस्वरूपकी ज्ञानाग्निमें इनकी आहुति नहीं दी गई, तब यह 'ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्मा' कैसे बन सकेगा? जबकि वह भेद-दृष्टि करके इन सबको भिन्न-भिन्न रूपसे ग्रहण कर रहा है और इस भेद-दृष्टिमें उसकी सद्-बुद्धि भी विद्यमान है।

इसके विपरीत अपने आत्मस्वरूपमें योगयुक्त 'योगी' तो देहादि सब प्रपञ्चसे 'अहं-मम' अध्यास निवृत्त हो जानेके कारण न कुछ कर्ता है, न अपनेमें कोई कर्तव्य देखता है और न किसी कर्म-फलको ही जानता है। उसकी सत्ता-स्फूर्तिसे देहेन्द्रिय-मनबुद्धयादि अपने-अपने धर्मोंमें केवल आभासमात्र वर्ताव करते हैं; परन्तु वह तो अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों विश्राम पा रहा है। इसलिये कर्तृत्व, कर्तव्य और कर्मफल कोई भी विद्यमान न रहनेके कारण वस्तुतः वही 'काम-संकल्प-वर्जित' है और साक्षात् 'ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्मा' सिद्ध होता है।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ (४।२०)

अर्थ—कर्मके अभिमान और फलकी आसक्तिको त्यागकर, सांसारिक आश्रयोंसे छूटा हुआ और अपने परमानन्दस्वरूपमें नित्यही तृप्त, ऐसा पुरुष कर्मोंमें प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता है।

उपर्युक्त विचारानुसार आधुनिक योगी कर्मफल-निवेदन के फलसे बन्धायमान रहनेके कारण न तो कर्मफल-त्यागी है और न कर्तृत्वसंगसे ही मुक्त है, क्योंकि वह अभी फल-निवेदन का कर्ता बना हुआ है । तथा ईश्वरको अपनेसे भिन्न जाननेके कारण, जिसको वह भावनामात्र कर्मफल निवेदन कर रहा है, उस परमानन्दमें नित्यतृप्त होना तो दूर रहा, बल्कि उसने तो अपनी भेद-दृष्टि करके उस परमानन्दको स्पर्शतक भी नहीं किया है, ऐसा कहना चाहिये । इस प्रकार जब वह उस परमानन्दसे दूर है, तब संसारसे वास्तविक निराश्रयी कैसे हो सकता है ? और 'कर्ता' व 'कर्तव्य' से बन्धायमान रहनेके कारण, कर्ममें प्रवृत्त रहकर भी वह अकर्ता किस प्रकार रह सकता है ?

इसके विपरीत हमारा 'योगयुक्त-योगी' तो तत्त्व-साक्षात्कार-द्वारा ज्यों-का-त्यों कर्तृत्वादि-संगसे मुक्त हुआ नित्य ही अपने परमानन्दस्वरूपमें तृप्त है । नित्य तृप्त होनेसे खरा-खरा संसारसे निराश्रयी है। स्वप्नवत् संसारमें वह तो अब आश्रययोग्य कोई वस्तु ही नहीं देखता, अतः यथार्थ कर्मफल-त्यागी है। और देहादिमें अहं-मम अध्यास न होनेके कारण, आभासमात्र देहादि-द्वारा सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः कुछ नहीं करता ।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ (४।२१)

अर्थ—जिसने शरीर व मनको जीत लिया है और भोगों की सम्पूर्ण सामग्री त्याग दी है, ऐसा आशारहित पुरुष (अहंकारादिके विद्यमान न रहने के कारण) केवल शरीरद्वारा कर्मोंका आचरण करता हुआ किसी दोषको प्राप्त नहीं होता।

यह बात तो स्पष्ट ही है कि इस आधुनिक योगीने अपने-आपको चित्त, मन एवं शरीरादिसे पृथक् करके नहीं जाना है। बल्कि उसका इन चित्तादिके साथ तादात्म्य (अभेद) हो रहा है और अपने स्वरूपके अज्ञान करके वह इनके धर्मोंका धर्मी और इनके कर्मोंका कर्मी बना हुआ है। ऐसी अवस्थामें अज्ञान का बन्धन रहते हुए उसको 'निराशी' तथा 'चित्त व मनका विजेता' किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। क्योंकि सब बन्धनोंका मूल केवल अज्ञान ही है, चित्तादि तो उसके परिणाम हैं। सो मूल-बन्धन इस आधुनिक-योगीका अभी ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, टूटा नहीं है, जिसके परिणाममें वह अपने साथ कर्तव्योंको देख रहा है और उनके साथ अपने-आपको बन्धायमान कर रहा है। फिर वह किस प्रकार चित्तादिका विजेता हो सकता है ? पदार्थोंमें सद्-बुद्धि रहते हुए न वह 'निराशि' ही हो सकता है और सब पापोंके मूल महापापी अज्ञानके रहते हुए न पापोंसे मुक्त ही हो सकता है। क्योंकि कर्तव्यके बन्धनमें रहते हुए इस अज्ञानसे छुटकारा असम्भव है। ऐसी अवस्थामें वह जो कुछ भी कर्म करता है उसका फल उसके लिये अवश्य है। यद्यपि फलत्यागकी भावना करके दृष्ट फल उसके लिये नहीं है, तथापि पुण्य-फल तो कहीं गया ही नहीं, जिसके परिणाममें उसको देहके बन्धनमें आना अनिवार्य है। और जब देहेके बन्धनमें आना उसके कर्मोंका फल बना रहा, तब 'कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्, (अर्थात् करता हुआ भी पापको प्राप्त नहीं होता) सिद्ध न हुआ।

इसके विपरीत हमारा स्वरूपस्थित 'योगयुक्त योगी' तो अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हुआ और चित्तादि प्रपञ्चसे नकद मुक्ति पाया हुआ होनेसे सच्चा विजेता है, जबकि वह अपने आत्मामें इनकी कोई सत्ता ही नहीं देखता। अब यह अपने आत्मा में आकाशके फूलोंके समान इन पदार्थोंकी कोई सत्ता ही नहीं देखता, तब पदार्थोंमें सत्ता-बुद्धि लुप्त हो जानेके कारण वही वस्तुत: 'निराशी' है। और शरीरमें कर्तृत्वाध्यास निवृत्त हो जानेके कारण शरीरद्वारा सब कुछ करता हुआ भी किसी पुण्य-पापरूप किल्बिषका भागी नहीं बनता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ (४।२२)

अर्थ—अपने-आप जो कुछ आ प्राप्त हो, उसमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत, ईर्ष्यासे रहित और सिद्धि व असिद्धिमें समान, ऐसा पुरुष कर्म करके भी बन्धायमान नहीं होता।

आधुनिक योगी देहादिमें कर्तृत्वाभिमान और कर्तव्यादि-बन्धनसे संयुक्त होनेके कारण नकद 'द्वन्द्वातीत' 'यदृच्छालाभ सन्तुष्ट' और 'सिद्ध-असिद्धिमें सम' नहीं हो सकता। हाँ, ऐसा बननेकी भावना वह अपने अन्दर भर रहा है। और यह स्पष्ट है कि भावना अन्त:करण व अज्ञानका परिणाम है, जो 'भावना' भावनामात्र ही है यथार्थ नहीं। इसलिये देहाभिमानसे बँधे रहनेके कारण वह कर्म करके किसी बन्धनमें न आवे, यह सिद्ध नहीं होता।

परन्तु हमारा 'योगयुक्त-योगी' तो सब द्वन्द्वोंकी मूल 'अहं-मम-अध्यास' समूल उखड़ जानेके कारण खरा-खरा 'द्वन्द्वातीत,' 'यदृच्छालाभसन्तुष्ट,' 'विमत्सर' और सिद्धि-असिद्धिमें समान

है। ज्ञान-जागृति आ जानेके कारण स्वप्नसमान सब व्यवहार करता हुआ भी वह तो अब सब कुछ करके भी किसी बन्धनमें नहीं आता। इस प्रकार—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (४।२३)

अर्थ—जिसका चित्त भली-भाँति आत्मज्ञानमें स्थित हो रहा है, ऐसे सर्वसंग-विनिर्मुक्त मुक्त पुरुषकी सभी चेष्टाएँ 'यज्ञ' रूप हो जानेसे उसके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।

उपर्युक्त भगवद्-वचनोंसे यह स्पष्ट है कि आत्मस्वरूपमें योग पाया हुआ 'योगयुक्त-योगी' ही इन सब लक्षणोंमें वस्तुतः सुलक्षण है। यही यथार्थरूपसे कर्ममें अकर्मदर्शी है और सब कुछ करके भी कर्म-बन्धनसे सर्वथा विनिर्मुक्त है। इससे भिन्न 'आधुनिक योगी' में इन सभी लक्षणोंकी अव्याप्ति है, अर्थात् उसमें ये कोई भी लक्षण घटते नहीं हैं।

इसके उपरान्त श्लोक २४ से ३२ तक भगवान्‌ने उन योगियोंकी भिन्न-भिन्न स्वाभाविक चेष्टाओंका निरूपण किया, जिनकी सभी चेष्टाएँ 'यज्ञ' रूप अर्थात् ब्रह्मरूप हो गई हैं। फिर श्लोक ३३ में ज्ञानयज्ञकी महिमामें यों आज्ञा की—हे परंतप! कर्मजन्य द्रव्य-यज्ञोंसे ज्ञान-यज्ञ ही श्रेय है, क्योंकि ज्ञानमें सभी कर्मोंका पर्यवसान हो जाता है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त हो जानेपर जो कुछ नहीं किया, वह भी सब किया हुआ हो जाता है। ज्ञान-प्राप्तिका साधन क्या है? सो कहते हैं—तत्त्वके जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंको भली-भाँति दण्डवत् प्रणाम, उनकी सेवा और निष्कपट भावसे बारम्बार प्रश्न करनेपर वह ज्ञान प्राप्त हो सकता है। ऐसा सदाचार होनेपर वे तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुझको ज्ञानोपदेश करेंगे (३४)। ज्ञानका फल क्या है? सो कहते हैं—

हे पाण्डव! जिस ज्ञानको प्राप्त होकर तू फिर इस प्रकार मोहको प्राप्त न होगा कि 'मैं भीष्म-द्रोणादिको मारनेवाला हूँ, अथवा ये कोई मरनेवाले हैं।' किन्तु उस ज्ञानके प्रभावसे सम्पूर्ण भूतोंको अपने आत्माका चमत्कार ही जानेगा। उस ज्ञानकी इतनी विशाल महिमा है कि चाहे तू सब पापियोंसे भी महापापी क्यों न हो, तथापि इस ज्ञानरूप नौकाद्वारा सभी पापोंको भली प्रकार तर जायगा। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि सम्पूर्ण ईंधनको भस्म कर डालती है, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको जलाकर भस्म कर देती है। इसलिये इस संसारमें ज्ञानके सदृश पवित्र वस्तु न कोई हुई है और न होगी, वह ज्ञान अपने ही पुरुषार्थ से अपने आत्मामें योग सिद्ध होनेपर हो सकता है (३५-३८)। उस ज्ञानका अधिकारी कौन है? सो कहते हैं—जो श्रद्धावान् कटिबद्ध एवं जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीता है, ऐसा पुरुष ज्ञान प्राप्त करके तत्काल ही शान्तिको पा जाता है। इसके विपरीत जो अज्ञ, श्रद्धाशून्य व संशयात्मा है, वह तो परमार्थपथ से भ्रष्ट ही होता है, ऐसे पुरुषके लिये न यह लोक सुखदाई है और न परलोक ही (३९-४०)।

अन्तमें इस अध्यायका उपसंहार करते हुए भगवान्‌ने कहा—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥(४।४१)
तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥(४।४२)

अर्थ—आत्मज्ञानको पाकर जिसके सब संशय दूर हो गये हैं, (अर्थात् 'आत्मा कर्मोंका कर्ता है, अथवा आत्मामें कर्मोंका कोई लेप लगता है' इत्यादि संशय निवृत्त होकर जिसने अपने

आत्माको इस भाँति करामलकवत् ज्यों-का-त्यों जाना है—१. 'न मैं आत्मस्वरूप किसी प्रकार कर्मोंका कर्ता हूँ और न मेरे आत्मामें कर्मोंद्वारा किसी रूपसे कोई विकार स्पर्श ही करता है।' २. 'कर्मोंके कर्ता गुणोंद्वारा स्थूल-सूक्ष्म शरीर ही हैं, मैं तो स्वयं अचल-कूटस्थ रहता हुआ उनका तमाशाई हूँ।' ३. 'यद्यपि चुम्बकके समान मेरी सत्ता-स्फूर्तिसे ये सब नृत्य करनेवाले हैं, परन्तु मुझे इनका कोई स्पर्श नहीं है।') इस प्रकार तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा अपने आत्मामें योग (अभेद) होकर जिसके सभी कर्मोंका संन्यास हो गया है। (अर्थात् देहादिद्वारा सब व्यापार होते हुए भी जो अपने आत्मामें उनका कोई स्पर्श नहीं देखता; ऐसा पुरुष ही वस्तुतः पूर्णरूपसे कर्म-संन्यासी है।) हे धनञ्जय! ऐसे आत्मपरायण पुरुषको कर्मोंका कोई बन्धन नहीं होता है। (४१)

इसलिये हे भारत! यह जो तेरे हृदयमें संशय हो रहा है (कि 'मैं अर्जुन भीष्मादिकोंका मारनेवाला हूँ और भीष्मादि मारे-जानेवाले हैं') यह केवल अज्ञानसम्भूत है। (वास्तवमें तू अर्जुन मारनेवाला, भीष्मादि मरनेवाले और मारना व मरनारूप क्रिया, ये सब तेरे आत्मस्वरूपकी चमत्काररूप तरङ्गें हैं, जिन तरङ्गोंके उत्पत्ति-नाशमें तेरा आत्मा समुद्रवत् ज्यों-का-त्यों निर्लेप है।) इस प्रकार इस संशयको आत्मज्ञानरूपी खड्गसे छेदन करके (और कर्तृत्वरूप देहाभिमानसे निकलकर) योग (आत्मस्वरूप)में स्थित हो और युद्धके लिये खड़ा हो। इस प्रकार प्रवृत्त होनेसे धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चारों मोदक तेरे बाएँ हाथके खेल सिद्ध होंगे। (श्लो० ४२)

इस प्रकार इस अध्यायकी समालोचनासे दर्पणके समान यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक टीकाकारोंने गीताका प्रतिपादन

विषय जो यह 'आधुनिक योग' सिद्ध किया है कि 'कर्म करना मुझपर कर्तव्य है और मैं अपने कर्मोंका फल ईश्वरार्पण करता हूँ' यह किसी प्रकार गीताके वचनोंसे सिद्ध नहीं होता। न यह कर्मकी सर्वथा निर्दोष विधि है और न यह कर्ताको अपने स्वरूपसे कर्म-बन्धनसे मुक्त करनेवाला ही है। बल्कि ज्ञान और कर्मकी यथार्थ संगति करना ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। गीता-दृष्टिसे तो कर्मकी निर्दोष विधि केवल उस अवस्थामें आरूढ होना ही है, जहाँ 'कर्ता' कर्ता नहीं रहता और न 'कर्तव्य' कर्तव्य ही रहता है। जहाँ 'कर्म' कर्म नहीं रहता और न 'फल' फल ही रहता है। बल्कि 'कर्ता' जहाँ अकर्ता हो जाता है, 'कर्म' अकर्म बन जाते हैं, 'फल' निष्फल हो जाते हैं और सभी कर्तव्यों की पूर्णाहुति लग जाती है। गीता-दृष्टिसे केवल यही कर्मकी निर्दोष विधि है और उसी अवस्थामें आरूढ होकर युद्धमें प्रवृत्त होनेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी गई है।

पञ्चम अध्यायकी समालोचना

चतुर्थ अध्यायमें ज्ञान व कर्मकी जो संगति भगवान्‌ने लगाई, उसके आशयको ग्रहण न कर सकनेके कारण इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने फिर प्रश्न किया—हे प्रभो! कभी आप 'कर्म-संन्यास' की प्रशंसा करते हैं और कभी 'कर्मयोग' की, अतः इन दोनोंमेंसे कौन-सा मेरे लिये कल्याणकारी हो, वह एक निश्चित रूपसे मुझे कहिये (१)।

वास्तवमें भगवान्‌का आशय तो इन दोनोंके भेदमें कभी हुआ ही नहीं, बल्कि वे तो इस समयतक 'ज्ञान व कर्म' 'सांख्य व योग' 'कर्म-संन्यास व कर्म-योग' का समन्वय ही बड़ी सुन्दरता से करते चले आ रहे हैं। अजी! भेद करनेवाला तो केवल कर्तृत्व-बुद्धिरूप अहंकार ही है अपने आत्मस्वरूपसे च्युत

होकर, जब यह जीव अज्ञानकी फाँसीमें फँसा हुआ 'अहं-कर्तृत्वाभिमान' को धारण करता है, तब कभी तो 'कर्मत्याग'(संन्यास) की भावना करता है और कभी 'फल-त्याग' (योग) की। परन्तु कर्तृत्वाभिमानके कारण भावनासंयुक्त होते हुए वस्तुतः ये दोनों ही अपना फल रखते हैं, क्योंकि जहाँ भावना है वहाँ फल अवश्य है। इसके विपरीत तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा जब यह अज्ञानरूपी शल्य निकल जाय और कर्तृत्वाभिमानरूपी मल निवृत्त हो जाय, तब स्थूल-सूक्ष्म शरीरमें 'अहं-मम' अध्यास गलित हो जाने के कारण, इसके सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं और सभी फल फलशून्य रह जाते हैं। क्योंकि ज्ञान-जागृति आ जानेसे अब यह अपने आत्मस्वरूपमें जागा है और 'कर्म' व 'फल'के कर्ता-भोक्ता जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर हैं, उनसे ज्यों-का-त्यों असंग हो गया है। परन्तु भगवान्‌के आशयको इस प्रकार ग्रहण न कर सकनेके कारण अर्जुनका यह पुनः प्रश्न हुआ है।

इसपर भगवान्‌ने अर्जुनकी दृष्टिको अङ्गीकार करके और 'सांख्य' व 'योग' के भेदका अध्याहार[1] करके उत्तर दिया—हाँ, हे पार्थ! 'कर्म-संन्यास' व 'कर्म-योग' दोनों ही मुक्तिप्रद हैं, तथापि उन दोनोंमें कर्म-संन्याससे कर्म-योग ही विशेष है। क्योंकि जो न द्वेष करता है और न कुछ आकांक्षा ही रखता है, वह तो नित्य संन्यासी ही जानना चाहिये। बन्धनका मूल ये राग-द्वेष एवं आकांक्षारूप द्वन्द्व ही हैं, जो इनसे निर्द्वन्द्व हुआ है वह अनायास ही मुक्त-बन्धन हो जाता है, ऐसा जानो (२-३)।

यदि भगवान्‌को अपनी दृष्टिसे 'सांख्य' व 'योग' का भेद स्वरूपतः इष्ट होता, तो इससे अगले श्लोक ४ व ५ में तत्काल

(१) ऊपरसे जोड़ना, अर्थात् सांख्य व योगका भेद मनमें न रखकर ऊपरसे भेदकी कल्पना करना।

ही वे 'सांख्य' और 'योग' का अभेद न करते और इनके भेद कथन करनेवालेको 'बाल-बुद्धि' से न पुकारते। परन्तु उनको तो वस्तुतः इन दोनोंका भेद किसी प्रकार भी सह्य नहीं है, केवल अर्जुनकी दृष्टिसे उसके वचनका आदर करनेके लिये ही ऐसा कहा गया है। फिर तुरन्त ही अपने लक्ष्यपर आते हैं और कहते हैं—हे पाण्डव! वास्तवमें तो बात है यों, कि 'सांख्य' व 'योग' को बालबुद्धि ही भिन्न-भिन्न कहते हैं न कि तत्त्ववेत्ता पण्डितजन। क्योंकि इन दोनोंमेंसे जो एकमें पूर्णरूपसे आरूढ हुआ है, वह दोनोंके मोक्षरूप फलको प्राप्त हो जाता है। जो स्थान (परमपद) 'सांख्य' के द्वारा प्राप्त किया जाता है, 'योग' के द्वारा भी वहीं पहुँचा जाता है। इस प्रकार जो 'सांख्य' व 'योग' को एक ही जानते हैं, वही यथार्थ द्रष्टा हैं (४।५)।

इस स्थलपर आधुनिक टीकाकारोंने 'सांख्य' व 'योग' का स्वरूपभेद और मार्गभेद बनाये रखकर 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति' भगवानके इन उपर्युक्त वचनोंकी एकता अनेक प्रकार से की है।

(१) कोई कहते हैं—संन्यास-मार्गमें ज्ञानको प्रधान मान लेनेपर भी उस ज्ञान (सांख्य) की सिद्धि कर्म (योग) किये बिना नहीं हो सकती और 'कर्म-मार्ग' में यद्यपि कर्म किया करते हैं, तो भी वे ज्ञानपूर्वक अर्थात् फल-त्यागपूर्वक होने हैं। इस प्रकार संन्यास (सांख्य) मार्गमें कर्म (योग) की अपेक्षा और कर्म (योग) मार्गमें ज्ञान (सांख्य) की अपेक्षा होनेसे दोनों का अभेद मानने योग्य है। अर्थात् दोनों मार्गोंको स्वतन्त्र बनाये रखकर और एकको दूसरेकी अपेक्षा मानकर दोनोंका अभेद किया गया है।

(२) किसीका कथन है—'संन्यास (सांख्य) बुद्धिमें है,

अग्नि-त्याग अथवा कर्म-त्यागकी बाह्य क्रियामें नहीं है, अतएव फलाशा अथवा संकल्पका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेवाले को ही सच्चा संन्यासी कहना चाहिये'। इस प्रकार 'योग' में ही 'सांख्य' का अन्तर्भाव किया गया है।

परन्तु वास्तवमें तत्त्वको न जानकर उन दोनोंके ये सब कथन अयुक्त हैं और प्रलापमात्र ही हैं—

(१) प्रथम पक्षमें तो 'सांख्य' की सिद्धिमें 'योग' को साधन-रूपसे और 'योग' की सिद्धिमें 'सांख्य' को साधनरूपसे मान लेनेपर, दोनोंकी परस्पर सापेक्षता व अन्योऽन्याश्रयता ही सिद्ध होती है, जोकि सर्वथा अयुक्त है। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु का साधनभूत है, वही वस्तु उसी दूसरी वस्तुका साध्य कैसे हो सकती है? जबकि 'सांख्य' की सिद्धि में 'योग' को हेतुरूपसे अङ्गीकार कर लिया गया, फिर 'योग' की सिद्धिमें उस 'सांख्य' को ही हेतुरूपसे अङ्गीकार कर लेना, तो ऐसा ही बाल-बुद्धिका विनोद है, जैसे कोई अग्निमें धूमको हेतु और धूममें अग्निको हेतुरूपसे अङ्गिकार करे। यदि किसी रूपसे इन दोनोंकी परस्पर हेतुता मान भी ली जाय, तो भी हेतु व साध्यका परस्पर भेद ही देखनेमें आता है, अभेद कदापि नहीं। परन्तु यहाँ तो भगवान्‌का वचन है—

"सांख्य व योगको बालक पृथक्-पृथक् कहते हैं न कि पण्डित, और दोनोंमेंसे किसी एकमें भली-भाँति स्थित हुआ पुरुष दोनोंके ही फलको पा जाता है (श्लो० ४)।"

अर्थात् जो 'योग' में भली-भाँति स्थित हुआ उसका 'सांख्य' (कर्म-संन्यास) भी सिद्ध हो गया और जो 'सांख्य' में भली-भाँति स्थित हुआ उसका 'योग' (फल-त्याग) भी स्वतः ही सिद्ध हो गया। इस प्रकार भगवान्‌को दोनोंका स्वरूपसे अभेद इष्ट है, साधन-साध्यरूपसे नहीं। परन्तु इसके विपरीत यहाँ तो

दोनोंका साधन-साध्यरूपसे भेद बना ही रहा तथा इन दोनोंमेंसे किसी एकमें आरूढ हुए पुरुषको दूसरेकी अपेक्षा बनी ही रही। भगवद्वचनानुसार एकमें आरूढ हुए, पुरुषको दोनोंका फल तो न मिला। इस प्रकार इस पक्षमें तो दोनोंका भेद ही सिद्ध हुआ, अभेदकी सिद्धि नहीं हुई।

(२) द्वितीय पक्षमें यद्यपि 'सांख्य' व 'योग' दोनोंकी परस्पर सापेक्षता तो अङ्गीकार नहीं की गई, तथापि 'योग' के स्वरूपमें ही 'सांख्य' को मिला दिया गया है। और 'सांख्य' की अपनी कोई सत्ता ही नहीं रक्खी गई, किन्तु 'सांख्य' का स्वरूप ही लुप्त कर दिया गया है। इस रीतिसे तो 'सांख्य' कोई वस्तु ही नहीं रहा, केवल योग-ही-योग रह गया। जब दोनोंमेंसे किसी एकका स्वरूपसे अभाव ही हो गया, तब दोनोंकी एकता कहाँ हुई? परन्तु भगवान्‌का तो वचन है—

"दोनोंमेंसे किसी एकमें भली-भाँति आरूढ हुआ पुरुष दोनों के ही फलको पा जाता है तथा जो परम धाम सांख्यद्वारा प्राप्त किया जाता है, वहीं योगद्वारा पहुँचा जाता है (श्लो० ४-५)।"

इस पक्षके अनुसार तो दोनोंमेंसे किसी एकमें आरूढ होना रहा ही नहीं, किन्तु एक-ही-एक 'योग' रह गया, 'सांख्य' तो शेष ही न रहा। क्योंकि उन्होंने कर्तव्य-कर्मोंमें फलाशा-त्याग, इतनामात्र ही सांख्यका स्वरूप मान लिया है और यही योगका स्वरूप है। ऐसी अवस्थामें श्लोक ५ उक्त भगवद्वचनोंकी संगति कैसे लगाई जाय कि 'जो परमपद सांख्यद्वारा प्राप्त किया जाता है, वहीं योगद्वारा पहुँचा जाता है' जबकि इस पक्षमें 'सांख्य' की कोई पृथक् सत्ता ही नहीं है? भगवान्‌के वचनोंका तो किसी प्रकार यह तात्पर्य नहीं निकलता कि 'सांख्य' का गला घोंटकर उसको योगमें ही मिला दिया जाय। बल्कि भगद्वचनोंसे तो दोनोंकी अपनी-अपनी पृथक् सत्ता सिद्ध होती है, कहीं ऊपर

चढ़कर दोनोंका अभेद किया गया है और कहा गया है कि इस अवस्थामें जो स्थान सांख्यके द्वारा प्राप्त किया जाता है, वहीं योग के द्वारा भी पहुँचा जाता है। यदि किसी प्रकार इस पक्षको मान भी लिया जाय, तो उक्त योग अपने स्वरूपसे किसी प्रकार उस परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करानेके योग्य नहीं है, जिसकी प्रा-प्तिका वचन भगवान्ने इन दोनों श्लोकों (४, ५) में किया है। क्योंकि जैसा पीछे अनेक स्थलोंपर स्पष्ट किया गया है (पृष्ठ ८२ से ८७ और ६० से ६६), 'मैं कर्मोंका कर्ता हूँ, मुझपर अमुक कर्म कर्तव्य है और मैं अपने कर्मोंका फल ईश्वरार्पण करता हूँ' इत्यादि रूपसे अनेक भेद-भावनाएँ होनेके कारण, जोकि अज्ञानमूलक हैं, उसके वर्तमान कर्म ही फलभोगसे छुटकारा नहीं दे सकते, तब अनेक जन्मोंके सञ्चित-कर्मोंके संस्कारोंको तो यह योग दग्ध कर ही क्या सकता है? यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक-टीकाकारोंने योगका उक्त स्वरूप बनाकर इस योगके द्वारा ही साक्षात् किस प्रकार सञ्चित व क्रियमाण कर्मोंका क्षय माना है और उसके समर्थनमें वे कौन युक्ति व प्रमाण दे सकते हैं? परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि इस जीवके आत्मामें तो निर्विकार होनेसे किसी प्रकार कर्तृत्व व कर्तव्यादि का कोई विकार है ही नहीं (२।१६-२५), केवल जब यह जीव अपने आत्मस्वरूपसे च्युत होकर देहादिके बन्धनमें आता है, तभी यह भेद-दृष्टि व देहाभिमान करके कर्तृत्वादिकी फाँसीमें फँस जाता है और अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये इसको पुनर्जन्म धारण करना पड़ता है। इस प्रकार कर्मसे देह और देहसे कर्मका प्रवाह अटल चालू हो जाता है, जोकि सब अज्ञानकी उपाधि है और केवल आत्म-ज्ञानसे ही निवृत्त हो सकती है। 'आधुनिक-योग' के उक्त स्वरूपमें और तो किसी

वस्तुका त्याग है नहीं, अर्थात् न 'कर्तापन'का ही त्याग है, न कर्तव्य का और न 'कर्म' का, बल्कि कर्तृत्वादि सभी अज्ञानकी उपाधि अपने-अपने स्थानपर मौजूद हैं, केवल फल-त्याग है सो भी भावना-मात्र। यह तो स्पष्ट ही है कि कर्तृत्व व कर्तव्यकी विद्यमानतामें फल-त्यागकी भावनासे फल अधिक मिलता है, केवल इसीसे वह फल-शून्य कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि प्रकृतिमें यह नियम किया गया है कि जिस चेष्टाके साथ जितनी-जितनी त्यागकी भावना अधिक होगी, उतनी-उतनी ही फलकी वृद्धि होगी। हाँ, फलसे मुक्ति तो उसी अवस्थामें हो सकती थी, जब की ज्ञानद्वारा 'कर्तृत्व' व 'कर्तव्य' से छूटकर प्रकृतिके बन्धनसे छुटकारा पाया जाता। परन्तु यहाँ तो प्रकृति व अज्ञानका सभी परिवार मौजूद है, फिर बन्धनसे छूटनेकी आशा ही क्या? भय्या! सर्पणीको कोमल जान छातीसे लगाते हो, दूध पिलाते हो, परन्तु काटे न जाओ और मारे न जाओ तो कहना! इसके विषसे यचना चाहते हो तो केवल उस कन्हैया (साक्षीस्वरूप) की शरण लो, वही कालीय नागकी भाँति इसके सब फणोंको (परिच्छिन्न-अहंकारकी नाना वृत्तियों को) तोड़ सकता है (७।१४)। इस प्रकार उक्त योग क्रियमाण-कर्मोंके फलसे ही छुटकारा देनेमें समर्थ नहीं, तो फिर इससे सञ्चित-संस्कारोंके क्षयकी आशा रखना तो कोरी भूल है, केवल धोखा खाना है और धोखा देना है। इस रीतिसे उक्त योग जबकि कर्मोंका क्षय करनेमें ही समर्थ नहीं, तब भगवान्‌के वचनानुसार यह अपने स्वरूपसे साक्षात् परमपदको प्राप्त करानेमें तो कुण्ठित ही है। सारांश, 'सांख्य' व 'योग' का अभेद जिस-जिस रूपसे आधुनिक टीकाकारोंने किया है, वह सर्वथा असंगत है।

भगवान्‌के आशयसे तो 'सांख्य' (कर्म-संन्यास) व 'योग' (निष्काम-कर्म, फलत्याग) का वास्तविक अभेद वहीं पहुँचकर

सम्भव हो सकता है, जहाँ इन दोनोंका भेद करनेवाला कर्तृत्वाभिमान आत्मज्ञानद्वारा आत्मस्थिति प्राप्त करके निवृत्त हो जाय और कर्मके साधन जो देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादि हैं, ज्ञानाग्निसे उनमें अहंभाव दग्ध हो जाय। उस अवस्थामें पहुँचकर यथार्थरूपसे स्वाभाविक 'कर्म-त्याग' (संन्यास, सांख्य) और 'फल-त्याग' (योग) की संगति लग जाती है। पूर्व अवस्थामें अज्ञानद्वारा देहेन्द्रियादिसे बन्धायमान रहनेके कारण, जहाँ यह देहेन्द्रियादिके धर्मोंका धर्मी और उनके कर्मोंका कर्मी बना हुआ था, वहाँ अब ज्ञानद्वारा उनके धर्मों व कर्मोंसे खरा-खरा असंग है और साक्षीरूपसे उनका तमाशाई है। अब जबकि देहेन्द्रियादिके धर्म-कर्मोंका यह कर्ता नहीं रहा, बल्कि केवल तमाशाई है, तब यही सोलह आने कर्म-संन्यासी है और यही निष्कामी। क्योंकि कर्तृत्वाध्यासके निकल जानेके कारण जब यह कर्ता ही न रहा, तब स्वतः ही कर्म-संन्यासी है और वस्तुतः ही फल-त्यागी। देहेन्द्रियादि चक्रके वेगके समान अपने-अपने धर्मोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं, परन्तु ज्ञान-जागृति आ जानेके कारण इसको उनका कोई लेप नहीं है। देहेन्द्रियादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी अब यह अपनी असंगता करके अकर्ता 'कर्म-संन्यासी' है और कामनासहित दीखता हुआ भी 'निष्कामी' ही है। क्योंकि 'कामना' व 'कर्म' देह, इन्द्रिय, मन व बुद्धिके धर्म हैं और अब यह उनका कर्ता नहीं रहा, किन्तु केवल द्रष्टा ही है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि 'सांख्य व योगको बालक (अज्ञ) भिन्न-भिन्न कहते हैं, नकि तत्त्ववेत्ता पण्डितजन'। इससे विपरीत जो कर्तापनके बन्धनमें बँधे रहकर 'कर्म-त्याग' व 'फल-त्याग' की भावना करते हैं वे तो नटके स्वाँगकी तरह मिथ्या ही है।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने कहा—हे महाबाहो! अपने आत्म-

स्वरूपमें योग पाये बिना कर्म-सन्यास दुष्कर है, क्योंकि कर्तृत्व-बुद्धिकी विद्यमानतामें कर्मका त्याग भी, त्यागका अभिमान होनेके कारण, 'कर्म' ही बन जाता है और फलका हेतु होता है। परन्तु कर्तृत्वाभिमानसे छूटकर जो अपने आत्मामें योग प्राप्तकर चुका है, ऐसा मननशील पुरुष तो तत्काल परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है (६)। इस प्रकार योग व सांख्यका अभेद करके भगवान् अब दोनों अर्थोंमें 'योग' शब्दका ही प्रयोग करते हैं और कहते हैं—हे पाण्डव! जो अपने आत्मामें योगयुक्त हुआ है ऐसा विशुद्धात्मा, जिसने अपने मन-इन्द्रियोंको भली-भाँति जीत लिया है और ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सब भूतोंका आत्मा ही जिसका अपना आत्मा हो गया है, ऐसा पुरुष अपनी असंगता से कर्म करके भी कर्मोंसे लेपायमान नहीं होता। किन्तु इस तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा कि 'इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें वर्त रही हैं, परन्तु न मैं इन्द्रियाँ हूँ और न मेरी इन्द्रियाँ हैं' इन्द्रियोंद्वारा देखता, सुनता, सूँघता, खाता, चखता, इत्यादि विषयोंका ग्रहण करता हुआ भी 'मैं कुछ नहीं करता, मैं तो इन्द्रियों और उनके अर्थोंका केवल द्रष्टा हूँ' इस प्रकार उनसे निर्लेप रहता है। इस रीतिसे जो पुरुष तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा ज्यों-का त्यों कर्तृत्व-संग (कि मैं कर्मोंका कर्ता हूँ) को त्यागकर अपने कर्मोंको ब्रह्मार्पण करता हुआ कर्मोंमें वर्तता है, वह कमल-पत्रके समान पुण्य-पाप से लेपायमान नहीं होता। इस प्रकार योगीजन कर्तृत्वाध्यासको त्यागकर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा अहंकार-वर्जित कर्मोंको करते हैं। उपर्युक्त रीतिसे जो अपने आत्मस्वरूप में युक्त (अभेद पाये हुये) हैं, वे तो कर्म-फलादिको त्यागकर स्थिर शान्तिको प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु जो अयुक्त हैं वे कामना करके फलमें आसक्त हुए कर्म-बन्धनमें पड़ जाते हैं। ऐसा योगी

सब कर्मोंको मनसे त्यागकर, अर्थात् इस दृढ निश्चयको धारकर कि 'मैं साक्षीस्वरूप न कुछ करता हूँ, न मेरे में कुछ बनता है' इस नव द्वारवाले पुरमें स्वयं न कुछ करता हुआ और न करवाता हुआ सुखपूर्वक निवास करता है (६–१३)।

उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे यह स्पष्ट है कि अपने आत्मस्वरूपमें योगयुक्त योगी ही साङ्गोपाङ्ग इन सब अर्थोंको सार्थक करनेमें समर्थ है। इसके विपरीत इस निष्काम-कर्मीमें इन सभी लक्षणों की अव्याप्ति है, क्योंकि वह 'कर्तृत्व' व 'कर्तव्य-बुद्धि'से संयुक्त है। यह तो स्पष्ट ही है कि 'कर्तृत्व-बुद्धि'के बिना 'कर्तव्य-बुद्धि' आ नहीं सकती और देहाअभिमानके बिना 'कर्तृत्व-बुद्धि' असम्भव है। इस प्रकार जब कि वह देहाभिमानसे बँधा हुआ कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धिसंयुक्त है, तब वह न 'विशुद्धात्मा' हो सकता है और न 'जितेन्द्रिय'। क्योंकि कर्तव्य-बुद्धिके कारण वह अभी देहाभिमानकी कीचड़में फँसा हुआ है, फिर विशुद्धात्मा कहाँ? इसके साथ ही मन-इन्द्रियोंमें ही उसकी अहंबुद्धि है और वह इनके धर्म-कर्मोंका कर्ता बना हुआ है, फिर जितेन्द्रिय कैसा? जबकि वह 'इन्द्रियस्वरूप' 'इन्द्रियमय' ही हो रहा है और इनके धर्म-कर्मोंका अभिमानी है, तब मन-इन्द्रियोंका विजेता कैसे हो सकता है? फिर ऐसी अवस्थामें वह सब भूतोंके आत्माको अपना ही आत्मा कैसे जान सकता है और मन-इन्द्रियोंके व्यवहारोंमें असंग कैसे रह सकता है, जबकि कर्तव्य-बुद्धिके कारण वह इनके व्यापारोंका कर्ता बन रहा है (७-९)? क्योंकि कर्तव्य-बुद्धि का केवल यही निमित्त है कि वह इनके व्यापारोंमें कर्तापनका अभिमानी बन बैठा है कि 'मैं इन सब व्यापारोंका कर्ता हूँ' इसके सिवा कर्तव्य-बुद्धिका और कोई निमित्त बनता ही नहीं है। यदि वह देहेन्द्रियादिके व्यापारोंका कर्ता न बनता तो कर्तव्य भी

इसपर किसी प्रकार आरूढ नहीं हो सकता था। परन्तु ऐसी अवस्थामें जबकि इन्द्रियादिमें 'अहंता' और इनके व्यापारोंमें 'कर्ता' व 'कर्तव्य' रूप कर्मबन्धनकी सभी सामग्री मौजूद है, तब वह कर्मोंमें असंग एवं पद्मपत्रके समान पुण्य-पापसे निर्लेप कैसे रह सकता है (१०)? चाहे वह भावनामात्र प्रलाप किया करे और अपने संकल्पके ढाई चॉवलकी खिचड़ी बेशक पकाया करे, कि 'मैं कर्ता नहीं और मुझे फल नहीं चाहिये' परन्तु ज़ोर मार कर फलने तो निकल ही आना है। क्योंकि यह ईश्वरकी नीति है कि कर्ताको भोक्ता बनना ही पड़ेगा और जिस भावनासे कर्म किये गये हैं वैसा फल भोगना ही होगा। इस नियमके अनुसार इस योगीको फल-त्यागकी भावनासे फल अधिक तो हो सकता है, परन्तु फलशून्य वह कदापि नहीं हो सकता।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने स्वय ही श्रीमुखसे स्पष्ट करके वर्णन कर दिया—देखो, कुरुनन्दन! वस्तुत परमात्मा तो जीवोंमें किसी प्रकार न कर्तापनको रचता है, न उनमें कर्मोंकी रचना करता है और न किये हुए कर्मोंके फल-संयोगकी ही रचना करता है, किन्तु यह सब केवल प्रकृतिकी ही कल्पना है और उस परमात्माकी सत्ता पाकर ही यह अपना सब नृत्य कर रही है। अन्यथा वह सर्वव्यापी परमात्मा तो न किसी जीवके पापोंको और न पुण्योंको ही ग्रहण करता है, केवल अज्ञान करके वह ज्ञान अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमात्मा ढका हुआ है, जिससे जीव मोहित हो जाते हैं। अर्थात् अपने व परमात्माके बीचमें अज्ञानका पड़दा आ जाने के कारण, परमात्मासे अपना वास्तविक अभेद होते हुए भी वे भेदकी कल्पना कर लेते हैं और उस भेदके कारण 'अहं-कर्तृत्वाभिमान' करके मिथ्या पुण्य-पापके बन्धनमें फॅसकर मोहित हो जाते हैं। परन्तु अपने आत्मज्ञानद्वारा जिनका यह अज्ञानका

पड़दा फट गया है, उनको वह आत्मस्वरूप ज्ञान ज्यों-का-त्यों संशयरहित सूर्यके समान प्रकाशता है, जिससे उनका कर्तृत्वादि सभी भ्रम शान्त हो जाता है (१४-१६)।

उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे यह स्पष्ट है कि कर्तृत्व, कर्म व फल केवल अज्ञानसम्भूत हैं और केवल आत्मज्ञानसे ही इनकी निवृत्ति सम्भव है। कर्मद्वारा कर्तृत्वादि किसी प्रकार निवृत्त नहीं हो सकते और न किसी प्रकार अपने आत्मस्वरूपमें योग ही प्राप्त हो सकता है। बल्कि केवल ज्ञानद्वारा कर्तृत्वादि निवृत्त होनेपर ही योग प्राप्त किया जा सकता है। अब जिनका कर्तृत्वादि-भ्रम शांत हुआ है, उसका फल और उनके लक्षण भगवान् यूँ वर्णन करते हैं—इस प्रकार ज्ञानद्वारा जिनके पाप निवृत्त हुए हैं, जिनकी बुद्धि, मन व निष्ठा तदाकार ही हो गये हैं, (क्योंकि कर्तृत्वादि-भ्रम करके ही बुद्ध्यादि उस वास्तविक स्वरूपसे विपरीताकार हो रही थीं) ऐसे तत्परायण पुरुष देह त्याग करके अपुनरावृत्ति अर्थात् विदेहमोक्षको प्राप्त होते हैं और जीते-जी जीवन्मुक्तिका भोग करते हैं। वे पण्डितजन अपनी समता करके क्या विद्या व विनयसे युक्त ब्राह्मण, क्या गौ, क्या हस्ती, क्या चाण्डाल और क्या कुत्ता, सभीमें अपनी साक्षी-दृष्टि करके समदर्शी रहते हैं, अर्थात् उन सब रूपोंमें अपने आत्माको ही देखते हैं। ऐसे पुरुषों ने, जिनका मन इस प्रकार सर्वाधिष्ठानरूप समतामें स्थित हुआ है, जीते-जी यहीं संसारको जीत लिया है। क्योंकि ब्रह्म सम व निर्दोष है और उस ब्रह्ममें वे अभेदरूपसे स्थित हुए हैं, इसलिये वे ही यथार्थ रूपसे विशुद्धात्मा व जितेन्द्रिय हैं। ऐसे स्थिरबुद्धि ब्रह्मवेत्ता, जो ब्रह्ममें अभेदरूपसे स्थित हुए हैं, न प्रिय पदार्थको प्राप्त करके हर्षित होते हैं और न अप्रियको पाकर उद्वेगवान् ही होते हैं। इस प्रकार बाह्य विषयोंमें आसक्तिरहित पुरुष अपने

अन्तःकरणमें भगवद्-ध्यानजनित सुखको प्राप्त होता है और वह ब्रह्मस्वरूपमें योग-युक्त पुरुष अक्षय सुखका भोग करता है (१७-२१)। इसके उपरान्त श्लो० २२ व २३ में बाह्य भोगोंको दुःखरूप व नाशवान् वर्णन करके काम-क्रोधादिके वेगको सहन करनेकी आवश्यकता वर्णन की और फिर कहा—हे पाण्डव ! इस प्रकार अपने आत्मस्वरूपमें अभेद पाया हुआ, बाह्य विषयोंकी अपेक्षा बिना जो पुरुष अपने अन्तरात्मामें ही सुखी है, अन्तरात्मामें ही विश्राम पाया हुआ है और अपने अन्तरात्मामें ही प्रकाश रहा है, ऐसा योगी ब्रह्मरूप हुआ ब्रह्मको ही प्राप्त करता है। जिनके सब पाप निवृत्त हो गये हैं, जिन्होंने मनको जीता है और जो सब प्राणियोंके हितमें रत हैं, ऐसे ऋषिजन निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। जो काम-क्रोधसे छूटे हुए हैं और जिन्होंने चित्तको जीता है, ऐसे आत्मज्ञानियोंको सब ओरसे शान्त ब्रह्म ही दृष्ट आता है। इस प्रकार बाह्य विषयोंका चिन्तन त्यागकर जो अन्तर्मुख हुए हैं, मन-बुद्धिको जीते हुए हैं तथा इच्छा, भय व क्रोधादिसे छूटे हुए हैं, ऐसे मोक्षपरायण मुनि सदा मुक्त ही हैं (२४-२८)।

उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे स्पष्ट है कि इस 'आधुनिक योगी' (निष्काम-कर्मी) में इन सभी लक्षणोंकी सर्वथा अव्याप्ति है। क्योंकि आधुनिक योगीके जो लक्षण आधुनिक टीकाकारोंने किये हैं, उससे यह विषय तो निर्विवादरूपसे सिद्ध होता ही है कि उसने अपने-आपको देहेन्द्रियादिसे पृथक् करके नहीं जाना है, किन्तु कर्तव्य-बुद्धिके कारण वह अभी अपने-आपको देहेन्द्रियादिसे अभिन्न करके ही जान रहा है, इसीलिये वह देहादिसे बन्धायमान है। यदि वह देहादिसे अपने-आपको अपरोक्षरूपसे पृथक् जानता, तो कर्तव्य-बुद्धिका कोई निमित्त ही नहीं बन सकता था। क्योंकि कर्तव्य-बुद्धि सदैव 'परिच्छिन्न-अहं' पर ही

लागू हो सकती है, अपरिच्छिन्न स्वरूपपर तो कर्तव्यका काम ही क्या? इसलिये अपनी परिच्छिन्नता करके उसका भेद-दृष्टिसंयुक्त होना अवश्यम्भावी है। ऐसी अवस्थामें भगवद्वचनानुसार वह अपनी भेद-दृष्टि करके 'तद्बुद्धि', 'तन्निष्ठ' व 'तत्परायण' कैसे हो सकता है और अपुनरावृत्तिका लाभ कैसे कर सकता है (१७)? 'अन्योसावन्योऽहमस्मि' (वह और है, मैं और हूँ) इस भेद-दृष्टि में सद्बुद्धि होनेके कारण वह ब्राह्मण, चाण्डाल श्वानादिमें समदर्शी कैसे हो सकता है, जबकि वह अभीतक देहादिसे अभिन्न ही हो रहा है और देहादिसे भिन्न अपने-आपको और कुछ नहीं जानता (१८)? इस प्रकार देहादिसे अभिन्न रहते हुए वह चाहे अपनी समताकी डींग मारा करे, परन्तु वह मिथ्या भावनामात्र ही है यथार्थ नहीं, क्योंकि उसकी देहादिमें 'अहं-बुद्धि' अपरोक्ष है और 'ब्राह्मण-चाण्डालादि सब मैं ही हूँ' यह बुद्धि गुरु-शास्त्रद्वारा परोक्ष है। और यह स्पष्ट है कि परोक्ष-ज्ञान अपरोक्ष-ज्ञानका बाधक नहीं, किन्तु एक अपरोक्ष-ज्ञान ही दूसरे अपरोक्ष-ज्ञानका बाधक हो सकता है, (देखो पृ० ८२ से ८४)। इस प्रकार भेद-बुद्धि रहते हुए वह न तो ब्रह्ममें अभेदरूपसे स्थित हो सकता है, न यहीं संसारको जीते-जी जीत सकता है, न प्रिय-अप्रियमें हर्ष-शोकवर्जित रह सकता है, न अक्षय सुखको भोग सकता है और न बाह्य विषयोंसे असक्त ही रह सकता है, क्योंकि भेद-दृष्टिके कारण मृगतृष्णारूप बाह्य विषयोंमें उसकी मिथ्या बुद्धि नहीं हुई, किन्तु सद्-बुद्धि ही है (१९-२१)।

इसके विपरीत तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा अपने आत्मस्वरूपमें अभेदरूपसे योग-युक्त योगीने तो अपने-आपको ज्यों-का-त्यों देहादिसे पृथक् जाना है और देहादि प्रपञ्चको अपने आत्म-स्वरूपका आभास व चमत्कारमात्र निश्चय किया है, जिन आभासों

के उत्पत्ति-लयसे वह अपने आत्मस्वरूपमें किसी प्रकार विकार का स्पर्श भी नहीं देखता। इस प्रकार उसकी भेद-दृष्टि सर्वथा गलित हो गई है और आभासरूप सर्व प्रपञ्चको अब वह आत्म-रूपसे ही ग्रहण कर रहा है। इस लिये वही ज्यों-का-त्यों 'समदर्शी' है, वही 'तद्बुद्धि' 'तन्निष्ठ' एवं 'तत्परायण' है, वही यथार्थरूप से जीते-जी संसारको जीते हुए है। और जबकि वह अपने आत्मा से पृथक् संसारकी कोई सत्ता ही नहीं देखता तब वस्तुतः वही बाह्य विषयोंसे असक्त व हर्ष-शोकवर्जित है।

अन्तमें भगवान्ने कहा—मैं सब यज्ञों व तपोंका भोक्ता हूँ, सब लोकोंका महेश्वर हूँ तथा सब भूतोंका सुहृद् हूँ, ऐसा मुझको जानकर ही जीव शान्तिको प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार इस अध्यायकी समालोचनासे यह स्पष्ट है कि 'योग' का जो स्वरूप आधुनिक टीकाकारोंने बनाया है, वह किसी प्रकार इस अध्याय से सिद्ध नहीं होता। तथा योगीके जो लक्षण इस अध्यायमें कहे गये हैं, आधुनिक योगीमें वे किसी प्रकार यथार्थरूपसे सिद्ध नहीं होते और न कर्मोंद्वारा योग-प्राप्ति ही सिद्ध होती है, बल्कि ज्ञान-द्वारा ही सब प्रकार योग प्राप्तिका सम्भव स्पष्ट होता है। हाँ, यह अवश्य है कि ज्ञानद्वारा यथार्थरूपसे योग प्राप्त हो चुकनेपर, वह सब प्रकार कर्तृत्व, कर्म व फलके बन्धनसे मुक्त हो जाता है, कोई वस्तु उसको बन्धन नहीं कर सकती। तथा 'योग' व 'सांख्य' का अभेद जिस रूपसे आधुनिक टीकाकारोंने किया है, वह किसी प्रकार समीचीन नहीं बनता।

छठे अध्यायकी समालोचना

पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्नपर जो 'सांख्य' व 'योग' का अभेद भगवान्ने निरूपण किया था, वही इस अध्याय के आरम्भमें वे स्वय फिर पुष्ट करते हैं और कहते हैं—

हे अर्जुन ! कर्मफलका आश्रय जो 'कर्तावुद्धि' उसके बिना, अर्थात् उस कर्ता-बुद्धिको त्यागकर, जो पुरुष करनेयोग्य कर्म करता है, अर्थात् अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वाभाविक कर्म करता है, वही 'संन्यासी' है और वही 'योगी' है, केवल अग्नि व क्रियाओंको त्याग बैठनेवाला ही संन्यासी नहीं हो सकता। (इस प्रथम श्लोकमें 'कार्यं कर्म करोति यः' ऐसा पाठ है, यहाँ 'कार्यं' शब्द कर्मका विशेषण है, क्रियावाची नहीं है। इसलिये 'कार्यं कर्म' का अर्थ 'कर्म करना कर्तव्य है' ऐसा नहीं बनता, किन्तु 'करनेयोग्य कर्म' अर्थात् 'स्वाभाविक-कर्म' ही इसका अर्थ होता है)। तथा हे पाण्डव ! जिसको 'संन्यास' ऐसा कहते हैं, उसीको तू 'योग' जान। क्योंकि जिस प्रकार 'कर्ता-बुद्धि' के त्याग बिना, केवल अग्नि व क्रियाओंके त्यागसे ही कोई यथार्थरूप से 'संन्यासी' नहीं हो सकता, उसी प्रकार संकल्पोंके त्याग बिना, (अर्थात् 'मैं कर्मका कर्ता हूँ और मुझपर अमुक कर्तव्य है' इत्यादि संकल्पोंके रहते हुए) कोई योगी भी नहीं हो सकता (१-२)।

आशय यह है कि क्या 'संन्यास' और क्या 'योग' दोनोंमें ही सच्चा त्याग अपेक्षित है, मिथ्या भावनामात्र त्यागसे दोनों ओर ही कार्यसिद्धि असम्भव है। कर्तृत्व-बुद्धि बनाये रखकर खाली अग्नि व क्रियाओंको त्याग बैठना सच्चा संन्यास नहीं, किन्तु मिथ्या ही संन्यास है। इसकेसाथ ही 'कर्ता-बुद्धि' बनाये रखकर खाली फल-त्यागकी भावना करते रहना, न यह सच्चा फल-त्याग ही है और न सच्चा योग ही है। क्योंकि फल-त्यागकी भावनामें जबकि इस भावनाका कर्ता हाज़िर है, तब वस्तुतः फल-त्याग हो नहीं सकता। बल्कि इस भावनाके कर्ताके लिये त्यागमयी भावना होनेके कारण फल-वृद्धि तो हो जाती है, परन्तु फलशून्य नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें फलकी मूल 'कर्तृत्व-बुद्धि' निर्मूल नहीं की

गई और मूलके रहते हुए फलका अभाव असम्भव ही है। जैसे किसी वृक्षको 'कलम' कर देनेसे, जबतक उसकी मूल विद्यमान है, वह फलशून्य नहीं हो जाता, बल्कि अधिक फल देता है, इसी प्रकार कर्ता-बुद्धिकी विद्यमानतामें फलत्यागकी भावना फलशून्य नहीं रहती, बल्कि अधिक फल देती है। इसलिये क्या 'संन्यास' और क्या 'योग' दोनोंमें ही सच्चा त्याग चाहिये, वह यह कि ज्ञानरूपी खड्गसे इस मूलरूप कर्तृत्व-बुद्धिका सिर धड़से अलग कर दिया जाय। इस प्रकार अपने साक्षीस्वरूपमें दृढतासे स्थिति पाकर जब देहेन्द्रियमनबुद्धयादिसे ज्यों का-त्यों अहंता का नाता टूट जाय, तब देहादिद्वारा अग्नि व क्रियाओंका सेवन करता हुआ भी वह महापुरुष वस्तुतः 'अग्नि-त्यागी' एवं 'कर्म-संन्यासी' ही है। तथा देहादिमें ज्यों-का-त्यों 'अहंभाव' उखड़ जानेके कारण, फल-त्यागकी भावना न करता हुआ भी वह सच्चा 'फल-त्यागी' और सच्चा 'योगी' ही है। क्योंकि यद्यपि देहेन्द्रियादि अपने-अपने व्यापारोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं, तथापि उस साक्षी-स्वरूपमें तो, जिसमें वह अब एकत्वभावसे स्थित हो गया है, कदापि कोई कर्मप्रवृत्ति हुई ही नहीं, नित्य अकर्ता होते हुए अज्ञान करके इसमें मिथ्या कर्तृत्वका आरोप ही हो रहा था। तथा इस साक्षीसे भिन्न द्वैतका अत्यन्ताभाव हो जानेके कारण इसमें कदापि कोई फल-कामना हुई ही नहीं थी। फल-कामना तो तब होती जब कि इस साक्षीसे भिन्न द्वैत कुछ बना होता, परन्तु केवल अज्ञानके आवेश करके और कल्पित द्वैतका आरोप करके इसमें मिथ्या ही फल कामना और मिथ्या ही फल-त्यागका खयाली पुलाव पकाया जा रहा था। इसीलिये यहाँ भगवान्ने कहा है कि इधर (न निरग्निर्न चाक्रियः श्लो० १) 'अग्नि व क्रियाओंको त्याग बैठनेवाला ही कोई 'संन्यासी' नहीं हो जाता' और उधर (न ह्यसंन्य-

स्त संकल्पो योगी भवति कश्चन श्लो० २) 'संकल्पके त्याग बिना कोई 'योगी' भी नहीं हो सकता।' 'संकल्प-त्याग' से तात्पर्य यह मूल संकल्प ही है कि 'मैं कर्मोंका कर्ता हूँ और मुझपर अमुक कर्तव्य है' यहाँ इसी संकल्पका त्याग अपेक्षित है और सब संकल्प तो इसकी शाखाएँ ही हैं। ध्यानद्वारा अपने आत्मस्वरूपमें स्थिति पाकर ही यह 'संकल्प-संन्यास' इस तत्त्वसाक्षात्कार पर निर्भर है कि 'न मैं देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादि हूँ, न ये मेरे हैं, किन्तु मैं तो इन सबकी साक्षीरूप सत्ता हूँ और ये सब मेरे स्वरूपकी चमत्काररूप तरङ्गें हैं, जिनका मेरेमें कोई लेप नहीं है।' इस प्रकार क्या 'संन्यास' और क्या 'योग' दोनों ओर ही 'अहं-कर्तृत्वभाव' का सर्वथा त्याग भगवान्को इष्ट है और इसी त्याग पर इन दोनोंका अभेद है। इस त्यागके सिद्ध होनेपर यद्यपि देहेन्द्रियादि अपने-अपने व्यापारोंमें वर्ताव कर रही हैं, तथापि वस्तुतः इसका उनमें अहं-अभिमान न रहनेके कारण न यह उनकी क्रियाओंका कर्ता है और न उन क्रियाओंके फलादिका भोक्ता ही है। बल्कि अपनी कूटस्थता करके उनके व्यापारोंमें ज्यों-का-त्यों 'कर्म-संन्यासी' ही है और बिना ही किसी फल-त्यागकी भावनाके उनके फलादिसे ज्यों-का-त्यों 'निराशी' एवं 'फल-त्यागी' ही है।

दूसरे श्लोकमें योगीके लिये जो 'संकल्प-संन्यास' कहा गया, उसीको अगले दो श्लोकोंमें फिर स्पष्ट करते हैं और कहते हैं—हे पाण्डव! योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये तो निष्काम-भावसे कर्तव्य-बुद्धिसंयुक्त कर्म ही योगप्राप्तिमें हेतु कहा गया है, परन्तु योगारूढ हो जानेपर 'कर्तृत्व' व 'कर्तव्यादि' सब संकल्पोंका शमन ही योगस्थितिमें हेतु कहा गया है (३)। अर्थात् यद्यपि निष्काम-कर्म योगप्राप्तिमें परम्परासे हेतु है, तथापि वह साक्षात् हेतु नहीं है, साक्षात् हेतु तो 'कर्तृत्व व

'कर्तव्यादि' संकल्पोंका शमन ही है। जिस प्रकार पके हुए फोड़े में नश्तर लगाना, पीप-निवृत्तिद्वारा रोग-निवृत्तिमें परम्परासे हेतु है, साक्षात् हेतु नहीं, साक्षात् हेतु तो मरहम लगाना ही हो सकता है। इसी प्रकार संसाररोगकी निवृत्तिमें निष्काम-कर्म रजोगुण-रूपी पीपकी निवृत्तिद्वारा परम्परासे हेतु है, साक्षात् हेतु नहीं। साक्षात् हेतु तो संकल्पशमनरूप मरहम ही है। अब भगवान् उस योगारूढका लक्षण इस प्रकार वर्णन करते हैं—जिस कालमें यह योगी न तो इन्द्रियोंके विषयोंमें ही आसक्त होता है कि 'मैं इन्द्रियों के विषयोंका भोक्ता हूँ' और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है कि 'मैं कर्मोंका कर्ता हूँ', इस प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सब संकल्पों का संन्यासी वह पुरुष उस समय योगारूढ कहा जाता है (४)।

इस रीतिसे संन्यास व योगका अभेद करके और योगीका लक्षण करके अब भगवान् योग-प्राप्तिमें उपयोगी साधनका वर्णन करते हैं और कहते हैं—प्रथम तो इस पुरुषका मुख्य कर्तव्य यही है कि अपने-आप करके अपने-आपका उद्धार करे, अपने-आपको संसार-समुद्रमें न डुबा दे, क्योंकि पहले यह पुरुष आप ही अपना मित्र हो सकता है और आप ही अपना शत्रु। जब यह पुरुष अपने बल करके अपने मनको जीत ले, तब तो यह आप ही अपना मित्र हो सकता है और जब आप ही अपने मनको संसार-समुद्रमें बहा दे, तब आप ही अपना शत्रु हो जाता है (५-६)। अर्थात् पहले जब यह इस प्रकार आप ही अपना मित्र बन जाय, तब सारा संसार इसका मित्र हो जाता है और तभी गुरु-शास्त्रादि इसके सहायक हो सकते हैं। परन्तु जब यह आप ही अपना शत्रु बन जाय, तब सभी संसार इसका शत्रु हो सकता है और गुरु-शास्त्रादि कोई भी इसका उद्धार नहीं कर सकते। इस रीतिसे शीतोष्ण, सुख-दुःख एवं मानापमानादि द्वन्द्वोंमें जिसका मन शान्त है, अर्थात् जो सुख-

दुःखादि सब कार्योंका कारण अपने ही अन्दर देखता है, अपने से बाहर शत्रु-मित्रादिमें अपने सुख-दुःखादिका कारण नहीं देखता, ऐसा मनको जीते हुए शान्तचित्त पुरुष ही सर्वत्र परमात्म-दर्शन के योग्य होता है (७)। इस प्रकार साधनसम्पन्न होकर जिसका चित्त ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त हुआ है और जिसने विशेषरूपसे इन्द्रियाँ जीती हुई हैं (अर्थात् देहेन्द्रियादिमें जिसकी अहंता-ममता सर्वथा गलित हो गई है), ऐसा कूटस्थरूपसे स्थित योगी, जिसके लिये मिट्टी, पत्थर व सुवर्ण समान हैं, वही 'युक्त' अर्थात् परमात्मासे अभेद पाया हुआ है, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार अपने समताभावमें स्थितहुआ वह पुरुष सुहृत्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी एवं बन्धुगणोंमें तथा धर्मात्मा व पापियोंमें समबुद्धि होता है। अर्थात् भेदभावसे रहित सबको अपना ही आत्मा जानता है और सब अपने आत्मस्वरूपके चमत्कार ही देखता है, इसलिये वह अति श्रेष्ठ है (८-९)।

इस प्रकार योगप्राप्तिमें सामान्यरूपसे साधन कहा गया और उसको जिस लक्ष्यपर पहुँचना है, उसका निर्देश किया गया। अब विशेषरूपसे साधन कथन करते हैं—उपर्युक्त अवस्थाको पानेके लिये जिसने मन-इन्द्रियाँ जीती हुई हैं, ऐसा आशा व परिग्रहसे छूटा हुआ योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित हुआ निरन्तर अपने मनको परमात्माके स्वरूपमें जोड़े। वह इस प्रकार कि प्रथम शुद्ध भूमिमें क्रमशः कुशा, मृगछाला एवं वस्त्र बिछाकर अपना आसन जमावे, जो न अति ऊँचा और न अति नीचा हो। तदनन्तर उस आसनपर स्थित होकर मनको एकाग्र करे, चित्त एवं इन्द्रियों की चेष्टाओंको वशमें करे और आत्म-शुद्धिके लिये 'योग' (अर्थात् परमात्मस्वरूप) में मनको जोड़े। काया, शिर व ग्रीवाको समान रेखामें अचल धारण करके स्थिर करे और दिशाओंको न देखता

हुआ अपने नासिकाके अग्र भागपर ही दृष्टि रखे (१०।१३)।

यह तो योगीके लिये बाह्य व्यवहार व आसनका निरूपण किया गया, अब मानसिक व्यवहारका निरूपण करते हैं—इस प्रकार शान्तचित्त, भयरहित एवं ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित हुआ योगी मनको रोककर मेरेमें जुड़े हुए चित्तवाला और मेरे परायण हुआ स्थित हो। इस रीतिसे टिके हुए मनवाला योगी (अर्थात् योगका जिज्ञासु) सदा ही अपने आत्मस्वरूपका अभ्यास करता हुआ, मेरे में स्थितिरूप परम निर्वाण शान्तिको प्राप्त हो जाता है (१४-१५)। यह योगीके मनकी उपयोगी अवस्था निरूपण की गई अब आहार-व्यवहारका वर्णन करते हैं—यह योग न तो बहुत खानेवालेको सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवालेको तथा न अति शयन करनेवालेको और न अत्यन्त जागनेवालेको ही सिद्ध होता है। किन्तु यह दुःखनाशक योग तो उसीको सिद्ध हो सकता है जिसके आहार-विहार नियमित हैं, कर्ममें चेष्टा नियमित है और सोना व जागना नियमित है (१६-१७)। (स्मरण रहे कि ऊपर 'योगी' शब्दका अर्थ वह व्यक्ति है जो साधनसम्पन्न है और अपने आत्म-स्वरूपमें अभेद प्राप्त करनेके लिये जिसकी तीव्र जिज्ञासा है)। इस प्रकार विशेषरूपसे टिका हुआ चित्त जब अपने आत्मस्वरूप में भली भाँति स्थिर हो जाता है और सम्पूर्ण कामनाओंसे अना-सक्त हो जाता है, उस कालमें उसे 'योगयुक्त' अर्थात् अपने आत्मामें अभेद पाया हुआ है, ऐसा कहा जाता है। जिस प्रकार दीप-शिखा निर्वात स्थानमें अचल स्थित होती है, अपने आत्मस्वरूपमें जुड़े हुए योगीके जीते हुए चित्तकी वही उपमा जाननी चाहिये। जिस अवस्थामें योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त सब ओरसे उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें अपने आत्मा करके अपने आत्मा का ही साक्षात्कार करता हुआ अपने आत्मामें ही सन्तुष्ट हो

जाता है, उस अवस्थामें इन्द्रियोंसे अतीत केवल सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको अनुभव करता है। जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है, जिस लाभको प्राप्त करके उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है, उस अवस्थाको 'योग' नामसे संज्ञा की गई है, जहाँ दुःखके संयोग का अभाव है, वह योग तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक संग्रह करना चाहिये (१८-२३)। यह योगकी सिद्धावस्थाका वर्णन किया गया, अब इस अवस्थाकी प्राप्तिमें उपयोगी साधनका पुनः कथन करते हैं—संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको अशेषतः त्यागकर सब ओरसे मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदाय को रोककर, धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा शनैः-शनैः मनको सब कामनाओंसे उपराम करे और उस मनको आत्मामें स्थित करके आत्माके सिवा कुछ भी चिन्तन न करे। अस्थिर व चञ्चल मन जहाँ-जहाँ सांसारिक पदार्थोंमें विचरे, वहाँ-वहाँसे इसको रोककर अपने आत्मामें ही निरोध करे अर्थात् जोड़े। इस रीतिसे अभ्यास करते हुए इस प्रशान्त मनवाले योगीको, जो निष्पाप है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ब्रह्मस्वरूप उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह निष्पाप योगी निरन्तर मनको अपने आत्मामें जोड़ता हुआ अनायास ब्रह्मस्वरूप अत्यन्त सुखका भोग [करता है, (२४-२८)। ५

उपर्युक्त भगवद्वचनों (श्लो० ४-२८) से यह विषय बिल्कुल] स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्य-बुद्धियुक्त बाह्य निष्काम-कर्म (आधु-१ निक योग) का इस योग-प्राप्तिमें साक्षात् कुछ भी उपयोग नहीं है। यद्यपि योगमें प्रतिबन्धक जो बढ़ा-चढ़ा रजोगुण, परम्परासे

उसकी निवृत्तिमें तो इस निष्काम-कर्मका उपयोग सम्भव है, तथापि योग-प्राप्तिमें इसका साक्षात् कुछ भी उपयोग नहीं है। यदि भगवद्-दृष्टिसे यह निष्काम-कर्म साक्षात् उपयोगी होता, तो कोई कारण नहीं हो सकता था कि इस स्थलपर उसका किसी भी अंशमें उल्लेख न किया जाता, जबकि उपयोगी साधनों में स्थान, आसन, आहार, विहार, जागरण तथा स्वप्न, किसी भी उपयोगी विषयकी चर्चा करनेसे वे नहीं चूक रहे हैं, बल्कि क्रमश सभी विषयोंकी चर्चा भली-भाँति कर रहे हैं। परन्तु इस स्थलपर इस निष्काम-कर्मका उल्लेख हो कैसे सकता था? जबकि निरूपित उपयोगी साधन-सामग्रीसे इसका स्पष्ट विरोध है। आवश्यकता तो है इस स्थलपर विक्षेपरहित आन्तरिक सत्त्वगुणकी, और यह निष्काम-कर्म अपनी कर्तव्यताद्वारा अपने प्रसादमें प्रदान करता है हृदयमें विक्षेपको, फिर इस स्थलपर इसकी कैसे गणना की जा सकती थी? भगवद्-दृष्टि से तो यह योग-प्राप्ति केवल तत्त्व-चिन्तनद्वारा ही सम्भव है। इसीलिये उन्होंने तत्त्व-चिन्तनमें उपयोगी (१) मन व इन्द्रियोंका विजय, (२) आशा व परिग्रहका त्याग, (३) एकाकी व एकान्त स्थान, (४) शुद्ध भूमि, (५) आसनकी स्थिरता, (६) काया, सिर व ग्रीवाकी अचलता, (७) नासिकाग्र-दृष्टि, (८) निर्भयता व शान्त-चित्तता, (९) ब्रह्मचर्य, (१०) भगवत्परायणता, (११) नियमित आहार, विहार, जागरण व स्वप्नादिको ही साधन-सामग्रीमें निरूपण किया (१०-१७)। सारांश, यह योग-प्राप्ति एकमात्र तत्त्व-चिन्तनद्वारा ही सम्भव है, क्योंकि जीवका अपने आत्मा (ईश्वर) से भेद केवल अज्ञानजन्य और काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं। तथा यह अज्ञानजन्य भेद केवल ज्ञानद्वारा ही निवृत्त हो सकता है, किसी कर्मरूप व्यापारसे इसकी निवृत्ति असम्भव ही है। जैसे अन्धकार केवल

प्रकाशसे ही निवृत्त हो सकता है, किसी दण्डादि-प्रहारसे इसकी निवृत्ति असम्भव है। अज्ञान-निवर्तक ज्ञान तत्त्व-चिन्तन-रूप ही है और तत्त्व-चिन्तन परम एकाग्र चित्तमें ही हो सकता है, नकि कर्तव्यपरायण विक्षिप्त चित्तमें। इसलिये निष्काम-कर्म-द्वारा रजोगुण निवृत्त हो जानेपर ऊपर जो भी ग्यारह साधन-सामग्री वर्णन की गई हैं, उनका चित्तकी एकाग्रतामें परम उपयोग है। यदि इस स्थलपर निष्काम-कर्मका चित्तकी एकाग्रतामें उपयोग होता, तो अवश्य भगवान् इसका उल्लेख करते। परन्तु निष्काम-कर्म तो इस स्थलपर सर्वथा अनुपयोगी है, बल्कि एकाग्रतामें प्रतिबन्धक है, फिर यहाँ उसका कैसे उल्लेख किया जाता? जैसे ज्वरपीड़ित रोगीको यद्यपि डाक्टर मगनेसिया (Magnacia) जुल्लाब पेट साफ़ करनेके लिये देता है जिससे कुनैनका असर हो, परन्तु पेट साफ़ हो जानेपर जुल्लाबका बन्द करना भी ज़रूरी है, क्योंकि फिर वह हानिकारक हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि रजोगुणी वेगको साफ़ करनेके लिये प्रथम निष्काम-कर्म आवश्यक था, परन्तु सत्त्वगुण फूट निकलनेपर फिर निष्काम-कर्मरूपी रजोगुणको बाहरसे ठूँसना उल्टा हानिकारक होगा। फिर तो एकाग्रतामें उपयोगी उपर्युक्त साधन ही चाहिये, जिससे ज्ञानरूपी अग्नि प्रज्वलित करके अज्ञानरूपी कचरे अर्थात् भेद-भावको भस्म कर दिया जाय। हाँ, योगस्थिति (अपने आत्मस्वरूपमें अभेद) प्राप्त कर चुकनेपर फिर कर्म उस योगीके लिये किसी प्रकार बन्धनरूप नहीं रहते, वह सर्वथा कर्मोंसे निर्लेप रहता है और उसके सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं। परन्तु योगस्थिति प्राप्त करनेके लिये तो उपर्युक्त साधन ही चाहिये, बाह्य कर्म तब विरोधी ही होगा। जैसे रोगकी विद्यमानतामें तो पथ्यका सेवन और कुपथ्यका त्याग ही आवश्यक है, परन्तु रोगमुक्त होनेपर

पथ्य-कुपथ्यका बन्धन स्वाभाविक टूट जाता है। इसी प्रकार योगस्थिति प्राप्त होनेसे पहले योगस्थितिमें बाह्य कर्मका विरोध होते हुए भी, योगस्थितिके पश्चात् कर्मका कोई विरोध नहीं रहता। निष्कर्ष यह कि बाह्य निष्काम-कर्मको आधुनिक टीकाकारों ने जो मोक्षका साधन वर्णन किया है और उनका जो यह मत है कि केवल निष्काम-कर्मका नाम ही 'योग' है, अथवा केवल निष्काम-कर्म ही मुक्तिका स्वतन्त्र साधन है और इसका कदापि त्याग नहीं होता, यह उनका भ्रम है। उनको उपर्युक्त भगवद्वचनों पर ध्यान देना चाहिये, आश्चर्यकी बात है कि इस स्थलपर सम्पूर्ण साधन-सामग्रीकी तो चर्चा की गई, परन्तु एकमात्र मुक्तिका स्वतन्त्र साधन जो आधुनिक टीकाकारोंका परम ध्येय और मूल-जीवन (निष्काम-कर्म), उसका तो भगवान् नाम लेनेसे ही चूक गये। खैर जी! चूक तो किसी एककी अवश्य होनी ही चाहिये, चाहे भगवान्‌की हो, चाहे हमारे अर्वाचीन मतावलम्बियों की, दोनों अपनी-अपनी भूल-चूकको सम्भाल लें।

इस स्थलपर कुछ लोगोंका ऐसा कथन है कि श्लोक ४ से २८ तक जिन साधनोंका भगवान्‌ने वर्णन किया है, वे कर्म-योग के लिये नहीं किन्तु हठ योगके लिये हैं। उनका यह कथन भी किसी प्रकार युक्ति-युक्त नहीं ठहरता। प्रथम तो यदि प्रसंगपर दृष्टिपात की जाय तो यहाँ प्राण-निरोधरूप हठयोगका कोई प्रसंग ही नहीं है। पञ्चम अध्यायके आरम्भमें अर्जुनकी शङ्कापर भगवान्‌ने 'संन्यास' व 'योग' का अभेद भली-भाँति कर दिखलाया। वही अभेद इस छठे अध्यायके आरम्भमें श्लो० १ से ४ तक पुनः भगवान् स्वयं पुष्ट करते हैं। और श्लो० ४ से २८ तक उसी योग की प्राप्तिका साधन वर्णन करते आ रहे हैं जिसका संन्याससे अभेद है। उससे भिन्न हठ-योगका तो यहाँ कोई विषय ही नहीं,

न भगवान्‌ने यहाँ किसी जगह ऐसी प्रतिज्ञा ही की है कि 'यह तो संन्यासरूप योगका विषय वर्णन हुआ और अब हठ-योगका विषय सुन'। यदि भगवान् हठ-योगका ही वर्णन करते तो प्राण-अपान की गति और प्राणायामादिकी भी कुछ चर्चा होनी चाहिये थी, जोकि हठ-योगका मुख्य अंग है और जिसके बिना हठयोगका सभी वर्णन बिलकुल अधूरा ही रह जाता है। परन्तु यहाँ इन सब आवश्यक चर्चाओंसे उदासीन रहकर भगवान् तो केवल आसन की और वह भी सामान्यरूपसे ही चर्चा कर रहे हैं। सम्भव है कि आसनकी चर्चासे उन टीकाकारोंके कान खड़े हो गये हों और उन्होंने यह दृढ़ अनुमान कर लिया हो कि अब भगवान् हठ-योगका वर्णन कर रहे हैं। परन्तु उनको विचारना चाहिये कि आसनका सम्बन्ध तो तत्त्व-चिन्तनमें उपयोगी मनकी एकाग्रतासे भी है और आहार-विहारादि सभी साधन, जिनका यहाँ वर्णन किया गया है, उनका साक्षात् सम्बन्ध तत्त्व-चिन्तनमें उपयोगी मनकी एकाग्रतासे ही है। यदि भगवान् हठयोगका ही वर्णन करते तो हठयोगके अन्य अङ्ग नेती-धोती व यम-नियमादिका भी क्रमशः निरूपण होना चाहिये था, परन्तु अन्य अङ्गोंके निरूपणमें तो यहाँ अलंबुद्धि ही है। इसलिये यहाँ न हठयोगका विषय ही है और न उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन ही है। यदि तत्त्व-चिन्तनमें उपयोगी मनकी एकाग्रतामें उपर्युक्त साधनों आसन व आहार-विहारादि (१०-१७) का उपयोग न होता तो उनका यह अनुमान कि यहाँ हठ-योगका वर्णन है, किसी अंशमें सार्थक हो भी सकता था। परन्तु तत्त्व-चिन्तनमें इन सभी साधनोंका उपयोग है और प्रसंग भी उसीका चल रहा है, फिर इन सब बातोंसे मुँह मोड़ बीचमें हठ-योगकी ही टाँग अड़ाना तो कोरा आग्रह है।

दूसरे, इन साधनों (१०-१७) का जो फल भगवान् यहाँ

वर्णन करते हैं, हठ-योग साक्षात् अपने स्वरूपसे उस फलको प्राप्त करानेमें असमर्थ ही है। हठयोगका उद्देश्य तो यही है कि हठ-पूर्वक प्राणोंकी गतिको निरोध कर देना। शारीरिक प्रकृतिका यह नियम है कि शरीर, मन व इन्द्रियोंमें जो कुछ चेष्टाएँ हो रही हैं वे सब प्राणोंके आधारपर ही हो रही हैं, प्राणरूपी घोड़ेपर आरूढ होकर ही मनरूपी सवार दौड़ता है। यदि प्राणोंकी गतिको किसी प्रकार रोक दिया जाय तो मन भी इसी प्रकार रुक जाता है, जैसे घोड़ेको पकड़ लेनेसे सवार भी पकड़ा जाता है। और मनकी चेष्टा रुक जानेसे इसी प्रकार सुखका अनुभव होता है, जैसे कोई थकित पुरुष थककर सो जाय तब उसको थकानकी निवृत्तिसे सुखका अनुभव होता है। क्योंकि मनकी जाग्रत्-अवस्थामें मानसिक संकल्प-विकल्प ही जीवको विक्षेपके हेतु होते हैं, इसलिये मनके निरोधसे संकल्प-विकल्पकी निवृत्तिजन्य सुख उतने ही कालके लिये ही होता है, जितने कालतक मनका निरोध है। जिस प्रकार सुषुप्त-अवस्थामें मनका अज्ञानमें लय हो जाता है, तब मनकी गति निरुद्ध हो जाती है और सुखका अनुभव होता है। परन्तु मनके निरोध-कालमें किसी प्रकार ज्ञान अथवा विचार नहीं रहता, वहाँ तो ज्ञान-विचारका सर्वथा अभाव ही है। ज्ञान-विचार तो शुद्ध सात्त्विक मनमें ही हो सकता था, जो उस समय इसी प्रकार जड़ हो गया है, जैसे किसी रोगीको क्लोरोफार्म सुँघा देनेसे वह उतने कालके लिये जड़ीभूत हो जाता है। फिर ज्ञान-विचार कौन करे? ज्ञान-विचारका कर्ता तो उस समय हाज़िर ही नहीं है। परन्तु क्लोरोफार्मका नशा उतरनेपर जिस प्रकार रोगी अपनी व्यथाको ज्यों-का त्यों अनुभव करता है, इसी प्रकार प्राणोंकी गति पुनः चालू होनेपर मनरूपी सर्प फिर वही राग-द्वेषकी फुत्कारें मारने लगता है। क्योंकि प्राणोंकी गतिको रोक

कर मनरूपी सर्पको थोड़े कालके लिये इसी प्रकार निश्चेष्ट कर दिया गया था, जिस प्रकार अधिक शीतके संयोगको पाकर सर्प निश्चेष्ट हो जाता है। परन्तु सूर्यतापसे शीत निवृत्त होनेपर उसकी फिर वही फुत्कार हाज़िर है, क्योंकि उसका विष नहीं निकाला गया था, उसको केवल निश्चेष्ट कर दिया गया था। ठीक, इसी प्रकार यद्यपि प्राणोंकी गतिको रोककर इस योगमें मनको थोड़े कालके लिये निश्चेष्ट कर दिया जाता है, परन्तु संसारका ताप लगनेपर उसमें फिर वही राग-द्वेष प्रकट हो आता है, क्योंकि तत्त्व-ज्ञानद्वारा संसारकी सत्यतारूपी विष उसका निवृत्त नहीं किया जाता है।

इस प्रकार यह प्राण-निरोधरूप योग अपने स्वरूपसे किसी प्रकार स्थिर शान्तिको देनेवाला नहीं हो सकता। स्थिर शान्ति तो केवल तत्त्व-ज्ञानके हिस्सेमें ही आती है, जिसके प्रभावसे यह विशाल प्रपञ्च खड़ा हुआ भी दग्ध-रज्जुके तुल्य रह जाता है जिसका यद्यपि आकार तो है, परन्तु यह स्वसत्ताशून्य है। जिस प्रकार आकाशमें आकाशके ही आश्रय पहाड़, पृथ्वी, समुद्र, बाग, बगीचे, महल और घर-बार आदि अनन्त प्रपञ्च स्थित है, परन्तु आकाश-रूप होकर आकाश-दृष्टिसे यदि इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको अन्वेषण किया जाय तो रत्तीभर भी कुछ हाथ नहीं लगता। इसी प्रकार अधि-ष्ठान-चेतनके आश्रय यह स्थावर-जङ्गमरूप पञ्चभूतात्मक विशाल प्रपञ्च दृढ़रूपसे दृष्ट आता हुआ भी, जब अधिष्ठानस्वरूपमें प्रवेश करके उसे अधिष्ठान-दृष्टिसे देखा जाय तो 'न भूतो न भविष्यति' इस रूपसे इसका त्रिकालाभाव ही सिद्ध हो जाता है। तब तो जीती-जागती अखण्ड समाधि सिद्ध हो जाती है और बन्ध-मोक्षपर सुहागा फिर जाता है। यही ज्ञानरूप यथार्थ समाधि है, जिससे कदापि उत्थान सम्भव ही नहीं; क्योंकि तत्त्वज्ञानकी प्रौढ़तासे वह योगी क्या अन्तःकरण, क्या अन्तःकरणकी नाना वृत्तियाँ और

क्या उन वृत्तियोंका विषय बाह्य प्रपञ्च, सभीका अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें कोई स्पर्श नहीं देखता, इसलिये द्वैतका बाध हो जानेसे उसको व्यावहारिक विक्षेपमें भी समाधि ही है। इसके विपरीत जो प्राण-निरोधका नाम ही समाधि मान बैठे हैं, वह ज्ञानशून्य होनेसे केवल मनोनिरोधरूप ही है और मनोनिरोध अज्ञानकी एक अवस्था-विशेष है। उस कालमें मनका लय अपने उपादान अज्ञान में ही सम्भव है, जैसे घटका लय अपने उपादान मृत्तिकामें ही सम्भव होता है। क्योंकि ज्ञानद्वारा उसका मूल-अज्ञान भस्म नहीं हुआ, उसका सद्भाव है और उपादानरूप अज्ञानके सद्भाव होते हुए मनका अधिष्ठानस्वरूप आत्मामें लय होना सर्वथा असम्भव ही है।

इस रीतिसे प्राण-निरोधरूप समाधि अज्ञानकी अवस्था-विशेष होनेसे अपने स्वरूपसे उत्थानरूप ही है और उत्थानमें ही समाधिका भ्रम होता है। इस प्रकार भगवान्‌ने योगका जो उद्देश्य व फल इस स्थलपर, अर्थात् श्लोक ८, ९ १८, १९, २० २१, २२ व २३ में निरूपण किया है, हठ-योगी उसको सफल करनेमें सर्वथा असमर्थ है। न वह ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, न वह इन्द्रियोंकी चेष्टाओंमें कूटस्थ ही है (८), क्योंकि उसने ज्ञानद्वारा अपने साक्षी-स्वरूप आत्मामें स्थिति प्राप्त नहीं की। सर्वप्रपञ्च साक्षीसे भिन्न स्वसत्ताशून्य है, यह अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त न कर सकनेके कारण वह न तो मिट्टी, पत्थर एव सुवर्णमें समदृष्टि हो सकता है और न सुहृत्, मित्र, वैरी, साधु एवं पापी आदिमें ही समदृष्टि हो सकता है (९)। अपनेसे भिन्न पदार्थोंमें भेद-बुद्धि सत् होनेके कारण वह सर्व कामनाओंसे निःस्पृह भी नहीं हो सकता (१८)। अपने साक्षीस्वरूप आत्मासे अभेद न होनेके कारण उसका चित्त न दीपशिखाके समान अचल स्थित ही हो सकता है (१९)। अपने आत्मा करके आत्मदर्शन करता हुआ न वह तुष्ट ही हो

सकता है (२०)। न उसने उस इन्द्रियातीत अत्यन्त सुखको ही प्राप्त कर पाया है, जिसमें स्थित होकर कदापि चलायमान न हो (२१)। और न उसने अभी उस परम लाभको ही प्राप्त किया है, जिसमें स्थित हुआ वह भारी दुःखसे भी चलायमान न हो (२२)। इसप्रकार वह इन सब लक्षणों व फलोंसे वञ्चित ही रहता है, क्योंकि प्राण-निरोधके द्वारा उसने मनका केवल निरोध ही किया है। शुद्ध सात्त्विक बुद्धिद्वारा गुरु-शास्त्रके वचनोंके अनुसार युक्ति व विचारपूर्वक अपने-आपको तीनों देहों (स्थूल, सूक्ष्म व कारण) और तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति) से पृथक् इनका साक्षी प्रत्यक्षरूपसे नहीं जाना। इसके विपरीत तत्त्व-साक्षात्कार-द्वारा कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे छूटकर अपने आत्मस्वरूपमें ज्यों-का-त्यों अभेदरूपसे स्थित हुआ योगी तो तीनों देहों और तीनों अवस्थाओं का वस्तुतः साक्षी हुआ यथार्थ समदृष्टि है और देहादिकी चेष्टाओंमें ज्यों-का-त्यों कूटस्थ है। सब प्रपञ्च स्वसत्ताशून्य साक्षात् अनुभव होनेके कारण वही सब कामनाओंसे निःस्पृह है और अपने आत्मामें सन्तुष्ट हो जानेके कारण उससे अधिक कोई लाभ नहीं देखता। 'दुःख-सुख अन्तःकरणके धर्म हैं, मेरेमें उनका कोई लेप नहीं' यह दृढ निश्चय होनेके कारण वस्तुतः भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।

इस रीतिसे 'कर्तव्यपरायण निष्काम-कर्मी' न तो उपर्युक्त 'योगी' का अर्थ हो सकता है और न हठयोगी ही 'योगी' शब्द का भावार्थ बन सकता है। केवल तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा अपने आत्मस्वरूपमें योग पाया हुआ योगी ही वस्तुतः गीताकी भाषा में 'योगी' है और वही इन सब भगवद्वचनोंमें खरा उतरता है, अन्य दोनों ही इन वचनोंकी कसौटीपर पूरे नहीं उतरते। पात-ञ्जल अष्टाङ्ग-योग (हठयोग) के यम, नियम, धारणा व ध्यान, ये अङ्ग

तत्त्व-चिन्तनमें उपयोगी होनेसे यद्यपि मन्द साधकके लिये वेदान्त व गीताको अमन्तव्य तो नहीं है, तथापि पातञ्जल योगका विषय नाना पुरुष (आत्मा) गीताको स्वीकृत नहीं हैं। क्योंकि इसी अध्यायके श्लोक २९ से ३२ में भगवान्ने सर्वभूतोंमें स्थित एक ही आत्माका अङ्गीकार किया है, नाना आत्मा (पुरुष) का अङ्गीकार नहीं किया। इस रीतिसे केवल ध्यान-योग ही गीताका प्रतिपाद्य विषय हो सकता है, अन्य कोई योग गीताके प्रतिपाद्य विषय नहीं बनते।

इसके उपरान्त भगवान्ने चार श्लोकोंमें उस योगीका स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया, जो उपर्युक्त योगद्वारा 'योग-युक्त' हुआ है—जो सब चराचर भूतोंमें (केवल अपने शरीरमें ही नहीं) अपने आत्माको (अधिष्ठानरूपसे) देखता है और सब भूतोंको अपने आत्मामें (स्वप्न-प्रपञ्चवत् आभासमात्र) देखता है, ऐसा सर्वत्र समदर्शी 'योगयुक्त' है। जो मुझको सबमें साक्षीरूपसे और सबको मुझमें साक्ष्यरूपसे देखता है, मैं उसकी दृष्टिमें अदृश्य नहीं होता हूँ, (अर्थात् उसकी दृष्टिमें सब प्रपञ्च मेरा मुँह दिखलानेवाला दर्पण बन जाता है) और वह मेरेसे अदृश्य नहीं होता है। जो सब भूतोंमें स्थित मुझ सर्वात्माको एकत्वभावसे भजता है, वह योगी चाहे किसी प्रकारसे भी वर्ते, परन्तु वस्तुत: वह मुझमें ही रम रहा है। हे अर्जुन! जिस प्रकार अज्ञानीकी अपने शरीरमें आत्म-स्वरूपसे 'अहं-दृष्टि' है, इसी प्रकार जो योगी समभावसे सर्वत्र ही क्या सुख और क्या दुःख सभी विषयोंको आत्मरूपसे आलिङ्गन करता है, वह योगी परम श्रेष्ठ है, ऐसा मेरा मत है (२९-३२)।

योगीके उपर्युक्त स्वरूपसे यह विषय तो बिल्कुल स्पष्ट ही है कि क्या कर्तव्यपरायण आधुनिक योगी और क्या हठयोगी दोनोंकी ही यहाँ गति नहीं है, क्योंकि कर्तव्यपरायण आधुनिकयोगी तो,

देहाध्यासके कारण भेद-दृष्टिसंयुक्त है और हठयोगी तत्त्व-विचार-शून्य है। केवल तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा देहाध्याससे छूटकर और कर्तृत्व व कर्तव्यसे मुक्त होकर, ज्यों-का-त्यों अपने आत्मस्वरूपमें एकत्वभावसे स्थित हुआ योगी ही इन सब वचनोंको सार्थक करनेमें समर्थ हो सकता है।

भगवान्‌के उपर्युक्त उपदेशसे अर्जुनने योगप्राप्तिमें मनोनिग्रह की परम उपयोगिता जानकर और इसको परम दुष्कर समझकर उनसे प्रश्न किया—मधुसूदन! जो यह समतारूप योग आपने वर्णन किया है, मनकी चञ्चलता करके मैं इसकी टीकाऊ स्थिति नहीं देखता हूँ। भगवन्! मन बड़ा चञ्चल, प्रमाथी (अर्थात् हठीले स्वभाव-वाला), बलवान् एवं दृढ है, मैं इसका निग्रह वायुके समान दुष्कर मानता हूँ (३३-३४)। इसपर भगवान्‌ने उत्तर दिया—महाबाहो! निस्सन्देह मन दुर्निग्रह और चञ्चल है, तथापि कौन्तेय! (विवेक-विचाररूप) अभ्यास और (विषयोंमें दोषदर्शनजन्य) वैराग्य करके यह ग्रहण किया जा सकता है। चाहे कुछ भी हो, जिसका मन वशमें नहीं है उसके द्वारा तो इस योगकी प्राप्ति असम्भव ही है, परन्तु जिसका मन वशमें है उसके द्वारा यत्न व उपायसे यह योग प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा मेरा मत है (३५-३६)।

आशय यह कि जबतक विषयोंमें पुरुष की सम्यक् दृष्टि बनी हुई है, तबतक राग-बुद्धि करके मनका दौड़ना अनिवार्य है। वस्तुतः विषयोंमें सुख-बुद्धि केवल अज्ञानजन्य भ्रम ही है यथार्थ नहीं और दुःखरूप विषयोंको सुखरूपसे ग्रहण करना, यही विप-रीताभ्यास है। विवेक-विचारके अभ्यास करके जब यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय, तब विषयोंमें सुख-बुद्धिरूप भ्रम निवृत्त हो जाता है। सुख-बुद्धिका अभाव होनेपर जब उनमें दोष-दर्शनरूप वैराग्य उत्पन्न हो जाय, तब स्वाभाविक मन विषयोंसे उपराम हो जाता है। और

विषयोंसे उपरामता आनेपर स्वतः ही मनोनिग्रह सिद्ध हो जाता है, क्योंकि विषयोंमें राग ही चञ्चलताका हेतु होता है। 'अभ्यास' शब्दसे भगवान्‌का आशय 'प्राण-निरोधरूप अभ्यास' नहीं है, न वह अपने स्वरूपसे यथार्थतया मनोनिग्रह करनेमें समर्थ ही है। यद्यपि बड़े यत्नसे प्राण-निरोध सिद्ध करके थोड़े कालके लिये मनोनिरोध किया भी गया, तथापि प्राण-सञ्चार होनेपर वह फिर विषयोंमें ज्यों-का-त्यों दौड़ने लगता है, क्योंकि विवेक-विचारके अभ्यास-द्वारा विषयोंमें सुख-बुद्धिरूप भ्रम निवृत्त नहीं किया गया था, केवल मनकी गति ही रोक दी गई थी। ऐसी अवस्थामें मनकी गति चालू होनेपर सुख-बुद्धिकी विद्यमानता करके उसकी फिर दौड़-धूप होना ज़रूरी ही है। इस प्रकार प्राण-निरोध मनोनिग्रहका यथार्थ उपाय नहीं हो सकता, केवल विवेक विचार ही यथार्थ उपाय बनता है, क्योंकि यह विषयोंमें सुख-बुद्धिरूप भ्रमको ज्यों-का-त्यों निवृत्त करके दोष-दर्शनरूप वैराग्य उपजानेमें समर्थ है और यही 'अभ्यास' भगवान्‌को अभिप्रेत है।

इसके उपरान्त अर्जुनने फिर मनमें यह शङ्का लाकर कि 'योग का मार्ग तो अति गहन है, सम्भव नहीं कि इसी जन्ममें हम उसको प्राप्त कर जाएँ और यदि इसी जन्ममें योग प्राप्त न हुआ तो फिर हमारे लिये क्या गति ?' भगवान्‌से पुनः प्रश्न किया—भगवन्! जिसका चित्त योगसे चलायमान तो हो गया है, परन्तु वह इसमें श्रद्धावान् है, ऐसा शिथिल यत्नवाला पुरुष योगकी सिद्धिको न पाकर किस गतिको प्राप्त होगा? इसपर भगवान्‌ने उसको आश्वासन दिलाया कि उसके लिये अधोगति नहीं है, किन्तु वह योग-भ्रष्ट होकर फिर उत्पन्न होगा और योग-मार्गमें बलात्कारसे अग्रसर होगा (३७-४४)। जबकि योगके निमित्त पुरुषार्थ निष्फल नहीं है, तब अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे पापोंसे भली प्रकार शुद्ध हुआ

प्रयत्नशील योगी सिद्धिको प्राप्त होकर परम गतिको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अपने आत्मस्वरूपमें अभेद रूपसे स्थित हुआ योगी तपस्वियोंसे अधिक है, शास्त्रोंके जाननेवालोंसे अधिक है तथा कर्मियोंसे भी वह अधिक माना गया है। इसलिये अर्जुन ! तू योगी हो। अर्थात् कर्ता-भोक्तापनसे छूटकर अपने आत्मस्वरूपमें स्थिति प्राप्त कर। सम्पूर्ण योगियोंमें भी वह योगी, जो अन्तरात्मा से श्रद्धासहित मुझमें अभेद हुआ अपनी सब वृत्तियोंमें निरन्तर मुझको ही भजता है, अर्थात् निरन्तर सब रूपोंमें मुझको ही देखता है, वह मुझमें परम युक्त है, ऐसा मान्य है (४५-४७)।

इस प्रकार इस अध्यायकी समालोचनासे 'कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धिरूप आधुनिक योग' किसी प्रकार गीताका प्रतिपाद्य विषय सिद्ध नहीं होता। न वह अपने आचरणमात्रसे कर्म-बन्धनसे मुक्तिप्रद ही सिद्ध हुआ और न कहीं योगका ऐसा स्वरूप गीता-वचनोंसे प्रमाणित हुआ। इसके विपरीत ज्ञानद्वारा कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धिसे छूटकर अपने आत्मस्वरूपमें अभेदरूपसे स्थितिरूप योग ही स्पष्ट-रूपसे गीताका प्रतिपाद्य विषय सिद्ध होता है, वही अपने स्वरूपसे साक्षात् कर्म-बन्धनसे तत्काल मुक्ति प्रदान करनेवाला है और इस अध्यायकी समाप्तिपर उसीकी सर्वोत्कृष्टता निरूपण की गई है।

सप्तम अध्यायकी समालोचना

इस अध्यायके आरम्भमें ही भगवान्‌ने कहा—पार्थ ! तू मेरे में आसक्त मनवाला और मेरे आश्रय योगमें जुड़ा हुआ जिस प्रकार मुझको सर्वरूप जान जायगा, उसको सुन। मैं तेरेको विज्ञानके सहित वह ज्ञान निःशेषतासे कहूँगा जिसको जानकर संसारमें फिर कुछ जानना शेष न रहेगा। सहस्रों मनुष्योंमें कोई ही इस

(योग, अर्थात् ज्ञानरूप) सिद्धिके निमित्त यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई ही मुझको तत्त्वसे जानता है (१-३)।

अध्यायके प्रथम श्लोकमें भगवान्ने अपनेमें आसक्त मनवाले योगके अधिकारीके लिये योगका साधन व फल कथन करनेकी प्रतिज्ञा की और द्वितीय व तृतीय श्लोकमें योगका हेतु ज्ञानके सहित विज्ञानको वर्णन किया। इससे स्पष्ट है कि भगवान्को योगका हेतु ज्ञान ही मन्तव्य है, कर्म नहीं। आधुनिक टीकाकारों के विचारानुसार, यदि भगवान्को दृष्टिसे योगमें कर्मको हेतुता होती तो यहाँ भगवान्को 'ज्ञान के स्थान पर'कर्म'निरूपण करना चाहिये था और यह कहना चाहिये था कि 'मैं वह कर्म तेरेको कहूँगा, जिसको करके फिर इस संसारमें कुछ करना व पाना शेष न रहेगा'। परन्तु भगवान्को योगके प्रति कर्मको हेतुता इष्ट होवे तब ऐसा कहते ना। भगवान्को तो हेतुरूपसे इष्ट है 'ज्ञान', फिर 'कर्म' का निरूपण कैसे करते ? इसीलिये कर्मका निरूपण न कर अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त ज्ञानका ही निरूपण करते हैं।

प्रथम अष्ट प्रकारकी अपनी अपरा-प्रकृतिका निरूपण किया, फिर इससे भिन्न जीवका आश्रयभूत तथा संसारका आधारभूत अपनी परा-प्रकृतिको वर्णन किया। और कहा कि सर्वभूतोंकी योनिरूप मेरी ये दोनों प्रकृतियाँ ही हैं, सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति तथा लय मेरे आश्रय ही होता है, मैं सबसे परे हूँ परन्तु मुझसे परे कुछ भी नहीं है और मुझमें ही यह सब कुछ इसी प्रकार पिरोया हुआ है, जैसे मालाके दाने धागेमें (४-७)। इसी प्रकार जलमें रसरूपसे, सूर्यादिमें प्रकाशरूपसे, आकाशमें शब्दरूपसे सर्वभूतोंमें सत्तारूपसे अपने ही स्वरूपको

वर्णन किया और बतलाया कि सत्त्व, रज व तम प्रकृतिके ये तीनों गुण, जिनका परिणाम यह संसार है, मेरे ही आश्रय हैं, परन्तु इन गुणोंसे मोहित हुआ संसार मुझको, जो इन गुणोंसे परे अविनाशीस्वरूप हूँ, नहीं जानता (८-१३)। मेरी यह त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है, तथापि जो मायाको न भज मुझको भजेंगे वे इस मायाको तर जायँगे। फिर अपनेको भजनेवाले चार प्रकार के सुकृतीजन आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी वर्णन किये। उनमें भी ज्ञानीको ही अपना परम प्रिय कथन किया और कहा कि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, क्योंकि वह मुझसे अभिन्न हो गया है और उसने सर्वरूप मुझको ही जाना है (१४-१९)। तदनन्तर अपने सर्वरूपका वर्णन करते हुए कहा कि जो सकामी भक्त कामनाओं के वशीभूत हुए अन्य देवताओंको भजते हैं, उन देवताओंमें उनकी श्रद्धारूपसे मैं ही होता हूँ और उन देवताओंके आकारमें आकर उनकी कामनापूर्ति भी मैं ही करता हूँ। इस प्रकार सब कुछ मेरे द्वारा सिद्ध होते हुए भी, चूँकि वे मेरे ग्राहक नहीं होते इसलिये वे मुझे नहीं पाते और देवताओंको प्राप्त होकर नाशवान् फल ही पाते हैं (२०-२३)। फिर अपने स्वरूपका यों वर्णन किया कि सो मैं हूँ तो इन्द्रिय-अगोचर, परन्तु अज्ञानीजन मेरे परम अव्यय भावको न जानते हुए मुझे व्यक्तिधारी ही मानते हैं। वास्तवमें अपनी योगमायासे ढका हुआ होनेके कारण मैं मूढ लोकको अपने अविनाशीरूपसे प्रकाशमान् नहीं होता हूँ। अर्थात् व्यक्त-रूपसे जो कुछ भान होता है वहाँ वास्तवमें मैं अव्यक्तस्वरूप ही होता हूँ, व्यक्ति-ज्ञान तो केवल इन्द्रियोंका ही भ्रम है। उनका साक्षी होनेसे मैं भूत, भविष्य व वर्तमान तीनों कालोंके भूतोंको जानता हूँ, परन्तु वे कोई मुझको नहीं जानते। इसीलिये इच्छा-द्वेषादि द्वन्द्व-मोहसे मोहित हुए सर्व भूत मुझको न जाननेके

कारण ही जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन पुण्य-कर्मों जनोंके पापोंका अन्त हो गया है वे द्वन्द्व-मोहसे छूटे हुए और मुझ में दृढव्रत हुए मुझे ही भजते हैं। इस प्रकार जरा-मरणसे छूटने के लिये जो मुझे आश्रय करके यत्न करते हैं, वे सम्पूर्ण अध्यात्म, अखिल कर्म, अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञको ब्रह्मरूप ही जान लेते हैं। अर्थात् जिस प्रकार तरङ्ग, फेन, बुद्बुद जलके चमत्कार हैं और जलरूप ही हैं, इसी प्रकार अखिल कर्म, अध्यात्म व अधिदैवादि ब्रह्मके चमत्कार हैं और ब्रह्मस्वरूप ही हैं। ऐसा जो मुझ ब्रह्मस्वरूपको अन्त समय भी अपनेसे अभेद करके जान लेते हैं, उनको मुझमें युक्तचित्त अर्थात् योग-युक्त ही जानो।

इस प्रकार इस अध्यायकी समालोचनासे न तो योगका उक्त स्वरूप (अर्थात् कर्तव्यसाहित्य व फलसाहित्य) ही सिद्ध हुआ और न योग कर्मसाध्य ही पाया गया, बल्कि इसकी ज्ञानसाध्य ही सिद्धि पाई गई। अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने योग-प्राप्तिका हेतु जो ज्ञान-विज्ञान कथन करनेकी प्रतिज्ञा की थी उसी ज्ञान और अपने सर्वरूपका निरूपण करते हुए इस अध्यायकी समाप्ति की तथा उस ज्ञानपर ही योगको निर्भर किया।

अष्टम अध्यायकी समालोचना

सप्तम अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने जिन 'ब्रह्म' 'अध्यात्म' 'कर्म' 'अधिभूत' 'अधिदैव' व 'अधियज्ञ' का वर्णन किया था, इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने उन सबका लक्षण पूछते हुए कहा कि अन्त समयमें स्थिरचित्त पुरुषोंद्वारा आप कैसे जाननेमें आते हैं (१-२)? इसपर भगवान्‌ने इन सबका भिन्न-भिन्न स्वरूप

वर्णन किया और कहा कि जो पुरुष अन्त कालमें मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर त्याग करते हैं, वे तो मेरे ही भावको प्राप्त हो जाते हैं। अथवा जिस-जिस भावका चिन्तन करते हुए शरीर त्याग करते हैं और जिस भावनामें वे सदा भावित रहते हैं, अपनी उस-उस भावनाके अनुसार उनको वही गति प्राप्त होती है। जबकि अपनी भावनाके अनुसार ही गति है, तब तू सर्व कालमें मेरा ही स्मरण कर और मुझमें ही मन-बुद्धि अर्पण कर, फिर निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त हो जायगा (३-७)। तत्पश्चात् अन्त कालमें स्मरण करनेयोग्य अपने निर्गुणस्वरूपका वर्णन किया, उसके ध्यानकी विधि कथन की और कहा कि जो अनन्य चित्त से निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है, अर्थात् मुझ सर्वसाक्षीके सिवा अन्य कुछ देखता ही नहीं, उस नित्य युक्त-योगीके लिये तो मैं सुलभ ही हूँ, उसके लिये तो ध्यानादिकी कोई विधि नहीं रहती। केवल मुझे प्राप्त करके ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्मजन इस क्षणभंगुर दुःखरूप संसारके आवागमनसे छूट सकते हैं और मेरी प्राप्तिबिना ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी लोक हैं, उनको प्राप्त करके संसारमें ही लौटना पड़ता है (८-१६)। फिर ब्रह्माके रात्रि व दिनके कालका प्रमाण बतलाया और कहा कि मेरी प्राप्तिबिना ब्रह्माके अवसान-कालमें भी जीव मायामें ही लय होते हैं तथा ब्रह्माके उत्थान-कालमें फिर मायासे निकल पड़ते हैं, किसी प्रकार संसार-चक्रसे छूट नहीं सकते। परम अव्यक्त तथा सनातन वह मेरा ही भाव है, जिसका कदाचित् नाश नहीं होता, उसीको 'परमगति' कहते हैं, केवल उसीको पाकर पुनरावृत्ति नहीं होती। वह परम पुरुष केवल अनन्य भक्ति-द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। (अपनेको और अखिल संसार को ब्रह्मरूपसे अपरोक्ष जानना, यही अनन्य भक्ति है)(१७-२२)।

इस प्रकार अनन्य भक्तिद्वारा जो अभी उस परम पुरुषको प्राप्त नहीं हुए हैं, जो योगारूढ़ अर्थात् योगयुक्त नहीं हुए हैं और योग-साधनमें प्रवृत्त हो रहे हैं, उन योगियोंके लिये मृत्युके पश्चात् प्राप्त होनेवाले उत्तरायण व दक्षिणायन मार्गोंका निरूपण किया और कहा कि इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता हुआ योग-युक्त योगी तो इन मार्गोंमें मोहित नहीं होता है, इसलिये अर्जुन! तू सब कालमें योग-युक्त हो। आशय यह कि योगी अपरोक्षरूपसे यह जानता हुआ कि 'ये दोनों मार्ग केवल प्रकृति के राज्यमें ही हैं, मेरे आत्मस्वरूपमें कोई मार्ग नहीं' सब मार्गों, लोकों व गतियोंको अपने ज्ञानद्वारा यहीं भस्म कर देता है और मदमाते सिंहके समान प्रकृतिके पिञ्जरेको चूरमूर कर नकद मुक्ति यहीं पाजाता है, उसको कहीं जाना-आना नहीं पड़ता (२३-२७)। अन्तमें योगकी महिमा इस प्रकार वर्णन करते हुए अध्यायकी समाप्ति की, कि वेद, यज्ञ, दान व तपादिका जो पुण्य फल वर्णन किया गया है, योगी उसका मुफ्तमें ही भोग करता हुआ, इन सबके तत्त्वको जानकर सबके आदि स्थान परमपदको प्राप्त हो जाता है (२८)।

इस प्रकार इस अध्यायकी समालोचनासे भी भगवान्के वचनानुसार 'योग' (कर्तव्यसाहित्य व फलराहित्य) का उक्त स्वरूप किसी प्रकार सिद्ध नहीं हुआ। तथा अध्याय के अन्तके दो श्लोकोंमें योगीकी जो महिमा वर्णन की गई है, कि 'योगी इन मार्गोंके तत्त्वको जानता हुआ इनमें मोहित नहीं होता तथा वेद-यज्ञादिके फलका भोग करता हुआ परम आदि स्थानको प्राप्त हो जाता है' आधुनिक योगी उस महिमाका पात्र सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वह कर्तव्य-बुद्धियुक्त होनेके कारण, कर्म का कर्ता है और कर्मफल-त्यागकी भावनाको धारण करनेवाला

है। चूँकि कर्ता व कर्तव्य-बुद्धि रखते हुए उसकी भावना केवल फलके सम्बन्धमें त्यागमयी है, इसलिये उसको अवश्य इन दोनों मार्गोंमेंसे किसी एकमें जाना पड़ेगा और इन मार्गोंमें मोहित होना पड़ेगा। इन मार्गोंका बन्धन तो तभी कट सकता था, जबकि उसने प्रकृतिके बन्धनको काट दिया होता, क्योंकि ये मार्ग प्रकृतिके राज्यमें ही हैं और प्रकृतिसे ही इनका सम्बन्ध है। प्रकृतिका बन्धन तभी कट सकता था, जबकि तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा कर्तृत्व व कर्तव्यादि सब भेद निजानन्दकी मस्तीमें इसी प्रकार अपने-आप छूट पड़ते, जिस प्रकार शराबके नशेमें प्याला हाथसे छूट पड़ता है। परन्तु हमारा आधुनिक योगी तो भेद-दृष्टिसंयुक्त है और प्रकृतिके बन्धनमें कर्तव्यके साथ बँधा हुआ है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसका कर्तव्य सकाम नहीं किन्तु निष्काम है, इसलिये उसको जैसा शास्त्रोंसे प्रमाणित होता है, दक्षिणायनमार्गकी प्राप्ति होगी और योग-भ्रष्ट होकर वह पुनरावृत्तिको प्राप्त होगा। जैसा गीता (६।३७-४५)में निरूपण हुआ है, वह जन्म लेकर फिर योगमें अग्रसर होगा, उत्तरायण मार्गसे गया हुआ वह अपुनरावृत्तिको प्राप्त नहीं हो सकता। उत्तरायण मार्गद्वारा तो वे ही योगी जायँगे, जिनको ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान हुआ हो और जिनकी ॐकारकी ब्रह्मरूपसे निर्गुण उपासना अभेदरूपसे परिपक्व हुई हो। जैसा माण्डुक्योपनिषत्‌में वर्णन हुआ है, ऐसे योगियोंको ब्रह्मलोकमें अपरोक्ष-ज्ञान होकर विदेहमोक्ष हो जाता है, पुनरावृत्ति नहीं होती। परन्तु हमारा आधुनिक योगी तो चूँकि भेद-बुद्धिसंयुक्त है और निष्काम-कर्ता है, निर्गुण-उपासक नहीं है, इसलिये वह उत्तरायण मार्गका अधिकारी नहीं हो सकता, दक्षिणायनका ही अधिकारी होगा। इस प्रकार योगीकी उक्त महिमाका पात्र तो केवल वह आत्मस्वरूपस्थित योगी ही हो सकता है; वही प्रकृतिके बन्धन

से निकला हुआ है। वही सब रूपोंमें साक्षात् अपने ही आत्मा का चमत्कार देखता है और जीता हुआ ही मुक्त है। उसकी दृष्टि में न कोई मार्ग है, न गति है, न गन्तव्य लोक है, न आना है, न जाना है, वह तो सबकी सत्ता होता हुआ सबसे निर्लेप है। देहेन्द्रियमनबुद्धयादि सब प्रपञ्च उसीकी सत्तासे नृत्य कर रहा है, परन्तु वह आप अकर्ता है। सब कर्तव्य उसीसे पूरे हो रहे हैं, परन्तु वह आप मुक्त-कर्तव्य है और उसीने सबके आदि परम स्थानको प्राप्त किया है।

नवम अध्यायकी समालोचना

अष्टम अध्यायके अन्तमें जिस योगकी महिमा वर्णन करते हुए अध्यायकी समाप्ति की गई थी, भगवान् उसी योगको साधन व फलसहित कथन करनेकी प्रतिज्ञा इस अध्यायके आरम्भमें करते हैं और कहते हैं—

विज्ञानके सहित यह अत्यन्त गुह्य ज्ञान मैं तुझ दोष-दृष्टिरहित भक्तके लिये कहता हूँ, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे छूट जायगा। इस विद्याको राजविद्या, राजगुह्य नामसे वर्णन किया और कहा—यह तत्काल प्रत्यक्ष फल देनेवाली है, परम पवित्र है, आचरणमें सुखेन है एवं फलमें अविनाशी है; परन्तु श्रद्धारहित पुरुष इसको प्राप्त न करके संसारमें ही गिरते हैं (१-३)।

उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे स्पष्ट है कि यह राजविद्या (अर्थात् योग) केवल ज्ञानसाध्य है, कर्मसाध्य नहीं। इसलिये वह प्रत्यक्ष फलवाली, अविनाशी फलदायनी और आचरणमें सुखाली वर्णन की गई। जैसे रज्जुके ज्ञानसे सर्प-भ्रम एवं भय-कम्पनादि तत्काल

निवृत्त हो जाते हैं और प्रत्यक्ष फलकी सिद्धि तत्काल हो जाती है, भ्रमरूप सर्पकी निवृत्ति लष्टिका-प्रहारादि कर्मसे असम्भव ही है। इसी प्रकार अधिष्ठानस्वरूप आत्माके ज्ञानसे संसार-भ्रम अव्यवहित उत्तर क्षणमें ही निवृत्त हो जाता है, दुःखोंका अत्यन्ताभाव प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है और किसी प्रयत्नके विना स्वप्नसे जागे हुएके समान अविनाशी योग तत्क्षण सिद्ध हो जाता है। जैसे राजा स्वप्नमें राज्य नष्ट होनेसे दारिद्रय-दुःखसे दुःखी हुआ जागकर अपने अटल राज्यको प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार ज्ञानद्वारा अपने आत्मस्वरूपमें जागकर जीव अविनाशी योगको प्राप्त कर जाता है, कर्मद्वारा जिसकी प्राप्ति असम्भव है। इसी लिये ज्ञानको प्रत्यक्ष, अविनाशी फलदायक और आचरणमें सुखेन वर्णन किया गया।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने अपने स्वरूपका ज्ञान वर्णन किया और कहा—यह जगत् मुझसे परिपूर्ण है और मेरे आश्रय ही स्थित है; परन्तु वास्तवमें मैं जगत्‌का आधारभूत होता हुआ भी मुझमें इसका कोई लेप नहीं है। जिस प्रकार वायु आकाशके आश्रय विचरती हुई भी आकाशको छू नहीं सकती, इसी प्रकार मैं जगत्से निर्लेप हूँ (४-६)। मेरेको प्राप्त न होनेके कारण कल्पके क्षयमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें ही लय होते हैं और कल्पके आदिमें मैं उनको फिर प्रकृतिसे उत्पन्न कर देता हूँ। इसीप्रकार अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार करके यह उत्पत्ति-लयरूप व्यवहार मेरे द्वारा बारम्बार होता रहता है, परन्तु वह मेरेको कुछ भी स्पर्श नहीं करता (७-१०)। तत्पश्चात् चार प्रकारके पुरुष वर्णन किये और कहा—प्रथम, मूढ पुरुष तो मेरे उस परम भावको न जानते हुए मुझे मनुष्य-शरीरधारी ही मानते हैं, अतः ऐसे अज्ञानी आसुरी प्रकृतिवालोंके सब आशा, कर्म व ज्ञान तो वृथा ही हैं।

दूसरे, महात्मजन मुझे भूतोंका आदि व अव्यय जानकर अनन्य मनसे भजते हैं और निरन्तर मुझे ही नमस्कार करते हुए एवं भक्तिपूर्वक मेरा ही कीर्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं। तीसरे, ज्ञानीजन ज्ञान-यज्ञके द्वारा नानारूप इस संसारमें अनाना-रूपसे मेरा ही भजन करते हैं,अर्थात् नाना तरङ्गोंमें एक ही जलके समान मुझ सर्वात्माको भजते हैं। इसके उपरान्त उस ज्ञानयज्ञकी सामग्री वर्णनकी और कहा कि अखिल संसारका पिता, माता,व धाता मैं ही हूँ और ॐकार एवं वेद भी मैं ही हूँ। सम्पूर्ण जगत्‌की प्रत्येक गति, संसारका भर्ता, प्रभु निवास, शरण एवं उत्पत्ति-प्रलय मैं ही हूँ। मैं ही तपाता हूँ, मैं ही वर्षाता हूँ और जो कुछ भी सत्-असत्, अमृत-मृत्यु एवं भाव-अभावरूपसे व्यवहार किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। इस प्रकार ज्ञान-यज्ञका वर्णन किया। चौथे, अन्य सकामीजन जो यज्ञोंद्वारा भोगोंके रूपमें ही मुझ सुखस्वरूप को पानेकी इच्छा करते हैं, वे पुण्य-प्रभावसे देवलोकमें दिव्य भोगों को भोगते हैं और पुण्योंके क्षीण होनेपर फिर मर्त्यलोकमें गिरा दिये जाते हैं। इस प्रकार वे काम-कामीजन आवागमनको ही प्राप्त होते हैं (११-२१)। आशय यह है कि इस प्रकार चार प्रकार के मनुष्य कहे गये, मूढ, जिज्ञासु, ज्ञानी तथा सकामी। यद्यपि वे सभी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मुझ सुखस्वरूपको ही पानेके लिये भिन्न-भिन्न रीतिसे यत्न करते हैं और सबका ध्येय भी मैं सुखस्वरूप ही होता हूँ, तथापि उनकी भावनाके भेद करके उनको भिन्न-भिन्न गति प्राप्त होती हैं। उनमेंसे जो अनन्यरूपसे मेरा चिंतन करते हुए मेरी उपासना करते हैं,उनको तो मैं साक्षात् ही प्राप्त हो जाता हूँ और उनका योग-क्षेम चलाता हूँ। जो भक्त अन्य देवताओंको श्रद्धापूर्वक पूजते हैं वे भी वास्तवमें पूजा तो मेरी ही करते हैं, क्योंकि देवताओंके रूपमें भी मैं ही होता हूँ, परन्तु उनका

यह पूजन अविधिपूर्वक है। जो सकाम यज्ञादिमें प्रवृत्त होते हैं उन सब यज्ञोंका अधियज्ञ व भोक्ता भी मैं ही होता हूँ, परन्तु कामनावशात् वे मुझे तत्त्वसे नहीं जानते, इसलिये वे फिर गिरते हैं। सारांश जो-जो जिस-जिस भावनासे मुझे भजते हैं वे मेरे उसी-उसी रूपको प्राप्त होते हैं। अर्थात् देवतापरायण हुए मेरे देवरूपको, पितृपरायण हुए मेरे पितृरूपको, भूतपरायण हुए मेरे भूताकाररूपको तथा मुझ सच्चिदानन्दपरायण हुए मेरे साक्षात् स्वरूप को ही प्राप्त कर जाते हैं (२२-२५)।

इसके उपरान्त अपनी पूजाकी साधारण विधि बतलाई और कहा—भक्तिपूर्वक कम-से-कम फल, फूल अथवा जलादि जो कुछ भी मुझे दिया जाता है, वह मैं प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूँ। इसलिये जो कुछ किया जाय, खाया जाय, दिया जाय तथा यज्ञ-तपादि जो कुछ भी किया जाय, वह सब मुझे ही क्यों न अर्पण कर दिया जाय? यहाँतक कि अपने कर्तृत्व-भावको भी मेरे ऊपर न्यौछावर कर दिया जाय। इस प्रकार तू संन्यासरूपी योगसे युक्त-चित्त हुआ शुभाशुभ कर्म-बन्धनोंसे छूटकर मुझे ही पा जायगा (२६ २९)। फिर कहा—मैं सबमें समान हूँ, मेरा न किसीसे राग है न द्वेष, परन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे तो मेरेमें और मैं उनमें परस्पर अभेदरूपसे स्थित होते हैं। यहाँतक कि कोई दुराचारी भी क्यों न हो, परन्तु जो अनन्य हुआ मुझे भजता है उसको साधु ही जानना चाहिये, वह शीघ्र ही धर्मात्मा हुआ शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर जाता है, क्योंकि मेरे भक्तका नाश नहीं है। स्त्री, वैश्य, शूद्र चाहे कोई भी पापयोनि क्यों न हो, वे भी मेरे भजनके प्रभावसे परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं। जब ऐसा है, फिर पुण्यवान् ब्राह्मण तथा राजर्षि मेरे भक्तोंका तो कहना ही क्या है? इसलिये अनित्य संसारको प्राप्त करके मेरा भजन ही सार है।

अर्जुन ! तू यहाँतक मेरे परायण हो कि अपना-आपा त्यागकर तेरा मन मेरे ही रूप हो जाय; अतः तू मेरी ही प्रीति, मेरा ही पूजन और मुझे ही नमस्कार कर। इस प्रकार मेरे परायण हुआ अपने-आपको मुझमें मिलाकर तू मुझे ही पा जायगा (२६-३४)।

इस प्रकार इस अध्यायमें अपने स्वरूपमें योग प्राप्त करनेके लिये संसारसे असंग अपने शुद्ध एवं सर्वरूपका ज्ञान तथा अपनी अनन्य भक्तिका निरूपण किया गया। भगवद्वचनानुसार योगकी प्राप्तिके लिये 'कर्तव्य-बुद्धि' कहीं न तो हेतुरूपसे ही निरूपण की गई और न योगके स्वरूपमें ही इसका प्रवेश पाया गया। बल्कि प्रथम श्लोकमें ही अशुभरूप संसारसे छूटनेके लिये ज्ञान-विज्ञान को ही हेतुरूपसे कथन किया गया। सत्य तो यह है कि 'कर्तव्य-बुद्धि' अपनी विद्यमानतामें योगके बजाय अपने आत्मस्वरूपसे वियोग ही रखती है। जबतक कर्तव्य-बुद्धि विद्यमान है, न अनन्य-भक्ति ही आ सकती है और न सर्वात्मज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। क्योंकि 'कर्तव्य-बुद्धि' अपने स्वरूपसे अहं-कर्तृत्वाभिमानको गलित करनेमें समर्थ है ही नहीं, बल्कि उसको स्थायीरूपसे स्थिर रखनेवाली है और यह 'अहं-कर्तृत्व' ही एकमात्र योगमें प्रतिबन्धक है। 'मुझपर अमुक कर्तव्य है' यह भाव कर्तृत्वा-भिमानके मूलको उखाड़नेवाला नहीं हो सकता, बल्कि जल-सिञ्चन के समान उसको हरा-भरा रखनेवाला ही है, जोकि सब अनर्थों का मूल है। यद्यपि निष्काम-कर्तव्य-बुद्धि सकाम-कर्तव्यके मूलको तो उखाड़नेवाली है, परन्तु साथ ही अनन्य-भक्ति व सर्वात्म-ज्ञान में प्रतिबन्धक भी है। सकाम-कर्तव्यसे छूटनेके लिये निष्काम-कर्तव्य जितना आवश्यक है, अनन्य-भक्ति तथा सर्वात्म ज्ञानके लिये निष्काम-कर्तव्य-बुद्धिका त्याग भी उतना ही ज़रूरी है।

दशम अध्यायकी समालोचना

दशम अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने योग-प्राप्तिके निमित्त फिर अपने स्वरूपका ज्ञान वर्णन किया और कहा—महाबाहो ! मेरे परम वचन तू फिर भी श्रवण कर, जो मैं तेरी हितकामना से तुझ प्रीतिमान्‌को कहूँगा । मेरी उत्पत्तिको न देवता जानते हैं न महर्षि-गण, क्योंकि मैं क्या देवता और क्या महर्षि सभीका आदि कारण हूँ । जो मुझ अजन्मा, अनादि एवं लोकोंके महेश्वर को तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् सब पापोंसे छूट जाता है । बुद्धि, ज्ञान, असमूढता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, समता, सन्तोष, तप, दान, कीर्ति और अकीर्ति, इत्यादि सब भाव प्राणियोंमें मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, अर्थात् सब भावोंकी साक्षीरूप सत्ता मैं ही हूँ । सप्त महर्षि और मन्वादि मेरी ही भावरूप सत्तासे उत्पन्न हुए हैं, परन्तु मुझमें उनका कोई लेप नहीं है । इस मेरी विभूति को, कि सर्व संसार मेरा ही चमत्कार है और इस मेरे योगको, कि मैं सबसे निर्लेप हूँ, जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह निस्सन्देह मुझमें निश्चल योग प्राप्त कर लेता है । मैं ही सबकी उत्पत्ति हूँ और सब मुझसे ही वर्त रहा है, ऐसा मानकर भावसंयुक्त बुद्धिमान् ज्ञानी-जन मुझे भजते हैं। जिन्होंने अपने चित्त व प्राणोंको मद्रूप ही बना दिया है, जो परस्पर मेरा ही कथन व बोधन करते हुए मुझमें ही रमते हैं और मुझमें ही सन्तुष्ट हैं, मुझमें इस प्रकार निरन्तर युक्त एवं प्रीतिपूर्वक भजनेवालोंको मैं वह बुद्धि-योग प्रदान कर देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर जाते हैं । उनपर अनुकम्पा करके मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्व-ज्ञानरूप दीपकसे नष्ट कर देता हूँ (१-११) ।

उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे यह विषय निर्विवादरूपसे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान्के स्वरूपमें योग केवल उनके स्वरूपके तत्त्व-ज्ञानद्वारा ही सम्भव है, अन्य निष्काम-कर्मादिकी यहाँ गति नहीं है। यदि भगवान्को अपने स्वरूपमें योग पानेके लिये साक्षात्-रूपसे निष्काम-कर्म भी इष्ट होता, तो अवश्य इस स्थलपर इसका किसी प्रकारसे निर्देश करना चाहिये था। परन्तु इसकी ओरसे सर्वथा अलक्षुद्धि, इस विषयकी स्पष्ट दलील है कि इस योगमें निष्काम कर्मका साक्षात् कोई उपयोग नहीं है। इस योगके अधिकारी भी वे ही वर्णन किये गये हैं, जिन्होंने सर्वथा अपने चित्त व प्राण भगवान्को निवेदन कर दिये हों, केवल कर्तव्य-बुद्धि और फल त्याग ही पर्याप्त नहीं माना गया (श्लो० ९)। इतना ही तुच्छ त्याग भगवान्के लिये सन्तोषप्रद नहीं है, बल्कि वे तो अपने स्वरूपमें अभेद (योग) पानेके लिये चित्त व प्राणोंकी बलि माँगते हैं। ऐसा होनेपर ही वे ज्ञानरूपी दीपकसे (कर्मादिसे नहीं) अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेका वचन करते हैं (१०-११)।

भगवान्के उपर्युक्त वचनोंपर अर्जुनको सन्तोष हुआ, उस की असम्भावना निवृत्त हुई और उसने श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया कि निस्सन्देह आप परब्रह्म, परमधाम, परमपवित्र एवं शाश्वत पुरुष हैं और दिव्यस्वरूप, देवताओंके आदि कारण, अजन्मा व विभु हैं। और कहा कि आपको देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यासादि ऋषि भी ऐसा ही वर्णन करते हैं तथा स्वयं आप भी श्रीमुखसे मुझे ऐसा ही कथन कर रहे हैं। इसलिये केशव ! जो कुछ भी आप मुझे कथन कर रहे हैं, मैं वह सब सत्य मानता हूँ। भगवन्! निस्सन्देह आपके स्वरूपको न देवता जानते हैं और न दानव, किन्तु स्वयं आप ही आपे करके

अपने-आपको जाननेमें समर्थ होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार चक्षु-द्वारा रूप देखा जा सकता है, उसी प्रकार आप किसी साधन-द्वारा जाननेमें नहीं आते। ज्ञानका फल केवल अज्ञान-निवृत्ति ही है, आपको जानना ज्ञानका फल नहीं हो सकता। ज्ञानद्वारा अज्ञान निवृत्त होनेपर अपने-आप करके ही आप जाने जा सकते हैं, किसी साधनद्वारा नहीं। इस प्रकार आप फल-व्याप्तिके विषय नहीं; किन्तु वृत्ति-व्याप्तिके ही विषय होते हैं। इस लिये देव! आप अपनी उन सम्पूर्ण दिव्य विभूतियोंका मुझसे वर्णन कीजिये, कि जिन विभूतियोंद्वारा आप इन सर्व लोकोंमें व्यापकर स्थित हैं। योगेश्वर! आपको सदा चिन्तन करता हुआ आपके सर्वरूपको मैं कैसे जानूँ? और आपके सर्वरूपको न जानता हुआ, किन-किन विभूतिरूप भावोंमें आप मेरे द्वारा चिन्तन करनेयोग्य हैं? इस प्रकार अपने योग व विभूतिका विस्तारसे फिर वर्णन करें, क्योंकि आपके अमृतरूप वचनोंको सुनते-सुनते मैं तृप्त नहीं होता हूँ (१२-१८)।

इस पर भगवान्ने दया करके जो पुरुष एकाएक उनके सर्वरूपको जाननेमें असमर्थ हैं, उनको अपना सर्वरूप जाननेमें

१. इन्द्रियादि प्रमाणोंद्वारा जिस पदार्थका अपनेसे भिन्न रूप करके ज्ञान हो, वह ज्ञान 'फल-व्याप्ति' कहलाता है। २. जिस ज्ञानमें वृत्ति घटादिके समान विषयाकार न हो सके, किन्तु विषयके आश्रय आवरण-भंग ही वृत्ति का केवल प्रयोजन हो और विषय अपने प्रकाश करके स्वयंप्रकाश हो, वह ज्ञान 'वृत्ति-व्याप्ति' कहाता है। इस प्रकार आत्माकार वृत्तिका प्रयोजन आत्माको प्रकाश करना नहीं है, केवल आत्माके आश्रय रहनेवाले अज्ञानका आवरण-भङ्ग ही वृत्तिका प्रयोजन होता है, इसलिये यह ज्ञान वृत्ति-व्याप्ति-रूप है, क्योंकि आत्मा अपने प्रकाश करके स्वयंप्रकाश है, किसी भी वृत्ति का विषय नहीं।

उपयोगी अपनी उन मुख्य-मुख्य विभूतियोंका श्लोक १६ से ३८ तक वर्णन करके बतलाया, जिससे उन मुख्य-मुख्य विभूतियोंमें भगवान्‌का चिन्तन करते हुए वे सर्वरूपोंमें ही उनका दर्शन कर सके और अन्तमें कहा कि अर्जुन! जितना कुछ भी संसारमें भूत-जात है, उन सबका बीज मैं ही हूँ, चर अथवा अचर ऐसा कोई भूत है ही नहीं जो मेरे बिना स्थित हो। परंतप! मेरी दिव्य-विभूतियोंका अन्त है ही नहीं, यह विभूतियोंका कुछ विस्तार तेरे प्रति लक्ष्यरूपसे कहा गया है। जो कुछ भी संसारमें विभूति-मान्, ऐश्वर्यवान्, कान्तिमान्, अथवा सत्तावान् दृष्ट आवे, वह सब मेरे तेजके किसी अंशसे ही उत्पन्न हुआ जान। अथवा अर्जुन! बहुत जाननेसे क्या प्रयोजन है, तू इतना ही जान ले कि सम्पूर्ण जगत्‌को मैं अपने एक अंशसे ही धारण करके स्थित हूँ। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् मुझ अनन्तके किसी एक अंशमें ही स्थित है, सो भी मुझको किसी प्रकार स्पर्श नहीं करता (३६–४२)।

इस प्रकार भगवान्‌ने इस अध्यायमें योगके निमित्त अपने स्वरूपका ज्ञान वर्णन किया और जो सर्व रूपोंमें भगवानको देखने में असमर्थ हैं, उनके लिये मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियोंका वर्णन किया, जिनके आश्रय वे सर्व रूपोंमें ही भगवान्‌का दर्शन करते हुए अपने परिच्छिन्न अहंभावसे छूट जाएँ और उनके स्वरूपमें अभेदरूपसे योग पा जाएँ। आधुनिक योगका इस अध्यायमें भी कुछ पता न चला, न उसकी साधन-कोटिमें ही गणना की गई और न फल-कोटिमें ही उसको स्वीकार किया गया।

एकादश अध्यायकी समालोचना

दशम अध्यायमें भगवान्के विभूति-योगको श्रवण कर इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने कहा—मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गुह्य अध्यात्मविषयक वचन कहे उनसे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है। कमलनयन! आप ही भूतोंके उत्पत्ति-प्रलय-स्थान हैं, ऐसा मैंने आपसे श्रवण किया और आपके अविनाशी माहात्म्यको भी जाना। परमेश्वर! जैसा आपने वर्णन किया है वह सब यथार्थ ही है, परन्तु मैं आपके उस ऐश्वर्य एवं रूप को साक्षात् देखनेकी इच्छा करता हूँ। प्रभो! यदि मेरे द्वारा उस रूपका दर्शन आप शक्य मानते हों तो अपने उस अविनाशी रूपका मुझे दर्शन कराइये (१-४)।

इस पर भगवान्ने उसकी प्रार्थनाको स्वीकार किया और कहा—हाँ, भारत! आदित्य, वसु, रुद्रादि और बहुत-से पूर्व अदृष्ट आश्चर्योंको, चराचर सम्पूर्ण जगत्को और जो कुछ भी तुम देखना चाहते हो वह सब यहाँ एक जगह ही एकत्रित देखो। परन्तु इन स्थूल नेत्रोंसे तुम देख नहीं सकते, इसलिये मैं तुमको दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ (५-८)। ऐसा कहकर श्रीयोगेश्वर हरिने अर्जुनको अपना परम रूप व ऐश्वर्य दिखलाया और उस रूपकी महिमा सञ्जयने धृतराष्ट्रके प्रति वर्णन की (९-१४)। दिव्य नेत्र प्राप्त करके अर्जुनने जैसा-जैसा भगवान्का रूप देखा, वैसा उसने भगवान्के प्रति वर्णन किया कि मैं आपके विराट्-शरीरमें अमुक-अमुक आश्चर्यमय रूपोंका दर्शन कर रहा हूँ और उनको नमस्कार करके कहा—मुझे बतलाइये कि यह उग्ररूप आप कौन हैं? मैं आपके आदि स्वरूपको तत्त्वसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी इस प्रवृत्तिको नहीं जानता (१५

३१)। इस पर भगवान्‌ने उसको बतलाया कि मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा-चढ़ा काल हूँ और लोकोंको समेटनेके लिये ही यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ, जितने कुछ योधा इस सेनामें खड़े हुए हैं, तेरे सिवा ये कोई भी न रहेंगे, क्योंकि ये मुझ कालस्वरूपके द्वारा पहले ही नष्ट हो चुके हैं। तू तो केवल निमित्तमात्र बन कर खड़ा हो, मुफ्तमें ही यशको प्राप्त कर और शत्रुओंको जीत कर राज्य-समृद्धिका भोग कर (३२-३४)।

इस पर अर्जुनने भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करते हुए उनको नमस्कार तथा वन्दना करके उनसे क्षमा-प्रार्थना की, कि आपके वास्तव स्वरूप व महिमाको न जानकर और आपको एक व्यक्तिधारी सखा मानकर हँसीके तौरपर विहार, शय्या, आसन, तथा भोजनादिके समय मेरे द्वारा जो कुछ आपका असत्कार हुआ हो, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें। इस प्रकार अनेकशः क्षमा-प्रार्थना करके कहा कि आपके अपूर्वदृष्ट रूपको देखकर मैं हर्षित होता हूँ और साथ ही भयसे मेरा मन भी व्याकुल हो रहा है, इस लिये आप मुझे अपने उसी चतुर्भुजी रूपका दर्शन दीजिये(३५-४६)।

इसपर भगवान्‌ने कहा—अपने आत्मयोगसे तुझपर प्रसन्न होकर मैंने अपना परम तेजोमय रूप तुझको दर्शन कराया है, जोकि तेरे सिवा पहले कोई भी नहीं देख पाया है। कुरुप्रवीर अर्जुन! वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, बहुत-से कर्म और उग्र तपोंद्वारा भी मैं तेरे सिवा संसारमें ऐसे रूपोंमें देखे जानेको शक्य नहीं हूँ। इसलिये मेरे इस विकराल रूपको देखकर तू व्याकुल न हो और फिर मेरे उसी चतुर्भुजी रूपका दर्शन कर। इस प्रकार भगवान्‌ने भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिलाया और फिर अपने उसी सौम्यरूपमें प्रकट हुए (४७-५०)।

इसपर भगवान्‌के सौम्य मानुषी रूपका दर्शन पाकर अर्जुन

को शान्ति मिली और वह अपने स्वभावको प्राप्त हो गया। फिर भगवान्ने कहा—अर्जुन! मेरे जिस अति दुर्लभ रूपके तुमने दर्शन किये हैं, उसे देखनेकी देवता भी नित्य आकांक्षा करते हैं, परन्तु देख नहीं पाते। जिस प्रकारसे तुमने मेरा दर्शन पाया है, इस प्रकारसे न मैं वेदोंद्वारा देखे जानेको शक्य हूँ, न तपसे, न दानसे और न यज्ञोंद्वारा ही देखे जानेको समर्थ हूँ। केवल अनन्य भक्तिद्वारा ही मैं इस प्रकार तत्त्वसे देखा और जाना जा सकता हूँ तथा अपने स्वरूपमें प्रवेश पाया जा सकता हूँ। इसलिये पाण्डव! जो पुरुष कर्तृत्वादि-संगसे छूटा हुआ मेरे ही लिये सब कुछ कर रहा है, मेरे ही परायण है, केवल मेरा ही भक्त है और जो सब भूतोंमें समता-दृष्टि करके निर्वैर है, वही मुझे प्राप्त कर सकता है (४१-५५)।

इस प्रकार इस अध्यायमें अपने स्वरूपमें प्रवेश पानेके लिये भगवान्ने केवल अपनी अनन्य भक्तिको ही साधनरूपसे वर्णन किया, कर्तव्य-बुद्धिरूप आधुनिक योग यहाँ भी शून्य ही रहा। बल्कि श्लोक ४८में कर्मका खण्डन ही पाया गया, कि कर्मादि व तपादिद्वारा मेरे इस रूपका दर्शन कोई नहीं कर सकता। स्मरण रहे कि अनन्य भक्ति व तत्त्वज्ञान वीजाङ्कुरवत् परस्पर साधन-साध्य होनेसे अभेदरूप ही हैं, इनका परस्पर भेद नहीं है। हाँ, कर्तव्य-बुद्धि व अनन्य भक्तिका अन्धकार-प्रकाशके समान परस्पर विरोध है, दोनों एक कालमें एक अधिकरणमें नहीं रह सकते।

द्वादश अध्यायकी समालोचना

एकादश अध्यायके अन्तमें भगवान्ने अपने स्वरूपमें प्रवेश पानेके लिये अपनी अनन्य भक्तिको ही एकमात्र साधन कथन किया। उस अनन्य भक्तिकी इस प्रकार महिमा सुनकर अर्जुनने

इस अध्यायके आरम्भमें प्रश्न किया—भगवन् ! जो भक्त इस प्रकार निरन्तर आपके सगुणरूपमें जुड़े हुए आपकी उपासना करते हैं और जो दूसरे आपके अविनाशी इन्द्रियातीत निर्गुण-रूपको उपासते हैं, उन दोनोंमें अत्युत्तम योगवेत्ता कौन हैं, सो कृपाकर कहो (१) ?

इसपर भगवान्‌ने उत्तर दिया—जो मेरे सगुणरूपमें मनको एकाग्र करके नित्य ही मेरेमें युक्त हुए मेरी उपासना करते हैं और जो परम श्रद्धासे युक्त हैं, वे मुझे अति श्रेष्ठ योगी मान्य हैं। और जो पुरुष मेरे अविनाशी इन्द्रियातीत स्वरूपको, जो सर्वत्र व्यापक, अचिन्त्य कूटस्थ व अचल है, इन्द्रिय-समुदायको रोककर सर्वत्र समबुद्धि और सर्व भूतोंके हितमें रत रहकर उपासना करते हैं, वे तो मुझे प्राप्त होते ही हैं। परन्तु मेरे अव्यक्तस्वरूपमें आसक्त चित्तवालोंको क्लेश अधिक होता है, क्योंकि देहवालोंद्वारा मेरे अव्यक्तस्वरूपमें गति बड़े दुःखसे प्राप्त होती है। अत: जो अपने सभी कर्मोंका मेरे सगुणरूपमें त्याग करके मेरे परायण हो रहे हैं और जो अनन्य योगद्वारा मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मेरी अनन्य भक्तिद्वारा देहाभिमान शिथिल हो जानेके कारण उन मेरे सगुणरूपमें आसक्त चित्तवालोंको मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तत्काल उद्धार कर देता हूँ। इसलिये अर्जुन! तू मेरे सगुणरूपमें ही मन टिका और मेरेमें ही बुद्धि प्रवेश कर, इसके उपरान्त तू निस्सन्देह मुझमें ही निवास करेगा (२-८)।

इन भगवद्वचनोंका आशय यह है कि भगवान्‌के अव्यक्त इन्द्रियातीत पदमें देहाभिमानके कारण प्रवेश पाना अधिक दुष्कर है और सगुणरूपकी प्रेमाभक्तिद्वारा कृतोपास्ति होनेपर देहाभिमान सुखेन गलित हो जाता है। प्रेममें कुछ ऐसा ही आकर्षण है कि

वह अपने प्रेमपात्रपर आपेकी तत्काल बलि चढ़वा लेता है। जब मिथ्या सांसारिक स्त्री-पुत्रादिके प्रेममें ही इतना आकर्षण है कि प्रेमकालमें उनके लिये अपना-आपा विस्मरण हो जाता है, तब सत्य प्रेम यदि सत्यस्वरूप परमात्माके प्रति हो तो आपेका खोया जाना कोई बात ही नहीं है। चूँकि सगुण प्रेमद्वारा आत्म-निवेदन सुलभ है और आत्म-निवेदनद्वारा ही निर्गुणस्वरूपमें प्रवेश शक्य है, इसीलिये सगुण भक्तको 'युक्ततम' कहा गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि सगुण व निर्गुण उपासना भगवत्-प्राप्तिके भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, किन्तु मार्ग तो एक ही है केवल सोपानोंका भेद है। अर्थात् सगुण सोपानपर आरूढ हुए बिना ही निर्गुण सोपान पर आरूढ होना कठिन है; इसीलिये सगुण उपासनाको अत्युत्तम और निर्गुण उपासनाको कष्टतर कहा गया है।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने कहा—यदि तू अपने चित्तको मेरे सगुणरूपमें इस प्रकार स्थिर करनेमें समर्थ नहीं है तो अभ्यास के द्वारा मेरे सगुणरूपकी प्राप्तिकी जिज्ञासा कर, अर्थात् चित्त-वृत्तियोंका प्रवाह बारम्बार मेरे सगुणरूपमें चालू कर। और यदि तू इस प्रकार अभ्यास भी न कर सके, तो मेरे निमित्त कर्म करनेके परायण हो, मेरे अर्थ कर्म करता हुआ भी तू मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको पा जायगा (९-१०)।

स्मरण रहे कि श्लोक १० में भगवान्‌ने 'मदर्थ कर्म' का जो निरूपण किया है, उसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन एवं वन्दनादि भक्तिके अङ्गोंमें प्रवृत्त हुआ जाय और यह उनके लिये सोपान-क्रमसे भगवान्‌ने बतलाया है जिनके मन-बुद्धि श्लोक ८ के अनुसार भगवान्‌के सगुणरूपमें स्थिर नहीं हो सकते तथा श्लोक ९ के अनुसार जो भगवान्‌के सगुणरूपमें मन-बुद्धि स्थिर करनेके लिये अभ्यास

भी नहीं कर सकते । इससे सिद्ध है कि इस 'भगवदर्थ कर्म' का फल भगवान्‌के सगुणरूपमें मन-बुद्धि स्थिर करनेके निमित्त उपर्युक्त अभ्यास ही है। अभ्यासका फल सगुणरूपके ध्यानद्वारा मन-बुद्धिकी स्थिरता है। सगुणरूपमें मन-बुद्धिकी स्थिरताका फल देहाभिमानकी शिथिलताद्वारा निर्गुणस्वरूपमें प्रवेश पाना है और यही वास्तविक योग है।

तत्पश्चात् भगवान्‌ने कहा—यदि तू मेरे योगको आश्रय करके ऐसा भी नहीं कर सकता, अर्थात् मदर्थ-कर्म भी नहीं कर सकता तो अपने मनको जीतकर अपने सभी कर्मोंका फल त्याग कर, अर्थात् कोई फल ही न रख (श्लोक ११) । आशय यह है कि जो पुरुष श्लोक १० में कहा हुआ भगवदर्थ-कर्म भी नहीं कर सकता, उसके लिये यह निम्न सोपान है कि वह कम-से-कम इतना तो करे कि अपने मनको जीतकर और उसे संसारकी ओर न जाने देकर अपने सब कर्मोंका संसार-सम्बन्धी कोई फल ही न रक्खे और यही आधुनिक योग है। इस प्रकार जब संसारसम्बन्धी फल-त्याग होगा, तब वह स्वतः ही भगवदर्थ-कर्ममें बदल सकता है।

इस प्रकार सोपानोंका निरूपण करके भगवान्‌ने फिर उनको स्पष्ट करके बतलाया कि अभ्याससे ज्ञान (अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपका परोक्ष-ज्ञान) श्रेष्ठ है। ज्ञानसे ध्यान (अर्थात् श्लोक ८ के अनुसार भगवान्‌के स्वरूपमें मन-बुद्धिको स्थिर करना) श्रेष्ठ है, जब भगवान्‌के स्वरूपका परोक्ष-ज्ञान होगा, तब उसके अनुसार ही ध्यान हो सकता है। ध्यानसे कर्म-फल-त्याग (अर्थात् श्लोक ६।७ के अनुसार भगवान्‌में अपने सर्व कर्मोंका त्याग करके अपने कर्तृत्वाभिमानको गलित कर देना) श्रेष्ठ है और इस त्यागसे ही परम शान्ति मिल सकती है।

यहाँ 'कर्म-फल-त्याग' को जो ध्यानसे श्रेष्ठ कहा गया है, सो यह 'कर्म-फल-त्याग' श्लोक ११ उक्त कर्मफल-त्याग (अर्थात् आधुनिक योग) नहीं है। क्योंकि इस फल-त्यागको तो भगवान् श्लोक ८, ९ व १० में कहे हुए ध्यान, अभ्यास व मदर्थ-कर्मसे भी निम्न कोटिमें गणना करते आये हैं, फिर वही फल-त्याग ध्यानसे श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है ? किन्तु यहाँ 'कर्म-फल-त्याग' का आशय तो श्लोक ६ उक्त 'कर्म-संन्यास' से है, जिसमें कर्ता, कर्म व फल सभीका त्याग हो जाय और यही ध्यानसे श्रेष्ठ हो सकता है । अपने कर्तापनको सगुणरूप भगवान्में लय कर देना, यहाँ यही 'कर्म-संन्यास' है और यही ध्यानका फल हो सकता है।

इसके उपरान्त भगवान्ने श्लोक १३ से १९ तक उस पुरुषके लक्षण निरूपण किये, जो उपर्युक्त रीतिसे शान्तिको प्राप्त हुआ है और जो भगवान्को प्रिय है। अन्त में कहा कि जो भक्त मेरे इस अमृतरूपी धर्मको यथोक्त रीतिसे उपासते हैं, अर्थात् यथावत् अपने व्यवहारमें लाते हैं और मेरेमें श्रद्धायुक्त हुए मेरे परायण हो रहे हैं, वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं (२०)।

इस प्रकार इस अध्यायकी समालोचनासे 'आधुनिक योग' यहाँ भी गीताका प्रतिपाद्य विषय किसी प्रकार सिद्ध नहीं हुआ। बल्कि भगवान्के स्वरूपमें प्रवेश पानेके लिये जो सोपान-क्रम इस अध्यायमें निरूपण हुआ है, उसके अनुसार यह तो छठे सोपानका निम्न साधन सिद्ध होता है, वह इस प्रकार—

(१) भगवान्के वास्तविक स्वरूपमें अभेद पानेका अन्तिम सोपान निर्गुण अव्यक्तस्वरूपकी उपासना । इसके अभाव में—

(२) भगवान्के सगुणरूपमें 'सर्व-कर्म-संन्यास', अर्थात्

अपने कर्तापनको अनन्य-योगद्वारा भगवान्‌में आत्म-निवेदन कर देना (६)। इसके अभावमें—

(३) ध्यानद्वारा मन-बुद्धिको भगवान्‌के सगुणरूपमें स्थिर करना (८)। इसके अभावमें—

(४) भगवत्-प्राप्तिकी इच्छासे ध्यानके लिये अभ्यास करना (६)। इसके अभावमें—

(५) भगवदर्थ कर्मपरायण होना, अर्थात् श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दनादिमें तत्पर होना (१०)। इसके अभावमें—

(६) कर्म-फल-त्यागपरायण होना (११)।

इस प्रकार छठे नीचे सोपानका साधन रहते हुए, यह स्वतन्त्र गीता-प्रतिपाद्य विषय किसी प्रकार भी नहीं बन सकता।

त्रयोदश अध्यायकी समालोचना

द्वादश अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नपर भगवान्‌ने अपनी सगुण भक्ति और उसके साधन सोपान-क्रमसे वर्णन किये। सगुण भक्तिका फल जो भगवान्‌के निर्गुणस्वरूपमें प्रवेश, इस अध्यायमें अब उसका निरूपण करनेके लिये वे प्रवृत्त हो रहे हैं। चूंकि उस निर्गुणस्वरूपको वाणीद्वारा साक्षात् कथन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, उसमें उपाधिका आरोप करके ही उसका निरूपण सम्भव हो सकता है। इसलिये शरीरकी उपाधि आरोप करके भगवान् अपने निर्गुणस्वरूपका वर्णन करते हैं और कहते हैं—कौन्तेय! यह शरीर 'क्षेत्र' ऐसा कहा जाता है तथा जो इसको जानता अर्थात् प्रकाश करता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष कहते हैं। भारत! सब शरीररूपी क्षेत्रोंमें उनका प्रकाश करनेवाला क्षेत्रज्ञ मुझ निर्गुण-स्वरूपको ही जान। आशय यह कि अन्धकारमें तो किसी

पदार्थका ज्ञान हो ही नहीं सकता, किसी-न-किसी प्रकाशमें ही पदार्थका ज्ञान सम्भव है। 'यह शरीर है' अथवा 'मैं शरीर हूँ' ऐसा ज्ञान सूर्यादि जड़ प्रकाशोंके अभावमें भी जिस प्रकाशद्वारा सिद्ध होता है, वह शरीरदेशमें ही विद्यमान क्षेत्रज्ञरूप निर्गुण-स्वरूप मैं ही हूँ। ऐसा जो 'क्षेत्र' व 'क्षेत्रज्ञ' का ज्ञान है, अर्थात् जड़ क्षेत्र-भागका बाध करके चेतन क्षेत्रज्ञ-भागको ग्रहण करना, यही शुभ निर्गुणस्वरूपका ज्ञान माना गया है (१-२)। इसके उपरान्त भगवान्ने उस क्षेत्र व क्षेत्रज्ञका स्वरूप संक्षेपसे वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की और अपने कथनमें ऋषियों, वेदों तथा ब्रह्मसूत्रको प्रमाणभूत बतलाया। पञ्च महाभूत[1], अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त[2], एकादश इन्द्रियाँ[3] और पाँच विषय[4], इन चौबीस तत्त्वों-वाला तो क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल पिण्ड, चेतना व धृति, ये संक्षेपसे क्षेत्रके विकार वर्णन किये गये (३-६)। ऐसा क्षेत्र व क्षेत्रज्ञका स्वरूप संक्षेपसे वर्णन करके इसको साक्षात्कार करनेके लिये हृदयरूपी पात्र कैसा होना चाहिये, सो अब वर्णन करते हैं—

अमान[1], अदम्भ[2], शरीर, मन एवं वाणीसे हिंसाका परित्याग[3], क्षमाभाव[4], मन-वाणीकी सरलता[5], गुरु-सेवा[6], अन्तर-बाहरका शौच[7], अन्तःकरणकी स्थिरता[8], शरीर, मन और इन्द्रियोंको स्वाधीन रखना[9], इहलोक तथा परलोकसम्बन्धी इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य होना[10], अहंकारका परित्याग,[11] जन्म-

---

१. आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी। २. प्रकृति, माया। ३. पञ्चज्ञाने-न्द्रियाँ—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना व घ्राण। पञ्चकर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और ११ वीं इन्द्रिय मन है।

४. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

मरण, जरा व रोगादि दुःखोंमें वारम्बार दोषदर्शन करना,[१२] स्त्री-पुत्र व धनादिमें आसक्ति व ममताका अभाव,[१३] इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें नित्य ही समचित्त रहना,[१४] मेरेमें अनन्य योगद्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति[१५] (इससे सिद्ध है कि सगुणरूपमें अनन्य भक्ति निर्गुणस्वरूपके ज्ञानका साधन है), जन-समुदायमें रति न रखकर एकान्त देशका सेवन करना,[१६] अध्यात्म-ज्ञानमें नित्य स्थिति[१७] और तत्त्वज्ञानके अर्थका अभ्यास[१८]—ये सब तो ज्ञानका साधन होनेसे ज्ञानरूप हैं और जो इनसे विपरीत हैं, वह सब अज्ञान है। इस प्रकार ये ज्ञानके अठारह साधन वर्णन किये गये (७-११)।

---

(१) गीता प्रवृत्ति-प्रधान ग्रन्थ है और वह निवृत्तिको अवकाश नहीं देता।

(२) प्रवृत्तिमें रहकर ही आत्मज्ञान हो सकता है तथा

(३) निष्काम-कर्म करते-करते ही आत्म-साक्षात्कार हो सकता है और अपरोक्ष ज्ञानका यही स्वतन्त्र साधन है।

ऐसा अभिमान रखनेवाले आधुनिक टीकाकार कृपया इन भगवद्वचनोंपर ध्यान दें। यदि गीता प्रवृत्तिप्रधान ग्रन्थ ही है, यदि गीता-दृष्टिसे निवृत्ति त्याज्य ही है तथा यदि प्रवृत्तिमें रहकर ही भगवद्दृष्टिसे आत्म-साक्षात्कार सम्भव है, तो ये निवृत्ति-प्रधान अठारह साधन अपने निर्गुणस्वरूपके ज्ञानके लिये भगवान्‌ने क्यों वर्णन किये? यह भी नहीं कि इन साधनोंको भगवान्‌ने विकल्पसे वर्णन किया हो, जैसा कि आधुनिक टीकाकारोंने मोक्षके दो मार्ग सांख्य (निवृत्ति) व योग (प्रवृत्ति) विकल्पसे बनाये हैं, बल्कि वे तो स्पष्ट शब्दोंमें ढिंढोरा पीट रहे हैं—

'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा'।

अर्थात् ये सब तो ज्ञान (अर्थात् ज्ञानका साधन) है और जो कुछ इससे विपरीत है वह सब अज्ञान है। ऐसी अवस्थामें इन साधनोंको विकल्पसे कैसे माना जा सकता है? बल्कि भगवान्‌को ये सब तो निर्विकल्प रूपसे निश्चित ही साधन इष्ट हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। सम्भव है, ऐसा कहा जाय कि इन साधनों का अभ्यास प्रवृत्तिमें रहकर भी हो सकता है और प्रवृत्तिमें रह कर ही इनका अभ्यास करना चाहिये। परन्तु भगवान्‌ने तो अपने वचनोंमें स्पष्ट रूपसे ही यह कह दिया—

'विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि' (श्लोक १०)

अर्थात् 'जन-समुदायमें रति न होकर एकान्त देश सेवन करना' यह प्रवृत्तिमें रहकर कैसे सिद्ध हो सकता है और इसका क्या समाधान बन सकता है? यह नहीं कहा जा सकता।

द्वितीयतः यह बात तो निर्विवाद रूपसे मान्य है कि भगवान् के निर्गुणस्वरूपके साक्षात्कार, अर्थात् निर्गुणस्वरूपमें अभेदरूप से स्थिर हुए बिना तो मोक्ष सम्भव है ही नहीं। यदि सगुण-रूपके साक्षात्कारपर ही मोक्षका अवलम्बन होता तो अर्जुनको तो भगवान्‌के सगुणरूपका नित्य ही साक्षात्कार था, परन्तु फिर भी अर्जुनके अज्ञानान्धकारकी निवृत्ति नहीं हुई, जोकि मोक्षमें प्रतिबन्धक है। तथा यदि सगुण-साक्षात्कार ही मोक्षमें पर्याप्त होता तो ध्रुव व प्रह्लादको सगुणरूपके साक्षात्कारके उपरान्त निर्गुणस्वरूपके साक्षात्कारकी आवश्यकता न होती। परन्तु सगुण-साक्षात्कारके पश्चात् भी भगवान्‌को अर्जुनके लिये गीताका उपदेश करना पड़ा और ध्रुव व प्रह्लादको भी सगुण-साक्षात्कारके उपरान्त निर्गुणस्वरूपके साक्षात्कारके निमित्त निर्गुणस्वरूपका ज्ञान सम्पादन करना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि

मोक्षके लिये निर्गुणस्वरूपका साक्षात्कार ही एकमात्र साक्षात् साधन है और वह केवल ज्ञानद्वारा ही सम्भव है। यदि कर्तव्य-बुद्धिरूप निष्काम-कर्मके द्वारा भी भगवान्‌को निर्गुण-साक्षात्कार इष्ट होता तो इन अठारह साधनोंके अन्तर्गत या इनसे भिन्न उन्नीसवाँ साधन निष्काम-कर्म भी भगवान्‌को यहाँ वर्णन करना आवश्यक था। परन्तु भगवान्‌ने तो इस निष्काम कर्मकी, जो आधुनिक टीकाकारोंका मूल धन है, साधन-कोटिमें कोई गणना ही नहीं की और न विकल्पसे ही इसको भिन्न साधन कहा, बल्कि स्पष्ट ही कह दिया कि इन अठारह साधनोंसे भिन्न जो कुछ भी है वह कोरा अज्ञान ही है। इससे निष्काम कर्म किसी प्रकार भी भगवान्‌के वचनोंसे मोक्षका साक्षात् साधन सिद्ध नहीं होता। यद्यपि यह निष्काम-कर्म भी परम्परासे मोक्षका साधन तो है, परन्तु इसका फल केवल अन्तःकरणकी निर्मलता ही है, तत्पश्चात् यह उपादेय (ग्रहणयोग्य) नहीं, किन्तु हेय (त्याज्य) ही है। जैसे मलिन वस्त्रपर केसरका रंग चढ़ानेके लिये वस्त्रमें प्रथम साबुन लगाना आवश्यक है, परन्तु मलसे निर्मल होनेपर साबुन उपयोगी नहीं रहता, फिर तो वस्त्रको रंगमें डुबोना ही आवश्यक है, तब साबुन साधक नहीं, बाधक ही है। इसी प्रकार कर्तव्य-बुद्धिरूप यह निष्काम-कर्म भी परम्परारूप साधन होनेसे अन्तःकरणकी निर्मलताके बाद त्याज्य है। इसीलिये भगवान्‌ने साधनकोटिमें इसकी कोई गणना नहीं की। परन्तु ये अठारह साधन तो ज्ञानमें इनका साक्षात् उपयोग होनेसे हेय (त्याज्य) नहीं, उपादेय (ग्रहणयोग्य) ही हैं। क्योंकि निर्गुणस्वरूपका साक्षात्कार अन्त-र्मुख तीव्रण बुद्धिद्वारा निर्मल विचारके वारम्वार अभ्यासपर ही निर्भर है और वह पूर्ण निवृत्ति एवं एकान्तमें ही सम्भव है, प्रवृत्तिकी खट-पटमें कदापि नहीं। निष्काम-कर्मरूप प्रवृत्ति तब

अन्तर्मुखतामें साधक नहीं, बाधक है। परन्तु ये अठारह साधन तो अन्तर्मुखतामें बाधक नहीं, बल्कि साधक ही हैं, इसीलिये ये सब साधन तो उपादेय हैं और निष्काम-कर्म हेय। हाँ, यह बात दूसरी है कि इस रीतिसे तत्त्व-साक्षात्कार हो जानेपर तब इस तत्त्वदर्शीके लिये न 'प्रवृत्ति' प्रवृत्ति ही रहती है और न 'निवृत्ति' निवृत्ति ही। बल्कि यह तो तब प्रवृत्ति व निवृत्तिसे असंग, निष्पक्ष और सर्वसाक्षीरूपसे स्थित रहता है तथा कर्तृत्व व कर्तव्यसे सर्वथा विनिर्मुक्त हो जाता है। देहेन्द्रियादि तब भले ही अपने-अपने व्यवहारमें वर्ताव करती रहें, परन्तु यह तो अचल कूटस्थ ही रहता है। इस महापुरुषकी भावाभावरूप शारीरिक चेष्टाओंसे दूसरे अज्ञानीजन अपनी भावनाके अनुसार भले ही इसमें प्रवृत्ति-निवृत्तिकी कल्पना पड़े किया करें, परन्तु यह तो तब अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों अचल और असंगरूपसे ही स्थित रहता है। इसलिये इसके लिये न कोई साधन रहता है, न साध्य और न कोई साधक-बाधकका बन्धनही लागू हो सकता है। परन्तु तत्त्व-साक्षात्कारके पूर्व तो इस जिज्ञासुके लिये निवृत्तिरूप इन अठारह साधनोंकी उपादेयता और प्रवृत्तिरूप इस निष्काम-कर्मकी हेयता अत्यन्त आवश्यक रहती ही है। जैसे रोगमुक्त हो जानेपर पथ्यका बन्धन न रहते हुए भी रोगकी विद्यमानतामें तो उसपर पथ्यका पालन अत्यन्त आवश्यक रहता ही है।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने साधनरूप ज्ञानद्वारा ज्ञेय जो निर्गुणस्वरूप परब्रह्म, उसके स्वरूपका दिग्दर्शन श्लोक १२ से १७ तक किया, जिसका विस्तृत अर्थ इन श्लोकोंकी टीकामें भीतर ज्ञात होगा और कहा—अर्जुन! यह 'क्षेत्र' (जहाँ परब्रह्मको प्राप्त करना है), 'ज्ञान' (जिस साधनसे पाना है) तथा 'ज्ञेय' (परब्रह्म) का स्वरूप संक्षेपसे तेरे प्रति कहा गया है। आशय यह कि क्षेत्र

जड़ व विकारी है और स्वसत्ताशून्य है, केवल क्षेत्रज्ञकी सत्तासे ही यह सत्तावान् है, अपने स्वरूपसे कदाचित् न होता हुआ भी उस क्षेत्रज्ञकी सत्तासे ही यह सत् प्रतीत हो रहा है और इस क्षेत्रके सब विकार उस क्षेत्रज्ञके आश्रय प्रतीत होते हुए भी उस को इन विकारोंका कोई स्पर्श नहीं होता 'सो क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ'। ऐसा तत्त्वसे जान लेनेपर मेरा भक्त मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है (१८)। स्मरण रहे कि यहाँ भगवान्‌ने अपने स्वरूपकी प्राप्ति केवल अपने ज्ञानसे ही निरूपणकी है, न कि कर्मसे।

इसके उपरान्त 'प्रकृति' व 'पुरुष'का विवेक वर्णन किया और कहा कि प्रकृति (क्षेत्र) व पुरुष (क्षेत्रज्ञ) दोनोंको अनादि जानो, अर्थात् दोनोंके सम्बन्धसे ही संसार है। इनमेंसे जितना कुछ भी गुण व विकार है वह सब तो प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुआ जानो तथा कार्यरूप,करणरूप[1] और कर्तृत्वरूपसे जो कुछ भी देखने-जानने में आता है, उसमें हेतुरूप प्रकृति ही है। परन्तु प्रकृतिसे सम्बन्धित हो जानेसे और अज्ञान करके प्रकृतिके गुण-कर्मोंको अपनेमें मान लेनेसे 'पुरुष' प्रकृतिमें स्थित हुआ, अर्थात् प्रकृतिसे मिला हुआ प्रकृतिजन्य गुणोंका भोग करता है और इस प्रकार अज्ञान-द्वारा प्रकृतिसे मिलकर सुख-दुःखादिके भोगमें पुरुष हेतुरूप कहा गया है। वास्तवमें तो यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी आकाशवत् प्रकृति और इसके गुण-परिणामोंसे निर्लेप ही है, केवल प्रकृतिके गुण-परिणामादिका द्रष्टा होनेसे 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' आदि नामों से अभिहित किया जाता है, वस्तुतः तो यह सर्वसंग-विनिर्मुक्त ब्रह्मस्वरूप ही है। फिर इस ज्ञानका यह फल बतलाया कि जो मनुष्य

(१) जिस साधनद्वारा कार्यकी उत्पत्ति हो उसको 'करण' कहते हैं। दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व अहंकारको 'करण' कहते हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही जीवको सुख दुःखादिका भोग होता है।

इस प्रकार 'पुरुष' और गुणोंके सहित प्रकृतिको तत्त्वसे जान लेता है कि 'मैं प्रकृति व गुणोंसे सर्वथा असंग-निर्लेप हूँ' वह सब प्रकार वर्तता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता और मुक्त हो जाता है(१६-२३)।

यहाँ यह विचार कर्तव्य है कि भगवान्‌के वचनोंसे यह विषय तो स्पष्ट हो चुका है कि केवल अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही और प्रकृतिके गुण-कर्मोंको अपनेमें मान लेनेसे ही पुरुषको जन्मादिका बन्धन है और उस अज्ञान करके ही कर्म-प्रवृत्ति होती है। तब ऐसी अवस्थामें कर्मसे ही यह अज्ञान कैसे निवृत्त हो सकेगा, क्योंकि कर्म तो उस अज्ञानका फल है, फिर फल अपने मूलको कैसे उखाड़ सकता है ? किन्तु इस अज्ञानके दूर करनेके लिये तो ज्ञान ही चाहिये। यद्यपि तत्त्व-ज्ञान हो जानेपर इस ज्ञानीके देहेन्द्रियादिद्वारा स्वाभाविक कर्म होते भी हैं, तथापि देहादिमें उसका 'अहंभाव' भस्म हो जानेके कारण उसका उन कर्मोंमें कर्तृत्वभाव नहीं रहता और न कर्मोंमें सत्यता ही रहती है, बल्कि उसके सभी कर्म केवल आभासमात्र ही होते हैं। परन्तु इस 'आधुनिक-योग' में तो कर्मोंमें सत्यता पड़ी हुई है और कर्तव्य-बुद्धिद्वारा उसको अधिक दृढ़ किया जाता है, इसलिये उक्त योग अज्ञानका बाधक नहीं, साधक ही है।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने उन तत्त्वदर्शियोंके भिन्न-भिन्न व्यवहारोंका वर्णन किया, जिन्होंने अपने-आपको प्रकृति व क्षेत्रसे ज्यों-का-त्यों असंग व नित्यमुक्त जाना है। और कहा कि इनमेंसे कोई तो ध्यानादिद्वारा अपने आत्मा करके आत्माको देखते हैं, कोई निवृत्तिपरायण ज्ञानयोगमें स्थित हुए आत्म-दर्शन करते हैं और कोई प्रवृत्तिपरायण कर्मयोगमें स्थित हुए(अर्थात् कर्तृत्व व कर्तव्यसे मुक्त हुए) अपनी सब चेष्टाओंमें आत्मलीला का आनन्द लेते हैं। परन्तु उपर्युक्त ज्ञानके प्रभावसे व्यवहारों

का भेद रहते हुए भी उनके निश्चयोंमें कोई भेद नहीं होता, वे अपने स्वरूपमें कुछ बनता हुआ नहीं देखते तथा सब विधि-निषेध व ग्रहण-त्यागसे मुक्त हो जाते हैं। अन्य पुरुष जो इस प्रकार अपने आत्माको नहीं जानते हैं, उनके लिये भगवान्‌ने आज्ञा की, कि यदि वे भी श्रद्धासंयुक्त हुए अन्य तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा अपने आत्माका स्वरूप श्रवण करके स्वयं उसको उपासते हैं अर्थात् मनन करते हैं, तो वे श्रवणपरायण पुरुष भी आत्म-साक्षात्कारद्वारा मृत्युसे तर जाते हैं (२४-२५)।

अन्तमें भगवान्‌ने निष्कर्ष रूपसे वर्णन किया—भरतश्रेष्ठ! जो कुछ भी वस्तु स्थावर अथवा जंगम उत्पन्न होती है, वह तू क्षेत्र (प्रकृति) व क्षेत्रज्ञ (पुरुष)के संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान। जो पुरुष नाशवान् इन सर्वभूतोंमें अविनाशी परमात्मा(क्षेत्रज्ञ)को समानरूपसे अचल स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है। अपने आत्मस्वरूप परमात्माको सर्वत्र समानरूपसे स्थित देखता हुआ वह इस यथार्थ दृष्टिसे अपने आत्माका हनन नहीं करता, अतः वह परमगतिको प्राप्त होता है। प्रकृतिके द्वारा ही सब प्रकारसे कर्म हो रहे हैं, परन्तु उन कर्मोंमें जो अपने आत्माको अकर्तारूप से निर्विकार जानता है, वही यथार्थ ज्ञाता है। जबकि भूतोंके न्यारे-न्यारे भाव एक परमात्मामें ही स्थित देखता है और उसीसे सबका विस्तार जानता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। कौन्तेय! अनादि एवं गुणातीत होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी आकाशवत् न कुछ करता है और न लेपायमान होता है। भारत! जिस प्रकार सूर्य अखिल संसारको प्रकाश करता है, इसी प्रकार यह क्षेत्रज्ञ सर्व क्षेत्रोंको प्रकाश करता है (२६-३३)।

इस रीति से यहाँ 'क्षेत्रज्ञ' 'आत्मा' 'पुरुष' व 'परमात्मा' का अभेद निरूपण किया और जिज्ञासुको जिस निर्दिष्ट स्थान

पर पहुँचना है, दिग्दर्शनरूपसे वह भी बतलाया। अन्तमें भगवान्‌ने कहा कि जो पुरुष ज्ञानरूपी नेत्रोंसे इस प्रकार क्षेत्र व क्षेत्रज्ञके मिश्रणको हंस-वृत्तिसे क्षीर-नीर-विवेककी नाँई भिन्न-भिन्न कर लेते हैं तथा प्रकृतिके बन्धनसे अपने आत्माको मुक्त कर लेते हैं, वे ही परमपदको प्राप्त होते हैं (३४)।

इस रीतिसे इस अध्यायकी समालोचना करनेपर कर्तव्य-बुद्धिरूप आधुनिक योग न तो ज्ञानका साक्षात् साधन ही सिद्ध हुआ और न ज्ञानोत्तर ज्ञानीके लिये कर्म-प्रवृत्ति कर्तव्यरूप ही सिद्ध हुई। बल्कि ज्ञानके साक्षात् साधनोंमें इस योगको सम्मिलित न करके भगवान्‌ने इसको अन्तःकरणकी निर्मलताके उपरान्त हेयरूपसे ही संकेत किया है, जैसा युक्तिसे भी स्पष्ट हुआ है। यदि ज्ञानमें यह साक्षात् साधनरूपसे इष्ट होता तो कोई कारण नहीं हो सकता था कि भगवान् इसका किसी रूपसे निर्देश न करते। बल्कि अध्यायके अन्तमें प्रकृतिजन्य कर्तृत्वसे अपने आत्माको ज्ञानद्वारा अलग कर लेना, यही यथार्थ दृष्टि वर्णन की गई और इसीपर मोक्ष निर्भर है।

चतुर्दश अध्यायकी समालोचना

त्रयोदश अध्यायमें भगवान्‌ने अपने निर्गुणस्वरूप, अर्थात् 'पुरुष' व 'क्षेत्रज्ञ' का ज्ञान निरूपण किया और क्षेत्र व क्षेत्रज्ञके मिश्रणमेंसे ज्ञान-नेत्रोंद्वारा 'क्षेत्रज्ञ' को भिन्न कर लेनेकी आज्ञा दी। अब इस अध्यायमें प्रकृति और इसके गुणोंका विस्तार बाध (अर्थात् मिथ्यात्व-निश्चय) के निमित्त वर्णन करते हैं और कहते हैं—पार्थ! ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान मैं तुझे फिर भी कहता हूँ जिसको जानकर सब मुनिजन परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं और जिस ज्ञानको आश्रय करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए जन न तो सर्गके

आदिमें उत्पन्न होते हैं और न प्रलयमें व्याकुल ही होते हैं। प्रकृति (महद्ब्रह्म) मेरी योनि है, जिसमें मैं सत्ता-स्फूर्तिरूप अपने गर्भको धारण करता हूँ। भारत! उसीसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। सब योनियों (अर्थात् उद्भिज्जादि चारों खानियों) में जितनी भी व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उनमें प्रकृति तो गर्भ धारण करनेवाली योनि है और मैं बीजप्रदाता पिता हूँ, ऐसा जानो। आशय यह कि मुझसे भिन्न प्रकृति अपनी कोई सत्ता नहीं रखती, वह स्वसत्ताशून्य है, मेरी सत्ता-स्फूर्तिरूप बीजको धारण करके ही वह सब मूर्तियोंकी रचना करती है। प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज व तम, ये तीन ही गुण हैं जोकि शरीरमें इस अविनाशी जीवात्मा (अर्थात् 'क्षेत्रज्ञ' 'पुरुष' वा 'आत्मा') को अपने संयोगसे बाँध लेते हैं। उनमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशरूप व विक्षेप रहित है, वह सुख एवं ज्ञानकी आसक्तिसे जीवको बाँधता है। रजोगुणको चञ्चलरूप जानो, जो तृष्णाके संगको उत्पन्न करता है। वह इस जीवात्माको कर्ममें आसक्त करके बन्धन करता है। और तमोगुण सब जीवोंको मोहित करनेवाला है, उसे अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जानो, जो प्रमाद, आलस्य एवं निद्राके द्वारा जीवको बाँधता है। सत्त्वगुण सुखमें जोड़ता है, रज कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको आवरण करके प्रमादमें जोड़ता है। रज व तमको दबाकर सत्त्वगुण वृद्धिको पाता है, रज-सत्त्वको दबाकर तमोगुण और तम-सत्त्वको दबाकर रजोगुण बढ़ता है (१-१०)।

इस प्रकार तीनों गुणोंका स्वरूप व लक्षण कहा गया और फिर इनमेंसे प्रत्येकके संयोगसे मृत्युकालमें जैसी-जैसी गति, लोक एवं योनियाँ जीवको प्राप्त होती हैं तथा जीवन कालमें गुण-संयोगसे जैसे-जैसे कर्म व फल होते हैं, वे सब वर्णन किये और कहा—इस जीवात्माको जन्म-मरण, अध-ऊर्ध्व गति, कर्म और

उनके सुख-दुःखादि फल, जो कुछ भी प्राप्त होते हैं, उसके मूलमें केवल इन गुणोंको ही हेतुरूप जानो। परन्तु जब यह साक्षी-पुरुष (जीवात्मा) तत्त्वसे जान लेता है कि 'ये गुण ही कर्ता-भोक्ता हैं मैं कुछ नहीं करता, किन्तु मैं तो गुणोंसे परे तथा इनसे असंग-निर्लेप हूँ' तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। ऐसा ज्ञाता पुरुष देहकी उत्पत्तिके कारणभूत जो ये तीनों गुण हैं इनसे छूट कर जन्म-मरण, जरा-दुःखादिसे मुक्त हुआ परमानन्दका भोग करता है (१९-२०)।

यहाँ यह विचार कर्तव्य है कि जिस पुरुषने इस प्रकार गुणों एवं गुणोंके कार्य देहेन्द्रियादिसे अपने-आपको असंग, अकर्ता और साक्षीरूप जाना, वह भला अपने-आपको किसी कर्तव्यसे, जैसा आधुनिक टिकाकारोंका मत है, कैसे बन्धायमान कर सकता है? कर्तव्य तो केवल मिथ्या अज्ञान करके इन गुणों और देहादिके संगसे ही कल्पा हुआ था। यदि वह अब भी अपनेमें कर्तव्य देखता है तो मानना पड़ेगा कि वह अभी गुणोंसे अतीत नहीं हुआ है। फिर न वह अभी देहादिसे ही छूटा है और न जन्म-मरण व जरा-दुःखादिसे ही विमुक्त हुआ है। वस्तुतः गुणातीत पुरुष तो अपनी असंगताके कारण सब कर्तव्योंसे मुक्त है और देहादिद्वारा जो कुछ कर्म स्वभाविक (किसी कर्तव्यके बिना) होते हैं, उनका कर्ता नहीं, किन्तु द्रष्टा (तमाशाई) है।

इसपर अर्जुनने प्रश्न किया—प्रभो! ऐसा गुणातीत पुरुष किन लक्षणोंसे युक्त होता है, उसका आचार-व्यवहार कैसा होता है और इन तीनों गुणोंसे किस प्रकार अतीत हो सकते हैं, सो कृपा कर कहिये (२१)?

उत्तरमें भगवान्ने कहा—सत्त्वगुण प्रकाशरूप, रजोगुण प्रवृत्तिरूप एवं तमोगुण मोहरूप है। जो पुरुष अपने साक्षीस्वरूपमें

ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ इन गुणोंसे अतीत हुआ है, वह अपनी असंगता करके न तो किसी गुणके प्रवृत्त होनेपर द्वेष करता है और न इन निवृत्त हुओंकी आकाङ्क्षा ही करता है, क्योंकि वह अपनेमें इनका कोई लेप ही नहीं देखता। ऐसा पुरुष इन गुणोंसे उदासीनवत् स्थित हुआ इनसे क्षुभित नहीं होता और 'गुण ही अपने गुणराज्यमें वर्ताव कर रहे हैं, इनसे परे मुझ साक्षी-स्वरूपमें इनका कोई स्पर्श नहीं' ऐसा तत्वसे जानता हुआ वह इनसे अचल स्थित रहता है। ऐसा पुरुष गुणोंके परिणाम सुख-दुःख, सुवर्ण लोष्ठ, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान तथा शत्रु-मित्रादिकी प्राप्तिमें अपनी असंगता करके समरूपसे स्वस्थ स्थित रहता है। और 'देहेन्द्रियादि अपने-अपने धर्मोंमें वर्ताव कर रहे हैं, मैं इनसे पृथक् अकर्ता एवं द्रष्टा हूँ' इस निश्चयसे उसने सब कर्मोंका परित्याग किया है, अर्थात् करता हुआ भी कुछ नहीं करता। ऐसा पुरुष गुणातीत कहा जाता है (२२-२५)।

इस प्रकार भगवान्‌ने गुणातीत पुरुषके स्वसंवेद्य लक्षण निरूपण किये और बतलाया कि जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा करता है, वही पुरुष इन गुणोंसे छूटकर ब्रह्म-रूप होनेके योग्य है। अन्तमें कहा कि अविनाशी-अमृत, शाश्वत-धर्म (अर्थात् कदापि न बदलनेवाला) तथा अखण्ड एकरस आनन्दकी खानि ब्रह्म ही है और वह मैं ही हूँ (२६-२७)।

इस प्रकार भगवद्वचनानुसार गुण और गुणोंके परिणाम जन्म-मरण, सुख-दुःख तथा देहादिके बन्धनसे छूटनेका एकमात्र उपाय ज्ञानद्वारा आत्मस्वरूपमें स्थितिरूप योग ही सिद्ध हुआ और अव्यभिचारी भक्ति ही इस ज्ञानमें साक्षात् साधनरूपसे कथन की गई। कर्तव्य-बुद्धिरूप निष्काम कर्म न तो किसी रूपसे गुणा-तीततामें साधनरूपसे ही अङ्गीकार किया गया और न गुणातीत

पुरुषके लक्षणोंमें ही इसका कुछ पता चला। इस रीतिसे इस अध्यायकी समालोचना करनेपर 'आधुनिक योग' यहाँ भी किसी प्रकार सफल न हुआ।

पञ्चदश अध्यायकी समालोचना

कार्यको देखकर कारणका अनुमान होता है, जैसे पर्वत में धूम-दर्शनसे अग्निका अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार कार्यरूप जगत्की दृष्टिसे कारणरूप परमात्माका बोध भगवान् इस अध्यायमें करा रहे हैं और कहते हैं—यह संसार (संसरणवाला, बहनेवाला) रूपी अश्वत्थ-वृक्ष अन्य वृक्षोंके समान अधोमूल नहीं, किन्तु ऊर्ध्वमूल है। अर्थात् वह परमात्मा जो इस संसारका मूल है परात्पर व सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, इसीलिये इस संसार-वृक्षको ऊर्ध्वमूल कहा गया। जिस प्रकार पीपलके पत्ते कभी स्थिर नहीं रहते, इसी प्रकार यह संसार-वृक्ष कदाचित् स्थिर नहीं है, परन्तु अज्ञजन इसको 'अव्यय'-कहते हैं। जिस प्रकार वृक्षमें रमणीयता केवल पत्तोंसे ही है, इसी प्रकार इस वृक्षमें पर्णरूप रमणीय वेद ही हैं, क्योंकि ये अपने मूलका, जोकि शान्त व परमानन्दरूप है, पत्ता देते हैं। जिस पुरुषने इस वृक्षको ज्यों-का-त्यों जाना, अर्थात् इसके मूलको पाया, वही वस्तुतः वेदका जाननेवाला होता है। तीनों गुणों करके बढ़ी हुई और शब्द-स्पर्शादि विषयरूपी कोपलोंवाली इस वृक्षकी शाखाएँ नीचे-ऊपर चहुँ ओर फैल गई हैं और मनुष्य-योनिमें किये गये कर्मोंद्वारा इसकी जड़ें विस्तारको प्राप्त हो रही हैं। अर्थात् कर्म ही संसारका बीज है और मनुष्य-योनिमें किये हुए कर्म ही जीवको बन्धन करते हैं। परन्तु यदि विचारसे देखा जाय तो इसका रूप जैसा स्थूल दृष्टिसे देखा जा रहा है,

पाया नहीं जाता। बल्कि वस्तुतः न तो इसकी उत्पत्ति ही है, न नाश और न स्थिति ही है, केवल स्वप्न-जगत्‌के समान यह आभासमात्र ही फुर आया है। कर्मों करके दृढमूल ऐसा जो यह 'अश्वत्थ' वृक्ष है, इसको सर्वसंग-परित्यागरूप दृढ शस्त्रसे काट कर उस पदको खोजना चाहिये, जिसको पाकर फिर आवागमन नहीं होता। तथा उस आदि पुरुषकी शरणको प्राप्त होना चाहिये, जिससे यह पुरातन प्रवृत्ति विस्तृत हो रही है (१-४)।

यहाँ भगवान्‌ने यह स्पष्ट करके बतलाया है कि—

(१) यह संसार-वृक्ष जिसको अविनाशी कहा जाता है, क्षणभङ्गुर व आभासमात्र है।

(२) मनुष्य-योनिके कर्म ही इस संसारके बीज हैं। अर्थात् अन्य योनिमें किये हुए कर्म अपना फल नहीं रखते, केवल मनुष्य-योनिके कर्म ही फल देते हैं और अपने भोगके लिये जन्म-मरणरूप संसारको उत्पन्न करते हैं। फिर जीवके कर्म अनन्त हैं और उन कर्मों करके ही इस संसारकी जड़े दृढ हो गई हैं, जिसकी भोगरूप शाखाएँ देव, मनुष्य व तिर्यगादि योनियोंके रूपमें नीचे ऊपर सब ओर फैल रही हैं।

(३) चूँकि कर्म केवल अज्ञानके कारण हैं और अज्ञानद्वारा जो कुछ होता है वह भ्रममात्र ही होता है, इसलिये ज्ञानदृष्टिसे देखा जाय तो आत्मामें कर्मका कोई लेप नहीं होता, जैसे स्वप्नके व्यवहारोंका जाग्रत्-जगत्‌में कोई स्पर्श नहीं होता। अत ज्ञानदृष्टि से कर्मजन्य संसार भी आत्मामें न कुछ उत्पन्न हुआ है, न स्थित है और न इसका नाश ही है। ऐसा संसारका रूप बतलाया।

(४) जबकि 'मैं कर्मका कर्ता हूँ' इस आसक्ति करके किये गये कर्म ही इस संसार-वृक्षकी दृढमूल हैं तब इसकी जड़ काटनेके लिये सर्वसंग-परित्यागरूप दृढ अनासक्ति शस्त्र ही चाहिये।

कर्तव्य-बुद्धिरूप निष्काम-कर्म इसकी जड़ काटनेमें कुण्ठित है और न वह असंग-शस्त्र ही कहा जा सकता है, क्योंकि वह कर्तृत्वाध्यासको जो इस संसारकी मूल है, उल्टा दृढ करता है।

(५) इस प्रकार असंग-शस्त्रसे इस संसार-वृक्षकी कर्मरूपी जड़ें काटकर उस सत् परमपदको खोजनेके लिये कहा गया, जिसके आश्रय यह संसार-आडम्बर असत् हुआ भी सत् प्रतीत हो रहा है, जिससे यह अनादि प्रवृत्ति विस्तृत हो रही है और जिसमें इसका कोई लेप नहीं है। उसको प्राप्त करके ही आवागमनसे छूट सकते हैं, ऐसा भगवान्‌ने स्पष्ट करके बतलाया।

अब उस असंग-शस्त्रका स्वरूप, जिससे इस संसार-वृक्षकी कर्मरूपी जड़ें काटी जा सकती हैं और उस परमपदका अन्वेषण किया जा सकता है, भगवान् यों वर्णन करते हैं—जो मान-मोह से छूटे हुए हैं, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषोंको जीता है, जो सर्व कामनाओंसे मुक्त होकर नित्य ही आत्म-चिन्तनपरायण हैं और जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे छूटे हुए हैं, ऐसे मूढभावसे मुक्त पुरुष ही उस अव्यय पदको प्राप्त होते हैं (श्लो० ५)।

इस प्रकार 'असंग-शस्त्र' का निरूपण करके, अर्थात् आत्म-स्वरूपके ज्ञानका अधिकार वर्णन करके अब अपने स्वरूपका कथन करते हैं—सूर्यादि प्रकाश जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते, किन्तु जिससे ये स्वयं प्रकाशमान हो रहे हैं और जिसको प्राप्त करके फिर लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा परमधाम है। इस जीवलोकमें जो जीव कहलाता है, वह मेरा ही सनातन अंश है, जोकि प्रकृतिके परिणाम मनसहित छहों इन्द्रियोंको आकर्षित किये हुए है। जब यह जीवात्मा एक शरीरको प्राप्त होता है और उसको छोड़कर दूसरेको पाता है, तब इन छहों इन्द्रियोंको ग्रहण करके इसी प्रकार सूक्ष्मतासे उड़ जाता है, जैसे वायु गन्धों

को लेकर उड़ जाती है। इस प्रकार यह जीवात्मा मनके द्वारा पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंका भोग करता है। इस रीतिसे शरीरमें स्थित होकर गुणसंयुक्त हुए, विषयोंका भोग करते हुए तथा शरीरसे उत्क्रान्ति करते हुए इस जीवात्माको मूढ पुरुष नहीं देख सकते, किन्तु ज्ञान-नेत्रोंवाले ही देख सकते हैं। अर्थात् इस शरीरमें इन्द्रियादिकी स्थिति, इनका भोग, गुणोंका संयोग और इस शरीर से उत्क्रान्ति आदि जितनी कुछ चेष्टाएँ प्रकट होती हैं, वे सब इस जीवात्माकी सत्ता-स्फूर्तिसे ही होती हैं, परन्तु यह जीवात्मा इन सबसे असङ्ग और इनका तमाशाई ही होता है। यह इन सबके परिच्छेदसे रहित अपरिच्छिन्न है, केवल इनकी उपाधिसे परिच्छिन्न-सा दीख पड़ता है, परन्तु वस्तुतः इनसे निर्लेप रहता है। इस प्रकार जीवात्माका परमात्मासे अभेद करके बतलाया और कहा कि केवल इस शरीरमें ही मेरा तेज नहीं है, बल्कि सूर्यमें स्थित जो तेज अखिल जगत्को प्रकाश कर रहा है तथा चन्द्रमा अग्नि आदिमें जो तेज है, वह सब मेरा ही जानो। इतना ही नहीं, बल्कि पृथ्वीमें स्थित होकर मैं ही अपने ओजसे सब भूतोंको धारण कर रहा हूँ, चन्द्रमामें स्थित होकर सब ओषधियोंको पुष्ट करता हूँ, प्राणियोंके शरीरमें वैश्वानर अग्नि होकर मैं ही सब अन्नोंको पकाता हूँ, सबके हृदयोंमें स्थित होकर स्मृति व अनुभवादि ज्ञानोंको प्रकाश करता हूँ और वेदोंद्वारा जो जाननेमें आता है, वह सब मैं ही हूँ (६-१५)।

इस प्रकार भगवान्ने अपनी सर्वरूपताका वर्णन किया और कहा—इस संसारमें दो ही पुरुष (वस्तु) हैं, एक तो क्षररूप सर्वभूत जो प्रत्यक्ष नाशको प्राप्त होते दीख पड़ते हैं और दूसरा अक्षररूप माया (अर्थात् अव्यक्त, प्रकृति)। परन्तु इन दोनोंसे जो उत्तम है वह पुरुषोत्तमरूप मैं ही हूँ, जो तीनों लोकोंमें स्थित ,

होकर इन क्षर व अक्षरादि सबको धारण-पोषण करता हूँ। जो तत्त्ववेत्ता इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तमको जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष अपने सब भावोंसे मुझे ही भजता है, अर्थात् अपनी सब चेष्टाओंमें मेरा ही दर्शन करता है। अन्तमें भगवान्‌ने कहा कि हे निष्पाप! यह गुह्यतम शास्त्र तेरे प्रति कहा गया है इसको तत्त्वसे जानकर कृतकृत्य हो। अर्थात् इसके सम्यक् ज्ञान पर ही यह कृतकृत्यता निर्भर है, कर्मोंद्वारा इस कृतकृत्यताको किसी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता (१६-२०)।

इस प्रकार इस अध्यायकी समालोचनासे यह सर्वथा स्पष्ट है कि भगवत्-प्राप्ति और जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्तिका एक-मात्र साधन केवल ज्ञान ही है और वह श्लोक ५ में कहे हुए मान, मोह, आसक्ति एवं कामनादि द्वन्द्वोंसे छूटकर और आत्म-परायण होकर ही सम्पादन किया जा सकता है। साक्षात् कर्मका इसमें किसी प्रकार उपयोग नहीं, बल्कि यह तो अनर्थ-रूप संसारके मूलको दृढ करनेवाला ही है।

षोडश अध्यायकी समालोचना

गीता-ज्ञान पन्द्रहवें अध्यायमें समाप्त हो चुका और कुछ ज्ञान कहनेको शेष नहीं रहा। अब इस अध्यायमें उपर्युक्त ज्ञानमें साधकरूप दैवी सम्पत्ति सम्पादन करनेके लिये तथा बाधकरूप आसुरी सम्पत्ति त्याग करनेके लिये भगवान् वर्णन करते हैं। प्रथम दैवी सम्पत्तिका श्लोक १ से ३ तक यों वर्णन किया—

निर्भयता, अन्तःकरणकी निर्मलता, ज्ञान-योगमें दृढ स्थिति, इन्द्रियोंका दमन, दान, यज्ञ, तप, स्वाध्याय, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्यागभाव, शान्ति, निन्दाका त्याग, सर्व भूतोंमें

दया, कोमलता, लज्जा, चपलताका त्याग, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, द्रोहका त्याग तथा अपना मान न चाहना—ये सब दैवी सम्पदामें उत्पन्न हुए पुरुषोंके लक्षण हैं। इसके विपरीत आसुरी सम्पदामें उत्पन्न हुए पुरुषोंमें पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान, सामान्यतया ऐसे लक्षण पाये जाते हैं। फिर बतलाया कि दैवी सम्पद् मोक्षमें हेतु होती है और आसुरी सम्पद् बन्धन के लिये है (४-५)। इसके उपरान्त आसुरी सम्पदाका विस्तार से वर्णन किया और कहा—जो ऐसे द्वेषी, क्रूर व अधम आसुरी सम्पदावान् हैं, उनको मैं आसुरी योनियोंमें ही डालता रहता हूँ। वे मूढ जन्म-जन्मान्तरमें भी मुझे न पाकर आसुरी योनियों को ही प्राप्त होकर नीच गतिको पाते हैं (६-२०)। फिर अपने आत्मका नाश करनेवाले काम, क्रोध एवं लोभ ये तीन नरक-द्वार बतलाये और कहा—इन तीनों नरक-द्वारोंसे छूटकर जो पुरुष अपने आत्म-कल्याणके निमित्त शुभाचरण करता है, उसीको परम गति प्राप्त होती है। इसके विपरीत जो पुरुष शास्त्र-विधि को त्यागकर अपनी इच्छानुसार बर्तता है, उसको न यहाँ सुख मिलता है, न परलोककी सिद्धि मिलती है और न वह परम गतिको ही पाता है। अन्तमें कहा, अर्जुन ! कर्तव्य व अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण है, इसलिये शास्त्र-विधानको जानकर ही तुम्हारे लिये कर्म करना योग्य है (२१-२४)।

इस प्रकार इस अध्यायमें ज्ञानमें साधक दैवी सम्पत्ति तथा बाधक आसुरी सम्पत्तिका वर्णन हुआ और दैवी सम्पदाके उपार्जनके निमित्त शुभाचरणमें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा दी गई। शुभाचरणमें कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है ? ऐसी व्यवस्था प्राप्त होनेपर शास्त्रको प्रमाणभूत बतलाया। कर्मको मोक्षमें न

साक्षात् हेतुरूपसे ही निरूपण किया गया, न ज्ञानीपर कर्मकी कर्तव्यता ही रक्खी गई और न दैवी सम्पदामें ही आधुनिक योगकी गणना की गई। बल्कि 'ज्ञान-योग' और 'त्याग' ही दैवी सम्पदामें मुख्यरूपसे गणना किये गये, क्योंकि केवल शारीरिक, आर्थिक व मानसिक त्यागद्वारा ही अन्य सर्व दैवी सम्पदाके अंग सम्पादन हो सकते हैं।

सप्तदश अध्यायकी समालोचना

षोडश अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने दैवी-सम्पद्‌के उपार्जनके निमित्त शास्त्र-विधिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। इसपर इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया—भगवन्! जिन पुरुषोंने शास्त्र-विधिका तो त्याग किया है, परन्तु जो श्रद्धासंयुक्त पूजन करते हैं, उनकी निष्ठा अर्थात् निश्चय कैसा माना जाय, सात्त्विकी कहा जाय, अथवा राजसी या तामसी (१)? इसपर भगवान्‌ने उत्तर दिया—महाबाहो! शरीरधारियोंकी श्रद्धा स्वभावसे ही तीन प्रकारकी होती है, सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी। अब इनके भेद श्रवण करो। जबकि प्रकृति त्रिगुणमयी है और सब शरीरधारी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए हैं, तब जिसका अन्तःकरण जिस गुणकी प्रधानतासे रचा गया है, उस गुणप्रधान अन्तःकरणके अनुरूप ही उसकी श्रद्धा भी वैसे ही गुणवाली होनी चाहिये। क्योंकि श्रद्धा अन्तःकरणका धर्म है और श्रद्धामय ही यह पुरुष है, फिर जैसी जिसकी श्रद्धा अर्थात् विश्वास होता है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है और उसका सम्पूर्ण व्यवहार उस श्रद्धा के अनुसार ही होता है। इस नियमके अनुसार सात्त्विकी श्रद्धावान् देवताओंको, राजसी यक्ष-राक्षसोंको तथा तामसी

भूत-प्रेतगणोंको पूजते हैं। शास्त्रविधिके विपरीत जो मनुष्य घोर तपोंको तपते हैं, दम्भ व अहंकारसे संयुक्त हैं तथा काम एवं रागसे भरपूर हैं, ऐसे मूढ पुरुष शरीरमें स्थित भूतसमुदायों (अर्थात् आकाशादि पञ्च भूतोंके कार्यरूप देहेन्द्रियादि) और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको वृथा ही कृश करते हैं अर्थात् सुखाते हैं, उन अज्ञानियोंको तुम निश्चयसे असुर जानो। क्योंकि शास्त्र-विधिशून्य होनेसे इसका कोई फल नहीं होता, केवल अभिमानकी वृद्धि ही होती है (२-६)।

इस प्रकार शास्त्र-विपरीत आचरणकी निन्दा की और तीन प्रकारकी श्रद्धा बतलाकर कहा कि जिस गुणप्रधान अन्त.करणके अनुरूप मनुष्यकी जिस गुणमयी श्रद्धा होती है उसका आहार, यज्ञ, तप तथा दानादि सब व्यवहार उस गुणके अनुरूप ही होता है। इस नियमके अनुसार त्रिगुणमयी श्रद्धाके अनुरूप सात्त्विक, राजस व तामस तीन प्रकारका आहार श्लोक ८ से १० तक और तीन प्रकारका यज्ञ श्लोक ११ से १३ तक वर्णन किया। फिर शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीन प्रकारका तप बतलाया और त्रिगुण भेदसे उनके तीन भेद किये तथा श्रद्धाभेद से तीन प्रकारका दान निरूपण किया (१४-२२)।

तदनन्तर सारभूतसे शास्त्र-विधिका निर्देश करते हुए कहा कि ॐ, तत्, सत्, इन तीन नामोंसे निर्मायिक ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश किया जाता है। अर्थात् वह ब्रह्म नाम-रूपवाला न होते हुए भी भावुकमें भावनाकी स्फूर्ति करनेके लिये इन तीन नामोंसे उस ब्रह्मकी संज्ञा की गई है। इसलिये सृष्टि-कालमें ब्राह्मण (अध्यात्म), वेद (अधिदेव) एवं यज्ञ (अधिभूत), इसी नाम-निर्देशसे रचे गये हैं। अत शास्त्रमें विधान की हुई यज्ञ, दान व तपरूप क्रियाओंमें वेदवेत्ता पुरुष सदा ही 'ॐ' ऐसा परमात्माका

नाम उच्चारण करके प्रवृत्त होते हैं। 'तत्' इस नाम-निर्देशसे मोक्षार्थी पुरुष फलकी कामना त्यागकर यज्ञ, तप व दानादि विविध क्रियाओंको करते हैं। सद्भाव तथा श्रेष्ठ भावोंमें 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है एवं प्रशंसनीय कर्मोंमें भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है। यज्ञ, तप व दानमें मनुष्यकी स्थिति भी 'सत्' कही जाती है तथा ईश्वरार्पण कर्म भी 'सत्' हैं, ऐसा माना जाता है। अर्थात् सत्स्वरूप परमात्मासे जिनका सम्बन्ध है वे सब चेष्टाएँ 'सत्' कही जाती हैं, क्योंकि वे सत्की ओर कर्ताको लेजानेवाली हैं (२३-२७)।

इस प्रकार 'ॐ,' 'तत्,' 'सत्,' ऐसे निर्गुणिक ब्रह्मके त्रिनाम-निर्देशकी व्याख्या की गई और इन त्रिनामोंके प्रयोगपूर्वक यज्ञ, तप व दानादिमें ब्रह्मार्पण भावसे प्रवृत्तिको ही शास्त्र-विधिका सार कथन किया गया। और अन्तमें कहा कि श्रद्धाविहीन अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धाके बिना जो कुछ भी यज्ञ, दान व तप किया जाता है, अथवा और जो कुछ कर्म किया जाता है, अशास्त्रीय होनेके कारण वह सब असत् है, उसका फल न यहाँ है न वहाँ (२८)।

इस रीतिसे इस अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नपर अशास्त्रीय तपादिका स्वरूप व फल वर्णन किया गया और त्रिविध श्रद्धाका स्वरूप, भेद व फल कथन किया गया। इस प्रकार दैवी-सम्पदामें उपयोगी शास्त्र-विधिका स्वरूप व सार कथन करके और अशास्त्रीय श्रद्धाविहीन तपादिकी निन्दा करते हुए इस अध्यायकी समाप्ति की गई।

निष्काम-कर्म मोक्षका साक्षात् साधन है, अथवा ज्ञानोत्तर कर्मकी कर्तव्यता है, ऐसा निरूपण इस अध्यायमें भी कहीं नहीं पाया गया। यद्यपि निष्काम यज्ञ, दान व तपादिका वर्णन इस अध्यायमें किया गया है, परन्तु उनका साक्षात् फल शास्त्र-विधि

के पालनद्वारा दैवी-सम्पदोपार्जन ही है, इसका साक्षात् फल मोक्ष नहीं, जैसा अध्याय १६ व १७ की श्लोकबद्ध संगतिसे स्पष्ट है।

अष्टादश अध्यायकी समालोचना

यह अध्याय सम्पूर्ण गीताका उपसंहाररूप है, इसलिये इसमें सम्पूर्ण गीताका विषय साररूपसे आ जाता है। अध्यायके आरंभ में अर्जुनने प्रश्न किया—महाबाहो ! मैं 'संन्यास' तथा 'त्याग' के तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ (१)। इस पर श्रीभगवान्ने कहा कि इस विषयमें भिन्न-भिन्न मत हैं—

(१) कोई पण्डित तो ऐसा कहते हैं कि काम्य-कर्मोंका स्वरूपसे त्याग ही 'संन्यास' है।

(२) कितने ही विचक्षण ऐसा कहते हैं कि कर्मोंका त्याग न करके फलका त्याग करना ही 'त्याग' है।

(३) कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्म अपने स्वरूपसेही दोषयुक्त है, इसलिये सभी कर्म त्यागनेयोग्य हैं।

(४) कई ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं (२-३)।

फिर कहा—इस विषयमें जो हमारा मत है वह तुम श्रवण करो, त्याग तीन प्रकारका माना गया है, ('त्याग' व 'संन्यास' भगवान्को एक ही वस्तु मान्य है, भिन्न-भिन्न नहीं, क्योंकि इन दोनों शब्दोंको वे यहाँ पर्यायसे कथन करते आ रहे हैं)। यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्म त्यागना नहीं चाहिये, किन्तु उनको तो करना ही चाहिये, क्योंकि वे मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं। इन कर्मों को फल व आसक्तिका त्याग करके आचरण करना योग्य है,

यही हमारा निश्चित मत है। क्योंकि नियमित कर्मका त्याग नहीं हुआ करता. यदि अज्ञानसे निरर्थक जानकर इनको त्याग दिया जाय तो यह 'तामसिक त्याग' होगा। यदि दुःख मानकर काय-क्लेशके भयसे इनका त्याग किया जाय तो ऐसा त्याग भी 'राजसिक त्याग' होगा, जोकि त्यागका फल नहीं रखता। इसलिये अर्जुन! फल व आसक्तिका त्याग करके नियत कर्म करना योग्य है, ऐसा त्याग ही 'सात्त्विक त्याग' माना गया है (४-६)।

इस प्रकार उन लोगोंके मतोंको सम्मुख रखकर जो काम्य कर्मोंका त्याग ही 'संन्यास' मानते हैं, अथवा कर्मोंको दोषवत् जान स्वरूपसे सर्वकर्म-त्यागको ही 'त्याग' कहते हैं, उन दोनोंकी अपेक्षाकृत् भगवान्‌का यह मत है कि फल व आसक्तिको त्याग कर नियत कर्मोंको कर्तव्य-बुद्धिसे आचरणमें लाना ही सात्त्विक त्याग है। इससे विपरीत काय-क्लेशके भयसे कर्मको छोड़ बैठना, अथवा मोहके कारण कर्मको निरर्थक जान त्याग बैठना यथार्थ त्याग नहीं, किन्तु ऐसा त्याग राजसिक व तामसिक ही होगा, जो त्यागका फल नहीं रखता। क्योंकि सात्त्विक त्यागका फल अन्तः-करणकी शुद्धि है, इसके बिना ही कर्मको त्याग बैठना तो ऐसा ही है, जैसे मलिन वस्त्रको साबुन दिये बिना ही छोड़ दिया जाय। ऐसी अवस्थामें इसपर कोई रंग कैसे चढ़ाया जा सकता है? और अन्तःकरणरूपी वस्त्रपर ज्ञानरूपी रंग चढ़ाये बिना निर्वाह है नहीं, इसलिये राजसिक व तामसिक कर्मत्यागका अनादर करके सात्त्विक त्यागको ही भगवान्‌ने आदर दिया। परन्तु इतनेपर ही उनको सन्तोष नहीं है और तत्काल ही अपने लक्ष्यकी ओर मुड़ कर वे अगले ही श्लोकमें कहते हैं—भारत! जो देहातीत होकर सत्त्वस्वरूप अपने परमात्मामें समावेश पा गया है, अर्थात् अभेद हो गया है, जिसके 'अहंकर्ता' व 'कर्तव्यादि' सर्व संशय निवृत्त

हो गये हैं, ऐसा मेधावी तत्ववेत्ता पुरुष तो न अकल्याणकारी कर्मोंमें द्वेष करता है और न कल्याणकारी कर्मोंमें आसक्त ही होता है। क्योंकि सर्वात्म-दृष्टि करके उसकी शुभाशुभरूप भेद-दृष्टि निवृत्त हो गई है और वही सर्वत्यागी है (१०)। परन्तु जिसका देहमें अहं-अभिमान है और कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धि विद्यमान है, ऐसे देहधारीके द्वारा तो अशेषत: कर्मोंका त्याग सम्भव है ही नहीं। क्योंकि देहाभिमानद्वारा प्रथम तो निःशेष कर्म-त्याग हो नहीं सकता, अहंकार करके देहेन्द्रियादिकी चेष्टाओंका त्याग किया भी गया तो मनका व्यापार चालू रहेगा, जो अपना फल रखता है। दूसरे, निष्काम-कर्मद्वारा जो अन्त:करणरूपी वस्त्रको निर्मल करना था वह उससे वञ्चित रह जाता है, इसलिये देहाभिमान रहते हुए तो जो कर्म-फल-त्यागी है, वही त्यागी मानना चाहिये (११)। इस प्रकार कर्मके तीन प्रकारके फल अनिष्ट[1], इष्ट,[2] व मिश्र[3] उनके लिये हैं, जिनका सर्वत्याग सिद्ध नहीं हुआ, अर्थात् जो कर्ता व कर्तव्यादिसे नहीं छूटे। परन्तु उन सर्वत्यागी संन्यासियोंके लिये, जो देहातीत पदको प्राप्त हुए हैं और तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा कर्ता व कर्तव्यादिसे मुक्त हुए हैं, कदाचित् कोई फल नहीं है (१२)।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने बतलाया कि शरीर, मन व वाणीसे विधि अथवा निषेधरूप जो भी कर्म मनुष्य आरम्भ करता है, उसकी सिद्धिमें ये पाँच कारण वेदान्त-सिद्धान्तमें कहे गये हैं—

(१) शरीर, जिसमें कर्मरूप व्यापार होता है।

(२) परिच्छिन्न-अहंकार, जो कर्तृत्वका अभिमानी है।

१. नरकादि एवं पशु, पक्षी, कीटादि योनिकी प्राप्ति 'अनिष्ट फल' है।

२. स्वर्गादि उत्तम लोकोंकी प्राप्ति 'इष्ट फल' कहाता है।

३. मनुष्यादि योनिकी प्राप्ति 'मिश्र फल' कहा जाता है।

(३) इन्द्रियादि भिन्न-भिन्न करण, जिनके द्वारा कर्मरूप व्यापार होता है।

(४) प्राणापानादिकी भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ, जिनकी सत्तासे शरीर-इन्द्रियादिमें क्रिया उत्पन्न होती है।

(५) दैव, अर्थात् मन-इन्द्रियादिकी सञ्चालक भिन्न-भिन्न अधिदेव शक्तियाँ, जिनके द्वारा मन-इन्द्रियादिके सञ्चालनमें सहायता होती है, जैसे चक्षुका अधिदेव सूर्य और श्रोत्रका अधिदेव दिशाएँ हैं इत्यादि।

इस प्रकार शरीर, मन व वाणीके द्वारा मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, चाहे वह न्यायरूप है वा अन्यायरूप, उसकी सिद्धि में ये पाँच ही हेतु हो सकते हैं (१३-१५)। इस प्रकार कर्मके ये पाँच प्रत्यक्ष कारण होते हुए भी, असंस्कृत-बुद्धिके कारण जो पुरुष केवल अपने आत्माको ही कर्ता देखता है, वह दुर्मति यथार्थ देखनेवाला नहीं है। आशय यह कि कर्मके कर्ता वस्तुतः हैं तो उपर्युक्त पाँच कारण, परन्तु अज्ञान करके कर्ता मान बैठता है अपने आत्माको, कि 'मैं कर्ता हूँ' यह अज्ञान ही जीवका बन्धन है। इसके विपरीत तत्त्व-ज्ञानद्वारा अपने साक्षीस्वरूप आत्मा में स्थित होकर जिसका 'अहंकर्ता' भाव नहीं रहा और कर्तृत्व-भावसे जिसकी बुद्धि कर्मोंमें लेपायमान नहीं होती, ऐसा पुरुष तो सारे संसारको मारकर भी नहीं मारता और उन कर्मोंके द्वारा बन्धायमान नहीं होता। क्योंकि कर्मके जो उपर्युक्त पाँच दृष्ट कारण हैं, उनमें उसका अहंभाव निवृत्त हो गया है और अब वह उनकी क्रियाओंका कर्ता नहीं रहता, किन्तु अपने साक्षीस्वरूपमें स्थित होकर अब वह उनकी क्रियाओंका द्रष्टा ही होता है। और यह स्पष्ट है कि द्रष्टा-तमाशाई किसी दूसरोंकी क्रियाओंका ज़ुम्मेवार नहीं होता, ज़ुम्मेवार तो वही होता है जो कर्ता होता है(१६-१७)

उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे यह बात स्पष्ट है कि जैसा श्लोक १२ में कथन कर आये हैं, कर्मके त्रिविध फल अनिष्ट, इष्ट व मिश्र से यह द्रष्टा-साक्षी ही मुक्त है । यही सर्वत्यागी है और यही संन्यासी है। इस तत्त्वज्ञानके प्रभावसे देहादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी यही यथार्थ अकर्ता है। इसके विपरीत वह सात्त्विक-त्यागी (श्लोक ९ उक्त) जो कर्तव्य-बुद्धिसे कर्ममें प्रवृत्त हो रहा है और कर्म-फल-त्यागका कर्ता है, न सर्वत्यागी है और न त्रिविध फलसे मुक्त ही हो सकता है; किन्तु अनिष्ट व मिश्र फलसे छूट कर वह इष्ट फलका अवश्य भागी होता है (देखो प्रस्तावना ९० से ९९)। इस प्रकार भगवान्‌ने त्याग व संन्यासके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मतोंका निरूपण करके, जो स्वरूपसे सब कर्मोंके त्याग को ही संन्यास मानते हैं, अथवा जो काम्य कर्मके त्यागको ही संन्यास कहते हैं, उनका अनादर किया। इन दोनोंकी अपेक्षा जो आसक्ति व फल त्यागकर कर्तव्य-बुद्धिसे कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, उनको ही सात्त्विक-त्यागी बतलाया। इससे भी अधिक उन गुणातीतोंको आदर दिया, जो कर्तृत्व-भावसे मुक्त हुए केवल साक्षीरूपसे कर्मोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं, यथार्थ रूपसे वे ही क्या सञ्चित और क्या क्रियमाण सब कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हैं। भगवद्-दृष्टिसे वे ही यथार्थ संन्यासी मान्य हैं और यही वस्तुत 'कर्म-संन्यास' है।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने बतलाया कि ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय, ये तीन तो कर्ममें प्रेरक हैं, अर्थात् इन तीनोंके सम्बन्धसे ही कर्म-प्रवृत्तिकी इच्छा उत्पन्न होती है। और कर्ता, कर्म व करण, इन तीनोंके सम्बन्धसे कर्म बनता है, इसलिये ये तीनों कर्मकी संग्रहरूप सामग्री हैं (१८)। फिर गुण-भेदसे तीन प्रकारका ज्ञान श्लो० २० से २२ में, त्रिविध कर्मके लक्षण श्लोक २३ से २५

में और त्रिविध कर्ताके लक्षण श्लो० २६ से २८ में निरूपण किये। फिर त्रिविध बुद्धि व धृतिके लक्षण श्लो० २९ से ३५ में, त्रिविध सुखके लक्षण श्लो० ३६ से ३९ में वर्णन किये और बतलाया कि जबकि सकल संसार प्रकृतिका ही पसारा है, तब पृथ्वी, स्वर्ग, अथवा देवताओंमें ऐसी कोई जड़ या चेतन वस्तु नहीं हो सकती, जो इन तीनों गुणोंसे रहित हो। इसी नियमके अनुसार त्रिगुण-भेदसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र, इन चारोंके धर्म व कर्मोंका वर्णन श्लो० ४० से ४४ में किया गया।

उसके उपरान्त भगवान्‌ने आज्ञा की—अपने-अपने अधिकारानुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष संसिद्धिको प्राप्त होता है। अर्थात् जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी प्रवृत्ति हुई है और जिससे सर्व संसारकी रचना हुई है, उस परमात्माको अपने-अपने अधिकारके कर्मोंद्वारा निष्काम-भावसे पूजकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। इसलिये अपना गुणरहित भी स्वधर्म दूसरेके धर्मसे श्रेष्ठ है, क्योंकि प्राकृतरूपसे नियत कर्म करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार स्वाभाविक कर्म चाहे दोषयुक्त भी हो फिर भी उसका परित्याग न करे, क्योंकि यों तो सभी कर्म स्वभाविक धूमसे अग्निके समान दोषयुक्त ही हैं। जिस प्रकार धूमकी निवृत्तिसे निर्धूम अग्नि प्राप्ति की जा सकती है, धूमके बिना तो निर्धूम अग्निकी प्राप्ति असम्भव ही है, इसी प्रकार अन्तःकरण स्वाभाविक कर्मोंद्वारा दोषोंसे निर्दोष किया जा सकता है। अर्थात् जिस प्रकार फोड़ेमेंसे पीप निकालकर ही फोड़ेको रोगमुक्त किया जा सकता है, इसी प्रकार अन्तःकरणमेंसे स्वाभाविक कर्मोंद्वारा रजोगुणी पीप निकालकर ही अन्तःकरणको शुद्ध किया जा सकता है। इस रीतिसे पुरुष सहज (स्वाभाविक) कर्मको आचरणमें लाता हुआ निष्काम-कर्मद्वारा

अन्तःकरणके निर्मल होनेपर सर्वत्र आसक्ति व स्पृहासे छूटकर तथा मनको जीतकर कर्तृत्व-संन्यासद्वारा नैष्कर्म्यरूप परा सिद्धि को प्राप्त हो जाता है (४५-४९)। आशय यह कि प्रकृतिके प्रवाह में पड़ा हुआ यह जीव कम-से-कम अपने स्वधर्मरूप दोषयुक्त कर्मोंको आचरणमें लाता हुआ भी, क्रम-क्रमसे ऊँचा उठता हुआ अनासक्त व जितात्मा हुआ अपने साक्षीस्वरूपमें स्थित होकर कर्तृत्व-भावसे मुक्त हुआ, उस नैष्कर्म्यरूप परा सिद्धिको प्राप्त हो जाता है, जहाँ सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता ही रहता है।

इसके उपरान्त भगवान्ने कहा—इस सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार ब्रह्मको पा लेता है, वह ज्ञानकी परा निष्ठा मैं तुझे संक्षेपसे बतलाता हूँ, तू श्रवण कर। विशुद्ध बुद्धिसे युक्त हुआ, धृतिके द्वारा अपने मनको रोककर, शब्द-स्पर्शादि विषयों को त्यागकर तथा राग-द्वेषको उखाड़कर एकान्त देशको सेवन करनेवाला, मिताहारी (हल्का व अल्प आहार करनेवाला), शरीर, मन व वाणीको जीता हुआ, नित्य ही ध्यान-योगके परायण हुआ, वैराग्यका भली भाँति आश्रय किये हुए तथा अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध, परिग्रह एवं ममतासे छूटा हुआ शान्तचित्त पुरुष ब्रह्मस्वरूपमें अभेद पानेके योग्य होता है। ऐसा प्रसन्नचित्त पुरुष ब्रह्मस्वरूपमें अभेद हुआ न कुछ सोचता है, न कुछ इच्छा करता है, बल्कि सर्व भूतोंमें समत्व-भावसे स्थिति-रूप मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस परा भक्तिद्वारा वह मुझको जो कुछ मैं हूँ और जैसा हूँ वैसा तत्त्वसे जान लेता है और मुझको तत्त्वसे जान लेनेपर मेरेमें ही प्रवेश कर जाता है। फिर वह पुरुष सदा सब कर्मोंको करता हुआ भी मेरे परायण हुआ मेरे प्रसादसे शाश्वत अविनाशी पदको ही पा जाता है और कर्म-बन्धनमें नहीं आता। इसलिये धनञ्जय! चित्तसे सब

कर्मोंका सुभक साक्षीस्वरूपमें संन्यास करके बुद्धि-योगके आश्रय से मेरे परायण हुआ इस विचारकी दृढतासे कि 'मैं न देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादि हूँ और न इनके व्यापारोंका कर्ता हूँ, किन्तु केवल इनका द्रष्टा-साक्षी हूँ' मुझमें निरन्तर अभिन्नरूपसे मच्चित हुआ स्थित हो। इस प्रकार मच्चित हो जानेपर मुझमें अभेदरूप से स्थितिरूप मेरे प्रसादसे तू सभी सङ्कटोंसे तर जायगा। यदि तू अहंकार करके मेरे वचनोंको श्रवण न करेगा तो नष्ट हो जायगा। आशय यह कि जबतक मुझसे भेदभाव बना हुआ है और कर्तृत्व व कर्तव्य है, तबतक सभी सङ्कट इसके साथ लगे हुए हैं। परन्तु तत्त्वज्ञानद्वारा मुझमें अभेदरूपसे स्थिति पा जाने पर तथा कर्तृत्व व कर्तव्यके बन्धनसे मुक्त होनेपर सभी सङ्कटों की इतिश्री हो जाती है (५०-५८)। फिर कहा—

इसके विपरीत यदि अहंकारके वशीभूत हुआ तू ऐसा मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो यह तेरा मिथ्या ही निश्चय है, क्योंकि तेरी क्षात्र-प्रकृति बलात् तुझको युद्धमें जोड़ देगी। इसलिये कौन्तेय! स्वभावजन्य अपने कर्मोंसे बँधा हुआ मोहवशात् जो तू न करनेकी इच्छा करता है, वह तुझे वरबश करना ही पड़ेगा (५९-६०)। आशय यह कि प्रकृति बलवान् है, प्राकृतिक प्रवाहके विरुद्ध चलना असम्भव है और ऐसा आग्रह करना मिथ्या अहंकार है। इसलिये मनुष्यका कर्तव्य यही है कि प्रकृतिविरुद्ध चेष्टाओंका परित्याग करके, अपनी प्रकृतिके अनुसार वर्तता हुआ, तत्त्वज्ञानद्वारा अपने साक्षीस्वरूपमें स्थित होकर अपने आत्माको प्रकृतिसे पृथक् कर ले। और इसी प्रकार प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त हो जाय, जैसे नदीके प्रवाहको बहनेका मार्ग देकर उसपर पुल बाँधा जा सकता है और नदी पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रकृतिके

अनुसार वर्ताव करता हुआ मनुष्य तत्त्वज्ञानद्वारा प्रकृतिसे अपने आत्माको भिन्न कर लेनेपर प्रकृतिपर अधिकार प्राप्त कर सकता है और प्रकृतिसे स्वतन्त्र हो सकता है। इसी नियमके अनुसार अर्जुन ! ईश्वर सर्वभूतोंके हृदय-देशमें ही विराजमान है और अपने मायारूपी यन्त्रपर आरूढ हुए सब जीवोंको केवल अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे घुमा रहा है। अर्थात् स्वयं कुछ न करता हुआ अपनी सन्निधिमात्रसे मायामें बँधे हुए सब जीवोंको उनके कर्मानुसार भ्रमा रहा है। इसलिये भारत ! तुम अपने सब भावोंसे उसीकी शरणको प्राप्त हो, अर्थात् तत्त्वज्ञानद्वारा अपने कर्तृत्व-भावको खोकर उस साक्षीस्वरूपमें अभेद प्राप्त करो। उससे अभेद प्राप्त करके ही उसके प्रसादसे तुम परम शान्ति एवं शाश्वत पदको प्राप्त हो सकोगे (६१, ६२)। फिर बोले—

अर्जुन ! यह गुह्य-से-गुह्य ज्ञान तेरे प्रति कहा गया और फिर भी मेरे गुह्यतम वचनोंको श्रवण कर, क्योंकि तू मेरा परम प्रिय है इसलिये मैं तेरे हितके लिये कथन करता हूँ। भारत ! तेरा मन मननभावको छोड़कर मेरेमें ही तदाकार हो जाना चाहिये, इस उद्देश्यसे तू मेरा ही भक्त हो, ज्ञानद्वारा मेरा ही यजन कर और मुझे ही नमस्कार कर। इस प्रकार आपा खोकर तू मुझे ही प्राप्त हो जायगा, यह मैं तेरे प्रति सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ। इसलिये तू सब संसारी धर्मोंको परित्याग करके (जिन भीष्म-द्रोणादिके मिथ्या सम्बन्धको मानकर अर्जुनके मनमें युद्धसे ग्लानि हो रही थी, उन धर्मोंको संकेत करके कह रहे हैं) केवल मेरी शरणमें आ जा, अर्थात् अपने कर्तापनको खोकर मुझ साक्षीस्वरूपमें अभेद प्राप्त कर, ऐसा होनेपर मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ा लूँगा, कोई चिन्ता मत कर। आशय यह कि सब पापोंकी मूल यह कर्तृत्वाध्यास ही है, अपने आत्मस्वरूपको

विस्मरण कर जब यह जीव देहादिके बन्धनमें आता है, तब कर्तव्य धारकर इनकी चेष्टाओंका कर्ता बनता है और उन कर्मोंके फल-भोगके लिये देहादिके बन्धनमें आना पड़ता है। परन्तु तत्त्वज्ञान-द्वारा अपने आत्मस्वरूपमें स्थित होकर जब यह देहादिसे अपने-आपको ज्यों-का-त्यों पृथक् कर ले और कर्तृत्व-भावसे मुक्त होकर देहादिके व्यापारोंका केवल द्रष्टा-साक्षी बन जाय, तब यह सब पापोंसे स्वप्नसे जागेके समान तत्काल मुक्त हो जाता है। यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है और यहीं ज्ञान व कर्मकी संगति है (६३-६६)।

इसके उपरान्त श्लो० ६७ से ७१ तक भगवान्ने गीताका माहात्म्य वर्णन किया और अर्जुनसे पूछा कि क्या तुमने इस ज्ञानको एकाग्र चित्तसे श्रवण किया और क्या तुम्हारा अज्ञान-जन्य मोह नष्ट हुआ? इसपर अर्जुनने उत्तर दिया कि वस्तुतः मेरा मोह निवृत्त हो गया है, मुझे अपने स्वरूपकी स्मृति प्राप्त हुई है, मैं गतसन्देह हुआ हूँ और अब मैं आपके वचनोंका पालन करूँगा। इसके पश्चात् सञ्जयने धृतराष्ट्रके प्रति कृष्णार्जुन-संवाद की महिमा और भगवान्के विराट् स्वरूपकी विस्मयता कथन करके गीताकी समाप्ति की (७२-७७)।

इस प्रकार इस अध्यायमें अर्जुनके द्वारा त्याग व संन्यासका तत्त्व भिन्न-भिन्न पूछा जानेपर भगवान्ने त्याग व संन्यासकी एकता ग्रहण करते हुए संन्यासके विषयमें भिन्न-भिन्न मतोंका निरूपण किया। और जिनके मतसे काम्य-कर्मोंका त्याग ही संन्यास है, अथवा सर्वथा स्वरूपसे सर्व कर्मोंका त्याग ही संन्यास है, उनको आदर न देकर भगवान्ने उस त्यागको सात्त्विक व उत्तम त्याग बतलाया, जिससे नियत कर्मोंको कर्तव्य-बुद्धिसे आच-रणमें लाया जा सके और फलासक्तिका त्याग किया जा सके

परन्तु सर्वोत्तम त्याग तो भगवान्‌को वही इष्ट हुआ, जहाँ श्लो० १४ उक्त कर्मके जो पाँच साधन हैं उनमें तत्त्व-ज्ञानद्वारा कर्तापन दग्ध हो जाय और अपने साक्षीस्वरूप आत्माभ्रममें स्थित होकर इन पाँचों साधनोंका द्रष्टा रहा जाय। इस प्रकार कर्तृत्व-संगसे मुक्त होकर जो स्वाभाविक कर्मोंका आचरण है, वही सर्वोत्तम त्याग भगवान् को मान्य रहा। तदनन्तर त्रिगुण भेदसे ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख एवं चतुर्वर्णोंके भेद कथन किये गये। और कहा गया कि मनुष्य अपने स्वधर्मका त्याग न करे, बल्कि अपने स्वाभाविक कर्मोंको करता हुआ वह अन्तःकरणकी निर्मलता-द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त हो जाय, जहाँ ज्ञानकी परा निष्ठा प्राप्त करके भगवान्‌की परा भक्ति प्राप्त हो जाती है। उस परा भक्तिद्वारा तत्त्वसे भगवान् को जानकर उनके स्वरूपमें अभेद प्राप्त हो जाता है, फिर ऐसा पुरुष सब कर्म करता हुआ भी भगवान्‌के शाश्वत अव्यय पदको प्राप्त हो जाता है और तब स्वतः ही उसका 'सर्व-कर्म-संन्यास' सिद्ध हो जाता है।

आधुनिक योग (कर्तव्यसाहित्य व फलराहित्य) गीताका प्रतिपाद्य विषय है, अथवा आधुनिक योग मोक्षका साक्षात् साधन है, अथवा ज्ञानीपर कर्मकी कर्तव्यता है, इस अध्यायकी समालोचना करनेपर भी ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नहीं हुआ।

उपसंहार

'कर्तव्य-बुद्धिसे लोक-संग्रहार्थ कर्ममें प्रवृत्त होना और कर्म-फल अपने लिये न चाहकर ईश्वरार्पण करना, इसीका नाम 'कर्मयोग' है और यही मोक्षका साक्षात् साधन है। अथवा ज्ञान हो जानेपर भी ज्ञानीपर उक्त प्रकारसे कर्मयोगका आचरण कर्तव्य है और यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है।' आधुनिक टीकाकारोंकी इस दृष्टिको ग्रहण करके गीताके सम्पूर्ण अध्यायोंकी समालोचना की गई। परन्तु उक्त दृष्टि किसी प्रकार न तो मोक्षका साक्षात् साधन ही सिद्ध हुई और न गीताका प्रतिपाद्य विषय ही पाई गई। प्रस्तावना समाप्त करनेसे पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि अबतक जो कुछ कथन किया गया है उसका निष्कर्ष संक्षिप्तरूपसे ब्यौरेवार बोधकी सुगमताके लिये व्यक्त कर दिया जाय। इसलिये उक्त निष्कर्ष अङ्कवार नीचे प्रकट किया जाता है—

(१) पुरुषका परम पुरुषार्थ केवल मोक्ष है।

(२) 'नित्य अचल सुखकी प्राप्ति और दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति' यही मोक्षका स्वरूप है।

(३) वारम्वार जन्मना और वारम्वार मरना, यही बन्धन है—

(क) कर्तृत्व-बुद्धिसे किये हुए कर्म-संस्कार, जन्म-मरणके हेतु हैं।

(ख) कर्म-संस्कार अहंता, ममता व परतारूप संसारके सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं।

(ग) अहंता, ममता व परतारूप संसारका सम्बन्ध शरीरके अहंकारसे है और शरीरके अहंकारसे ही कर्तृत्व-बुद्धि होती है।

(घ) शरीरमें अहंकार परिच्छिन्न-दृष्टि करके है।

(ङ) परिच्छिन्न-दृष्टि भेद-दृष्टिरूप है और भेद-दृष्टि अज्ञान-जन्य है।

(४) इस प्रकार बन्धनका मूल केवल अज्ञान है। अज्ञान की निवृत्ति अपने आत्मस्वरूपके ज्ञानसे ही है। इसलिये मोक्ष का साक्षात् साधन केवल अपने आत्मस्वरूपका अपरोक्षज्ञान ही है।

(५) जन्म-मरणके हेतु जो कर्म-संस्कार हैं, उनका क्षय तीन प्रकारसे सम्भव है। फल-भोगसे, प्रायश्चित्तसे तथा आत्म-स्वरूपके साक्षात्कारसे। इनमेंसे फल-भोग व प्रायश्चित्त, ये दोनों तो अखिल कर्म-संस्कारोंको निवृत्त करनेमें कदापि समर्थ नहीं हो सकते। क्योंकि भोग तथा प्रायश्चित्तद्वारा जहाँ किसी एक संस्कारका क्षय किया जा सकता है, वहाँ अनेक कर्म-संस्कार नवीन उत्पन्न हो जाते हैं। केवल ज्ञानाग्नि ही अखिल कर्म-संस्कारोंको अनायास दग्ध करनेमें समर्थ हो सकती है (४। ३६)।

(६) (क) आत्म ज्ञानसे आत्म-साक्षात्कार होता है।

(ख) आत्म-साक्षात्कारसे अज्ञानजन्य परिच्छिन्न-दृष्टि व भेद-दृष्टि का बाध (त्रिकालाभाव, मिथ्यात्व-निश्चय) हो जाता है।

(ग) परिच्छिन्न-दृष्टि व भेद-दृष्टिका बाध होनेपर 'देहोऽहम्' इस अभिमानका बाध हो जाता है।

(घ) देह-बुद्धिका बाध होनेपर 'अहंकर्ता' इस कर्तृत्वाध्यासकी निवृत्ति हो जाती है।

(ङ) कर्तृत्वाध्यासके निवृत्त होनेपर क्या सञ्चित और क्या क्रियमाण, सभी कर्म-संस्कार क्षय हो जाते हैं, क्योंकि सभी कर्म-संस्कार अहंकर्तृत्व-बुद्धिके आश्रय ही स्थित रहते हैं।

(७) इस जीवको कर्मरूपी ठोकरें अज्ञानान्धकारमें ही लगती हैं। इसलिये कर्म अज्ञानका बाधक नहीं, क्योंकि उसकी मूल अज्ञान है और वह अज्ञानका फल है। अतः कर्मरूप फल अपनी मूल अज्ञानको छेदन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। केवल प्रकाशरूप ज्ञान ही अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेमें समर्थ हो सकता है और तभी कर्मरूपी ठोकरोंसे छुट्टी मिल सकती है।

(८) 'मुझपर अमुक कर्तव्य है और मैं अपने कर्मोंका फल अपने लिये न चाहकर ईश्वरार्पण करता हूँ' इस रीतिसे कर्म-योगका आचरण न सञ्चित-कर्म-संस्कारोंको ही दग्ध कर सकता है और न क्रियमाण-संस्कारोंको विफल कर सकता है। क्योंकि उक्त रीतिसे आचरित कर्मोंमें 'कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धि' हाज़िर है और यह कर्तृत्व-बुद्धि ही कर्म-संस्कारोंका आश्रय है, इसलिये उक्त बुद्धि कर्म-संस्कारोंको दग्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकती। अतः उक्त प्रकारसे कर्म-योगका आचरण अपने स्वरूप से किसी प्रकार जन्म-मरणसे मुक्त करानेमें समर्थ नहीं है।

(९) 'मैं कर्मका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो असंग हूँ और मुझपर अमुक कर्तव्य है' इस रीतिसे कर्म-योगके अङ्गोंकी योजना युक्ति-युक्त नहीं है। कर्तव्यकी विद्यमानतामें कर्ताका रहना ज़रूरी है, कर्ताबिना कर्तव्य बन नहीं सकता। उक्त कर्म-योगका आचरण केवल हृदयस्थ रजोगुणके वेगको उत्तम मार्गसे निकालकर अन्तः-करणकी निर्मलताद्वारा भक्तिका स्रोत चलानेमें समर्थ है। इतने अंशमें ही मोक्ष-प्राप्तिमें उक्त कर्म-योगकी उपयोगिता हो सकती है। फिर भक्ति व वैराग्यके उत्पन्न होनेपर ज्ञानद्वारा कर्तृत्वा-ध्यासको दग्ध करके ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। उक्त कर्म-योग अपने स्वरूपसे ही कर्तृत्वाध्यासको दग्ध करनेमें किसी प्रकार समर्थ नहीं है।

(१०) उपर्युक्त रीतिसे ज्ञानद्वारा तत्त्व-साक्षात्कार होनेपर पुरुष अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें अहंरूपसे अभेद प्राप्त कर लेता है। अभेद प्राप्त होनेपर यह तत्त्ववेत्ता देहेन्द्रियमनबुद्धयादिसे ज्यों-का-त्यों असंग हो जाता है। इस अवस्थामें इन देहादिके व्यापारोंका यह कर्ता नहीं रहता, बल्कि द्रष्टा (तमाशाई) ही रहता है। कर्तृत्वाध्यासके लुप्त हो जानेसे उसके सभी कर्म अकर्म रहते हैं और भुने बीजके समान संस्कारोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते।

(११) ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष ही देहादिद्वारा कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी वस्तुतः कर्म-संन्यासी रहता है। क्योंकि तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा वह देहादिके व्यावहारोंसे ज्यों-का-त्यों असंग रहता है और अब वह देहादिके व्यवहारोंका कर्ता नहीं, बल्कि द्रष्टा होता है तथा अपने साक्षीस्वरूपमें किसी प्रकार कर्मोंका कोई लेप नहीं देखता। इसलिये देहादिद्वारा कर्म करता हुआ भी यथार्थ कर्म-संन्यासी ही होता है। इस प्रकार जबकि वह कर्मोंका कर्ता नहीं तब भोक्ता भी नहीं होता, उसके सभी कर्म कर्तृत्व-भोक्तृत्वके अभावके कारण फलशून्य ही रहते हैं और दग्ध बीजके समान किसी फलके हेतु नहीं हो सकते। इस प्रकार वह तत्त्ववेत्ता ही वस्तुतः फल-त्यागी एव सच्चा कर्म-योगी होता है। कर्म-त्यागका नाम 'कर्म-संन्यास' और कर्म फल-त्यागका नाम 'कर्म-योग' है। इस प्रकार ये दोनों विषय उपर्युक्त ज्ञानद्वारा ही वस्तुतः सुदृढरूप से सिद्ध हो जाते हैं और इस रीतिसे 'कर्म-सन्यास' व 'कर्म-योग' का एकत्व ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है।

(१२) इसके विपरीत कर्तव्य-बुद्धि धारकर कर्म-फल-त्याग की भावना, कर्म-फलसे मुक्त करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि कर्म-फलका हेतु जड़ कर्म नहीं होता, बल्कि केवल भावना ही फल की हेतु होती है। इस प्रसंगमें कर्म-फल-त्यागकी भावना और

भावनाका कर्ता विद्यमान रहनेसे कर्म निष्फल नहीं हो सकता। यद्यपि यह भावना त्यागमयी होनेसे फल अधिक रखती है, परन्तु फलशून्य कदापि नहीं हो सकती। उपर्युक्त कर्म-संन्यास व कर्म-योगके अभेदमें यह भावनामय फल-त्याग साधनभूत होनेसे गीता इस फल-त्यागका अनादर तो नहीं करती, परन्तु इतनामात्र ही गीताका प्रतिपाद्य विषय नहीं हो सकता।

(१३) इस रीतिसे ज्ञानद्वारा अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें एकत्व प्राप्त किये विना 'फल-त्यागरूप कर्म-योग' सिद्ध नहीं होता, अर्थात् फल-त्यागकी भावना अपना फल रखती है और यह वस्तुतः कर्म-योगकी सिद्धि नहीं करती। साथ ही, इसके विना (अर्थात् अपने आत्मस्वरूपमें एकत्व प्राप्त किये विना) 'कर्म-संन्यास' भी वस्तुतः सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि कर्तृत्व-बुद्धिकी विद्यमानतामें चाहे इसने कर्मोंका त्याग भी किया, फिर भी यह इस कर्म-त्यागका कर्ता अवश्य बन जाता है। और जब-कि यह इस कर्म-त्यागरूप कर्मका कर्ता बन बैठा, तब 'कर्म-संन्यास' सिद्ध नहीं हो पाता। इस प्रकार आत्मस्वरूप-स्थिति विना वस्तुतः न 'कर्म-योग' ही सिद्ध हो सकता है और न 'कर्म-संन्यास' ही।

(१४) गीता-दृष्टिसे भावको उत्पन्न करनेवाली सभी चेष्टाएँ 'कर्म' रूपसे संज्ञा की गई हैं (८। ३)। इस दृष्टिके अनुसार भावोत्पादक होनेसे क्या प्रवृत्तिरूप चेष्टाएँ और क्या निवृत्तिरूप व्यापार, सभी 'कर्म' की संज्ञामें आ जाते हैं। ऐसी अवस्थामें आधुनिक टीकाकारोंका यह कथन कि 'प्रवृत्तिरूप व्यापार ही कर्म है और निवृत्तिरूप व्यापार कर्मशून्यता व कर्महीनता है' किसी प्रकार समीचीन नहीं। गीता क्या प्रवृत्ति और क्या निवृत्ति दोनोंको ही अधिकारानुसार आदर देती है, दोनोंमेंसे किसी एक

के ग्रहण और अन्य के त्यागमें गीताका तात्पर्य नहीं है। बल्कि गीताका लक्ष्य तो उस उच्च अवस्थामें पहुँचानेके लिये है, जहाँ प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनोंका विरोध दूर होकर दोनोंका अभेद हो जाता है।

(१५) कर्म-प्रवृत्तिका हेतु न तो बाह्य भोग्य पदार्थ ही हो सकते हैं और न लोकोपकारादि धार्मिक प्रवृत्ति ही जीवको कर्ममें प्रवृत्त करती है। ये सब बाह्य पदार्थ कर्म-प्रवृत्तिमें निमित्तमात्र गौण हेतु हैं, कर्म-प्रवृत्तिका मुख्य हेतु तो केवल हृदयस्थ विक्षेप ही होता है। जिस-जिस पदार्थविषयक विक्षेप हृदयमें उत्पन्न होता है, वही जीवको तत्तत्सम्बन्धी कर्ममें प्रवृत्त करता है। इसलिये कर्म-प्रवृत्तिका मुख्य हेतु हृदयस्थ विक्षेप ही है और विक्षेप-निवृत्ति ही उसका एकमात्र फल है।

(१६) सो विक्षेप-निवृति तीन प्रकारसे होती है—
(१) इच्छा-पूर्तिद्वारा। (२) इच्छित वस्तुकी अप्राप्तिसे जब जीव थकित होकर निराश हो जाता है। (३) ज्ञान, विचार एवं वैराग्यद्वारा जब जीव इच्छाको अपने हृदयसे समूल निकाल देता है। प्रथम दो प्रकारसे निवृत्त हुआ विक्षेप यद्यपि क्षणिक शान्ति देता है, परन्तु अज्ञानरूप अग्निके संयोगसे इच्छा व विक्षेपका पुनरुत्थान होता है। तृतीय प्रकारसे निवृत्त हुआ विक्षेप स्थिर शान्ति प्रदान करता है।

(१७) संसारमें विक्षेप यद्यपि अनन्त प्रकारका है, परन्तु मुख्यतया उसको पाँच श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—
(१) गाढ-तमोगुणी विक्षेप, जो पामर पुरुषोंके हृदयोंमें रहता है और जो शास्त्र-मर्यादाका उल्लङ्घन करके भोगपरायण रहते हैं। (२) क्षीण-तमोगुणी विक्षेप, जो शुभ-सकाम पुरुषोंके हृदयों में रहता है और जो शास्त्र-मर्यादामें रहकर भोगपरायण रहते हैं।

(३) रजोगुणी विक्षेप, जो निष्काम-कर्मियोंके हृदयोंमें रहता है और जो ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्मपरायण रहते हैं। (४) रज-सत्त्व-गुणी विक्षेप, जो निष्काम-प्रेमी भक्तोंके हृदयोंमें रहता है और जो सगुण-भगवान्‌के दर्शनाभिलाषी रहते हैं। (५) सत्त्वगुणी विक्षेप, जो वैराग्यवान् तत्त्वजिज्ञासुओंमें रहता है और जो तत्त्व-साक्षात्कारके अभिलाषी रहते हैं।

(१८) नीची श्रेणियोंका विक्षेप मनुष्यको कर्ममें इसी निमित्त प्रवृत्त करता है कि विक्षेपसे छुटकारा मिले। परन्तु इच्छापूर्ति-द्वारा यद्यपि मनुष्य एक क्षणके लिये विक्षेपसे मुक्त होता है, तथापि उत्तर कालमें ही अन्य रूपसे फिर विक्षेप उपस्थित हो जाता है, समूल निवृत्त नहीं होता। इधर विक्षेपकी आत्यन्तिकी निवृत्तिकी इच्छा सब प्राणियोंमें स्वाभाविक है। प्रकृति-देवी ने एक ओर तो विक्षेप-निवृत्तिकी तीव्र इच्छा पुरुषोंमें भर दी है और दूसरी ओर नीची श्रेणियोंकी प्रवृत्तियोंद्वारा जहाँ विक्षेप-निवृत्तिका मार्ग देती है, वहाँ अन्य प्रकारसे फिर विक्षेप भर देती है। इस प्रकार पुरुष जब अपनी श्रेणीके कर्म करते-करते थक जाता है, परन्तु विक्षेपोंसे छुटकारा नहीं पाता, तब वह थकान ही पुरुषको ऊँची श्रेणीमें उठा ले जानेका हेतु बनती है। क्योंकि थकान यद्यपि कर्मोंसे है, परन्तु विक्षेप-निवृत्तिकी इच्छासे पुरुष कदापि नहीं थकता। यही प्रकृतिकी सुहृत्तापरायण नीति है और इसी प्रकार मनुष्य नीची श्रेणियोंसे ऊँची श्रेणियोंमें उठता चला जाता है।

(१९) इस प्रकार निष्काम-कर्म-प्रवृत्तिका फल केवल इतना ही है कि वह प्रकृतिके तमोगुणी व रजोगुणी विक्षेपोंके वेगको, जो मनुष्योंके हृदयोंमें भरपूर है और परमार्थमें प्रतिबन्धक है, शुभ मार्गसे निकालकर सत्त्वगुणका प्रादुर्भाव कर दे। सत्त्वगुणी

विक्षेपके उपस्थित होनेपर कर्म निष्फल हो जाता है और तब ज्ञानका प्रकाश होता है। चूँकि परमात्मा सर्वव्यापी है और हमारे हृदयमें ही विद्यमान है, केवल अज्ञान करके ढका हुआ है, इसलिये कर्मद्वारा उसको किसी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता। अत. इस अवस्थापर पहुँचकर उसकी प्राप्तिके लिये तो अज्ञान-निवर्तक ज्ञान ही उपयोगी है। ज्ञानद्वारा जब आत्म-स्वरूप-स्थिति प्राप्त हो गई, तब ऐसे महापुरुषके देहेन्द्रियादिद्वारा स्वाभाविक जो चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं, वे आभासमात्र ही कर्म होते हैं। क्योंकि वे किसी प्रकार कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धिसे नहीं किये जाते और न किसी प्रकार गुणोंसे ही उनका सम्बन्ध रहता है। जब कि वह स्वय गुणातीत पदको प्राप्त हो चुका है, तब उसके सभी कर्म स्वाभाविक अकर्म ही होते हैं।

(२०) इस अवस्थामें आरूढ कराके स्वाभाविक कर्म-प्रवृत्ति ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है।

स्वानुभवसे जैसा कुछ अपनी बुद्धिमें आरूढ हुआ, विद्वान् पाठकोंके सम्मुख ज्यों-का-त्यों रख दिया गया है विद्वान् पाठकगण न्यूनाधिकके लिये क्षमा करें।

लेखक—

इस ग्रन्थकी प्रथमावृत्तिपर जिन समालोचक महाशयोंने इस ग्रन्थके विषयपर जो आपत्तियाँ उपस्थित कीं और लेखकद्वारा उनका जो समाधान किया गया, पाठकोंके बोधकी वृद्धिके लिये वह सब नीचे उद्धृत किया जाता है—

श्रीयुत् भ० मुनिलालजीका पत्र-व्यवहार

आरोग्य-मन्दिर, गोरखपुर-
२६-७-४३

पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराज,

सादर ॐ नमो नारायणाय। आपका २० जुलाईका कृपा-पत्र मिला। गीता-दर्पण अभी पूरी नहीं पढ़ पाया हूँ। मुख्य ग्रन्थ का दूसरा अध्याय पढ़ रहा हूँ। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। जिज्ञासु और विचारकोंके लिये इसे मनन-ग्रन्थ कहा जा सकता है। अध्यात्म-वस्तुको समझानेके लिये बहुत ही सुबोध युक्तियों से काम लिया गया है। इसलिये जहाँतक विषय-विवेचनकी दृष्टिसे देखता हूँ, इसकी परमोपयोगिता निर्विवाद है।

किन्तु जिस दृष्टिको लेकर आपका महात्मा तिलकसे मत-भेद है उसे मैं अभीतक नहीं समझ सका। उसे समझनेके लिये मुझे 'गीतारहस्य' देखना होगा। प्रायः२०वर्ष हुए तब मैंने वह ग्रन्थ देखा था। उस समयका मेरे चित्तपर यही संस्कार है कि श्री तिलकने मुक्ति तो ज्ञानसे ही मानी है, निष्काम-कर्मको उन्होंने मुक्तिका साक्षात् साधन माना हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। वे निष्काम-कर्मको ज्ञानका साधन मानते हैं और उसके बाद ज्ञानीकी 'सांख्य' और 'योग' दो निष्ठाएँ मानते हैं। सांख्य या संन्यास-निष्ठावाले कर्मका स्वरूपसे त्याग कर देते हैं और योग-

निष्ठावाले लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हुए भी वास्तवमें अकर्ता रहते हैं। आपने भी पृ० ३१४ पैरा ११ में इनका यही लक्षण किया है। यह अवश्य है कि उन्होंने ज्ञानीकी सांख्य-निष्ठाकी अपेक्षा कर्म-निष्ठाको ही श्रेष्ठ माना है। उनका यह मत सामयिक आवश्यकता और लोकसेवाकी दृष्टिसे कहा जा सकता है। परन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वे ज्ञानहीन निष्काम-कर्मीको मुक्तिका अधिकारी मानते हैं।

ये सब बातें मेरे ध्यानमें आत्मविलासमें तिलकमत-खण्डन पढ़ते समय भी आई थीं। परन्तु अपना अनधिकार समझकर मैंने आपको नहीं लिखा। इस मतमें मैं कहाँ भूल कर रहा हूँ, कृपया समझाकर अनुग्रहीत करें। शेष भगवत्कृपा है।

आपका कृपापात्र—मुनिलाल

कुराबड (उदयपुर)
२०।८।४३

मेरे प्यारे श्रीभक्तजी,

नारायण। आपका प्रेम-पत्र ता० २६-७-४३ कल प्राप्त हुआ। आप गीता-दर्पण पढ़ रहे हैं, इससे संतोष है और सामान्य रूपसे इसके विषयमें आपके विचार जानकर हर्ष है। ग्रन्थ के समाप्त होनेपर आप अपनी समालोचना जिस रूपसे देना पसंद करें उस रूपसे देनेकी कृपा कीजिये।

'तिलक-मतके विषयमें आपने जो प्रश्न किया उसके लिये आपका धन्यवाद। मेरा समाधान इस भाँति है—

१ गीता-रहस्य (गी०र) देखे मुझे भी बहुत काल होगया है। गृहस्थ कालमें ही देखनेका अवसर प्राप्त हुआ था, इसलिये विस्तारसे तो मुझेभी इसकी स्मृति नहीं है। परन्तु मेरे विचार

से तो गीता-रहस्यमें क्रम-समुच्चयवादका[1] अंगीकार नहीं किया गया है, किन्तु सम-समुच्चयवादको[2] ही ग्रहण किया गया है। फिर भी आपकी स्मृतिके अनुसार ऐसा मान भी लिया जाय कि उन्होंने निष्काम-कर्मको ज्ञानका साधन माना है, तो भी निष्काम-कर्मको उन्होंने इतना उत्कृष्ट बनाया है जिससे 'कर्म ज्ञानका साधन है' यह विषय दब जाता है और 'कर्म ही मोक्षका साधन है' यह विषय उभर आता है। सम्भव है आप जैसे विचारवान् उनका यह आशय निकाल लें कि 'कर्म ज्ञानका साधन है' परन्तु उस मतके अनुयायियोंकी और सर्व साधारणकी इस मतसे यही मान्यता व्यापकरूपसे प्रकट हो रही है कि 'कर्मसे ही मोक्ष है और जीवनपर्यन्त कर्मका कभी त्याग होना ही नहीं चाहिये तथा कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धिसहित भेद-दृष्टियुक्त कर्म ही उस निष्काम-कर्मका स्वरूप है।' उनके मतसे प्रवृत्ति कदापि निवृत्त होनेके लिये है ही नहीं। महात्मा श्रीगाँधीजीका 'अनासक्ति योग' भी इसीकी पुष्टि करता है। इसलिये इस मतको पूर्वपक्ष बनाकर आत्मविलासके वैराग्य प्रकरणमें इसका खण्डन करना आवश्यक हुआ, क्योंकि यह मत प्राकृतिक नियमविरुद्ध और सिद्धान्तविरुद्ध है। इसीपर श्रद्धा कर लेनेसे तत्त्व-जिज्ञासाका उद्बोध असम्भव है और इसीसे जीवका सच्चा श्रेय नहीं हो सकता। सच्छास्त्रोंका मुख्य कर्तव्य यही हुआ करता है कि वे जीवके श्रेयके लिये सही व सच्चा लक्ष्य स्थिर करके बतलावें, जिससे जिज्ञासु लक्ष्य-भेदन करनेका पुरुषार्थ कर सकें

[1] कर्मसे चित्त शुद्ध होता है और ज्ञानसे मोक्ष होता है, इस मतको 'क्रम-समुच्चय' कहते हैं।

[2] 'कर्म' तथा 'ज्ञान' मोक्षके भिन्न-भिन्न तथा स्वतन्त्र मार्ग हैं, इस मतको 'सम-समुच्चय' कहा जाता है।

और उसके अनुसार लक्ष्य-भेदनमें सफलता प्राप्त करे। परन्तु इस के विपरीत यदि निशाना ही गलत बनाया गया तो लक्ष्य-भेदनकी क्या आशा की जा सकती है ?

तिलक-मतके अनुसार आपने ज्ञानीकी ज्ञानोत्तर जो सांख्य व योगरूप दो विभिन्न निष्ठाएँ कथन की हैं, वे विचार व प्रमाणकी कसौटीपर खरी नहीं उतरतीं। निष्ठा अन्तःकरणकी अवस्था-विशेष है। ज्ञानी निर्विशेष और अन्तःकरणसे अतीत है जोकि द्वैतभावसे निकलकर परम अद्वैत तत्त्वमें आरूढ हुआ है। फिर द्वैतरूप अन्तःकरणकी अवस्थाओंसे उसको सम्बद्ध करना तथा दो विरोधी द्वैतरूप निष्ठाओंका निष्ठावान् बनाना, सर्वथा अयुक्त है। ज्ञानीके जो लक्षण गीतामें किये गये हैं उन भगवद्वचनोंसे भी ऐसा प्रमाणित नहीं होता। देखिये (२।५५-५८), (३।२७-२८), (४।१८-२३), (५।७-१३), (६।२९-३२), (१३।२८-३४) तथा (१४।२२-२५) इत्यादि।

२. निष्काम कर्मको यदि व्यापक दृष्टिसे ग्रहण किया जाय तो ईश्वर-प्राप्ति उद्देश्य रखकर क्या प्रवृत्तिरूप और क्या निवृत्तिरूप सभी शारीरिक एवं बौद्धिक चेष्टाएँ निष्काम-कर्मके अन्तर्गत आ जाती हैं। इस हिसाबसे अधिकारानुसार कर्म, उपसना, वैराग्य, शम-दमादि एवं श्रवण-मननादि सभी निष्काम-कर्मके अन्तर्गत आ जाते है। और जहॉं 'निष्काम-कर्मसे ज्ञान होता है' ऐसा सिद्धान्त-वचन देखनेमें आता है, वहॉं इसी व्यापक अर्थसे निष्काम-कर्मका बोधन होता है। परन्तु तिलक-मतमें इस व्यापकताको भंग करके कर्मको ज्ञानका साधन माना भी गया, तो केवल कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धिसहित भेद-दृष्टियुक्त बाह्य प्रवृत्तिरूप कर्मको ही ज्ञानका साधन माना गया है, जोकि सिद्धान्तसे अत्यन्त विरुद्ध है। क्योंकि भेद-दृष्टि ही अज्ञान है, इसलिये ऐसा ही निष्काम-

कर्म अज्ञानका बाधक कदापि नहीं हो सकता, चाहे कल्प-पर्यन्त भी इसका आचरण क्यों न किया जाय। यही अपने आचरणमात्रसे अज्ञाननिवृत्तिमें कदापि समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो अज्ञानका कार्य है। कार्य अपनी मूलको काटनेमें समर्थ नहीं हुआ करता, यह अकाट्य सिद्धान्त है (पृ० ६०-६६)।

३. मोक्षहैतुक ज्ञानका जो स्वरूप तिलक-मतमें बनाया गया है, वह अपरोक्ष-ज्ञान नहीं बनता, किन्तु परोक्ष व भेद ज्ञान ही उसका स्वरूप होता है। (देखिये आत्म-विलास प्रथमावृत्ति पृ० २०६ पैरा ३ तथा द्वितीयावृत्ति, द्वितीय खण्ड पृ० १६)। इस मतमें ज्ञानका यह स्वरूप नहीं रखा गया कि 'न मैं हूँ, न जगत् है, न कर्म और न फल ही है, किन्तु ये सब मेरे आत्मस्वरूपके चमत्कार हैं और आत्मरूप ही हैं' जैसा गीता स्थान-स्थानपर इसका ऐसा ही वर्णन करती है, जैसा पीछे अङ्क १ में प्रमाण दिये गये हैं। किन्तु तिलकमतके तो ज्ञानमें भी कर्ता, जगत्, कर्म और ईश्वर, सभी अपने-अपने स्थानपर सत्य ठहराये गये हैं, केवल फलका ही त्याग रखा गया है, सो भी भावनामात्र। ऐसा भेद-ज्ञान मोक्षहैतुक कदापि नहीं हो सकता।

४. इन सब विचारोंको लेकर आत्मविलासमें इसका स्पष्ट रूपसे खण्डन किया गया है, परन्तु गीता-दर्पणमें तो तिलक-मतको स्पष्ट रूपसे कोई चर्चा ही नहीं की गई है। किन्तु आधुनिक टीकाकारोंने गीतामें जो सांख्य व योगको भिन्न-भिन्न रूपोंमें दर्शाया है, उनको सम्मुख रखकर सामान्य रूपसे अपने मतका निरूपण किया गया है (पृ० ६४-७८)।

५. निष्काम-कर्मद्वारा ज्ञान हो जानेपर तत्पश्चात् ज्ञानीकी जो दो निष्ठाएँ तिलक-मतमें ग्रहण की गई हैं, यह सर्वथा सिद्धान्तविरुद्ध है, क्रम-क्रमसे इन दोनों निष्ठाओंका फल ज्ञान हो सकता है; नकि

ज्ञानोत्तर ज्ञानीकी ये विभिन्न निष्ठाएँ बन सकती हैं। (आत्मविलास प्रथमावृत्ति पृ० २०३-२११ तथा द्वितीयावृत्ति द्वि० खं० पृ० १४-२५ देखिये)। पीछे पृ० ३१४ के पैरे ११ में तो यह दिखलाया गया है कि 'तत्त्व-साक्षात्कार हो जानेपर कर्मत्याग व फलत्याग स्वतः ही सिद्ध हो जाता है, अर्थात् कर्म-संन्यास व कर्म-योगका फल से ही अभेद हो जाता है। फिर ये भिन्न-भिन्न मार्ग व निष्ठा नहीं रहते, किन्तु इनकी स्वरूपसे ही एकता हो जाती है। परन्तु तत्त्व-साक्षात्कार बिना नीचे किसी भी कोटीमें रहकर यथार्थ रूपसे न कर्म-त्यागकी ही सिद्धि हो सकता है और न फल-त्याग ही बन पड़ता है। क्योंकि भेद व परिच्छेद-दृष्टि रहते हुए कर्म-त्याग भी कर्म बन जाता है और फल-त्याग भी अपना फल रखता है (पृ० ८०-८७)।' इसके विपरीत तिलक-मतमें तो ज्ञानोत्तर ज्ञानीकी दो भिन्न-भिन्न निष्ठाएँ बनाई गई हैं, दोनों सत्य हैं और कर्तृत्व व कर्तव्यसहित हैं। इसलिये तिलकमत और गीता-दर्पणका तो इस विषयमें अत्यन्त विरोध है। मेरे विचारसे तो इसका कारण यही है कि जैसा पीछे इस पत्रके अंक ३ में दिखलाया गया है, उनका न ज्ञानका लक्षण ही निर्दोष है और अंक २ के अनुसार न निष्काम-कर्मका स्वरूप ही निर्दोष है।

अपनी बुद्धिके अनुसार समाधान किया गया। अब जैसा आपके विचारमें आवे अपने विचारोंसे सूचित करिये।

भवदीय—आत्मानन्द

गोरखपुर, १६-८-१९४३.

पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराज,

सादर ॐ नमो नारायणाय। आपका १० अगस्तका कृपा-कल मिला।

मेरी शंकाका आपने जो उत्तर दिया है उससे मुझे पूर्ण सन्तोष है। यह ठीक है कि यद्यपि महात्मा तिलकने ज्ञानसे ही मोक्ष माना है, तथापि कर्मपर इतना ज़ोर दे दिया है कि उनके अनुयायी मोक्ष और ज्ञानके लिये कर्मको अनिवार्य मानने लगे हैं। महात्मा गाँधी तो ज्ञानीके द्वारा भी कर्मत्यागको असम्भव समझते हैं। यह बात भी ठीक ही है कि महात्मा तिलकने ज्ञानका जो स्वरूप रक्खा है उसे दार्शनिक दृष्टिसे तो ठीक कह सकते हैं, परन्तु वह सच्चे बोधवान्‌की दृष्टि नहीं है। इसलिये उनकी टीका मुमुक्षुओं और जिज्ञासुओंके लिये इतनी उपयोगी नहीं हो सकती जितनी कि वह कर्मियोंके लिये है। उन्होंने यद्यपि मोक्षका साक्षात् साधन ज्ञान ही माना है और ज्ञानीका व्यावहारिक जीवन निवृत्तिपरायण और प्रवृत्तिपरायण दोनों ही प्रकारका हो सकता है, परन्तु उन्होंने प्रवृत्तिकी ही प्रशंसा की है और उसे यहाँतक बढ़ाया है कि वह एक प्रकारसे ज्ञानीके लिये भी कर्तव्य हो जाती है। मैंने जो शंका की थी वह तो इतने ही अंशको लेकर थी कि कर्मके द्वारा मोक्ष उन्होंने भी नहीं माना, फिर आपने कई जगह निष्काम-कर्मयोगके द्वारा मोक्ष माननेवालोंको किस प्रकार पूर्वपक्षी बनाया है?

आधुनिक टीकाकारोंमें श्री .... जी[1] सांख्य और योगको पृथक्-पृथक् मार्ग माननेवाले हैं और दोनोंकेही द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति मानते हैं। परन्तु वे इन्हें मार्ग ही मानते हैं। तत्त्वज्ञके लिये कर्तव्य उनमेंसे किसीको नहीं मानते। उनके विचार से ये दोनों ही साधन हैं, सिद्धका इन दोनोंसे ही सम्बन्ध नहीं है। तथा आपका यह विचार है कि ज्ञान होनेसे पहले इनमेंसे कोई

१. समालोचक महाशयने यह नाम प्रकाशित करनेके लिये अपनी स्वीकृति नहीं दी।

नहीं हो सकता, इन दोनोंकी सिद्धि ज्ञान होनेपर ही होती है और इनमें व्यावहारिक भेद रहनेपर भी ज्ञानीकी दृष्टिमें दोनों एक ही हैं—कर्मसे असंग होनेके कारण वह 'संन्यासी' है और कर्मफलसे असंग होनेके कारण 'योगी' है। परन्तु ऐसा मानने पर नीचे लिखी आपत्तियाँ सामने आती हैं—

१. यदि ये दोनों ज्ञानीके द्वारा ही साध्य हैं तो भगवान् अर्जुन को इनका उपदेश क्यों दे रहे हैं। यदि अर्जुन तत्त्वज्ञ है तो उसे इन दोनोंका अभेद समझानेकी ज़रूरत नहीं है, क्योंकि तब तो उसे इस रहस्यका पता स्वयं ही रहना चाहिये। और यदि वह अज्ञानी है तो ज्ञानीद्वारा साध्य विषयका उपदेश उसके लिये उपयोगी कैसे होगा ? उसे तो ज्ञानके साधनका ही उपदेश करना चाहिये।

२. आपने अ० ५ श्लो० ४के भावार्थके प्रथम पैरेके अन्तमें लिखा है कि 'इस प्रकार कर्तृत्वाभिमानसे छुटकारा पाकर जो प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति दोनोंमेंसे एकमें भी भली प्रकार स्थित हुआ है वह दोनोंके मोक्षरूप फलको पा जाता है' इस वाक्यसे तीन प्रश्न उठते हैं—

क मोक्षरूप फल प्रवृत्ति या निवृत्ति इन दोनोंके अधीन है ? या—

ख. केवल कर्तृत्वाभिमानके त्यागके ? अथवा—

ग. कर्तृत्वाभिमानके त्यागसहित प्रवृत्ति या निवृत्तिके ?

इनमेंसे (क) पक्ष तो आपको भी मान्य नहीं होगा, क्योंकि कर्तृत्वाभिमानयुक्त प्रवृत्ति या निवृत्ति मोक्षका साधन हो ही नहीं सकती। (ग) पक्ष स्वीकार करें तो कर्म अथवा संन्यास-समुच्चित ज्ञान मोक्षका साधन मानना होगा। इससे ज्ञानकी मोक्षमें स्वतन्त्र साधनताका खण्डन

होगा। अतः (ख) पक्ष ही सिद्धान्ततः मानना होगा। अब यदि सिद्धान्ततः केवल ज्ञान ही मोक्षका साधन है तो मोक्षको प्रवृत्ति या निवृत्तिका फल कहनेसे आपका क्या अभिप्राय है?

३. यदि आत्माका असंगत्व-बोध ही कर्मत्यागरूप सांख्य और कर्मफल-त्यागरूप योगमें हेतु है तो इन दोनोंको दो साधन कहना ही असंगत है, क्योंकि यहाँ वास्तविक साधन तो असंगत्व-बोध ही है। वह असंगत्व कर्म, कर्मफल, सम्बन्धी, धन, सम्पत्ति और शरीरादि सभीसे होना चाहिये। फिर केवल कर्म और कर्मफल इन दोकी असंगताको लेकर ही इन दो नामोंकी कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता थी?

इस प्रकार ज्ञानीके द्वारा सांख्य और योगकी साध्यता माननेपर जो शंकाएँ उठती हैं, उनका उल्लेख करके अज्ञानीद्वारा इनकेअनुष्ठानकी सम्भावना किस प्रकार है? यह लिखता हूँ—

कर्म और संन्यास इन दोनोंको ही श्री..................जी ने भी अज्ञानीद्वारा साध्य माना है और भगवान् शंकराचार्यजी ने भी। श्री..............जी इन दोनोंको स्वतन्त्र साधन मानते हैं और भगवान् शंकराचार्य इन्हें कमिक साधन बताते हैं। मेरे विचारसे दोनोंका ही मत युक्तियुक्त है। परस्पर विरोध दीखने पर भी इन दोनों महानुभावोंके मत इसलिये युक्तियुक्त बताता हूँ, क्योंकि इन दोनोंने सांख्य और योगके जो लक्षण किये हैं वे भी भिन्न-भिन्न हैं। श्री..............जी कर्तृत्वाभिमानपूर्वक कर्म करते हुए उन कर्मोंके फलको भगवदर्पण करने, अथवा भगवान् की आज्ञा मानकर या भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ही कर्म करनेको 'योग' कहते हैं। और 'मैं करने-करानेवाला नहीं हूँ, गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं' ऐसी भावनाको, अथवा 'मैं यन्त्ररूप हूँ, भगवान् ही मेरे द्वारा सब कुछ करा रहे हैं' इस भावको 'सांख्य'

कहते हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो कर्म और सांख्यकी सराहनीय व्याख्याके अनुसार ये दोनों ही लक्षण नहीं घटते। इन दोनोंको ही भक्तियोग कह सकते हैं। इस भक्तियोगसे (चाहे यह इन दोनोंमेंसे किसी कोटिका हो) भगवान्की प्रसन्नता होती है और उनकी प्रसन्नतासे विवेकरूप बुद्धियोग प्राप्त होनेपर तत्त्वज्ञान हो जाता है।

भगवान् शंकराचार्य अज्ञानीकर्तृक कर्मको 'कर्मयोग' और कर्मत्यागरूप संन्यासाश्रमको 'सांख्य' मानते हैं। 'कर्म' शब्दसे उनका तात्पर्य नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मोंसे है। ये कर्म सकाम-भावसे किये जानेपर ऐहिक या पारलौकिक भोगरूप फल देते हैं और निष्काम-भावसे केवल कर्तव्य-बुद्धिसे या भगवत्प्रीत्यर्थ किये जानेपर चित्तशुद्धिके कारण होते हैं। चित्तशुद्धि होनेपर चित्तमें वैराग्य होता है और वैराग्यसे कर्म-संन्यासरूप सांख्यका अधिकार प्राप्त होता है। फिर संन्यासाश्रममें शमदमादिका विशेष अभ्यास करते हुए श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार इन दोनों ही महानुभावोंके मतानुसार अज्ञानीद्वारा कर्म-त्याग और कर्मफल-त्याग सिद्ध हो जाते हैं। आपने जो लिखा है कि 'भेद व परिच्छेद-दृष्टि रहते हुए कर्मत्याग भी कर्म बन जाता है और फलत्याग भी अपना फल रखता है' सो ठीक ही है। इस प्रकारका कर्मत्याग अवश्य कर्म ही है और ऐसे फलत्यागसे फल भी अवश्य होता है, परन्तु इस कर्म-त्याग या कर्मफल-त्यागका फल भोग नहीं, चित्तकी शुद्धि ही है। इसलिये इसे व्यर्थ नहीं कह सकते और साधन तो सर्वदा किसी साध्यके लिये ही हुआ करता है, इसलिये उसे सर्वथा परिणामहीन मानना उचित भी नहीं है।

आपने अ० ५ श्लो० ४ के भावार्थके दूसरे पैरेमें यह भी लिखा है कि "जिन्होंने सांख्य और योगको भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र और निरपेक्ष मार्ग मानकर इनकी एकता ग्रहण की है वे तो बालकोंसे भी परे अत्यन्त बालक कहे जाने चाहियें। क्योंकि 'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' ये दोनों परस्पर भाव और अभाव-रूप होनेसे अन्धकार और प्रकाशके समान विरोधी मार्ग हैं, इनका फल एक नहीं हो सकता।" सो यह बात भी मुझे युक्ति-युक्त नहीं जचती। एक ही स्थानपर दो भिन्न मार्ग जा सकते हैं और जो एक मार्गसे चलेगा उसे दूसरे मार्गको छोड़ना भी पड़ेगा ही। इसलिये यदि उसके मार्गको दूसरेसे भिन्न स्वतन्त्र या निरपेक्ष कहें तो क्या आपत्ति है? निष्काम-भावसे कर्म करना और कर्मको अपना नहीं बल्कि अपने द्वारा ईश्वरकर्तृक मानना ये दो भिन्न भावनाएँ हैं ही और इन दोनोंका फल भगवान्‌की प्रसन्नता ही है।

इस प्रकार आपके मतोंमें कुछ शंकाएँ खड़ी करके भी मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि आपकी बात युक्तिशून्य है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि भिन्न-भिन्न विचारकोंके विचारकी शैलियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं और उन सभीमें युक्ति और साम-ञ्जस्य भी रहता है। अतः आचार्य या अनुभवी लोग जो कुछ लिखते हैं वह परस्पर विरुद्ध-सा दीखनेपर भी लक्ष्यकी प्राप्ति में सर्वथा समर्थ होता है। संसारमें कई प्रकारके अधिकारी हैं, जिसकी मनोवृत्ति जिस साधनके अनुकूल होती है वह उसे ही स्वीकार कर लेता है। मुझे तो आपका सिद्धान्त भी उतना ही युक्तियुक्त जान पड़ता है, जितने कि भगवान् शङ्कर और श्री ....जीके। स्वयं श्रीभगवान्‌का क्या मत है, यह तो भगवान् ही जानें। मैं तो भगवान्‌की तरह उनकी वाणीको भी

अनिर्वचनीय और अगम्य समझता हूँ। जैसे भक्तजन अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उनके रूपका भिन्न-भिन्न प्रकारसे निर्देश करते हैं, उसी प्रकार विचारक भी अपनी-अपनी विचार-पद्धतिके अनुसार उनकी वाणीके भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं तथा विचारयुक्त होनेके कारण वे सभी युक्तियुक्त होती हैं और अपने-अपने योग्य अधिकारीको परमतत्त्वकी प्राप्ति भी करा सकते हैं।

मैं लिखते-लिखते बहुत बढ़ गया और लिखना आरम्भ करते समय जिन बातोंको लिखनेकी कल्पना भी नहीं थी, वह लिख गया। मैंने जो कुछ लिखा है उसका उद्देश्य यह नहीं है कि मैं आपके मतको सदोष समझता हूँ। यह सर्वथा सम्भव है कि आप मेरी लिखी हुई आपत्तियोंका बहुत सुगमतासे समाधान कर देंगे, परन्तु फिर मुझे दूसरी आपत्तियाँ सूझ सकती हैं, इसलिये यह व्यर्थका शास्त्रार्थ ही खड़ा हो जायगा, जो इतनी दूर बैठकर पत्र व्यवहारद्वारा चलाना सुविधाजनक नहीं होगा। इन आपत्तियोंसे मेरा आशय केवल अन्य मतोंकी युक्तियुक्तता सिद्ध करना ही है आपके मतका खण्डन करना मुझे कभी अभीष्ट नहीं है। वह तो मुझे अन्य सिद्धान्तोंके समान ही शिरोधार्य है। आशा है, मैंने जो कुछ लिखा है वह किसी प्रकार आपके असंतोषका कारण नहीं होगा।

आज-कल मैं दूसरी-दूसरी पुस्तकें देखने लगा हूँ जो मुझे यहाँ प्राप्त हो सकती हैं। गीता-दर्पण तो मेरे पास रहेगा ही, उसका शेष अंश फिर देखनेका विचार है। उसके विषयमें ग्रन्थ समाप्त होनेपर कोई नया विचार पैदा होगा तो अवश्य लिखूँगा। बाकी जो कुछ मैंने पिछले पत्रमें लिखा है वह भी उसके विषयमें अपनी अबतककी सच्ची धारणा ही है।

शेष भगवत्कृपा है। आशा है, आप सानन्द होंगे। कृपा तो आपकी है ही, वह और भी बढ़ती रहे।

आपका कृपापात्र—मुनिलाल.

॥ ॐ ॥

कुरावड़ (उदयपुर)
३-६-४३.

मेरे प्यारे श्रीभक्तजी,

सप्रेम नारायण। आपका विस्तृत प्रेम-पत्र ता० १६-८-४३ प्राप्त हुआ। गीता-दर्पणके विषयमें आपने जो शंकाएँ उपस्थित कीं उनका समाधान मेरी ओरसे यह है—

१. जैसा आपने समझा है, मेरा यह मत कदापि नहीं है और न मेरे ग्रन्थसे ही ऐसा आशय निकलता है कि फलत्याग एवं कर्मत्याग जिज्ञासुद्वारा आचरण करनेयोग्य ही नहीं हैं, अथवा जिज्ञासुद्वारा इनका आचरण ही अशक्य है, अथवा ये साधन-कोटिमें ही नहीं आते। मेरा मत तो यह है कि यद्यपि ये दोनों क्रमशः ज्ञानके साधन हैं, जिज्ञासुद्वारा क्रमशः इनका आचरण श्रेय है, परन्तु ये स्वतन्त्र मोक्षके हेतु नहीं हो सकते। मोक्ष तो ज्ञानद्वारा कर्तृत्वाभिमान-विनिर्मुक्तिपर ही निर्भर है और तब ही फलत्याग व कर्मत्याग यथार्थ व सुदृढरूपसे सिद्ध हो सकते हैं और वहाँ ही दोनोंका अभेद है (पृ० ३१४ पैरा ११)। यदि नीची कोटिमें रहकर भावनामात्र फलत्यागादि पर ही संतुष्ट हो बैठें तो उनकी यथार्थ सिद्धि बन नहीं पड़ती। अथवा यूँ कह लीजिये कि ये फलत्यागादि जिज्ञासुके लिये तो यत्नसाध्य हैं और ज्ञानीके लिये स्वभावसिद्ध, अ० २ श्लो० ५४ के भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यजीने भी यही प्रदर्शित किया है। प्रस्तावना पृ० १२७-१३६ पर 'विक्षेपकी मुख्य-मुख्य श्रेणियाँ

और कर्ताके भेद' शीर्षकमें इस क्रमका भलीभाँति दिग्दर्शन कराया गया है। इसके साथ 'कर्मका स्वरूप' और 'कर्मप्रवृत्तिका हेतु व फल' भी मिलाकर पढ़ना चाहिये। 'निष्काम-कर्मका उपयोग' शीर्षक पृ० ६६-१०४ भी द्रष्टव्य है। तथा पृ० ८७ पं० ३-११, पृ० १५१ पं० १४ से पृ० १५२, तथा मूल ग्रन्थ अ० २ श्लो० ३६, ४०, ४५, ५१; अ० ३ श्लो० ३, ४, ७, ८, ९, १९; अ० १२ श्लो० १-१२ तथा अ० १८ श्लो० ६, ७, ९, ११, ४५, ४६, ४७ व ४८ के भावार्थ इस विषयमें शान्तचित्तसे मनन करनेयोग्य हैं। प्रस्तावनांतर्गत अध्यायोंकी समालोचनाओंमें स्थान-स्थानपर निष्काम-कर्मको साधनकोटिमें ग्रहण किया गया है, परन्तु इसीको मोक्षहेतुक माननेसे इंकार किया गया है। मैं चकित हूँ कि आपने मेरे मतका ऐसा विपरीत आशय कैसे ग्रहण कर लिया कि ज्ञानसे पूर्व इन कर्मत्याग व फलत्यागादिका आचरण ही नहीं बनता। मेरे मतसे ये साधन तो हैं, परन्तु ये ही गीता-प्रतिपाद्य विषय नहीं बनते।

वेदांतका सिद्धान्त है कि निष्काम-कर्म ज्ञानका बहिरंग साधन है, अन्तरंग साधन नहीं। 'अन्त करणकी शुद्धि ही जिसका फल हो' सो बहिरंग साधन कहा गया है और 'ज्ञानमें जिसका साक्षात् उपयोग हो, अथवा श्रवण-मननादिमें जो सहायक हो सो अन्तरंग साधन कहा गया है। इस प्रकार विवेक, वैराग्य व शम-दमादि तो श्रवण-मननमें उपयोगी होनेसे अन्तरंग और चित्तशुद्धिमात्र फल होनेसे निष्काम कर्म ज्ञानका बहिरंग साधन माना गया है। उसी सिद्धान्त में चित्तशुद्धिके पश्चात् निष्काम-कर्म बहिरंग होनेसे तथा तब श्रवणादिमें प्रतिबन्धक होनेसे हेय माना गया है, उपादेय नहीं। यदि 'विचारसागर' की प्रथम तरंगका आप मनन करेंगे तो यह विषय सुस्पष्ट हो जायगा और यही भगवान् शंकरका मत है। गीता-दर्पणमें स्थान-स्थानपर इसी मतको अंगीकार किया गया

है, इसका विरोध कदापि नहीं। शंकर-मतमें यद्यपि फलत्यागादि को साधन-कोटिमें ग्रहण किया गया है, तथापि ये गीता-प्रतिपाद्य विषय कदापि नहीं माने गये। उनके मतसे गीताके विषय तो वे तात्त्विक संन्यास व योग ही माने गये हैं, जहाँ ज्ञानद्वारा दोनोंका अभेद हो जाता है। अर्थात् शंकरमतमें गीताका प्रतिपाद्य विषय तो वह ज्ञान-योग ही माना गया है, जहाँ देहाभिमानसे छूटकर फलत्याग व कर्मत्याग स्वभावसिद्ध हो जाते हैं। वहाँ इसीको 'परमार्थ-संन्यास' एवं 'परमार्थ-योग' के नामसे अभिहित किया गया है। गीता शंकर-भाष्य-अ० २।५१से५३, अ० ४ की भूमिका, अ० ४। १ से ३, अ० ४। १८ से २४, अ० ४।३३ से ४१, अ० ५। ५ से ६, अ० ६।१७ से ३६, अ०१८।१२ से १७ तथा अ० १८ श्लो० ६६ पर-ग्रन्थ-उपसंहार शान्त चित्तसे मनन करिये।

३. आपने अपनी सारग्राही दृष्टिसे श्रीशंकरमत और श्री ....जीके मतकी जो एकता की है, यह आपके भावोंकी पवित्रताका ही परिचय है। परन्तु वास्तवमें जो साधारण गीताएँ गीता-प्रेससे निकली हैं उनकी भूमिकामें 'गीताका प्रधान विषय' शीर्षकसे श्री..............जीने तो सांख्ययोग व कर्म-योगको भगवत्प्राप्तिके भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र व निरपेक्ष मार्ग ही कथन किये हैं, जैसा आपका वचन है ये ज्ञानके साधन नहीं मान गये। तथा इनके मतसे सांख्यका जो स्वरूप आपने लिखा है वह भी अशुद्ध है। अपनी इसी भूमिकामें वे तो सांख्यका स्व-रूप स्पष्ट यही करते हैं—

'सम्पूर्ण पदार्थ मृग-तृष्णाके जल की भाँति अथवा स्वप्न-सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रियों व शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना तथा

सर्वव्यापी परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहते हुए कुछ भी होता हुआ न देखना।'

देखिये, यही तो ज्ञानका स्वरूप है। इससे स्पष्ट है कि उनके मतसे सांख्य व योग दोनों निरपेक्ष व स्वतन्त्र मोक्षके साधन बनते हैं ज्ञानके नहीं। देखिये गीता-प्रेससे निकली हुई साधारण गीताएँ अ० २ श्लो० ३९,४०, ५०, ५१ ('बुद्धियोग' शब्द कर्मयोगका पर्याय है, ऐसा अ० ३ श्लो० ३ की टिप्पणीमें माना गया है) तथा अ० ३ श्लो० ३, अ० ५ श्लो०४,५,६,७,८,९,१२ व १३। इन श्लोकों में 'सांख्य' शब्दका अर्थ 'ज्ञानयोग' किया गया है और सांख्य-योग व कर्म-योग भगवत्प्राप्तिरूप मोक्षके स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष साधन माने गये हैं, ये ज्ञानके साधन नहीं माने गये। जैसा आपने उनका मत दर्शाया है, मेरे विचारसे तो उक्त गीताद्वारा वह किसी प्रकार प्रमाणित नहीं होता। ऐसा मान लेनेसे 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ये श्रुतियाँ अप्रमाणित हो जाती हैं। यदि किसी प्रकार आपके कथनानुसार यह मान भी लिया जाय कि उन्होंने सांख्य (कर्म-संन्यास) व योग (कर्म-योग) को भिन्न-भिन्न व स्वतन्त्र ज्ञानके साधन माने हैं तो श्री ········ जी किसी भी युक्ति व प्रमाणसे यह सिद्ध नहीं कर सकते कि यह प्रवृत्तिरूप निष्काम-कर्म अपने ही आचरणद्वारा अज्ञानका बाध करके ज्ञानको सम्पादन करनेमें समर्थ हो जायगा। यहाँ देखना चाहिये कि उस अज्ञानका क्या स्वरूप है जिसको यह निष्काम-कर्म अपनी ही जातसे काट सकेगा? कृपया पृ० ९०-९६ मनन करिये। श्रद्धालु उनके वचनोंमें विश्वास करके ही सन्तोष कर ले, यह बात तो दूसरी है अन्यथा यह प्रवृत्तिरूप निष्काम-कर्म स्वतन्त्र ज्ञानका साधन है, यह किसी प्रकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता। श्री ··········जीके मतपर किसी प्रकार

आक्षेप करनेका मेरा आशय नहीं था, परन्तु आपने अपने पत्र में उसका उल्लेख किया है इसलिये विषय स्पष्ट करनेके लिये लिखना आवश्यक हो गया।

४. गीता-दर्पण मूल ग्रन्थ अ० ५ श्लो० ४के भावार्थके अन्त में मेरे ये शब्द 'कर्मकर और कर्म छोड़, दोनों परस्पर अन्धकार-प्रकाशवत् विरोधी मार्ग हैं, उनका फल एक नहीं हो सकता' इत्यादि; आपको युक्ति-युक्त न जचे इसमें आपने कोई युक्ति देनेकी कृपा नहीं की। मेरा मत तो यही है कि एक ही स्थानसे एक ही उद्दिष्ट-स्थानको पहुँचनेके लिये मार्ग एक ही होना चाहिये। एक ही स्थानसे एक ही उद्दिष्ट स्थानपर पहुँचनेके लिये एक उत्तरकी ओर चले और एक दक्षिणकी ओर, तो अवश्य इनमें से एक भूल करेगा, दोनों एक ही उद्दिष्ट-स्थानपर नहीं पहुँच सकते। हाँ, एक ही मार्ग चलते हुए एक किसी एक पड़ावपर है और दूसरा किसी दूसरेपर, तो कालान्तरमें दोनों पहुँच सकते हैं। परन्तु यह मार्ग-भेद नहीं, पड़ाव-भेद है। प्रकृति जबकि एक ही है और एक ही स्थानसे अर्थात् जीवभावसे शिवस्वरूपमें पहुँचानेके लिये उसने मार्गका निर्माण किया है, तब वह भिन्न-भिन्न विरोधी मार्गोंकी रचना कैसे कर सकती है ? 'आत्म-विलास'में पामरकोटिसे आरम्भ करके जिज्ञासुकोटितक प्राकृतिक मार्गका निरूपण किया गया है, जिसमें यह विस्तारसे दर्शाया गया है कि प्रकृति अपने डण्डेकी चोटसे किस प्रकार क्रम-क्रमसे त्यागकी भेट लेती हुई जीवको शिवस्वरूपमें पहुँचा देती है। यदि वह प्रकृति ऐसे परस्पर विरोधी मार्गोंकी रचना करती है तो उसका सम्पूर्ण नियम अस्त-व्यस्त ही रहेगा और वह जीवको शिवरूपमें पहुँचानेमें समर्थ न हो सकेगी। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है, त्यागरूप मार्ग एक ही है। मार्ग एक

होते हुए भी अधिकारभेदसे पड़ावोंका भेद हो सकता है। पड़ाव-भेदसे मार्गभेदकी कल्पना करना भारी भूल है। एक अधिकारी को एक पड़ाव छोड़ते हुए दूसरे पड़ावपर जानेके लिये एक साधन छोड़कर दूसरे साधनको कालान्तरसे ग्रहण करना तो योग्य है, परन्तु एक ही अधिकारीको एक ही कालमें 'कर्म कर' (प्रवृत्ति) और 'कर्म छोड़' (निवृत्ति) दोनों विकल्पसे स्वतन्त्र व निरपेक्ष लागू नहीं हो सकते।

५. आपकी आपत्ति न० २ अर्थात् मेरे मूलग्रन्थके अ० ५ श्लो० ४ के भावार्थके प्रथम पैरेकी अन्तकी पंक्तियोंके समाधानमें मेरा कथन है कि मोक्ष न प्रवृत्ति-निवृत्तिके अधीन है और न कर्तृत्वाभिमानके त्यागसहित प्रवृत्ति-निवृत्तिके अधीन किन्तु केवल कर्तृत्वाभिमानके त्यागपर निर्भर है। अर्थात् (ख) पक्ष ही मुझे मन्तव्य है। इन पंक्तियोंका भावार्थ यह है कि जिस मोक्ष को लक्ष्य करके जो-जो जिज्ञासु अपने अपने विचारानुसार प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिमें प्रवृत्त होते हैं, उस मोक्षको यह तत्त्ववेत्ता कर्तृत्वाभिमानसे छूटकर स्वतः प्राप्त हो जाता है और फिर वह अपनी स्वाभाविक प्रकृतिके अनुसार चाहे प्रवृत्तिमें वर्ते चाहे निवृत्तिमें, दोनोंका मोक्षरूप फल उसको स्वत. सिद्ध होता है। अर्थात् प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिका भेद उसकी अपनी दृष्टिमें तो कुछ नहीं रहता, किन्तु शरीरकी स्वभाविक चेष्टाओंसे उसमें प्रवृत्ति-निवृत्तिकी कल्पना होती है। धन, सम्पत्ति व सम्बन्धी इत्यादि ममताके विषय पदार्थोंमें ममत्वभावसे असंग होनेपर देहादिकी अहन्तासे असंगत्व प्राप्त किया जा सकता है और देहादिसे असंगताका फल कर्म एवं कर्मफलसे असंग होना है। इस प्रकार कर्म व कर्मफलकी असंगता सिद्ध होनेपर अन्य सर्व असंगताएँ स्वत.सिद्ध हो जाती हैं।

६. आपकी आपत्ति नं० १ का बहुत कुछ अंश मेरे समाधान के नं० १ में आ चुका है। साररूपसे कहना यही है कि उपदेश न तो अज्ञानीके लिये होता है और न ज्ञानीके लिये ही, उपदेश की विधि तो केवल जिज्ञासुके लिये ही होती है और वह उसको तत्त्व-वस्तुका दिग्दर्शन करानेके लिये ही होता है। गुरु-शास्त्र के वचनोंमें विश्वास रखकर जब जिज्ञासु तत्त्वके विषयमें श्रवण करता है, तब उस तत्त्वमें अपनी सूक्ष्म बुद्धि व पुरुषार्थद्वारा ही प्रवेश पा सकता है, गुरु-शास्त्र उसे स्वयं वहाँतक नहीं ले जा सकते। इस प्रकार गुरु-शास्त्र बिना भी तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती और केवल गुरु-शास्त्रसे ही नहीं होती। इस रीतिसे अर्जुन न अज्ञानी था और न ज्ञानी, किन्तु जिज्ञासु-अर्जुनके प्रति भगवान् का तत्त्व-उपदेश इसी निमित्त था कि ज्ञान-राज्यमें उसका प्रवेश हो।

मेरे मतसे वैराग्यवान् एवं जिज्ञासु अर्जुन (अ० २।७-८) के प्रति भगवान्‌ने प्रथम अ० २ श्लो० ११ से ३० पर्यन्त तत्त्वका स्वरूप बोधन किया और फिर अ० २ श्लो० ३९ से जिस योगका उपदेश किया गया है वह निष्काम-कर्म कदापि नहीं हो सकता, किन्तु वह आत्मस्वरूपमें अभेदरूपसे स्थितिरूप 'तात्त्विक योग' ही हो सकता है। सिद्धान्तके अनुसार निष्काम-कर्मका फल चित्त-शुद्धिद्वारा विवेक-वैराग्यकी उत्पत्ति ही है और विवेक-वैराग्यके उत्पन्न होनेपर तत्त्व-उपदेशके श्रवणकी विधि है। इस रीतिसे वह अर्जुन, जिसकी आजीवन धार्मिक प्रवृत्ति ही रही, जिसके जीवनमें अधर्म-प्रवृत्तिका कोई एक भी दृष्टान्त नहीं मिलता; जो पूर्ण वीर होते हुए भी द्रौपदी-चीर-हरण जैसे विकट अवसरों में पूर्ण संयमी रहा; स्वाभाविक जो ऐसा मन-इन्द्रियविजेता था, उस अर्जुनके प्रति भगवान्‌ने वैराग्यके उत्पन्न होनेपर तत्त्वका ही उपदेश किया था। वैराग्यके फलस्वरूप इस तत्त्व-उपदेशके

पश्चात् फिर निष्काम-कर्मका ही उपदेश करना, जो उसमें स्वभावसिद्ध है, किसी भी शास्त्र-मर्यादाका पालन नहीं करता। जबकि निष्काम-कर्मके फल विवेक-वैराग्य उसको पहले ही प्राप्त हैं, तब उस वैराग्यवान्‌के प्रति ऐसा निष्काम-कर्मका उपदेश केवल प्रलापमात्र ही होगा जिसका कोई फल नहीं। इसके साथ ही इन श्लोकोंमें योगी व योगका जो लक्षण किया गया है, निष्काम-कर्ममें उन सभी लक्षणोंकी अव्याप्ति रहती है (पृ० १४७-१४८)। अत गीता (२।११-३०) में सांख्यज्ञानके द्वारा आत्माका स्वरूप शोधन करके अ० २।३९ से जिस योग का उपदेश किया गया है वह ज्ञान-योग ही है और वही तात्त्विक योग गीताका प्रतिपाद्य विषय है।

अपनी बुद्धिके अनुसार आपकी शकाओंका समाधान किया गया, वैसे विचारोंकी विलक्षणता तो प्रकृति-राज्यमें स्वाभाविक ही है। आपकी शकाएँ मेरे लिये किसी प्रकार असंतोषका कारण नहीं हैं, बल्कि मेरे लिये तो हर्षका विषय है कि इस प्रकार शङ्काओंद्वारा विचार अधिक स्पष्ट होते हैं। शेष कुशल।

यदि आप फिर कुछ इस विषयमें पूछेंगे तो मेरे लिये इसमें कोई आपत्ति न होगी। मैंने अपने पहले पत्रमें तिलक महोदयने जो ज्ञानका लक्षण भेदज्ञान व परोक्ष-ज्ञान किया है, ऐसे भेद व परोक्ष-ज्ञानको साक्षात् मोक्षका हेतु नहीं माना था, उसके उत्तरमें आप अपने इस पत्रमें लिख रहे हैं कि—"यह बात भी ठीक है कि महात्मा तिलकने ज्ञानका जो स्वरूप रखा है उसे दार्शनिक दृष्टिसे तो ठीक कह सकते हैं, परन्तु यह सच्चे बोधवान्‌की दृष्टि नहीं है।" इस पर मेरी यह जिज्ञासा है कि किस दर्शन ने इस रूपवाले भेद व परोक्ष-ज्ञानको मोक्षका हेतु माना है, सो लिखनेकी कृपा करें।———— भवदीय, आत्मानन्द।

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर १४-६-१६४३.

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज,

सादर ॐ नमो नारायणाय । आपका ३ अक्टूबरका कृपा-पत्र मिला। आपने मेरी शंकाओंके जो उत्तर दिये हैं उनके लिये मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि विचारके लिये प्रश्न ही बीज है और शंका ही समाधानकी जननी है, तथापि विचार-विनिमय जैसा एक स्थानपर होनेपर होता है, पत्रद्वारा वैसा हो नहीं सकता। मतभेदका मूल मतके मौलिक भेदकी अपेक्षा परस्पर एक-दूसरेके भावोंको समझनेकी भूल अधिक है और वह भूल पत्र-व्यवहारद्वारा दूर होनी कठिन होती है। इसमें सन्देह नहीं कि यह भूल पहले मेरी ओरसे ही हुई है। इसलिये मैं उसके लिये अपनेको अपराधी मानता हूँ और आपसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहता हूँ। वास्तवमें वह अवसर मेरे लिये बड़े सौभाग्यका होगा जब मैं कभी प्रत्यक्षरूपसे आपके दर्शन करूँगा और अपनी इन शंकाओंका समाधान करा सकूँगा।

अतः आपने जो उत्तर लिखनेकी कृपा की है उनमें कोई नयी शंका न उठाकर मैं आपके एक प्रश्नका उत्तर और अपने पूर्व पत्रकी एक भूल स्वीकार करके ही इस पत्रको समाप्त कर देना चाहता हूँ। आपने मेरे लिखे हुए तिलक-मतका अनुवाद करके पूछा है कि 'किस दर्शनने इस रूपवाले भेद व परोक्षज्ञानको मोक्ष-हेतु माना है?' सो इसके विषयमें मेरी यह प्रार्थना है कि परोक्ष-ज्ञानको तो किसी दर्शनने भी मोक्षका हेतु नहीं माना, परन्तु महात्मा तिलकने गीता-रहस्यमें अध्यात्मतत्त्वका जो स्वरूप वर्णन किया है वही एक तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे उसका केवल परोक्ष वर्णन-

ही है। परन्तु स्वयं लेखक उसे वैसा नहीं समझता और वह जिस ज्ञानके द्वारा मोक्ष मानता है उसे अपरोक्ष ही समझता है। मैंने उनके दर्शनको जो दार्शनिक दृष्टिसे ठीक लिखा था उसका आशय यही था कि भगवान् शंकराचार्यके समान वे भी अद्वैतवाद ही स्वीकार करते हैं तथा उन्होंने भी विवर्तवाद, अनिर्वचनीय-ख्याति और प्रपञ्चमिथ्यात्वादि स्वीकार किये हैं। यह अवश्य है कि उन्होंने शाङ्कर-सम्प्रदायकी पूरी प्रक्रिया स्वीकार नहीं की और उनकी प्रतिपादन शैलीसे ब्रह्मकी निर्विशेषता और एक-जीववाद का स्वरूपभी स्पष्ट नहीं होते। इसीसे मैंने जिज्ञासुके लिये उसे विशेष उपयोगी नहीं लिखा। इसमें मुझे यही कारण जान पड़ता है कि वे केवल पण्डित थे और एक साहित्यिककी तरह ही उन्होंने तत्त्वका निरूपण किया है, तत्त्वज्ञकी तरह नहीं।

आपने जो श्री · ··········जीके मतका निरूपण करनेमें सांख्य-योगकी मेरी व्याख्या अशुद्ध लिखी है, वह वास्तवमें ठीक है। मैं उनके ग्रन्थोंका विशेष स्वाध्याय तो करता नहीं हूँ। पहले से जो सामान्य धारणा बनी हुई थी उसके अनुसार लिख दिया था। उसमें मेरे लिखनेमें इतनी भूल हो गयी कि मैंने 'भगवान् ही मेरे द्वारा सब कर्म करा रहे हैं, मैं केवल उनका यन्त्र हूँ' इतना अंश और बढ़ा दिया। वास्तवमें उन्होंने इसे कर्मयोगके अन्तर्गत माना है, क्योंकि इसमें भक्त और भगवान्का भेद बना हुआ है। मैंने अकर्तृत्वकी भावना रहनेके कारण इसे साङ्ख्य-योगमें सम्मिलित कर दिया था।

१ सांख्ययोगका उन्होंने जो लक्षण लिखा है उसे वे ज्ञान नहीं मानते, केवल ज्ञानका साधन मानते हैं, क्योंकि साधक की ऐसी भावना ही रहती है, स्थिति नहीं। स्थिति होनेपर ही वह 'ज्ञानी' कहा जा सकता है।

कर्मयोगके द्वारा ज्ञानप्राप्तिमें वे भगवत्कृपाको ही हेतु मानते हैं। इसमें भक्तिका प्राधान्य होनेके कारण यह भगवान् की प्रसन्नताका साधन तो है ही और उनकी प्रसन्नता होने पर उसे ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। उनके इसी भावको लेकर मैंने 'बुद्धि-योग' शब्दका प्रयोग 'ज्ञान' के अर्थमें किया था। 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते (१०।१०) इस श्लोकमें उन्होंने 'बुद्धि-योग' शब्द ज्ञानका ही वाचक माना है। हाँ, अन्य कई स्थानोंमें उसे कर्मयोगका वाचक मानते हैं। मेरा तात्पर्य इसी श्लोकसे था, इसलिये मैंने वही अर्थ लिया था।

अपने पिछले पत्रमें मैंने श्रीशंकराचार्यजी और श्री······ ······जीके सिद्धान्तोंकी एकताका प्रतिपादन नहीं किया और न मैं ऐसा मानता ही हूँ। मैंने तो यही सिद्ध करनेकी चेष्टा की थी कि उन दोनों मतोंमें भेद होनेपर भी दोनों युक्तियुक्त हैं और दोनोंकी ही प्रक्रियाओंके अनुसार चरमतत्त्वकी प्राप्ति हो सकती है। शेष भगवत्कृपा है। आशा है, आप सानन्द होंगे।

आपका कृपापात्र, मुन्नीलाल।

नोट—१.२.३. इन तीनों विषयोंपर विचार नीचे देखिये

भ० अमुनिलालजीके पत्र ता० १४-९-४३ से तीन विषय विचारणीय उपस्थित होते हैं, अतः उनपर पृथक्-पृथक् विचार नीचे स्पष्ट किये जाते हैं—

(१) श्रीभक्तजीके शब्द ये हैं—"सांख्ययोगका श्री······ ······जी ने जो लक्षण लिखा है उसे वे ज्ञान नहीं मानते, केवल ज्ञानका साधन मानते हैं, क्योंकि साधककी ऐसी (ब्रह्ममयी) भावना ही रहती है, स्थिति नहीं इत्यादि।" इस विषयमें विचार—

जैसा श्रीभक्तजी अपने पत्रोंमें लिखते हैं, श्री······ जीकी गीतासे यह किसी प्रकार प्रमाणित नहीं होता कि 'सांख्य' तथा 'योग' पृथक्-पृथक् दोनों ज्ञानको उत्पन्न करते हैं और फिर ज्ञानद्वारा मोक्ष होता है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो भी इस मतको निर्दोष नहीं कहा जा सकता। प्रथम हमें श्रीभक्तजी की उपर्युक्त पंक्तिके अनुसार साधककी इस (ब्रह्ममयी) भावना पर विचार करना चाहिये—

ब्रह्मके स्वरूपके बोधक वेदान्त वाक्योंको 'अवान्तर-वाक्य' कहते हैं और जीव-ब्रह्मके अभेदबोधक वाक्योंको 'महावाक्य' कहा जाता है। 'ब्रह्म सत् चित्-आनन्दस्वरूप है और जीवका वास्तव स्वरूप वह ब्रह्म ही है' इत्यादि अवान्तर-वाक्योंद्वारा 'असम्भावना-दोष'[1] की निवृत्ति होकर ब्रह्मका परोक्ष-ज्ञान होता है और इस परोक्ष-ज्ञानका फल ब्रह्ममयी भावनाकी उत्पत्ति है। परन्तु वह ब्रह्ममयी भावना ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानका साक्षात् साधन नहीं हो सकती, किन्तु इस भावनाका फल विवेक-वैराग्यादिकी विशेष पुष्टिद्वारा हृदयमें तत्त्व-जिज्ञासा अर्थात् विरह का अधिक सुदृढ हो जाना ही है, यही अपने स्वरूपसे अपरोक्ष-ज्ञान नहीं करा सकती। अपरोक्ष-ज्ञानका साक्षात् हेतु तो दृढ विरहयुक्त हृदयमें तत्त्व-चिन्तनद्वारा जीव ब्रह्मके अभेदको विषय

[1] असम्भावना-दोष 'प्रमाणगत संशय' तथा 'प्रमेयगत संशय' इन दो भागोंमें विभक्त है 'वेदान्त वाक्य जीव-ब्रह्मके भेदको बोधन करते हैं अथवा अभेदको ?' इस संशयका नाम 'प्रमाणगत संशय' है तथा 'जीव-ब्रह्मका भेद सत्य है अथवा अभेद सत्य है?' इस संशयको प्रमेयगत संशय' कहा जाता है। अवान्तर वाक्योंसे ये दोनों संशय निवृत्त होकर यद्यपि ब्रह्ममयी भावना उत्पन्न होती है, परन्तु साक्षात्काररूप अभेद नहीं होता।

करनेवाली केवल ब्रह्माकार-वृत्ति ही हो सकती है और वह ब्रह्माकार-वृत्ति साक्षात्‌रूपसे केवल इस भावनाद्वारा ही उत्पन्न नहीं हो सकती। जब कभी भी ब्रह्माकार-वृत्ति उत्पन्न होगी, तब इस भावनाके निवृत्त होनेपर ही होगी, क्योंकि 'भावना' और 'अपरोक्ष' का परस्पर विरोध है। जबतक जिस वस्तुकी भावना रहती है, तबतक उसका अपरोक्ष नहीं होता और जब जिस वस्तुका अपरोक्ष हो जाता है, तब उसकी भावना नहीं रहती। संसारमें भी देखा जाता है कि भावनामात्रसे ही वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो जाती, किन्तु अनुकूल साधनसे ही होती है, ऐसा नियम है। व्यवहारमें प्रत्येक अपरोक्ष-ज्ञान अनुकूल साधनद्वारा वृत्ति-चेतन तथा विषय-चेतनके अभेद होनेपर ही होता है। बल्कि कहना पड़ेगा कि भावनामात्र किसी भी अपरोक्षको सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि वृत्ति-चेतन व विषय-चेतनके अभेदमें भावना प्रतिबन्धक है। इस प्रकार यद्यपि भावना विरहका हेतु तो है, परन्तु अपरोक्षका हेतु नहीं। तथा यह भी किसी प्रकार नहीं माना जा सकता कि गीतामें भगवान्‌ने जिस सांख्य-ज्ञानका वर्णन किया है वह केवल भावनामय ही है। गीता-प्रेसकी गीता में अ० ५ श्लो० ७-१३ ही देखिये, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि जो सांख्य-ज्ञान इस अध्यायमें कथन किया गया है वह केवल भावनामय नहीं, किन्तु अपरोक्षरूप ही है। इसके साथ ही यह भी ज़रूरी है कि वह ब्रह्ममयी भावना अनायास ही नहीं आ जाती, किन्तु निष्काम-कर्मद्वारा निर्मलान्तःकरणमें विवेक-वैराग्यादि साधनसम्पन्न होकर वेदान्त-श्रवण-मननद्वारा ही इस भावनाका उद्बोध सम्भव होता है। अर्थात् (१) निष्काम-कर्म-द्वारा उपर्युक्त रूपसे निर्मलान्तःकरणमें ब्रह्ममयी भावना, (२) इस भावनासे तत्त्व-चिन्तनमें प्रवृत्ति, (३) तत्त्व-चिन्तनके

परिपक्व होनेपर ब्रह्माकार-वृत्ति (४) और फिर इस वृत्तिद्वारा अज्ञानका बाध होकर अपने ब्रह्मस्वरूपका अपरोक्ष—यही क्रम बन सकता है। जैसा श्री'' ''''''जीने माना है कि 'निष्काम-कर्म (योग) तथा ब्रह्ममयी-भावना (सांख्य) ये दोनों स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष ज्ञानके साधन हैं' यह विचारद्वारा किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

सांख्य-ज्ञानका स्वरूप श्री'' ' '' जीने अपनी गीताकी भूमिकामें 'गीताका प्रधान विषय' शीर्षकसे इस प्रकार किया है—

'सम्पूर्ण पदार्थ मृग तृष्णाके जलकी भाँति अथवा स्वप्न-सृष्टि के सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रियों व शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना तथा सर्वव्यापी परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहते हुए कुछ भी होता हुआ न देखना।'

यहाँ विचार होता है कि 'सम्पूर्ण पदार्थ मायामय होनेसे गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं' ऐसा ज्ञान केवल भावना नहीं हो सकता। कदाचित् यह भावना मान भी ली जाय, परन्तु (१) 'देहेन्द्रियादि के कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानसे राहित्य' (२) 'सर्वव्यापी परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थिति' (३) तथा 'स्वस्वरूपमें कुछ भी होता हुआ न देखना' यह भावनामात्र कैसे सिद्ध होगा ? किन्तु यह तो केवल अपरोक्ष ही हो सकता है। यदि यह भावनामात्र ही है, तो यह भावना मिथ्या ही कही जायगी। बल्कि कहना पड़ेगा कि यह भावना उल्टा अपरोक्षमें आड़े आ जायगी, क्योंकि 'कर्तृत्वाभिमानराहित्य' और 'स्वस्वरूपमें स्थिति' तो अभी सिद्ध हुई नहीं है, परन्तु मिथ्या भावनासे वह मान बैठा है इनकी सिद्धि, फिर भला मार्ग खुले तो कैसे खुले ? मार्ग तो तभी खुल

सकता था, जबकि अपनेमें इनकी कमी देखी जाती। यदि यही मिथ्या भावनामयी प्रवृत्ति रही तो यह कदापि अपरोक्ष करा नहीं सकेगी, रहेगी यह प्रतिबन्धकरूप ही। 'कर्तृत्वाभिमान-राहित्य तथा स्वस्वरूपमें एकीभावसे स्थिति' तो केवल अपने ब्रह्मस्वरूपके अपरोक्ष-ज्ञानसे ही सम्भव हो सकती है, केवल भावनासे तो इसका होना असम्भव ही है, क्योंकि अन्तःकरणसे एकीभाव होनेपर ही भावनाका उद्बोध हुआ करता है। ऐसी अवस्थामें, अर्थात् अन्तःकरणसे एकीभाव रहते हुए अपने ब्रह्म-स्वरूपसे एकीभाव सर्वथा असम्भव है। क्योंकि 'मैं कर्ता-भोक्ता अन्तःकरण स्वरूप हूँ' यह ज्ञान तो इस भावुकको अपरोक्ष है और 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' यह ज्ञान भावनामय एवं परोक्ष है। सो यह भावनामय परोक्ष उस अन्तःकरणस्वरूप अपरोक्षको बाध करनेमें किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता। अन्तःकरणस्वरूप अपरोक्षकी निवृत्ति तो केवल ब्रह्मस्वरूपके अपरोक्ष होनेपर ही निर्भर हो सकती है। जैसे रज्जुका सर्परूपसे अन्यथा ग्रहण रज्जु के अपरोक्षसे ही निवृत्त होता है। सम्यग्दर्शी पुरुषके इन वचनों से कि 'यह सर्प नहीं रज्जु है' भ्रमित पुरुषमें रज्जुकी भावना और रज्जुका परोक्ष हुआ भी, परन्तु इसीसे उसके सर्पजन्य भय-कम्पनादि निवृत्त नहीं होते। भय कम्पनादिसे तो वह तभी छूट सकता है, जबकि दीपकके प्रकाशद्वारा उसको रज्जुका अपरोक्ष हो जाय। यदि वह रज्जुकी भावनापर ही सन्तुष्ट हो बैठे तो रहेगा वह भयभीत ही, फिर न तो रज्जुकी भावना छूटेगी और न उस का अपरोक्ष ही होगा। रज्जुका अपरोक्ष तो तभी होगा जबकि वह प्रकाशकी सामग्री सम्पादन करे। प्रकाश आने पर स्वतः रज्जुका अपरोक्ष होगा, फिर रज्जुकी भावना तथा सर्पका भय अपने-आप निवृत्त हो जायँगे (विस्तारसे देखिये पृ० ८२-८७)।

सारांश, जैसा श्रीभक्तजीने श्री·· ·· ·········जीके मतका उल्लेख किया है उनका सांख्य-योगका लक्षण भावना ही नहीं, किन्तु अपरोक्ष-ज्ञान ही हो सकता है और वह साक्षात् मोक्ष का ही साधन बनता है, ज्ञानका नहीं। तथा यदि इसको किसी प्रकार भावना मान भी लिया जाय तो यह अपनी जातसे ही ब्रह्मका अपरोक्ष-ज्ञान करानेमें कुण्ठित है। और जबकि उनका सांख्य-योग वास्तवमें अपरोक्ष-ज्ञान ही है, फिर उनके मतसे उनका कर्म-योग भी साक्षात् मोक्षका ही साधन मानना पड़ता है, ज्ञानका नहीं; क्योंकि उन्होंने इस कर्म-योगको सांख्य-योग का साधन तो माना नहीं है, बल्कि इसको स्वतन्त्र ही माना है। 'गीताका प्रधान विषय' शीर्षक उनकी पंक्तियोंसे भी यही प्रमाणित होता है। इस प्रकार उनके मतको लेकर यदि इस कर्म-योगको मोक्षका साक्षात् साधन मान लिया जाय तो यह अपने स्वरूपसे ही अज्ञानका बाध करके मोक्ष दिलानेमें किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता।

(२) श्रीभक्तजीके पत्रके शब्द ये हैं—"कर्मयोगके द्वारा ज्ञानप्राप्तिमें वे भगवत्कृपाको ही हेतु मानते हैं। भगवान्की प्रसन्नता होनेपर स्वतः ही ज्ञान हो जाता है, इत्यादि।" इस विषयमें विचार—

भगवत्कृपाका स्वरूप क्या है? इसपर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि कर्मयोगद्वारा निर्मलान्तःकरणमें विवेक, वैराग्य एवं तत्त्व-जिज्ञासाकी उत्पत्ति,यही भगवत्कृपाका स्वरूप हो सकता है जिसके द्वारा ज्ञानरूप सिद्धिकी योग्यता प्राप्त होती है, अर्थात् ज्ञानका अधिकार प्राप्त होता है। 'ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते' (अर्थात् अपने भक्तोंके लिये मैं उस बुद्धिके योगका प्रदान कर देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त

कर लेते हैं (१०।१०) का यही भावार्थ है कि संसार-बुद्धि निवृत्त करके शुद्ध सात्त्विक बुद्धिमें तत्त्व-जिज्ञासा प्रदान कर दी जाय। तत्पश्चात् श्रवण- मननादिमें प्रवृत्तिरूप जिज्ञासुके पुरुषार्थ पर ही ज्ञानसिद्धिकी प्राप्ति निर्भर है। इस पुरुषार्थके अङ्गीकार किये बिना ही भगवत्कृपा स्वतः ज्ञानको सिद्ध कर देगी, यह भगवत्कृपाका अर्थ नहीं है और न दृष्टान्त व प्रमाणसे ही ऐसा सिद्ध होता है। भगवत्कृपाके फलस्वरूप भगवान्‌के सगुण रूप के सक्षात्कारके अनन्तर ध्रुव व प्रह्लादको श्रवण-मननादि पुरुषार्थ में प्रवृत्त होना पड़ा (देखो योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण प्रह्लाद व बलि आख्यान)। स्वयं अर्जुन जो यद्यपि भगवानका परम सखा और सदा ही उसका अनुगामी रहा, परन्तु उसका मोहादि अज्ञान-तिमिर तो उसी समय नष्ट हो पाया, जबकि वह विवेक-वैराग्यादि से सम्पन्न होकर गीता-शास्त्रके श्रवण-मननरूप अपने पुरुषार्थमें आरूढ हुआ। यदि श्रवण-मननरूप अपने पुरुषार्थके बिना केवल भगवत्कृपा ही ज्ञानरूप सिद्धिकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होती तो वह तो उसको नित्य ही प्राप्त थी, इसलिये गीताके श्रवण-मनना-दिसे पूर्व ही उसका अज्ञान-तिमिर नष्ट हो जाना चाहिये था। गीता शांकर-भाष्य (१८।४१-४८) में निष्काम भावसे चतुर्वर्णोंके धर्मोंका विधान निरूपण किया गया है, जिसका फल अन्तः-करणकी निर्मलतारूप सिद्धि ही कहा गया है। तत्पश्चात् श्लो० ४९-५५ में उसी निवृत्तिरूप चिन्तनादि पुरुषार्थकी विधि बताई गई है जिसके द्वारा भगवत्प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

(३) श्रीभक्तजीके पत्रके शब्द ये हैं—"आपने पिछले पत्रमें मैंने श्रीशंकराचार्यजी तथा श्री··················जीके सिद्धांतों की एकताका प्रतिपादन नहीं किया और न मैं ऐसा मानता ही हूँ। मैंने तो यही सिद्ध करनेकी चेष्टा की थी कि इन दोनों मतों

में भेद होनेपर भी दोनों युक्तियुक्त हैं और दोनोंकी ही प्रक्रियाओं के अनुसार चरम तत्त्वकी प्राप्ति हो सकती है।' इस विषयमें विचार—

अपने पत्रमें श्रीभक्तजी उपर्युक्त दोनों मतोंका भेद तो स्वीकार कर ही चुके हैं। मतोंका भेद होते हुए भी दोनोंको युक्तियुक्त ग्रहण करना और दोनोंकी ही प्रक्रियाओंसे एक ही चरमतत्त्व की प्राप्ति मानना कहाँतक समीचीन है? यही विचार करना चाहिये। सत्य एक है, अनेक नहीं और दोनों मतोंका लक्ष्य भी उस एकको ही पाना है, ऐसी अवस्थामें मतोंमें भेद रहते हुए दोनोंको युक्तियुक्त किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। उनमेंसे अवश्य एक उपादेय और दूसरा हेय रहना चाहिये। यदि दोनों उपादेय हैं तो सत्य भी दो ही रहने चाहियें। सत्य तो एक हो और दोनों विभिन्न मत उपादेय बने रहें, इसमें कोई युक्ति नहीं दी जा सकती। इसके साथ ही दोनों विभिन्न मतोंकी विभिन्न प्रक्रियाओंसे एक ही चरम तत्त्वकी साक्षात् प्राप्ति मान बैठना और भी आश्चर्यजनक है। हाँ, यदि एक मतको साधन-कोटिमें और दूसरेको साध्य कोटिमें ग्रहण किया जाता तो निर्वाह हो सकता था। परन्तु दोनों विभिन्न मतोंको साक्षात् एक ही चरम तत्त्वकी प्राप्तिका साधन मानना तो किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं बनता।

—लेखक

श्रीयुत् भ० मुनिलालजीकी समालोचना

पूज्य स्वामी श्रीआत्मानन्दजी मुनिका गीता-दर्पण श्रीमद्भगवद्गीताकी ज्ञानप्रधान टीका है। महात्मा तिलकने जिस प्रकार गीताको कर्मयोग-शास्त्र माना है, उसी प्रकार पूज्य स्वामीजीके मतमें यह ज्ञान-योग शास्त्र है। ग्रन्थके आरम्भमें प्राय: ३०० पृष्ठ की प्रस्तावनामें आपने इसका युक्तियुक्त विवेचन किया है। पुस्तक बहुत उपयोगी है। हिन्दीमें जो मौलिक टीकाएँ हैं, उनमें इसका स्थान बहुत ऊँचा है। तत्त्वजिज्ञासुओंको इससे निश्चय ही विचारकी बड़ी अमूल्य सामग्री मिलेगी, उनके लिये इसे मनन-ग्रन्थ कहा जा सकता है। अध्यात्म-वस्तुको समझाने के लिये इसमें बहुत ही सरल और सुबोध युक्तियोंसे काम लिया गया है। इसलिये जहाँतक विषय-विवेचनकी दृष्टिसे देखता हूँ, इसकी परमोपयोगिता निर्विवाद है। जिज्ञासुओंको गीतार्थका अनुशीलन करनेके लिये अवश्य ही इसका स्वाध्याय करना चाहिये।

समालोचना 'सरस्वती' इलाहाबाद,

अप्रेल सन् १६४४.

श्रीमद्भगवद्गीता संसारकी उन अमर कृतियोंमेंसे एक है, जो गत अनेक शताब्दियोंसे विद्वानोंके आश्चर्यका कारण बनी हुई हैं। और देशोंकी बात जाने भी दें, हमारे देशके संख्यातीत मतों, सम्प्रदायों और धर्मोंमेंसे ऐसा एक भी न होगा, जिस के प्रवर्तकने अपने मतकी पुष्टिमें इस महत्त्वपूर्ण कृतिके श्लोकों को उद्धृत न किया हो। परिणाम यह हुआ है कि श्रीशंकराचार्यसे लेकर आजतक भगवद्गीताकी इतनी टीकाएँ, व्याख्याएँ और अनुवाद हुए हैं कि उनको गिन सकना भी कठिन है।

यही नहीं कि उन अनुवादों और टीकाओंमें दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्तकी विभिन्नता देखनेमें आये, श्लोकक्रम, श्लोकसंख्या आदिमें भी भिन्नता है। प्रत्येक टीकाकारका मन्तव्य विभिन्न था, इसीलिये गीताकी व्याख्याएँ भी एक-दूसरेसे मेल नहीं खातीं।

इस वस्तु-स्थितिमें सत्यान्वेषी मुमुक्षुके निकट गीताका आधार लेते समय यह एक कठिन प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि वह इन अगणित व्याख्याताओंमेंसे किसे ठीक माने. जबकि प्रत्येक व्याख्याता अपने प्रतिपादनके ही सर्वश्रेष्ठ निर्दोष और यथातथ्य होनेका दावा करता है।

यही नहीं गीता-स्वाध्यायीके निकट एक और कठिनाई उपस्थित हो जाती है। वेदान्तके साथ स्वर मिलाते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं—'जन्म-मरण, सुख-दुःख एवं पुण्य-पापका मूल कर्तृत्व-बुद्धिरूप अहंकार है। कारण कर्तृत्व-बुद्धि 'अहंता' और 'इदन्ता' द्वारा उत्पन्न होती है 'अहंता' और 'इदन्ता' भेद-बुद्धिके कारण हैं और वह भेद-बुद्धि परिच्छिन्नताका प्रकार है। अभिप्राय यह है कि यदि अध्यासजन्य ये मिथ्या वस्तुएँ न हों तो कर्तृत्व-बुद्धि उत्पन्न ही न हो। 'अध्यास मिथ्या है, अतः कर्तृत्व-बुद्धि भी मिथ्या ही हो सकती है। पर जब अध्यासजन्य कर्तृत्व-बुद्धिका आभास गीताके उपदेशमें भी पाया जाता है तब आश्चर्य अवश्य होता है। उदाहरणार्थ गीता-दर्पणके रचयिता मुनिवर एक स्थानपर लिखते हैं—' द्वितीय अध्यायसे मनन प्रारम्भ किया गया। जहाँ कहीं टीका लेखक (मुनिजी) के विचारोंसे मेल नहीं खाती थी, वहाँ उसकी शुद्धि भी की जाती रही। और जो गम्भीर भाव लेखक की बुद्धिमें आरूढ हुआ उसको अलग कागज़पर नोट करके उस श्लोकके साथ चस्पाँ किया जाता रहा।" मुनिजी ने

आगे यह भी कहा है कि गीताकी अन्य अनेक टीकाएँ भी उन के मन्तव्यके साथ मेल न खा सकीं। इस प्रकार गीतादर्पणकी सृष्टि हुई। पर इस सृष्टिका समर्थन शायद गीता भी न करेगी, क्योंकि आगे चलकर एक मन्तव्यकी व्याख्या करते हुये मुनिजी लिखते हैं—"यदि उसने संसारको अपनी आत्मासे भिन्न जाना और अपने-आपेको भिन्न जाना है तथा अपनेसे भिन्न संसारको सत्य जानकर विगड़ा हुआ वह देखता है, जिसका सुधार-कर्तव्य वह देख रहा है, तब वह न आत्मतृप्त है, न उसकी आत्मरति है और न आत्मसन्तुष्टि। कहाँका विगाड़ और किसका सुधार! जब शिव-शम्भुके समान यह आत्मदेव अपना तृतीय नेत्र खोले तब इसको ज्ञात होगा कि संसार तो कभी कुछ बिगड़ा हुआ था ही नहीं और उसमें सुधार करनेयोग्य कुछ था ही नहीं।"

इस दशामें यह मानना पड़ता है कि यह तीसरा नेत्र खोलने का उपदेश केवल हम लोगोंके लिये है, जिनकी बुद्धि रजोमयी और तमोमयी है। साधु-मुनि तो संसारको विकृत और दोष-पूर्ण देखनेके पूर्ण अधिकारी हैं और उसका सुधार कर डालने की उन्हें 'आत्मप्रेरणा' होती है और इसीमें उन्हें 'आत्मप्रसाद' प्राप्त होता है। (उपर्युक्त पैरे ३ व ४ पर विचार आगे देखिये)

'आत्मप्रेरणया ह्येतदात्मनैव प्रसादितम्।'

जहाँतक व्याख्या और प्रतिपादन-शैलीका सम्बन्ध है, हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि यह व्याख्या सरल सुबोध है और जनसाधारण इससे लाभ उठा सकते हैं। मुनिजीके अनु-भवके अनुसार गीताका प्रतिपाद्य विषय यह नहीं है, जैसा कि अन्य अनेक व्याख्याताओंने माना है कि मानव निष्काम-कर्म-प्रवृत्तिद्वारा ईश्वरको प्राप्त कर सकता है। उनकी सम्मतिसे निष्काम-कर्म-प्रवृत्तिका फल इतना ही है कि प्रकृतिका तमो-

गुणी व रजोगुणी विक्षेप, जो मनुष्योंके हृदयोंमें भरपूर है और जो परमार्थमें प्रतिबन्धक-है, उसके वेगको शुभ मार्गसे निकालकर सत्त्वगुणका प्रादुर्भाव कर देवे और सत्त्वगुणी विक्षेपके उपस्थित होनेपर कर्म निष्फल हो जाता है, तब ज्ञानका प्रकाश होता है। चूँकि परमात्मा हमारे हृदयमें ही विद्यमान है इसलिये कर्मद्वारा उसको किसी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसकी प्राप्तिके लिये अज्ञान-निवर्तक ज्ञान ही उपयोगी है। ज्ञानद्वारा जब आत्मस्वरूप-स्थिति प्राप्त हो गई, तब ऐसे पुरुषके कर्म कर्माभासमात्र होते हैं। इस अवस्थामें आरूढ पुरुषके स्वाभाविक कर्म-प्रवृत्ति ही गीताका प्रतिपाद्य है।'

यह पूर्वार्द्धका परिचय हुआ। उत्तरार्द्ध भागमें पूर्व वृत्तान्त और गीताका भाषार्थ दिया गया है। इस प्रकार यह एक पुस्तक ही गीता पाठियोंके लिये पूर्ण रूपसे उपयोगी बन गई है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसका सारांश दे देनेसे व्याख्या और भी बोधगम्य हो गई है। इसी प्रकार प्राय: श्लोकोंके नीचे अर्थके साथ-साथ भावार्थ भी दे दिया गया है जिससे श्लोकों का अर्थ हृदयंगम करनेमें सहायता मिलती है। हम गीता-भक्तों के निकट इसके पाठ व मननका अनुरोध करते हैं।

—'पण्डित'

समाधान

अपनी उक्त समालोचनाके पैरे ३ व ४ में समालोचक महाशय 'सरस्वती' इलाहाबादने यह शङ्का उपस्थित की है—

वेदान्तके साथ स्वर मिलाते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जन्म-मरणादिका मूल कर्तृत्व-बुद्धिरूप अहंकार है। कारण, कर्तृत्व-बुद्धि 'अहन्ता' व 'इदन्ता' द्वारा उत्पन्न होती है। 'अहन्ता'

व 'इदन्ता' भेद-बुद्धिके कारण हैं और भेद-बुद्धि परिच्छेद-बुद्धि का प्रकार है। अभिप्राय यह कि यदि अध्यासजन्य यह मिथ्या वस्तुएँ न हों तो कर्तृत्व-बुद्धि उत्पन्न ही न हो। अध्यास मिथ्या है अतः कर्तृत्व-बुद्धि भी मिथ्या ही हो सकती है। पर जब अध्यासजन्य कर्तृत्व-बुद्धिका आभास गीताके उपदेशमें भी पाया जाता है तब आश्चर्य अवश्य होता है।"

इससे आगे 'धन्यवाद' शीर्षक व ग्रन्थकी प्रस्तावनाकी कुछ पंक्तियोंसे अपनी शङ्काका समर्थन किया गया है। उक्त शङ्का पर लेखकका समाधान निम्न प्रकार है—

समाधान

वेदान्त व गीता-दृष्टिसे किसी पदार्थका नाश करना कर्तव्य नहीं है। क्योंकि गीता-दृष्टिसे 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' (२।२७), इन वचनोंके अनुसार प्रकृतिराज्यमें नष्ट हुई वस्तु स्वरूपसे नष्ट हो नहीं जाती। बल्कि जिस प्रकार तरंग जलमें लयमात्र होती है, परन्तु वायुके सद्भावसे वह फिर अन्य रूपसे निकल पड़ती है, इसी प्रकार अज्ञानके सद्भावसे नष्ट हुई वस्तु फिर अन्य रूपसे अवश्य प्रकट होती है। इसीलिये वेदान्त व गीता-दृष्टिसे देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और तत्सम्बन्धी कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्ध्यादिका अध्यास एवं इदन्ता व ममतारूप प्रपञ्च, जो वास्तवमें रज्जुमें सर्पके समान वस्तु (ब्रह्म) के आश्रय अवस्तुरूप हैं और जो वस्तु (ब्रह्म) के अज्ञानके कारण वस्तुरूप (सत्) प्रतीत हो रहे हैं, उनको वस्तुके ज्ञानसे बाध (त्रिकालाभाव) अर्थात् अवस्तुरूप सिद्ध कर देना, यही परम पुरुषार्थ निश्चित किया गया है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (२।१६)

अर्थात् असत् वस्तु तो रज्जुमें सर्पके समान कदाचित् होती ही नहीं है, चाहे वह भ्रमवशात् प्रतीत होती भी हो। और सत् वस्तु का कदाचित् अभाव नहीं होता, चाहे वह अध्यासके कारण प्रतीत न होती हो, परन्तु वास्तवमें वह होती तो ज्यों की-त्यों ही है।

इस प्रकार अज्ञानजन्य मिथ्या कर्तृत्व-बुद्धिका ज्ञानद्वारा बाध (त्रिकालाभाव) करना ही पुरुषार्थ है, किसी क्रियाद्वारा नाश करना नहीं है, क्योंकि अन्य प्रकारसे वह किसी प्रकार स्वरूपसे नष्ट हो भी नहीं सकती। यही विषय अनेक युक्तियों व दृष्टान्तों के साथ पृ० २६-४० तक निर्धारित किया गया है, परन्तु कर्तृत्व-बुद्धिकी सत्यताके कारण समालोचक महाशयकी दृष्टिमें वे पंक्तियाँ घर न कर सकीं।

वेदान्त व गीता-दृष्टिसे जन्म-मरणादि सभी क्लेशोंका मूल केवल वस्तुमें अवस्तुका भ्रम, अर्थात् अध्यासके कारण वस्तुको यथार्थ रूपसे न जानकर अन्य रूपसे (रज्जुको सर्परूपसे) ग्रहण कर लेना ही है। अत' तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा अवस्तुका बाध करके वस्तुको अपने वास्तविक रूपमें देखना, यही पुरुषार्थ है और केवल इसीसे सभी क्लेशोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव हो सकती है। इसीलिये गीतामें अर्जुनके प्रति भगवान्‌का उपदेश अवस्तु-दृष्टिका बाध करके भेद व परिच्छेद-दृष्टिकी निवृत्तिद्वारा वस्तु-दृष्टिकी स्थापना करानेके निमित्त ही है। क्योंकि भेद व परिच्छेद-दृष्टिके कारण अपनेमें तथा अन्य सम्बन्धियोंमें अवस्तु-रूप जन्म-मरणादिमें वस्तु-बुद्धि ही अर्जुनके सब क्लेशोंका मूल था। और अवस्तुरूप जन्म-मरणादिका भ्रम केवल ज्ञानद्वारा भेद व परिच्छेद-दृष्टिकी निवृत्ति होनेपर ही निवृत्त हो सकता था। किसी प्रकार कर्मादिद्वारा उस भ्रमका निवृत्त होना असम्भव ही था और उस भ्रमनिवृत्तिके बिना अर्जुन अन्य किसी प्रकार क्लेशों

से मुक्त हो नहीं सकता था । इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति उसी ज्ञानका उपदेश किया, जिसके द्वारा वह भेद व परिच्छेदजन्य जन्म-मरणादि सभी भ्रमोंसे मुक्त हो गया ।

प्रकृतिके प्रवाहमें किसी प्रकार आघात करना ज्ञानका फल नहीं है, किन्तु केवल अज्ञान-निवृत्तिद्वारा प्रकृति व प्रकृतिजन्य प्रवाहको बाधित (त्रिकालाभाव) करना ही फल है, नष्ट करना नहीं है। क्योंकि नष्ट हुई वस्तु तो गीता (२।२७) के अनुसार फिर अन्य रूपसे अवश्य उत्पन्न होती है, परन्तु बाधित वस्तु किसी रूपसे भी शेष नहीं रहती । इसलिये ज्ञानद्वारा भ्रमरूप देहेन्द्रियादि एवं मन-बुद्ध्यादिसे असंग होकर अपने साक्षीस्वरूप आत्मा में अभेदरूपसे स्थित होना, प्रकृतिजन्य देहेन्द्रिय व मन-बुद्ध्यादिको प्रकृतिके हाथों सौंप देना और अपरोक्ष-ज्ञानकी प्रौढता करके इनके व्यापारोंमें कर्तृत्व व कर्तव्यता, अहंता व ममतारूप भेद-भावनाओंका दग्ध हो जाना, यही गीता-प्रतिपादित योग है। और केवल इसी योगद्वारा सब अनर्थोंकी समूल निवृत्ति होकर परम अर्थकी सिद्धि सम्भव हो सकती है, क्योंकि यह अज्ञान-जन्य भेद-भावना ही इस जीवके जन्म-मरणादि सब क्लेशोंकी मूल होती है, जड़ कर्म अपने स्वरूपसे बन्धनका मूल नहीं हुआ करता । कर्मके साथ जैसी कर्ताकी भावना होती है, अज्ञानके कारण वह भावना ही फलका हेतु होती है, जोकि ज्ञानद्वारा भुने बीजके समान दग्ध की जा सकती है, जिसका यद्यपि आकार तो रहता है परन्तु वह तब फल उपजानेके योग्य नहीं रहती। इस प्रकार ज्ञानका फल अज्ञानजन्य कर्तृत्व व कर्तव्यादि भेद-भावनाओंको भुने बीजके समान भर्जित कर देना ही है, निश्चेष्टता किसी प्रकार ज्ञानका फल नहीं है । क्योंकि ज्ञान-द्वारा किसी पदार्थको नाश नहीं किया जाता, किन्तु वस्तुके

आश्रय जो अज्ञान, केवल वही ज्ञानद्वारा निवृत्त किया जा सकता है।

इस रीतीसे कर्तृत्वाहंकारको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक अज्ञानमूलक अशुद्ध रज-तममय अहंकार, जो भेद-भावनासंयुक्त रहकर क्रियाका कर्ता एवं प्रतिक्रिया का भोक्ता होता है और जो जन्म-मरणादि सभी अनर्थोंका मूल है। दूसरा ज्ञानमूलक शुद्ध सात्त्विक अंहकार, जो ज्ञानके प्रभावसे सब भेदभावनाओंसे विनिर्मुक्त है। यद्यपि वह आभासमात्र क्रियाओंका कर्ता प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुत. किसी प्रतिक्रिया का भोक्ता नहीं रहता। किन्तु प्रकृतिराज्यमें अन्यकी क्रियाओंकी प्रतिक्रियामें निमित्तमात्र ही होता है और स्वयं सब अनर्थोंसे मुक्त रहता है। देखो (४।१८-२३,३५-३७,४१-४२), (५।७-१३), (६।१-४), (१४।१९-२०), (१८।१०-२७)। यही विषय विस्तार से युक्ति व प्रमाणसहित 'सांख्य व योगका अभेद और इस अभेदद्वारा मोक्ष व लोक-संग्रहकी सिद्धि' शीर्षकसे पृ० १०५-११२ पर भली-भाँति स्पष्ट किया गया है। यदि स्थिरचित्तसे इसका मनन किया जाता तो सम्भव है इस शंकाका अवसर ही प्राप्त न होता। इसी सिद्धान्तके साक्षात्कारकी नींवपर अवतारों एवं साधु-मुनियोंद्वारा लोकसंग्रहरूप अनेक असंख्य चेष्टाएँ तथा शास्त्रोंकी रचनाएँ हुई हैं और होती रहेंगी, जोकि प्रकृतिराज्यमें अन्यकी क्रियाओंकी प्रतिक्रियारूप ही होती हैं (४।७-१०,६।८-६)। इसी सिद्धान्तकी बुनियादपर किसी प्रकार कर्तृत्व-बुद्धिके बिना ही भगवान्‌का गीतोपदेश तथा गीता-दर्पण शास्त्रकी सृष्टि सम्भव हो सकती है। इसी सिद्धान्तके चरितार्थ होनेपर बाह्य दृष्टिरूप एवं आन्तर दृष्टिरूप वे उभय भाव किसी विरोधके बिना एक अधिकरणमें सम्भव हो सकते हैं, जिनको समालोचक

महाशयने पैरे ३ व ४ में अपनी शंकाके समर्थनमें इस ग्रन्थकी पंक्तियोंसे उद्धृत किये हैं। बाह्य दृष्टिरूप तथा आन्तर दृष्टिरूप विरोधी भावोंका एक अधिकरणमें रहना असम्भव नहीं है। जिस प्रकार अपराधी पुत्रके प्रति पिताकी बाह्य-क्रोध-दृष्टि तथा आन्तर वात्सल्य-दृष्टि किसी विरोधके विना सम्भव होती हैं। यों तो सचाईसे देखा जाय तो प्रकृतिराज्यमें कदापि कोई प्राणी किसी क्षण भी निश्चेष्ट रह नहीं सकता, किन्तु प्रकृतिजन्य तीनों गुणों के द्वारा उसको परवश कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है (३।५)। और अहंकारविना कदापि कोई चेष्टा हो नहीं सकती, यहाँ तक कि नेत्रका खोलना व बन्द करना अहंकारसे ही सिद्ध होता है। कुछ करना व न करना आदि सभी भावाभावरूप चेष्टाएँ अहंकारविना सिद्ध नहीं होतीं। जबकि कुछ न करनेमें भी अहंकार हाज़िर है तब अहंकारके बन्धनसे जीव कैसे छूटे ? ईश्वर भी जब सृष्टिरचनामें प्रवृत्त होता है तब अहंकार करके ही प्रवृत्त होता है। इसलिये अहंकारसे छूटनेका एकमात्र सच्चा उपाय यही हो सकता है कि जिस प्रकार यंत्र-मंत्रद्वारा सर्पके मुँहमेंसे विष निकालकर उससे निर्भय हो सकते हैं, इसी प्रकार तत्त्वसाक्षात्-कारद्वारा इस परिच्छिन्न अहंकारमेंसे कर्तृत्व-बुद्धिकी सत्यतारूपी विष निकालकर इससे निर्भय हो रहा जाय, अन्य कोई उपाय इससे छूटनेका न हुआ है न होगा। इस प्रकार थोथी बाँसुरीके समान जब इस अहंकारको कर्तृत्व-बुद्धि से खाली कर लिया जायगा, तब स्वाभाविक इससे मीठे-मीठे स्वर निकलने लगेंगे और अनायास लोकहित व लोकसंग्रह सिद्ध हो जायगा।

इस विषयमें लेखक अपने व्यक्तिरूपसे कोई दावा नहीं रखता। हो सकता है कि लेखककी व्यक्ति अहंकारके इस उच्च स्तरपर आरूढ न हुई हो, तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस

ग्रन्थाकारमें भगवद्वचनोंके संघर्षणद्वारा लेखकने अपना तो कम-से-कम आत्मकल्याण किया ही है। सम्भव है कि विचारवानोंको भी यह माननेमें कोई आपत्ति न होगी कि आत्मकल्याण ही लोक-कल्याणकी कुञ्जी है। जिस किसीने जितनी मात्रामें आत्म-कल्याण किया, उतना वह सहज ही लोककल्याण कर पाया। इसके विपरीत आत्मकल्याणके बिना ही जो लोककल्याणमें प्रवृत्त हुआ उसके द्वारा न आत्मकल्याण ही सिद्ध हुआ और न लोक-कल्याण ही। अन्तमें हमारा तो कथन यही है कि जिस प्रकार चतुर अत्तार यह दृष्टि छोड़कर कि गुलाबका बूटा निकृष्ट खाद व मिट्टी खाकर फला-फूला है पुष्पमात्र ग्रहण करके उससे साररूप गन्धको ले लेता है, इसी प्रकार मुमुक्षुको भी लेखककी व्यक्ति की ओर ध्यान न देकर और इस ग्रन्थसे सार निकालकर अपना कल्याण कर लेना चाहिये। शेषमें समालोचक महाशयके ये निजी भाव कि 'साधु-मुनि तो संसारको विकृत व दोषपूर्ण देखनेके पूर्ण अधिकारी हैं इत्यादि' (पैरा ४ समालोचना) किसी प्रकार समाधानके योग्य नहीं हैं।

धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम् ॥

अर्थात् यदि चातकके मुखमें धारा ही न पड़े तो इसमें मेघका क्या दोष ?

यथाशक्ति समाधान किया गया। वास्तवमें तो सात्त्विक श्रद्धा (१७।३-४), त्रिविध सात्त्विक तप (१७।१४-१७), सात्त्विक ज्ञान (१८।२०), सात्त्विक बुद्धि (१८।३०) तथा सात्त्विक धृति (१८।३३)के द्वारा ही यह समाधान हृदयंगम होना शक्य होगा।

[लेखक—

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीरामेश्वरानन्दी अनुभवार्थ-दीपक भाषा-भाष्यसहित

अथ गीताकरादिन्यासः *

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः अनुष्टुप छन्दः श्रीकृष्णः परमात्मा देवता ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजम् ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज इति शक्तिः ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः इति कीलकम् ।

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः ।

यह मन्त्र बोलकर दोनों हाथके अँगूठोंको तर्जनीसे स्पर्श करना चाहिये । अँगूठेके पासकी अँगुलीको तर्जनी कहते हैं ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः इति तर्जनीभ्यां नमः ।

इस मन्त्रके द्वारा दोनो तर्जनीको अँगूठोंसे स्पर्श करना चाहिये ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति मध्यमाभ्यां नमः ।

इस मन्त्रसे दोनो बीचकी अँगुलियोंको अँगूठोंसे स्पर्श करना चाहिये ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽय सनातनः इत्यनामिकाभ्यां नमः ।

इस मन्त्रके द्वारा दोनों अनामिकाको अँगूठोंसे स्पर्श करना

---

* जिस प्रकार ममताके विषय सर्व प्रिय पदार्थोंकी अपेक्षा मनुष्यको अपने शरीरके मुख्य अग हृदय, हस्त, शिर व नेत्रादिमें परम प्रीति होती है, इसी प्रकार करादिन्यास व अंगादिन्यासके उपर्युक्त मंत्रोंमें, जो गीता-शास्त्रके प्राणस्वरूप हैं, जिज्ञासुकी इतनी प्रीति हो कि वे इसके शरीरके मुख्य अगभूत हो जाएँ । यही करादिन्यासका मुख्य आशय प्रतीत होता है, क्योंकि श्रद्धा ही जीवोंके कल्याणमें मुख्य साधन है । न्यास नाम स्थापनका है, जिसका आशय यह है कि अहन्ताके विषय जड़ अगोंका न्यास होकर ये मंत्र ही मुख्य अग हो जाएँ ।

चाहिये। सबसे छोटी अँगुलीके बराबरकी अँगुलीको अनामिका कहा जाता है।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः। इस मन्त्रसे दोनों कनिष्ठिकाओं (सबसे छोटी अँगुलियों) को अँगूठोंसे स्पर्श करना चाहिये।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च

इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। इस मन्त्रके द्वारा दोनों हाथोंकी हथेलियोंको परस्पर हाथके पीठसे स्पर्श करना चाहिये।

यहाँतक करन्यास हुआ, अब अङ्गन्यासका वर्णन करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः इति हृदयाय नमः। इस मन्त्रको बोलकर अँगुलियोंसे हृदयका स्पर्श करना चाहिये।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः इति शिरसे स्वाहा। इस मन्त्रसे सिरको अँगुलियोंसे स्पर्श करना चाहिये।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति शिखायै वषट् इस मन्त्रसे शिखाका स्पर्श करना चाहिये।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः इति कवचाय हुम्। इस मन्त्रसे दाहिने भुजदण्डको बाएँ हाथकी अँगुलियोंसे और बाएँ भुजदण्डको दाहिनी अँगुलियोंसे स्पर्श करना चाहिये।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः इति नेत्रत्रयाय वौषट्। इस मन्त्रद्वारा दाहिनी अँगुलियोंसे नेत्रोंका स्पर्श करना चाहिये।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इत्यस्त्राय फट्। इस मन्त्रसे दाहिने हाथकी तर्जनी व मध्यमाको बाएँ हाथकी हथेलीपर मारना चाहिये।

श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः इति संकल्पः।

अथ ध्यानम्

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं,
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब ! त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥१॥

अर्थ—अद्वैतरूपी अमृतकी वर्षा करनेवाली, संसार-बन्धन से मुक्त करनेवाली और अट्ठारह अध्यायरूपी शरीरको धारण करनेवाली भगवती हे अम्ब ! श्रीमद्भगवद्गीते ! मैं आपका मन से ध्यान करता हूँ। आप स्वयं भगवान् नारायण श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति उपदेश की गई हैं और पुराण-मुनि श्रीवेदव्यासजी के द्वारा महाभारतके मध्यमें गूँथी गई हैं ।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविंदायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयप्रदीपः ॥२॥

अर्थ हे विशाल बुद्धि, हे प्रफुल्ल कमलके विशाल पत्रके समान नेत्रोंवाले श्रीव्यासदेवजी ! आपके लिये नमस्कार हो, जिन आपके द्वारा महाभारतरूप तेलसे पूरित गीतारूपी ज्ञानमय दीपक प्रकाशित किया गया है ॥ २ ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्रायॐ कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ ३ ॥

ॐ उपदेशके समय गुरु अपने दाहिने अङ्गुष्ठ एवं तर्जनीके सिरोंको जोड़कर और शेष तीनों अँगुलियोंको अलग-अलग खड़ा करके उपदेश देते हैं, इस मुद्राको 'ज्ञानमुद्रा' कहा जाता है। इसके द्वारा तीनों गुणों को टारकर जीव ब्रह्मका अभेद दर्शाया जाता है ।

अर्थ शरणागतके लिये जो कल्पवृक्षके समान वाञ्छित फल के देनेवाले हैं, एक हाथमें बेतकी छड़ी धारण किये हुए हैं तथा ज्ञानमुद्रायुक्त हैं। ऐसे गीतारूप अमृतको दुहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके लिये नमस्कार है ॥ ३ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ४ ॥

अर्थ—सब उपनिषदें गौएँ हैं, जिनको साररूपसे दुहनेवाले ग्वाल गोपालपुत्र श्रीकृष्ण भगवान् हैं, पृथापुत्र अर्जुन बछड़े के तुल्य है (जिसको निमित्त करके ये उपनिषद्रूपी गौएँ दुही गई हैं) और गीतामृतरूपी महान् दुग्ध है तथा बुद्धिमान् पुरुष इस अमृतके पान करनेवाले हैं। अर्थात् सब उपनिषदोंसे यह गीतामृतरूपी दुग्ध केवल बुद्धिमानोंके लिये ही दुहन किया गया है, अर्जुन तो बीचमें निमित्तमात्र ही है ॥ ४ ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

अर्थ—वसुदेवजीके पुत्र, कंस व चाणूरको मारनेवाले तथा देवकीको परमानन्द देनेवाले जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णदेवको मैं वन्दना करता हूँ ॥ ५ ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥६॥

अर्थ—जिस रणरूपी नदीके भीष्म व द्रोण दोनों तट, जयद्रथ जल, गान्धार (गन्धारनरेश शकुनी) नीलकमल

शल्य ग्राह (ग्रसनेवाला जलचर), कृपाचार्य प्रवाह, कर्ण लहरें, अश्वत्थामा व विकर्ण भयानक मगर और दुर्योधन चक्र व भँवर थे। ऐसी भारी संग्रामरूपी नदीको निस्सन्देह पाण्डवों ने पार कर लिया। उसके मल्लाह भगवान् श्रीकृष्ण थे (और श्रीगीतारूपी नौकाद्वारा वह तरी गई थी) ॥६॥

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम्।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥७॥

अर्थ—जो पराशर-पुत्र श्रीवेदव्यासजीके वचनरूप सरोवर से उत्पन्न हुआ है, जिसमें गीतार्थरूप उत्कट गन्ध नाना धर्म-आख्यानरूप केशर हैं और जो हरिकथाके निरूपणोंद्वारा बोधित अर्थात् भगवच्चरित्रोंद्वारा खिला हुआ है तथा लोकमें सत्पुरुष-रूप भ्रमर प्रतिदिन आनन्दपूर्वक जिसके रसका पान करते हैं, वह कलिके पापोंकोभी ध्वंस करनेवाला महाभारतरूप निर्मल कमल हमारे लिये कल्याणकारी हो ॥ ७ ॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥८॥

अर्थ—जिसकी कृपा गूँगेको वाचाल तथा लूले (दोनों पाँव-विहीन) को पर्वत लाँघनेकी शक्ति प्रदान कर देती है, उस परमानन्दस्वरूप माधव भगवान् श्रीकृष्णको मैं वन्दना करता हूँ ॥ ८ ॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥९॥

अर्थ—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र एवं मरुद्गण जिसकी दिव्य स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करते हैं, सामवेदके गायन करनेवाले (उद्गाता) जिसका वेदोंद्वारा अङ्ग, पद, क्रम एवं उपनिषदोंसहित गायन करते हैं तथा योगीजन ध्यानमें स्थित हुए तद्गत मनसे जिसका दर्शन करते हैं, परन्तु जिसके अन्तको देवता व दानवगण कोई नहीं जानते, उस देवके लिये मेरा नमस्कार है ॥९॥

इति ध्यानम्

संक्षिप्त पूर्व वृत्तान्त

कौरव वंशमें राजा प्रतीपके पुत्र प्रतापी राजा शान्तनु हुए हैं, जिनके जाह्नवीगङ्गाके उदरसे देवव्रत नामक महान् ओजस्वी, पितृभक्त तथा सत्यनिष्ठ एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो पीछे भीष्म नामसे विख्यात हुआ। एक दिन राजा शान्तनु यमुना-किनारे घूम रहे थे कि उन्हें सत्यवती नामकी एक धीवर-कन्या दृष्टिगोचर हुई। उसके रूप-लावण्यपर राजा इतना मुग्ध हुआ कि तुरन्त स्वयं उसके पिताके पास जाकर उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की। धीवरने कहा—"यदि आप यह प्रतिज्ञा करें कि सत्यवतीसे होनेवाला पुत्र आपका युवराज होगा, तो मैं सहर्ष अपनी कन्या आपको दे सकता हूँ।" देवव्रतके अधिकारोंपर पानी फेरकर इस भारी प्रतिज्ञाके पालनमें अपनेको अयोग्य जान, राजा अपने महलोंमें लौट आये, परन्तु सत्यवतीपर अत्यन्त आसक्तिके कारण वे उदास रहने लगे। पिताकी

शोकातुर दशा देख, देवव्रतने ज्यों-त्यों करके असलियतका पता लगा लिया और स्वयं धीवरके पास जाकर उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं राज्य ग्रहण नहीं करूँगा तथा सत्यवतीसे होनेवाला पुत्र ही राज्याधिकारी होगा। धीवरने कहा—"यद्यपि आप तो सत्यप्रतिज्ञ हैं, परन्तु यदि आपका कोई वंशज इस प्रतिज्ञाको न माने तो इसका क्या उपाय?" इसपर पितृभक्त देवव्रतने पिताके सुखको सर्वोपरि जान, सब उपस्थित क्षत्रियोंके सम्मुख ये वचन कहे कि मैं मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रहूँगा, जिससे वंशजके भयसे तुम्हारी कामनापूर्तिमें किसी प्रकार विघ्न पड़नेकी आशंका ही न रहेगी। ऐसे वचन सुनकर धीवरने सत्यवतीका राजा शान्तनुसे विवाह सहर्ष स्वीकार कर लिया और तुरन्त सत्यवतीको देवव्रतके हवाले कर दिया। देवव्रत उसे पिताके पास ले आये और पिताका दुःख निवारणकर कृतार्थ हुए। पिताने प्रसन्न हो उन्हें स्वेच्छा-मृत्युका वर दिया। इस प्रकार जब देवव्रतने पितृभक्तिके कारण संसारसम्बन्धी सब सुखोंकी आहुति देदी, तब देवताओंने पुष्पवृष्टि की और 'भीष्मोऽयं' ऐसी आकाशवाणी हुई, तबसे देवव्रतका नाम 'भीष्म' प्रसिद्ध हुआ।

राजा शान्तनुसे सत्यवतीके दो पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए। इसके थोड़े काल पीछे राजा शान्तनुका देहान्त हो गया, तब चित्राङ्गदको राज्य-सिंहासन मिला। परन्तु थोड़े काल पीछे वह भी एक गंधर्वके हाथसे युद्धमें मारा गया। तब छोटे भ्राता विचित्रवीर्यको सिंहासनपर बैठाया गया और काशीराजकी अम्बिका व अम्बालिका नाम्नी दो कन्याओंसे उसका विवाह हुआ। परन्तु सात वर्ष संसार-सुखको भोगकर वह भी कालका ग्रास हो गया और उसके कोई सन्तान नहीं हुई। तब सत्यवती शोकसे व्याकुल हुई और श्रीभीष्मजीकी सम्मतिसे उन्होंने

अपने पुत्र भगवान् द्वैपायन वेदव्यासका आह्वान किया, जोकि पराशरऋषिके वीर्यसे उनकी कुमार अवस्थामें उत्पन्न हुए थे। श्रीवेदव्यासजीने मातासे विदा होते समय कह दिया था कि जब तुमपर कोई आपत्ति हो तब मेरा स्मरण करना। माताके स्मरण करते ही व्यासभगवान् प्रकट हुए और माताकी आपतकथा श्रवण की। भगवान् व्यासजीके प्रसादसे अम्बिकारानीसे धृतराष्ट्र, अम्बालिकाने पाण्डु तथा एक दासीसे नीतिनिपुण महाबुद्धिमान् एवं धार्मिक विदुरजी उत्पन्न हुए। व्यासजीके उग्ररूप को देखकर अम्बिकाने भयभीत हो आँखें बन्द कर ली थीं, इसलिये धृतराष्ट्र जन्मान्ध हुआ। अम्बालिका उनके रूपको देखकर पीली पड़ गई, इसलिये दूसरा पुत्र पाण्डुवर्ण होनेसे पाण्डु नामसे विख्यात हुआ। श्रीभीष्मजीने इन तीनों बालकोंका पुत्रवत् पालन किया और धर्म, नीति व धनुर्वेदादि सब विद्याओंमें उनको प्रवीण कर दिया। योग्य होनेपर धृतराष्ट्रके अन्धे होनेके कारण छोटे भ्राता पाण्डुको राज्याधिकार दिया गया। विदुरजी दासीपुत्र होनेसे राज्यके अधिकारी नहीं हो सकते थे। धृतराष्ट्रका विवाह गन्धारदेशके राजाकी कन्या गान्धारीसे हुआ। गान्धारीने विवाह से पूर्व ही जब सुना कि उसका विवाह एक अन्धे राजकुमार से होनेवाला है, तब उसी समयसे उसने भी अपनी दोनों आँखों पर पट्टी बाँध ली और जन्मपर्यन्त न देखनेका प्रण किया। पाण्डु के दो विवाह हुए, एक तो यदुवंशी राजा शूरसेनकी पुत्री पृथा (कुन्ती) से और दूसरा मद्रदेशकी राजकन्या माद्रीसे हुआ। तथा राजा देवककी कन्या पारशवीसे विदुरजी विवाहे गये।

कुन्तीको बाल्यावस्थामें तेजस्वी श्रीदुर्वासाऋषिकी सेवाका अवसर प्राप्त हुआ था, जिससे प्रसन्न हो उन्होंने कुन्तीको एक महामंत्र दिया था। उसका यह फल था कि जिस समय वह इस

मन्त्रका उच्चारण कर किसी भी देवताका स्मरण करेगी, उसी समय वह देवता प्रकट हो उसे एक पुत्र देगा। इस मन्त्रकी परीक्षाके लिये एक बार उसने कुमार अवस्थामें ही इसका उच्चारण कर सूर्यदेवका स्मरण किया, जिससे एक कवच-कुण्डलधारी पुत्र उसे मिला। कुमारावस्थामें इस पुत्रकी प्राप्ति होनेसे कुन्तीने तत्काल उस को नदीमें बहा दिया, जिसको कुरुराजके सारथी अधिरथने नदीसे निकालकर पालन किया और वह कर्ण नाम से विख्यात हुआ। राजापाण्डु एक समय शिकार खेलने वनमें गये थे कि दूरसे एक ऋषिकुमारको मृग जानकर घायल कर बैठे, जिसके शापसे राजा अपनी रानियोंके संग भोग नहीं कर सकते थे। इस दुःखसे पीड़ित हो राजा अपनी दोनों रानियों सहित तपस्याके लिये वनमें पधारे और धृतराष्ट्र राजकाजकी देख-रेख करते रहे। वनमें राजा पाण्डुकी आज्ञासे कुन्तीने इसी मन्त्रका तीन बार उच्चारण कर धर्मराज, वायु तथा इन्द्रका स्मरण किया और क्रमन्क्रमसे युधिष्ठिर, भीमसेन व अर्जुन नामके तीन पुत्र प्राप्त किये। फिर दो बार इसी मन्त्रका माद्रीसे उच्चारण कराया और दोनों अश्वनीकुमारोंको स्मरणकर माद्रीने दो पुत्र नकुल व सहदेव नामसे प्राप्त किये। इस प्रकार ये पाँच पाण्डव हुए, राजा पाण्डुके स्वर्गवास होनेपर माद्री उनके साथ सती हो गई और कुन्ती पाँचों पाण्डवोसहित नगरमें चली आई।

राजा पाण्डुके वनवासकालमें वेदव्यासजी एक दिन क्षुधातृषा से व्याकुल हो धृतराष्ट्रके यहाँ आए, तब गान्धारीने उनकी बड़ी सेवा की। गान्धारीकी सेवासे प्रसन्न होकर श्रीव्यासजीने उसकी इच्छानुसार उसको सौ पुत्र होनेका वर दिया। इससे गान्धारी को दुर्योधन, दुःशासन व विकर्ण आदि सौ पुत्र प्राप्त हुए, जो कौरव नामसे विख्यात हुए। इस प्रकार कौरव तथा पाण्डव

कुमारावस्थाको प्राप्त होकर परस्पर खेल-कूदमें समय बिताने लगे। कौरवोंसे पाण्डव सब प्रकार बली थे, विशेषकर भीमसेन तो बड़ा उत्पाती था और अपने बलसे कौरवोंकी बड़ी दुर्गति करता था। कभी उनको जलमें डुबो देता था, कभी पृथ्वीमें रगड़ मारता और कभी वृक्षपर चढ़े हुओंको अपने भुजाबलसे वृक्षको हिलाकर पट-पट गिरा देता था। पाण्डवोंके बलको देखकर कौरवोंके मनमें ईर्षा होने लगी। विशेषकर दुर्योधनके मनमें चिन्ता हुई कि शरीरबलसे तो इनको जीतना असम्भव है, इस लिये छलसे इनको मारना चाहिये। इसी उद्देश्यसे एक बार बगीचेमें सहभोजकी तैयारी की गई और सबने प्रेमसे मिलकर भोजन किया। तब भीमसेनको छलसे एक पदार्थमें हलाहल कालकूट विष दिया गया। भोजनके पश्चात् सब समाज अपने-अपने भवनको चला गया, परन्तु भीमसेन एक कोनेमें अचेत पड़ा रहा। तब अवसर पाकर दुर्योधनने उसकी मुश्कें बाँधकर नदीमें बहा दिया। भीमसेन नदीकी तहमें जा बैठा, वहाँ विषधर सर्पोंने उसे बारम्बार डसा, जिससे 'विषकी विष ही औषधि है' इस नियमके अनुसार उसका विष उतर गया। वह सचेत हो प्रसन्नचित अपने घरको लौट आया और सब पूर्वजोंके चरण छूए। माता कुन्ती और सब भ्राता, जो भीमसेनको अपनेमें न देखकर अपार शोकसागरमें डूबे हुए थे, बड़े प्रसन्न हुए। भीमसेनने सब वृत्तान्त युधिष्ठिरसे वर्णन किया, युधिष्ठिरने कहा कि इस वार्ताको गोप्य रखना और किसीसे न कहना।

इस प्रकार सब कौरव व पाण्डव बाल्यावस्थासे निकले, तब धनुर्विद्या सीखनेके लिये प्रथम कृपाचार्य और फिर द्रोणाचार्यजी की विशेष सम्मति होनेपर उनके सुपुर्द किये गये। कर्ण भी इनका शिष्य हुआ और द्रोणाचार्यजीका पुत्र अश्वत्थामा तथा अन्य देश-

देशान्तरके राजकुमार आ-आकर इनसे शिक्षा पाने लगे। धनुर्वेद की शिक्षामें अर्जुन सबसे उत्कृष्ट निकला, इसकी बराबरीका साहस कुछ कर्णने ही प्राप्त किया, और किसीने नहीं। भीमसेन और दुर्योधनने गदा चलानेमें निपुणता प्राप्त की, युधिष्ठिरने रथी होनेका अभ्यास किया तथा नकुल व सहदेवने तलवार चलानेमें सबसे अधिक योग्यता प्राप्त की।

शिक्षा समाप्त हो चुकनेपर एक दिन द्रोणाचार्यजीने अपने शिष्योंका कौशल दिखलानेकी इच्छासे श्रीभीष्मजी आदि गुरु-जनोंको निमंत्रित किया और नगरके बाहर एक रङ्गभूमि तैयार कराई गई। सबने अपना-अपना कौशल दिखलाया, दुर्योधन और भीमसेनके बीचमें गदा-युद्ध हुआ और दोनों जी तोड़कर लड़ने लगे। तब द्रोणाचार्यजीने अपने पुत्र अश्वत्थामाको बीचमें डाल कर युद्ध बन्द करा दिया। अर्जुनके मैदानमें आते ही सब दर्शकोंने जयकार बोला और उसका उत्कृष्ट कौशल देखकर सब दर्शकोंने एकस्वरसे उसकी बड़ी प्रशंसा की, जिससे दुर्योधनादि चित्तमें जल उठे। इसी बीच कर्ण मैदानमें उतर पड़ा और ललकार कर बोला—"अजी! डींग मत हाँको, ये सब मैं भी कर सकता हूँ।' ऐसा कहकर अर्जुनवाले सब कौशल उसने भी दिखलाये, जिससे दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई। इसपर कर्ण व अर्जुनके बीचमें बोल-चाल हो गई और परस्पर द्वन्द्वयुद्धका निश्चय हुआ। परन्तु श्रीकृपाचार्यने कहा—"जो स्वयं राजा नहीं और जिसकी जाति व वंशका पता नहीं, उसके साथ राजकुमारोंका युद्ध करना निषिद्ध है।" इसपर दुर्योधनने कर्णको उसी क्षण अङ्गदेशका राज्य देकर कहा—"उत्तम कुलसे ही किसीमें राजाकी योग्यता नहीं आ जाती।" इसपर कर्णने शपथ ली कि मैं दुर्योधनका साथ कभी न छोड़ूँगा। इस प्रकार इनका युद्ध होनेको था कि कर्णके

पालक पिता अधिरथने मैदानमें कूदकर कर्णको रोक दिया और सूर्यास्त हो गया। इसके उपारान्त श्रीद्रोणाचार्यजीने सब शिष्यों से गुरु-दक्षिणामें पञ्चाल-देशके राजा द्रुपदको, जिसने इनका अपमान किया था, क़ैद करके अपने सम्मुख लानेको कहा। कौरवोंसे यह कार्य न बन पड़ा, परन्तु पाण्डव द्रुपदको जीत और क़ैद करके श्रीद्रोणाचार्यजीके सम्मुख ले आये और द्रोणाचार्यजी ने आधा राज्य द्रुपदको वापस देकर छोड़ दिया। द्रुपदने अपने को असमर्थ जानकर श्रीद्रोणाचार्यके वध करनेवाले एक पुत्रकी इच्छासे पुत्रेष्टि यज्ञ किया। इससे उसे धृष्टद्युम्न नामक एक पुत्र और कृष्णा (द्रौपदी) नाम्नी एक कन्या प्राप्त हुई।

धनुर्विद्यामें पाण्डवोंकी अधिक योग्यता जानकर धृतराष्ट्रको सन्देह हुआ कि अब मेरे पुत्रोंको राज्य मिलना असम्भव है। इधर दुर्योधनादि स्वयं भी इनसे जल-भुन रहे थे। इसलिये सबकी सम्मतिसे वारणावत नगरमें पाण्डवोंके नाशके निमित्त एक लाक्षा-भवन बनवाया गया और धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको समझाकर कहा कि तुम पाँचों भाई कुन्तीसहित वहाँ सुखपूर्वक निवास करो। युधिष्ठिरने बड़ोंकी आज्ञा-पालन अपना धर्म जानकर वहाँ जाना स्वीकार कर लिया, यद्यपि उसको इसमें दालमें काला भान होता था। विदुरजीने भी चलते समय उनको सावधान कर दिया था। भवनमें जाते ही पाण्डवोंने सुरंग खोदकर जङ्गलका रास्ता बना लिया और अग्नि लगनेपर वे तुरन्त जङ्गलमें निकल गये। परन्तु केवट जातिकी एक स्त्री अपने पाँच पुत्रोंसहित उस भवनमें सो रही थी, वे सब जलकर भस्म हो गये। दूसरे दिन छः लाशोंके मिलनेपर लोगोंने समझा कि पाँचों पाण्डव मातासहित जल गये हैं और इस अनुमानपर धृतराष्ट्रने भी उनकी उत्तर-क्रिया कर डाली। पाण्डव दूर वनों-वन चलते रहे और वेष बदलकर फिरते

रहे। वनमें अति दुःखी होनेसे श्रीव्यासजीकी आज्ञासे वे चक्रानगरीमें मातासहित एक ब्राह्मणके घरमें रहकर भिक्षासे निर्वाह करने लगे। एक दिन भिक्षाके लिये निकले थे कि द्रुपदराजाकी कन्या द्रौपदीके स्वयम्वरकी उनको सूचना मिली। समाचार पाते ही वे उसी ब्राह्मण-वेषमें द्रुपदकी सभामें आ पहुँचे। राजा द्रुपदके प्रणके अनुसार कोई राजा घूमते हुए चक्रके छिद्रमें तीर पार करके मछलीको न गिरा सका। यह देख अर्जुनसे न रहा गया, उसने अपने ब्राह्मण-वेषको भूल झट धनुष तान मछलीको गिरा दिया और द्रौपदीने अर्जुनके गलेमें जयमाल डाल दी। सायंकाल पाण्डव द्रौपदीको साथ लिये हुए घर आये और द्वारके बाहरसे ही उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मातासे कहा—"मात! आज हमें भिक्षामें एक बड़ी ही सुन्दर वस्तु मिली है"। कुन्ती ने बिना देखे-भाले अन्दरसे ही उत्तर दिया—"जो कुछ मिला है उसे पाँचों मिलकर भोग लो"। ऐसी आज्ञा पाकर पाँचों भाइयोंका द्रौपदीसे विवाह हुआ, तत्पश्चात् वे सब पाञ्चाल देश में राजा द्रुपदके पास रहने लगे।

इधर पाण्डवोंके विवाहकी सूचना पाते ही दुर्योधन शोक-सागरमें डूब गया कि अब पाण्डवोंका कैसे नाश किया जाय? इस पर कर्णने एकदम पाञ्चाल देशपर चढ़कर पाण्डवोंको कैद करने की सम्मति दी, परन्तु श्रीभीष्म द्रोण एवं विदुरकी सम्मति न पाकर धृतराष्ट्रने ऐसा न करने दिया। फिर कौरवोंकी ओरसे श्रीविदुरजी राजा द्रुपदके पास गये और पाण्डवोंको हस्तिनापुर लिवा लाये। तब धृतराष्ट्रने परस्पर द्वेषाग्नि शान्त करनेके विचार से कौरवों तथा पाण्डवोंको आधा-आधा राज्य बाँट दिया, पाण्डवोंकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ और कौरवोंकी हस्तिनापुर रही।

विवाहके पीछे पाण्डवोंमें यह नियम निश्चित हुआ था कि

जिस समय किसी एक भाईके साथ द्रौपदी हो, उस समय कोई दूसरा भाई उस स्थानपर न जावे। पाँचों भाइयोंके द्रौपदीके साथ सहवासके दिन भी नियत किये गये थे और नियम-भङ्ग होनेपर बारह वर्ष वनवासका दण्ड नियत किया गया था। एक दिन जब कि अर्जुनका समय पूरा हुआ और युधिष्ठिर द्रौपदीके भवनमें प्रवेश हो गये, तब अर्जुन वहाँ अपना धनुष भूल आया। उसी समय अर्जुनने एक ब्राह्मणकी पुकार सुनी, जिसकी गायें चोर ले जा रहे थे। अर्जुन अपने धर्मसे बाध्य होकर तुरन्त भवनमें प्रवेश कर अपना धनुष ले आया और ब्राह्मणकी गायोंको चोरोंके हाथोंसे छुड़ाया। नियम-भङ्गके प्रतिकारमें अर्जुनने बारह वर्ष वन-वास किया और सब तीर्थोंके दर्शन किये। इस तीर्थाटनमें अर्जुन का विवाह श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्रासे हुआ, जिसके गर्भसे अभिमन्यु नामक एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। द्रौपदीके गर्भ से भी पाँचों भाइयोंके पाँच पुत्र हुए।

एक समय श्रीकृष्ण व अर्जुन यमुना तटपर बैठे थे कि अग्नि-देवने पुरुषरूपमें प्रकट हो उनसे प्रार्थना की, कि खाण्डव वनको जलाकर वहाँके जीव-जंतुओंकी आहुति पानेकी मेरी इच्छा है, इसलिये मैं आपसे यही माँगता हूँ कि आप अस्त्र लेकर प्राणियों को वहाँसे भागने न दें और इन्द्रकी वर्षासे भी मेरी रक्षा करें। अर्जुनके पास उस समय ऐसा कोई धनुष तथा रथ नहीं था, जिससे वह अग्निदेवकी उपर्युक्त रीतिसे सहायता कर सकता। इसपर अग्निदेवने अर्जुनको वरुण देवतासे सदा तीरोंसे भरे रहनेवाले एक तरकसके सहित गाण्डीव धनुष तथा उत्तम घोड़ों से युक्त एक कपिध्वज रथ दिलाया। इस प्रकार खाण्डव वनको जलानेमें अर्जुनने अग्निदेवकी सहायता की और इस भयङ्कर दाहमें मयदानव तथा मन्दपालऋषिके चार पुत्रोंको छोड़ सब

जीव-जन्तु जलकर भस्म हो गये। इसी मयदानवने श्रीकृष्णकी आज्ञासे युधिष्ठिरके लिये एक विचित्र सभामण्डप बनाया और इसके तैयार होनेपर श्रीनारदजीके उपदेशसे युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञका संकल्प किया। श्रीकृष्णजीकी भी इसमें पूरी सम्मति थी। इनकी सहायतासे मगधदेशके राजा जरासन्धको मारकर जितने राजा वहाँ कैद थे उन सबको छुड़ाया गया, जिन्होंने राजा युधिष्ठिरकी अधीनता स्वीकार की। और भी चारों दिशाओंमें चारों भाइयोंने जाकर पूर्ण विजय प्राप्त की। तब राजसूय यज्ञका आरम्भ हुआ, जिसमें वेदव्यासजी स्वयं ब्रह्मा बने। सब देश-देशान्तरके राजा और ब्राह्मण एकत्रित हुए तथा सब कौरव भी आए। राजा युधिष्ठिरने चारों भाइयों, कौरवों तथा अन्य प्रेमियोंको भिन्न-भिन्न कार्य बाँट दिये और अतिथियोंके पाद-प्रक्षालनकी सेवाका कार्य स्वयं श्रीकृष्णजीने लिया। इस यज्ञमें प्रथम अग्र पूजा श्रीकृष्णजीकी हुई। यह देख शिशुपालको बड़ा क्रोध हुआ और उसने यज्ञ विध्वंसकी चेष्टा की। इसपर श्रीकृष्णने उसका वध कर दिया और यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया। सब राजा तथा ब्राह्मण आनन्दपूर्वक अपने-अपने स्थानको विदा हुए, केवल दुर्योधन अपने मामा शकुनिसहित सभामण्डप देखनेके लिये रह गया।

दुर्योधन सभा-मण्डप देख रहा था कि कहीं स्फटिकके फ़र्श को जल समझ कपड़े ऊँचे करने लगा, कहीं स्वच्छ जलको स्फटिक-भूमि जान जलमें भीग गया और कहीं स्फटिकके बन्द दरवाजों को खुला हुआ जान सिर फुड़ा लिया। दुर्योधनकी इस दशाको देख पाण्डव तथा द्रौपदी हँस पड़े। इस अनादरसे और पाण्डवोंके वैभवसे दुर्योधनकी छाती जल उठी। आह भरकर वह अपने मामासे कहने लगा कि यदि यह सब सम्पत्ति मुझे न मिली तो

मैं आत्म-हत्या कर लूँगा। मामा-शकुनीने उसे धीरज दी और युधिष्ठिरको जुएका व्यसनी तथा अपनेको जुएमें निपुण जानकर उसने युधिष्ठिरको हस्तिनापुर बुलानेकी सम्मति दी। हस्तिनापुर पहुँचकर धृतराष्ट्रकी अनुमतिसे पाण्डवोंको जुएके लिये निमन्त्रित किया गया। इसपर पाण्डव द्रौपदीसहित हस्तिनापुर पहुँचे और जुआ आरम्भ हुआ। परिणाम यह निकला कि युधिष्ठिर अपनी सारी सम्पत्ति, राज्य, चारों भाई, अपने-आपको और द्रौपदीको भी हार बैठा। इस हारपर दुःशासन सती द्रौपदीको जो उस समय रजस्वला और एक ही वस्त्रमें थी, 'दासी-दासी' पुकारते हुए तथा बालोंसे पकड़कर घसीटते हुए सभामें ले आया और नग्न करनेके लिये उसका वस्त्र खींचने लगा। परन्तु शरणागत-वत्सल भगवान्‌ने उसकी लाज रक्खी और उसको इतना वस्त्र प्रदान किया कि दुष्ट दुःशासन उसका वस्त्र खींचते-खींचते थककर बैठ गया। इसके बाद दुर्योधनने भरी सभा में अपनी जंघा उघाडकर द्रौपदीको उसपर बैठनेके लिये कहा। द्रौपदीके इस दारुण अपमानको लिखते हुए लेखनी रुकती है और हृदय कम्पायमान होता है। परन्तु इसपर भी धर्मवीर पाण्डव सर्वसमर्थ होते हुए सिर झुकाये हुए बैठे रहे, केवल भीमसेनने सबके सम्मुख यह प्रतिज्ञा की—"यदि मैं युद्धमें इस दुःशासन की छाती फाड़कर इसका रुधिर न पीऊँ और इस दुर्योधनकी जंघाको अपनी गदासे चूर्ण न करूँ तो मुझे अपने पूर्व पुरुषोंकी गति प्राप्त न हो।" अन्तमें धृतराष्ट्रको भय हुआ और उसने द्रौपदीको सन्तुष्टकर वर माँगनेके लिये कहा। द्रौपदी बोली—"यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरे पतियोंको दासत्वसे मुक्त करा दीजिये।" धृतराष्ट्रने 'तथास्तु' कहकर उनको स्वतन्त्र कर दिया। स्वतन्त्र होनेपर भीमसेनने युधिष्ठिरसे कहा—"आप आज्ञा दें तो

में अभी इन सब शत्रुओंका वध कर डालूं।" परन्तु युधिष्ठिरने भीमको शान्त करके धृतराष्ट्रसे करबद्ध प्रार्थना की—"आप हमारे पूज्य हैं अब हमारे लिये जैसी आज्ञा हो, हम उसीका पालन करें।" इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि हारी हुई अपनी सब सम्पत्ति लेकर सुखपूर्वक राज्य करो।

इसपर कौरवोंको फिर चिन्ता हुई कि इस प्रकार पाण्डवों को छोड़ देना तो सर्पोंको दूध पिलाना है। इसलिये उन्हें फिर जुएके लिये बुलवा भेजा। भीष्म, द्रोण और विदुरने बहुत कुछ कहा कि वंशके नाश करनेवाले झगड़ेका बीज मत बोओ, परन्तु पुत्रमोहसे अन्ध धृतराष्ट्रने एक न सुनी। सारांश, फिर जुआ आरम्भ हुआ और शर्त यह रक्खी गई कि 'जो हार जाय वह राज्य छोड़ बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करे, यदि अज्ञातवासमें ज्ञात हो जाय तो पुनः बारहवर्ष वनवास हो।' इस बार भी पाण्डव हार गये और राजवस्त्र उतार छाल तथा मृगचर्म धारणकर द्रौपदी और धौम्य पुरोहितसहित वनकी राह ली। सबसे आगे युधिष्ठिर मुँह ढके और शिर झुकाये हुए जाता था। उससे पीछे भीमसेन अपनी भुजाओंको देखता जाता था। उससे पीछे अर्जुन बालू उड़ाता चल रहा था, नकुल शरीरको मट्टी लगाये हुए था और सहदेव अपने मुँहपर भस्मी पोते हुए था। द्रौपदी केश बखेरे हुए अपना मुँह छिपाकर रोती जाती थी और धौम्य पुरोहित अन्त्येष्टि-क्रियाके योग्य साम-मंत्र पढ़ता जाता था। इन सब बातोंका आशय श्रीविदुरजीने धृतराष्ट्रके प्रति यूँ कह सुनाया—'धर्मराज युधिष्ठिरके पुण्य-प्रभावके बल से यह पापमय राज्य सब भस्म हो जायगा' इससे उसने अपना मुँह ढका और शिर झुकाया हुआ था। 'द्रौपदीका दारुण अप-मान करनेवाले शत्रुओंके दाँत खट्टे करनेका अवसर इन भुजाओं

को कब मिलेगा ?' इसलिये भीम अपनी भुजाओंको देखता जाता था। 'बालूके कणोंके समान असंख्य बाणोंसे शत्रुओंके शरीर अर्जर करूँगा' बालु फैंकना,-ऐसा अर्जुनके संकल्पका सूचक है। 'मार्गमें मेरे सौन्दर्यको देख स्त्रियाँ मुग्ध न हों' इसलिये नकुलने शरीरको मिट्टी लगा ली है। अपने-आपको छुपानेके लिये सहदेवने कारिख पोत ली है। 'जिस प्रकार मैं बाल बखेरे रोती जाती हूँ, इसी प्रकार कौरवोंकी स्त्रियोंको रोना पड़ेगा' ऐसा द्रौपदी अपने आचरणसे प्रकट करती थी। 'कौरवोंका वध होनेपर इसी प्रकार उनकी दाह-क्रियामें मंत्र पढ़े जायँगे' ऐसा धौम्य पुरोहित दर्शाता जाता था। श्रीविदुरजीके ऐसे वचन सुन धृतराष्ट्र ठण्डी साँसें भरने लगे।

पाण्डवोंके साथ वनको बहुत-से ब्राह्मण भी हो लिये थे, इस लिये युधिष्ठिरको भोजनके सम्बन्धमें चिन्ता हुई। इसपर धौम्यपुरोहितके उपदेशसे युधिष्ठिरने सूर्यदेवकी उपासना की, इससे प्रसन्न हो सूर्यने उन्हें एक अक्षय-स्थाली दी, जिसका यह गुण था कि जबतक द्रौपदी भोजन न कर लेगी तबतक वह स्थाली अक्षय अन्न देती रहेगी। वनमें भी दुष्ट कौरवोंने इनको सुखसे न बैठने दिया। एकबार अपना वैभव दिखलानेके लिये वे शिकार के बहाने वनमें गये तो चित्रसेन गन्धर्वसे इनका युद्ध हो गया और उसने इन सबको इनकी स्त्रियोंसहित क़ैद कर लिया। तब पाण्डवोंने अपनी शक्तिसे इन्हें मुक्त कराया,इससे दुर्योधन अत्यन्त लज्जित हुआ। फिर दुर्योधनने श्रीदुर्वासाऋषिको प्रसन्न करके इन का महत्त्व हरण करनेके लिये वनमें भेजा, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसादसे दुर्वासा भयभीत हो स्वयं भाग गये। इसके उपरान्त अब पाण्डव आश्रममें नहीं थे तो जयद्रथ (धृतराष्ट्रके जामात) ने द्रौपदीपर बलात्कार करनेकी चेष्टा की, परन्तु पाण्डवोंने आकर

उसकी सेनाको मार भगाया और जयद्रथको कैद कर लिया, तब युधिष्ठिरके कहनेपर उसे जीवन-दान दिया गया।

इसप्रकार नाना संकट झेलते-झेलते वनवासके बारह वर्ष व्यतीत हुए और अज्ञातवास आरम्भ हुआ। तब वे वेष बदलकर विराटराजाके यहाँ द्रौपदीसहित नौकरीके लिये अलग-अलग गये। युधिष्ठिरने अपनेको कङ्कनामी ब्राह्मण प्रसिद्ध किया, द्यूत खेलनेमें अपनेको निपुण बताया और वह मंत्रीपदपर नियत हुआ। भीमने अपनेको रसोई बनाने और कुश्ती लड़नेमें कुशल वल्लभ-नामसे प्रकट किया और वह प्रधान रसोइया नियत हुआ। द्रौपदी ने शृङ्गार-विद्यामें कुशल अपनेको सैरन्ध्रीनामसे प्रकट किया और वह रनिवासमें रहने लगी। अर्जुनने नपुंसकवेषमें अपनेको नाचने-गानेमें कुशल बृहन्नलानामसे प्रख्यात किया और वह इसी कामपर नियत हुआ। नकुलने अपनेको अश्वविद्यामें कुशल ग्रन्थिकनामसे प्रकट किया वह अश्वशालामें नियत हुआ। सहदेवने गोसेवामें कुशल अपनेको तन्तिपालनामसे प्रसिद्ध किया और वह गोपाल बना। इस प्रकार सेवापरायण हो सब ने अपने-अपने अपूर्व कौशल दिखलाये। इसी अवसरमें सैरन्ध्री (द्रौपदी) पर बलात्कार करनेकी चेष्टाके कारण विराटरानीका भ्राता कीचक भीमके हाथसे मारा गया। अज्ञातवास समाप्तिके कुछ पहले मत्स्य देशके राजा सुशर्माने एक ओरसे और कौरवों ने दूसरी ओरसे विराट-राजधानीपर आक्रमण किया। पहले सुशर्माने घोर युद्धकर विराट राजाको कैद कर लिया, तब भीमने सुशर्माको पराजित करके राजाको छुड़ाया। उधर अर्जुन विराट-पुत्रका सारथी बनाकर कौरवोंके सम्मुख भेजा गया और उसने द्रोण, अश्वत्थामा तथा भीष्मजीको भी पराजितकर मार भगाया। युद्धके तीसरे दिन अज्ञातवास समाप्त होनेपर उन्होंने विराट-

नरेशको अपना परिचय दिया। यह सुन विराट-राजा चकित हुआ और उसने अर्जुनके पुत्र अभिमन्युके साथ अपनी पुत्री उत्तराका विवाह कर दिया। विवाहके पश्चात् श्रीकृष्ण, द्रुपद तथा काशीराज आदिके साथ, जो इस अवसरपर विराट-नगर आए हुए थे, पाण्डवोंने विचार किया कि अपना राज्य लेनेके विषयमें उन्हें क्या कर्तव्य है? सर्व सम्मतिसे यही प्रस्ताव पास हुआ—'यद्यपि बाल्यपनसे ही कौरवोंकी महान् कुटिलता व नीचताके कारण यह सम्भव नहीं है कि वे सीधे हाथों पाण्डवों को राज्य लौटा देंगे, तथापि प्रथम दूत भेजकर राज्य माँगा जाय पश्चात् युद्धके द्वारा लिया जाय।' इस निर्णयके अनुसार इधर कौरवोंके पास दूत भेजा गया और उधर युद्धमें सहायताकी आशासे अन्य राजाओंके पास भी दूत भेजे गए।

यह सब वृत्तान्त दुर्योधनको मालूम हुआ और उसने भी चारों ओर युद्धमें सहायतार्थ अपने दूत भेजे। इधर श्रीकृष्णके लेनेके लिये स्वयं अर्जुन और उधर दुर्योधन द्वारका पहुँचे। दोनोंने एक ही समय राजभवनमें प्रवेश किया। उस समय श्रीकृष्ण शयन कर रहे थे, दुर्योधन अहंकारके कारण उनके सराहने जा बैठा और अर्जुन दासभावसे चरणोंकी ओर बैठ गया। जागनेपर श्रीकृष्णने प्रथम अर्जुनको देखा और सिर उठाया तो दुर्योधनको बैठे पाया। कुशल-प्रश्नके पश्चात् उनसे आनेका कारण पूछा गया तो दोनोंने अपने-अपने पक्षमें सहायता देनेके लिये उनको निमन्त्रित किया। भगवान्ने कहा—"हम दोनों पक्षकी सहायता करेंगे, एक पक्षमें हमारी प्रसिद्ध नारायणी सेना होगी और दूसरे पक्षमें हम स्वयं अकेले होंगे, परन्तु हम कोई शस्त्र नहीं उठाएँगे। चूँकि अर्जुनको हमने पहले देखा है और यह छोटा भी है, इसलिये पहली जीत अर्जुनकी होगी

कि वह इन दोनोंमेंसे जो चाहे ले लेवे।" इसपर अर्जुनने प्रसन्नतापूर्वक निहत्थे श्रीकृष्णको लेना स्वीकार किया और दुर्योधन सेना पाकर सहर्ष घरको चला गया। श्रीकृष्णने अर्जुन की प्रार्थनापर उसका सारथी बनना स्वीकार किया। इसप्रकार कौरवोंके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवोंके पक्षमें सात अक्षौहिणी सेना इकट्ठी हुई।

इस प्रकार दोनों ओर युद्धकी तैयारियाँ हो रही थीं कि पाण्डवोंकी ओरसे राजाद्रुपदका पुरोहित सन्धिकी बातें करने के लिये कौरवोंकी सभामें धृतराष्ट्र, भीष्म एवं विदुरादिके सम्मुख पहुँचा और बोला—"सभासदगण ! यद्यपि आप राज-धर्म भली भाँति जानते हैं,तथापि इस समय उसका आप लोगों को स्मरण कराना अत्यावश्यक है, क्योंकि इसके टूटनेसे रक्त की नदियाँ बहनेका डर है। एक ही पिताके पुत्र होनेसे कौरवों तथा पाण्डवोंको पैत्रिक राज्यमें समान अधिकार प्राप्त हैं, फिर इसका क्या तात्पर्य है कि पाण्डवोंको निकालकर कौरव अकेले ही राज्य दबा बैठे। बाल्यावस्थासे ही जो-जो अनर्थ कौरवोंने पाण्डवोंके साथ किये हैं, छलसे जुएद्वारा उनका राज्य छीनकर जो घोर अपमान द्रौपदीका किया है तथा धर्मपाशमें बँधकर वनवासके जो-जो विकट संकट पाण्डवोंने सहन किये हैं, वे सब आपको प्रत्यक्ष हैं। फिर भी कौरवोंके इन सब अन्यायोंको भूल कर सबकी भलाईके लिये पाण्डव सन्धि करना चाहते हैं। इस लिये आप दुर्योधनसे उनका राज्य दिला दीजिये, अभी सन्धिके लिये समय है।" ब्राह्मणके नीतियुक्त वचनोंको सुनकर भीष्मजी ने उसके प्रस्तावकी बहुत प्रशंसा की और धृतराष्ट्रने उनकी प्रशंसाका अनुमोदन करके सञ्जयको पाण्डवोंके पास भेजा कि वह उन्हें युद्धसे विमुख करे। सञ्जयके समझानेपर युधिष्ठिरने कहा-

"हमने तो कोई भी ऐसी वार्ता नहीं की, जिससे सूचित होता हो कि हम युद्ध करना चाहते हैं। हम तो अब भी द्रौपदीका घोर अपमान, द्यूत-छल तथा वनवास आदि संकटोंको भुला देनेके लिये तैयार हैं, यदि हमको हमारा राज्य मिल जाय।" ऐसा कहकर युधिष्ठिरने दुर्योधनके प्रति सन्देश भेजा कि या तो तुम अधर्म व लोभ छोड़कर इन्द्रप्रस्थ हमारे हवाले कर दो, नहीं तो युद्धके लिये तैयार रहो। इसके साथ ही श्रीभीष्मजीके प्रति प्रणाम-सहित सन्देश भेजा—"भगवन्! जिस प्रकार पूरे तौरपर डूबे हुए वंशका आपने एकबार उद्धार किया था, उसी प्रकार इस समय भी युद्धकी अग्निसे पौत्रोंकी रक्षा कीजिए।" इस प्रकार युधिष्ठिरने सञ्जयके द्वारा धृतराष्ट्र और विदुरजीके प्रति भी भिन्न-भिन्न सन्देश दिया और अन्तमें बहुत सोचकर युधिष्ठिरने सञ्जय से कह दिया—"जैसा तुम कहते हो, ठीक ही है कि मनुष्य से धन-सम्पत्तिका मोह नहीं छोड़ा जाता। इस विषयमें यद्यपि सबसे अधिक ज़ुम्मेवारी हमारे ऊपर ही है, तथापि तुम हमारे अन्तिम वचन सुन लो कि हम पाँचों भाइयोंको केवल पाँच ग्राम मिलनेसे ही हम राज्यका दावा छोड़ सन्धि करनेको तैयार हैं।"

सञ्जयने उक्त सब वचन हस्तिनापुर आकर श्री भीष्मादिको सुना दिये। श्रीभीष्मजी तथा श्रीद्रोणाचार्यजीने कौरवोंको बहुत समझाया कि पाण्डव धर्मपर हैं, उनसे सन्धि कर लेनी चाहिये। धृतराष्ट्रने भी सबके सम्मुख दुर्योधनसे कहा—"पुत्र! जैसी युद्ध-सामग्री और सहायता पाण्डवोंने प्राप्त कर ली है, उसको देखते हुए उनसे झगड़ा करना बुद्धिमानी नहीं है। युद्ध होनेसे कौरव-कुलकी भलाई नहीं दीख पड़ती, इसलिये श्रीभीष्म तथा श्रीद्रोण के उपदेशको मानकर पाण्डवोंके धर्मसंगत प्रस्तावको स्वीकार कर लेना चाहिये।" परन्तु दुर्योधनसे यह उपदेश सहा न गया

और वह क्रोधातुर हो बोला—"पिताजी ! आप क्यों व्यर्थ शोक करते हैं, हम अपने शत्रुओंसे किस बातमें निर्बल हैं ? हमारे बलका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि पाण्डव केवल पाँच ग्राम लेने पर उतर आये हैं ।" कर्णने भी इसका समर्थन किया और कहा—"पाण्डवोंके मारनेका मैं बीड़ा उठाता हूँ ।" भीष्मजीसे कर्णके द्वारा अपने ही मुखसे अपनी प्रशंसा नहीं सुनी गई और वे क्रोधमें आकर कर्णसे बोले—"काल ने तुम्हारी बुद्धि हर ली है इसीसे तुम ऐसा कहते हो, तुम पाण्डवोंके बलका सोलहवाँ भाग भी नहीं रखते । जब अर्जुनने विराट-नगरमें तुम्हारे प्यारे भाईको मारा, तब तुम कहाँ सोते थे? जब अर्जुनने सारे कौरवों को अचेतकरके उनके कपड़े छीन लिये थे, तब क्या तुम वहाँपर नहीं थे ? जब गन्धर्वोंने कौरवोंकी स्त्रियोंसहित दुर्दशा की, तब तुम्हारे रहते हुए पाण्डवोंको उनकी रक्षाके लिये क्यों आना पड़ा था ? अब ऐसी गर्वकी बाते करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ? तुम्हारे जैसे धर्मभ्रष्ट मनुष्यकी सहायताका भरोसा करनेसे कौरव अवश्य ही कालके ग्रास होंगे ।" इसपर कर्ण बहुत संतप्त हुआ और क्रोधमें आकर बड़बड़ाता हुआ अपने घर चला आया । उसके जानेपर सब लोगोंने दुर्योधनको बहुत समझाया, परन्तु उस दुर्बुद्धिने किसीकी नहीं सुनी और न कुछ उत्तर ही दिया ।

इधर ऐसे समाचार सुनकर युधिष्ठिरने श्रीकृष्णजीके साथ परामर्श किया और कहा—"भगवन् ! जितने भारी-भारी कष्ट व अपमान सहकर भी हमने कौरवोंके प्रति उपेक्षा की है, वे सब आपके दृष्टिगोचर हैं । इतनेपर भी अपने राज्यके धार्मिक अधिकारको खोकर मैं अपने बन्धुओंको कष्ट सहन करते कबतक देख सकूँगा ? आप उभय पक्षके शुभचिन्तक हैं और

मामला गम्भीर है, इसलिये मैं आपसे उचित सम्मतिकी आशा रखता हूँ।" उत्तर में श्रीकृष्णजीने कहा—"युद्ध आरम्भ होने से पहले मैं स्वयं हस्तिनापुर जाकर उभय पक्षके हितार्थ अन्तिम चेष्टा कर लेना उचित समझता हूँ।" ऐसा कहकर वे स्वयं सात्यकीके सहित हस्तिनापुर आये और सबके सम्मुख कौरव-सभामें धृतराष्ट्रसे बोले—"भरतवंश-शिरोमणि! हमारे विचार से कौरवों व पाण्डवोंके बीच सन्धि स्थापनकर वीरोंके रक्तकी नदी बहनेसे आपको बचाना चाहिये, यही अन्तिम प्रार्थना करने हम आपके पास आये हैं। आप इस कुलमें प्रधान हैं, इसलिये बड़े खेदका विषय है कि आपके विद्यमान होते हुए कौरव ऐसा अनुचित व्यवहार करें, उन्हींके कारण कुलपर घोर विपत्ति आनेवाली है। यदि आप इस अग्निको ठण्डी न करेंगे तो इस राज्यके जड़से नष्ट होनेका भय है। शान्ति-स्थापन आपके और हमारे अधीन है, आप कौरवोंको दबावें और हम पाण्डवोंको शान्त करें। राजन्! जो-जो अत्याचार कौरवों की ओरसे पाण्डवोंपर हुए हैं, उनको एक बार मनमें विचार देखिये। इस समय आपका परम कर्तव्य है कि आप धर्म तथा सत्यके लिये और कुछ भी नहीं तो अपने हितके लिये आधा राज्य पाण्डवोंको देकर सन्धि स्थापन कर लीजिये। शेषमें आपको अपनी दृष्टिसे जो हितकारी जान पड़े सो कीजिये।" भगवान्के ऐसे गम्भीर नीतिमय भाषणको सुनकर सबने मनमें उनकी प्रशंसा की, परन्तु अपने भावोंको स्पष्ट कहनेका साहस किसीको भी न हुआ। इसी समय सभामें आये हुए ऋषियों ने भी नाना प्रकारकी कथाएँ कह-कहकर दुर्योधनको समझाने की चेष्टा की, परन्तु उसपर किसीका कुछ प्रभाव न पड़ा। उल्टा क्रुद्ध हो उसने उत्तर दिया—"परमेश्वरने जैसी बुद्धि हम

को दी है वैसा ही हम करते हैं, जैसा हमारे भाग्यमें होगा वैसा हमको मिलेगा, आप लोग वृथा कष्ट न करें"। पुत्रके मुँह से ऐसे उद्दण्ड वचन सुनकर धृतराष्ट्रने श्रीकृष्णजीसे कहा—"केशव! आपके वचन उचित सुखदायक और धर्मसंगत हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं। परन्तु आप किसी प्रकार दुर्योधनको समझाने और शान्त करनेका यत्न करें तो आपका महान् उपकार हो, मैं स्वाधीन नहीं हूँ और यह हमारे वचन नहीं मानता।'

धृतराष्ट्रके कहनेपर श्रीकृष्णजीने दुर्योधनके प्रति कहा—"भ्राता! तुम्हारे इस व्यवहारसे घोर अनर्थ होनेवाला है, उसे निवारणकर अपना, अपने भाइयोंका, कुलका और अपने मित्रों का कल्याण करो। सन्धि स्थापन करनेमें तुम्हारे सभी गुरुजनों की सम्मति है, तुम्हें अवश्य उनके वचन मानने चाहियें। जिन लोगोंपर भरोसा करके तुम पाण्डवोंको जीतनेकी आशा करते हो वे किसी प्रकार उनकी बराबरी नहीं कर सकते। यदि तुम समझते हो कि हम अर्जुनको हरा देंगे, तो तुम ऐसा करो कि अपने पक्षमेंसे किसी एक वीरको अर्जुनके साथ युद्धके लिये चुन लो। उन दोनोंके युद्धका जैसा परिणाम हो उसीपर सब हार-जीतका निश्चय कर लिया जाय, व्यर्थ अन्य लोगोंका नाश करानेसे क्या लाभ? यदि तुम ऐसा साहस भी न कर सको तो पाण्डवोंको उनका राज्य देकर अपने और अपने मित्रोंको निर्भय करो।" श्रीभीष्मजीने भी इन वचनोंका समर्थन करके दुर्योधनको समझाया, किन्तु उसने किसीके भी वचनका आदर न किया। तब श्रीविदुरजीने दुर्योधनको कहा—"दुर्योधन! हम तुम्हारे लिये शोक नहीं करते, किन्तु हम तो तुम्हारे वृद्ध माता-पिताके लिये व्याकुल हो रहे हैं, जो तुम्हारे इस दुर्व्यवहार से अपने कुलके नष्ट हो जानेपर पंख कटे हुए पक्षीके समान

अनाथ हो जायँगे, इसीसे हम शोकाकुल हो रहे हैं।" तब फिर धृतराष्ट्रने दुर्योधनको समझाया—"पुत्र ! भगवान्का उपदेश सब प्रकार कल्याणकारी है, उसे मानकर आधा राज्य दे देनेसे तुम्हारे ऐश्वर्यमें कुछ भी कमी न होगी। क्योंकि भगवान् के आशीर्वाद और सहायतासे तुम अपने राज्यका इससे भी अधिक विस्तार कर सकोगे और इनका अनादर करके तुम्हारी हार हुए बिना न रहेगी।" अन्तमें श्रीद्रोणाचार्यजीने कहा—"दुर्योधन! अभीतक अर्जुनने वर्म धारण नहीं किया है, ईस्पात की जालीका कोट नहीं पहना है और गाण्डीव धनुषको नहीं टङ्कारा है, इसलिये अब भी भूल सुधार लेनेका समय है। क्या ही अच्छा हो कि तुम पाण्डवोंको उनका अंश दे डालो, वे तुम्हें छातीसे लगावें और यहाँ एकत्रित हुए राजा लोग तुम्हारा मिलाप देख प्रेमके आँसू बहाते हुए अपने-अपने घरोंको चले जाएँ।"

दुर्योधनने किसीके वचनोंका कोई उत्तर नहीं दिया, केवल श्रीकृष्णजीके प्रति कठोरतापूर्वक इस प्रकार बोला—"वासुदेव! तुमको समझ-बूझकर हमारे साथ बोलना चाहिये। पाण्डवोंका आपने ऐसा क्या पराक्रम देखा जिससे आप उनके भक्त हो गये! आप तथा भीष्मादि सभी हमारी निन्दा करनेपर तुले हुए हैं, हम नहीं समझते कि हमारा क्या दोष है? जुएके व्यसनसे पाण्डव स्वयं अपना राज्य हार बैठे, फिर हमने उनका राज्य लौटा भी दिया। परन्तु व्यसनी पाण्डव आपा भूलकर फिर भी वनवासकी प्रतिज्ञाको दाँवपर लगाकर हार बैठे, इसमें हमारा क्या दोष? अब उन्होंने हमको शत्रु समझ स्वयं सेना एकत्रितकर हमको डराना चाहा है, इससे क्या हम डर सकते हैं? शत्रुके सम्मुख सिर नीचा करनेकी अपेक्षा हम मैदानमें वीरोंके योग्य

शय्यापर सोना अच्छा समझते हैं। हमारे बालपनमें पिताने उन को आधा राज्य दे दिया था, परन्तु अब तो सुईकी नोकसे जितनी भूमि छिद्र सकती है, उतनी भी हम उनको नहीं दे सकते, चाहे सर्वनाश क्यों न हो जाय।" जब श्रीकृष्णजीने देखा कि दुर्योधन किसी प्रकार नहीं मानता है, तब उन्होंने उसे डाटकर कहा—"दुर्योधन! तुम जो वीरोंके योग्य शय्यापर सोनेकी इच्छा रखते हो, वह तुम्हारी इच्छा समय आनेपर अवश्य पूरी होगी कुल-कलङ्क! तुमने भीमसेनको विष दिया, लाक्षागृहमें पाण्डवोंको जलानेकी चेष्टा की, भरी सभामें द्रौपदीका दारुण अपमान किया और छलसे जुएद्वारा उनका राज्य हरण किया अब अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करके वे राज्य पानेके अधिकारी हुए तो तुम कहते हो कि सुईके अग्रभाग जितनी भी भूमि नहीं दूँगा। इसपर भी सब गुरुजनोंका अपमान करते हो और फिर निर्दोषी बनते हो। जब रणभूमिमें घायल होकर लोट-पलोट होते फिरोगे, तब ये बातें कहते न बनेंगी।"

इस प्रकार जब भगवान्‌ने दुर्योधनको फटकारा तो वह कुछ उत्तर न देकर सभासे उठकर चल दिया। तब श्रीकृष्णजीने भीष्म-द्रोणादिके सम्मुख सभामें कहा—"महात्मजन्! वृद्ध कौरवोंने बाल्यपनसे ही इस दुर्योधनको काबूमें न रख सर्पको दूध पिलाया है, अब जो हमको कहना है वह आप सब सुन लीजिये। कुलका क्षय एक ही उपायसे बच सकता है, हमारे मामा दुरात्मा कंसने जब अपने पितापर अत्याचार किया, तब सब बान्धवोंने उसका साथ छोड़ दिया। अन्तमें वह अकेला हमारे हाथसे मारा जाकर सब प्रकार शान्ति हो गई और अब हम सब यादव आनन्दपूर्वक रहते हैं। यदि आप भी इस दुष्टका त्याग कर देंगे तो कौरव-कुल नाशसे बच जायगा।" भगवान्‌के इस

प्रस्तावपर धृतराष्ट्र भयभीत हुआ और उसने गान्धारीको सभामें बुलाकर दुर्योधनको समझानेके लिये कहा। गान्धारीने कहा—"महाराज ! आपकी ही दुर्बलता इस आपदाका कारण मालूम होती है, इसके पापाचरणको जानते हुए आप अबतक इसका वचन मानते रहे हैं, अब यह आपकी और मेरी शक्तिके बाहर है।" ऐसा कह गान्धारीने दुर्योधनको सभामें बुलवाया और कहा—"पुत्र ! काम तथा क्रोधके वश तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, इसीसे तुम गुरुजनोंका कल्याणकारी उपदेश नहीं सुनते। जब तुम अधर्म-बुद्धिको ही नहीं जीत सके तब राज्य जीतनेकी आशा कैसे रखते हो ? जो कुछ अत्याचार तुमने पाण्डवोंके प्रति किये हैं, उचित है कि उनका प्रायश्चित्त उनका राज्य उनको देकर कर डालो। वे धर्मात्मा और राज्यके अधिकारी हैं, इसलिये सन्धि स्थापनकर सबकी रक्षा करो और हमारे बुढ़ापेमें धूल मत डालो।" इसपर भी उस दुरात्माने उत्तर न दिया, सभासे उठकर चला गया और कर्ण, शकुनि व दुःशासनके साथ मिलकर श्रीकृष्णजीको चुप-चाप क़ैद करनेकी सम्मति करने लगा। सात्यकीको यह बात मालूम हो गई और उसने आकर श्रीकृष्णजीके कानोंमें यह सब वृत्तान्त सुनाया। श्रीकृष्णजीने धृतराष्ट्रसे कहा—"सुनते हो, दुर्योधन हमें क़ैद करना चाहता है। आप लोग हमारी सबलता-निर्बलताको भली-भाँति जानते हैं। ख़ैर, कुछ भी हो आप लोग डरियेगा नहीं, हम इस समय दूत बनकर आये हैं, इसलिये दूत-धर्म छोड़ हम किसीको दण्ड देना नहीं चाहते।" इसपर दुर्योधन फिर सभामें बुलवाया गया और श्रीविदुरजीने उसको कहा कि श्रीकृष्णजीसे अनुचित व्यवहार करके मृत्युको निमन्त्रित मत करो। इतनेमें श्रीकृष्णजीने ज़ोरसे हँस दिया और उनके हँसते ही सभामें दिव्य तेज चारों ओर फैल गया। इस अद्भुत

दृश्यसे सब लोग चकित रह गये, उसी समय श्रीकृष्णजी सभासे चल पड़े और रथपर सवार हो गये। धृतराष्ट्रने आकर भगवान् से अपनी असमर्थता प्रकट की, तब भगवान्‌ने सब सभासदोंको सम्बोधन करके कहा—"सभासदो! हम सन्धि-स्थापनार्थ यहाँ आये थे परन्तु धृतराष्ट्र स्वाधीन नहीं हैं, इधर दुर्योधन अपने दुर्भाग्यसे सन्धि करना नहीं चाहता, इस लिये युद्धके सिवा अब और कोई मार्ग नहीं है।" ऐसा कहकर उन्होंने रथको चला दिया और कर्णको साथ लेकर नगरके बाहर आये। उन्होंने कर्णको अपनी ओर कर लेनेका भरसक यत्न किया, परन्तु उसने कहा—"अब ऐसा करना कृतघ्नता होगी।" यद्यपि उसने अपने को कुन्ती-पुत्र जानकर अपने पाण्डव भ्राताओंके साथ की हुई अनुचित चेष्टाओंपर पश्चात्ताप अवश्य किया। जब वह अपने हटपर डटा रहा, तब भगवानने उसको कहा कि सब सभासदों को सूचित कर देना कि यह मास युद्धके लिये बड़े सुभीतेका है, इसलिये आजसे सप्तम दिवस युद्ध होगा।

शान्ति-स्थापनकी चेष्टामें सफल न हो भगवान उपप्लव्य नगर में पाण्डवोंके पास आये और सब वृत्तान्त सुनाकर युद्धकी तैयारी करनेके लिये कहा। द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकी, चेकितान और भीमसेन, ये सात योद्धा पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाके सेनापति नियत हुए और धृष्टद्युम्न मुख्य सेनापति बनाया गया। इधर कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेना के कृप, द्रोण, शल्य, जयद्रथ, सुदक्षिण, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि और बाल्हिक, ये ग्यारह सेनापति नियत हुए और भीष्मपितामह मुख्य सेनापति बनाये गये। श्रीभीष्मजी सत्यप्रिय होनेसे यद्यपि पाण्डवोंकी जय चाहते थे, तथापि कौरवों का नमक खाया था इसलिये उन्हींके पक्षमें देह-अर्पण उचित

समझा। उन्होंने नायक होते समय दुर्योधनसे यह शर्त कर ली थी कि हम पाण्डवोंको अपने हाथसे नहीं मारेंगे, परन्तु तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये हज़ारों सैनिक प्रतिदिन मारनेमें आगा-पीछा न करेंगे। इसी नमकके विचारसे श्रीद्रोणाचार्यजी एवं श्रीकृपाचार्यजी भी कौरवोंसे अलग नहीं हुए।

इस प्रकार तैयारी होनेपर इस रुधिरकी प्यासी रणभूमि कुरुक्षेत्रपर दोनों ओरकी सेनाएँ डट गईं। पाण्डव-सेनाका मुख पूर्वकी ओर तथा कौरव-सेनाका मुख पश्चिमकी ओर था मैदान गोल मण्डलाकार पाँच योजनसे कम न था। हाथियोंकी चिंहाड़, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, योद्धाओंके सिंहनाद, धनुषोंकी टङ्कार, हथियारोंकी झङ्कार तथा भेरी, नगारे एवं शङ्खोंकी गम्भीर ध्वनि से कुरुक्षेत्र गूँज उठा। युद्धारम्भसे पहले युधिष्ठिर अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़ सीधे कौरवोंकी सेनामें घुस गये, सारे भाई भी उनके पीछे हो लिये। सीधे श्रीभीष्मपितामहके चरणोंमें पहुँचकर पाँचों भाईयोंने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया और युधिष्ठिरने युद्धके लिये आज्ञा माँगी, जो उन्होंने आशीर्वादके साथ दे दी। ऐसे ही द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और शल्यसे भी आज्ञा प्राप्त की गई।

अहिंसा-तत्त्व

महामना महात्मा श्रीगाँधीजीने अपने ग्रन्थ 'गीता अनासक्ति-योग' की प्रस्तावनामें कथन किया है कि—'गीता यह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें निरन्तर जो द्वन्द्व-युद्ध चल रहा है, उसके वर्णन करनेके निमित्तसे ही इसमें इस भौतिक-युद्धका उल्लेख किया गया है। अर्थात् मानुषी योद्धाओंकी रचना हृदयगत युद्धको सरस बनानेके लिये एक

गढ़ी हुई कल्पना है।' इसी स्थलपर उन्होंने महाभारतको भी इतिहास माननेसे इन्कार किया है और कहा है कि—'उसमें वर्णन किये गये पात्र मूलमें ऐतिहासिक भले ही हों, परन्तु श्रीव्यास भगवान्ने तो उन नामोंका उपयोग केवल धर्मका मार्ग-दर्शनके निमित्त ही किया है।' आशय यह कि महाभारतमें कौरव-पाण्डवोंकी जो ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णन की गयी हैं और जिन के परिणाममें कुरुक्षेत्रका महायुद्ध फूट निकला है, वे सब घटनाएँ और युद्ध ऐतिहासिकरूपसे घटित नहीं हुए, किन्तु हृदयगत द्वन्द्व-युद्ध और धर्ममार्ग-दर्शनके निमित्त ही वे केवल काल्पनिक तथा अलङ्कारमात्र हैं। अपने इस मतकी पुष्टिमें उन्होंने एकमात्र हेतु यही बताया है कि युद्धरूप हिंसा किसी भी धर्मशास्त्र को मान्य नहीं हो सकती। इसी अर्थमें गीताके श्रीकृष्णको भी उन्होंने काल्पनिक और आलङ्कारिक ही माना है, यद्यपि श्रीकृष्ण नामके अवतारी पुरुषसे उनको इंकार नहीं है। आशय यह है कि श्रीकृष्ण नामके अवतारी पुरुष तो हुए, परन्तु गीता उनके श्रीमुख की वाणी नहीं है। किन्तु मनुष्योंके हृदयोंमें निरन्तर होनेवाले इस द्वन्द्व-युद्धको उपदेशरूपसे वर्णन करनेके लिये श्रीव्यासजीने ही उनको अलङ्काररूपसे खड़ा करके गीताका उपदेश किया है। क्योंकि युद्ध अथवा युद्धकी निमित्तभूत महाभारतकी अन्य घटनाएँ ऐतिहासिकरूपसे घटी हों, ऐसा श्रीगाँधीजीको मान्य नहीं है। इसीलिये गीता भी श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी हो, इससे उनको इंकार है।

इस स्थलपर हृदयगत द्वन्द्व-युद्ध तो हमें सर्व प्रकार मान्य है। यह तो भावुक भक्तोंके पवित्रभाव-विकासका अत्युत्तम साधन है। यही नहीं, बल्कि पुराण शास्त्रोंकी प्रत्येक गाथाओंमें इसी प्रकारके गम्भीर अध्यात्म-भाव निहित हैं। अर्थात् पुराण-शास्त्रोंकी प्रत्येक

गाथा अध्यात्म और अधिभूत उभय भावोंसे भरपूर है, ऐसी महानुभाव विद्वानोंकी मान्यता है। परन्तु केवल अध्यात्म-भाव को ही ग्रहण करके ऐतिहासिक और व्यावहारिकरूपसे घटित महाभारतकी आधिभौतिक घटनाओं तथा गीतोक्त युद्धसे जो इंकार किया गया है, यही विषय इस स्थलपर हमारे लिये विचारणीय है। इसके साथ-साथ ही अपनी बुद्धिके अनुसार अहिंसा-तत्त्वपर भी विचार करना हमारा कर्तव्य होगा। आइये! इसी विषयपर शान्त चित्तसे विचार करें।

किसी भी विषयके प्रमाण्यके लिये मुख्य तीन ही प्रमाण हो सकते हैं —(१) प्रत्यक्ष-प्रमाण, (२) आगम-प्रमाण, अथवा (३) अनुमान-प्रमाण। यहाँ हमें पृथक्-पृथक् इन तीनों प्रमाणों को लेकर इस विषयपर विचार करना होगा।

(१) ये सब घटनाएँ दीर्घ भूतकालसे सम्बन्धित होनेके कारण न तो किसी व्यक्तिके चाक्षुष-प्रत्यक्षके ही विषय हो सकती हैं और न उस कालमें रहनेवाले किसी अन्य व्यक्तिके वाणीरूप साक्षीके विषय ही। इसलिये प्रत्यक्ष-प्रमाण तो इस स्थलपर मूक ही है।

(२) किसी भी अन्य आगम-प्रमाण अर्थात् शास्त्र-प्रमाणसे यह विषय सिद्ध नहीं किया गया और न किया ही जा सकता है कि महाभारतकी घटनाएँ कल्पनामात्र हैं। इसके विपरीत इस युद्धके प्रामाण्यमें तो अनेक आगम-प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं। दृष्टान्तरूपसे श्रीमद्भागवतको ही लीजिये। इसके प्रथम स्कन्ध के अध्याय ७, ८ और ९ में कुरुक्षेत्र-युद्धके बाद भीमसेनका गदा-द्वारा दुर्योधनकी जंघा तोड़ना, अश्वत्थामाका द्रौपदीके सोते हुए पुत्रोंका सिर काट डालना, अर्जुनका अश्वत्थामाको पकड़कर द्रौपदीके पास लाना और गुरुपुत्र जानकर उसको छोड़ देना,

अपमानित अश्वत्थामाका उत्तराके गर्भमें स्थित परीक्षितपर ब्रह्मास्त्र छोड़ना और भगवान् श्रीकृष्णका उसकी रक्षा करना; धृतराष्ट्र, गान्धारी और पाण्डवों आदिका युद्धमें मृत पुत्रों और भाईयों आदिका गङ्गाकिनारे दाह-क्रिया करके जलाञ्जलि देना तथा श्रीकृष्णका पाण्डवोंको साथ लेकर बाणशय्यापर शयन करनेवाले श्रीभीष्मजीके पास जाना और श्रीभीष्मपितामहका युद्धमें प्रकट हुए श्रीकृष्णचरित्रोंका दोहराना इत्यादि कथाएँ वर्णित हैं। इससे युद्धकी ऐतिहासिक सत्यता स्पष्ट प्रमाणित होती है और जब युद्ध प्रमाण्य हुआ, तब युद्धके निमित्तभूत अन्य सब घटनाओंसे इंकार करनेका तो कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। महाभारतकी आधिभौतिक घटनाओं और गीतोक्त युद्ध को काल्पनिक माननेमें जो और अनेक आपत्तियाँ उपस्थित हो सकती हैं, उनमेंसे कुछ नीचे दर्शाई जाती हैं—

(प्रथम) प्राचीन इतिहास-पुराण अर्वाचीन इतिहास अर्थात् हिस्ट्री और तवारीखोंकी तरह अधूरे नहीं हैं, जिनमें केवल आधिभौतिक घटनाओं और उनके कालका ही पता चलता है, परन्तु उन घटनाओंमें निमित्तभूत जो दैवी-विधान है, उसका वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता। वास्तवमें तो उन घटनाओं-द्वारा दैवी-विधान अर्थात् Nature's law की ज्वलन्त शिक्षा देना, यही इतिहासोंका मुख्य प्रयोजन हुआ करता है। इसके विपरीत प्राचीन इतिहास तो पूर्ण हैं। अमुक व्यक्ति, जाति और देशकी उन्नतिके मूलमें वर्तमान कालमें और पूर्व जन्म अथवा भूतकालमें किन-किन प्राकृतिक नियमोंका पालन हो रहा था, जिससे वे उन्नतिके शिखरपर पहुँचे ? तथा अमुक व्यक्ति, जाति और देश की अवनतिके मूलमें वर्तमान तथा भूतकालमें किन-किन प्राकृतिक नियमोंका अनादर किया जा रहा था, जिससे वे पूर्ण शक्ति-

शाली होते हुए भी रसातलको पहुँचे ? मनुष्यको अपना नित्य जीवन-व्यवहार वर्णाश्रमके अनुसार किस-किस रूपसे चलाना चाहिये ? अमुक-अमुक धर्मसंकटोंके उपस्थित होनेपर धर्म कैसा-कैसा विभिन्न स्वरूप धारण करता है और उनके अनुसार मनुष्य केव्यवहारमें कैसा-कैसा परिवर्तन होना चाहिये, जिससे मनुष्यका इहलोक और परलोकमें कल्याण हो ? इहलौकिक सुखसाधनकी अपेक्षा पारलौकिक सुखसाधन किस प्रकार महत्त्वशाली होते हैं ? हमारे पूर्वजोंने इस लोकको परलोकपर किस प्रकार न्यौछावर किया, जिससे वे इस नश्वर संसारमेंसे कल्याणस्वरूप होकर निकले ? परमार्थ और परलोकको जीवनका ध्येय बना लेनेसे किस प्रकार मनुष्यके व्यवहार और परमार्थ दोनों सिद्ध हो जाते हैं ? इसके विपरीत केवल व्यवहारको ही पकड़ बैठनेसे किस प्रकार मनुष्यके व्यवहार और परमार्थ दोनों ही बिगड़ जाते हैं ? आचरणमें आ चुकनेपर कर्म अपने फलभोगके लिये जीवको बाँधनेमें कितना बलवान् है ? इस प्रकार व्यावहारिक रूपसे दैवी-विधानका शिक्षण तथा परिस्थितियोंके हेर-फेरसे धर्मकी अनेक जटिल समस्याओंका क्रियात्मक शोध संसारके सम्मुख उपस्थित कर देना, यही प्राचीन इतिहास-पुराणोंका मुख्य ध्येय है। अर्थात् श्रुति-स्मृतियोंमें धर्मका जो गम्भीर तत्त्व वर्णन हुआ है, उसको बुद्धिगम्य और सरलतासे स्पष्ट कर देना और उसकी ज्वलन्त व्यावहारिक घटनारूप साक्षी फलके सहित दिखला देना, यही पुराण-शास्त्रोंका उद्देश्य है। उन सब पुराणोंमें महाभारतका स्थान सबसे ऊँचा है। अर्वाचीनकालके महानुभावोंमें भिक्षु स्वामी अखण्डानन्दजी, लोकमान्य तिलक, पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, समर्थ विद्वान् श्रीचिन्तामणि वि० वैद्य आदि अनेक महानुभावों ने महाभारतको उच्च पद दिया है और सबने ही तर्क और

दलीलोंसे इसकी ऐतिहासिक सत्यताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्यालय अहमदाबादसे गुजराती भाषामें प्रकाशित महाभारतकी तृतीयावृत्तिकी भूमिकामें उन सब महानुभावोंके विचारोंका संग्रह है। प्राचीन कालके महर्षियोंके हृदयोंमें तो इस शङ्काका कोई स्थान ही नहीं हुआ था कि महाभारतकी घटनाएँ अलङ्कारिक हो सकती हैं। अब यदि किसी प्रकार इन घटनाओंको कल्पनामात्र मान लिया जाय तो महाभारतका सभी गौरव नष्ट हो जाता है। न वह विश्वासपात्र रहता है, न वह मनुष्योंके हृदयोंमें प्रेरणात्मक ही रहता है और फिर न अनुकरणीय ही। तब तो दयासे पूर्ण भगवान् व्यासका सभी परिश्रम निष्फल होगा और फिर महाभारत तो जीवोंका मनोरञ्जनमात्र एक नाविल ही रह जायगा। इसी विषयपर नीचे विचार किया जाता है—

थोड़े विचारसे ही यह बात तो मान ही ली जायगी कि अघटित कल्पनामात्र घटना किसी भी विषयके लिये न दृष्टान्तस्वरूप बन सकती है और न साक्षीस्वरूप ही। एकमात्र सत्य ही साक्षीस्वरूप हो सकता है न कि मिथ्या। इसीलिये वेदान्तशास्त्रोंमें सत्यस्वरूप परमात्माको साक्षीस्वरूप कहा गया है। संसारी न्यायालयोंमें भी सत्य साक्षीपर ही मामलोंका निर्णय किया जाता है, मिथ्या काल्पनिक साक्षीपर कदापि किसी मामलेका निर्णय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सत्य साक्षी पर निर्णीत मामला अन्यत्र दृष्टान्तस्वरूप भी सिद्ध हो सकता है और वह दृष्टान्तरूप हुआ दूसरे मामलोंके निर्णयमें विश्वासपात्र होकर सहायक बन सकता है, जैसे उच्च न्यायालयोंके निर्णय अन्य न्यायालयोंके लिये प्रमाणित और दृष्टान्तस्वरूप बनते हैं। महामना श्रीमहात्माजीके विचारानुसार यदि यह मान लिया जाय कि

महाभारतमें वर्णित सभी घटनाएँ केवल कल्पनामात्र हैं, तो उपर्युक्त विचार और दृष्टान्तके अनुसार न वे वर्तमानमें किसी विषयकी साक्षी हो सकती हैं और न भविष्यमें दृष्टान्त। जब वे घटनाएँ कल्पनामात्र होनेसे साक्षी और दृष्टान्तस्वरूप ही न बनीं तब विश्वासपात्र तो होंगी ही कैसे? तथा जब वे इस प्रकार साक्षी, दृष्टान्त और विश्वासपात्र न रहीं, तब वे जीवोंके हृदयोंमें प्रेरणात्मक कैसे होंगी और फिर अनुकरणीय कैसे बनेंगी? इस रीतिसे महाभारत केवल लड़कोंका एक मनोरञ्जक उपन्यास ही रहेगा, जैसा महामना महात्माजीने माना है, वह धर्ममार्गका प्रदर्शक कदापि न हो सकेगा।

यह एक अटल सिद्धान्त है कि आकर्षण और प्रेरणा एकमात्र सत्यके नातेसे ही होती है, मिथ्या व कल्पनामात्र पदार्थमें अपना कोई आकर्षण और प्रेरणा नहीं होती। मिथ्या चाँदीमें यदि कुछ आकर्षण होता है तो सत्य सीपीके नातेसे। मिथ्या हरिश्चन्द्रके नाटकको देखकर यदि हृदयमें प्रेरणा होती है तो सत्य हरिश्चन्द्रके सत्यव्रतके नातेसे ही। प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभवसे यह प्रमाणित करेगा कि स्वप्नमें इष्ट-अनिष्टके संयोग-वियोगजन्य हर्ष-शोकादिकी प्रेरणा होते हुए भी जाग्रत् अवस्थामें उस सब व्यवहारको कल्पित जानकर वह सब प्रेरणा तत्काल विलीन हो जाती है। दृष्टान्तस्थलपर देख सकते हैं कि भरी सभामें सत्य द्रौपदीके चीर-हरणकी कथा सुनकर कायर-से-कायर मनुष्यके हृदयमें भी दुःशासन और दुर्योधनके प्रति क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठती है। इस कथाको सुनकर प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें द्रौपदीके प्रति करुणा, कालकी विचित्र गति, संसारकी असारता तथा सत्य और धैर्यकी प्रेरणाका समुद्र हिलोरें मारने लगता है। ऐसे समयमें भी धर्मपाससे बँधे रहने

के कारण सर्वसमर्थ वीरपाण्डवोंका सिर झुकाये हुए चुप-चाप बैठे रहना और अपनी आँखोंसे वह सब दृश्य देखते रहना; सत्यता, गम्भीरता और धैर्यकी अवधि है। परन्तु यदि यह निश्चय करा दिया जाय कि यह तो अघटित-घटना है, व्यावहारिक सत्य नहीं, तो वे सब प्रकारकी प्रेरणाएँ एकदम विलीन हो जाती हैं और फिर वे अनुकरणीय तो बनेगी ही कैसे ? कल्पना कीजिये कि एक-दो शताब्दीके बाद यदि कोई कवि सत्य और अहिंसाप्रिय श्रीमहात्माजीकी आत्म-कथा सुन्दर काव्यरचनामें निर्माण करे और साथ ही उसमें यह स्पष्ट कर दिया जाय कि सत्य और अहिंसाकी जो घटनाएँ वर्णन की गयी हैं, वे केवल काल्पनिक एवं काव्यरचनामात्र हैं, व्यावहारिक सत्य नहीं, तब ऐसी अवस्थामें वर्तमान संसारमें इनको सत्य जानकर विद्युत्के समान जो प्रेरणा वर्तमान जीवोंके हृदयोंमें हो रही है, उस कालमें इनको कल्पनामात्र जान लेनेसे इस प्रेरणाका कोई भी अंश शेष नहीं रह सकता। इसी प्रकार यदि हिंसाके भयसे महाभारतके इतिहासको कल्पनामात्र मान लिया जाय तो वह किसी दैवी-विधान (प्राकृतिक नियम) के शिक्षणका पात्र नहीं रहता और केवल निर्जीव ही रह जाता है। दैवी-विधानके शिक्षण और धर्म-मार्ग-प्रदर्शनका पात्र तो वह तभी बन सकेगा, जबकि वह व्यवहारिकरूपसे घटित प्रमाणित हो सके।

(दूसरे) गीताके श्रीकृष्णको भी काल्पनिक ही माना गया है, यद्यपि श्रीकृष्ण नामके अवतारी पुरुषसे तो इंकार नहीं किया गया है। यह बात भी किसी आगम-प्रमाणसे सिद्ध नहीं की गयी और न की ही जा सकती है। इसके विपरीत अनेक आगम-प्रमाणोंसे यह प्रमाणित किया जा सकता है कि अवतारी पुरुष श्रीकृष्णके द्वारा ही गीताका उपदेश पाण्डुपुत्र अर्जुनके

प्रति किया गया था, काल्पनिक अर्जुनके प्रति नहीं। उदाहरणके लिये श्रीमद्भागवतको ही लीजिये, क्योंकि श्रीकृष्ण ही उसके मूलधन हैं। उनके जन्मसे लगाकर परमधामगमनकी सब कथाएँ उसीमें मिलती हैं। अपने परमधाम-गमनसे पहले उद्धवको जो रहस्यमय उपदेश श्रीकृष्णके द्वारा किया गया, उस प्रसंगमें उद्धवने भगवान्‌से उनकी विभूतियोंको जाननेके लिये प्रश्न किया। उसके उत्तरमें एकादश स्कन्ध अध्याय १६में भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमुखसे कहते हैं—

"कुरुक्षेत्रमें शत्रुओंके साथ युद्धकी इच्छावाले अर्जुनने मुझसे यही प्रश्न किया था। 'राज्यके लिये अपने ज्ञातियोंका नाश करना निन्दित और अधर्म है' ऐसा जानकर 'मैं मारनेवाला हूँ और ये लोग मरनेवाले हैं' इस प्रकार अर्जुनकी संसारबुद्धि उत्पन्न हो गयी थी और वह युद्धसे उपराम हो गया था। उस समय रणभूमिमें मैंने अर्जुनको उपदेश किया था। तुमने जो प्रश्न अब मुझसे किया है, तब यही प्रश्न अर्जुनने मुझसे किया था, मैं तुम्हारे प्रश्नका वही उत्तर देता हूँ।"

इसके उपरान्त अपनी उन्हीं विभूतियोंका वर्णन किया गया है जो गीताके दशम अध्यायमें निरूपण की गयी हैं। इससे यह बात सूर्यवत् स्पष्ट हो जाती है कि गीताके उपदेशक काल्पनिक कृष्ण नहीं, किन्तु साक्षात् पूर्ण कलावतारी भगवान्-श्रीकृष्ण ही थे और कौल्पनिक अर्जुनको नहीं, किन्तु पाण्डुपुत्र अर्जुनको ही उपदेश किया गया था।

(तीसरे) यदि ऐसा मान लें कि 'गीतामें मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत द्वन्द्व-युद्धको सरस बनानेके लिये एक अच्छी गढ़ी हुई कल्पना है' तब गीताके प्रथम अध्यायमें जिन-जिन योद्धाओंका नाम वर्णन किया गया है, उन सबको हृदयगत

द्वन्द्व-युद्धमें उचित स्थान देना चाहिये। अर्थात् द्रुपद, धृष्टद्युम्न, युयुधान, विराट, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरुजित्, कुन्ति भोज शैब्य, युधामन्यु, उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदेय—दैवीवृत्तिरूप पाण्डवोंमें ये कौन कौन हो सकते हैं? और आसुरीवृत्तिरूप कौरवोंमें द्रोण, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा—इन सबको हृदयगत द्वन्द्व-युद्ध में क्या-क्या स्थान दिया जा सकता है? तथा धर्मके सूर्य भीष्मपितामह और द्रोणको आसुरीवृत्तिरूप कौरवोंमें कैसे शामिल किया जा सकता है? द्वन्द्व-युद्धमें इन सबको उचित स्थान दिये बिना 'गीतोक्त युद्ध काल्पनिक है' यह मान्यता भी काल्पनिक ही रह सकती है। केवल शरीरको कुरुक्षेत्र, पाण्डवोंको दैवीवृत्ति और कौरवोंको आसुरीवृत्ति कल्पना कर लेनेसे ही द्वन्द्व-युद्धकी कल्पना मान्य नहीं हो सकती। हाँ आधिभौतिक युद्धको सत्य मानकर तो भावुक भक्त अपनी-अपनी बुद्धिके भावानुसार इसमेंसे हृदयगत द्वन्द्व-युद्धके लिये अध्यात्म-भाव भी ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु आधिभौतिक युद्धका अनादर करके द्वन्द्व-युद्धके दोनों पक्षोंके योद्धाओंकी साङ्गोपाङ्ग संगति लगा जाना, हमारे विचारसे तो असम्भव ही है और इस संगतिके बिना द्वन्द्व-युद्ध भी केवल कल्पनामात्र ही रह जाता है।

(सौंचे) यह तो मानना ही पड़ेगा कि सात सौ श्लोककी गीता तो यथार्थ ही है, काल्पनिक नहीं और उन श्लोकोंमें जो कुछ कहा गया है, वह भी प्रामाण्य है, काल्पनिक नहीं। यदि इन सात सौ श्लोकोंके अर्थोंको भी काल्पनिक ही मान लें तो सभी खेल खतम हो जाता है और फिर तो द्वन्द्व-युद्धकी भी कोई सफलता नहीं रहती। अब विचार होता है कि पहले अध्यायमें अर्जुनने युद्ध करनेमें जो छः दोष वर्णन किये हैं,

अर्थात् '(१) कुलक्षयसे कुलके सनातन-धर्मोका नाश, (२) कुल-धर्मके नाशसे अधर्मका प्रभाव, (३) कुलस्त्रियोंका दूषित हो जाना, (४) वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्ति, (५) पितरोंका अधःपतन (६) तथा इस प्रकार कुलघातियों, स्त्रियों और वर्ण-संकरोंको नरक-प्राप्ति'—द्वन्द्व-युद्धके अर्जुनके लिये ये दोष किस प्रकार लागू होते हैं ? तथा दूसरे अध्यायके श्लोक ३३ से ३८ तक श्रीभगवान्ने भी व्यावहारिक दृष्टिसे युद्ध न करनेमें जो चार दोष वर्णन किये हैं, अर्थात् '(१) यदि तू धर्मयुद्ध न करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको नष्ट करके उलटा पापको प्राप्त होगा, (२) तेरी अविनाशी अकीर्ति गायन की जायगी और सम्भावितके लिये अकीर्ति मरणसे भी बुरी है, (३) महारथी लोग तुझे भयके कारण युद्धसे उपराम हुआ जानेंगे (४) तथा यदि तू मर गया तो स्वर्ग भोगेगा और जीत गया तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा, इसलिये कुन्तीपुत्र ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो।' इस प्रकार युद्ध न करनेमें द्वन्द्व-योद्धाके लिये ये सब दोष किस प्रकार लागू होते हैं ? अर्जुनके द्वारा युद्ध करनेमें कहे गये दोषों और श्रीभगवान्के द्वारा युद्ध न करनेमें कहे गये दोषोंका द्वन्द्व-योद्धाके साथ संगति लगाये बिना ही भौतिक युद्धसे इंकार कर जाना तो कोई न्याय न होगा और फिर न इसकी कोई सफलता ही रहेगी। यदि इसकी यथार्थ संगति नहीं लगायी जा सकती तो बलात्कारसे या तो भौतिक युद्धको स्वीकार करना होगा, या गीताको भी काल्पनिक उपन्यास ही मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्थामें फिर यह किसी भी उपदेशका पात्र न रहेगी।

(पाँचवें) यह बात माननेमें तो किसीको भी अड़चन न होगी कि पूर्ण श्रद्धाके योग्य जो व्यक्ति होता है, श्रद्धावान्

जिज्ञासु उसीके वचनोंको सुनता है, विश्वास करता है और फिर उनको अपने व्यवहारमें भी लाता है, तभी वह सिद्धिको प्राप्त कर सकता है। यदि उपदेशक श्रद्धाके योग्य नहीं तो उसको सुनेगा ही कौन? प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहा है कि श्रद्धेय श्रीमहात्माजीके वचनोंको वर्तमान जगत् सुनता है, आदर करता है और फिर यथाशक्ति उनको वर्ता भी जाता है। वे ही शब्द यदि अस्मदादि पुरुषोंद्वारा कहे जायँ तो कोई सुनेगा ही नहीं, आदर और वर्ताव तो कहाँ? जबकि प्राकृतिक नियम ऐसा है, तब कृपया विचारिये कि गीताके श्रीकृष्णकी तो कोई हस्ती मानी ही नहीं गयी, वे तो कल्पित ही मान लिये गये। ऐसी अवस्था में उपदेशककी सत्ताविना उस गीतोपदेशका सुनना, विश्वास करना और उसपर वर्ताव करना कैसे बन पड़ेगा? फिर यह आत्मतत्त्व तो इतना गहन है, जहाँ मन-वाणीकी गति ही नहीं (गीता २। २९), ऐसी अवस्थामें श्रद्धेय पात्रविना और उसमें श्रद्धाविना प्रवृत्ति ही कैसे हो? यदि ऐसा कहा जाय कि स्वय श्रीव्यास भगवान् ही इसके उपदेष्टा हैं, तो यह भी नहीं बन पड़ता। इसका कारण नीचे व्यक्त किया जाता है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'मैंने यह योग सूर्यको कहा था (४।१)। 'मैं अविनाशी हुआ भी अपनी मायासे प्रकट होता हूँ। मैं युग-युगमें जब-जब धर्ममें ग्लानि होती है, तब-तब धर्मका उत्थान, साधुओंकी रक्षा और पापियोंके संहारके लिये प्रकट होता हूँ'॥ (४।६-८)। 'चारों वर्णोंकी रचना मेरे द्वारा ही होती है, वे कर्म मुझे बन्धन नहीं करते' (४।१३,१४)। 'मुझ सर्वलोकोंके महेश्वर को जानकर जीव शान्तिको प्राप्त होता है' (५।२८)। 'मुझसे परे कुछ नहीं है; जलमें रस, सूर्यमें प्रभा, आकाशमें शब्द, पृथ्वी

में गन्ध और सर्वभूतोंका सनातन बीज मैं ही हूँ' (७।७-१२)। सारांश, कहाँतक लिखा जाय, प्रत्येक अध्यायमें अपने स्वरूप के ही गीत गाये गये हैं और दशम अध्याय तो अपनी विभूतियों से तथा एकादश अध्याय अपने विराट्स्वरूपके दर्शनसे ही भर दिया गया है।

अब ज़रा शान्तचित्तसे विचारिये। अवतारी पुरुष श्रीकृष्ण के तो ये वचन माने नहीं गये, किंतु उनके नामपर श्रीव्यास भगवान्के ही ये वचन हैं, ऐसा माना गया है। सो भी प्रथम-पुरुष (First person) के रूपमें, कि 'मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ।' ऐसी अवस्थामें 'जैसा गीतामें कहा गया है, वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण वैसे ही हैं' विचारवान् सत्य-प्रिय जिज्ञासुका ऐसा विश्वास कैसे हो सकता है? यदि अवतारी पुरुष श्रीकृष्ण हुए ही न होते (इससे तो इंकार नहीं किया गया है) तो भी शायद भगवान् श्रीव्यासके ये वचन किसी तरह मान लिये जाते। परन्तु इसके विपरीत वे स्वयं तो जीते-जागते रहते हुए चुप हैं, श्रद्धेय श्रीमहात्माजीके विचारानुसार कल्पित होनेसे वे तो अपना ऐसा गीतोक्त स्वरूप वर्णन नहीं करते, किन्तु उनका स्वाँग भरकर भगवान् श्रीव्यास ही श्रीकृष्णका ऐसा गीतोक्त स्वरूप वर्णन करते हैं। ऐसी अवस्थामें श्रीकृष्णका वैसा स्वरूप श्रद्धेय कैसे हो सकता है? एक नाटकीय वचनोंके सिवा इन वचनोंकी और कोई हैसियत नहीं रहती। नाटकमें भी यदि वह सत्यका प्रतिबिम्ब हो तो विश्वास किया जा सकता है। अर्थात् सत्यवादी हरिश्चन्द्रके वचनोंको यदि कोई ऐक्टर हरिश्चन्द्र बनकर कहे तो वे विश्वासयोग्य हो सकते हैं और वे हृदयमें प्रेरणा भी उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु हरिश्चन्द्रके रहते हुए हरिश्चन्द्रका स्वाँग भरकर यदि कोई दूसरा व्यक्ति

उसकी ओरसे बिना कहे हुए वचनोंको कहे, तब यह तो उल्टा अपराध बन जाता है, श्रद्धा तो कैसी ? यदि देवदत्त यज्ञदत्तका स्वॉग भरकर यज्ञदत्तके द्वारा न कहे हुए वचनोंकी न्यायालय में साक्षी दे तो वह न्यायाधीशको धोखा देनेका अपराधी अवश्य बनेगा। प्रतिबिम्ब सत्यका ही हो सकता है मिथ्याका कदापि नहीं। इसी प्रकार ऐसी अवस्थामें भगवान् श्रीव्यासजी अवश्य इस अपराधके अपराधी बन सकते हैं। और धर्मके प्राण, अष्टादश पुराणोंके निर्माता तथा वेदके पारङ्गत भगवान् श्रीवेदव्यासजीको इस अपराधका अपराधी बनाना, अथवा अपने व्यवहारसे उनपर इस आरोपका अवसर देना, मूर्तिमान सत्य श्रीमहात्माजीको भी यह कदापि स्वीकृत तथा रुचिकर न होगा, इसमें तो सन्देह ही नहीं है। यदि श्रीव्यास भगवान् अपनी ओरसे तृतीय-पुरुष (Third person) के रूपमें भगवान् श्रीकृष्णका ऐसा स्वरूप वर्णन करते कि 'वे ऐसे हैं, वैसे हैं' अथवा श्रीकृष्णके कहे हुए वचनोंका अनुवाद करके कहा जाता कि 'उन्होंने अपना स्वरूप ऐसा वर्णन किया है कि मैं ऐसा हूँ' तो भगवान् श्रीव्यासके वे वचन अवश्य माथेपर चढ़ाये जा सकते थे। परन्तु श्रद्धेय श्रीमहात्माजीके आशयको ग्रहण करके यहाँ तो दोनों बातोंकी ही अव्याप्ति मिलती है, न तो श्रीकृष्णने ही श्रीमुखसे अपना ऐसा स्वरूप कहा कि 'मैं ऐसा हूँ' और न श्रीव्यासने ही तृतीय-पुरुष (Third Person) में उनका ऐसा स्वरूप वर्णन किया कि 'वे ऐसे हैं'। फिर बतलाइये, ऐसी अवस्थामें गीतोक्त भगवान्का स्वरूप कैसे श्रद्धेय हो सकता है? सारांश, सत्य अपना स्थान नहीं छोड़ता, जैसा उन्होंने श्रीमुखसे कहा है "गीता मे हृदयम्"—गीता भगवान्का हृदय ही है, वह उनकी श्रीमुखकी वाणी बनकर ही

रहेगी और केवल उनकी श्रीमुखकी वाणी मानी जाकर ही सफल हो सकेगी, इसके बिना तो वह सबप्रकार निष्फल ही है।

सारांश, इस प्रकार हिंसाके भय और सरसताके लोभसे महाभारत और गीताको काल्पनिक मान लेनेसे किसी प्रकार निर्वाह नहीं हो सकता

(३) 'महाभारतकी घटनाएँ तथा गीतोक्त युद्ध काल्पनिक हैं'—इस विषयको अब हमें अनुमान-प्रमाणकी कसौटीपर जाँच करना चाहिये। जो प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय न हो सके, हेतुके प्रत्यक्षद्वारा उसका निश्चय करना, अनुमान-प्रमाण कहा जाता है। जैसे दूर देशमें धूमदर्शनके हेतुसे वहाँ अग्निका निश्चय अनुमान-प्रमाणसे किया जाता है। परन्तु स्मरण रहे कि *हेतु यदि भ्रमरूप हुआ तो अनुमानका विषय भी भ्रमरूप ही* होगा, यथार्थ नहीं। जैसे दूर देशमें धूलि-पटलको देखकर यदि उसमें धूमकी कल्पना कर ली जाय तो वहाँ अग्निका असम्भव ही रहेगा। 'उक्त सब घटनाएँ काल्पनिक हैं' इस विषयकी सिद्धिमें एकमात्र हेतु यही रक्खा गया है कि युद्धरूप हिंसा किसी भी शास्त्रको मान्य नहीं हो सकती। इसलिये अब इस स्थलपर हमें अहिंसाके स्वरूपपर विचार करना चाहिये। सत्य और अहिंसा धर्मके अङ्ग हैं, इसलिये पहले हमें 'धर्मका क्या लक्षण है ?' यह जानना चाहिये। धर्मानुकूल अहिंसा ही अहिंसा कही जा सकेगी और धर्मविरुद्ध अहिंसा 'अहिंसा' न रहकर हिंसा ही माननी होगी। संक्षेपसे धर्मका लक्षण इतना पर्याप्त होगा कि जिस चेष्टारूप व्यापारद्वारा इसके कर्ता तथा इसके संसर्गमें आनेवाले अन्य बाह्य व्यक्तियोंका पारलौकिक अथवा पारमार्थिक श्रेय सिद्ध हो, वह व्यापार ही धर्मरूप कहा जायगा। केवल इस लोकके प्रेयका साधनरूप व्यापार धर्म नहीं

कहा जा सकता। जैसे ज्वरपीड़ित रोगीके लिये कुनैन वर्तमानमें चाहे कड़वी है, परन्तु ज्वरनाशक होनेसे वह श्रेय कही जायगी। इसके विपरीत मोदक चाहे मधुर है इसलिये प्रेय तो है, परन्तु ज्वरपोषक होनेसे वह श्रेय नहीं कहा जा सकेगा। इसी प्रकार 'श्रेय' और प्रेय का स्वरूप जान लेना चाहिये। धर्मके इसी लक्षणके आधारपर 'हिंसा'-'अहिंसा' के स्वरूपका निर्णय हो सकता। 'किसी शरीरको कष्ट देना' इतनामात्र ही हिंसा का स्वरूप नहीं किया जा सकता, क्योंकि केवल क्रिया अपने स्वरूपसे पुण्य पापरूप नहीं हो सकती, किन्तु कर्ताकी बुद्धिका भाव ही पुण्य-पापरूप हो सकेगा। डाक्टर यदि रोगीके किसी सड़े हुए अङ्गको, जो उसके दूसरे अङ्गोंके लिये अथवा उसके जीवनके लिये हानिकारक हो, काट डाले तो क्या यह हिंसा कही जायगी? मजिस्ट्रेट यदि चोरको दण्ड तथा बहुत-सी हत्या करनेवालेको फाँसी देता है, तो क्या यह हिंसा कही जायगी? कदापि नहीं। बल्कि कहना पड़ेगा कि यदि वे दोनों अपने-अपने कर्तव्योंके पालन करनेमें कायरता करते हैं तो अवश्य दूसरे अङ्गोंको आघात पहुँचानेमें निमित्त बनकर वे हिंसाके ही अपराधी होंगे। क्योंकि उन्होंने अपने-अपने कर्तव्यपालनद्वारा उन लोगोंका श्रेय नहीं किया, किन्तु इनके अध पतनमें ही अपनी सहायता दी। 'किसीको पीड़ा पहुँचाना हिंसा है' यदि हिंसा का इतना ही स्वरूप किया जाय तो अवश्य कहना पड़ेगा कि दैवी-विधान (प्राकृतिक नियम, Nature's Law) हिंसाकी नींव पर ही खड़ा किया गया है। क्योंकि जीवको कूकर-सूकर और सिंह-सर्पादि अनिष्ट योनियोंकी प्राप्ति, जन्म मरणादि महादुःख तथा जीवनपर्यन्त अनेक प्रकारके कष्ट एकमात्र दैवी-विधानके अधीन ही प्राप्त होते हैं, जोकि महाहिंसारूप कहे जाने चाहियें,

परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। दैवी-विधान अपने स्वरूपसे एक-मात्र सत्य और श्रेयकी नींवपर ही स्थित है। इसीलिये दैवी-विधानमें जब कभी और जो कुछ प्रकट होता है, निर्विवादरूप से उसके मूलमें अवश्य जीवका श्रेय ही निहित होता है, चाहे जीव अपनी भूलसे उसे न जान सके। दैवी-विधान वास्तवमें अपनी ओरसे किसीको सुख-दुःख देनेवाला नहीं है, किन्तु जो कुछ भी दैवी-विधानमें प्रकट होता है, वह जीवकी क्रियाकी प्रति-क्रियारूपसे ही प्रकट होता है। किये हुएका भोग भुगवाना और उस भोगद्वारा भविष्यके लिये जीवको व्यावहारिकरूपसे ज्वलन्त शिक्षा देना, यही दैवी-विधानका मुख्य श्रेयरूप कर्तव्य है। इस प्रकार ठीक डाक्टर या मजिस्ट्रेटके समान प्रतिक्रिया-रूपसे दुःख-सुख तथा जन्म-मरणादि यमयातनाएँ भुगता-भुगता-कर अन्ततः उसे जीवसे शिवरूपमें पहुँचा देना, यही दैवी-विधान का श्रेयरूप ध्येय है। यदि पीड़ाके भयसे प्रकृतिराज्य (दैवी-विधान) में प्रतिक्रिया (किये हुएका बदला) न रहे, तब तो सारे संसारमें घोर अन्धकार छा जायगा और तब तो जीवको शिवरूपमें पहुँचानेके बदले जीवको नरकमें डालनेकी ज़िम्मेवारी प्रकृतिके मत्थे आ जायगी। नरक भी कहाँ? नरक भी तो प्रति-क्रियारूप ही है, कहना चाहिये कि संसार ही न होगा और तब तो भगवान्के अवतारका भी कोई प्रयोजन न रहेगा। 'मैं साधु-ओंके परित्राण और दुष्टोंके संहारके लिये युग-युगमें अवतार लेता हूँ' (४।८), फिर तो ये वचन भी मिथ्या कल्पित ही रह जायँगे। यदि किसी प्रकार गीताको कल्पित माना जाय (जो अभीतक सिद्ध नहीं हुआ) तो रामायणमें राम-रावण-युद्ध और भागवतमें कंस, जरासन्ध, शिशुपाल तथा अनेक राक्षसोंके वध से तो इंकार नहीं किया गया है और वे सब घटनाएँ भीप्रकृति

के प्रतिक्रियारूप अकाट्य नियमके अधीन स्वाभाविक ही प्रकट हुई हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक नियम एकमात्र प्रतिक्रिया-पर ही टिका हुआ है तथा पीड़ाका विचार न करके जीवको श्रेयपथमें जोड़ देना, यही उस नियमका अमृतरूप फल है।

हिंसाके भयसे गीतोक्त युद्धको काल्पनिक जानकर जिस हृदयगत द्वन्द्व-युद्धको स्वीकार किया गया है, वह द्वन्द्व-युद्ध भी केवल इस प्रतिक्रियाके आधारपर ही स्थित है। जीवके हृदयमें निरन्तर होनेवाले देवासुर-संग्राममें यह प्रतिक्रियारूप त्रिशूल अर्थात् अध्यात्म[1], आदिदैव[2] और आधिभौतिक[3] दुःख ही एकमात्र देवताओंका शस्त्र है, जोकि निरन्तर जीवके हृदयमें घूँप-घूँप कर उसे श्रेयपथपर लाये बिना नहीं छोड़ता। इससे स्पष्ट है कि अधिकारीके लिये पापीका वध हिंसा नहीं, अहिंसा ही है। यदि इस सच्ची अहिंसासे आनाकानी की गयी तो वह अवश्य धर्मकी हिंसा होगी। भला विचारिये तो सही, पापीका वध न करके उल्टा उसके हाथों मर जाना, यह कौन धर्म होगा? यह तो अनिग्रहरूप आत्महत्या और कायरता ही होगी; क्योंकि इसमें अपने व्यवहारद्वारा प्रकृतिका अङ्ग बनकर प्राकृतिक नियमका सहकार नहीं किया गया। जैसा धर्मका लक्षण ऊपर वर्णन किया गया है, उसके अनुसार भला, पापीको न मार कर किसका श्रेय किया जा सकेगा—पापीका, अपना, अथवा संसारका? इसके विपरीत पापीका वध करनेमें पापीका श्रेय है, संसारका श्रेय है और जब दोनोंका श्रेय है तब इसमें सहकारी होनेसे अपना तो है ही। जहाँ अपनी आसुरी

१. शारीरिक रोग तथा मानसिक सङ्कल्प-विकल्पजन्य दुःख।

२. अग्नि-जलादि और ग्रह-नक्षत्रादिसे उत्पन्न हुआ दुःख।

३. चोर, शत्रु आदि तथा सिंह-सर्पादि जीवोंद्वारा होनेवाला दुःख।

प्रकृतिके कारण पापी पापोंके बीज मुट्ठी भर-भरकर बो रहा है और प्रकृतिराज्यमें उसकी प्रतिक्रिया निश्चित है, उससे उसकी अपनी रक्षा हो और संसार उसके मार्गका अनुसरण न करे तथा उसके आघातसे सुरक्षित रहे, यही पापीके वधमें दयासे भरे हुए प्राकृतिक नियमका राज्य है। और इसी आधारपर टिकी हुई राजनीति सत्य, दया तथा श्रेयसे भरपूर धर्मरूप ही होगी। सारांश, सत्य और श्रेयके लिये अहिंसा है, नकि अहिंसाके लिये सत्य। अर्थात् जहाँ अहिंसा और सत्यमें तकरार हो, वहाँ अहिंसा सत्यपर न्यौछावर करनेके लिये है, नकि सत्य अहिंसापर। सिद्धान्त दृष्टिसे देखा जाय तो हिंसा आत्माकी तो हो नहीं सकती, जैसा गीता अ० २ श्लो० ११ से ३० में स्पष्ट किया गया है। हिंसाका पात्र तो देह ही है। देह, जैसा कठोपनिषद् तृतीय वल्ली मन्त्र ३ से ९ में कहा गया है, आत्म-रूपी रथीका रथ है और उसे अपने परमधाममें पहुँचानेके लिये ही है। यदि यह रथ इसे गंदे गड्ढोंमें डालनेवाला सिद्ध हो तो इसको तोड़ना ही धर्म है, नकि इसको बनाये रखना और आत्माको गड्ढों-से-गड्ढोंमें गिरने देना। यही सब शास्त्रोंका सम्मत सत्य और अहिंसाका निष्कर्ष है। वास्तवमें तो सत्य और श्रेय एक ही वस्तुके नाम हैं, स्वरूपसे दो नहीं। और तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो पूर्ण सत्य अपने स्वरूपसे ठोस अहिंसा ही है, जहाँ सत्यस्वरूप अपने आत्माको प्राप्त करके द्वैतभाव जो सभी हिंसाओंका मूल है, अपने स्वरूपसे ही निर्मूल हो जाता है। ऐसा तत्त्ववेत्ता महापुरुष ज्ञानद्वारा अपने आत्मस्वरूप में अभेदरूप योग प्राप्त करके देहेन्द्रियादिके व्यापारोंमें अहं-कर्तृत्वाभिमानसे मुक्त हो जाता है, देहेन्द्रियादिको प्रकृतिके यन्त्र बनाकर उसके हाथोंमें सौंप देता है और तब वह सारे

संसारको मारकर भी नहीं मारता और नहीं बँधता। जैसा गीता अ० १८ श्लो० १७ में कहा गया है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

अर्थ—जिसका देहेन्द्रियादिके व्यापारोंमें अहंकर्तृत्वाभिमान नहीं है और भेदभाव छूट जानेसे कर्तव्य-भावसे जिसकी बुद्धि कर्मों में लिपायमान नहीं होती है, ऐसा पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें नहीं मारता और न पापोंसे बन्धायमान ही होता है।

समझमें नहीं आता कि गीताके ये वचन द्वन्द्व-योद्धाके लिये कैसे लागू हो सकते हैं ? तथा और अनेक वचन जो गीतामें इसी प्रकारके मिलते हैं, यथा–२।१८, ३।३०, ४।४२, ८।७, ११।३२–३४, १८।५९, १८।७३। इन सब वचनोंकी द्वंद्व-योद्धाके साथ कैसे संगति लगाई जा सकती है ।

इसके विपरीत उस परमतत्त्वमें अभेदरूप योग न पाकर जो कुछ भी भेदबुद्धिसे किया जाता है, वह सभी हिंसा अर्थात् आत्म-हिंसा बन जाती है, जिसका फल जन्म मरणरूप संसार प्रत्यक्ष ही है। जैसा महाभारत (१।६८।७) में कहा गया है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

'जो पुरुष अकर्ता अभोक्ता अपने आत्माको कर्ता-भोक्तारूप से ग्रहण करता है, उस आत्माको चुरानेवाले चोरके द्वारा क्या पाप नहीं किया गया ? अर्थात् मायाके प्रवाहमें पड़ा हुआ वह सभी पापोंका पात्र हो सकता है ।' यही आशय ईशावास्योपनिषद्के तीसरे मन्त्रमें स्पष्ट किया गया है। परन्तु उस ऊँची दृष्टि पर न जाकर यहाँपर तो प्रसंग केवल पीडावर्जित अहिंसाका ही है।

यथामति अहिंसाका स्वरूप वर्णन किया गया। अब हमें इसीके आधारपर महाभारतमें वर्णन की गई घटनाओंपर विचार करना चाहिये। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि वे घटनाएँ अघटित हैं, परन्तु कल्पना कीजिये कि यदि प्रकृतिराज्यमें वे घटनाएँ ज्यों-की-त्यों व्यावहारिकरूपसे घटित हों, तो ऐसी अवस्थामें दैवी-विधान धर्मके लिये क्या मार्ग खोलता है? महाभारत के वृत्तान्तसे स्पष्ट है कि पाण्डवोंकी शुरूसे ही सत्यपरायण धार्मिक वृत्ति और उनके बल तथा ऐश्वर्यको देखकर कौरवोंके हृदयोंमें जन्मसे ही उनके प्रति तीव्र ईर्ष्या और द्वेषकी अग्नि भड़कने लगी थी। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने उस ईर्ष्या और द्वेषको उनपर व्यावहारिकरूपसे वर्तनेमें कोई कसर उठा न रक्खी और अपनी दुष्टताका पूर्ण परिचय दिया। उधर पाण्डवोंने सत्य और क्षमाकी कसौटीपर पूरा उतरनेमें कोई कसर न छोड़ी। किसी भी इतिहासमें कौरवों-जैसी दुष्टता तथा पाण्डवों-जैसी सुहृदता और क्षमाका दृष्टान्त नहीं मिलता। भीमसेनको हलाहल विष देना, सभी पाण्डवोंको लाक्षागृहमें जलानेकी अमली चेष्टा करना, द्रौपदीको भरी सभामें नग्न करनेमें कुछ उठा न रखना, वनवासमें द्रौपदीपर बलात्कार करना—ये सब ऐसी भीषण घटनाएँ हैं जो मुरदे-से-मुरदेमें भी आग पैदा कर देती हैं। यद्यपि कुछ समय पहले यहाँ बड़ी भयानक घटनाएँ[1] दृष्टि और कर्णगोचर हुई हैं, परन्तु कहना चाहिये कि ये भी उन घटनाओंकी तुलना नहीं कर सकतीं। एक नपुंसक-से-नपुंसक भी जीता हुआ रहकर अपनी आँखोंसे अपनी स्त्रीका ऐसा भयानक अपमान देख नहीं सकता, फिर उन सर्वसमर्थ पाण्डवोंका तो कहना ही

[1] यहाँ भारत व पाकिस्तानके विभाजनके फलस्वरूप हिन्दु-मुस्लिम जातीय विप्लवसे संकेत किया गया है।

क्या? इसपर भी उनके सब अपराधोंको भूलकर उन धर्मवीर पाण्डवोंने कौरवोंसे सन्धि करनेमें कोई कमी न छोड़ी। यहाँतक कि स्वयं श्रीकृष्ण दूत बनकर गये और सब राज्याधिकार छोड़ कर पाँचों भाइयोंके लिये केवल पाँच ग्रामोंको माँगनेपर उतर आये। परन्तु उधरसे उत्तर यही मिलता है कि सूईकी नोकसे जितनी भूमि छिद सकती है, उतनी भी नहीं, पाँच ग्राम तो कैसे? भगवान‌का अपमान और उनको जेलमें डालनेकी चेष्टा तो मुफ्त में। अब बतलाना चाहिये कि ये सब घटनाएँ उपस्थित होनेपर धर्मपरायण क्षत्रिय-वीर पाण्डवोंका और क्या कर्तव्य शेष रह सकता था? अधर्मरूपी कण्टकोंसे पृथ्वीको भरपूर छोड़कर और अपने क्षत्रिय-धर्मको नमस्कार करके 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' (अर्थात् कुटुम्बियोंको रणमें मारनेकी अपेक्षा हमारे लिये इस लोकमें भिक्षावृत्ति ही श्रेयस्कर है), क्या यही उनका धर्म हो सकता था? ऐसा करके क्या संसारके लिये यही अनुकरणीय उदाहरण छोड़ जाना चाहिये था कि 'बस, जिसकी लाठी उसीकी भैंस। धर्म! धर्म!! यह तो पुकारनेके लिये ही है, जय तो अधर्मकी ही है। पाण्डव जीवनभर पिटे, मार खायी, भरी सभामें स्त्रीको नंगी कराया, वनवास भोगा और अन्ततः भिक्षाके टुकड़े ही खाने पड़े। धर्म कोई जीती-जागती चीज़ होता तो उनकी रक्षा करता।'

धर्म-युद्धके सम्मुख जैसा अर्जुनके चित्तमें मोह उत्पन्न हुआ था, क्या उसको कुटुम्बियोंके मोहसे अपने क्षात्र-धर्मको तिलाञ्जलि देकर और गाण्डीव धनुषका तिरस्कार करके, जिन कुटुम्बियोंसे अपमान मिला था, उन्हींके चरणोंमें गिरकर उन्हींके अनादरके टुकड़ोंसे अपना पेट पालना चाहिये था? धर्म तो चाहता है बलि संसार और संसार-सम्बन्धियोंकी धर्मका तो

आग्रह है कि इस लोकको परलोकपर न्यौछावर किया जाय। अर्थात् जब इस लोक और परलोककी मुठभेड़ हो, तब इस लोक (संसार-सम्बन्ध) को परलोकपर बलि चढ़ा देना ही धर्म है, नकि परलोकको इस लोकपर। संसार-सम्बन्ध तो इस लोकतक ही हैं, सो भी आँख खुली रहनेतक ही। स्वप्नमें भी ये तो साथ नहीं देते, फिर परलोकमें तो क्या? परन्तु धर्म का सम्बन्ध तो क्या इहलोक, क्या परलोक, तीनों अवस्था, तीनों शरीर तथा पाँचों कोश—सबके साथ है, क्योंकि सब अवस्था, शरीर और कोश तथा सब संयोग-वियोगजन्य सुख-दुःखादि केवल धर्मके अधीन ही जीवको प्राप्त होते हैं। इसी कारण धर्मके निमित्त गोपियोंने पतियोंका, प्रह्लादने पिताका, विभीषणने भ्राताका, परशुरामने माताका अनादर किया और वे सब चेष्टाएँ धर्मरूप ही सिद्ध हुईं। पाण्डवोंके लिये अब दो ही मार्ग बच रहते थे, तीसरा तो कोई शेष रहता ही नहीं था कि या तो वे धर्मयुद्धके लिये कटिबद्ध होते, या जङ्गलका रास्ता पकड़ते। अब विचारना चाहिये कि जङ्गलका रास्ता पकड़कर वे किसका श्रेय कर पाते—अपना, कौरवोंका, अथवा संसारका? कहना पड़ेगा कि किसीका भी नहीं। पापीका वध उसके अपने लिये और संसारके लिये श्रेय है, जिससे वह स्वयं पापोंसे छूटे और संसार उसके आघात और उसके मार्गका अनुसरण करनेसे सुरक्षित हो, जैसा यह विषय संक्षेपसे पीछे कहा जा चुका है। इस प्रकार जबकि युद्धके द्वारा कौरव तथा संसार दोनोंका श्रेय है, तब संसार-सम्बन्धोंका अनादर करके धर्मको मस्तक पर धारण करनेमें पाण्डवोंका तो श्रेय है ही। सारांश, प्रकृति-राज्यमें कौरवोंकी दुष्ट क्रियाओंकी प्रतिक्रिया इसके सिवा और कुछ नहीं बन सकती थी कि प्रकृति सशस्त्र उनके विरुद्ध खड़ी

हो और पाण्डव उसके यन्त्र बनकर रहें।

इससे स्पष्ट है कि प्रकृतिराज्यमें परिस्थितियोंके हेर-फेरसे धार्मिक व्यवहारमें भी परिवर्तन होना निश्चित है। धर्मका कोई एक ही अङ्ग सबपर सदा लागू रखना भारी भूल है और उसे सङ्कुचित बनाना है। धर्मका एक ही अङ्ग एक व्यक्तिके लिये धर्मरूप हो सकता है, तो दूसरेके लिये अधर्म तथा उसी व्यक्तिके लिये एक अवस्थामें जो धर्म हो सकता है, दूसरी अवस्थाके प्राप्त होनेपर वही उसके लिये अधर्म बन सकता है। अर्थात् ब्राह्मणके लिये जो धर्म है, वह क्षत्रियके लिये अधर्म तथा एक व्यक्तिके लिये गृहस्थमें जो धर्म है, संन्यासमें उसके लिये वही अधर्म हो सकता है। धर्मकी ऐसी जटिल समस्याओं का व्यावहारिक शोध निकालकर सामने रख देना, यही महाभारतका गौरव है। माना, अहिंसा धर्म है, परन्तु परिस्थितिके हेर-फेरसे वह अहिंसा भी अधर्मरूप बन सकती है। यदि अहिंसासे सत्यकी हिंसा होती हो तो वह कदापि धर्म नहीं हो सकती। इसी नियमके अनुसार महाभारतकी घटनाओंका परिणाम, चाहे वे कल्पित हों या ऐतिहासिक, जब एकमात्र युद्ध ही हो सकता है, तब 'अहिंसा किसी भी शास्त्र को मान्य नहीं हो सकती' इस हेतुकी किसी प्रकार सिद्धि नहीं बन पड़ती। और जब हेतु ही भ्रमरूप सिद्ध हुआ, तब 'महाभारतकी घटनाएँ, गीतोक्त युद्ध तथा गीताके कृष्ण काल्पनिक हैं' यह अनुमान अथवा अर्थापत्ति इसी प्रकार स्वत: ही भ्रमरूप हो जाते हैं, जिस प्रकार दूर देशमें धूलिपटलमें धूम्रके भ्रमसे वहाँ अग्निका अनुमान-ज्ञान भ्रमरूप ही रहता है।

सारांश, 'महाभारतकी घटनाएँ, गीतोक्त युद्ध तथा गीताके कृष्ण कल्पित हैं'—यह बात न प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ही प्रमाणित

हो सकती है, न आगम-प्रमाणसे और न अनुमान-प्रमाणसे ही। बल्कि आगम व अनुमान-प्रमाणसे तो वे ऐतिहासिक और व्यावहारिक सत्य ही प्रमाणित होते हैं। ऐसी अवस्थामें इनको कल्पित मानना, यह मान्यता भी बलात्कारसे कल्पित ही रह जाती है। इसके सिवा इनके कल्पित माननेसे महाभारत धर्म-मार्ग-दर्शनमें बेजानका पुतलामात्र रह जाता है तथा गीतोपदेश श्रद्धायोग्य नहीं रहता और फिर द्वन्द्व-युद्धकी सफलता भी नहीं रहती—इत्यादि दोष और मुफ्तमें सिरपर सवार हो जाते हैं।

इस प्रकार जबकि उधर युद्धके शङ्ख बजनेकी तैयारियाँ ही हो रही थीं, तब इधर इसी अवसरपर भगवान् श्रीव्यासजी हस्तिनापुर आये। और उन्होंने धृतराष्ट्रके मन्त्री सञ्जयको ऐसी दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी, जिससे वह युद्धमें गुप्त अथवा प्रकट, दिनमें या रात्रिमें जो कुछ भी हो वह सब वहाँ बैठा हुआ ही देख सके तथा इस प्रकार वह युद्धका सब वृत्तान्त धृतराष्ट्रको सुना सके। जब ऐसी दिव्य दृष्टि देकर श्रीव्यासजी चले गये, तब धृतराष्ट्र सञ्जयके प्रति बोला—

यह चित्र स्व० हद पं० शिवदत्तजी काव्यतीर्थ के सुपुत्र अम्बिकादत्तजी आयुर्वेदाचार्य सुदामापोल अजमेर से प्रा

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोला—हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

इसपर संजय बोला—उस समय राजा दुर्योधनने पाण्डवों की सेनाको व्यूहरचनायुक्त देखकर और द्रोणाचार्यके समीप जाकर यह वचन कहा—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकाररचित पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इस सेनामें भीम व अर्जुनके समान बड़े-बड़े धनुषोंवाले बहुत-से शूरवीर हैं, जैसे सात्यकी और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान् काशीराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य। तथा पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँच पुत्र, ये सभी महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हमारे पक्षमें भी जो प्रधान हैं उनको आप समझ लीजिये, आपकी चेतावनीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं उनको मैं आपसे कहता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

[प्रथम तो स्वयं] आप हो और भीष्म-पितामह तथा कर्ण और संग्राम-विजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

[इसी प्रकार] अनेक प्रकारके शस्त्रोंसे युक्त और भी बहुत-से शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग दी है और वे सभी युद्धमें चतुर हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

हमारी वह सेना भीष्मपितामहद्वारा रक्षित सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

[इसलिये] सभी मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सब-के-सब ही निस्सन्देह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें ।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

[संजय धृतराष्ट्रसे कहता है कि इस प्रकार द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनके वचनोंको सुनकर] कौरवोंमें वृद्ध प्रतापी भीष्मपितामहने उस (दुर्योधन)के (हृदयमें) हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहनादके समान गरजकर शङ्ख बजाया ।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

तदनन्तर शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नृसिंहादि (बाजे) एक साथ ही बजे, (उनका) वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

तत्पश्चात् सफ़ेद घोड़ोंसे युक्त विशाल रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुननेभी (अपने-अपने) दिव्य शङ्खोंको बजाया ।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य (नामक), अर्जुनने देवदत्त (नामक) तथा भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्र (नामक) महाशङ्ख बजाया ।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय (नामक) और नकुल व सहदेवने सुघोष व मणिपुष्पक (नामवाले शङ्ख) बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

[तथा] हे राजन् ! श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि तथा राजा द्रुपद और द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, इन सबने (अपने-अपने) भिन्न-भिन्न शङ्ख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

उस भयानक शब्दने पृथ्वी व आकाशको भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंके हृदयोंको विदीर्ण कर दिया ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे राजन् ! तदनन्तर धृतराष्ट्र-पुत्रोंको खड़ा हुआ देखकर कपिध्वज अर्जुनने शस्त्र चलनेकी प्रवृत्तिके समय धनुष उठाकर तब हृषीकेश श्रीकृष्णसे यह वचन कहा—"हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

"ताकि मैं इन युद्धकी कामनासे खड़े हुओंको भली प्रकार देख लूँ, कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

"[और] दुष्ट बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें प्रिय करनेकी इच्छासे जो-जो ये राजालोग इस सेनामें एकत्रित हुए हैं, (उन) युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा ।"

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

सञ्जय बोला—हे धृतराष्ट्र ! हृषीकेश (भगवान् श्रीकृष्ण)ने अर्जुनद्वारा ऐसा कहे जानेपर दोनों सेनाओंके मध्यमें भीष्म व द्रोणाचार्यके सामने तथा और सभी राजाओंके सम्मुख उत्तम

रथको खड़ा करके कहा—"हे पार्थ ! इन एकत्रित हुए कौरवों को तुम देखो।"

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

उसके उपरान्त अर्जुनने वहाँ दोनों ही सेनाओंमें पिताके भाइयों, पितामहों, आचार्यों, मामों, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों तथा मित्रों, श्वशुरों और सुहृदोंको भी खड़े हुए देखा। वह कुन्तीपुत्र अर्जुन उन खड़े हुए सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर अत्यन्त करुणासे युक्त हुआ और शोक करता हुआ यह बोला—"हे कृष्ण ! युद्ध की इच्छासे खड़े हुए इस स्वजन-समुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख सूखा जाता है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च होता है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

"[तथा] गाण्डीव (धनुष) हाथसे छूटा जाता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है और मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

"हे केशव ! मुझे लक्षण भी विपरीत (ही) दृष्ट आ रहे हैं, (क्योंकि) युद्धमें अपने स्वजनोंको मारकर मैं कोई कल्याण नहीं देखता हूँ ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

"[इसलिये] हे कृष्ण ! न मैं विजयको चाहता हूँ, न राज्य और न सुखोंको ही । हे गोविन्द ! हमें राज्यसे, भोगोंसे अथवा जीवनसे भी क्या (प्रयोजन है) ?

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

"[क्योंकि] जिनके लिये हमें राज्य, भोग एवं सुख वाञ्छित हैं, वे ही तो ये सब प्राण व धनादिकी आशाका परित्याग करके युद्धके लिये उपस्थित हो गये हैं ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

"[अर्थात्] गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और वैसे ही दादे, मामे, श्वशुरे, पोते, स्याले तथा (और भी) सम्बन्धी लोग हैं ।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

"[इसलिये] हे मधुसूदन ! तीन लोकके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारनेकी इच्छा नहीं करता हूँ, चाहे ये मुझे मार भी देवें, फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

"हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या खुशी होगी, (बल्कि) इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

"इसलिये हे माधव ! अपने बान्धव धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं, (क्योंकि) अपने कुटुम्बको ही मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

"यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त ये लोग कुलके नाश करनेमें जो दोष है तथा मित्रोंके साथ द्रोह करनेमें जो पाप है, उनको नहीं देखते हैं।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

"[तथापि] हे जनार्दन ! कुलके क्षय करनेमें जो दोष है, उसको जानते हुए हमको भी उस पापसे अपनेको बचानेके लिये क्योंकर विचार न करना चाहिये ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

"[क्योंकि] कुलके नाश होनेसे कुलके सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मके नाश होनेपर सम्पूर्ण कुल अधर्मसे दब जाता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

"[फिर] हे कृष्ण ! अधर्मके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! दुष्ट स्त्रियोंमें वर्ण-संकर (प्रजा) उत्पन्न होती है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

"[और वह] वर्णसंकर उन कुलघातियोंको और कुलको नरकमें डालनेवाला ही होता है तथा पिण्ड व जलादि क्रियाके लोप हो जानेसे इनके पितर भी गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

"[फिर] इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन जातिधर्म व कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

"[और] हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट हुए हैं, ऐसे मनुष्यों का अनन्त कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हमने सुना है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

"अहो ! शोक है कि हम लोग महान् पाप करनेको तैयार हुए हैं, जोकि राज्यसुखके लोभसे अपने कुलको ही मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

"[मैं जो ऐसा महान् पाप करनेको उद्यत हुआ हूँ, ऐसी अवस्था

मैं] मुझ शस्त्ररहित एवं बदला न लेनेवालेको भी यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार देवें, तो मेरा अति कल्याण होगा।"

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

सञ्जय बोला—शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन रणभूमिमें इस प्रकार कहकर और बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें जा बैठा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय ॥१॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीपरमेश्वरानन्दी अनुभवार्थदीपक' भाषा-भाष्यमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'अर्जुनविषादयोग' नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

प्रथम अध्यायका स्पष्टीकरण

प्रथम अध्याय विषय-प्रवेशरूप है, अर्थात् गीताके सदुपदेशका सुअवसर कैसे प्राप्त हुआ ? जिस प्रकार भगीरथने आधिभौतिक गङ्गा पृथ्वीपर लाकर राजा सगरके साठ हज़ार पुत्रोंका उद्धार किया था, इसी प्रकार अर्जुन गीतारूपी अध्यात्म-गङ्गा भूतलपर लाकर पृथ्वी माताके असंख्य पुत्रोंका उद्धार करनेमें कैसे समर्थ हुआ ? यही इस अध्यायमें निरूपण किया गया है।

जब कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेना कुरुक्षेत्रके मैदानमें युद्धके लिये एकत्रित होगई, तब महर्षि वेदव्यासजी हस्तिनापुरमें धृतराष्ट्रके पास आये कहा कि यदि तुमको संग्रामका कौतुक देखनेकी इच्छा हो तो हम

तुमको दिव्य-नेत्र प्रदान किये देते हैं, जिससे तुम यहाँ बैठे हुए ही इस युद्ध को प्रत्यक्ष देख सकोगे। धृतराष्ट्रने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"भगवन्! क्या दुर्योधनादि और क्या युधिष्ठिरादि दोनों मेरी ही संतान हैं, इसलिये अपनी ही आँखोंसे अपनी ही सन्तानका वध देखनेको मैं समर्थ नहीं हूँ। यदि आप कृपा करें तो मेरे मंत्री सञ्जयको दिव्य-नेत्र प्रदान कर दीजिये। यह स्वयं प्रत्यक्ष-प्रमाणसे युद्धको देखता हुआ मुझे शब्द-प्रमाणसे उसका वृत्तान्त सुनाता रहेगा।' भगवान् वेदव्यासजीने उसकी प्रार्थनाको स्वीकार किया और सञ्जयको दिव्य-नेत्र प्रदान करके चले गये। अब सञ्जय हस्तिनापुरमें बैठा हुआ युद्धका सब कौतुक अपने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष देखकर धृतराष्ट्रके प्रति उसका वर्णन करता है।

धृतराष्ट्रने पूछा—"सञ्जय! 'धर्म-भूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया?" कुरुक्षेत्रमें जाना तो युद्धके निमित्त ही था और युद्ध ही करना था, फिर यह प्रश्न कि 'मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया?' असंगत जैसा है। तथापि यह शङ्का मनमें लाकर कि सम्भव है धर्म-भूमि कुरुक्षेत्रमें जाकर भूमिका प्रभाव मेरे पुत्रोंपर पड़ गया हो, उन्होंने संसारकी असारताको जान परस्पर मनोंसे वैमनस्य परित्याग कर दिया हो, परस्पर एक-दूसरेके गले लग गये हों और युद्धका अवसर ही प्राप्त न हुआ हो। ऐसी शङ्का मनमें लाकर धृतराष्ट्रका यह प्रश्न है, इसीलिये कुरुक्षेत्रके साथ 'धर्मक्षेत्र' विशेषण दिया गया है।

उत्तरमें सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा कि उस समय पाण्डवोंकी सेनाको व्यूह-रचनायुक्त देखकर दुर्योधन श्रीद्रोणाचार्यके पास गया और बोला—"आचार्य! पाण्डवोंकी इस विशाल सेनाको देखो, जिसको आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्रने व्यूहाकार खड़ी की है"। और उस सेनाके मुख्य-मुख्य महारथियोंके नाम उनको सुनाये। 'आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्रने पाण्डवोंकी सेनाको व्यूहाकारमें खड़ा किया है' यह एक व्यंग वचन है, जिससे यह सूचित किया जा रहा है कि जो युद्ध-विद्या आपसे सीखी गई है अब उसका

प्रयोग आपपर ही किया जायगा। इससे श्रीद्रोणाचार्यके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न करने और पिछले वैर-भावको स्मरण करानेसे प्रयोजन है। तत्पश्चात् दुर्योधनने अपनी सेनाके जो प्रधान-प्रधान सेनापति थे उनके नामोंकी गणना करके उनको सुनाई और सेनापतियोंमें सबसे पहले श्रीद्रोणाचार्यको

(१) श्रीद्रोणाचार्य तथा राजा द्रुपद बाल्यपनमें परस्पर सहपाठी थे। उस समय द्रुपद कहा करता था कि जब मुझे राज्याधिकार प्राप्त होगा तो मैं आपको राज्यभाग दूँगा और हम दोनों परस्पर समान भावसे जीवन व्यतीत करेंगे। विद्याध्ययन समाप्त होनेपर द्रुपदको राज्य मिला। इधर द्रोणाचार्य अत्यन्त निर्धन अवस्थामें जीवन व्यतीत करने लगे। एक समय द्रोणाचार्यका पुत्र अश्वत्थामा ऋषि-बालकोंको दूध पीता देखकर दूधके लिये अपने घर आकर रोया। घरमें दूध न होनेके कारण पिताने चावलोंका माँड पानीमें मिलाकर और दूधरूपसे पिलाकर उसे सन्तुष्ट किया, परन्तु अपने इस व्यवहारसे उन्हें बहुत खेद हुआ। पुत्र स्नेह एवं दरिद्रतासे दुखी हो वे राजा द्रुपदके पास धन-याचनार्थ गये। राजा द्रुपदने राज्यमदसे अपने वचनोंका पालन करनेके बजाय श्रीद्रोणाचार्यका अत्यन्त अनादर किया। इससे उनके चित्तमें द्रुपदके प्रति क्रोधाग्नि भड़क उठी और उन्होंने कौरव-पाण्डवोंको शस्त्र-विद्या सिखानी शुरू की। शस्त्र-विद्या समाप्त होनेपर श्रीद्रोणाचार्यने गुरु दक्षिणामें द्रुपदको पकड़ लानेकी आज्ञा दी, तब पाण्डवोंने उसको जीतकर और पकड़कर उनके पास हाज़िर किया और आधा राज्य लेकर उन्होंने उसे छोड़ दिया। तब द्रुपदने अपने मनमें श्रीद्रोणाचार्यके वधका संकल्प कर और अपनेको अशक्त जान एक ऐसे यज्ञका आरम्भ किया, जिससे उसे द्रोणाचार्यको वध करनेवाला पुत्र प्राप्त हो। इस यज्ञसे धृष्टद्युम्न उत्पन्न हुआ। उस धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यसे ही शस्त्र-विद्या सीखी और उनको अपना गुरु बनाया। वही धृष्टद्युम्न अब श्री-द्रोणाचार्यसे विरोधी पक्षको लेकर व पाण्डवोंकी सेनाका मुख्य सेनापति बनकर खड़ा हुआ है और श्रीद्रोणाचार्यके वधके लिये उद्यत है। इन सब वैर भावों को स्मरण कराके श्रीद्रोणाचार्यको उत्तेजित करनेमें ही दुर्योधनका तात्पर्य है।

ही गणना की, इससे उनमें अभिमान जाग्रत् करनेसे प्रयोजन है। फिर दुर्योधनने आचार्यको आश्वासन दिलाया कि हमारी सेना सर्व प्रकारसे अजेय है, जिसकी रक्षा करनेवाले श्रीभीष्मजी हैं तथा पाण्डवोंकी सेना, जिसकी रक्षा भीमद्वारा हो रही है, जीतनेमें सुगम है। और प्रार्थना की, कि आप सब अपने-अपने मोर्चोंपर डटे हुए श्रीभीष्मजीकी भली-भाँति रक्षा करें।

इस प्रकार श्रीद्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनके वचनोंको सुनकर श्रीभीष्म-पितामहने दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए सिंहनादके समान उच्च-स्वरसे शङ्ख बजाया। उसके साथ ही नगारे, ढोल, मृदंगादि सब एक साथ बजे और वह शब्द बड़ा भयङ्कर हुआ। उसके उपरान्त भगवान् श्रीकृष्ण, पाँचों पाण्डवों, द्रौपदीके पुत्रों और उनके पक्षके अन्य राजाओंने अपने-अपने दिव्य शङ्ख बजाये, जिससे दुर्योधनादिके हृदय विदीर्ण हो गये और पृथ्वी एवं आकाश गूँज उठे।

तदनन्तर दुर्योधनादिको उपस्थित देखकर अर्जुनने अपना धनुष उठाया और भगवान्‌से कहा कि मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करिये, जिससे मैं देखूँ कि कौन-कौन युद्धके लिये आये हैं और किन-किनके साथ मुझे युद्ध करना है? दुष्टबुद्धि! दुर्योधनका भला चाहनेके लिये जो यहाँ आये हैं उनको मैं भली प्रकार देखूँगा।

इस प्रकार अर्जुनके कहनेपर भगवान् उसके रथको दोनों सेनाओंके मध्यमें खड़ा करके बोले—"पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको तुम देखो।" वहाँ अर्जुनने ताऊ, चाचे, दादे, आचार्य, मामे, भाई, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों एवं श्वशुरोंको ही दोनों सेनाओंमें खड़ा हुआ देखा। अपने उन सभी बन्धुओंको युद्धमें खड़ा देखकर उसका हृदय अत्यन्त करुणासे आच्छादित हो गया और वह शोक करता हुआ बोला—

"कृष्ण! युद्धके लिये उपस्थित इन अपने बान्धवोंको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं, मुँह सूखा जाता है, शरीर कम्पायमान होता है और रोमाञ्च हो रहे हैं। गाण्डीव हाथसे छूटा जाता है,

त्वचा जलती है और मैं खड़ा रहनेकी भी सामर्थ्य नहीं रखता । मेरा मन भ्रमित हो रहा है कि मैं कैसा भारी अनर्थ करनेके लिये उपस्थित हुआ हूँ । केशव ! मुझे तो लक्षण विपरीत ही दृष्ट आ रहे हैं, मैं अपने बान्धवोंको मारकर अपना कोई कल्याण नहीं देखता । इसलिये प्रभो ! न मुझे विजयकी इच्छा है, न राज्यकी आकांक्षा है और न भोग-सुखोंकी ही। गोविन्द ! हमारा राज्यसे, भोगोंसे, अथवा जीनेसे भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? क्योंकि जिन स्वजनोंके साथ मिलकर राज्य भोगादि सुखोंको भोगना था वे ही तो ये आचार्य, बेटे, पोते, दादे, मामे, आदि सब सम्बन्धी अपने प्राणोंकी आशाको त्यागकर यहाँ खड़े हो गये हैं, फिर ये सभी राज्य-भोगादि प्राप्त हुए भी श्मशानके तुल्य शून्य ही होंगे । क्योंकि इन राज्य-भोगादिकों का सुख तो इसीमें था कि अपने सब सम्बन्धियोंके साथ मिलकर आनन्द लिया जाता, न यह कि पामर पुरुषोंकी भाँति इनको मारकर इनके खूनसे सने हुए ही भोगोंको भोगा जाय । हरे ! हरे !! मधुसूदन ! चाहे ये मुझको मार भी डालें, तो भी मैं तो अपने इन बान्धवोंको मारनेकी इच्छा नहीं रखता । इस तुच्छ भूमिकी तो वार्ता ही क्या है ? चाहे तीन लोकका राज्य भी मिले, तो भी मैं ऐसा अनर्थ करनेको तैयार नहीं हूँ । जनार्दन ! आप ही कहिये कि इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर हमारे लिये क्या खुशी हो सकती है सिवा इसके कि इन आततायियों[1]को मारकर कोरा पाप ही हमारे पल्ले पड़े ? इसलिये माधव ! अपने बान्धवोंको मारना हमारे लिये किसीप्रकार उचित नहीं है । भला, अपने स्वजनोंको मारकर ही हम कैसे सुखी होंगे ?' यद्यपि लोभके वशीभूत हुए ये लोग नहीं समझते हैं कि कुलका क्षय करने

[1] ऐसा शस्त्रपाणि पुरुष, जो किसी शस्त्रहीन पुरुषका वध कर दे, अथवा विषादिका प्रयोग करे, उस पापी पुरुषको 'आततायी' कहते हैं । इत्यादि पापोंवाले आततायी पुरुषके मारनेका शास्त्रमें दोष नहीं है । परन्तु अर्जुन कहता है, चाहे ये आततायी भी हैं, तथापि कुटुम्बी होनेसे मुझे तो इन पापियोंके वध करनेमें पाप ही लगेगा ।

में और मित्रोंसे विरोध करनेमें क्या-क्या भारी पातक होते हैं ? तथापि जनार्दन ! कुलक्षयकृत दोषोंको भली-भाँति जानते हुए हमको भी क्यों न अपने-आपको इन पापोंसे बचाना चाहिये ? सुनिये —

(१) कुलका क्षय हो जानेसे कुलके सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् गृहस्थपर देव, ऋषि एवं पितरादिके जो ऋण हैं उनका लोप हो जाता है। जब कुलमें नामलेवा और पानीदेवा कोई रहा ही नहीं, तब इन ऋणोंको चुकाएगा कौन ?

(२) इस प्रकार जब कुल-धर्मोंका ह्रास हुआ, तब धर्मके अभावमें अधर्म अपना शासन अवश्य जमा लेता है. क्योंकि एकके अभावमें दूसरेका आना अनिवार्य है जिस प्रकार दिनके अस्त होनेपर रात्रिका आना ज़रूरी है।

(३) जब अधर्मकी दुन्दुभि बज उठी और विषय-लोलुपताका राज्य हुआ, तब कुलकी स्त्रियोंका दूषित हो जाना ज़रूरी है। क्योंकि धर्म ही एक ऐसी वस्तु था, जो चौकीदारकी भाँति विषय-लोलुपतारूपी तस्करोंकी देख-रेख करता था और उनको कुलमें प्रवेश नहीं होने देता था। उसके लुप्त होनेपर इन तस्करोंका कुलमें प्रवेश कर जाना और कुलकी पुण्यरूपी सम्पत्तिका लूट लेना तो बाएँ हाथका खेल है।

४) वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दुष्ट होनेपर वर्णसंकर प्रजाका उत्पन्न होना तो निश्चित ही है ।

(५) जिन कुलघातियोंके कुलक्षय-दोषके कारण इस प्रकार वर्णसंकरता की उत्पत्ति हुई है, उनके लिये तो नरककी प्राप्ति निस्सन्देह है ही। फिर वह वर्णसंकर अपनी वर्णसंकरताके कारण शेष सब कुलको और अपनेको भी नरककी प्राप्ति करानेके लिये ही है । तथा वर्णसंकरोंद्वारा पिण्डोदक क्रियाके लोप हो जानेसे पितरोंका अधःपतन तो निश्चित ही है।

(६) इस प्रकार कुलघातियोंके इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियों, कुल, स्त्रियों तथा पितरों, सबका ही अधःपतन होता है। इससे सनातन

कुलधर्म तथा प्रजापालनादि जातिधर्म भी नष्ट हो जाते हैं। जनार्दन ! जिन मनुष्योंके जातिधर्म एवं कुलधर्म नाश हो जाते हैं, उनका अनन्त कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हमने सुना है। इस प्रकार कुलक्षयकारक दोषों को जानता हुआ, मुझे क्यों न अपने-आपको इन दोषोंसे बचाना चाहिये।

महान् शोक है कि ऐसा महत्पाप करनेके लिये मैं तैयार हुआ, जो पामर पुरुषोंकी भाँति राज्य-सुखके लोभसे अपने ही स्वजनोंको मारनेके लिये खड़ा हो गया। जो ऐसी दुष्ट भावना मेरे हृदयमें उत्पन्न हुई है, उसके बदलेमें यदि ये शस्त्रपाणि दुर्योधनादि मुझ अशस्त्री तथा सामना न करनेवालेको रणमें मार भी दें तो मेरा अति कल्याण होगा। अर्थात् अशस्त्र तथा सामना न करनेवालेको मारना यद्यपि पाप है, तथापि मेरे हृदयमें जो यह कुलक्षयकारक भावना उत्पन्न हुई है, उसके प्रतिकारमें मुझ अशस्त्रीको भी मारना पाप नहीं, बल्कि इस प्रकार मेरा हनन मेरी इस दुष्ट भावनाका यथार्थ प्रायश्चित्त है और यह मेरे लिये श्रेयस्कर होगा।'

इस प्रकार शोकसे व्याकुल चित्त अर्जुन ऐसा कहकर और बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें जा बैठा।

इस प्रकार इस अध्यायमें अर्जुनके विषादका निमित्त निरूपण किया गया जिसके कारण गीतारूपी अध्यात्म गङ्गाका अवतरण हुआ। इसके पश्चात् श्रीभगवान् व अर्जुनका संवाद जिस प्रकार हुआ, वह सञ्जय धृतराष्ट्र के प्रति अगले अध्यायमें वर्णन करता है।—

ॐ ॐ ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

सञ्जय बोला—इस प्रकार करुणासे व्याप्त, आँसुओंसे पूर्ण, व्याकुल-नेत्रोंवाले तथा शोकयुक्त उस (अर्जुन)के प्रति भगवान् मधुसूदन ये वचन बोले—

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! अनार्य पुरुषोंद्वारा आचरित, स्वर्गसे भ्रष्ट करनेवाला तथा कीर्तिनाशक यह अज्ञान इस विषम स्थलमें तुझे किस हेतुसे प्राप्त हुआ है ?

भावार्थ—किसी भी कार्यकी योग्यता एवं उपादेयताकी परीक्षाके लिये ये तीन ही दृष्टियाँ होती हैं—(१) वह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित हो, (२) परलोकका बनानेवाला हो (३) तथा इस लोकमें कीर्ति उत्पन्न करनेवाला हो । इसी प्रकार धर्मका यही स्वरूप किया गया है—'यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धि स धर्मः' अर्थात् जो क्रिया इस लोकमें अभ्युदय और परलोकमें निश्रेयसरूप मोक्षमें सहायक हो वही धर्म है। परन्तु यहाँ भगवान्‌का वचन है कि तेरी यह युद्धसे उपरामता तो तीनों दृष्टियों से अधःपतनका ही हेतु है। न यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आदरणीय है और न लोक व परलोकको बनानेवाली ही है। कुलके क्षयमें जो दोष अर्जुनद्वारा कथन किये गये हैं, भगवद्दृष्टिसे वे सब

आदरणीय नहीं, किन्तु अनादरके योग्य ही हैं। यदि कुलक्षयके भयसे पापी कुलको फलने-फूलने दिया जाय और पापरूपी कण्टकोंको बढ़ने दिया जाय, तो सम्पूर्ण पृथ्वी शीघ्र ही पापसे आच्छादित हो जायगी। तब तो धर्मकी मर्यादा ही लुप्त हो जायगी, क्षत्रिय राजाका धर्म-दण्ड भी निष्फल होगा और भगवान्‌के अवतारका भी, जैसा अ० ४ श्लो० ८ में कहा गया है, कोई प्रयोजन न रहेगा। इसके विपरीत पापी पुरुषका वध स्वयं उसके लिये श्रेय है और संसारके लिये भी। जिससे इधर तो जो पापों के बीज वह मुट्ठी भर-भर बो रहा है और जिनका अनिष्ट फल प्रकृतिके राज्यमें अनिवार्य है, उससे वह छूट सके और उधर संसार उसके आघातसे सुरक्षित हो। इस प्रकार ऐसे पापी पुरुष का वध स्वयं उसके लिये एवं संसारके लिये उपकाररूप हो सकता है। परन्तु यह तो अर्जुनका केवल मोहजन्य भ्रम था और अधर्म में धर्म तथा धर्ममें अधर्मकी विपरीत भावना थी। धार्मिक लक्ष्य से हानि-लाभ व पुण्य-पाप सदैव समष्टि-दृष्टिसे देखा जाता है, समष्टि-दृष्टिसे हानि ही हानि है और समष्टि-दृष्टिसे जो लाभ है वही लाभ। व्यष्टि-दृष्टिसे हानि-लाभ व पुण्य-पापकी व्यवस्था नहीं हुआ करती। इसीलिये धार्मिक-दृष्टिसे एक व्यक्तिका नाश होनेसे यदि कुलका श्रेय हो, तो उस एक व्यक्तिका नाश पुण्यरूप है। इसी प्रकार जातिके श्रेयके लिये एक कुलकी, देशके श्रेयके लिये एक जातिकी और संसारके श्रेयके लिये एक देशकी बलि दी जा सकती है और वह सब व्यापार पुण्यरूप ही होगा। इस प्रकार धर्मयुद्धमें अधर्मी स्वजनोंको मारनेसे अर्जुनका आना-कानी करना क्षत्रिय-धर्मके विपरीत है और अधर्म उसका प्रत्यक्ष फल है। 'कुलके क्षयसे स्त्रियाँ दूषित हो जायँगी और वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्ति होगी' ये सब अर्जुनकी केवल मोहजनित कपोल-

कल्पनाएँ ही हो सकती हैं और कुलक्षयका यह प्रत्यक्ष फल नहीं अप्रत्यक्ष है तथा निश्चित नहीं अनिश्चित है। यदि कुलक्षय का यह निश्चित फल होता तो कुलके क्षय हो जानेपर कौरवोंमें ऐसा प्रभाव दृष्टिगोचर होना चाहिये था। परन्तु कोई इतिहास कौरववंशमें ऐसे प्रभावकी प्रामाणिकताको सूचित नहीं करता। संसारमें प्रिय धर्म है संसारसम्बन्धी प्रिय नहीं, क्योंकि सम्बन्धियोंका सम्बन्ध तो केवल इस शरीरतक ही है, सो भी केवल जाग्रत् अवस्थामें ही, स्वप्नावस्थामें भी इनसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु धर्मका सम्बन्ध तो सब योनि और सब अवस्थाओंमें है। इस प्रकार अर्जुनका यह व्यवहार श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित नहीं हो सकता। यदि अर्जुन इस धर्मयुद्धसे उपराम हो जाय, तो मोहवशात् यह उपरामता उसके क्षात्रधर्मके विपरीत होनेसे उसके लिये पुण्यजनक नहीं हो सकती। क्योंकि उसने मोहवशात् स्वप्नसमान मिथ्या संसार-सम्बन्धोंका आदर किया, सत्य-धर्मके लिये उनकी बलि नहीं दी। परन्तु धर्मका तो अनुरोध है कि उसके लिये सब संसार-सम्बन्धोंको तृणके समान तोड़ दिया जाय। इसलिये यह उपरामता अवश्य पाप-जनक ही होनी चाहिये। जब यह पापजनक हुई तो अवश्य स्वर्गसे गिरानेवाली ही होगी और इस लोकमें तो अकीर्तिकर है ही।

इस प्रकार भगवान्‌का कथन है कि तेरा यह अज्ञान 'अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरम्' ही है, अर्थात् न श्रेष्ठ पुरुषों-द्वारा सराहनीय है, न स्वर्गको देनेवाला है और न इस लोकमें तेरी कीर्तिको उत्पन्न करनेवाला ही है। यह तो धार्मिक दृष्टिसे निरूपण किया गया, अब परमार्थ-दृष्टिसे आगे कहेंगे।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

[इसलिये]—हे पार्थ ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो यह तेरे लिये योग्य नहीं है। हे परंतप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर (युद्धके लिये) खड़ा हो।

अर्जुनने समझा था कि प्रथम अध्यायके अन्तमें युद्ध न करनेमें जो हेतु व शोक मेरे द्वारा प्रकट किया गया है, वह धर्मसम्मत है और भगवान् मेरे विचारोंका अनुमोदन करेंगे। उनको भी यह उचित जचेगा कि 'निस्सन्देह कुलक्षयसे स्त्रियोंका दूषित होना, वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्ति, कुल-धर्म तथा जाति-धर्मका ह्रास, पितरोंका अधःपतन आदि अनर्थोंकी अवश्य उत्पत्ति होगी। और यह तो बड़ी भारी हानि होगी, भला हुआ तुमको उचित समयपर यह सावधानी हो गई। ऐसा संग्राम कदापि उचित नहीं है।' परन्तु यहाँ तो भगवान्ने और-का-और ही कह दिया। अर्जुनके विचारोंको लोक-परलोक उभय-भ्रष्ट बतला दिया। यहाँतक कि उस गाण्डीव धनुषधारीको नपुंसकताका टाइटिल देकर वचनरूपी चाबुक भी लगाये। अब तो अर्जुनके कानके कीड़े झड़े और वह चकित होकर बोला—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोला—हे मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके प्रति किस प्रकार बाणोंसे युद्ध करूँगा ? (क्योंकि) हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं।

आशय यह कि किसी प्रकार मान भी लिया जाय कि अधर्मी दुर्योधनादिका मारना धर्म है। परन्तु जिन श्रीभीष्मपितामह और श्रीद्रोणाचार्यके चरण-कमलोंकी पूजा करना हमारा धर्म है, गुरुजनोंके मस्तकोंको छेदन करना, यह कैसे बन पड़ेगा ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

[इसलिये] महानुभाव गुरूजनोंको न मारकर इस लोकमें भिक्षाका अन्न भोगना भी (मेरे लिये) श्रेय होगा। क्योंकि गुरुजनोंको मारकर तो इसी लोकमें उनके रुधिरसे सने हुए अर्थ[1] व कामरूप भोगोंको ही भोगूँगा।

भावार्थ—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष, संसारमें मनुष्य-जन्म के ये चार ही पुरुषार्थ हैं। इनमेंसे अर्थ व काम तो इसी लोकमें क्षणिक कालके लिये सुख देते हैं, परन्तु इनका परिणाम दुःख ही है, इसलिये ये श्रेय नहीं प्रेय हैं। तथा धर्म व मोक्ष साधनकाल में यद्यपि कटु हैं, परन्तु इनका परिणाम अत्यन्त सरस है, इसलिये ये प्रेय नहीं श्रेय हैं। अर्जुन इस समय प्रेयका अनादर करके श्रेयका जिज्ञासु है और कहता है कि इन गुरुजनोंको मारकर तो अधिक-से-अधिक यह होगा कि कुछ कालके लिये हम को अर्थ व कामरूप भोगोंकी प्राप्ति हो जाय, परन्तु गुरुजनोंकी हत्यारूप जो परिणाम है वह महान् भयङ्कर होगा। इसलिये गुरुजनोंको न मारकर भिक्षान्नभोग भी हमारे लिये श्रेय हो

१. कई टीकाकारोंने 'महानुभावान्'के साथ 'अर्थकामान्' (अर्थलोलुप) गुरुओंका विशेषण दिया है, जो हमारे विचारसे सर्वथा असंगत है। वास्तवमें भीष्मादि न अर्थलोलुप ही थे और न अर्जुनकी उनके प्रति ऐसी दृष्टि ही थी। युद्धके आरम्भसे पहले पाँचों पाण्डव भीष्मादिके चरणोंमें नतमस्तक होकर युद्धके लिये उनसे आज्ञा माँगते हैं और वे आशीर्वादसहित उन्हें आज्ञा देते हैं, फिर ऐसा अर्थ कैसे सुसंगत माना जाय। इस लिये हमने 'अर्थकामान् भोगान' अन्वय किया है। अर्थात् राज्यप्राप्तिके द्वारा हमें केवल इसी लोकमें धन-भूमि आदि अर्थरूप तथा स्त्री आदि कामरूप भोगोंकी प्राप्ति हो सकेगी, इससे अधिक और कुछ नहीं।

सकता है, बजाय इसके कि इनके रक्तसे सने हुए अर्थ व काम-रूप भोगोंको भोगा जाय।

नचैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

[और] हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है, अथवा (यह भी नहीं जानते कि) हम जीतेंगे या वे हम को जीतेंगे, (परन्तु) जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे सम्मुख खड़े हो गये हैं।

भावार्थ—आशय यह कि ये लोग हमको जीतेंगे वा हम इनको जीतकर अर्थ व कामरूप भोगोंको भोगेंगे ही, यह तो इस युद्धका कोई प्रत्यक्ष फल नहीं किन्तु अप्रत्यक्ष है तथा निश्चित नहीं अनिश्चित है। परन्तु जिन धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही ये सब मरने-मारनेके लिये हमारे सामने खड़े हो गये हैं, यह तो इस युद्धका प्रत्यक्ष अनिष्ट फल है ही। इसलिये इस विषयमें हमारा चित्त विभ्रम है कि हमारे लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है, अथवा युद्धका त्याग श्रेष्ठ है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

[इस प्रकार] कायरतारूप दोषसे मेरा स्वभाव उपहत हो गया है, इसलिये धर्मके सम्बन्धमें मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो कुछ निश्चितरूपसे मेरे लिये कल्याणकारी हो वह मुझे कहिये, मैं आपका शिष्य हूँ मुझ अपने शरणागतको शिक्षा दीजिये।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे मेरी दृष्टिसे तो युद्ध अनर्थरूप दीख रहा है, इधर आप युद्धसे उपरामताको उभयभ्रष्ट कथन करते हैं। इसलिये 'युद्ध करना मेरा धर्म है' अथवा 'युद्ध-त्याग मेरा

धर्म है' इस द्विविधा करके मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। तथा इस विषयमें स्वयं कुछ निश्चय न कर सकनेके कारण मेरे चित्त में कायरताने घर कर लिया है और इसीसे मेरा क्षत्रियस्वभाव भी नष्ट हो गया है। इसलिये मैं शिष्यभावसे आपकी शरणागत हूँ, जो मेरे लिये कल्याणकारक हो वह निश्चय करके कहिये।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

भूमिपर धन-धान्यसम्पन्न निष्कंटक राज्य और (परलोकमें) देवताओंका आधिपत्य भी प्राप्त हो जाय, तो भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ,जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके।

इस प्रकार अर्जुनने अपना हृदय खोलकर भगवान्‌के सामने रख दिया और लोक व परलोकके अर्थ तथा कामरूप प्रेय भोगोंको लात मार दी। तथा श्रेयरूप धर्म व मोक्षका उत्कट पिपासु होकर अपने-आपको शिष्यभावसे भगवान्‌की शरणमें डाल दिया। प्रसंगसे यह वर्णन हुआ कि इस गीतारूपी अध्यात्म-गङ्गामें मज्जनका अधिकारी कौन है?

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

सञ्जय बोला—हे राजन् ! निद्राको जीतनेवाला अर्जुन इस प्रकार अन्तर्यामी श्रीकृष्णके प्रति कहकर और फिर गोविन्दको ऐसा कहकर कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गया।

अर्थात् जबतक मुझे मेरे वास्तविक कर्तव्यका निश्चय न करा दिया जाय, मैं युद्ध नहीं करूँगा।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे धृतराष्ट्र ! अन्तर्यामी श्रीकृष्णने उस शोकयुक्त अर्जुनको दोनों सेनाओंके बीचमें हँसते हुए-से यह वचन कहा—

हँसनेसे यह व्यक्त किया गया कि अर्जुनके विचारोंमें कोई तथ्य नहीं है। केवल अवस्तुको वस्तुरूपसे ग्रहण करके उसका शोक बालकोंके रूठनेके तुल्य ही है। इसपर श्रीभगवान्ने उसको शरणागत जान और उसपर द्रवीभूत हो यह उपदेश किया—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान् बोले—जो शोक न करनेके योग्य हैं उनका तो तू शोक करता है और पण्डितोंके-से वचन बोलता है, परन्तु पण्डितजन तो जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके नहीं गये हैं उनके लिये भी शोक नहीं करते हैं ।

भावार्थ—अर्जुनके शोकके मूलमें तीन ही निमित्त हो सकते हैं—

(१) युद्धद्वारा भीष्मादिकोंकी आत्मा नष्ट हो जायगी।

(२) युद्धद्वारा भीष्मादिकोंके शरीर नष्ट हो जायँगे।

(३) युद्धद्वारा स्वजनों व गुरुजनोंका वध करनेसे अर्जुनके धर्मका नाश होगा।

भगवान्का कथन है कि इन तीनों ही निमित्तोंको लेकर तेरा शोक नहीं बनता—

(१) श्रीभीष्मादिकोंके आत्माके नाशके भयसे तो तेरा शोक यूँ नहीं बनता कि आत्मा अजर-अमर है। पाँचों तत्त्वोंमेंसे कोई भी उसपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। उसको न वायु सुखा सकता है, न अग्नि जला सकती है और न जल गला सकता है इत्यादि, फिर पञ्चभूतोंके कार्यरूप शस्त्रादि तो उसको

छेदन कर ही क्या सकते हैं? (श्लोक १२, १३, १६, १७, १८, २०, २१, २२, २३, २४, २५)

(२) यदि भीष्मादिकोंके शरीरोंका शोक करे, तो भी तेरा शोक नहीं बनता। क्योंकि ये शरीर अपने स्वभावसे ही कदापि स्थिर नहीं हैं, जैसे छलनीमें डाला हुआ पानी कदाचित् स्थिर नहीं रहता। क्षणसे आदि लेकर कालका छोटे-से-छोटा ऐसा कोई अंश नहीं पकड़ा जा सकता, जिस कालके अंशमें शरीर वही हो जो पूर्व अंशमें था, बल्कि प्रत्येक क्षण सभी शरीर स्वतः ही नष्ट हो रहे हैं। ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो इन शरीरोंके नाश-प्रवाहको रोक सके। 'वही ये शरीर हैं' ऐसा जो तू जान रहा है, सो तेरा इसी प्रकारका भ्रम है, जैसे गङ्गाके प्रवाह तथा दीप-शिखाको कह देते हैं कि 'वही यह गङ्गा है, जिसमें कल स्नान किया था' तथा प्रभात-समय 'वही यह दीप-शिखा है, जो सायं-कालको जलाई गई थी।' परन्तु वास्तवमें वही ये कदापि नहीं होते, बल्कि प्रत्येक क्षण वे तीव्र वेगसे नाश-प्रवाहमें बहे जा रहे हैं, जो किसी प्रकार पकड़े नहीं जा सकते। इसलिये शरीरोंके लिये भी तेरा शोक नहीं बनता। यदि तू इन शरीरोंको न मारेगा तो भी ऐसी कोई शक्ति नहीं जो इन शरीरोंको रख सके। और परमार्थ-दृष्टिसे तो शरीर कदाचित् हैं ही नहीं, आत्मामें ये सभी शरीर केवल अपनी भ्रमरूप प्रतीतिमें इसी प्रकार भास रहे हैं, जिस प्रकार शुक्तिमें रजत अपनी भ्रमरूप प्रतीतिमें भासती है, परन्तु वास्तवमें होती नहीं है। इसलिये शरीर-दृष्टिसे भी तेरा शोक नहीं बनता (श्लोक १६, १८, २७, २८)।

(३) यदि धर्म-नाशके भयसे तू शोक करे, तो भी तेरा शोक नहीं बनता। बल्कि धर्म-दृष्टिसे तो युद्ध करना तेरा धर्म है, न कि युद्धसे उपराम होना। क्योंकि तेरा पक्ष सत्यका है और सत्य

के पक्षको लेकर युद्धमें प्रवृत्त होना तेरा मुख्य क्षात्रधर्म है। वास्तवमें धर्म तो एक ऐसी अनोखी वस्तु है, जिसके सम्मुख सभी सांसारिक सम्बन्धोंकी आहुति देना मनुष्यका कर्तव्य होता है। क्योंकि धर्म एक पारलौकिक वस्तु है, परन्तु संसार-सम्बन्ध तो ऐहलौकिक ही हैं, पारलौकिक नहीं। इसलिये इहलोकको परलोकपर न्यौछावर करना ही धर्म है परलोकको इहलोकपर न्यौछावर करना कदापि धर्म नहीं हो सकता। इसी प्रकार धर्मके लिये राजा बलीने गुरुका, प्रह्लादने पिताका, विभीषणने भ्राताका, परशुरामने माताका और गोपियोंने पतियोंका तिरस्कार किया और वह सभी व्यापार धर्मरूप ही सिद्ध हुआ। इस प्रकार धार्मिक दृष्टिसे तो युद्धसे उपराम होना तेरे लिये अधर्म है, धर्म नहीं।

(८) यदि व्यावहारिक दृष्टिसे देखा जाय,तो भी युद्ध तेरे लिये कर्तव्य है। क्योंकि यदि तू मर गया तो स्वर्गद्वार तेरे लिये खुला हुआ है और जीत गया तो निष्कण्टक राज्य हाजिर है, तेरे तो दोनों ही हाथ मोदक हैं। इसके विपरीत अपनी भूलसे यदि तू युद्ध त्याग बैठा तो अविनाशी अकीर्ति तेरा स्वागत करेगी और तेरी अकीर्तिके गीत गाये जायँगे तथा सम्भावित पुरुषके लिये अकीर्ति तो मरणसे भी बुरी है (३१-३७)।

इसलिये तेरी यह उपरामता तो सब प्रकार 'अनार्यजुष्टम-स्वर्ग्यमकीर्तिकरम्' ही है, किसी भी प्रकार तेरा शोक नहीं बनता। केवल अपने अज्ञानसे तू नहीं शोक करनेयोग्य आत्मा, देह तथा धर्मादिका शोक करता है और पण्डितोंकी-सी बातें बनाता है। पण्डितजन तो जिनके प्राण नष्ट हो गये हैं उनका और जिनके प्राण अभी नष्ट नहीं हुए हैं, प्राणनाशके भयसे उनका भी शोक नहीं करते। क्योंकि आत्मा तो दोनोंका ही अजर-अमर है शरीरोंके नाश होनेसे वह न नष्ट हुआ है और न होगा। और शरीर

तो दोनोंके ही नित्य-निवृत्त हैं, कदाचित् स्थिर नहीं रहते। यदि शरीरोंका उत्पत्ति-नाश माना भी जाय, तो शरीर तो जीवके अपने ही कर्म-संस्कारोंसे उत्पन्न होते हैं और अपने ही कर्म-संस्कारोंके अधीन नष्ट होते हैं। बाह्य सामग्री शरीरोंके उत्पत्ति-नाशमें उपादान नहीं, केवल निमित्तमात्र ही होती है। शरीरोंके उत्पत्ति-नाशमें उपादानरूप तो जीवके अपने कर्म-संस्कार ही होते हैं। जैसे फलकी उत्पत्तिमें उपादान तो बीज ही है। बाह्य सामग्री खाद-पानी तो केवल निमित्तमात्र ही रहती है। इस प्रकार भावाभावरूप किसी भी कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान ही मुख्य हेतु होता है। बाह्य निमित्त मुख्य नहीं, गौण ही है और वह तो 'ऊँघतेको ठीलते' का बहानामात्र ही होता है। इसलिये जीवके अपने कर्म-संस्कारोंके बिना कोई शक्ति इन शरीरोंको नष्ट नहीं कर सकती। इस विचारसे पण्डितजन दोनोंका शोक नहीं करते।

इस रीतिसे अर्जुनके शोकका किसी भी दृष्टिसे कोई अवसर नहीं है, यह भगवान्‌ने वर्णन किया। अब इसीको विस्तारसे कथन करते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

[वास्तवमें आत्मा नित्य है इसलिये शोक करना अयुक्त है; क्योंकि] न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था, अथवा तू नहीं था, अथवा ये राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

भावार्थ—भगवान् दृढ़ निश्चयके साथ भुजा उठाकर कहते हैं कि ऐसा तो है ही नहीं, कि हमारा-तुम्हारा अथवा इन राजाओंका आत्मा पीछे किसी कालमें नहीं था, अथवा आगे किसी कालमें न होगा। बल्कि यह तो सौ-में-सौ टके निश्चित ही

है, कि हमारा, तुम्हारा और इन सबका आत्मा सदा रहा है और सदा रहेगा। यदि शरीरोंके नाशके साथ-साथ सत्स्वरूप आत्माका भी नाश मान लिया जाय, तो इस शरीरमें किये हुए शुभाशुभ कर्मों का कोई फल ही न रहना चाहिये, इसलिये कृतनाश* दोषकी प्राप्ति होगी। क्योंकि शुभाशुभ कर्म जो इस शरीरमें प्रकट हुए हैं उनका फल इसी शरीरमें पूरा हो जाय, यह तो नियम नहीं है। यद्यपि वह कर्मरूप व्यापार तो उत्तर कालमें यहीं निवृत्त हो जाता है, परन्तु कर्मके धर्माधर्मरूप संस्कार हृदयमें सत्स्वरूप आत्मा की साक्षीमें रहते हैं, जो अपने समयपर उद्बुद्ध होकर जीवके लोक-परलोकके सुख-दुःखके हेतु होते हैं। यदि शरीरोंके नाशके साथ-साथ सत्यस्वरूप आत्मा भी नष्ट हो गया होता, तो जीवके किये हुए शुभाशुभ कर्म-संस्कारोंकी सफलता असम्भव होती। क्योंकि कर्म-संस्कारोंका आश्रयभूत कोई सत् वस्तु तो रही नहीं, जिसकी सत्तासे संस्कार फलीभूत होते, और अपने-आप इन जड़ संस्कारोंका फलीभूत होना तो असम्भव ही है। परन्तु नाना जीवोंको नाना योनियोंकी प्राप्ति तथा नाना प्रकारके असंख्य और परस्पर विलक्षण सुख-दुःखादि भोगोंकी प्रतीति प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। इस विलक्षणताके मूलमें जीवोंके अपने-अपने किये हुए विलक्षण कर्म-संस्कार ही हेतुरूपसे ग्रहण किये जा सकते हैं, और तो कोई हेतु इस विलक्षणताके मूलमें पाया नहीं जाता। यदि विना ही किसी हेतुके जीवोंको इस प्रकार विलक्षण भोगों व योनियोंकी प्राप्ति मान ली जाय तो अकृताभ्यागम† दोषकी

* किये हुए कर्मका फल दिये बिना ही नष्ट हो जाना, इस दोषको 'कृतनाश-दोष' कहते हैं।

† बिना ही कर्मके भोगके बन्धनमें आ जाना यह अनीति है, इस दोषको 'अकृताभ्यागम-दोष' कहते हैं।

प्राप्ति होगी। इसलिये अवश्य जीवोंके अपने-अपने कर्म-संस्कार ही हेतुरूपसे मन्तव्य हैं। फिर संस्कारोंकी सफलता तभी हो सकती है, जबकि इन संस्कारोंका आधारभूत कोई एक अचल, त्रिकालाबाध्य‡ सत् वस्तु मानी जाय। जिस प्रकार अचल पृथ्वी के आश्रय ही नाना बीज अपने-अपने फलके सम्मुख होते हैं, पृथ्वीरूप आधार बिना शून्यरूप आकाशमें तो बीजोंका फलना-फूलना असम्भव ही है। इसी प्रकार किसी अचल सत् वस्तुके आश्रय बिना शून्यमें तो कर्म-संस्कारोंकी सफलता अलीक ही है।

फिर वह सत् वस्तु जिसके आश्रय संस्कार फलीभूत हुए हैं, वही होनी चाहिये जो कर्मानुष्ठान कालमें थी। क्योंकि जिस की देख-रेख एवं सत्ता-स्फूर्तिमें कर्मानुष्ठान हुआ है, वही कर्म-संस्कारोंका आश्रय होगी और कालान्तरमें उसीके आश्रय संस्कारोंका उद्बोध होकर फलकी उत्पत्ति हो सकेगी। कर्मानुष्ठान किसी अन्यके आश्रय हो, संस्कार किसी अन्यके आश्रय रहें और फल किसी अन्यके आश्रय हो, यह सर्वथा असम्भव है। जिस प्रकार दो पुरुषोंके झगड़ेमें जो तीसरा पुरुष द्रष्टा रहा हो, उसीकी विद्यमानतामें और उसीकी साक्षीपर दण्ड-विधान होता है। झगड़ेमें द्रष्टा अन्य हो और दण्ड-विधान किसी अन्यकी साक्षीपर हो, यह तो असम्भव ही है।

साथ ही यह भी नहीं माना जा सकता कि वह सत् वस्तु कर्मानुष्ठानके साथ-साथ ही उत्पन्न हुई थी। यदि वह कर्मानुष्ठान के साथ ही उत्पन्न हुई होती तो कर्मरूप व्यापारकी निवृत्तिके साथ ही उसका निवृत्त हो जाना निश्चित था। यदि वह कर्म-व्यापारके साथ ही निवृत्त हो गई होती तो वह संस्कारों तथा फलोंका आधारभूत नहीं हो सकती थी। इसलिये कर्मानुष्ठानसे

‡ तीनों कालमें जिसका मिथ्यात्व निश्चय न हो सके।

पूर्व उसका नित्य-प्राक्सिद्धत्व मानना ज़रूरी है। यदि ऐसा कहा जाय कि कर्मानुष्ठानसे पूर्व तो उस सत् वस्तुका रहना उचित है, परन्तु जिस शरीरमें कर्म हुआ है उस शरीरके साथ ही वह सत् वस्तु उत्पन्न हुई होगी, तो ऐसा भी नहीं बनता। क्योंकि उस शरीर की प्राप्ति तो जीवके किसी पूर्वकृत कर्मोंका फल है, जिस पूर्वकृत कर्म तथा संस्कारोंका भी वह सत् वस्तु आधारभूत रही है। इसके बिना तो उस शरीरकी प्राप्तिरूप फलकी सिद्धि ही असम्भव है।

फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि जब कर्म-संस्कार अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं, तब उनके साथ-साथ ही वह सत् वस्तु भी नष्ट हो जाती है। यदि संस्कारोंके नाशके साथ साथ वह सत् वस्तु भी नष्ट हो गई होती, तो संस्कारोंकी भाँति वह भी जन्य होनी चाहिये थी। और यदि वह जन्य हुई होती तो कर्मों, संस्कारों तथा फलोंका आश्रय नहीं हो सकती थी, क्योंकि जो वस्तु नाशवान् होती है उसकी उत्पत्ति ज़रूरी है और उत्पत्ति-नाशवान् वस्तु उपर्युक्त रीतिसे कर्म, संस्कार तथा फलका आधारभूत हो नहीं सकती।

इस रीतिसे जीवोंको नाना योनियोंकी प्राप्ति तथा परस्पर विलक्षण सुख-दु:खादि भोगोंकी प्रत्यक्ष प्रतीतिसे यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि कोई एक त्रिकालाबाध्य, अज, अविनाशी सत् वस्तु है, जिसके आश्रय जीवोंके अपने-अपने कर्म-संस्कार फलीभूत होते हैं और वह शरीरों, कर्मों तथा फलोंके नाशसे नष्ट नहीं होती। फिर वह सत् वस्तु आत्मा ही हो सकता है, आत्मासे भिन्न स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर तो अनात्मा होनेसे सत् हो नहीं सकते और न उनके आश्रय संस्कारोंकी सफलता ही हो सकती है। यद्यपि सूक्ष्म व कारण शरीर संस्कारों और उनके फलोंके अधिकरण तो बन सकते हैं, परन्तु अधिष्ठान नहीं हो सकते। जैसे घट जलका

अधिकरण तो हो सकता है, परन्तु अधिष्ठान नहीं हो सकता। जलका अधिष्ठान तो वह घटोपहित आकाश ही होगा, जिसके आश्रय जलकी स्थिति है।

इस प्रकार भगवान्‌ने बतलाया कि मेरा, तेरा और इन सब का आत्मा तो सदा था और सदा रहेगा, देहादिके नाशसे उस का नाश नहीं हो जाता।

बिना हुएकी तो प्रतीति होती नहीं और 'मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ' इस रीतिसे जन्म व मरण अहंरूप आत्मामें सब जीवों को प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। यदि अहंरूप आत्माका जन्म-मरण न होता, तो ऐसी प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये थी। ऐसी शङ्का के उपस्थित होनेपर भगवान् कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जिस प्रकार इस (स्थूल) शरीरमें कुमार, युवा तथा वृद्धावस्था (वर्तती हुई) देही (जीवात्मा) में (भान होती है), उसी प्रकार अन्य शरीरकी प्राप्ति (जीवात्मामें भान होती है), धीर पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होता है।

भावार्थ—सूक्ष्म * व स्थूल शरीरोंके परस्पर संयोगका नाम 'जन्म' है और इनके वियोगका नाम 'मरण' है। आत्मा इन दोनों शरीरोंसे भिन्न है और इन दोनोंका अधिष्ठान† रूप आश्रय है। यदि इन दोनों शरीरोंके भावाभावसे उस सत्स्वरूप अधिष्ठानका भी भावाभाव हुआ होता तथा इन दोनों शरीरोंके संयोग-वियोग-रूप विकारसे वह अधिष्ठानरूप आत्मा भी विकारी हुआ होता,

*पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन उन्नीस तत्त्वोंके समुदायको 'सूक्ष्म शरीर' कहते हैं।

† पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिका देखिये।

तो इन दोनों शरीरोंके भावाभाव तथा संयोग-वियोगरूप विकार की सिद्धि ही असम्भव होती। क्योंकि मिथ्याके आश्रय तो मिथ्या वस्तुकी स्थिति होती नहीं है, किसी सत्य वस्तुके आश्रय ही मिथ्याकी स्थिति सम्भव हो सकती है, जैसे सत्य रज्जुके आश्रय ही मिथ्या सर्पकी प्रतीति होती है। ये दोनों शरीर तो देश-कालपरिच्छेद्य होनेसे जन्य हैं और जन्य होनेसे मिथ्या, कार्य एवं जड़ हैं। तथा मिथ्या, जड़ व कार्यकी स्थिति तो अपने आश्रय आप असम्भव ही है, किन्तु किसी सद्रूप व चेतनरूप उपादानके आश्रय ही इनकी स्थितिका सम्भव होता है। यदि मिथ्या,जड़ व कार्यरूप उभय शरीरोंके भावाभावसे उस सच्चिद्रूप उपादानका भी भावाभाव हुआ होता तथा इनके संयोग-वियोग-रूप विकारसे वह सच्चिद्रूप उपादान भी विकारी हुआ होता, तो भावाभावरूप विकारी होनेसे वह सच्चित् भी कार्य होता और कार्य होनेसे मिथ्या व जड़ ही होता। और जब वह आप मिथ्या, जड़ व कार्य हुआ, तब इन दोनों शरीरोंका उपादान व अधि-ष्ठानरूप आश्रय नहीं हो सकता था। लोकमें भी कार्यके उत्पत्ति-नाशसे उपादानका उत्पत्ति-नाश देखा नहीं जाता है,जैसे घट-शरा-वादिके उत्पत्ति-नाशसे मृत्तिकाका उत्पत्ति-नाश नहीं देखा जाता।

यदि कोई अधिक देश-कालव्यापी वस्तु उभय शरीरोंका अधिष्ठानरूप आश्रय मानी जाय, तो भी नहीं बनता। क्योंकि चाहे कितनी भी अधिक देश-कालव्यापी क्यों न हो, अन्ततः देश-कालव्यापी होनेसे वह जन्य होगी और जन्य होनेसे मिथ्या, जड़ व कार्य ही होगी। फिर इन शरीरादिका वह अधिष्ठानरूप आश्रय कैसे हो सकेगी? क्योंकि मिथ्याके आश्रय मिथ्याकी स्थिति असम्भव ही है। जैसे (०) शून्यके आश्रय (०) शून्यकी स्थिति अलीक है।

यदि शून्यके आश्रय इन दोनों शरीरोंकी स्थिति मानी जाय, तो भी असम्भव है। क्योंकि शून्य अभावरूप है और ये दोनों शरीर भावरूपसे प्रत्यक्ष ग्रहण होते हैं फिर अभावसे भावकी उत्पत्ति तो सर्वथा असम्भव ही है। इसलिये शून्यके आश्रय भी उभय शरीरोंका भावाभाव नहीं हो सकता।

इस रीतिसे न शून्यके आश्रय ही उभय शरीरोंकी स्थितिका सम्भव है और न किसी अधिक देश-कालव्यापी वस्तुको ही उपादान व अधिष्ठानरूपसे ग्रहण किया जा सकता है, केवल एक सच्चिद्रूप, त्रिकालाबाध्य, अचल वस्तु ही उभय शरीरोंका उपादान व अधिष्ठानरूप आश्रय हो सकती है और इन उभय शरीरों के भावाभाव तथा परस्पर संयोग-वियोगसे उसका अचल-कूटस्थ रहना ही निश्चित है। यदि वह सत् वस्तु इन उभय शरीरों के विकारोंसे विकारी हो, तो उसके आश्रय इनके विकारोंकी सिद्धि असम्भव हो जाय। जिस प्रकार स्वर्णकारका अहरन आप कूटस्थ रहता हुआ ही अपने आश्रय कटक-कुण्डलादिकी सिद्धि करनेमें समर्थ होता है, स्वयं चलायमान रहकर वह अपने आश्रय कटक-कुण्डलादिकी सिद्धि कदापि नहीं कर सकता।

इससे सिद्ध हुआ कि यद्यपि सूक्ष्म-स्थूल उभय शरीरोंका संयोग-वियोगरूप जन्म व मरण सच्चिद्रूप आत्माके आश्रय ही होता है, परन्तु आत्माका जन्म-मरण नहीं होता। 'मैं कुमार हूँ', 'मैं युवा हूँ', 'मैं वृद्ध हूँ', ये कुमार, युवा तथा वृद्धावस्था स्थूल शरीरकी हैं, सूक्ष्म शरीरकी भी नहीं। परन्तु ये स्थूल शरीरकी अवस्थाएँ अज्ञानसे जिस प्रकार अहंरूप आत्मामें कल्पित होती हैं, इसी प्रकार उभय शरीरोंका संयोग-वियोगरूप जन्म व मरण भी अज्ञानसे अहंरूप आत्मामें कल्पित होता है। जिस प्रकार रक्त पुष्पपर धरी हुई स्फटिक-मणिमें पुष्पकी रक्तता भान होती है,

परन्तु संयोग-सम्बन्धसे पुष्पकी रक्तता भान होते हुए भी स्फटिक अपने-आपमें ज्यों-की-त्यों ही है। इसी प्रकार उभय शरीरोंके साथ आत्माके कल्पित तादात्म्यसे उभय शरीरोंका परस्पर संयोग-वियोगरूप जन्म-मरण आत्मामें अज्ञानसे कल्पना किया जाता है, परन्तु वस्तुतः आत्मा अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों अज-अविनाशी ही है। ऐसा जानकर धीर पुरुष अपने आत्मामें उभय शरीरोंका संयोग-वियोगरूप जन्म मरण नहीं देखता और मोहित नहीं होता।

दोनों शरीरोंके संयोग-वियोगरूप जन्म व मरणकी तो आत्मामें असिद्धि की गई। अब वर्तमान कालमें दोनों शरीरोंको शीतोष्ण व सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको देनेवाले जो इन्द्रियोंके विषय हैं उनका भी आत्मामें असम्भव कथन करते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

[और फिर] हे कुन्तिपुत्र ! सर्दी-गर्मी एवं सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रियोंव विषयोंके संयोग तो क्षणभङ्गुर व अनित्य हैं, (इस लिये) भारत ! तू उनको सहन कर।

भावार्थ—ये इन्द्रियोंके विषय भी जिनके संयोगसे शीतोष्ण एवं सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी उत्पत्ति होती है, प्रत्यक्ष उत्पत्ति-विनाशरूप होनेसे क्षणभङ्गुर व अनित्य ही हैं। इनका भी तेरे आत्मा में कोई स्पर्श नहीं है और ये भी स्वप्नवत् केवल अपनी प्रतीति कालमें ही हैं। क्योंकि उत्पत्ति-विनाशरूप होनेसे ये विषय कदाचित् स्थिर नहीं रहते, बल्कि प्रत्येक क्षण कालप्रवाहमें इसी प्रकार बहे जाते हैं, जिस प्रकार गङ्गा-प्रवाह तीव्र वेगसे समुद्रकी ओर दौड़ा चला जाता है। ये विषय कदाचित् वे ही नहीं, जो पूर्व क्षणमें थे। 'ये ही ये विषय हैं' ऐसी इन विषयोंमें तत्तामतीति तो इसी प्रकारका भ्रम होता है, जिस प्रकार दीप-शिखामें 'वही

यह दीप-शिखा है जो सायंकाल जलाई गई थी' ऐसा प्रभात समय भ्रम होता है। इस प्रकार केवल इन्द्रिय-संयोग-कालमें ही इन विषयोंकी प्रतीति होती है और जब प्रतीति-कालमें ही इनकी सिद्धि पाई गई, तब ये केवल मनोमात्र ही हुए। इस रीतिसे जब कि ये विषय इस प्रकार क्षणभङ्गुर व अनित्य हैं, तब इनके संयोगजन्य सुख-दुःखादिकी क्षणभङ्गुरता व अनित्यतामें तो संदेह ही क्या है? यद्यपि इन विषयों और इनके संयोगजन्य सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी प्रतीति सत्स्वरूप व अधिष्ठानस्वरूप आत्माके आश्रय ही होती है, तथापि आत्मामें इनका कोई स्पर्श नहीं होता और वह नित्य ही असंग है। इस प्रकार जबकि ये द्वन्द्व अनित्य और केवल प्रतीतिमात्र ही हैं तथा अपनी कोई सत्ता नहीं रखते तब भारत! तू इन द्वन्द्वोंको सहन कर।

इन द्वन्द्वोंका क्यों सहन किया जाय? सो बतलाते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

[क्योंकि] हे पुरुषश्रेष्ठ! जिस पुरुषको ये (इन्द्रियोंके विषय) व्याकुल नहीं करते, ऐसा जो सुख-दुःखमें समान धीर पुरुष है, वही मोक्षके योग्य होता है।

भावार्थ—सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी उत्पत्ति भेद-दृष्टि करके होती है। जब मनुष्य अपनेको यावत् प्रपञ्चसे भिन्न जानता है और यावत् प्रपञ्चको अपनेसे भिन्न समझता है तथा अज्ञानकी जड़ता करके इस भेद-बुद्धिमें यथार्थ दृष्टि भी करता है, तब अनुकूल-बुद्धिसे किसीमें राग और प्रतिकूल-बुद्धिसे किसीमें द्वेष ठानता है। और फिर राग-द्वेष करके ही उसे सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार इन द्वन्द्वोंका मूलकारण अहं-त्वं आदि मिथ्या प्रपञ्चमें सद्बुद्धिरूप अन्यथाग्रहण ही

होता है। वस्तु होवे कुछ और, जान ली जाय कुछ और इसीका नाम अन्यथाग्रहण है। जैसे सम्मुख देशमें होवे तो रज्जु, और उसको जान लें सर्प, इसीको अन्यथाग्रहण कहते हैं। इस रीतिसे सब द्वन्द्वोंका मूल असत्में सद्बुद्धिरूप अन्यथा-ग्रहण ही होता है। वास्तवमें सत्स्वरूप आत्मामें यह अहन्त्वं आदि प्रपञ्च किसी आरम्भ या परिणाम करके उत्पन्न नहीं हुआ, केवल स्वप्नके समान अज्ञान करके फुर आया है। इस प्रकार इस असत् प्रपञ्चमें सद्बुद्धिकी दृढता करके अनुकूल-प्रतिकूल तथा राग-द्वेषद्वारा सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंकी प्राप्ति होती है। अत: ये द्वन्द्व और द्वन्द्वोंके विषय पदार्थ हैं तो मायामात्र, परन्तु ज्यों-ज्यों इनमें सद्बुद्धिकी दृढता होती जाती है त्यों-त्यों इनके सम्बन्धसे व्याकुलता अधिक बढ़ती रहती है और मनुष्य अपने आत्मस्वरूपसे दूर-से-दूर गिरता चला जाता है। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों इनमें मिथ्या बुद्धि करके इन द्वन्द्वोंको सहन करता जाता है और इनसे चलायमान नहीं होता, त्यों-त्यों अपने आत्मस्वरूपके निकट आता जाता है। इसी लिये भग-वान्‌का वचन है कि मिथ्या बुद्धि करके सुख-दु:खमें समान जो विवेकी धीर पुरुष है और जिसको ये द्वन्द्व व्याकुल नहीं करते हैं, वही मोक्षके योग्य होता है।

आत्माकी सत्यता तथा देह व देहसम्बन्धी जन्म-मरण, इन्द्रियोंके बाह्य विषय और विषयोंके संयोगजन्य सुख-दु:खादि द्वन्द्व, इनकी असत्यता कथन की गई। अब भगवान् उपर्युक्त प्रकारके विवेकी धीर पुरुषके लिये तत्त्वसे सत्य व असत्यका स्वरूप निरूपण करते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

असत् वस्तुका भाव नहीं होता और सत् वस्तुका अभाव नहीं होता है, (ऐसा) इन दोनोंका ही निचोड़ तत्त्वदर्शियोंद्वारा देखा गया है।

भावार्थ—असत् वस्तु तो स्वरूपसे होती ही नहीं है, अर्थात् उस असत् वस्तुकी तो कदाचित् विद्यमानता है ही नहीं, चाहे वह स्थूल दृष्टिसे प्रतीत होती भी हो। और सद्वस्तुका स्वरूपसे कदाचित् अभाव होता ही नहीं है, अर्थात् उस सद्वस्तुकी तो अविद्यमानता कदाचित् है ही नहीं,चाहे वह स्थूल दृष्टिसे प्रतीति न हो परन्तु सर्वदा होती वही है। ऐसा असत् व सत् इन दोनों का रहस्य तत्त्वदर्शियोंने जाना है। आशय यह है कि प्रतीति (यथार्थ ज्ञान) सदैव सद्वस्तुकी ही होती है, असद्वस्तुकी तो प्रतीति खपुष्पके समान अत्यन्त असम्भव ही है। जो वस्तु है ही नहीं, उस अविद्यमान वस्तुकी तो प्रतीति ही कैसे हो ? जैसे वन्ध्या-पुत्र जब है ही नहीं, तब उसकी प्रतीति ही कैसे हो ? इस लिये प्रतीतिका विषय तीनों कालमें सद्वस्तु ही होती है; असद्वस्तु किसी प्रतीतिका विषय नहीं होती, केवल भ्रमका ही विषय होती है। भ्रमसे पूर्व व उत्तर कालमें तो सद्वस्तु अपनी प्रतीतिमें सूर्य के समान स्पष्ट भान होती ही है। केवल मध्य भ्रमकालमें चाहे भ्रमके प्रभावसे वह अपने वास्तव रूपमें भान न हो, तथापि भ्रम-कालमें भी भ्रम-स्थलमें होती वह सद्वस्तु ही है, भ्रमकालमें भी उसका अभाव नहीं हो जाता। भ्रमकालमें यथार्थ दृष्टिका अभाव भले ही हो जाय, परन्तु यथार्थ सद्वस्तुका अभाव नहीं हो जाता। यदि भ्रमस्थलमें सद्वस्तु ही न रहे तो असद्वस्तुका भ्रम ही असम्भव हो जाय, क्योंकि जहाँ 'कुछ है ही नहीं' वहाँ 'कुछ है' की प्रतीति असम्भव ही है। शून्यरूप अधिष्ठानमें तो भ्रमका होना किसी प्रकार सम्भव हो ही नहीं सकता। इस प्रकार भ्रम-

रूप मिथ्या वस्तु ही अपने नीचे सत्स्वरूप अधिष्ठानको उठला रही है।

दृष्टान्त स्थलपर देख सकते हैं कि सत् रज्जुका तीनों काल में अभाव नहीं है और उस सत् अधिष्ठानमें असद्रूप सर्प-दण्डादिका तीनों कालमें भाव नहीं है। सर्प-दण्डादिके भ्रमसे पूर्व व उत्तर तो रज्जु अपनी प्रतीतिमें स्पष्ट भान होती ही है। केवल मध्य भ्रम-कालमें वह सत् रज्जु यद्यपि सर्प-दण्डादिरूपसे अन्यथा-ग्रहण की जा रही है, तथापि वहाँ भ्रम-स्थलमें ज्यों-की त्यों होती तो सत् रज्जु ही है, उस कालमें भी सत् रज्जुका लोप कदाचित् हो नहीं जाता। बल्कि यदि भ्रमस्थलमें सत् रज्जु ही न रहे, तो असत् सर्प दण्डादिका भ्रम ही असम्भव हो जाय। सर्प-दण्डादि के भ्रमकालमें भी 'इद' सामान्यरूपसे तो सत् रज्जु ही ज्ञात हो रही है। यद्यपि मन्द अन्धकार तथा नेत्रादिके दोषसे वह विशेष-रूपसे अज्ञात् है, तथापि 'यह सर्प है' 'यह दण्ड है' इत्यादि भ्रम-ज्ञानोंमें भी इदन्ताका विषय इदं पदार्थ सत् रज्जु ही होती है। भ्रम-कालमें 'इद' सामान्यरूपसे यदि सत् रज्जु ज्ञात न होती, तो सर्प दण्डादिका भ्रम कदाचित् सम्भव ही न होता। इस प्रकार मध्य भ्रमकालमें भी 'इदं' सामान्यरूपसे वस्तुतः सत् रज्जु ही प्रतीत हो रही है, चाहे भ्रमके प्रभावसे वह विशेषरूपसे प्रतीत नहीं हो रही, परन्तु होती वहाँ वह सत् रज्जु ही है। इस रीति से भ्रमके प्रभावसे यद्यपि यथार्थ दृष्टिका लोप हुआ है, तथापि सत् रज्जु उस समय भी कहीं लोप नहीं हो गई और वह वहाँ ज्यों-की-त्यों ही है, उसका कदाचित् अभाव नहीं होता। तथा भ्रमके प्रभावसे यद्यपि भ्रमकालमें सर्प दण्डादि अन्यथारूपसे ग्रहण किये जा रहे हैं, तथापि उस कालमें भी असद्रूप सर्प-दण्डादिका कदाचित् भाव नहीं होता और सत् रज्जुमें उनका खपुष्प

के समान अत्यन्ताभाव ही रहता है।

इसी विचार व दृष्टान्तके अनुसार सत्स्वरूप आत्माका तीनों कालमें कदाचित् अभाव नहीं होता, अज्ञान करके चाहे वह प्रतीत न हो, परन्तु सदा-सर्वदा होता वही है। और असद्रूप देह, देहसम्बन्धी जन्म-मरण, इन्द्रियाँ, उनके विषय और तज्जन्य सुख-दुःखादि द्वन्द्व, इत्यादि प्रपञ्चका कदाचित् भाव नहीं होता। अज्ञानके प्रभावसे चाहे उनका भास होता हो, परन्तु उनका अस्तित्व कदाचित् नहीं होता। देहादि प्रपञ्च देश * काल† व वस्तु‡ त्रिविध परिच्छेदवाला होनेसे उत्पत्ति-विनाशरूप तो स्पष्ट ही है, सो अपनी उत्पत्तिसे पूर्व भी नहीं है और अपने नाशके पश्चात् भी नहीं रहता, केवल मध्य स्थिति-कालमें ही भान होता है। सो मध्य-कालमें भी किसी प्रतीतिका विषय नहीं, केवल भ्रमका ही विषय रहता है। क्योंकि जो वस्तु पूर्व-उत्तर कालके बिना केवल मध्यकाल में ही भान हो, वह रज्जुमें सर्पके समान वस्तुतः होती नहीं है, केवल भ्रान्तिका ही विषय रहती है। परन्तु सत्स्वरूप आत्मा तो तीनों कालोंमें है, देहादि प्रपञ्चकी उत्पत्तिसे पूर्व भी वही है, देहादि प्रपञ्चके पश्चात् भी वही रहता है, और देहादि प्रपञ्चके भ्रान्तिकालमें भी देहादि प्रपञ्च-स्थलमें वही होता है।

* जो वस्तु एक देशमें हो अन्य देशमें न हो, वह 'देश-परिच्छेद' कहाती है।

† जो वस्तु एक कालमें हो अन्य कालमें न हो, वह 'काल-परिच्छेद' कहाती है।

‡ अन्योऽन्याभाववाले (भेदवाले) पदार्थको 'वस्तु परिच्छेद' कहते हैं। जैसे घटका पटसे भेद है तथा पटका घटसे भेद है, इसलिये घट व पट भेदवाले होनेसे 'वस्तु परिच्छेद' हैं।

(१) देहादिप्रपञ्चसे पूर्व तो उसकी नित्य निर्विकाररूपसे सिद्धि निश्चित ही है, क्योंकि देहादिप्रपञ्चसे पूर्व यदि वह किसी कालमें न होता, तो उत्पत्ति-नाशरूप होनेसे वह स्वयं भ्रान्तिरूप होता और फिर भ्रान्तिरूप देहादिप्रपञ्चका वह भास नहीं करा सकता था।

(२) देहादिप्रपञ्चके अभावरूप निवृत्तिमें भी उस सत्स्वरूप आत्माकी सिद्धि निश्चित ही है। क्योंकि जब देहादिप्रपञ्चकी स्थिति शून्यके आश्रय असम्भव है, तब शून्यमें उसकी निवृत्ति भी असम्भव ही है। जिसके आश्रय प्रपञ्चकी उत्पत्ति व स्थिति होती है, उसीमें उसकी निवृत्ति भी निश्चित ही है। जैसे घटकी उत्पत्ति व स्थिति मृत्तिकाके आश्रय होती है, तब घटका लय भी मृत्तिकामें ही होता है। इसी प्रकार देहादिप्रपञ्चकी उत्पत्ति व स्थिति जब सत्स्वरूप आत्माके आश्रय है, तब उसका लय भी आत्माके आश्रय ही होना निश्चित है। इस प्रकार प्रपञ्चके अभावमें भी आत्माका निर्विकाररूपसे रहना सिद्ध हुआ।

(३) देहादि प्रपञ्चके भ्रान्ति-कालमें भी 'देह है' 'जन्म है' 'मरण है' 'विषय है' 'सुख है' 'दु:ख नहीं है' तथा 'दु:ख है सुख नहीं है'—इत्यादि रूपसे सर्व भावाभावरूप प्रपञ्चमें 'है' 'है' रूपसे और सबकी सत्तारूपसे वही प्रतीत होता है। सो सत्ता-सामान्यरूप आत्मा सर्व भावाभावरूप प्रपञ्चमें अनुगत व व्यापक है। भावाभावरूप प्रपञ्चके भासकालमें यदि सत्ता-सामान्यरूप आत्मा न होता, तो प्रपञ्चका भास ही कैसे हो सकता था? क्योंकि जहाँ 'कुछ है ही नहीं' वहाँ 'कुछ है' की प्रतीति असम्भव ही है। शून्यके आश्रय तो किसी भावाभावरूप वस्तु की प्रतीति असम्भव ही होती है। हाँ यह बात तो सम्भव है कि वस्तु होवे कुछ और, भान होवे कुछ और, जैसे वस्तु

होवे तो रज्जु और भान होवे सर्प। परन्तु यह बात सर्वथा असम्भव है कि जहाँ 'कुछ है ही नहीं' वहाँ 'कुछ है' की प्रतीति हो। इस रीतिसे देहादिप्रपञ्चका भास शून्यके आश्रय तो हो नहीं सकता, सत्ता-सामान्यरूप आत्माके आश्रय ही इसका भास सम्भव हो सकता है। सो देहादिप्रपञ्चके भास-काल व भास-स्थलमें ही वह आत्मा 'है है' रूपसे और सत्तारूपसे सर्व भावाभावरूप प्रपञ्चमें अनुगत होकर स्पष्ट भान होता है। प्रपञ्चके भासकालमें भी उसका लोप हो नहीं जाता, बल्कि देहादिप्रपञ्चके सर्व भासोंमें 'है है' रूपसे प्रतीति का विषय वह सत्ता-सामान्यरूप आत्मा ही होता है। देहादिप्रपञ्च तो केवल अपनी भ्रान्तिमें अनहुए ही अन्यथारूपसे ग्रहण हो रहे हैं। जैसे 'यह सर्प है' 'यह दण्ड है' इत्यादि सब भ्रान्तियोंमें इदंरूप रज्जु ही ग्रहण हो रही है, सर्प-दण्डादि तो केवल अनहुए ही अन्यथारूपसे ग्रहण किये जा रहे हैं।

इस रीतिसे देहादिप्रपञ्चके भाससे पूर्व भी सत्स्वरूप आत्मा ही है और प्रपञ्चसे उत्तर भी वही है। तथा मध्यकालमें भी अज्ञान करके यथार्थ दृष्टिका लोप होनेसे चाहे वह सत्स्वरूप आत्मा प्रतीत न हो, तथापि उसका कदाचित् लोप नहीं होता। तथा देहादिप्रपञ्च अयथार्थ दृष्टि करके अन्यथा ग्रहण होते हुए चाहे भान भी हों, तथापि कदाचित् होते नहीं हैं और सत्स्वरूप आत्मामें खपुष्पके समान उनका अत्यन्ताभाव ही होता है। इस प्रकार भगवान्‌ने असत् व सत्‌का स्वरूप निरूपण किया कि 'असत् वस्तुका अस्तित्व कदाचित् है ही नहीं और सत् वस्तुका अभाव कदाचित् होता ही नहीं है।'

अब दो श्लोकोंमें सत् व असत्‌को भिन्न-भिन्न करके निरूपण करते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

[इस न्याय के अनुसार] अविनाशी तो उसको जान कि जिससे यह सम्पूर्ण जगत् ओत-प्रोत हो रहा है, इस अविनाशी का नाश करनेको कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ—अविनाशी तो वह 'एकमेवाद्वितीयम्' आत्मा ही है, जिससे यह त्रिविध परिच्छेदवाला सारा प्रपञ्च ओत प्रोत हो रहा है ऐसा कोई देश नहीं जहाँ वह न हो, ऐसा कोई काल और ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें वह न हो। यद्यपि वह सर्व देशमें है, परन्तु आप किसी देशसे सीमाबद्ध नहीं होता। यद्यपि सर्व कालमें है, परन्तु आप किसी काल करके छेदन नहीं किया जा सकता। यद्यपि भिन्न-भिन्न सब वस्तुओंमें है, परन्तु कोई वस्तु उसमें किसी प्रकार भेद नहीं कर सकती। पञ्चभूत एव पञ्चभूतोंका कार्य कोई भी पदार्थ उसको नाश नहीं कर सकता। इस प्रकार संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो उसको नाश कर सके क्योंकि सब पदार्थोंकी सत्ता वही है। फिर वे पदार्थ अपनी सत्ताका ही कैसे लोप कर सकते हैं? जिस प्रकार जड़ लोहा अग्निकी सत्तासे बाह्य पदार्थोंको भस्म कर सकता है, परन्तु वह अपनी सत्तारूप अग्निको भस्म करनेमें समर्थ नहीं है। जिस प्रकार चिमटा हाथकी सत्तासे अन्य पदार्थोंको पकड़ सकता है, परन्तु हाथको नहीं पकड़ सकता। जिस प्रकार कुठार सब पदार्थोंको छेदन कर सकता है, परन्तु अपनी सत्तारूप लोहेको छेदन करनेमें असमर्थ है। इसी प्रकार देश, काल व वस्तु, ये तीनों सब पदार्थोंको नष्ट-भ्रष्ट करते हुए भी अपनी सत्तारूप आत्माको स्पर्श नहीं कर सकते। इसी लिये भगवान्‌का वचन है कि आत्मासे भिन्न जितना भी

कुछ अनात्मा है, वह उस अविनाशीका नाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

[तथा इस] नित्यस्वरूप, नाशरहित एवं अप्रमेय जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिये हे भारत! तू युद्ध कर।

भावार्थ—जो वस्तु न तो श्रोत्र, त्वक् व चक्षु आदि इन्द्रियों-द्वारा प्रमाण की जा सकती है और न प्रत्यक्ष-अनुमानादि षट् प्रमाणोंद्वारा ही प्रमाणित हो सकती है, उसको 'अप्रमेय' कहते हैं। ऐसे नित्य, अविनाशी व अप्रमेय देहसाक्षी आत्माके उपाधिरूप जो ये सब देह हैं, ये तो स्वभावसे ही नाशवान् हैं। किसी देश-कालमें भी ये बही नहीं हैं, बल्कि नित्य ही नाशरूप हैं। संसारमें ऐसी कोई शक्ति नहीं जो इनकी नाशसे रक्षा कर सके, क्योंकि शरीर तो नित्य ही कालके ग्रास हैं। यदि कोई कालको पकड़नेमें समर्थ हो तो भले ही शरीरोंको पकड़ सके। परन्तु संसारमें ऐसा कोई योद्धा नहीं हुआ जिसने कालको जीता हो, इससे तो सभी हार कर चले गये। कालरूपी आरेके नीचे तो सभी भूत-भौतिक संसारचक्र घूम रहा है। फिर भी इन उपाधिरूप देहोंके नाशसे उपहित देहसाक्षी आत्माका नाश नहीं हो जाता। जिस प्रकार व्यापक आकाशमें नाना घटोंकी उपाधि करके भिन्न-भिन्न नाना घटाकाशोंकी कल्पना होती है और घटोंके उत्पत्ति-नाशसे घटाकाशोंके उत्पत्ति-नाशका भ्रम होता है। घटकी उत्पत्तिसे 'घटाकाश उत्पन्न हुआ' और घटके नाशसे 'घटाकाश नष्ट हो गया' इस प्रकार घटोंकी उपाधिसे घटाकाशोंका उत्पत्ति व नाशरूप भ्रम व्यापक आकाशमें होता

है, परन्तु वास्तवमें व्यापक आकाश अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही है, न उसमें कोई नानात्व है, न कोई उत्पत्ति है और न नाश ही है। इसी प्रकार अज्ञानसे नाना शरीरोंकी उपाधि करके आत्मामें नानात्वका भ्रम होता है और शरीरोंके उत्पत्ति-नाशसे भिन्न-भिन्न आत्माके उत्पत्ति व नाशकी कल्पना की जाती है। परन्तु वास्तवमें उपाधिरूप शरीरोंके भेदसे व्यापक आत्मामें कोई भेद नहीं हो जाता तथा उपाधिरूप शरीरोंके उत्पत्ति-नाशसे व्यापक आत्माका कदाचित् उत्पत्ति-नाश नहीं होता। इसी लिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें इन सब देहोंमें अविनाशी आत्मा एक ही कथन किया है और 'शरीरिण' शब्दमें एक वचनका ही प्रयोग किया है, बहु वचनका प्रयोग नहीं किया।

इस प्रकार भगवान्‌का कथन है कि आत्मा तथा देहोंके नाश के भयसे तेरे लिये युद्धसे उपराम होनेका कोई अवसर नहीं है। क्योंकि अविनाशी आत्माको तो कोई मार नहीं सकता और स्वभावसे ही नाशवान् शरीरोंको कोई रख नहीं सकता। इस लिये अपने धर्मको स्मरण करके तू युद्ध कर।

अब आगे सात श्लोकोंमें फिर स्पष्टरूपसे उसी अविनाशी आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

> य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
> उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो पुरुष इसको मारनेवाला जानता है तथा जो इसको मरनेवाला मानता है, वे दोनों ही (इस आत्माको) नहीं जानते हैं, क्योंकि न यह मारता है और न मरता ही है।

भावार्थ—अब अर्जुनके शोकके निमित्तोंकी ओर दृष्टि करके भगवान् आत्माका स्वरूप वर्णन करते हैं। अर्जुनके शोकका

निमित्त यह अज्ञान ही था कि 'मैं अर्जुनरूप आत्मा भीष्म-द्रोणादिरूप पूज्य आत्माओं और दुर्योधनादिरूप स्वजन आत्माओंका हन्ता हूँगा। पूज्य व स्वजन आत्माएँ मारी जायँगी। इससे स्त्रीरूप आत्माएँ दुष्ट हो जायँगी और वर्णसंकररूप आत्माएँ उत्पन्न होंगी। इसी कारण पितृरूप आत्माओंका अधःपतन होगा और जाति-धर्म व कुल-धर्मके लोपसे सारे कुलकी आत्माओंका अनन्त कालतक नरकमें वास होगा। तथा इन सब पापोंका हेतु अर्जुनरूप आत्मा होगा।' इन सब शोक-निमित्तोंके मूलमें अभेद व व्यापक अपने आत्माका भेद व परिच्छेदरूपसे अन्यथा-ग्रहण ही है।

उपाधिरूप शरीरोंमें तीन वस्तु हैं—

(१) स्थूल शरीर, जिसमें मरना व मारनारूप स्थूल क्रियाएँ प्रकट होती हैं।

(२) सूक्ष्म शरीर, जो स्थूल शरीरमें प्रकट होनेवाली क्रियाओंमें कर्ता-भोक्तापनका अभिमानी होता है।

(३) असंग व साक्षीस्वरूप आत्मा, जिसकी सत्तासे स्थूल शरीरमें मरण व मारणरूप क्रियाएँ और सूक्ष्म शरीरमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अभिमान प्रकट होता है। जो आप सम्पूर्ण मरण-मारणरूप क्रियाओं और कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अभिमानोंसे आकाशके समान असंग रहता है। तथा जो सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म शरीरों एवं सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें सर्वभेदविनिर्मुक्त एक ही है और सबकी आत्मा है। सम्पूर्ण देश, काल व वस्तु और सम्पूर्ण द्रव्य, गुण व कर्म उसीमें उत्पत्ति, स्थिति व लयको प्राप्त होते हैं, परन्तु वह आप सबसे असंग ही है। जिस प्रकार आकाशमें सूर्य तपता है, वर्षा होती है, आँधी चलती है, यह सब व्यवहार यद्यपि होता आकाशमें ही है, परन्तु स्वयं आकाश न भीगता

भीष्मादिरूप शरीरोंकी उत्पत्ति व स्थिति ही है, न मरण-मारण-रूप व्यवहार ही है और न अहं-त्वंरूपसे कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप अभिमान ही है। जो पुरुष उस असंग आत्माको मारनेवाला जानता है, अथवा जो पुरुष उस व्यापक आत्माको मरनेवाला मानता है, वे दोनों ही भूलमें हैं, क्योंकि वास्तवमें न यह आत्मा मारनेवाला ही है और न मरनेवाला ही है।"

अब उसी व्यापक आत्माको सब अवस्थाओंसे अतीत वर्णन करते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

[वास्तवमें] यह आत्मा कदाचित् न जन्मता ही है, न मरता ही है और न यह हो करके फिर अभाव होनेवाला ही है, किन्तु यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत व पुरातन है, शरीर के नाश होनेपर इसका नाश नहीं होता ॥ २० ॥

भावार्थ—यह व्यापक आत्मा मारनेवाला व मरनेवाला तो तब हो, जबकि यह जन्म मरणादि अवस्थावान् हो, परन्तु उत्पन्न होना, मरना और होकर फिर अभाव होना, इन तीनों अवस्थाओंसे यह अतीत है। इन तीनों अवस्थाओंके अन्तर्गत षड्*विकार आ जाते हैं, अर्थात् तीनों अवस्था व षड् विकारोंसे आत्मा असंग है और वे इसको स्पर्श नहीं कर सकते। इस श्लोकमें जन्म लेना और मरना इन दो विकारोंका तो आत्मा के स्वरूपमें स्पष्ट निषेध किया ही गया है और 'न यह होकर फिर अभाव होनेवाला ही है' इस वाक्यसे इसमें बीचके चारों विकारोंका भी निषेध जान लेना चाहिये। तीनों अवस्था एवं

* उत्पन्न होना, स्थित रहना, बढ़ना, परिणामी होना, क्षय होना और नाश होना, ये छः विकार यावत् प्रपञ्चके साथ लगे हुए हैं।

षड् विकारोंके बन्धनमें तो वही वस्तु आ सकती है, जो देश-काल करके परिच्छिन्न हो, परन्तु जो वस्तु देश-काल करके अपरिच्छिन्न है वह तीनों अवस्थाओं व षड् विकारोंके बन्धनमें कैसे आ सकती है ? यदि शरीरोंके भेदसे आत्माका भी भेद हुआ होता, तब तो अवश्य वह आत्मा देश-काल करके परिच्छिन्न हो सकता था और तब वह तीन अवस्था व षड् विकारवान् भी बन जाता। परन्तु वस्तुत: देहादिके भेदसे उसमें कोई भेद नहीं हुआ, फिर वह कैसे अवस्थाओं व विकारोंसे बँध सकता है ? तथा देहादिकोंके भेदसे आत्मामें भेद तभी हो सकता था, जबकि देहादि आत्माके समानसत्तावाले होते। परन्तु ये देहादि तो केवल व्यवहारिक सत्ताके ही पदार्थ हैं और जाग्रत् दशा तथा अपने व्यवहार कालमें ही इनकी प्रतीति है, ये स्वप्न अवस्थामें भी नहीं रहते। इसके विपरीत आत्माकी तो पारमार्थिक सत्ता है और वह क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न व क्या सुषुप्ति सब अवस्थाओंको प्रकाशता हुआ सब अवस्थाओंमें ज्यों-का-त्यों है और सब अवस्थाओंसे असंग है। यह नियम है कि समानसत्ताके पदार्थ ही परस्पर साधक-बाधक होते हैं, विपरीत सत्ताके पदार्थ परस्पर साधक-बाधक नहीं होते। जैसे व्यवहारिक सत्ताकी पिपासाको व्यवहारिक जल ही निवृत्त कर सकता है, मृगतृष्णाका जल निवृत्त करनेमें समर्थ नहीं है तथा जैसे जाग्रत् शरीरको व्यवहारिक सत्ताकी अग्नि तो भस्म कर सकती है, परन्तु जाग्रत् शरीरके आश्रय प्रतीत होती हुई भी स्वप्नकी अग्नि जाग्रत् शरीरको स्पर्श भी नहीं कर सकती। इसी प्रकार यह देहादि प्रपञ्च तो स्वप्नकी भाँति केवल अज्ञान कालमें ही भान होता है, ज्ञान-जागृति आनेपर इसका त्रिकालाभाव प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है। सभी तत्त्वदर्शी एवं वेद-शास्त्र अपने

प्रत्यक्ष अनुभवसे इसकी साक्षी देते हैं। फिर ऐसा मिथ्या देहादि प्रपञ्च अपने सम्बन्धसे सत्यस्वरूप आत्मामें भेद कैसे उत्पन्न कर सकता है? जब मिथ्या देहादि प्रपञ्च सत्यस्वरूप आत्मामें भेद उत्पन्न करनेमें असमर्थ हुआ, तब अभिन्न व अपरिच्छिन्न आत्मामें तीन अवस्था व षड् विकार कैसे आ सकते हैं? और जब वह तीनों अवस्था व षड् विकारोंसे विनिर्मुक्त है, तब मारण-मरणरूप व्यवहारका कर्ता-भोक्ता कैसे हो सकता है?

इस रीतिसे व्यापक आत्मा सर्वभेद व परिच्छेद-विनिर्मुक्त होनेसे अजन्मा, नित्य, शाश्वत व पुरातन ही है। इसलिये शरीरोंके नाश होनेसे उसका नाश नहीं होता, जैसे घटादिकोंके ध्वंससे आकाशका प्रध्वंस नहीं हो जाता।

अब ऐसे तत्त्वदर्शी पुरुषमें मारण व मरणरूप व्यवहारका असम्भव दिखलाते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

[इस प्रकार] हे पार्थ! जो पुरुष इस आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा व अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है?

भावार्थ—ऊपरके श्लोकोंमें सर्वभेद व परिच्छेद-विनिर्मुक्त एक ही व्यापक आत्मा सब शरीरोंमें असंगरूपसे निरूपण किया गया। और जिस प्रकार देहादिकी तीनों अवस्था व षड् विकार उस आत्माको स्पर्श नहीं कर सकते, इसका स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया। इस प्रकार जिस पुरुषने करामलकवत् अपने आत्म-स्वरूपको साक्षात्‌रूपसे जाना है और स्थूल-सूक्ष्म शरीरों तथा उनके धर्मोंका अपने आत्मस्वरूपमें साक्षात् त्रिकालाभाव निश्चय

किया है। ज्ञानाग्निद्वारा स्थूल सूक्ष्म शरीरोंमें आत्म-अभिमान दग्ध होकर जो अपने वास्तव स्वरूप आत्मामें आत्मरूपसे ही ज्योंका त्यों स्थित हुआ है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिके पिञ्जरेको केसरी सिंहके समान तोड़कर जो सर्वकर्तव्य विनिर्मुक्त हो गया है। इस प्रकार सब मिथ्या उपाधिरूप शरीरोंमें जो अपने ही आत्मा को सर्व भेद व विकारोंसे निर्लेप देख रहा है तथा देहादिके उत्पत्ति-नाशसे अपने आत्माका उत्पत्ति नाश नहीं जानता और आत्मासे भिन्न देहादिकी अपनी कोई सत्ता ही नहीं देखता। जिस प्रकार समुद्र नाना तरंग, फेन बुद्बुदोंकी अपनेसे भिन्न कोई सत्ता नहीं देखता तथा उन तरंग, फेन, बुद्बुदोंके उत्पत्ति-नाश से अपनेमें उत्पत्ति नाश नहीं मानता और वे सब उत्पत्ति नाश अपने स्वरूपके चमत्कार ही देखता है। पार्थ! इस प्रकार जिस पुरुषने अपने आत्माको ज्यों का त्यों नित्य, अज अव्यय जाना है वह भला किसको मरवावे और किसको मारे? मारना या मरवानारूप मिथ्या दृष्टि तो तबतक ही थी, जबतक यह जीव अपने व्यापक आत्म-समुद्रसे च्युत होकर किसी एक देहादि तरङ्गमें ही मिथ्या आत्म अभिमान कर बैठा था और फिर अपने से भिन्न अन्य देहादि तरङ्गोंकी मिथ्या कल्पना करके किसीमें राग और किसीमें द्वेष ठानने लगा था। इस प्रकार राग-द्वेष करके पुण्य पाप एव जन्म-मरणका बन्धन अपने अज्ञानसे आप ही अपने लिये तैयार कर लिया गया था। सुखके दिन तो उसी क्षण पीठ दिखा गये, जिस क्षण यह भूल होकर आत्म-अध पतन हो गया था। इस प्रकार अज्ञानरूपी स्वप्नमें पड़ा हुआ जीव भले ही अपने संकल्पकी ढाई चॉवलकी खिचड़ी पकाया करे, तथापि आत्मरूपी समुद्र तो अपने आपमें ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ अपने में किसी प्रकार एक रत्तीभर भी कोई वृद्धि-क्षति नहीं देखता।

बल्कि उन सब देहादि तरङ्गों, राग-द्वेषों तथा तज्जन्य उत्पत्ति-नाशोंको अपने आनन्दस्वरूपके चमत्कार ही जानता है और उन सबमें साक्षीरूपसे स्थित हुआ सबसे असंग ही रहता है। इस तत्त्व-दृष्टिद्वारा अपने व्यापक आत्मस्वरूपमें इस प्रकार साक्षात्-रूपसे स्थित हुआ पुरुष देहादि और उनके व्यवहारोंसे ज्यों-का-त्यों असंग ही है। देहादि अपनी-अपनी प्रकृति और अपने-अपने धर्मोंसे बँधे हुए अपने-अपने व्यवहारमें भले ही वर्तें, परन्तु वह तत्त्ववेत्ता पुरुष तो ज्यों-का-त्यों अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हुआ इन सब व्यवहारोंका साक्षीरूपसे तमाशाई ही रहता है और अपने वास्तव स्वरूपमें वृद्धि-क्षतिरूपसे कुछ भी होता हुआ नहीं देखता।

इस प्रकार भगवान्ने बतलाया कि इस रीतिसे जिस पुरुषने इस नित्य, अज व अव्यय आत्माको सब शरीरोंसे असंग अहं-रूपसे अपरोक्ष किया है कि 'सोऽहमस्मि' (वही मैं हूँ), वह पुरुष किसको मरवाता है और किसको मारता है? अर्थात् अपनेमें मारना, मरना व मरवानारूप कोई विकार नहीं देखता।

अब फिर देहादिसे इस आत्माकी असंगता वर्णन करते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नवीन वस्त्रोंको ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नवीन शरीरोंको प्राप्त होता है॥२२॥

भावार्थ—जिस प्रकार पुरुष पुराने वस्त्रोंको परित्याग करके दूसरे नवीन वस्त्रोंको धारण कर लेता है, पुराने वस्त्रोंके नाशसे अपना नाश नहीं जानता, अथवा नवीन वस्त्रोंकी उत्पत्तिसे अपनी उत्पत्ति नहीं मानता। अर्थात् वस्त्रोंके बननेसे अपना बनना,

वस्त्रोंके बिगड़नेसे अपना बिगड़ना, वस्त्रोंकी मलिनतासे अपनी मलिनता और वस्त्रोंकी उज्ज्वलतासे अपनी उज्ज्वलता नहीं देखता। दिन-दिन वस्त्रोंकी अवस्थामें परिवर्तन होता है, परन्तु वह नहीं समझता कि मेरा कुछ परिवर्तन हो रहा है। ठीक, इसी प्रकार आत्मा शरीरोंके षड्विकार अपनेमें नहीं देखता और उनके विकारोंसे आप विकारी नहीं हो जाता। बल्कि स्थूल, सूक्ष्म व कारण *तीनों शरीरोंसे, जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे और अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय पञ्चकोशोंसे इसी प्रकार असंग रहता है, जिस प्रकार मनुष्य वस्त्र अपने ऊपर धारण करता हुआ भी आप वस्त्रोंसे असंग रहता है। यद्यपि कोट, वास्कट व कमीज़ अपने ऊपर धारण करता है, तथापि आप कोट, वास्कट व कमीज़ नहीं बन जाता। इसी प्रकार आत्मा यद्यपि स्थूल, सूक्ष्म व कारण तीनों शरीरों, जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं और पञ्चकोशोंमें साक्षीरूपसे विराजमान रहता है, तथापि आप न

*तीनों शरीर, तीनों अवस्था और पाँचों कोशोंका विवरण यह है—

(१) स्थूल-शरीरकी जाग्रत् अवस्था और अन्नमयकोश है, जो अन्नके सम्बन्धसे घटता-बढ़ता है।

(२) सूक्ष्म-शरीरकी स्वप्न अवस्था है, जो स्वप्नमें भी अपना व्यवहार करता रहता है। और वह प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय तीन कोशोंमें विभक्त है। पञ्च कर्मेन्द्रियों व पञ्च प्राणोंको 'प्राणमय-कोश' कहते हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों व मनको 'मनोमय-कोश' कहा जाता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों व बुद्धिको 'विज्ञानमय-कोश' कहते हैं।

(३) कारण शरीरकी सुषुप्ति अवस्था और 'आनन्दमय-कोश' है। अविद्या-विशिष्ट चेतनको 'आनन्दमय-कोश' कहते हैं, जहाँ विक्षेपके हेतु बुद्धि, मन व इन्द्रियाँ सभी अपने उपादान अविद्यामें लय हो जाते हैं।

स्थूल शरीर होता है, न सूक्ष्म शरीर, न कारण शरीर और न तीनों अवस्था व पञ्चकोश ही हो जाता है। बल्कि आकाशके समान तीनों शरीर, तीनों अवस्था और पाँचों कोशोंमें अनुगत हुआ सबसे असंग ही रहता है तथा इनके उत्पत्ति-नाश व सङ्कोच-विकाससे अपना उत्पत्ति-नाश व सङ्कोच-विकास नहीं देखता।

जिस प्रकार आकाशमें अनन्त घट-मठादिके उत्पत्ति-नाश होते हैं, परन्तु वे अपने सम्बन्धसे किसी प्रकार आकाशका उत्पत्ति-नाश नहीं करते, बल्कि आकाश तो उनके उत्पत्ति-नाशोंमें ज्यों-का-त्यों असंग ही रहता है। इसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरोंको परित्याग करके नवीन शरीरोंको धारण करता हुआ भी अपना उत्पत्ति-नाश नहीं देखता और उन उत्पत्ति-नाशोंसे असंग ही रहता है। इस प्रकार जिस पुरुषने अपने आत्मस्वरूपको देहादिसे असंग जाना और अपने आत्मस्वरूपमें देहादि की स्वसत्ताका अत्यन्ताभाव निश्चय किया कि मेरे आत्मासे भिन्न देहादिका त्रिकालाभाव ही है, ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष, नित्य अविनाशी होनेसे न आत्माका ही शोक करता है, अपने आत्मासे भिन्न अत्यन्त तुच्छ होनेसे न शरीरोंका ही शोक करता है और न मारण व मरणरूप व्यापारका कर्ता-भोक्ता ही होता है। अब फिर उस आत्माकी नित्य-निर्विकार रूपताका वर्णन करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

[क्योंकि] इस आत्माको न शस्त्र ही काट सकते हैं, न इसको अग्नि ही जला सकती है, न जल ही इसको गीला कर सकता है और न वायु सुखा सकती है।

भावार्थ—मारण व मरणरूप व्यापारका कर्ता-भोक्ता तो यह आत्मा तब ही हो सकता है, जबकि कोई वस्तु इसको अपने

सम्बन्धसे विकारी कर सके, अथवा यह स्वयं द्रव्य, गुण व क्रियावान् हो। परन्तु संसारमें पञ्चभूत तथा पञ्चभूतरचित कोई भी पदार्थ इसपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते, फिर यह विकारी कैसे हो और मारण व मरणरूप व्यापारका कर्ता-भोक्ता कैसे बने? किसी भी वस्तुके प्रभावमें यह तभी आ सकता है जबकि यह उस वस्तुसे भिन्न हो। परन्तु यह तो सभी वस्तुओं के अन्दर उनकी आत्मरूप सत्ता होकर विराजमान हो रहा है, फिर वह वस्तु इसपर अपना प्रभाव कैसे डाल सकती है? कोई भी वस्तु आप ही अपने आत्माका हनन कर नहीं सकती, किन्तु अपने आत्मासे भिन्न वस्तुओंका ही हनन करनेमें समर्थ होती है। क्योंकि जिस शक्तिके बलसे वह अपनेसे भिन्न वस्तुओं का हनन करनेमें समर्थ होती है वह उसकी आत्मशक्तिका ही बल है, फिर वह अपनी उस आत्मशक्तिको ही किस बलसे काट सकती है? इस प्रकार इस आत्माको न पृथ्वीके कार्यरूप शस्त्र ही छेदन कर सकते हैं, न अग्नि दहन कर सकती है, न जल गीला कर सकता है और न वायु ही सुखा सकती है। खड्ग अपनेसे भिन्न पदार्थोंको तो छेदन कर सकता है, परन्तु अपने को छेदन नहीं कर सकता। अग्नि अपनेसे भिन्न पदार्थोंको तो दहन कर सकती है, परन्तु अपनेको दहन करनेमें समर्थ नहीं है। जल अपनेसे भिन्न पदार्थोंको तो गीला कर सकता है, परन्तु अपनेको गीला नहीं कर सकता। वायु अपनेसे भिन्न पदार्थोंको तो सुखा सकती है, परन्तु अपनेको नहीं सुखा सकती। जब शस्त्र, अग्नि, जल व वायु अपने-अपने स्थूल रूपको ही काटने, जलाने, गीला करने और सुखानेमें समर्थ न हुए, तब अपने अन्त स्थित सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतन-आकाशको काटने, जलाने, गीला करने और सुखानेमें कैसे समर्थ होंगे? कदापि नहीं।

तथा द्रव्य, गुण व क्रियावान् यह आत्मा तब हो, जबकि यह देश, काल व वस्तु करके परिच्छिन्न हो। क्योंकि परिच्छिन्न वस्तु ही द्रव्य, गुण व क्रियावान् हो सकती है, अपरिच्छिन्न किसी प्रकार द्रव्य, गुण व क्रियावान् नहीं हो सकती। क्रियाका अवकाश तो तभी हो सकता है, जबकि कोई देश व काल अपनेसे खाली हो। और गुणी यह आत्मा तभी हो सकता है, जबकि वस्तु-परिच्छेद्य हो, क्योंकि वस्तु-परिच्छेदमें ही गुण रह सकता है। तथा द्रव्य यह तब हो सकता है, जबकि गुण व क्रियाका अधिकरण हो। परन्तु यह तो देश, काल व वस्तुसे अतीत होनेसे सब द्रव्य, गुण व क्रियाओंका अधिष्ठानरूप आश्रय होता हुआ भी इन सभीसे परे है।

इस प्रकार यह आत्मा सब विकारोंका अधिष्ठानरूप आश्रय होता हुआ, स्वयं नित्य व निर्विकाररूपसे ही स्थित है और किसी प्रकार मारण व मरणरूप व्यापारका कर्ता-भोक्ता नहीं होता।

अब फिर उस आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य ही है तथा नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन है।

भावार्थ—इस प्रकार यह आत्मा न किसी छेदनरूप क्रिया का विषय है, न दहनरूप क्रियाका और न किसी क्लेदन व शोषणरूप क्रियाका ही विषय हो सकता है। इसलिये इस आत्माको अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य व अशोष्यरूप कहा गया। छेदन व दहनादि क्रियाका विषय तो यह तब हो, जबकि छेदन व दहनादि क्रियासे भिन्न देशमें रहता हो। परन्तु यह तो

अपनी सर्वव्यापकता करके छेदन व दहनादि क्रियाके अन्दर ही स्थित है। बल्कि सच तो यह है कि छेदन व दहनादि क्रियाओं में अपनी कोई शक्ति ही नहीं है, सर्वशक्तियोंके भण्डार इस आत्मासे अपनी-अपनी क्रियाशक्ति उधार लेकर ही ये सब क्रियाएँ अपना-अपना छेदन-दहनादि व्यापार करनेमें समर्थ होती हैं और इसके बिना ये सब शून्य हैं। फिर अपना छेदन व दहनादि व्यापार ये इस आत्मापर ही कैसे वर्त सकती हैं ? कदापि नहीं। इस प्रकार यह आत्मा इन छेदन व दहनादि क्रियाओंका अविषय होता हुआ नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल व सनातन है।

यदि इस आत्माके स्वरूपको केवल 'नित्य' शब्दसे ही बोधन किया जाता, तब नित्य तो न्यायमतमें पृथ्वी, जल, तेज व वायु इन चारों भूतोंके परमाणु भी हैं, उन परमाणुओंमें 'नित्य' शब्द के अर्थ की अतिव्याप्ति* होती। इसलिये इस अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ 'सर्वगत' कहा गया, परमाणु नित्य भले ही रहें परन्तु 'सर्वगत' नहीं हैं।

यदि 'सर्वगत्' शब्दसे ही इस आत्माके स्वरूपका निरूपण किया जाता, तो सर्वगत तो आकाश भी है, अतः उस आकाशमें 'सर्वगत' शब्दके अर्थकी अतिव्याप्ति होती। इसलिये इस दोषके दूर करनेके लिये 'स्थाणु' शब्दका प्रयोग किया गया। क्योंकि आकाश यद्यपि सर्वगत है, तथापि केवल जाग्रत्-अवस्था और जाग्रत्-देशकालमें ही है, स्वप्न व सुषुप्ति अवस्था और स्वप्न-सुषुप्ति देश-कालमें आकाशका अभाव ही है। इसलिये आकाश स्थिर रहनेवाला अर्थात् 'स्थाणु' नहीं है। परन्तु यह आत्मा तो सर्व अवस्थाओंमें हाज़िर है।

इसी प्रकार यदि 'स्थाणु' शब्दसे ही इस आत्माके स्वरूपका

*पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिका देखिये।

बोधन किया जाता, तो स्थिर रहनेवाली तो अविद्या भी है, जो कि जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति तथा उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय सभी अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है। इस लिये उस अविद्यामें 'स्थाणु' शब्दके अर्थकी अतिव्याप्ति होती, अतः इस दोषके निवारणार्थ 'अचल' शब्दसे इस आत्माके स्वरूपका बोधन किया गया। अविद्या यद्यपि तीनों अवस्थाओंमें है, तथापि अचल नहीं, बल्कि नित्य चलस्वरूप है और ज्ञानसे इसका बाध हो जाता है। परन्तु यह आत्मा तो सनातन-अचल है जोकि सब वस्तुओं, सब द्रव्य-गुण-कर्मों, सब देश-काल और सब उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयादि अवस्थाओंमें नित्य अचल व अबाध्यरूपसे स्थित रहता है।

ऐसा इस आत्माके स्वरूपका बोधन किया गया, फिर और भी निरूपण करते हैं—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह आत्मा अव्यक्त (इन्द्रियोंका अविषय), अचिन्त्य (मन का अविषय), विकाररहित कहा गया है, इसलिये इस आत्मा को ऐसा जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है।

भावार्थ—अब इस आत्माकी नित्य-अचलरूपताका वर्णन करते हैं। यह आत्मा ऐसा सूक्ष्म तथा अचलरूपसे स्थित है कि इन्द्रियाँ इसको विषय नहीं कर सकतीं। यद्यपि यह इन्द्रियोंमें ही अचलरूपसे स्थित है, तथापि इन्द्रियाँ अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंको ही विषय करती हैं, अपनेको भी विषय नहीं कर सकतीं। जैसे चक्षु अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंको तो देखती है, परन्तु अपनेको नहीं देख सकती। बल्कि चक्षुके अन्दर चक्षुके अति सन्निकट यदि तृण पड़ा हो, तो मनुष्य अन्य व्यक्तिसे ही

पूछता है—'देखो, मेरी आँखमें तिनका तो नहीं है ?' फिर यह आत्मा तो श्रोत्रका भी श्रोत्र, त्वक्‌का भी त्वक्, चक्षुका भी चक्षु, रसनका भी रसन और घ्राणका भी घ्राण है। अतः ये इन्द्रियाँ इसको कैसे देखेंगी, कैसे जानेंगी ? श्रोत्रमें स्थित होकर यही श्रवण करता है, चक्षुमें स्थित होकर यही देखता है, त्वचामें स्थित होकर यही छूता है, रसनामें स्थित होकर यही स्वाद लेता है और घ्राणमें स्थित होकर यही गन्ध ग्रहण करता है। अर्थात् इस आत्मासे कृतार्थ होकर ही ये इन्द्रियाँ अपने भिन्न-भिन्न शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्धादि विषयोंको ग्रहण कर सकती हैं और इसके बिना ये सभी बेकार हैं। ये पाँचों इन्द्रियाँ तो केवल अपने-अपने विषयको ही ग्रहण कर सकती हैं, अन्य इन्द्रियके विषयको भी ग्रहण नहीं कर सकतीं, परन्तु यह आत्मा तो न शब्दरूप विषय ही है, न स्पर्श, न रूप, न रस और न गन्धरूप विषय ही है। बल्कि इन पाँचों विषयोंकी साक्षीरूप सत्ता होता हुआ इन पाँचोंसे अतीत है। फिर ये इन्द्रियाँ इस विषयातीतको कैसे विषय कर सकती हैं ? इस प्रकार यह इन्द्रियोंका अविषय होता हुआ 'अव्यक्त' रूप कहा गया है।

यह आत्मा मन-बुद्धिके चिन्तनका भी विषय न होने से अचिन्त्य है। मन-बुद्धि अपनेसे भिन्न पदार्थोंका ही चिन्तन करनेमें समर्थ होते हैं, परन्तु जिसकी सत्तासे मन-बुद्धिकी स्थिति है और जिसकी सत्तासे इनका चिन्तनरूप व्यापार हो रहा है, उस प्रकाशस्वरूप सत्ताका चिन्तन करनेमें ये किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकते। जिस प्रकार हस्तकी सत्ता से खड्ग अन्य पदार्थोंको काटनेमें समर्थ होता है, परन्तु हस्तको ही नहीं काट सकता। तथा जिस प्रकार तेजके प्रकाशको

धारण करके वाती अन्य सब पदार्थोंको तो प्रकाशित कर सकती है, परन्तु अपने अन्तःस्थित तेजको प्रकाशित नहीं कर सकती। इसी प्रकार मन-बुद्धिमें न अपनी कोई सत्ता है और न अपना कोई प्रकाश ही है, किन्तु इस सत्स्वरूपकी सत्तासे ही ये असत् हुए भी सत्य-से भान होते हैं, इस चेतनस्वरूपके प्रकाशसे जड़ हुए भी चेतनरूप प्रतीत होते हैं और अपने चिन्तन-व्यापारमें प्रवृत्त हुए सब देहादि प्रपञ्चको विषय कर रहे हैं। यद्यपि यह आत्मा मन-बुद्धिके चिन्तनरूप व्यापारमें ही दमक रहा है, तथापि चिन्तनरूप व्यापारका विषय नहीं होता। जिस प्रकार फ़ानूसके अन्दर बिजली ही दमक मार रही है, जिससे वह अपने प्रकाशनरूप व्यापारमें प्रवृत्त हो रहा है, परन्तु फ़ानूस उलटकर बिजलीको ही प्रकाशित नहीं कर सकता। इसीलिये इस आत्माको 'अचिन्त्य' रूप कहा गया। इस प्रकार यद्यपि मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंमें स्थित होकर यह आत्मा ही सबको देखने-जाननेवाला है, परन्तु आप किस इन्द्रियसे देखा जाय ? और किस प्रकार मन-बुद्धिसे जाना जाय ? 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयादिति।'

इस रीतिसे यह आत्मा अपनी नित्य-अचलरूपता करके अव्यक्त व अचिन्त्यरूप हुआ अविकारी कहा गया है और देहादि प्रपञ्चके जन्म-मरणादि विकारसे किसी प्रकार विकारी नहीं होता। अर्जुन! इस प्रकार अपने आत्मस्वरूपको जान कर तेरे लिये किसी प्रकार शोकका अवसर नहीं है। क्योंकि यद्यपि तेरे आत्मस्वरूपमें अर्जुन, भीष्म व द्रोणादि सकल प्रपञ्च, जलमें तरङ्गके समान उत्पत्ति-नाशको प्राप्त होता है, परन्तु तेरे आत्मस्वरूपमें उत्पत्ति-नाशरूप कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकता।

इस प्रकार अनात्मरूप स्थूल-सूक्ष्म देहोंमें आत्म-अभिमान तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्वविनिर्मुक्त आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी भावना, इत्यादि विपरीत भावनाएँ जो अर्जुनके शोक-मोहका कारण बन रहीं थीं, भगवानने अपने तत्त्व-उपदेशद्वारा उनका निराकरण किया।

अब अर्जुनकी अपनी नीची-से-नीची दृष्टिका अङ्गीकार करके भगवान् उसके लिये शोक-मोहका असम्भव निरूपण करते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तू इसको सदा जन्मने और सदा मरनेवाला माने तो भी हे महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है।

भावार्थ—वास्तवमें तो उपर्युक्त विचारानुसार यह आत्मा नित्य, अजर, अमर, अज व अविनाशी है। परन्तु थोड़ी देरके लिये यदि तेरी गिरी-से-गिरी दृष्टिको भी अंगीकार कर लिया जाय कि भीष्म-द्रोणादि सब आत्माएँ नित्य जन्मनेवाले और नित्य मरनेवाले हैं, तो भी महाबाहो! तेरा इस प्रकार शोक करना कि 'कुलनाशसे स्त्रियाँ दूषित हो जायँगी' 'वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होगी तथा 'पितरोंका अधःपतन होगा'—किसी प्रकार योग्य नहीं है।

इस दृष्टिसे शोककी अयोग्यता वर्णन करते हैं—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

[क्योंकि] जन्मनेवालेकी निश्चित मृत्यु और मरनेवालेका

निश्चित जन्म सिद्ध हुआ, इस लिये इस विना उपायवाले विषयमें तेरा शोक करना योग्य नहीं है।

भावार्थ—यदि आत्मा नित्य जन्म-मरणधर्मा माना जाय, तब तो जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मृत्युको प्राप्त हुआ है उसका फिर जन्म भी निश्चित ही है। ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि मरनेसे ही उसका मोक्ष हो जायगा और मरनेसे ही जन्म-मरणका बन्धन कट जायगा। यदि ऐसा मान लिया जाय तो 'कृतनाश' दोषकी प्राप्ति होगी, अर्थात् कृतकर्म विना ही फलभोगके निष्फल सिद्ध होंगे। और यदि कृतकर्म फलभोगके विना ही निष्फल सिद्ध होते, तो विना ही किसी हेतुके जीव वर्तमान जन्मरूपी कारागारमें क्यों डाला जाता? इस प्रकार मर जानेसे ही तो जन्म-मरणसे मुक्ति हो नहीं सकती, बल्कि मरकर फिर भी जन्म लेना निश्चित ही है। जिस प्रकार जलका नीचेको जाना और अग्निका ऊपरको उठना स्वभाव ही है, कोई शक्ति नहीं जो इनके स्वभावको बदल सके, इसी प्रकार तेरी दृष्टिके अनुसार जबकि यह आत्मा अपने स्वभावसे ही नित्य जन्म-मरणधर्मा है और इसके अपने स्वभावके कारण इस के जन्म-मरणका परिहार हो ही नहीं सकता, तो फिर तेरे इस शोक-मोहका क्या प्रयोजन कि इनके मरनेसे कुल-धर्म तथा जाति-धर्मादि नष्ट हो जायँगे? ये तो अपने मरणस्वभावके वशीभूत हुए मरेंगे ही, फिर तू बीचमें ही अपने कर्तृत्वकी टाँग क्यों अड़ाता है? अर्थात् इनके मरणरूप कार्यमें उपादानरूप तो इन का अपना मरणस्वभाव ही है, इस लिये तू मरणरूप कार्यका उपादान नहीं, किन्तु निमित्त ही है। और निमित्त-कारण सदैव उपादानके अधीन ही होता है, स्वतन्त्र कारण नहीं होता। जैसे फलकी उत्पत्तिमें उपादान तो बीज ही होता है, माली उपादान नहीं

किन्तु निमित्त ही है। सो माली फलकी उत्पत्तिमें स्वतन्त्र नहीं, किन्तु उपादानरूप बीजके अधीन ही है। क्योंकि उपादान बीज के बिना माली स्वतन्त्र फलकी उत्पत्ति नहीं कर सकता, परन्तु मालीके बिना भी यदि बीजका पृथ्वीसे किसी और निमित्तसे संयोग हो जाय तो फलकी उत्पत्ति हो सकती है। जिस प्रकार कोई मनुष्य तन्द्राके वशीभूत बैठा हुआ ऊंघ रहा हो,उस ऊँघके कारण वह बैठा-बैठा गिर जाय और निकटवर्ती पुरुषके सिर होने लगे कि तूने मुझे ढील दिया। इसी प्रकार इन्हें तो अपने मरण-स्वभावसे मरना ही है, तू तो बीचमें केवल 'ऊंघतेको ढीलतेका बहानामात्र' अर्थात् निमित्तमात्र ही है, नकि मारनेवाला।

इस रीतिसे भीष्म द्रोणादि पूज्य व स्वजन आत्माओंको नित्य जन्म-मरणधर्मा मानकर भी तेरे शोकका कोई अवसर नहीं है। अब व्यक्तरूप देहादि प्रपञ्च आभासमात्र ही है, यह वर्णन करते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत! सम्पूर्ण भूतप्राणी अपनी उत्पत्तिसे पूर्व अदृश्य हैं और अपने नाशके पश्चात् भी अदृश्य ही रहते हैं, केवल मध्यमें ही दृश्यरूप प्रतीत होते है, फिर इस विषयमें शोक कैसा?

भाचार्थ– शोक उस वस्तुका ही बन पड़ता है, जोकि सत्य हो। अर्थात् वस्तुको सत्य जानकर ही उसके निमित्त शोकमें प्रवृत्ति होती है। मिथ्या वस्तुका तो शोक बनता ही नहीं है, जैसे मिथ्या स्वप्नके सम्बन्धियोंके वियोगका रुदन करने कोई नहीं बैठता। परन्तु तेरे शोकका विषय जो यह देहादि प्रपञ्च है यह तो वास्तवमें मायामात्र है सत्य नहीं, देखनेमात्र है यथार्थ नहीं। इसलिये इस आभासमात्र देहादि प्रपञ्चका शोक नहीं बनता। यह

वार्ता तो स्पष्ट ही है और किसी विवादका विषय नहीं कि यह देहादि प्रपञ्च अपनी उत्पत्तिसे पूर्व किसी व्यक्तिरूपमें नहीं था, किन्तु अदृश्यरूप ही था और अपने नाशके पश्चात् भी यह किसी व्यक्तिरूपमें नहीं रहेगा, किन्तु अदृश्य ही हो जायगा। फिर जो वस्तु पूर्व-उत्तर कालके बिना केवल मध्यमें ही भासती है, वह तो स्वप्नप्रपञ्चके समान तथा रज्जुमें सर्पके समान केवल भ्रमका ही विषय होती है। जिस प्रकार रज्जुमें सर्प तथा स्वप्नप्रपञ्च पूर्व-उत्तर कालके बिना केवल मध्यभावी होनेसे मायामात्र व भ्रमरूप ही होता है, इसी प्रकार यह जाग्रत्प्रपञ्च भी है, इसमें कोई विलक्षणता नहीं। जिस प्रकार स्वप्नप्रपञ्च अपने कालमें सत्य भासता है, इसी प्रकार यह देहादि प्रपञ्च भी अपने कालमें सत्य भासता है। इस प्रकार जो वस्तु है ही नहीं, केवल भ्रममात्र ही है, उसका शोक कैसा?

जिस आत्माके आश्रय यह असत्य भी सत्य भासता है, उस आत्माकी आश्चर्यरूपता वर्णन करते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और इसी प्रकार कोई आश्चर्यके समान कथन करता है और कोई इस आत्माको आश्चर्यकी तरह सुनता है तथा सुनकर भी इस आत्माको कोई नहीं जानता।

भावार्थ—आशय यह है कि यह आत्मा परम आश्चर्यरूप है। जो कुछ भी देखने-सुननेमें आता है वह सब इसमें ही है, परन्तु इसको कोई स्पर्श नहीं कर सकता। सबकी सत्ता और सबका प्राण यही है, परन्तु यह आप सबसे निर्लेप है। यह आत्मा ऐसा सरल है कि जिस वस्तुके साथ मिलता है,

वैसा ही भासने लगता है, परन्तु आप वैसा हो नहीं जाता बल्कि अपने-आपमें ज्यों का-त्यों ही रहता है। गुणके साथ मिलकर गुण, द्रव्यके साथ मिलकर द्रव्य, कर्मके साथ मिलकर कर्म-सा ही बन जाता है, परन्तु आप सब द्रव्य, गुण व कर्मसे अतीत ही रहता है। जिस प्रकार स्फटिकमणि जिस-जिस रंगके पुष्पके साथ मिलती है, उसी रंगकी भान होने लगती है, परन्तु अपना कोई रंग नहीं रखती और सब रंगोंसे असंग अपने-आपमें ज्यों-की त्यों रहती है। इसी प्रकार यह आत्मा जैसी-जैसी बुद्धि, जैसी-जैसी वृत्ति, जैसे-जैसे भाव, जैसे-जैसे विचार और जैसे-जैसे पदार्थसे मिलता है, उस-उस उपाधिके अनुरूप वैसा ही भान होने लगता है। अर्थात् यह एक ऐसा चिन्तामणि व कल्पवृक्ष है कि जैसे जैसे भाव व विचार जीव इसकी शरणमें धारण करता है, उन सब भाव व विचारोंकी सिद्धि इसीसे होती है। कोई कहते हैं, सृष्टि कालसे उत्पन्न होती है, कोई कहते हैं परमाणुओंसे हुई है, कोई केवल प्रकृतिको ही सृष्टिका उपादान-कारण मानते हैं, कोई कहते हैं कर्मके बिना यह सब व्यर्थ हैं इसलिये सृष्टिका उपादान कर्म ही है, कोई मायाविशिष्ट चेतनसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति बतलाते हैं। किसीके मतमें पच्चीस तत्त्वोंसे संसार रचा गया है, कोई कहते हैं 'नहीं जी! तत्त्व तेईस ही हैं,' किसीके मतमें उन्नीस, किसीके मतमें सतरह, किसीके पन्द्रह, किसीके तेरह, किसीके मतमें ग्यारह, नौ वा सात तत्त्व ही हैं और कोई पॉच ही तत्त्व मान बैठे हैं, इत्यादि। कोई कहता है, मोक्ष कर्म से होता है, कोई ज्ञानसे मुक्ति मानते हैं, किसीके मतमें ज्ञान व कर्म दोनोंसे मुक्ति है। कोई कहते हैं, कर्म ज्ञानका साधन है, कोई कहते हैं ज्ञान कर्मका साधन है, इत्यादि। यद्यपि ये

सभी कोलाहल इसी आत्मामें हो रहे हैं, परन्तु वस्तुतः इसमें सारी बुद्धियाँ अबुद्धिरूप हैं, सब वृत्तियाँ निर्वृत्तिरूप हैं, सब भाव अभावरूप हैं, सब विचार शून्यरूप हैं। यद्यपि सब बुद्धि, वृत्ति, भाव व विचारोंमें यही है और सब इसीके प्रसादसे सफल होते हैं, क्योंकि सबमें सत्तारूप यही है, परन्तु यह आप सबसे निराला है। यद्यपि अपने-अपने निश्चयोंके अनुसार सृष्टि और उसके भिन्न-भिन्न उपादानोंका भास इसीसे होता है, इसके सिवा तो दूसरा है ही कौन, जिसके आश्रय इन कारण-कार्योंका भास हो, क्योंकि शून्यके आश्रय तो कोई भास होवे ही कैसे? तथापि इसके स्वरूपमें न कोई सृष्टि है, न उपादान और न इसके स्वरूपमें कोई तत्त्व ही हैं, न पचीस तत्त्व हैं, न तेईस, न उन्नीस और न सतरह, इत्यादि। वास्तवमें सब तत्त्वोंका तत्त्व यह आप ही है और इससे भिन्न ये सभी अतत्त्व हैं। इसमें न कभी बन्ध हुआ है और न कभी मुक्ति ही होगी। एक ही पदार्थ किसी एकके लिये सुन्दर है तो किसी दूसरेके लिये असुन्दर, एकके लिये जो अनुकूल है वह दूसरे के लिये प्रतिकूल। इस प्रकार सब सुन्दर-असुन्दर और अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियों व विषयोंको प्रकाशता हुआ यह आप सबसे विमुक्त है।

इस प्रकार कोई तत्त्ववेत्ता आश्चर्यकी ज्यों इस आत्माको देखता है, इसी प्रकार कोई तत्त्ववेत्ता अन्य अधिकारियोंको आश्चर्यकी ज्यों इस आत्माका कथन करता है और कोई अधिकारी आश्चर्यवत् इस आत्माको श्रवण करता है। परन्तु इस प्रकार पश्यन्, कथन व श्रवण करके भी इसको कोई नहीं जानता। अर्थात् पश्यन, कथन व श्रवणका विषय तो वही वस्तु हो सकती है जो अपनेसे भिन्न हो, जैसे घट-पटादि प्रपञ्च अपने

से भिन्न होनेसे पश्यन्, कथन व श्रवणका विषय होता है। परन्तु यह आत्मा तो अपनेसे भिन्न नहीं, किन्तु सबका अपना आत्मा होनेसे सबसे अत्यन्त अभिन्न है, बल्कि सबका अपना स्वरूप ही है। अपना स्वरूप नित्य प्राप्त होनेसे किसी दर्शनादि व्यापारका विषय नहीं हुआ करता, इसलिये यह आत्मा किसी प्रकार पश्यन्, कथन व श्रवणका विषय नहीं है। पश्यन्, कथन व श्रवणादि यावत् साधनोंका फल नित्यप्राप्त आत्मा की प्राप्ति नहीं है, किन्तु साक्षात् अथवा परम्परा करके आत्माके आश्रय रहनेवाला जो आत्म-अज्ञान उसकी निवृत्ति ही सब साधनोंका एकमात्र फल है। आत्मज्ञानका साक्षात् फल केवल अज्ञानकी निवृत्ति ही है, नकि नित्यप्राप्त आत्माकी प्राप्ति। अज्ञानके निवृत्ति होनेपर आत्मा तो अपने प्रकाशमें स्वयं प्रकाशता है, किसी ज्ञानका विषय नहीं होता। जिस प्रकार 'दशम'[1] के ज्ञानसे केवल दशमके अज्ञानकी ही निवृत्ति हुई

[1] गाथा है कि दस मित्र मिलकर देशाटनके लिये निकले। मार्गमें उनको एक भारी नदी आई, जिसको तैरकर उन्हें पार जाना पड़ा। पार होकर उन्होंने विचार किया कि मित्र-मण्डलीको सम्भाल लेना चाहिये, कोई नदीमें डूब न गया हो। इस विचारसे उनमेंसे एकने सबकी गिनती की, परन्तु भूलसे अपनी गिनती न करके शेष नौको गिन गया और चकित होकर कहने लगा "हाय! एक मित्र डूब गया।" इसपर दूसरा मित्र आगे आया और उसने भी ऐसी ही भूल की, अपनेको छोड़ शेष नौको गिन गया। इसी प्रकार बारी बारीसे सभीने गिनती की और ऐसी ही भूल करते चले गये। अन्तत: जब सब गिनती कर चुके तो सब मिल कर दशम मित्रके डूब जानेका उच्च स्वरसे विलाप करने लगे। एक महा-पुरुष, जो कुछ दूर बैठे हुए यह सब कौतुक देख रहे थे, इस वार्तापर अपने मनमें बहुत हँसे और उनके निकट आकर वृत्तान्त पूछा। उनके

'दशम' की प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि वह तो उसका अपना स्वरूप होनेसे नित्य ही प्राप्त था, केवल अज्ञान करके प्राप्त हुआ भी अप्राप्त-सा भान होने लगा था।

अब इस सांख्य-ज्ञानका उपसंहार करते हुए भगवान् अर्जुनको उपदेश करते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत! सबके शरीरमें यह आत्मा नित्य ही अवध्य अर्थात् मारे जानके योग्य नहीं है, इसलिये सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके निमित्त तुझे शोक करना योग्य नहीं है।

भावार्थ—सारांश, भरतवंशी अर्जुन! सबके ही देहोंमें देही जो आत्मा है, वह तो नित्य ही अवध्य है। अर्थात् भीष्म-द्रोणादिके शरीरोंमें ही नहीं, बल्कि किसी भी शरीरमें आत्माका तो कदाचित् वध होता ही नहीं है। साक्षात् मूर्तिधारी काल भी इस आत्माका वध करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि कालका नृत्य भी इसीके आश्रय है। कालकी भी सत्ता होनेसे यह आत्मा

वृत्तान्तको सुनकर महापुरुषने उनसे कहा—"शोक मत करो, दशम है हुवा नहीं।" उन्होंने घबराकर पूछा, वह कहाँ है? तब महापुरुषने उनको फिर गिनती करनेके लिये कहा। इसपर एकने फिर गिनती की और उसी प्रकार नौको गिनकर हैरानीसे बोला, "दशम नहीं है"। इसपर महापुरुषने गिनती करनेवालेका हाथ पकड़के कहा कि 'दशम तू है'। इसपर सबको सन्तोष हुआ और शोक निवृत्त हो गया। इस प्रकार महापुरुषके शब्द-प्रमाणसे 'दशम' की प्राप्ति नहीं हुई, क्योंकि वह तो उसका स्वरूप होनेसे नित्य ही प्राप्त था। शब्द-प्रमाणद्वारा दशमके अज्ञानकी ही निवृत्ति हुई। इसी प्रकार ज्ञानका फल केवल अज्ञान-निवृत्ति ही है, आत्म-प्राप्ति नहीं।

स्वयं कालातीत है, इसलिये देहोंके वध होनेसे इसका वध नहीं हो सकता। वस्तुतः आत्मासे भिन्न देहादि प्रपञ्चकी तो अपनी कोई सत्ता ही नहीं है केवल आत्माकी सत्तासे ही असत् हुए भी ये सब सत् प्रतीत होते हैं और ये आत्मामें केवल आभासमात्र ही हैं। जिस प्रकार आभासमात्र तरङ्गोंके नाशसे जलका नाश नहीं होता, कटक कुण्डलादिके नाशसे सुवर्णका नाश नहीं होता, अथवा घटोंके ध्वंससे आकाशका प्रध्वंस नहीं हो जाता, इसी प्रकार देहोंके वधसे आत्माका वध नहीं हो जाता। जिस प्रकार रज्जुमें सर्प-दण्डादि आभासमात्र ही होते हैं तथा आभासरूप सर्प-दण्डादि वस्तुतः रज्जुरूप ही होते हैं, इसी प्रकार आभासमात्र यह देहादि प्रपञ्च आत्मरूप ही है।

इसी रीतिसे पाण्डव! तेरे शोक व मोहका विषय आत्मा तो नित्य अवध्य होनेसे कदाचित् मरता ही नहीं है, इस लिये भीष्म-द्रोणादिका ही नहीं, किसी भी भूतप्राणीका शोक नहीं बनता। और देहादि तो नित्य नाशरूप होनेसे कदाचित् हैं ही नहीं, आत्मामें इनकी उत्पत्ति, स्थिति व नाश और मरण-मारणरूप व्यवहार तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि भाव स्वप्न प्रपञ्च के समान केवल आभासमात्र ही हैं। इसलिये क्या आत्म-दृष्टि से और क्या शरीर-दृष्टिसे तेरे शोक व मोहका कोई अवसर नहीं बनता।

अब तृतीय दृष्टि धर्म-दृष्टिसे शोकका अनवसर वर्णन करते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

[और] अपने धर्मकी ओर दृष्टि करके भी तेरे लिये कम्पायमान होना योग्य नहीं है, क्योंकि धर्म-युद्धसे भिन्न क्षत्रियके लिये और कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है।

भावार्थ—अर्जुन ! अब यदि तेरे चित्तमें यह शंका हो कि 'मान लिया जाय, आत्माका नाश नहीं होता तथा देहादि क्षणभङ्गुर हैं, तथापि मेरे लिये यह कौन-सा धार्मिक कर्तव्य होगा कि मैं इन स्वजनोंके मारनेका भार अपने ही सिरपर लूँ। मान लिया कि देह नष्ट हो रहे हैं और होंगे, कोई शक्ति नहीं जो इनको नाशसे रक्षा कर सके, परन्तु मेरी यह कौन सुहृदता होगी कि मैं अपने हाथसे अपने ही पूज्यों व स्वजनोंका वध कर डालूँ और इनके रक्तसे सने हुए राज्यका भोग करूँ। ऐसी धृष्टता धारण करना मेरे लिये कौन धर्म होगा ? जिसके लिये आप मुझे ऐसा तत्त्व-उपदेश कर रहे हैं।'

पार्थ ! तेरी ऐसी शङ्का भी नहीं बनती, अपने क्षात्र-धर्म की ओर दृष्टि करके इस प्रकार तुझको युद्धसे उपराम होना और कम्पायमान होना योग्य नहीं है, बल्कि धार्मिक दृष्टिसे तो युद्ध करना ही तेरा धर्म है। जिस प्रकार मनुष्य-शरीरके किसी अङ्गमें फोड़ा उत्पन्न हो, तो बुद्धिमान् डाक्टरका यह कर्तव्य है कि छुरीसे उसमें नश्तर लगाकर उसकी पीप निकाल दे। यदि डाक्टर अपनी कायरता करके इस कार्यसे उपराम होता है, अथवा दया करता है, तब ऐसा करके वह अपने धर्मसे अवश्य च्युत होता है। इस उपरामताका उसपर अवश्य उत्तरदायित्व है, यह उसकी दया नहीं किन्तु अदया ही है। क्योंकि ऐसा करके वह उस मनुष्यके अङ्गका भङ्ग कर रहा है और इस अङ्गके सम्बन्धसे अन्य अङ्गोंको भी पीड़ा होने का अवसर दे रहा है। ठीक, इसी प्रकार जब पृथ्वीपर प्रकृतिके शरीरमें दुष्ट पापीजनरूपी फोड़े उत्पन्न हों, तब धार्मिक क्षत्रियका यह निश्चित धार्मिक कर्तव्य है कि वह अपनी तीक्षण खड्गकी नोकसे उन दुष्ट पापीरूप फोड़ोंको साफ़ कर दे।

जिससे इधर उनके सम्बन्धसे प्रकृतिके अन्य अङ्गोंमें भी पीड़ा न होने पावे और उधर उनकी दूषित पीप निकलकर उनका अपना भी कल्याण हो जाय। यदि धार्मिक क्षत्रिय अपने इस कर्तव्यसे कायरता करके उपराम होता है, अथवा दया करता है तो वह अवश्य इस कायरताद्वारा अपने धर्मसे च्युत होगा, अवश्य इस उपरामताके लिये उसपर उत्तरदायित्व होगा और उसकी यह दया अदया ही होगी। क्योंकि क्षत्रिय-जीवनका उद्देश्य यही है कि जहाँ-जहाँ पृथ्वीपर अधर्मकी वृद्धि हो, वहाँ-वहाँ वह निरालस हुआ अपने धर्म-दण्डसे अधर्मियोंको शिक्षा दे। इस प्रकार पृथ्वीकी रक्षा करता हुआ इस धर्म-यज्ञमें वह अपने प्राणोंतककी भी आहुति दे डाले। जब पृथ्वीपर अधर्मकी ऐसी असाधारण वृद्धि हो जाती है कि साधारण मनुष्यसे इसका सुधार नहीं हो सकता, तब स्वयं मुझे अवतार धारण करना पड़ता है कि इसी उद्देश्यसे प्रकृतिके दूषित अङ्गोंकी चिकित्सा की जाय (४।७-८)।

इस प्रकार अर्जुन! प्रकृतिके शरीरमें उत्पन्न हुए इन दुर्योधनादि दूषित फोड़ोंको साफ करना तेरा धार्मिक कर्तव्य है (दुर्योधनादिकी दुष्टताका ब्योरा संक्षिप्त वृत्तान्तमें देखिये)। इसी प्रकार जो कोई भी इनके अधर्मके पक्षको लेकर इस संग्राममें आये हैं, उन सबका वध करना तेरा धार्मिक कर्तव्य है। यदि तू मिथ्या स्वप्नसमान सांसारिक सम्बन्धोंको सम्मुख रखकर मोह-वश अपने कर्तव्यसे मुँह मोड़ेगा तो अवश्य अपने धर्मसे गिरेगा। इसीलिये धर्म-युद्धसे अधिक श्रेयः साधन क्षत्रियके लिये और कोई नहीं है, बल्कि युद्धसे उपरामता तेरे लिये अधर्म होगी।

अब इसी धार्मिक तथा व्यवहारिक-दृष्टिसे ही अन्य सात अर्जुनके लिये युद्धकी कर्तव्यता निरूपण करते हैं—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पार्थ ! भाग्यवान् क्षत्रिय ही अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गद्वाररूप इस प्रकारके युद्धको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सांसारिक ऋणोंकी अपेक्षा मनुष्यपर जो धर्म-ऋण है वह बलवान् है और इस ऋणके चुकानेके लिये ही मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति होती है। क्योंकि यह इसी योनिमें चुकाया जा सकता है और कहीं भी नहीं। इस ऋणके पूर्णतया चुकानेपर ही मनुष्यके लिये लोक-परलोक तथा भोग व मोक्षकी सिद्धि होती है। इस लिये प्रत्येक क्षण इस ऋणको चुकानेके लिये मनुष्यको कटिबद्ध रहना चाहिये और आपेकी बलि देनेके लिये भी उद्यत रहना चाहिये। क्योंकि देह व देह-सम्बन्धियोंका सम्बन्ध तो इसी लोकमें और केवल जाग्रत् अवस्थामें ही है, परन्तु धर्म का सम्बन्ध उभय लोकों और तीनों अवस्थाओंमें है। ये सांसारिक सम्बन्धी तथा भोग तो केवल प्रेय हैं, अर्थात् कुछ कालके लिये मीठे लगते हैं, परन्तु परिणाममें महान् दुःखदायी हैं। इस के विपरीत धर्म तो प्रेय नहीं श्रेयः है, जो उभय लोकोंमें वास्तविक सुखका देनेवाला है। इस लिये धर्म व संसारका सामना होने पर धर्मके सम्मुख मिथ्या देह व देह-सम्बन्धियोंको आदर देना और उनको ही सत्यरूपसे ग्रहण करना, किसी प्रकार पुण्य नहीं किन्तु पाप है। ऐसी व्यवस्था प्राप्त होनेपर तो देह व देहसम्बन्धियोंका तिरस्कार करके धर्मके सम्मुख नतमस्तक होना ही मनुष्यका परम धर्म है।

इस लिये पाण्डव ! स्वभाविक ही तेरे लिये तो ऐसा सुअवसर प्राप्त हो गया है, मानो अपने-आपही तेरे लिये स्वर्ग द्वार खुल गया हो, जो इस प्रकार अहन्तारूप देह व ममतारूप

स्वजनोंकी बलि देकर तू अपने धर्मऋणसे उऋण हो सकेगा। इस लिये तू अपने धर्मका पालन कर, क्योंकि भाग्यवान् क्षत्रियोंको ही ऐसे स्वाभाविक धर्मयुद्धकी प्राप्ति होती है।

युद्ध करनेमें जो कल्याण है वह कहा गया, अब युद्ध न करनेमें जो क्षति है उसका वर्णन करते हैं—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वापापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

[इस प्रकार] यदि तू इस धर्मयुक्त संग्रामको न करेगा तो अपने धर्म तथा कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा।

भावार्थ—पामर पुरुषोंको छोड़कर संसारमें और जिस कोटि के भी मनुष्य होते हैं, किसी भी कर्ममें उनकी ये तीन ही दृष्टियाँ होती हैं—

(१) कुछ कर्म करके हम धर्म-संग्रह करें, (२) अमुक कर्म करके हम पापसे बचें तथा (३) इस लोकमें हमारी कीर्ति हो।

ऐसे पुरुषोंके किसी कर्ममें यदि ये तीनों दृष्टियाँ एक साथ नहीं होतीं तो कम-से-कम इन तीनोंमेंसे कोई एक दृष्टि तो अवश्य रहनी ही चाहिये। यदि अपने कर्ममें इन तीनों दृष्टियोंका ही अभाव है तो अवश्य ऐसे पुरुषकी पामर-कोटिमें ही गणना की जायगी। भगवान्‌का वचन है कि इस धर्म-युद्धसे उपरामतामें तेरे लिये इन तीनों दृष्टियोंका ही अभाव है—

(१) युद्ध परित्याग करके तुझे धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसा ऊपर स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है।

(२) युद्ध परित्याग करके तू पापसे भी सुरक्षित नहीं हो सकता, बल्कि अवश्य पापको प्राप्त होगा। क्योंकि तेरी यह उपरामता प्रकृतिके प्रवाहके अनुकूल नहीं, प्रतिकूल है। इस उपरामतामें केवल तेरा मोह ही हेतु है और कोई हेतु नहीं। और मोह ही

सब पापोंका मूल है, यह सब शास्त्रोंका सिद्धान्त है। इस लिये यह उपरामता अवश्य पापजनक भी होगी।

(३) कीर्तिका नाश तो स्पष्ट ही है।

अब तीन श्लोकोंमें अकीर्तिका निरूपण करते हैं—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

सब भूतप्राणी तेरी कभी नाश न होनेवाली अकीर्तिका भी कथन करेंगे और माननीय पुरुषके लिये अकीर्ति मरणसे भी अधिक बुरी होती है।

भावार्थ—अर्थात् केवल क्षत्रिय लोग ही नहीं, किन्तु यावत् प्राणी तेरी अकीर्तिके गीत गायँगे। इससे तो मरण भला है, क्योंकि मरणमें तो प्राणवियोग कालमें ही थोड़ी देरका कष्ट होता है। परन्तु यह अकीर्ति तो यावज्जीवन कालमें तुझे अपने कानोंसे सुननी पड़ेगी और तपना होगा, जोकि प्राण-वियोगजन्य कष्टसे भी अधिक कष्टतर होगी।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

महारथी लोग तुझे भयके कारण युद्धसे उपराम हुआ मानेंगे जिनमें तू बहुमान्य होकर तुच्छताको प्राप्त होगा।

भावार्थ—यह कोई न कहेगा कि अर्जुन पूज्योंके आदर-सत्कार करके, अथवा सम्बन्धियोंके प्रेम करके युद्धसे उपराम हुआ था। बल्कि यही चर्चा होगी कि 'गाण्डीव धनुष तो केवल देखने-मात्र ही था, समय पड़नेपर अर्जुन भाग गया और जिस कार्यपर विराट-राजाके यहाँ लगाया गया था, वास्तवमें उसीके योग्य था।' इस प्रकार उनमें बहुमान्य होकर तू तुच्छताको प्राप्त होगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

[इस प्रकार]—तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए बहुत-से न कहनेयोग्य वचन कहेंगे, फिर उससे अधिक दुःख क्या होगा ?

इसलिये पारमार्थिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक सभी दृष्टियोंसे युद्ध करना तेरे लिये श्रेय है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

[इस प्रकार युद्धमें प्रवृत्त होकर] यदि तू मर गया तो स्वर्गको प्राप्त होगा और जीत गया तो पृथ्वीको भोगेगा। इसलिये हे कौन्तेय ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो।

आशय यह है कि युद्धमें प्रवृत्त होकर तेरे दोनों हाथ मोदक हैं, जीनेमें भी भलाई और मरनेमें भी भलाई। हाँ, युद्धमें इतनी सावधानी अवश्य कर्तव्य है जिससे तू मोक्षका भी अधिकारी बन जाय—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख-दुःख, हानि-लाभ तथा जय व पराजयको समान समझकर तदनन्तर युद्धके लिये जुड़ जा, ऐसा करनेसे तू पाप को प्राप्त न होगा।

भावार्थ—कार्य एक ही है, परन्तु दृष्टि व भावके भेदसे पुण्य-पापका भेद हो जाता है। यदि युद्ध-प्रवृत्तिमें अर्जुनकी यह दृष्टि व भाव हो और वह इस इच्छासे प्रवृत्त हो कि 'मैं इस

युद्धमें अपने स्वजनोंपर जय प्राप्त करूँगा, उनमें मेरी मानवृद्धि होगी, मुझे राज्यका लाभ होगा तथा मुझे भोग-सुखोंकी प्राप्ति होगी' तो इस सांसारिक दृष्टिसे केवल स्वार्थपरायण होकर युद्धमें प्रवृत्त होना और पूज्यों एवं स्वजनोंका वध करना, अवश्य पापजनक होगा। परन्तु यदि इस सांसारिक स्वार्थ-परायण दृष्टिको त्यागकर और धर्म-दृष्टिको सम्मुख रखकर अर्जुन केवल इस भावनासे युद्धमें प्रवृत्त होता हो कि 'सुख-दुःख से मेरा कोई राग-द्वेष नहीं, हानि-लाभसे भी मेरा क्या प्रयोजन है तथा जय व पराजयसे भी मुझे क्या ? मुझे तो केवल अपना धर्म-ऋण चुकाना है और यही मेरे जीवनका लक्ष्य है। प्रकृतिने इस समय मुझसे उस ऋणकी माँग कर ली है, जो मैं प्रत्येक क्षण और सब प्रकार चुकानेके लिये तैयार हूँ। प्रकृतिके राज्यमें जो कुछ भी भवितव्य हो वह हो, मुझे इससे क्या ? इस संसाररूपी नाटकघरमें प्रकृति-देवी अपना खेल खेल रही है, इसमें जो कर्तव्य मेरे ऊपर लगाया गया है, मुझे तो केवल उसका पालन करना है, हानि-लाभ तथा जय-पराजयसे मेरा क्या प्रयोजन है ?'

यदि केवल इसी धार्मिक दृष्टिसे अर्जुनकी युद्ध-प्रवृत्ति हो, तो वह किसी पापका भागी नहीं बन सकता। इस लिये भगवान्‌का कथन है कि पूर्वोक्त सांसारिक दृष्टिका परित्याग करके तू तो केवल द्वितीय धार्मिक दृष्टिसे ही युद्धमें प्रवृत्त हो और सुख-दुःख तथा हानि-लाभकी इच्छाका परित्याग कर। ऐसा करनेसे तेरे लिये कोई पाप नहीं, क्योंकि स्वार्थमयी इच्छा ही सब पापोंका मूल है।

यहाँतक भगवान्‌ने आत्म-दृष्टि, देह-दृष्टि तथा धर्म-दृष्टि, तीनों दृष्टियोंसे अर्जुनके शोक-मोहका निराकरण किया। और

धर्म-दृष्टि एवं व्यवहार-दृष्टिसे तो अर्जुनपर युद्धकी कर्तव्यता ही निरूपण की तथा युद्धके परित्यागमें पाप व अकीर्तिकी प्राप्ति भी वर्णन की। परन्तु प्रकृतिराज्यमें कोई भी कर्म पुण्य अथवा पापसे खाली नहीं रहता यदि कोई कर्म पापरूप नहीं तो पुण्यरूप होगा और पुण्य कर्म भी अपने सम्बन्धसे इस जीवको जन्म-मरणके बन्धनमें लानेवाला ही होगा। इसलिये अब उस योगका वर्णन करते हैं, जिसमें स्थित होकर पुण्य व पाप दोनों ही कर्म-बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है और जिसमें स्थित होकर कर्मका कर्ता, अकर्ता हो जाता है तथा कर्म, अकर्म हो जाते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ ! यह बुद्धि (ज्ञान) तेरे लिये सांख्यके विषयमें कही गई, अब इसीको योगके विषयमें सुन, जिस बुद्धि (ज्ञान) से युक्त हुआ तू कर्म-बन्धनको भली भाँति नष्ट कर देगा।

भावार्थ—उपर्युक्त धार्मिक दृष्टिसे सुख-दुःख तथा हानि-लाभादिमें सम होकर युद्ध करनेसे अर्जुनके लिये पापकी अप्राप्तिका बोधन किया गया। यद्यपि उपर्युक्त धार्मिक भावोंसे युद्ध-प्रवृत्ति पापका हेतु तो नहीं होगी, तथापि वह पुण्यका हेतु अवश्य बनेगी। क्योंकि प्रत्येक धार्मिक प्रवृत्तिका फल पापकी निवृत्ति तथा पुण्यकी प्राप्ति ही होता है। और यदि पुण्यप्राप्ति कर्मका फल शेष रहा तो कर्म-बन्धनका नाश तो न हुआ, क्योंकि पुण्य भी अपने फलभोगके लिये जीवको देहके बन्धनमें ही लाता है, जिसके कारण जीवको जन्म-मरणरूप दुःखकी प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। इसलिये भगवान् अब अर्जुनको उस योगका उपदेश करते हैं, जिसमें स्थित होकर वह

पुण्य व पापरूप उभय कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जाय। जो देह व आत्म-विवेकरूप सांख्य-ज्ञान भगवान् अर्जुनको पीछे उपदेश कर आये हैं, उस ज्ञानके अपरोक्षद्वारा देहेन्द्रियमनबुद्धिमें आत्मभाव भस्म होकर अपने वास्तविक साक्षीस्वरूप आत्मामें ही अभेदरूपसे स्थित होना और देहेन्द्रियमनबुद्धिके व्यापारोंमें अहंकर्तृत्वाभिमान दग्ध होकर केवल इनके व्यापारोंका द्रष्टा होना, इसीका नाम 'योग' है जो गीताको मान्य है। केवल इसी ज्ञानके साक्षात्कारद्वारा अपने वास्तव स्वरूप आत्मामें 'योग' सम्भव है, क्योंकि इसी ज्ञानके अभावसे अज्ञान करके अपने आत्मस्वरूपसे वियोग हुआ है। अतः इसी ज्ञानके नक़द प्राप्त होनेपर वस्तुतः कर्म-बन्धनका नाश सम्भव है, क्योंकि भेद-दृष्टिके कारण केवल देहेन्द्रियादिमें अहंकर्तृत्वाभिमान करके ही कर्मका बन्धन होता है। और जब तत्त्वदृष्टिद्वारा देहेन्द्रियादि मेंसे अहंअभिमान उखड़कर अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें अहं-रूपसे स्थिति प्राप्त कर ली जाय, तब कर्म-बन्धन कहाँ और किस को? क्योंकि साक्षीस्वरूप आत्मा तो कदापि कर्ता नहीं, किन्तु केवल द्रष्टा ही है और जब वह कर्ता नहीं तो भोक्ता भी नहीं, देहाभिमानके कारण मिथ्या कर्तृत्व व भोक्तृत्व ही कर्म-बन्धन का मूल होता है। इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा आत्मस्वरूपमें स्थिति प्राप्त होनेपर वास्तविक 'योग' सिद्ध हो जाता है और कर्तृत्व-भोक्तृत्वके निर्मूल होनेपर कर्म-बन्धन वस्तुतः नष्ट हो जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें ज्ञानद्वार ही कर्म-बन्धनका प्रहाण निरूपण किया—'जिस ज्ञान करके युक्त हुआ तू कर्मबन्धनको भली भाँति काट डालेगा' कर्मद्वारा कर्मबन्धन का प्रहाण नहीं कहा (विस्तारसे पृ० १८७-१९२ देखिये)।

इसके विपरीत जो केवल निष्काम-कर्मका ही नाम 'योग'

रखा गया है वह वास्तविक 'योग' नहीं, किन्तु मिथ्या योग है और न वह अपने स्वरूपसे कर्म-बन्धनसे छुटकारा दिलानेवाला ही है। उस 'योग' का स्वरूप यह है—

(१) मैं कर्मोंका कर्ता हूँ। (२) कर्म करना ईश्वरकी ओरसे मुझपर कर्तव्य है। (३) इसीलिये मैं किसी फलकी इच्छा न रखकर अपने अधिकारके कर्म करूँ। (४) इस प्रकार फलकी सिद्धि व असिद्धिमें सम रहकर मैं ईश्वरार्पण कर्म करता हूँ।

यह तो स्पष्ट ही है कि इस योगमें प्रथम तो अनेक प्रकार से भेद हुए जो कर्मबन्धन की मूल है, विद्यमान हैं। दूसरे, कर्तृत्वका लोप न होनेसे इसमें भोक्तृत्वके बन्धनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। तीसरे, यद्यपि इसमें कर्म-फल-त्यागकी भावना अवश्य है, इसलिये पारलौकिक तो यह योग्य नहीं है, तथापि यह पुण्यका हेतु अवश्य होगा। चौथे, कर्तृत्वरूपी मूल विद्यमान रहनेके कारण फलत्यागकी भावनामात्रसे ही फलका लोप नहीं हो सकता बल्कि फलकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार आम्र-वृक्षकी मूल रहते हुए वृक्षकी कलम करनेसे फलका लोप नहीं हो जाता, किन्तु अधिक फलकी प्राप्ति होती है। क्योंकि इस योगमें फलत्यागकी भावनाका कर्ता विद्यमान है, उसका लोप नहीं है, इसलिये फलका अभाव न होकर फलवृद्धि ही होती है। इस प्रकार इस योगद्वारा जब क्रियमाण कर्म भी अपना फल रखते हैं, फिर सञ्चितके लोपकी तो वार्ता ही क्या है? इसलिये यह योग अपने स्वरूपसे ही कर्म-बन्धनको काटनेमें समर्थ नहीं है। हाँ, इस योगद्वारा अन्तःकरणकी निर्मलता होकर वैराग्य-द्वारा ज्ञानराज्यका अधिकार अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु साक्षात् अपने स्वरूपसे ही यह कर्म-बन्धनसे छुटकारा दिलानेवाला

कदापि नहीं हो सकता। (विस्तारसे पृ०-८२-८७ तथा ६०-६६ देखिये)

'तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें अभेदरूपसे स्थित होना' इस प्रथम योगको आगे चलकर 'योग' 'बुद्धि योग' 'वास्तविक योग' और 'तात्त्विक योग' नामोंसे व्यवहार किया जायगा। तथा दूसरे निष्काम-कर्म-योगको 'आधुनिक-योग' के नामसे अभिहित किया जायगा।

अब इस 'योग' का फल वर्णन करते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इस योगमें बीजका नाश नहीं है (तथा) उल्टा फलरूप दोष भी नहीं होता है, (किन्तु) इस धर्म (योग) का थोड़ा आचरण भी (जन्म-मृत्युरूप) महान् भयसे उद्धार कर देता है।

भावार्थ—आशय यह कि यदि इस योगका साधन किया गया और सिद्धि होनेसे पूर्व ही देहपात हो जाय, तो जितना कुछ भी साधन बन पड़ा है वह निष्फल नहीं जाता। किन्तु वह बीजरूपसे हृदयमें रहता है और जन्मान्तरमें फिर फूट निकलता है। इस प्रकार मोक्षरूप फल परिपक्व किये बिना इसकी समाप्ति नहीं होती, इसलिये इस योगमें बीजका नाश नहीं होता। जिस प्रकार यज्ञ-यागादि सकाम-कर्मोंमें यदि उनका विधिपूर्वक आचरण न हो तो फलकी असिद्धि ही रहती है तथा भूलसे प्रतिकूल आचरण हो जाय तो उल्टा फलरूप दोष भी हो जाता है। इसी प्रकार इस योगमें न फलकी असिद्धि है और न उल्टा फलरूप दोष ही होता है, किन्तु इस योगका थोड़ा भी आचरण अर्थात् व्यवहार जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार करनेवाला है। जिस प्रकार मनुष्य स्वप्नसे जागकर स्वप्नके अनन्त कष्टोंसे तत्काल

मुक्त हो जाता है और नकद शान्ति प्राप्त करता है, इसी प्रकार जिस क्षण यह मनुष्य उपर्युक्त सांख्य-विचारद्वारा देहादिकी अहन्ता ममतासे छूटकर अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें प्रबुद्ध हो जाय और साक्षात् यह अनुभव कर ले कि 'मैं न देह हूँ, न इन्द्रिय मन व बुद्धि हूँ, न यह मेरे हैं, किन्तु मैं तो वह अलुप्त प्रकाश हूँ, जिसके प्रकाशमें इनका भाव व अभावरूप सब व्यवहार सिद्ध होता है और जिसमें इनका और इनके धर्मोंका कोई संग नहीं' उसी क्षण जन्म-मरणरूप महान् भयसे जीवका उद्धार हो जाता है। क्योंकि वास्तवमें तत्त्व यही है, साक्षीस्वरूप आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा जन्म मरणादि सब अनर्थोंसे सोलह आने विमुक्त है। केवल अज्ञानके कारण भेद व परिच्छेद-दृष्टि करके और देहादि प्रपञ्चमें मिथ्या आत्म-बुद्धि करके ही इस जीवको स्वप्नसमान कर्तृ त्व-भोक्तृत्व एवं जन्म-मरणादिका संग हो गया था जोकि ज्ञान-जागृति आनेपर तत्काल निवृत्त हो जाता है। इसी लिये इस श्लोकमें कहा गया है कि इस योगका स्वल्प व्यवहार भी जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है, क्योंकि जिस क्षण भी यह अपरोक्ष-ज्ञान हो जाय उसी क्षण वह मुक्त है।

आधुनिक योगमें मान लिया जाय कि बीजका नाश नहीं और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, परन्तु जैसा इस श्लोकमें कहा गया है, इसका थोड़ा भी साधन अपने स्वरूपसे जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार करनेमें समर्थ नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि यह आधुनिक योग अपने स्वरूपसे जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार करनेमें कदाचित् भी समर्थ नहीं है। इसका फल केवल अन्तःकरणकी निर्मलता ही है और निर्मल अन्तःकरणमें उपर्युक्त ज्ञान जागृत होकर तथा स्वरूपस्थिति प्राप्त होकर ही महान् भयसे उद्धार सम्भव है। क्योंकि अज्ञानके कारण अपने

आत्मस्वरूपसे च्युत होकर ही इस महान् भयकी प्राप्ति हुई है, वास्तवमें यह जन्म-मृत्युरूप महान् भय उत्पन्न नहीं हुआ, जिसका किसी कर्म करके परिहार किया जाय। यदि वास्तवमें यह उत्पन्न हुआ होता, तो आधुनिक योग ही इसमें साक्षात् उपयोगी होता और वास्तविक योग निष्फल रहता, परन्तु यह महान् भय तो केवल अज्ञानजन्य ही है। और यह आधुनिक योग तो भेद-दृष्टिसंयुक्त तथा कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धियुक्त कर्मप्रधान व भावप्रधान ही है, अभेद-दृष्टिसंयुक्त तत्त्वप्रधान नहीं है। ऐसी अवस्थामें कर्म-प्रधान व भावप्रधान होनेसे न यह कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धिसे ही छुटकारा देता है और न जन्म-मरणके हेतुभूत सञ्चित व क्रिय-माण कर्म-संस्कारोंको ही दग्ध कर सकता है। बल्कि भावकी प्रधानता करके यह तो क्रियमाण कर्म-संस्कारोंकी ही निवृत्त नहीं कर सकता, फिर सञ्चित-निवृत्तिकी तो वार्ता ही क्या? (६०-६६)। क्योंकि यह सभी शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि फल जड़ कर्ममें नहीं, किन्तु केवल कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धियुक्त भाव ही फलका हेतु होता है। इस प्रकार जब फलका हेतु भाव विद्यमान है, तब क्रियमाण-संस्कार विफल कैसे होंगे? यह माना कि भाव उत्तम है, तब फल भी उत्तम होना चाहिये, न कि फलका अभाव। फलसे छुटकारा तो तभी हो सकता है, जबकि भावातीत पदमें स्थिति प्राप्त कर ली जाय। और जबकि सञ्चित व क्रियमाण-संस्कार विद्यमान हैं, तब जन्म-मरणरूप महान् भयसे छुटकारा मान लेना तो केवल मनोमोदकके तुल्य ही है। इस प्रकार यह 'आधुनिक योग' केवल अपने आचरणमात्र से जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे छुटकारा देनेमें कदाचित् समर्थ नहीं, बल्कि अपने आचरणद्वारा वास्तविक योग प्राप्त कराके ही महान् भयसे छुटकारा दिला सकता है।

इस रीतिसे 'आधुनिक योग' में इन दोनों श्लोकोंका तात्पर्य नहीं हो सकता, केवल वास्तविक योग ही इन श्लोकोंमें 'योग' शब्दसे निरूपित है।

अब इस योगमें संक्षेपसे साधनका दिग्दर्शन कराते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन! इस योग-मार्गमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है, परन्तु अनिश्चयात्मक (सकामी) पुरुषोंकी बुद्धियाँ बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं।

भावार्थ—जो पुरुष इस योगका अधिकारी है, उसके निश्चयमें सुखस्वरूप एक आत्मा ही है और उससे भिन्न सब संसार असार व दुःखरूप है। इसलिये उसकी बुद्धि सारासार-विवेकयुक्त होनेसे वह निश्चयात्मक है और वह बुद्धि एक ही है। क्योंकि अपनी सब प्रवृत्तियोंमें उसने अपना लक्ष्य केवल एक सुखस्वरूप आत्माकी प्राप्ति ही बनाया है। इस प्रकार सारासार-विवेक जागृत होनेसे अन्य तीन साधन वैराग्य, षट्-सम्पत्ति व मुमुक्षुता भी इसके अन्तर्गत ही जानना, क्योंकि अन्य तीनों साधनोंका मूल विवेक ही है। जिस प्रकार मूलसे डाली, पत्ते, फूल व फल अपने-आप निकल आते हैं, उसी प्रकार विवेक उत्पन्न होनेसे अन्य तीन भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस रीतिसे[1] साधन-चतुष्टय-सम्पन्न मुमुक्षु ही इस योगका अधिकारी जानना चाहिये। परन्तु इसके विपरीत जो अनिश्चयात्मक बुद्धि सकामी पुरुष हैं, उनकी बुद्धियाँ तो बहुत भेदवाली और अनन्त होती हैं। चाहे कुछ भी हो, प्रत्येक प्राणी अपनी सब चेष्टाओंमें एकमात्र सुख ढूँढता है, परन्तु 'सुखस्वरूप केवल आत्मा ही

१ पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिकामें इनका स्वरूप देखिये।

है' ऐसा इन सकामी पुरुषोंकी बुद्धिका निश्चय एक न होनेसे वे सुखशून्य संसारके नाना भोगोंमें ही सुखकी खोज करते रहते हैं। और अपनी-अपनी इच्छाओंके अधीन वे कभी पुत्रमें सुखको खोजते हैं तो कभी धनमें, उधरसे पिटे तो कभी स्त्रीमें सुखकी तलाश की जाती है तो कभी मांस, मदिरा, मोटर, बाग-बगीचों तथा जाति व राज-सम्मानोंमें सुख ढूँढ़ा जाता है। सारांश, 'तवेसे उतरे तो चूल्हेमें गिरे' की भाँति उनकी बुद्धियाँ बहुत भेदवाली एवं अनन्त होती हैं।

इस प्रकार 'सुखस्वरूप केवल आत्मा ही है' ऐसी सारासार विवेकवती एक निश्चयात्मिका बुद्धि ही मुख्यतया इस योग-मार्गमें साधनरूपसे कथन की गई। अब स्वर्गपर्यन्त भोगोंकी निन्दा करते हैं, जो इस योगमें प्रतिबन्धक हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

हे पार्थ! जो अविवेकी पुरुष फलश्रुतिमें ही प्रीति रखनेवाले, स्वर्गको ही परम श्रेष्ठ माननेवाले और 'इससे बढ़कर और कुछ है ही नहीं' ऐसा कहनेवाले हैं, वे सकामीजन जन्मरूप कर्मफलको देनेवाली और भोग व ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंके विस्तारवाली, इस प्रकारकी जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहते हैं, उस (पुष्पित) वाणीद्वारा जिनके

चित्त हरे हुए हैं तथा भोग-ऐश्वर्योंमें जिनकी आसक्ती है, उन पुरुषोंकी बुद्धि निश्चयात्मक होकर आत्मस्वरूपमें स्थित नहीं होती है।

भावार्थ (श्लो० ४२-४४)—वेदने जो स्वर्गलोकके भोग और ऐश्वर्योंकी महिमा वर्णन की है, उससे वेदका आशय वास्तवरूपसे इन स्वर्गभोगोंकी महिमामें नहीं है और न यही तात्पर्य है कि मनुष्य-जीवनके फलकी अवधि इन स्वर्ग-भोगोंकी प्राप्तिमात्र ही है। क्योंकि ये भोग अपनी प्राप्तिकालमें तो अतिशयता-दोष† करके युक्त होते हैं, इसलिये अपनी विद्यमानतामें ईर्षा, अभिमान एवं द्वेषादि तापसे मिश्रित होते हैं। और क्षयदोष करके युक्त होनेसे अपने नाशकालमें तो दुःखरूप हैं ही इसमें तो सन्देह ही क्या है? इसलिये वेदके वे वचन जो स्वर्गके भोगोंकी महिमामें वर्णन किये गये हैं, केवल अर्थवादरूप हैं और उन सकामी पुरुषोंके लिये उनपर अनुग्रह करके ही कहे गये हैं, जो इस लोकके भोगोंके संग्रहमें ही फँसे रहकर इसीपर अपने जीवनके उद्देश्यकी इतिश्री कर बैठे हैं। ऐसे पुरुषोंपर अनुग्रह करके वेदने स्वर्गके भोग व ऐश्वर्योंकी महिमा वर्णन की और कहा कि यदि भोग ही जीवनका लक्ष्य बनाते हो तो स्वर्ग-भोगों की प्राप्ति करो, जो इन भोगोंसे कई गुणा अधिक हैं। परन्तु वेदने स्वर्गके भोगोंकी महिमा वर्णन करते हुए अपने मनमें यह भाव गुप्त रखा था कि स्वर्ग-भोगोंके मिससे उनको इस लोकके भोगों

† एक स्वर्गवासीके भोग दूसरेसे अधिक और दूसरेके तीसरेसे न्यून होते हैं, इस प्रकार परस्पर भोगोंमें न्यूनाधिकता होती है। अधिक भोगवालेको देखकर ताप समान भोगवालेको देखकर ईर्षा और न्यून भोगवालेको देखकर अभिमान उत्पन्न होता है। इस प्रकार ये भोग अतिशय-दोषयुक्त हैं।

की वासनासे छुड़ाया जाय, 'स्वर्ग-भोग वास्तविकरूपसे सुखरूप हैं' इसकी वास्तविकतामें वेदका तात्पर्य नहीं था। जिस प्रकार माता अपने रोगी बालकको रोगनिवृत्तिके लिये कटु ओषधि पिलाना चाहती है, परन्तु बालक ओषधिकी कटुता सुन उससे भागता है। तब माता उसको लड्डू दिखाती है कि इस ओषधिके पीनेसे तुझे यह लड्डू मिलेगा। इसी प्रकार श्रुतिभगवती भोगरूपी रोगसे रोगी अपने बालकोंको त्यागरूपी कटु ओषधि पिलाना चाहती है। परन्तु त्यागरूपी ओषधिकी कटुतासे भोग-रोगी बालक भागते हैं, तब उनके लिये श्रुतिभगवती स्वर्ग-सुखोंकी महिमा लड्डूरूपसे गायन करती है। जिस प्रकार ओषधिका फल लड्डू नहीं है, किन्तु रोग-निवृत्ति ही है, इसी प्रकार स्वर्ग-भोगोंकी महिमाका आशय अपनी वास्तविकतामें नहीं, किन्तु सांसारिक भोग-कामनाके त्यागद्वारा जन्म-मरणरूपी रोग-निवृत्तिमें ही श्रुतिका तात्पर्य है। इसीको 'गुड़-जिह्वा न्याय' कहा जाता है। परन्तु वे सकामी अविवेकी जन श्रुतिभगवतीके इस यथार्थ आशयको न जान इन अर्थवादरूप वचनोंको ही यथार्थरूपसे ग्रहण कर लेते हैं कि 'बस, इससे बढ़कर और कुछ है ही नहीं, मनुष्य-जीवनका फल एकमात्र स्वर्गके भोगोंकी प्राप्ति ही है।' और वे ऐसी बहुत-सी क्रियाओंका विस्तार करते-कराते हैं, जिनका फल जन्म-मरणके सिवा और कुछ नहीं होता और जीव उनके आवेश में आकर दरिद्री-का-दरिद्री ही रहता है।

इस प्रकार स्वर्गपर्यन्त भोग रोगरूप हैं और क्षय-अतिशय दोषयुक्त होनेसे दुःखरूप ही हैं तथा जन्म-मरणरूप संसारके ही हेतु हैं, सुखस्वरूप तो केवल आत्मा ही है। अब योगमें इनकी प्रतिबन्धकता वर्णन करते हैं—

भावार्थ (श्लो० ४४)—जिस प्रकार उलूक पक्षीको दृष्टि-दोष से सूर्य अन्धकाररूप भासता है। जब उसकी दृष्टिमें सूर्य अन्धकाररूप है, तब सूर्यमें उसकी प्रीति भी नहीं होती। सूर्यकी प्राप्तिके लिये सबसे पहले उसकी बुद्धिमें यह निश्चय होना चाहिये कि वह प्रकाशरूप है। फिर उसकी सूर्यमें प्रीति उत्पन्न होनी चाहिये। तत्पश्चात् उसकी प्राप्तिकी अभिलाषा होनी चाहिये तथा उसकी प्राप्तिका साधन होना चाहिये, तब वह सूर्यको प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार सूर्यकी प्राप्तिमें सबसे प्रथम यह आवश्यक है कि उसकी बुद्धिमें यह निश्चय हो कि 'सूर्य प्रकाशरूप है। इसके विपरीत यदि उसकी अन्धकारमें ही प्रकाश-बुद्धि हो रही है, तब वह कदापि सूर्यकी ओर अग्रसर नहीं हो सकता।

ठीक, इसी प्रकार सुखस्वरूप आत्माकी प्राप्तिके लिये सब से पहले यह आवश्यक है कि जीवकी बुद्धिमें यह निश्चय हो कि 'आत्मा सुखस्वरूप है और संसार दुःखरूप है।' तत्पश्चात् उसकी आत्मामें प्रीति, उसकी जिज्ञासा, उसकी प्राप्तिका साधन और उसकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु उलूक पक्षीके तुल्य जिन पुरुषोंकी विपरीत बुद्धिमें अन्धकार व दुःखरूप भोग-ऐश्वर्य ही प्रकाश व सुखरूप हैं उनके लिये तो सुखस्वरूप आत्मामें स्थिति पाना असम्भव ही है। इसी लिये भगवान्‌का वचन है कि पुष्पित वाणीद्वारा जिनके चित्त हरे हुए हैं और भोग व ऐश्वर्योंमें ही जिनकी आसक्ति है, ऐसे पुरुषोंकी न यह निश्चयात्मिका बुद्धि ही होती है कि आत्मा सुखस्वरूप है, न उनकी आत्मामें प्रीति, न जिज्ञासा और न साधन ही हो सकता है, फिर सुखस्वरूप आत्मामें न उनकी बुद्धि ही स्थित हो सकती है।

इस प्रकार स्वर्गपर्यन्त दुःखरूप भोगोंकी निन्दा करके

सुखस्वरूप आत्मामें स्थितिरूप योग प्राप्त करनेके लिये अर्जुनको उपदेश करते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन ! (कर्मकाण्डात्मक) वेद तीनों गुणोंके कार्यरूप संसार को ही विषय करनेवाले हैं, (इसीलिये) तू त्रिगुणातीत (असंसारी) हो और (सुख-दुःखादि) द्वन्द्वोंसे मुक्त, नित्य वस्तुमें स्थित तथा योगक्षेमसे निश्चिन्त होकर आत्मपरायण हो।

भावार्थ—कर्मकाण्डात्मक वेद त्रिगुणरचित संसारको ही विषय करनेवाले हैं तथा स्वर्गादि सब लोक तीनों गुणोंके ही कार्य हैं और गुणोंके कार्य होनेसे सुख-दुःख एवं जन्म-मरणादिके ही हेतु हैं। क्योंकि जो कुछ भी गुणोंद्वारा रचा जाता है वह उत्पत्ति-नाशरूप विकारवान् ही होता है, गुणोंका कार्य निर्विकार नहीं हो सकता, क्योंकि गुण आप विकाररूप ही हैं। इसलिये अर्जुन! तू तो निस्त्रैगुण्य हो। अर्थात् सत्त्वगुणका कार्य बुद्धि, रजोगुणका कार्य मन व इन्द्रियाँ तथा तमोगुणका कार्य स्थूल शरीर, इनमें अहन्ता-ममतासे छूटकर गुणातीत आत्मपदमें स्थित हो। सब द्वन्द्वोंकी मूल देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादिमें मिथ्या आत्म-बुद्धि ही है। अज्ञानसे इनमें अहन्ता-बुद्धि करके ही मनुष्य इनके धर्मोंका धर्मी और इनके कर्मोंका कर्मी बनकर सब द्वन्द्वोंसे बन्धायमान हो जाता है। इस लिये तू तो सांख्यज्ञानके विचारद्वारा इन देहादिकी अहन्ता-ममतासे निकलकर निर्द्वन्द्व हो और नित्य वस्तु अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हो। इस प्रकार योग-क्षेमकी चिन्तासे मुक्त हुआ आत्मपरायण हो, अर्थात् यह धारणा करके कि 'न मैं देह हूँ, न इन्द्रियाँ, मन या बुद्धि हूँ, किन्तु मैं तो वह अधिष्ठान हूँ जिसके आश्रय आभासरूप इन देहादिकोंका भास होता है।'

इससे स्पष्ट है कि आधुनिक योगीमें इन सभी लक्षणोंकी अव्याप्ति* है, क्योंकि कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धियुक्त होनेसे देहादिमें उसकी अहंबुद्धि निश्चित है। और जब इन देहादिमें उसकी आत्मबुद्धि हुई, तब उसका त्रिगुणातीत व निर्द्वन्द्व होना सर्वथा असम्भव ही है। यद्यपि वह अपनी भावना करके सुख-दुःखादि में और फलकी सिद्धि-असिद्धिमें समता धार रहा है, तथापि द्वन्द्व-रूप देहादिमें अहंबुद्धि रहते हुए वह वस्तुतः निर्द्वन्द्व हो नहीं सकता। फिर ऐसी अवस्थामें वह नित्य वस्तुमें स्थित, निर्योगक्षेम तथा आत्मवान् तो हो ही कैसे सकता है? यद्यपि उसकी यह भावना पवित्र है और वास्तविक योगमें सहायक है, परन्तु गीता-दृष्टिसे केवल भावनामात्र योग 'योग' नहीं हो सकता, किन्तु तात्त्विक योग ही 'योग' है।

इसीको विशेषरूपसे कथन करते हुए योगकी महिमा वर्णन करते हैं, जिसकी प्राप्तिसे सब बन्धन छूट जाते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त होनेपर (मनुष्यका) छोटे जलाशयमें जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको अपरोक्षरूपसे जाननेवाले ब्राह्मणका भी सब वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रह जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य किसी बहुत छोटे जलाशयको प्राप्त करके केवल जलपान ही कर सकता है, स्नानादि क्रिया नहीं कर सकता। यदि इससे कुछ बड़ा जलाशय प्राप्त हो जाय तो पात्रद्वारा स्नान भी कर लेता है, खुला तैर नहीं सकता। परन्तु सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर तो पान व

* पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिकामें इसका लक्षण देखिये।

स्नानादि सब व्यवहारकी सिद्धि भली भाँति हो जाती है, फिर उस को किसी अन्य छोटे-मोटे जलाशयकी आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार यद्यपि वेदोक्त सकाम-कर्मोंमेंसे किसी कर्मद्वारा ऐह-लौकिक भोग-ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है और किसी कर्मद्वारा इससे अधिक पारलौकिक भोग-ऐश्वर्योंकी प्राप्ति हो जाती है, तथापि वेदोक्त कर्मोंद्वारा ऐसे निर्विषयक सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती, जिससे अधिक और कोई सुख न हो। परन्तु जिसने सब सुखोंके समुद्र ब्रह्मसुखको प्राप्त कर लिया है और उसमें अभेदरूपसे स्थित हो गया है, ऐसे ब्रह्म-ज्ञानी ब्राह्मणको तो किसी प्रकार वेदोक्त कर्मोंकी और तज्जन्य भोग-ऐश्वर्योंकी आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि उसने उस सुखसमुद्रको प्राप्त किया है, जिस सुखके कणमात्रसे उभय लोकके सब भोग-ऐश्वर्य सुखरूप हो रहे हैं और जिस करके सब जीव जीते हैं। कहना चाहिये कि उभय लोकके भोग-ऐश्वर्योंमें अपनी कोई सुन्दरता नहीं है, किन्तु उस सुखरूप व सुन्दररूपकी सत्तामात्रसे ही ये सब असुन्दर भी सुन्दर भास रहे हैं, जिसको इस ब्राह्मणने साक्षात् अपरोक्ष कर लिया है। अतः जिस प्रकार परिपूर्ण जलाशयके पा लेनेपर छोटे जला-शयोंकी आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार इस ब्राह्मणको वास्त-विक लक्ष्य प्राप्त हो जानेसे सब वेदोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता।

जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह दोनों तटोंकी मर्यादामें चलता हुआ समुद्रमें मिलकर समुद्ररूप ही हो जाता है, फिर उसके लिये तटोंका कोई बन्धन नहीं रहता। तटोंका बन्धन तो इसी लिये था कि यह समुद्रमें मिलकर तटोंके बन्धनसे मुक्त हो जाय; इसी प्रकार जीव-नदीका प्रवाह वेदके विधि-निषेधरूप दोनों तटों की मर्यादामें इसीलिये चलाया गया था कि वह निर्विघ्नतया ब्रह्म-समुद्रमें मिलकर ब्रह्मरूप हो जाय और अपने-आप

अमर्यादित होकर वेद और वेदके विधि-निषेधोंसे छूट जाय। तथा जिस प्रकार धान्यकी प्राप्ति होती तो भूसेसे ही है और भूसे बिना वह असम्भव ही है, परन्तु धान्य प्राप्त कर लेनेपर भूसेसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता और वह निस्सार जान परित्याग कर दिया जाता है। उसी प्रकार सब सुखोंके समुद्र ब्रह्मसुखकी प्राप्ति भी यद्यपि होती तो वेदसे ही है, वेदोक्त कर्म बिना तो ब्रह्म-प्राप्ति असम्भव ही है, तथापि ब्रह्म-प्राप्ति हो जानेपर फिर वेदका कोई प्रयोजन नहीं रहता। जिस प्रकार वैद्य व ओषधि उस समयतक ही उपयोगी रहते हैं, जबतक रोगसे मुक्ति नहीं होती, रोगमुक्त होनेपर वैद्य व ओषधि स्वत ही निष्प्रयोजन हो जाते हैं।

इस रीतिसे श्लोक ३९ से ४६ पर्यन्त वास्तविक योग, उसका फल और उसकी प्राप्तिमें उपयोगी व्यवसायात्मिका बुद्धिका निरूपण किया गया तथा उसमें प्रतिबन्धकरूप उभय लोकके भोग-ऐश्वर्योंकी निन्दा करके उस योगकी महिमा वर्णन की गई, जिसमें स्थिति पा लेनेपर पुरुष लोक व वेदसे निस्पृह होकर उनके सब बन्धनोंसे विनिर्मुक्त हो जाता है। अब भगवान् अर्जुन को उद्देश्य करके उसके प्रति कम-से-कम यह कर्तव्य कथन करते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

तेरा कर्म करनेमात्रमें ही अधिकार है, फलमें कदापि नहीं, अतः तू कर्म-फलकी वासनावाला (भी) न हो (तथा) कर्म न करनेमें (भी) तेरी आसक्ति न हो।

भावार्थ—अर्जुन! कम-से-कम स्वधर्मानुसार कर्म करने में ही तेरा अधिकार है कि तू अपने कर्तव्य-कर्म युद्धमें प्रवृत्त हो। इस प्रकार कर्म तो तेरे अधिकारकी वस्तु है सो तू कर-

परन्तु फल तेरे अधिकारकी वस्तु नहीं है। फल जैसा प्रकृतिमें भवितव्य होगा वह हो जायगा। तुझको उस ओर दृष्टि डालना कर्तव्य नहीं है कि युद्ध करनेसे वर्णसंकरादि प्रजाकी उत्पत्ति-रूप अमुक-अमुक अमङ्गलोंकी प्राप्ति होगी। भविष्यत्‌में जो कुछ परिणाम प्रकृतिमें रचा गया होगा उसकी जुम्मेवारी प्रकृतिपर है, तुझपर नहीं। तुझको तो अपने वर्तमान धार्मिक कर्तव्यकी ओर ही दृष्टि रखना चाहिये। इस लिये फलकी ओर दृष्टि न करके फलासक्तिकी गन्धमात्र भी तेरेमें न रहनी चाहिये, क्योंकि फलकी ओर दृष्टि देनेसे मनुष्य अपने धार्मिक कर्तव्यसे च्युत हो जाता है। जिस प्रकार लक्ष्य-भेदन करते समय यदि तीर चलानेवालेकी दृष्टिमें फल-कामना समाई हुई हो, तो रजोगुणी कामना करके उसका हाथ हिल जायगा और वह अवश्य अपने लक्ष्यसे च्युत हो जायगा। इस लिये तेरी दृष्टि न फलोंमें ही रहनी चाहिये और न कर्मत्यागमें ही तेरी आसक्ति होनी चाहिये। क्योंकि कर्तव्य-कर्मका त्याग सात्त्विक नहीं, तामसिक ही है (अ० १८ श्लो० ७), जिसका कोई शुभ फल नहीं, किन्तु अशुभ ही है। तुझको तो केवल अपने धार्मिक कर्तव्यकी ओर दृष्टि रखकर और अपने शरीरको केवल मशीनके रूपमें बनाकर प्रकृतिके हाथों सौंप देना चाहिये।

इस प्रकार फलाभिसन्धानरहित कर्तव्य-कर्मकी कर्तव्यता निरूपण करके और वहीं खड़े न रहकर योगयुक्त कर्मका अधिक गौरव वर्णन करते हैं—

> योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनञ्जय ! योगमें स्थित हुआ (कर्तृत्व) संगको त्यागकर सिद्धि व असिद्धिमें समान हुआ कर्मोंको कर, (क्योंकि) समत्व

मात्र ही योग (नामसे) कहा जाता है।

भावार्थ—जबकि उपर्युक्त रीतिसे कर्म कर्तव्य रहा और कर्मत्याग अकर्तव्य सिद्ध हुआ तब धनञ्जय! क्या ही अच्छा हो कि तू अपने आत्मस्वरूपमें योग प्राप्त करके कर्ममें प्रवृत्त हो और देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादिसे असंग हुआ कर्तृत्वाभिमानसे ही छुटकारा पा लेवे। सभी विषमता व बन्धनोंकी मूल देहेन्द्रियादि में यह अहंकर्तृत्वाभिमान ही है। कर्मफल-त्यागकी भावनासे यद्यपि रजोगुणकी निवृत्ति होती है जिससे इधर तो कर्म निर्दोष व सफल होता है और उधर कोई प्रत्यवाय भी नहीं होता। तथापि देहेन्द्रियादिमें अहंकर्तृत्वाभिमान विद्यमान रहनेसे कर्म का पुण्यरूप फल अवश्य होता है, जोकि अपनी विद्यमानतामें संसारका ही हेतु बन जाता है। परन्तु इस ज्ञानयुक्त कर्म करने से कि 'मैं न देह हूँ, न इन्द्रियाँ मन या बुद्धि हूँ, किन्तु मैं तो वह साक्षीस्वरूप प्रकाश हूँ जिसके प्रकाशमें इनका सब व्यवहार होता है इस लिये मैं कर्ता नहीं, किन्तु मैं तो केवल द्रष्टा ही हूँ' कर्मका बन्धकत्व ही निवृत्त हो जाता है। यह ज्ञान कोई भाव-नामात्र नहीं किन्तु यही तथ्य है। वास्तवमें साक्षी कर्ता नहीं केवल द्रष्टा ही है। इस प्रकार जब देहेन्द्रियादिसे संग छूटा तब फल किसको मिले और क्या मिले? फलका हेतु तो इन देहादिमें अहं-अभिमान ही था, साक्षीको तो कभी कोई शुभा-शुभ फल मिल ही कैसे सकता है? जैसा लोकमें भी प्रसिद्ध है कि साक्षी सर्वथा अदण्ड्य है। केवल इसी ज्ञानके प्रभावसे स्वाभा-विक फलकी सिद्धि व असिद्धिमें समता आ जाती है, क्योंकि फलमें आसक्तिका हेतु यह अहं-अभिमान ही होता है जो इस ज्ञानसे कण्टकी भाँति निकल जाता है। सत्ता-सामान्यरूप आत्मा जो सबमें समरूपसे स्थित है और सबकी अपनी आत्मरूप

सत्ता है, जैसे जल सब विषमरूप तरङ्गोंमें समरूपसे स्थित है और सब तरङ्गोंकी अपनी आत्मरूप सत्ता है; तत्त्वसाक्षात्कार-द्वारा उस सत्ता-सामान्यमें स्थितिका नाम ही 'योग' है॥ (विस्तार पृ० १५२-१५६ पर देखिये)

इस प्रकार योगयुक्त कर्मकी सर्वोत्कृष्टता वर्णन की गई, अब सकाम कर्मकी अत्यन्त निकृष्टता वर्णन करते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४६॥

हे धनञ्जय ! (इस) बुद्धियोग (वास्तविक योग) से (सकाम) कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं, (इसलिये) बुद्धियोगका आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फलकी वासनावाले दीन हैं।

भावार्थ—कामना रजोगुणका परिणाम है और रजोगुण अपने स्वभावसे ही चञ्चलरूप है। इसलिये सकाम कर्मके साथ रजोगुणी कामना रहनेसे वह अपने आचरण कालमें भी चित्त को चञ्चल रखती है और फल विफल न हो जाय, इस विचारसे भयका हेतु भी रहती है। इसके सिवा जहाँ कामना है वहाँ दीनता भी अवश्य होती ही है। इस प्रकार सकाम कर्म अपने आचरण कालमें चञ्चलता, भय एवं दीनताके कारण किसी प्रकार सुखका हेतु नहीं, किन्तु केवल दुःखका ही हेतु होता है। तथा प्रकृतिमें यह नियम बनाया गया है कि जबतक हृदयमें रजोगुणी कामना व भय भरे हुए रहेंगे, वे कर्ममें कभी सफलता न होने देंगे, बल्कि अवश्य विफलता ही पल्ले पड़ेगी, क्योंकि सफलता में ये दोनों ही प्रतिबन्धक हैं। प्राकृतिक नियमानुसार कर्ममें जब कभी सफलता प्राप्त होती है, तब उसी कालमें होती है जबकि हृदयमेंसे रजोगुण निकलकर सत्त्वगुण भरा हुआ हो, अथवा फल-कामनासे चित्त निराश हो चुका हो। इस प्रकार सकाम

कर्मद्वारा यदि फलकी सिद्धि हुई भी तो फल उतना ही मिलेगा जितनी मज़दूरी की गई है, मज़दूरीसे अधिक कुछ नहीं मिल सकता। इस लिये वह सकाम कर्म किसी ऐसे पुण्यका हेतु नहीं जिससे अन्तःकरणकी निर्मलता हो, केवल मज़दूरकी मज़-दूरी ही है। यदि फल प्राप्त हुआ भी तो वह स्वभावसे ही नाश-वान् होगा, जो अपने नाशकालमें सुखकी अपेक्षा कई गुणा अधिक दुःखका हेतु होगा। इसके साथ ही जिस कर्मद्वारा काम्य वस्तु की प्राप्ति की गई है, वह तो अवश्य अपने शुभाशुभ फलभोग के लिये जीवको जन्म मरणके बन्धनमें लायेगा ही। इस प्रकार सकाम कर्म अपने आरम्भ व परिणाममें दुःख-ही-दुःखका हेतु होता है।

इसके विपरीत योगयुक्त कर्म, कोई कामना न होनेसे वर्तमान में तो केवल विनोदमात्र ही है तथा रजोगुण न होनेसे फलकी सिद्धिमें कोई प्रतिबन्धक भी नहीं और कर्तृत्वाभिमान न होनेसे जन्म-मरणरूप बन्धनका हेतु भी नहीं होता। इस प्रकार बुद्धियोग तीनों अवस्थाओंमें आनन्दरूप है, इसकी अपेक्षा सकाम कर्म अत्यन्त निकृष्ट है।

इस प्रकार कर्माचरणकी विधि तीन प्रकारसे बतलाई गई-

(१) फल-वासनारहित कर्तव्य-कर्म (श्लोक-४७, आधुनिक-योग)

(२) कर्तृत्व-संग-त्यागरूप योगयुक्त कर्म (श्लोक-४८, तात्त्विक योग)।

(३) फल-कामनासहित सकाम कर्म (श्लो० ४९)। इनमेंसे सकाम कर्मको अत्यन्त निकृष्ट और योगयुक्त कर्मको सर्वोत्कृष्टरूपसे वर्णन किया गया। अब इसी योगयुक्त कर्मकी महिमा वर्णन करते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य व पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है, इस लिये (बुद्धि) योगमें जुड़, कर्ममें कौशलताका नाम ही योग है।

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मस्वरूपके अज्ञानके कारण भेद-दृष्टि करके देहेन्द्रियमनबुद्धयादिमें आत्मबुद्धि करता है और इनके धर्मोंका धर्मी तथा इनके कर्मोंका कर्मी बनता है, तब कर्तव्य-बुद्धि करके जैसी-जैसी भावना धारकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, उस अपनी शुभाशुभ भावनाके अनुसार ही पुण्य व पापका अधिकारी बनता है। पुण्य-पापकी उत्पत्तिमें इससे भिन्न और कोई हेतु नहीं हो सकता। परन्तु इस बुद्धियुक्त पुरुष (वास्तविक-योगी) ने तो तत्त्वदृष्टिद्वारा हृदयमें ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित करके अज्ञान एवं तज्जन्य भेद-दृष्टिको भस्म कर दिया है। इसलिये देहेन्द्रियमनबुद्धयादिमें इसकी आत्मबुद्धि न रहकर अब यह अपने सर्वसाक्षी आत्मस्वरूपमें ही आत्म-रूपसे स्थित हो गया है। अब यह न इन देहेन्द्रियादिके धर्मों का धर्मी है और न इनके कर्मोंका कर्मी, बल्कि सब कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धिसे विमुक्त हुआ इन देहेन्द्रियादिके धर्म-कर्मोंका केवल द्रष्टा-साक्षी ही रहता है। इसलिये अपने कर्मोंमें वस्तुतः कोई भावना न रहनेके कारण अब यह किसी पुण्य-पापसे लेपायमान नहीं होता। जिस प्रकार गन्दले गड्ढेके अन्तःस्थित आकाश किसी प्रकार मलिन नहीं होता, बल्कि ज्यों-का-त्यों निर्मल ही रहता है, उसी प्रकार यह अपनी पवित्र दृष्टिसे पुण्य-पापादि मलसे नित्य-निर्मल ही रहता है और इसी लोकमें पुण्य-पापादिसे छुटकारा पा जाता है। अन्य पुरुष

अपनी अज्ञान-निद्रामें अपनी मलिन दृष्टिसे अपनेमें, अन्यमें अथवा इस महापुरुषमें पुण्य-पापादिकी कल्पना पड़े किया करें. परन्तु इसने तो अपनी तात्त्विक निर्मल दृष्टिके प्रभावसे पुण्य-पापादिको संसारमेंसे ही इसी प्रकार मार भगाया है, जिस प्रकार सूर्यके उदय हुए अन्धकारका पता भी नहीं चलता कि कहाँ गया ? इस रीतिसे यह अपनी असंगताके कारण देहादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी वास्तव अकर्ता ही है, किसी प्रकार कर्म-बन्धनमें नहीं आता। इसी कर्म-कौशलताका नाम 'योग' है।

इसके विपरीत आधुनिक योगी तो अभी अज्ञान व भेद-दृष्टिसंयुक्त है, देहेन्द्रियादिमें अहंबुद्धि रखता है, इनके धर्म-कर्मोंका कर्ता है तथा कर्तव्य-बुद्धि भी धारे हुए है। हाँ, केवल इतना भेद है कि कर्तव्य स्वार्थमय न होनेसे फलत्यागकी भावना-वाला है। इस प्रकार सभी अज्ञानकी सामग्री रहते हुए केवल फल-त्यागकी भावनामात्रसे वह पुण्य व पाप दोनोंके बन्धनोंसे विमुक्त नहीं हो सकता। यद्यपि भावना शुभ होनेसे पाप तो नहीं है तथापि पुण्य अवश्य है, जबतक कि वह इस योगमेंसे होकर और आगे बढ़कर वास्तव योगमें स्थित न हो जाय। (विस्तार पृ० १५६-१५८ पर देखिये)।

इसीका विशेष कथन करते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

बुद्धियोगयुक्त ज्ञानीजन कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्याग कर जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूटे हुए अमृतमय परमपद को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—फल जड़ कर्ममें नहीं है, किन्तु कर्ताकी भावना ही

फलका हेतु होती है। ग्रहण अथवा त्यागरूप जैसी-जैसी भावना होगी वैसा-वैसा ही फल होगा। अर्थात् जितनी-जितनी स्वार्थ-मयी ग्रहणरूप भावना अधिक होगी, उतना-उतना ही निकृष्ट दुःखरूप फलकी प्राप्ति होगी और जितनी स्वार्थरहित तथा त्याग-मयी भावना अधिक होगी, उतना ही पवित्र सुखरूप फलकी प्राप्ति होगी। इस रीतिसे फलका हेतु भावना ही है, केवल कर्म नहीं। यदि केवल कर्म ही फलका हेतु होता हो तो पशु-पक्षीको भी अपनी योनिमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोका फल होना चाहिये। परन्तु किसी भी श्रुति-स्मृत्यादि ग्रन्थोंमें उन योनियोंमें किये गये कर्मोंका फल वर्णन नहीं किया गया। इसका कारण यही है कि यद्यपि उन योनियोंमें कर्म तो अनर्गल होते हैं, तथापि भावना न होनेके कारण वे किसी फलके हेतु नहीं होते। भावना अन्तःकरणका धर्म है और उन पशु-पक्षी आदि योनियोंमें अन्तःकरण पञ्चकोशोंके पूर्ण विकासके अभावके कारण वस्तुतः जागृत नहीं होता, किन्तु अन्तःकरणकी सुषुप्त अथवा स्वप्न अवस्था ही रहती है। इस लिये अन्तःकरणकी जाग्रतिके अभावसे उन योनियोंके कर्म भावनाशून्य रहते हैं, इसी लिये उनका कोई फल भी नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि फल केवल अन्तःकरणकी भावनामें ही है, कर्म अपने स्वरूपसे किसी फलके हेतु नहीं होते।

ये बुद्धि-योगयुक्त ज्ञानीजन (वास्तविक योगी) तो जीते-जागते ही अपनी तत्त्वदृष्टिद्वारा देहेन्द्रिय तथा अन्तःकरणरूपी दलदलसे निकलकर अपने सर्वसाक्षी आत्मस्वरूपमें सोलह आने स्थित हो चुके हैं। इसलिये अन्तःकरण और उसके धर्मोंसे असंग हुए कोई भावना ही नहीं रखते और ज्ञानाग्निसे सब भावनाओंको पूर्णतया भस्म कर चुके हैं, जिनका दग्ध रज्जुके समान केवल आकारमात्र तो है, परन्तु किसी बन्धनके योग्य नहीं। इस प्रकार

भावनाविनिर्मुक्त हुए केवल ये ही कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलसे छूटे हुए हैं, ये ही देहादिसे असंग हुए जीते-जागते 'जन्मबन्ध-विनिर्मुक्त' हैं और अमृतपदको प्राप्त हो चुके हैं।

इससे विपरीत आधुनिक योगी तो अन्तःकरणके धर्म-कर्मका कर्ता होनेसे कर्मफलत्यागकी भावनासंयुक्त है और उस फलत्यागकी भावनाका कर्ता भी है। इस लिये अपनी विद्यमान स्थितिमें कर्म-फलसे विनिर्मुक्त नहीं हो सकता। हाँ, इस साधन-द्वारा साधनसम्पन्न होकर और उस तात्त्विक योगद्वारा अन्तःकरण तथा इसके धर्मोंसे असंग होकर भावातीत पदमें स्थित हुआ कर्मफलसे विमुक्त हो जायगा, परन्तु अपनी वर्तमान अवस्थामें ही कदापि नहीं।

(शङ्का)—उसने केवल फल-त्यागकी ही भावना नहीं की, बल्कि 'मैं कर्ता हूँ' इस भावनाका भी त्याग किया है और 'सर्व-कर्ता भगवान् ही हैं, मैं कुछ नहीं करता वह ऐसी महान् पवित्र भावनासंयुक्त भी है फिर उसके लिये फल कहाँ ?

(समाधान)—तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा अपने सर्वसाक्षी आत्म-स्वरूपमें स्थित होकर वह अभी देहेन्द्रिय तथा अन्तःकरणसे असंग नहीं हुआ है, इसलिये अपना और भगवान्‌का भेद देख रहा है। तथा अन्तःकरणसे अभिन्न हुआ 'मैं कुछ नहीं करता, सर्वकर्ता भगवान् ही हैं' इस भावनाका कर्ता भी बना हुआ है, इस लिये अभी फल-विनिर्मुक्त नहीं हो सकता। हाँ, भावना उच्चतर होनेसे फल अधिक पवित्र होगा, परन्तु फलशून्य नहीं। यह भावना यद्यपि वास्तविक योगके सन्निकट है, तथापि कर्म-फलविनिर्मुक्तिकी सिद्धि तो वहाँ पहुँचकर ही होगी, यहाँ डेरे डालनेसे काम न चलेगा (विस्तार पृ० १४६-१५२ पर देखिये)।

अब किस प्रकार और किन-किन प्रतिबन्धकोंसे छूटकर बुद्धि-

योगमें स्थिति प्राप्त करनी होगी, यह दो श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको सर्वथा तर जायगी, तब तू सुननेयोग्य और सुने हुएके वैराग्यको प्राप्त होगा ।

भावार्थ—मोहरूप दलदल ही आत्मस्थितिमें प्रतिबन्धक है और इससे छूटकर ही आत्मस्वरूपमें योग सम्भव हो सकता है। कर्तृत्व व कर्तव्य-विनिर्मुक्त आत्मामें 'मैं कर्ता हूँ और मुझपर अमुक कर्तव्य है' ऐसा कर्तृत्वादि आरोप करना और देहेन्द्रियादिसे असंग आत्मामें देहादिसंगकी कल्पना करना, यही एक मूलरूपी मोह-दलदल है । इसीके कारण देहादिमें अहन्ता और देह-सम्बन्धीमें ममताका अभिमान उत्पन्न होता है । फिर इसीके कारण भेददृष्टि करके किसीमें अनुकूल और किसीमें प्रतिकूल बुद्धि होती है । तब अनुकूलमें राग, प्रतिकूलमें द्वेष और फिर राग-द्वेषसे पुण्य-पाप, जन्म-मरण तथा सुख-दुःखादि सब अनर्थों की उत्पत्ति होती है ।

इस प्रकार सब अनर्थ इसी मूलरूप मोह-दलदलकी शाखायेँ हैं । इसी मूलको ज्ञानरूप कुठारसे काटनेपर सब अनर्थोंसे छुटकारा सम्भव है, कर्मद्वारा यह मूल कभी नहीं काटी जा सकती ।

इसी रीतिसे अर्जुन ! जब तू भली भाँति इस मोहरूपी दलदलसे तर जायगा, तब अपने आत्मस्वरूपमें योग प्राप्त करेगा । और तब जो कुछ आत्मस्वरूपके विषयमें तूने सुना है, अथवा सुननेयोग्य है, वह सब तुझे फीका मालूम होगा और उससे वैराग्यको प्राप्त होगा । क्योंकि किसी शब्द अथवा अर्थ की उस आत्मस्वरूपमें साक्षात् गम नहीं है, वहाँतक कोई न पहुँचकर सब शब्द व अर्थ वरे ही रह जाते हैं ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

जब अनेक प्रकारके वेदसिद्धान्तोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि आत्मस्वरूपमें अचल स्थिर हो जायगी, तब तू योगको प्राप्त होगा ।

भावार्थ—एक श्रुति कुछ कहती है दूसरी कुछ और, इसी प्रकार स्मृतियों तथा मुनियोंके वचनोंमें भी परस्पर भेद ही देखनेमें आता है। यद्यपि स्थूल दृष्टिसे श्रुति, स्मृति एवं मुनियों के वचनोंमें परस्पर भेद प्रतीत होता हो, तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे उनमें परस्पर कोई भेद नहीं और सभीका तात्पर्य केवल 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' (अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा नहीं) बोधनमें ही है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंके सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि कि 'यह सत्य है या वह सत्य है' जब साधनसम्पन्न होकर अपने सूक्ष्म विचारद्वारा सब भेदोंको दूर करके अपने आत्मस्वरूपमें अचल स्थित हो जायगी, अर्थात् आत्मामें कुछ बनता हुआ न देखेगी, तब तू योगको प्राप्त होगा और मोहरूपी दलदलको तर जायगा। इससे स्पष्ट है कि विवेक-वैराग्यादि साधनसम्पन्न बुद्धि ही केवल विचारद्वारा आत्मस्वरूपमें योग प्राप्त कर सकती है, कर्मकी वहाँ गम्य नहीं है । (विस्तार पृ० १६१-१६६ पर देखिये)।

भगवान्‌के इन वचनोंको सुनकर अर्जुन पूछता है—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोला—हे केशव ! समाधिमें स्थित स्थिरबुद्धिवाले पुरुषका क्या लक्षण है ? स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ?

अब भगवान् अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त साधनसहित स्थित-प्रज्ञके लक्षण वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! जिस समय (यह पुरुष) मनोगत सब कामनाओंको त्याग देता है और आत्मामें आत्मा करके ही सन्तुष्ट रहता है, उस समय स्थिरबुद्धि कहा जाता है ।

भावार्थ—कामना तभी होती है, जबकि काम्य वस्तु अपने से भिन्न तथा सत्यरूप प्रतीत हो, मिथ्याबुद्धि करके तो कामना होवे ही कैसे ? जिस प्रकार स्वप्नसे जागा हुआ पुरुष स्वप्नके काम्य पदार्थोंकी कदाचित् कामना नहीं करता, क्योंकि उसने यह साक्षात् अपरोक्ष कर लिया है कि काम्य पदार्थ न मुझसे भिन्न था और न सत्य ही था, किन्तु मैं ही अपनी कल्पनामें काम्य पदार्थ बन रहा था । इसी प्रकार यह स्थितप्रज्ञ अपने आत्मामें जागा है, काम्य पदार्थोंमें उसकी सत्यता बुद्धि स्वप्नके समान निवृत्त हो गई है और उसने साक्षात् निश्चय किया है कि यह सब संसार मेरी ही कल्पना है, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है । इस प्रकार काम्य वस्तुके अभावसे उसकी कामना स्वतः ही निवृत्त हो जाती है और वह सुखस्वरूप अपने आत्मामें आत्मा करके ही सन्तुष्ट रहता है, पदार्थों करके नहीं । क्योंकि पदार्थोंमें सुखबुद्धि भ्रमरूप थी, जोकि आत्मस्थिति प्राप्त होनेसे निवृत्त हो चुकी ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

[तथा] जिसका मन दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेगरहित है, सुखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसकी आसक्ति निवृत्त हो गई है और जिसके राग, भय एवं क्रोध दूर हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

भावार्थ—अपने आत्मस्वरूपके अज्ञानके कारण देहमें अहंबुद्धि करके ही अनुकूल विषयकी प्राप्ति होनेपर सुख और उनमें आसक्ति होती है तथा प्रतिकूल विषयकी प्राप्ति होनेपर दुःख व उद्वेग होता है । इसी देहात्मबुद्धि करके अनुकूल विषयसे राग और प्रतिकूल विषयसे भय एवं क्रोधादि उत्पन्न होते हैं । परन्तु इस स्थितप्रज्ञने तो आत्मस्थिति प्राप्त करके 'देहोऽहम्' इस बुद्धिको ज्ञानाग्निसे साक्षात् दग्ध कर दिया है । इस लिये उसकी दृष्टिमें न कोई अनुकूल विषय है न प्रतिकूल, बल्कि सब विषय और उनमें अनुकूल-प्रतिकूल-दृष्टि केवल मेरे आत्मा का ही चमत्कार है, ऐसा उसने निश्चय कर लिया है । इसी प्रकार अनुकूल-प्रतिकूल-दृष्टिके बाधित हो जानेके कारण उसको न किसीसे उद्वेग है न स्पृहा, न किसीसे राग है न भय और न क्रोध ही है । आभासमात्र दुःख-सुखादिके प्राप्त होनेपर वह अपने स्वरूपसे कदाचित् चलायमान नहीं होता ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

[तथा] जो पुरुष उस-उस शुभ या अशुभके प्राप्त होनेपर सर्वत्र आसक्तिरहित हुआ न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है ।

इसका भावार्थ ऊपर आ चुका है। अपने देहमें तथा अन्य प्रपञ्चमें सद्बुद्धि न रहनेके कारण इसकी शुभाशुभकी भावना दग्ध हो गई है, इस लिये राग या द्वेष-दृष्टि करके वह किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होता, क्योंकि उसकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें भली भाँति स्थिर हो गई है। देहादि प्रपञ्च, उनमें शुभाशुभ की भावना और रागद्वेषादि-वृत्ति केवल बुद्धिका ही पसारा था, जोकि इसकी तत्त्वदृष्टिद्वारा निवृत्त हो चुका है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

और जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गोंको समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष सब ओरसे अपनी इन्द्रियोंको विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है।

भावार्थ—अपने-अपने विषयोंमें आसक्तिके सहित इन्द्रियों की प्रवृत्तिका विकास उसी कालमें होता है, जबकि विषयोंमें सत्ताबुद्धि तथा प्रियताबुद्धि पूर्व निर्धारित हो। और जब-जब जिस-जिस पुरुषकी जिस-जिस विषयमें सत्ताबुद्धि अथवा प्रियताबुद्धि निवृत्त हो जाती है, तब-तब उस-उस विषयमें आसक्ति व प्रवृत्तिका सङ्कोच स्वाभाविक हो जाता है, यह नियम है। फिर इस स्थितप्रज्ञको तो सब प्रियोंका स्रोत अस्ति-भाति-प्रियरूप आत्मा नक़द प्राप्त हो गया है, जिससे इसकी विषयोंमेंसे दोनों सत्ता व प्रियताबुद्धि खपुष्पके समान कूँच कर गई हैं। जिस प्रकार मिठाइयोंमें अपना कोई मिठास नहीं होता, केवल मिश्रीके सम्बन्धसे ही वे सब फीकी भी मीठी लगती हैं। इसी प्रकार विषयोंमें अपना कोई मिठास नहीं था, केवल अस्ति-भाति-प्रियरूप आत्माके सम्बन्धसे वे सब सत्ताशून्य हुए भी सत्तारूप और प्रियताशून्य हुए भी प्रियरूप भान होते थे।

अस्ति-भाति-प्रियरूप उस आत्मको इसने अपनी हंस-वृत्तिसे दुग्धकी भाँति पृथक् करके ग्रहण कर लिया है और विषयोंको जलके समान निस्सार जान परित्याग कर दिया है। ऐसी अवस्था में कछुवेके अंगोंके समान इसकी इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति का सङ्कोच सदाके लिये स्वाभाविक हो जाता है। ऐसे पुरुषकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें अचल स्थिर कही जाती है।

इस प्रकार ऊपर चार श्लोकोंमें स्थितप्रज्ञ ज्ञानीके स्वसंवेद्य लक्षण कहे गये, जोकि सिद्धपुरुषके तो स्वभावसिद्ध होते हैं और साधकके लिये प्रयत्नसाध्य। अब इन चारों श्लोकोंका सार एकत्र करके नीचे निरूपण किया जाता है—

श्लोक ५५, ५६, ५७ व ५८ का स्पष्टीकरण

आशय यह है कि जैसे मृग अपने अन्तःस्थित कस्तूरीको अपने अन्दर न जान उसकी गन्धसे मुग्ध हुआ उसकी खोजमें वन-वन भटकता फिरता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण जीव सुख-स्वरूप आत्मा अपने अन्तःस्थित होनेके कारण उस सुखस्वरूप को अपने अन्दर न जान उसकी महकसे मुग्ध हुए संसाररूपी वन तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें उसकी खोज करते फिरते हैं। परन्तु जिनको सद्गुरु व सच्छास्त्रके प्रसाद और अपने पुरुषार्थ से सब सुखोंका स्रोत अपने ही अन्दर मिल गया, फिर सुखप्राप्ति के लिये उनकी विषयोंमें प्रवृत्ति स्वभाविक ही छूट जाती है। किसी हठ वा साधन करके इन्द्रियोंको विषयोंसे खींचना नहीं होता, न अनिच्छित प्राप्त किसी वस्तुको इस भयसे कि वह हमारे बन्धनका हेतु होगी, हठ करके त्यागना ही होता है। जिस प्रकार किसान इक्षु-दण्डको कोल्हुमें पेलकर और उस का रस ग्रहण करके छिलकोंको फैंक देता है, इसी प्रकार इस स्थितप्रज्ञने अपनी विवेकवती बुद्धिरूपी कोल्हुमें सम्पूर्ण

दृश्यमान प्रपञ्चके साररूप सत्को, कि जिसकी सत्तासे ये सब असत् हुए भी सत् प्रतीत हो रहे थे पृथक् करके ग्रहण कर लिया है और केवल इन्द्रियोंद्वारा प्रतीयमान प्रपञ्चको छिलकोंके समान थोथा जानकर त्याग दिया है। इस लिये दृश्यमान पदार्थोंमेंसे उसके राग, भय व क्रोधादि इसी प्रकार दग्ध हो गये हैं; जैसे रस्सी जलकर आकारमात्र तो शेष रह जाती है, परन्तु बन्धनके योग्य नहीं रहती। इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा देहेन्द्रियमनबुद्धिसे अहंभाव निवृत्त हो जानेके कारण अन्तःकरणकी अनुकूल शुभादिक व सुखादिक वृत्तियोंमें उसका न राग व आसक्ति ही होती है और न प्रतिकूल अशुभ व दुःखादिमें उद्वेग तथा द्वेष ही होता है। बल्कि अब तो वह प्रतिकूल व अनुकूल वृत्तियोंमें उद्वेग व स्पृहादिसे छुटा हुआ उनको निस्सार जान उदासीनवत् साक्षीरूपसे उनका तमाशाई ही रहता है। (विस्तार पृ० १६६ से १७२ पर देखिये)।

अब उक्त स्थितप्रज्ञका साधकसे भेद वर्णन करते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५६॥

[यद्यपि इन्द्रियोंद्वारा] विषयोंका सेवन न करनेवाले पुरुषके (भी केवल) विषय तो निवृत्त हो जाते हैं (परन्तु उनमें रसबुद्धि निवृत्त नहीं होती), इस (स्थितप्रज्ञ) की तो रसबुद्धि भी परमात्माके साक्षात्कारसे निवृत्त हो जाती है।

भावार्थ—ऊपर स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें वर्णन किया गया है कि वह दुःखादिमें उद्वेगरहित और सुखादिमें स्पृहारहित रहता है, उसने मनोगत सब कामनाओंका परित्याग कर दिया है, शुभाशुभकी प्राप्तिमें वह राग-द्वेषसे रहित होता है और उसने इन्द्रियोंका विषयोंसे सङ्कोच कर लिया है। उक्त लक्षण उन साधकोंमें

भी पाये जा सकते हैं, जो यम-नियमादि तथा तपादिद्वारा अपने मन इन्द्रियोंके संयममें लगे हुए हैं। इसलिये उन साधकोंमें इन लक्षणोंकी अतिव्याप्ति होनेके कारण इस अतिव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये इस श्लोकमें स्पष्ट करते हैं और कहते हैं कि विषयोंका सेवन न करनेवाले पुरुषके भी विषय तो छूट जाते हैं, परन्तु उनमें रसबुद्धि निवृत्त नहीं होती। अर्थात् ऐसे साधकोंने यद्यपि यम-नियमादिद्वारा अपने मन-इन्द्रियोंको दबाया है, जिससे वे दुःख-सुखादिकी प्राप्तिमें उद्वेग व स्पृहारहित दृष्ट आते हैं और कामनाओंसे छूटे हुए, राग-द्वेषवर्जित तथा विषयोंसे इन्द्रियोंका सङ्कोच किये हुए दीख पड़ते हैं। तथापि 'दुःख-सुखादि खपुष्पसमान मिथ्या हैं और काम्य विषय व कामना स्वप्नसमान प्रतीतिमात्र हैं' ऐसा उन्होंने साक्षात् निश्चय नहीं किया है। बल्कि जिस प्रकार वीर पुरुष संग्राममें शत्रुको सच्चा जान उसके साथ डटा हुआ युद्ध करता है, इसी प्रकार यह साधक मन-इन्द्रियों, दुःख-सुख एवं राग-द्वेषादि वृत्तियों तथा शब्द-स्पर्शादि विषयों को अपनेसे भिन्न सत्य जानता हुआ उनको अपना शत्रु जानकर दबा रहा है और उनके साथ युद्धमें प्रवृत्त है। इसके विपरीत इस स्थितप्रज्ञकी तो शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें रसबुद्धि और मन-इन्द्रिय एवं सुख-दुःखादिमें सद्बुद्धि भी निवृत्त हो गई है। अब इसने तो इनमें जो रसरूप तथा सद्रूप वस्तु थी और जिसके प्रकाशसे ये रसरूप व सद्रूप भान होते थे उस साररूप रस-सागर को ही प्राप्त करके इनको निस्सार जान इनमें अहन्ता व ममता बुद्धिका परित्याग भी कर दिया है। और इनको आभासमात्र जानकर इनसे इसी प्रकार निर्भय हो गया है, जिस प्रकार बाज़ीगर अपने खेलमें हमारा कोई शत्रु सम्मुख खड़ा भी कर दे, तो भी उसको मिथ्या जानकर हम उससे युद्ध करनेकी इच्छा नहीं करते।

इस प्रकार स्थितप्रज्ञके लक्षण किये गये, अब इस स्थित-प्रज्ञतारूप योगमें प्रतिबन्धक जो इन्द्रियाँ हैं, उनके संयमकी उपयोगिता निरूपण करते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे कौन्तेय ! यत्न करते हुए विवेकयुक्त पुरुषके भी मनको ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं ।

भावार्थ—जिसकी बुद्धि अभी आत्मस्वरूपमें स्थित नहीं हुई है, परन्तु जो सारासार-विवेकमें भली भाँति प्रवृत्त है और इन्द्रियोंके विषयोंमें दोषदर्शन कर रहा है, ऐसा बुद्धिमान् पुरुष विपश्चित् कहा जाता है । अब भगवान्‌का कथन है, कौन्तेय ! इस स्थितप्रज्ञताकी प्राप्तिमें इन्द्रिय-संयम अत्यन्त आवश्यक है । बुद्धि आत्मस्वरूपमें तभी अचल स्थित हो सकती है, जबकि ये इन्द्रियाँ बाह्य विषयोंमें चञ्चल न हो रही हों । यदि इनकी गति बहिर्मुख हो रही हो तो बुद्धिका अचल होना असम्भव ही है । क्योंकि जब इनकी गति बहिर्मुख होती है, तब ये बलात्कारसे मनको भी हर लेती हैं । जिस प्रकार किसी कुण्डमें पाँच नालियाँ हैं, यदि नालियोंकी गति बन्द है तो जल अचल स्थित रह सकता है । परन्तु यदि कोई एक नाली भी खुली हुई हो तो वह जलको निकलनेका तत्काल मार्ग दे देती है और सम्पूर्ण कुण्डको चञ्चल कर देती है । इसी प्रकार हृदयरूपी कुण्डमें मन-बुद्धिरूपी जल भरा हुआ है, जिसमें ज्ञानेन्द्रियाँरूपी पाँच नालियाँ हैं । यदि इन्द्रियरूपी नालियोंकी गति बाह्यकी ओर बन्द हो तो बुद्धिरूपी जल अचल रह सकता है और वह अपने आत्माके सम्मुख हो सकती है । परन्तु यदि इन पाँचोंमेंसे कोई एक इन्द्रिय भी बहिर्मुख हो रही

हो तो वह तत्काल मन बुद्धिरूपी जलको निकलनेका मार्ग दे देती है और सम्पूर्ण हृदयको चञ्चल कर देती है। ऐसी अवस्थामें बुद्धिका आत्मस्वरूपमें अचल स्थित होना अत्यन्त असम्भव है। इस लिये यत्नपूर्वक इनका संयम कर्तव्य है, क्योंकि ये इन्द्रियाँ हठीली हैं और विपश्चित्‌के मनको भी बलात्कारसे हर लेती है।

इस इन्द्रिय-संयममें अपनी सगुण भक्तिकी सहायता दिखलाते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है।

भावार्थ—आत्मास्वरूपमें बुद्धिकी स्थितिके निमित्त ऊपरके श्लोकमें इन्द्रियोंका प्रमथनस्वभाव तथा इन्द्रिय-संयमकी आवश्यकता वर्णन की गई। अब इस श्लोकमें संयमका उपाय बतलाते हैं और कहते हैं कि संयम किसी-न-किसी आलम्बनसे ही सम्भव हो सकता है, निरालम्ब तो इन्द्रिय-संयम होवे ही कैसे? जिस प्रकार पशुको बन्धन करनेके लिये खूँटे और रस्सी का आलम्बन होता है, इसी प्रकार इन्द्रिय-संयमके निमित्त भी आलम्बन चाहिये। यहाँ भगवान् अपना ही आलम्बन देते हैं और कहते हैं कि मेरे सगुणरूपका खूँटा और मेरी भक्तिरूपी रस्सी बनाकर इन्द्रिय-संयम कर्तव्य है। इन्द्रियोंकी बाह्य विषयोंमें प्रवृत्ति सुखकी कामनासे ही होती है, दुःखकी कामनासे तो कदापि प्रवृत्ति संभव नहीं है। परन्तु विचारद्वारा देखा जाय तो विषयोंमें सुख-बुद्धि भ्रमरूप ही है।

क्योंकि प्रथम तो विषयोंका उपार्जन अनेक कष्ट व दोषोंसे होता है। दूसरे, प्राप्त हुए भी विषय अतिशयतादि दोष करके राग-द्वेषके ही हेतु बने रहते हैं। तीसरे, क्षयदोष करके तो भयके हेतु हैं ही। अतः विषयोंकी तीनों अवस्थाएँ ही दुःखरूप हैं। इस प्रकार इधर तो बारम्बार अनुभव व विचार करते हुए विषयोंमें दोष-दृष्टि उत्पन्न करे और उधर मेरे सगुणरूपकी लीला-विग्रहोंका श्रवण कीर्तन व स्मरणादिद्वारा मेरे सगुणरूपका अनुसन्धान करते-करते जब बिना ही प्रयासके राग-द्वेषरहित निर्विषयक सुखकी प्राप्ति हो जाती है, तब स्वतः मन-इन्द्रियोंकी गति मारा खाये हुए मूषकके समान अचल हो जाती है। फिर बाह्य प्रवृत्ति अपने-आप इसी प्रकार छूट जाती है, जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह हिमालयकी ओर कदापि नहीं चलता। इस प्रकार विषयोंमें दोषदर्शन और भक्तिके आश्रय से सब इन्द्रियोंको रोककर जिस पुरुषने इनको अपने वशमें किया है, उसीकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें अचल हो सकती है।

अब विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे किसी प्रकार पुरुषकी बुद्धिका अधःपतन होता चला जाता है, सो दो श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

> ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
> सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
> स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

विषयोंका चिन्तन करते हुए उनमें पुरुषकी आसक्ति हो जाती है, आसक्ति होनेसे कामना होती है और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है। फिर क्रोधसे मूढभाव उत्पन्न

हो जाता है, मूढभावसे स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृति-भ्रंशसे ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञान नष्ट होनेसे पुरुष अपने श्रेयः मार्गसे गिर जाता है।

भावार्थ—यदि मनकी गति विषयोंमें दोषदर्शन तथा भगवत्परायण न की गई, तब आवश्यक है कि पुरुष विषयोंका चिन्तन करे। क्योंकि मानसिक प्रकृतिका यह नियम है कि वह निरालम्ब कदापि नहीं रह सकती। जिस प्रकार द्रवता जलका स्वभाव है, जलको बहनेके लिये कोई मार्ग देना ही चाहिये। यदि उसको बहनेका उचित मार्ग न दिया गया तो वह अपने-आप दीवार तोड़कर भी अपने निकलनेका कोई अन्य मार्ग खोल लेगा। इसी प्रकार यदि मन-इन्द्रियोंका प्रवाह विचारपरायण तथा भगवत्परायण न किया गया तो ज़रूरी है कि उनका प्रवाह भोगपरायण हो। इस रीतिसे यदि मनका प्रवाह संसारपरायण हुआ तो वह किस प्रकार गिरता-गिरता अधःपतनको प्राप्त हो जाता है, सो निम्नलिखित सोपानोंसे वर्णन करते हैं—

(१) विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे पुरुषकी उनमें आसक्ति हो जाती है कि निस्सन्देह अमुक-अमुक विषय सुन्दर व रमणीय हैं।

(२) इस प्रकार आसक्ति होनेसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है कि किसी प्रकार वे मुझे प्राप्त हों।

(३) जहाँ कामना होती है वहाँ प्रकृतिराज्यमें विघ्नका आना तो निश्चित ही है,जैसे जहाँ शव सड़ रहा हो वहाँ शृगाल व गीध पक्षी अपने-आप चले आते हैं। जब विघ्न उपस्थित हुआ, तब मनमें क्षोभ उत्पन्न होना तो ज़रूरी है ही। जिस प्रकार नदी का प्रवाह अपने वेगसे चला जा रहा है जब उसके मार्गमें विघ्न-

रूप कोई चट्टान आ जाती है, तब जल उससे टकराकर भाग-भाग हो जाता है; इसी प्रकार मनके काम्य प्रवाहमें जब कोई रुकावट आती है, तब क्रोधकी उत्पत्ति तो निश्चित ही है।

(४) क्रोधसे मूढभाव उत्पन्न हो आता है, अर्थात् भले-बुरे की सुधि नहीं रहती।

(५) मूढभावसे स्मृति-विभ्रम हो जाता है, अर्थात् मैं कौन हूँ ? मुझे क्या कर्तव्य है ? मेरे लिये धर्म क्या है ? तथा मेरा कल्याण किसमें है ? ऐसा स्मरण व विचार विचलित हो जाता है।

(६) इस प्रकार स्मृति-भ्रंशसे बुद्धि नष्ट हो जाती है, अर्थात् शुभाशुभ विचारके अयोग्य हो जाती है।

(७) और बुद्धिनाशसे पुरुष अपने श्रेयः पथसे गिर जाता है।

इस प्रकार संयमके बिना विषय-चिन्तनसे पुरुष अधःपतन को प्राप्त होता चला आता है। जिस प्रकार हठीला बालक छतसे फिसलकर सोपनोंसे लुढकता-लुढकता नीचे भूमिपर ही आकर ठहरता है।

अब संयमसे जो लाभ होता है उसका वर्णन दो श्लोकोंमें करते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

[परन्तु] स्वाधीन मनवाला पुरुष तो अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तः करणकी स्वच्छताको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार यदि घोड़े सधे हुए हों और बुद्धिमान् सारथीके हाथमें दिये गये हों, तो वे रथ एवं रथीको किसी भय के बिना गड्ढे व काँटोसे रक्षा करते हुए शीघ्र ही अपने उद्दिष्ट स्थानपर पहुँचा देते हैं। ठीक, इसी प्रकार यदि इन्द्रियाँरूपी

घोड़े सधे हुए, अर्थात् राग-द्वेषवर्जित अपने विषयोंका सेवन करनेवाली हों और बुद्धिरूपी सारथीके अधीन उसके इशारे-मात्रसे चलनेवाली हों, तो वे अपने सम्बन्धसे इस पुरुषको विना किसी विघ्नके शीघ्र ही 'तद्विष्णो' परम पदम्' का अधिकारी बना देती हैं और ऐसा स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष ही अन्तःकरणकी स्वच्छताको प्राप्त होता है। जिस प्रकार ताल वर्षा-ऋतुमें मलिन हो जाता है परन्तु शीतकालमें मलसे निखरकर निर्मल होता है, इसी प्रकार इन्द्रियोंकी बहिर्मुखता व स्वतन्त्रता ही अन्त करणकी मलिनताका हेतु होती है। क्योंकि इन्द्रियाँ अपने स्वभावसे ही रजोगुणका परिणाम हैं और अपने सम्बन्धसे अन्त करणको चञ्चल करनेवाली हैं। उन रजोगुणी इन्द्रियोंके दमन होनेपर स्वभाविक सत्त्वगुणका प्रादुर्भाव होता है और सत्त्वगुणका प्रादुर्भाव ही अन्तःकरणकी निर्मलता है। ऐसा निर्मलान्त करण पुरुष ही आत्मसाक्षात्कारके योग्य है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

[और उस] निर्मलताके होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है, (उस) प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही भली भाँति स्थिर हो जाती है।

भावार्थ—सब दुःखोंका कारण मन-इन्द्रियोंकी बहिर्मुखता ही है, इसलिये बहिर्मुखी इन्द्रियाँ ही पुरुषके शत्रु हैं। प्रथम जब ये अपने शत्रु आप बनती हैं, तभी सारा संसार शत्रुरूप हो जाता है तथा इन अन्तः शत्रुओंके जीत लेनेपर सारा संसार जीता जाता है। इनके जीत लेनेपर अन्तःकरणमें इसी प्रकार शान्ति होती है, मानो सम्पूर्ण संसारका जय कर लिया गया हो और अन्तःकरण इसी प्रकार शान्त हो जाता है, जिस प्रकार

क्षीर-समुद्र मथे जा चुकनेपर मन्दराचलके निकल जानेसे वह शान्त हो गया था। इस रीतिसे इन्द्रियोंकी स्वाधीनताद्वारा अन्तःकरणके शान्त होनेपर इस पुरुषके सब दुःखोंका अभाव हो जाता है और ऐसे प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही विघ्न के अभाव हुए आत्मस्वरूपमें भली भाँति स्थिर हो जाती है।

अब फिर दो श्लोकोंमें इन्द्रिय-असंयममें दोषोंका वर्णन करते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

[परन्तु] असंयमी पुरुषके हृदयमें श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती, न उसमें भावना ही रहती है और न भावनाशून्यको शान्ति ही मिलती है, फिर उस अशान्तको सुख कहाँ?

भावार्थ—परमार्थपरायण पुरुषके लिये सबसे पहले इन्द्रिय-संयम आवश्यक है। इन्द्रियसंयमका अभाव होनेपर चञ्चल हृदयमें सारासाररूप यह विवेकवती बुद्धि ही नहीं हो सकती कि 'सत्य क्या है और असत्य क्या है? शुभ क्या है और अशुभ क्या?' जब विवेकवती बुद्धि ही नहीं तब भोगवती बुद्धिमें गुरू-शास्त्रके वचनोंके प्रति श्रद्धायुक्त निर्मल भावना ही कैसे होगी? जब उपर्युक्त प्रकारसे निर्मल भावना ही नहीं, तब भोगमयी भावनाके रहते हुए चित्तमें शान्ति कहाँसे आयेगी? और जब चित्त डाँवाडोल व चञ्चल है, तब वास्तविक आत्म-सुखका मुँह कैसे दीख पड़ेगा? इस प्रकार असंयमी पुरुष किसी भी रीतिसे सुखको प्राप्त नहीं हो सकता।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

[क्योंकि विषयोंमें] विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे जिस (इन्द्रिय) के साथ मन रहता है, वह (इन्द्रिय) इस पुरुषकी बुद्धिको भी इसी प्रकार हर लेती है, जिस प्रकार वायु जलमें नावको।

भावार्थ—इस प्रकार इन्द्रियोंकी गति भोगपरायण होनेसे इस पुरुषका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। क्योंकि जिस विषयके साथ आसक्तिसहित इन्द्रियका संयोग होता है, उस विषयदेश में वह मनको भी अपने साथ इसी प्रकार ले जाती है, जिस प्रकार वञ्चक पुरुष किसी धनीको भ्रमाकर अपने साथ वनमें ले जाता है और उसका धन हर लेता है। इसी प्रकार ये इन्द्रियाँ विषयारण्यमें मनको भ्रमाकर इसका आत्मधन हर लेती हैं। और जब राग व आसक्तिपूर्वक मन-इन्द्रियका विषयसे संयोग हो गया, तब ये बुद्धिको भी इसी प्रकार विचलित कर देते हैं, जिस प्रकार वायु अपने वेगसे जलमें नावको डावाँडोल कर देती है। इसी प्रकार संसार-समुद्रमें इन्द्रियरूपी वायुके वेगसे बुद्धिरूपी नौका अपने परमार्थ-पथसे भ्रष्ट हो जाती है। और जब मन-बुद्धि सभी विमुख हो गये, तब इस पुरुषका कल्याण कैसे हो? जिस प्रकार जब राजाके मन्त्री व मुसाहिब सभी उस से विमुख होकर वञ्चक हो जाएँ तो उसकी कुशल कहाँ? इस रीतिसे एक इन्द्रियके भी विषयलोलुप होनेसे और संयम के अभावसे इस पुरुषका सर्वस्व नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार इन्द्रिय-असंयमसे हानि व संयमसे लाभ दिखाते हुए अब पूर्व प्रसंगपर आते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिये हे महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ सब प्रकार अपने विषयोंसे रुकी हुई होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है।

अर्थात् ऐसा संयमी पुरुष ही स्थितप्रज्ञताके योग्य है और उसीकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें अचल स्थित हो सकती है।

अब सर्व कामना-परित्यागपूर्वक उस स्थितप्रज्ञका स्वरूप निरूपण करते हुए इस विषयका उपसंहार करते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सर्वभूतोंके लिये जो रात्रि है, उसमें संयमी पुरुष जागता है और जिसमें सर्वभूत जागते हैं, वह तत्त्ववेत्ता मुनिके लिये रात्रि है।

भावार्थ—सब भूतप्राणियोंके लिये जो आत्मतत्त्व रात्रितुल्य है, अर्थात् जिस आत्मतत्त्वकी ओरसे सर्वभूत सोये हुए हैं और उस तत्त्वसे अचेत हो रहे हैं तथा जिनके लिये वह आत्मतत्त्व अज्ञात हो रहा है, उस नित्यशुद्ध परमानन्दस्वरूपमें वह संयमी स्थितप्रज्ञ जाग रहा है, सचेत हो रहा है। अर्थात् उस तत्त्वमें उसकी बुद्धि ज्यों-की-त्यों स्थित हो जानेसे वह उस तत्त्वमें आत्मरूपसे स्थित है और उसका भली भाँति भोग कर रहा है। परन्तु जिन सांसारिक भोग-विषयोंमें सम्पूर्ण भूत-प्राणी सचेत हो रहे हैं, उनका भोग कर रहे हैं और जिनमें उनकी सम्यग्बुद्धि हो रही है, अर्थात् जिन विषयोंको वे सत्यरूपसे ग्रहण कर रहे हैं; उन सांसारिक विषयोंकी ओरसे वह तत्त्ववेत्ता मुनि सोया पड़ा है और उसके लिये ये विषय रात्रिके समान शून्यरूप हो गये हैं, अर्थात् उसकी दृष्टिमें ये विषय खपुष्प तुल्य हो गये हैं।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

जिस प्रकार सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र

में (नाना नदियोंके) जल प्रवेश कर जाते हैं (परन्तु उसमें कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं करते), इसी प्रकार जिस (स्थिरबुद्धि) पुरुषके (हृदयरूपी समुद्रमें) सम्पूर्ण भोग-कामना (किसी प्रकार विकार उत्पन्न किये बिना ही) समा जाती हैं (अर्थात् उसको विचलित नहीं कर सकतीं), वही पुरुष शान्तिको प्राप्त होता है, नकि भोगोंकी कामनावाला ॥७०॥

भावार्थ—जब अपनेमें, अपनेसे भिन्न काम्य वस्तुमें और अन्तःकरणकी कामनारूप वृत्तिमें भेदबुद्धि होती है तथा उस भेदबुद्धिमें सद्बुद्धि भी होती है, तब उस भेदबुद्धिकी सत्यता करके कामना हृदयमें क्षोभका हेतु बन जाती है। परन्तु इसके विपरीत तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा जब इन सबके अधिष्ठानरूप आत्मामें अभेदरूपसे स्थिति प्राप्त हो जाय और ये सब कामुक, काम्य व कामना अपने आत्मस्वरूपकी तरङ्गमात्र भान होने लगें, तब इन त्रिपुटीरूप कामुक, काम्य व कामनामें सत्यता-बुद्धिरूपी रस दग्ध हो जाता है और इनकी आभासमात्र ही स्थिति रह जाती है। ऐसी अवस्थामें आभासमात्र कामना अपने उद्बोधसे हृदयमें क्षोभका हेतु नहीं होती। इस प्रकार 'मैं न कामना हूँ, न मेरेमें कोई काम्य वस्तु है और न मैं कामनाका कर्ता ही हूँ' इस अपरोक्ष ज्ञानसे जिसका हृदय भरपूर होकर समुद्रके समान अचल गम्भीर हो गया है, उस हृदयरूपी समुद्र में आभासमात्र कामनारूपी नदियाँ प्रविष्ट होकर किसी प्रकार क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकतीं। ऐसा स्थितप्रज्ञ ही शान्तिको प्राप्त होता है, नकि काम-कामी पुरुष।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

[इस प्रकार] जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग

करके निस्पृह हुआ अहंकार व ममतारहित विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।

अब इस स्थितप्रज्ञताका फल निरूपण करके अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ! यही ब्रह्मरूपसे स्थिति है (यही स्थितप्रज्ञता है) इसीको प्राप्त होकर (संसारमें) मोहित नहीं होता। यदि अन्त समयमें भी इस (निष्ठा) में स्थित हो जाय तो निर्वाण ब्रह्मको ही प्राप्त हो जाता है, (फिर वह संसारमें नहीं आता)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्रविषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी अनुभवार्थदीपक' भाषा-भाष्यमें श्रीकृष्णार्जुन-संवादरूप 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ॥२॥

द्वितीय अध्यायका स्पष्टीकरण

प्रथम अध्यायमें जब अर्जुन मोहसे शोकातुर हो शस्त्र परित्याग कर बैठा, तब वह किंकर्तव्यविमूढ हो गया और अपना श्रेयः आप न सूझ पड़नेके कारण, इस अध्यायके आरम्भमें उसने भगवान्‌को आत्म-समर्पणकर दिया(४-७)। तब भगवान्‌ने उसके शोकको तीन निमित्तोंमें विभक्त करके प्रत्येक निमित्तसे उसके शोक-मोहका निराकरण किया और उसको समझाया कि क्या शारीरिक, क्या आत्मिक और क्या धार्मिक दृष्टिसे उसके शोकका कोई निमित्त नहीं बनता। अर्थात् यदि आत्म-दृष्टिसे भीष्मादिकोंका शोक किया जाय, तब आत्मा तो सभी भूत-प्राणियोंका अज-अविनाशी है, वह कदापि शस्त्रोंद्वारा छेदन नहीं हो सकता। यदि देह-दृष्टिसे शोक किया जाय, तो देह सभी प्राणियोंके अपने स्वरूपसे ही नित्य अस्थिर व क्षणभङ्गुर हैं,

ऐसी कोई शक्ति संसारमें नहीं जो उनको रख सके। और यदि धार्मिक दृष्टिसे उनका शोक किया जाय तो भी अयुक्त है, क्योंकि धार्मिक असमञ्जस उपस्थित होनेपर धर्मके सम्मुख सभी सांसारिक सम्बन्धोंकी आहुति देना ही धर्म है। इस प्रकार व्यवहार व परमार्थको लक्ष्य करके सब प्रकार युद्ध ही उसके लिये कर्तव्य है (३१-३२)। इतना ही नहीं, बल्कि युद्धसे उपरामता उसको लोक-परलोक दोनोंसे भ्रष्ट करनेवाली होगी और युद्ध करके जीतना अथवा मरना, दोनों अवस्थाएँ ही उसके लिये कल्याणकारी होंगी (३३-३८)।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने साधनसहित उस योगका उपदेश किया, जिस योग (आत्मस्वरूप) में स्थित होकर कर्मका कर्ता अकर्ता हो जाता है और उसके सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं। जो साख्य-ज्ञान अर्जुनको श्लोक ३० पर्यन्त उपदेश किया गया है, उस ज्ञानके अपरोक्षद्वारा देहेन्द्रियमन-बुद्धिमें अहंभाव भस्म होकर अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें अभेदरूपसे स्थित होना और देहेन्द्रियादिके व्यापारोंसे अहं-कर्तृत्वाभिमान दग्ध होकर केवल इनका द्रष्टा होना, इसीका नाम 'योग' है। इस योगका यह फल वर्णन किया कि इस योगमें आरम्भका नाश नहीं है, अर्थात् इस योगका इस जीवनमें जितना कुछ भी साधन हो चुका है वह निष्फल नहीं जाता और विपरीत फलरूप दोष भी नहीं होता, बल्कि इसका थोड़ा सा आचरण महान् भयसे रक्षा करता है (३९-४०)।

'सुखस्वरूप एक आत्मा ही है' ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि ही इस योगमें मुख्य साधनरूपसे वर्णन की गई। इसके विपरीत सकाम तथा अनिश्चयात्मिका बुद्धिको इस योगमें प्रतिबन्धक बतलाया गया और स्वर्गपर्यन्त सकाम भोगोंकी निन्दा की गई (४१-४४)। फिर इस योगकी महिमा वर्णन करते हुए कहा कि वह ब्रह्मवेत्ता वेदोक्त सकाम कर्म और तज्जन्य भोग-ऐश्वर्योंसे ऊँचा उठ जाता है तथा वेदोक्त विधि-निषेधसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता (४५-४६)। तत्पश्चात् फलाभिसन्धानरहित निष्काम-कर्मका वर्णन करते हुए योगयुक्त कर्मकी सर्वोत्कृष्टता वर्णन की

गई, जिसके द्वारा कर्तृत्व-संग-त्याग और समत्वबुद्धिकी सिद्धि हो जाती है, कर्मके पुण्य-पापरूप फलसे इसी लोकमें छुटकारा हो जाता है और जन्म-मरणका बन्धन कटकर अनामय आत्मपदकी प्राप्ति हो जाती है। फिर इसकी अपेक्षा सकाम-कर्मको अत्यन्त तुच्छ वर्णन किया गया और फल-हेतुओंको कृपण व दीन बतलाया गया (४७-५१)। इसके उपरान्त श्लो० ५२ व ५३ में उन मुख्य प्रतिबन्धकोंका वर्णन किया, जो इस योगमें विघ्न हैं और कहा कि जब तेरी बुद्धि अहंकर्तृत्व व कर्तव्यादि मोह-दलदलसे तर जायगी तब तू शास्त्र-वचनोंके तत्त्वको ग्रहण कर सकेगा। इस रीतिसे अनेक शास्त्रोंके विभिन्न सिद्धान्तोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब आत्म-स्वरूपमें अचल स्थित हो जायगी, तब तू योगको प्राप्त होगा।

इसपर अर्जुनने स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको पूछा और भगवान्‌ने उसके लक्षण कथन किये, जिसकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें अचल स्थित हो गयी है और साधक से इस स्थितप्रज्ञका भेद करके दिखलाया (५४-५९)। फिर इस योग की प्राप्तिमें विघ्नरूप जो इन्द्रियोंकी बहिर्मुखता, उसका वर्णन किया और इन्द्रिय-संयमपर ही इस स्थितप्रज्ञताको निर्भर किया (६०-६१) तथा विषय-चिन्तनसे जिस प्रकार पुरुष आसक्ति, काम व क्रोधके वशीभूत हुआ अधःपतनको प्राप्त होता जाता है, उस क्रमका वर्णन किया (६२-६३)। तत्पश्चात् इन्द्रिय-निग्रहद्वारा जिस प्रकार अन्तःकरणकी निर्मलता प्राप्त करके दुःखोंका अभाव और बुद्धिकी स्थिरता हो जाती है, उसका निरूपण किया। इस प्रकार इन्द्रिय-असंयमसे हानि और संयमसे लाभ दिखाते हुए इन्द्रिय-संयमपर ही इस स्थितप्रज्ञताको निर्धारित किया (६४-६८)।

अन्तमें उस स्थितप्रज्ञ तत्त्ववेत्ताका स्वरूप और महिमा इस प्रकार वर्णन करते हुए इस अध्यायकी समाप्ति की—'वह संसारकी ओरसे सोया हुआ है और अपने स्वरूपमें जागा हुआ है तथा सब संसार उसकी दृष्टिमें आकाश-वत् शून्य हो गया है। इस तत्त्ववेत्ताके हृदयरूपी समुद्रमें कोई सांसारिक कामना प्रवेश करके इसको अपने स्वरूपसे चलायमान नहीं कर सकती,

इस प्रकार वह निर्मम व निरहंकार हुआ परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। और यदि जीव अन्त समयमें भी इस ब्राह्मी-स्थितिमें स्थित हो जाय तो वह निर्वाण ब्रह्मको ही प्राप्त होता है, जन्म-मरणमें नहीं आता (६६-७२)।'

इस प्रकार इस अध्यायमें प्रथम सांख्य-ज्ञानका स्वरूप और फिर इसमें अभेदरूपसे स्थितिरूप 'योग' का स्वरूप निरूपण किया गया, जिसके द्वारा कर्मोंका बन्धन समूल कट जाता है और सब कर्म अकर्म हो जाते हैं। फिर इस योगका साधन, इसके विघ्न, इसकी महिमा और इस योगीके लक्षणों का वर्णन किया गया। इसपर अर्जुनने भगवान्‌के आशयको यथार्थतया न समझकर यही समझा कि भगवान् कर्म-त्यागरूप ज्ञानकी प्रशंसा कर रहे हैं—'वह संसारकी ओरसे सोया पड़ा है' 'समुद्रमें नदियोंके समान कोई कामना उसके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकतीं' 'वह सब कामनाओंको छोड़कर निर्मम-निरहंकार हुआ विचरता है इत्यादि।' अर्जुनने समझा, मेरे लिये तो भला हुआ, मैं तो सहज ही इस हत्याकाण्डसे पीछा छुड़ा लूँगा। परन्तु भगवान्‌का आशय तो इस योगीकी ऐसी उत्कृष्ट महिमा वर्णन करने में था, कि जिस तात्त्विक योगके प्रतापसे वह योगी अपने साक्षीस्वरूपमें इतना दृढ़रूपसे स्थित हुआ होता है, जिसके प्रभावसे सम्पूर्ण संसार तथा अपने मन, इन्द्रियाँ व शरीर उसकी दृष्टिमें स्वप्नसे जागेके समान शून्यरूप हो जाते हैं। और अपने देहेन्द्रियादिके व्यापारोंसे वह इतना दृढ़रूपसे असंग हो जाता है, जिससे देहादिद्वारा सब चेष्टाएँ स्वाभाविक होती हुई भी उसकी दृष्टिमें कुछ नहीं होतीं और वह सारे संसारको मारकर भी नहीं मारता और न बँधता ही है। स्वरूपसे कर्मके त्यागमें भगवान्‌का आशय कदापि नहीं था, बल्कि इस योगद्वारा कर्तृत्व-संग व कर्तव्यादिसे मुक्त होकर अनासक्त स्वाभाविक कर्म-प्रवृत्तिमें ही भगवान्‌का तात्पर्य था। क्योंकि कर्म अपने स्वरूपसे जीवके बन्धनके हेतु नहीं होते, केवल अज्ञानद्वारा अहंकर्तृत्वाभिमान व कर्तव्यादि ही बन्धनके हेतु होते हैं। परन्तु भगवान्‌के इस आशयको यथार्थरूपसे न समझ, अर्जुन शंकायुक्त हो तृतीय अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌से प्रश्न करता है—

श्रीपरमात्मने नमः

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन बोला—हे जनार्दन ! यदि कर्मोंकी अपेक्षा आपको ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है, तो हे केशव (इस) घोर कर्ममें आप मुझे क्यों जोड़ रहे हैं ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

मिले-जुले वचनोंद्वारा आप मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं, इसलिये उस एक वचनको निश्चय करके मुझे कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊँ (अर्थात् कर्म मेरे लिये श्रेयः है, अथवा अकर्मरूप ज्ञान श्रेयः है) ?

जब इस प्रकार अर्जुनने प्रश्न किया और वह भगवान्‌के वचनों के तात्पर्यको ग्रहण न कर सका, तब उन्होंने अध्यारोप* करके उसको इस प्रकार उपदेश किया—

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

---

* मुख्य आशयको मनमें रखकर उसको सिद्ध करनेके लिये अमुख्य विषयकी चर्चा करना, अध्यारोप कहाता है। जैसे किसीको तक्रकी ज़रूरत है, उसको मनमें रखकर वह मित्रसे प्रश्न करे— आपके यहाँ गौ है ? दूध देती है ? दूध जमाते हो ? मक्खन निकालते हो ? इत्यादि वचन अध्यारोप कहलाते हैं ।

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप ! इस संसारमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पूर्व कथन की गई हैं, सांख्योंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी कर्मयोगसे।

भावार्थ—'पुराप्रोक्ता' से यह तात्पर्य नहीं है कि पूर्व अध्यायमें ये दो निष्ठाएँ कही गई हैं। तात्पर्य यह है कि सृष्टिके आरम्भसे ही इस लोकमें ये दो निष्ठाएँ चली आती हैं।

अर्थात् जिनका ज्ञानमें अधिकार है, निष्काम-कर्मद्वारा जिनका मल व विक्षेप-दोष निवृत्त होकर जो रजोगुणसे छूटे हुए हैं और जिनके निर्मल अन्त करणमें विवेक-वैराग्यादि उद्बुद्ध होकर तत्त्व-जिज्ञासा जागृत् हो गई है, ऐसे वैराग्यवान् जिज्ञासुओं के लिये तो ज्ञाननिष्ठा कथन की गई है। परन्तु जिनका कर्ममें ही अधिकार है रजोगुणके प्रभावसे जो कर्मके विना नहीं रह सकते तथा रजोगुणी वेगके कारण तत्त्व-चिन्तनादिमें जिनके मन की स्थिरता भी नहीं हो सकती, उनके रजोगुणी वेगको उत्तम मार्गसे निकालनेके लिये निष्काम-कर्मयोग निष्ठा कथन की गई है (पृष्ठ १७३-१७६)। चित्तके दृढ़ निश्चयका नाम 'निष्ठा' है।

इस प्रकार कर्मके विना नैष्कर्म्यरूप ज्ञानकी सिद्धिका असम्भव दर्शाते हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

कर्मके आरम्भ विना ही पुरुष नैष्कर्म्यका भोग नहीं कर सकता और न कर्मके त्याग देनेसे ही (मोक्षरूप) सिद्धिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—अपने आत्मस्वरूपके साक्षात्कारद्वारा जब यह तत्त्ववेत्ता देहेन्द्रियादिसे असंग हो जाता है, देहेन्द्रियादिके

व्यापारोंका कर्ता नहीं रहता केवल द्रष्टा ही रहता है और अपने स्वरूपमें कर्मद्वारा किसी प्रकार कुछ होता हुआ नहीं देखता। उस आत्मस्वरूप-स्थितिमें आरूढ़ होकर स्वाभाविक ही जो कर्म इसके देहेन्द्रियादिद्वारा होते हैं, वे किसी फलके हेतु न रहनेसे 'नैष्कर्म्य' (अकर्म) ही कहलाते हैं। परन्तु कर्मके आरम्भ बिना ही इस नैष्कर्म्यकी सिद्धि असम्भव है, बल्कि कर्मद्वारा ही इस की सिद्धि सम्भव है। क्योंकि भेद व परिच्छेद-दृष्टिसंयुक्त होनेसे आरम्भमें यह पुरुष प्रकृतिके आवेशमें आया हुआ देहाभिमानसे आवृत रहता है और स्वाभाविक ही तमोगुण व रजोगुणसे आच्छादित होता है। तथा अहन्ता-ममता करके स्वार्थ व कामना से घिरा हुआ, मल* व विक्षेप‡ दोषयुक्त ही रहता है। इस लिये निष्काम-कर्म एवं उपासनाद्वारा जबतक इसके मल-विक्षेप की निवृत्ति न हो, वह उपर्युक्त नैष्कर्म्यका भोग कैसे कर सकता है? उपासना भी मानसिक कर्म होनेसे कर्मके अन्तर्गत ही है। जिस प्रकार फोड़ेमें पीप भरी हुई है तो जबतक चीरा लगाकर उसको न निकाला जाय, शान्ति कैसे मिल सकती है? इसी प्रकार जबतक निष्काम-कर्म व उपासनाद्वारा हृदयरूपी फोड़ेमेंसे मल-विक्षेपरूप पीप न निकाली जाय, इस नैष्कर्म्यरूप शान्तिके भागी कैसे हो सकते हैं? मल-विक्षेपरूप दोषोंको अन्दर भरे रखकर कर्म त्याग बैठनेसे ही मोक्षरूप सिद्धिको प्राप्त करना तो सर्वथा असम्भव ही है। इस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे कर्मद्वारा ही नैष्कर्म्य तथा मोक्षरूप सिद्धिको प्राप्त किया

* अन्तःकरणमें दुर्वासना उत्पन्न होना 'मल-दोष' कहलाता है, निष्काम-कर्मद्वारा इसकी निवृत्ति होती है।

‡ मल-दोष निवृत्त होकर भी चित्तका स्थिर न होना और चञ्चल रहना 'विक्षेप-दोष' कहा जाता है, उपासनाद्वारा इसकी निवृत्ति होती है।

जा सकता है, कर्मके आरम्भसे पहले कर्म त्याग बैठनेसे ही नहीं। यद्यपि सब प्रवृत्तियोंके मूलमें प्रवृत्तिसे अग्राकार निवृत्ति में स्थित होना ही लक्ष्य है, परन्तु प्रवृत्तिसे पूर्व ही निवृत्ति तो किसी फलका हेतु नहीं होती। जिस प्रकार क्षुधार्त्तके लिये भोजनमें प्रवृत्त होकर ही निवृत्त होना सफल है, भोजनकी प्रवृत्तिसे पूर्व ही निवृत्ति तो किसी फलका हेतु नहीं होती। इसी प्रकार उपर्युक्त रीतिसे कर्ममें प्रवृत्त होकर ही कर्मसे निवृत्ति सफल हो सकती है, कर्मके आरम्भसे पूर्व ही कर्म त्याग बैठना नैष्कर्म्य व मोक्षका हेतु नहीं बनता।

परमार्थमें कर्मकी उपयोगिता वर्णन की गई, अब व्यवहार-दृष्टिसे कर्मकी प्रबलता दिखलाते हैं।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कोई भी पुरुष क्षणभर भी किसी कालमें कर्म किये बिना नहीं रहता है, किंतु सभी पुरुष प्रकृतिके गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।

भावार्थ—सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण, प्रकृतिके ये तीन ही गुण हैं। इन तीनों गुणोंसे ही अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियों तथा सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् दृश्य-मात्र प्रपञ्चकी उत्पत्तिमें इन तीनों गुणोंसे भिन्न और कोई कारण नहीं है। सत्त्वगुण ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होता है, रजोगुणसे चञ्चलता व क्षोभकी उत्पत्ति होती है और तमोगुण घन जड़तारूप परिणामको प्राप्त होता है। इस प्रकार तीनों गुण मिलकर दृश्य प्रपञ्चको उत्पन्न करते हैं, चराचर जड़-चेतन प्रत्येक वस्तुमें तीनों गुण ही विद्यमान रहते हैं, ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं हो सकता जो इन तीनों गुणोंसे खाली हो। जबकि

प्रत्येक पदार्थसे तीनों गुणोंका सम्बन्ध है और ये तीनों गुण अपने स्वरूपसे ही परिणामी हैं, तब कोई भी वस्तु संसारमें निष्क्रिय तथा निर्व्यापार कैसे स्थित रह सकती है? कदापि नहीं। इस रीतिसे कोई प्राणी किसी भी क्षण कर्मशून्य नहीं रह सकता, किन्तु सभी बलात्कारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा कर्म करते ही हैं। जबकि इस प्रकार कर्म व्यापक एवं अनिवार्य है, तब ऐसी अवस्थामें-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मूढबुद्धि कर्मेन्द्रियोंको (हठसे) रोककर मनसे इन्द्रियों के विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह तो मिथ्याचारी (अर्थात् दम्भी) कहा जाता है।

भावार्थ—जिस किसी चेष्टा व व्यापारके साथ मनका सम्बन्ध होता है, उसी चेष्टा व व्यापारकी 'कर्म' रूपसे संज्ञा की जाती है। जिस चेष्टाके साथ मनका संसर्ग नहीं वह कर्म भी नहीं और उसका कोई फल भी नहीं। जिस प्रकार प्राण-पानकी गतिद्वारा शरीरमें असंख्य क्रियाएँ हो रही हैं, जिनके द्वारा रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, मल व मूत्रादि बनते-बिगड़ते हैं, परन्तु मनका सम्बन्ध न होनेसे वे 'कर्म' की संज्ञामें नहीं आतीं। इससे स्पष्ट है कि मनके द्वारा जो कुछ होता है वही कर्म है, केवल कर्मेन्द्रियोंद्वारा हो वह कर्म नहीं। परन्तु इस मूढ बुद्धिने मनका व्यापार तो चालू कर रखा है, अर्थात् मनसे तो विषयोंका चिन्तन कर रहा है और कर्मेन्द्रियोंको जकड़कर बैठा दिया है, जिससे इसका कर्मरूप व्यापार चालू है और वह शुभाशुभ फलका हेतु भी है। प्राकृतिक प्रवाहके विरुद्ध केवल कर्मेन्द्रियोंको रोक बैठनेसे वह मिथ्याचारी व दम्भी ही कहा जायगा, क्योंकि कर्म न करता हुआ भी वह कर रहा है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

हे अर्जुन ! जो मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके, अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, (इससे तो) वह श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—उपर्युक्त कर्मत्यागी एवं मिथ्याचारीसे तो वह पुरुष श्रेष्ठ है, जो कर्मेन्द्रियोंको रोकनेके बजाय इन्द्रियोंके विषयोंमें मनसे राग-द्वेष परित्याग करके फलकी आसक्ति बिना ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्मेन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है। उसका यह प्रवाह प्रकृतिके अनुकूल है, क्योंकि प्रकृति-राज्य में बन्धनका हेतु कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु वे तो अपने-अपने नियत व्यापारके लिये ही रची गई हैं। बन्धनका हेतु तो मनका राग-द्वेष ही होता है, जिसको उसने परित्याग कर दिया है। और अब तो वह ईश्वरार्पण-बुद्धिसे अनासक्त हुआ कर्ममें प्रवृत्त हो रहा है, जिससे इधर इसके अन्तःकरणकी निर्मलता हो रही है और उधर रजोगुणका वेग निवृत्त हो रहा है। कर्मका यही फल था।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

[इसलिये] तू शास्त्र-विधिसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको कर, कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है, कर्मके बिना तो तेरी शारीरिक चर्या भी सिद्ध नहीं हो सकेगी।

भावार्थ—जबकि कर्मेन्द्रियोंको रोक बैठनेसे भी कर्म बन ही जाता है, बल्कि मिथ्याचारित्वका दोष व्याजमें अधिक बढ़ जाता है, तब इससे तो यही श्रेष्ठ है कि शास्त्र-विधिसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मका आचरण किया जाय, जिससे शास्त्र-विधिके पालनद्वारा इधर मिथ्याचारित्वसे बच जाएँ और उधर

अन्तःकरणकी निर्मलताद्वारा प्रवृत्ति निवृत्तिमें बदल जाय। क्योंकि शास्त्र-विधि अधिकारानुसार प्रवृत्तिमें प्रवृत्त कराके स्वाभाविक ही निवृत्तिमें ले जानेके लिये है। इसलिये कर्म न करनेसे कर्म करना ही भला है, मलरूप विकारको अन्दर रोक रखनेसे उसका बाहर निकालना ही भला है, जिससे अन्दर सड़ाँद तो न हो। यदि देखा जाय तो कर्मके बिना शरीरका निर्वाह भी नहीं हो सकता, फिर कर्म बिना कैसे रह सकते हैं?

आपके मतानुसार कर्म तो छूट ही नहीं सकता और कर्म करके जीवके लिये उसके बन्धनमें आना भी जरूरी है, क्योंकि बन्धन का हेतु कर्म ही है। इसके साथ ही क्या प्रवृत्ति व क्या निवृत्ति सभी अपना-अपना फल भी रखती हैं, तब ऐसी अवस्थामें जीवके लिये कौन गति? ऐसी शङ्का उपस्थित होनेपर भगवान् कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

हे कुन्तीपुत्र! यज्ञ (अर्थात् विष्णु) के निमित्त किये हुए कर्मके सिवा अन्य कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्य कर्मोंद्वारा बन्धायमान होता है, इसलिये आसक्तिरहित हुआ ईश्वरार्पण-बुद्धिसे भली भाँति कर्मका आचरण कर।

भावार्थ—स्वार्थ व ममता धारकर प्रवृत्तिरूप अथवा निवृत्तिरूप, जो कुछ भी कर्म यह पुरुष करता है उनका फल संसार है। और वे सभी इस पुरुषको संसार-बन्धनमें डालनेवाले हैं, चाहे स्वर्गकी प्राप्तिके अर्थ भी क्यों न किये जाएँ। क्योंकि अपने फल-भोगके लिये वे कर्म इस पुरुषको जन्मके बन्धनमें डालते हैं और फल-भोगकी समाप्तिपर मृत्युके मुखमें प्रवेश कराते हैं। जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ानेमें वे कर्म इस जीव की किसी प्रकार सहायता नहीं करते। परन्तु इसके विपरीत

जो कर्म संसारसम्बन्धी स्वार्थ व ममताको छोड़कर केवल ईश्वरार्पण-बुद्धिसे फलकी आसक्तिके बिना किये जायँ, वे इस प्रकार कर्ताको संसार-बन्धनमें बाँधनेवाले नहीं होते, क्योंकि बन्धनके हेतु तो स्वार्थ व ममता ही हुआ करते हैं, कर्म अपने स्वरूपसे बन्धनके हेतु नहीं होते। बल्कि वे यज्ञार्थ कर्म (निष्काम-कर्म) तो वर्तमानमें अपने आचरणद्वारा अन्तःकरण को निर्मल करते हैं और कालान्तरमें ईश्वरकी प्रसन्नताद्वारा ज्ञान-राज्यका अधिकारी बनाते हैं। जिससे पुरुष योगारूढ होकर अपने आत्मस्वरूपमें अभेद प्राप्त कर लेता है और नैष्कर्म्यका भोग करता है। इस रीतिसे ये यज्ञार्थ कर्म परम्परासे कर्ताके लिये बन्धन-मुक्तिमें सहायक होते हैं, बन्धनके हेतु नहीं होते।

इस प्रकार श्लो० ४ से ६ तक कर्मकी अनिवार्यता और कर्मका प्रतिकार निरूपण किया गया, अब कर्मकी अनादिता तथा सृष्टि व कर्मका ओत-प्रोतभाव दर्शाते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

कल्पके आदिमें यज्ञके सहित प्रजाको रचकर प्रजापति ब्रह्माने प्रजासे कहा—"इस यज्ञद्वारा तुम लोग वृद्धिको प्राप्त हो और यह यज्ञ तुम लोगोंको इच्छित फलका देनेवाला हो।

भावार्थ—यज्ञ, दान व तपादि शुभ कर्म जो शुभ वासनासे देवताओंको उद्देश्य करके आचरण किये जायँ, वे सब यज्ञरूप हैं और वह यज्ञ कर्मरूप ही है। भोग अथवा मोक्ष जो कुछ भी जिस किसीको जब कभी प्राप्त होता है, वह अपने कर्मद्वारा ही प्राप्त होता है। अपने कर्मरूप यज्ञके बिना ब्रह्मा भी अपनेको कुछ नहीं दे सकता, ब्रह्मा भी सृष्टिकी उत्पत्ति जीवके कर्माधीन ही करता है। ऐसे कर्मप्रधान यज्ञको सृष्टिके साथ ही उत्पन्न करके ब्रह्माने

प्रजासे कहा कि इस यज्ञद्वारा तुम लोग वृद्धिको प्राप्त हो और भोग अथवा मोक्ष जो कुछ भी तुमको अभीप्सित हो, उस इच्छित फलका देनेवाला तुम्हारे लिये यह कर्मरूप यज्ञ ही हो सकता है।

इस प्रकार कर्मकी अनादिताका निरूपण किया गया और सकाम-निष्काम फलकी प्राप्तिमें कर्मकी व्यापकता दिखलाई गई। फिर ब्रह्मा ने कहा—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

"इस यज्ञद्वारा तुम देवताओंको सन्तुष्ट करो और वे देवता तुमको सन्तुष्ट करें, इस प्रकार आपसमें एक-दूसरेको सन्तुष्ट करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होगे।

भावार्थ—जितना कुछ भी अधिभूतरूप स्थूल जगत है, उसके सञ्चालन करनेवाली अधिदैव शक्तिको देवता कहते हैं। जो प्रत्येक व्यष्टि शरीर, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अहंकारको जीवोंके अपने-अपने कर्माधीन इसी प्रकार सञ्चालन करते हैं, जिस प्रकार ड्राइवर इञ्जनको चलाता है। प्रत्येक इन्द्रियके देवता भिन्न-भिन्न होते हैं। जिस प्रकार चक्षुका देवता सूर्य और मनका चन्द्रमा है। प्रत्येक व्यष्टि-शरीरकी जो-जो इन्द्रिय है, उस-उस समष्टि इन्द्रियका जो अभिमानी देवता होता है, वह विराटकी इन्द्रिय होती है। जिस प्रकार समष्टि चक्षुओंको सञ्चालन करनेवाला सूर्य देवता है, सो विराटका चक्षु है और समष्टि मनोंको सञ्चालन करनेवाला चन्द्रमा देवता है, सो विराटका मन है इत्यादि। इस प्रकार कल्पके आदिमें यज्ञके सहित प्रजाको रचकर ब्रह्माने प्रजासे कहा कि तुम इस यज्ञद्वारा देवताओंको सन्तुष्ट करो और सन्तुष्ट हुए वे देवता तुमको सन्तुष्ट करें। जिस प्रकार एक बीज पृथ्वीमें समर्पण करके बहुत

फल प्राप्त किया जा सकता है, पृथ्वी बिना तो फलकी प्राप्ति असम्भव ही है। इसी प्रकार समष्टि ब्रह्माण्डके आधारभूत जो देवता हैं, उनमें ही कर्मरूप बीज समर्पण करके तुम महत् फल प्राप्त करोगे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार देवताओंको समर्पण किया हुआ कर्म यज्ञरूप होगा, वह देवताओंको सन्तुष्ट करके तुम को भी सन्तुष्ट करेगा और तुम परम्परासे परमश्रेय को प्राप्त होगे।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

"[इसप्रकार] यज्ञद्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हारे लिये वाञ्छित भोगोंको देंगे, (परन्तु) उनके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको निवेदन किये बिना ही भोगता है, वह निश्चय चोर है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

"[इस प्रकार] यज्ञशेष भोग करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं, (इसके विपरीत) जो पापीलोग अपने शरीरके निमित्त ही पकाते हैं, वे तो पाप ही भक्षण करते हैं।"

भावार्थ—जिनके द्वारा भोगोंकी प्राप्ति हुई है, उनको निवेदन करते हुए और उनके प्रति कृतज्ञता दर्शाते हुए उनके प्रसादरूपसे प्राप्त भोगोंको भोगना, बल्कि अन्य भूत-प्राणियोंका भी उसमें विभाग करना और बाँटकर खाना, यही श्रेष्ठ पुरुषोंका सदाचार है। इसी सदाचारको स्थिर रखनेके लिये और इसी लक्ष्यसे नित्य पञ्च-महायज्ञादि व नैमित्तिक षोडश-संस्कारादिकी रचना की गई है। इसी सदाचारको स्थिर रखकर मनुष्य लोक-परलोककी उन्नति कर सकता है और इसको मिटाकर तो वह दोनों ही लोकोंसे वञ्चित रह जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वस्तुतः

जिनके द्वारा भोगोंकी प्राप्ति हुई है, भोगकालमें उनको सर्वथा भूल जाना, उनसे मुँह मोड़ लेना तथा अन्य प्राणियोंका विभाग किये बिना आप-ही-आप भक्षण कर जाना, यह तो महान् कृतघ्नता-सूचक पशु-व्यवहार है और अत्यन्त घृणाजनक है। यही अनेक प्रकारके दुःख दारिद्र्यका हेतु होता है इसमें कोई संदेह नहीं।

इस रीतिसे जिस प्रकार सृष्टि के साथ ही कर्मरूप यज्ञकी उत्पत्ति हुई है और शुभ सकामी पुरुषोंको शुभ वासनासे जिस प्रकार यज्ञद्वारा वाञ्छित भोगोंकी प्राप्ति होती है तथा प्राप्त भोगोंको जिस प्रकार निवेदन करके भोगना चाहिये, उस क्रमका संक्षेपसे दिग्दर्शन कराया गया। अब कर्म व प्रजाका ओत-प्रोत भाव तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

अन्नसे सब भूत-प्राणी उत्पन्न होते हैं, वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है और यज्ञ कर्मजन्य है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

कर्मको तू वेदसे उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इसलिये सर्वगत वेद नित्य ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

हे पार्थ! इस संसारमें जो पुरुष इस प्रकार घुमाये हुए सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं वर्तता (अर्थात् इस सृष्टि-चक्रको चलानेमें अपना हाथ नहीं बटाता) वह इन्द्रियोंके ही सुखोंको भोगनेवाला पापायु पुरुष वृथा ही जीता है।

भावार्थ—(श्लो० १४-१५-१६) उपर्युक्त रीतिसे कर्मरूप यज्ञ-द्वारा तो वृष्टि व अन्नकी उत्पत्ति होकर प्रजाकी उत्पत्तिका क्रम चलता है, क्योंकि वृष्टि व अन्नसे ही चारों खानिके जीवोंकी उत्पत्ति होती है और प्रजाद्वारा कर्मरूप यज्ञकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रजाद्वारा कर्मयज्ञ तथा कर्मयज्ञद्वारा प्रजाका ओत-प्रोत सृष्टि-कालसे ही चला आता है।

सो कर्म वेदजन्य है और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इसलिये सब अर्थोंका प्रकाशक वेद नित्य ही यज्ञमें विराजमान है। जिस प्रकार मृत्पिंड व घटादिमें मृत्तिका विराजमान होती है, इसी प्रकार परमात्मा ही यज्ञरूपमें प्रकट होकर संसार की उत्पत्ति करते हैं और यज्ञकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है।

ऐसा यज्ञ व प्रजारूपमें प्रवर्तित इस संसार-चक्रको चलानेमें जो पुरुष स्वयं कुछ भाग नहीं लेता और केवल इन्द्रियारामी ही है, अर्थात् इन्द्रियोंके भोगोंमें ही रमण करना जिसके जीवनका लक्ष्य है, उस निषिद्ध सकामी पामर पुरुषका जीवन तो किसी भी फलका हेतु नहीं, केवल पापके ही निमित्त है। क्योंकि न तो उसने शुभ सकाम कर्मयज्ञद्वारा संसार-चक्रको चलानेमें सहायता की और न निष्काम कर्मयज्ञद्वारा अपना परमार्थ बनानेमें अपनी ही सहायता की। इस लिये उसका जीवन तो केवल पापोंकी वृद्धिका ही हेतु है और वह दुःखके ही बीज मुट्ठी भर-भरकर बो रहा है, इसलिये उसका तो मरण ही भला (पृ० २७८-२८०)।

अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें यहाँतक भगवान्‌ने कर्मकी अनिवार्यता, कर्मकी कर्तव्यता, कर्मकी अनादिता और प्रजा व कर्मका ओत-प्रोत भाव दिखलाया। तथा इन्द्रियारामी पामर पुरुषके व्यवहारकी निन्दा की और इसकी अपेक्षा उस शुभ सकामीकी

सराहना की, जो यज्ञद्वारा अपनी व संसारकी भलाईमें प्रवृत्त है। यद्यपि कामनासहित होनेसे उसका फल संसार ही है, तथापि इन्द्रियारामीकी अपेक्षा तो वह उत्तम ही है, क्योंकि वह निष्कामताकी ओर अग्रसर हो रहा है। संसार-बन्धनसे छूटनेके मार्गपर तो केवल वही पुरुष है, जो श्लोक ९ के अनुसार निष्कामभावसे फलासक्तिरहित भगवदर्थ कर्ममें प्रवृत्त हो रहा है। अब कर्म-बन्धनसे मुक्ति कहाँ पहुँचकर होती है और कर्मका पर्यवसान कहाँ होता है, सो दो श्लोकोंमें कहते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

[परन्तु] जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

इस संसारमें उस पुरुषका न तो कर्म करनेसे ही कोई प्रयोजन है और न कर्म न करनेसे ही कुछ प्रयोजन है तथा उसका सम्पूर्ण भूतोंमें कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।

भावार्थ—(श्लो० १७-१८) 'मेरे लिये कर्म करना कर्तव्य है' अथवा 'कर्मत्याग मेरे लिये कर्तव्य है' इन दोनों ग्रहण व त्यागरूप विधियोंसे वह तत्त्ववेत्ता मुक्त है। क्योंकि सभी कर्मोंका बन्धन तथा कर्मकी कर्तव्यता वस्तुतः बन्धनमुक्त व कर्तव्य-मुक्त होनेके लिये ही थी, नकि बन्धन बनाये रखनेके लिये ही। जैसे नदीका प्रवाह तटोंके बन्धनमें इसी लिये चलाया गया था, कि वह समुद्रमें अभिन्न होकर तटोंके बन्धनसे मुक्त हो जाय। अथवा रोगीको औषधि व पथ्यके बन्धनमें इसी लिये रखा गया

था कि वह रोगमुक्त होकर औषधि व पथ्यके बन्धनसे मुक्त हो जाय, नकि जीवनपर्यन्त इस बन्धनमें रहनेके लिये ही। साराश, प्रकृति-राज्यमें सभी बन्धन अपने उद्देश्यकी पूर्ति कराकर बन्धनसे छुटकारा दिलानेके लिये ही होते हैं। इस नियमके अनुसार जो पुरुष अपने आत्मामें ही तृप्त हुआ है, वह स्वाभाविक ही सब बन्धनोंसे मुक्त है, किसी चेष्टा करके नहीं। जैसे जब बच्चेके दाँत निकल आये और अन्न खाने लगा, तब स्वाभाविक ही स्तनपान छूट जाता है। इससे यह आशय नहीं कि वह कर्मशून्य हो जाता है, किन्तु वह कर्तव्यशून्य हो जाता है। जैसे शिशुके अङ्ग स्वाभाविक हिलते रहते हैं किसी कर्तव्य करके नहीं, इसी प्रकार इस आत्मतृप्तकी चेष्टा भी स्वाभाविक जैसा प्रकृतिके राज्यमें इसके शरीरद्वारा नीति रची गई है, होती रहती है, किसी कर्तव्यकी पूर्तिके लिये नहीं। कर्तव्योंका बन्धन तो उस समयतक ही था, जबतक परिच्छिन्न अहङ्कारसे बन्धायमान हुआ यह आत्मा कर्ता बना हुआ था। परन्तु जब कर्ता व अहंकार सभी तत्त्व दृष्टिद्वारा लुप्त हो गये, तब कर्तव्य कहाँ? कर्म कहाँ? और प्राप्तव्य क्या? अपनेको एवं अखिल संसार को अपने आत्मासे भिन्न कुछ न देखना और सब अपने आत्माके ही चमत्कार देखना, इसीका नाम आत्म तृप्ति है (पृ० १८०-१८४)।

कर्मद्वारा मल-विक्षेपादि दोषोंसे निर्मल होकर ही इस आत्म-तृप्तिकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार कर्म करके ही इस नैष्कर्म्यको प्राप्त हो सकते है। इस लिये इस अवस्थामें आरूढ होनेके लिये कर्मकी कर्तव्यता दिखलाते हैं—

> तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
> असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

इस लिये तू अनासक्त हुआ निरन्तर कर्तव्य कर्मका भली

प्रकार आचरण कर, क्योंकि आसक्तिरहित कर्मका आचरण करता हुआ पुरुष परम पदको प्राप्त होता है।

अर्थात् आसक्तिरहित कर्मोंद्वारा अन्तःकरण निर्मल होने पर ही इस नैष्कर्म्यमें आरूढ हो सकते हैं, जहाँ कर्मकी कर्तव्यता नहीं रहती और सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

इसी विषयमें दृष्टान्त कथन करते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

[इस प्रकार] जनकादि भी कर्मद्वारा ही (इस नैष्कर्म्यरूप) परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये लोकसंग्रहकी ओर दृष्टि करके भी तेरे लिये कर्म करना ही योग्य है।

इस अनासक्त कर्म-प्रवृत्तिका मुख्य फल नैष्कर्म्यरूप परम-सिद्धि ही बतलाया गया, जिसमें जनकादि दृष्टान्तरूप कथन किये गये। अन्य हेतु इस कर्म-प्रवृत्तिका लोकसंग्रह कहा गया, कि इस लोकसंग्रहकी ओर दृष्टि करके भी कर्म करना योग्य है।

अब इस लोकसंग्रहमें कर्मकी हेतुता कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

[क्योंकि] श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके अनुसार ही बर्तते हैं, वह (अपने आचरणोंद्वारा) जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोक उसके अनुसार ही बर्ताव करते हैं।

भावार्थ—अपने शुभाचरणोंद्वारा संसारके लिये उपदेशरूप व दृष्टान्तरूप होना 'लोकसंग्रह' कहलाता है। इसलिये श्रेष्ठ पुरुषको चाहिये कि यद्यपि उसपर कर्मकी कर्तव्यता नहीं है, तथापि संसारके लिये प्रमाणरूप बनकर कर्म करे, जिससे उनका कल्याण हो।

इसमें भगवान् स्वयं अपना दृष्टान्त देते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

[इसी लिये] हे पार्थ ! (यद्यपि) मेरे लिये तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु अप्राप्त है जिसे मुझे प्राप्त करना हो, (तथापि) मैं कर्ममें ही वर्तता हूँ ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

[क्योंकि] यदि मैं कदाचित् सावधान हुआ कर्ममें न बर्तूं तो हे अर्जुन! मनुष्य सब प्रकारसे मेरे वर्तावके अनुसार वर्तने लग जाएँ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

[और] यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक कर्मसे भ्रष्ट हो जाएँ, फिर मैं कर्मसंकरता (कर्महीनता) का करनेवाला होऊँ और इस सम्पूर्ण प्रजाका नाश करनेवाला हो जाऊँ ।

यद्यपि विद्वान्पर किसी प्रकार कर्मकी कर्तव्यता नहीं है, तथापि इस प्रकार लोकसंग्रहकी ओर दृष्टि करके उसको कर्म में बर्तना ही योग्य है । इस विषयमें भगवान्ने स्वयं अपनेको ही दृष्टान्तमें रखा और विद्वान्के कर्म छोड़ देनेसे जिस प्रकार संसारकी हानि होती है, उसका हेतुपूर्वक वर्णन किया । इसी प्रकार अन्य विद्वानोंको भी इसी उद्देश्यसे कर्म-प्रवृत्तिके लिये भगवान् दो श्लोकोंमें परामर्श देते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

[इस लिये] हे भारत ! जिस प्रकार अज्ञानीजन कर्ममें आसक्तिसहित वर्तते हैं, उसी प्रकार लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे विद्वान् आसक्तिरहित हुआ कर्ममें वर्ते ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

[विद्वान् पुरुषको चाहिये कि] कर्ममें आसक्तिवाले अज्ञानियों की बुद्धिमें कर्मसे ग्लानि उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं अपने आत्म-स्वरूपमें स्थित हुआ सर्व कर्मोंको करते हुए उनसे भी करावे ।

भावार्थ—जिस प्रकार सब नदियोंका स्वाभाविक प्रवाह समुद्रकी ओर है और उसमें मिलकर वह स्वतः ही निवृत्त होनेके लिये है। इस लिये प्रवाहको अपनी गतिसे चलने देना चाहिये, क्योंकि वह अपने लक्ष्यकी ओर जा रहा है । यदि इसे बीचमें ही किसी प्रकारका व्यवधान खड़ा करके रोक दिया जाय तो ऐसा करनेसे वह प्रवाह अपने वास्तविक लक्ष्यसे च्युत हो जाता है । इसी नियमके अनुसार प्रकृतिराज्यमें अखिल प्रवृत्तिरूपी नदियोंका प्रवाह स्वतः निवृत्तिरूप समुद्र की ओर ही है और अन्ततः सभी प्रवृत्तियाँ अपनी गतिसे चलती हुई निवृत्तिरूपी समुद्रमें निवृत्त होनेके लिये ही हैं ।

इसी प्रकार कर्ममें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी कर्मप्रवृत्ति भी अपनी गतिसे बढ़ती हुई परिपक्व होकर उस नैष्कर्म्यरूपी समुद्र (श्लो० १७ उक्त आत्म-तृप्ति)में निवृत्त होनेके लिये ही है, जहाँ सब कर्म अकर्म हो जाते हैं और सब कर्तव्य सफल होकर कृतकृत्य हो जाते हैं । परन्तु यदि इस कर्मप्रवृत्तिके प्रवाहको मध्यमें ही तोड़ दिया जाय तो यह पाप होगा, क्योंकि ऐसा करनेसे यह अपने वास्तविक लक्ष्यतक पहुँचनेसे वञ्चित ही रह जायगा। इस लिये विद्वान् पुरुषपर यद्यपि कोई कर्तव्य नहीं है,

तथापि लोकसंग्रह-दृष्टिसे विद्वान् कर्मसंगी अज्ञानियोंके हितार्थ आप भी वैसा ही स्वाँग करे, जैसे वृद्ध पुरुष बालकके साथ खेलता हुआ स्वयं बालक बन जाता है आप भी बालकके समान मुंह बनाता है और उसको भी खिलाता है।

इस प्रकार कर्मका मुख्य उद्देश्य तो वह आत्मतृप्ति और नैष्कर्म्य ही है जो श्लो० १७ व १८ में वर्णन की गई और वह अनासक्त कर्मद्वारा ही प्राप्तव्य है, कर्म-त्यागसे ही कदापि नहीं। कर्मका गौण उद्देश्य लोकसंग्रह है और इस लोकसंग्रहमें विद्वान्का ही अधिकार है, सो भी किसी कर्तव्य करके नहीं, केवल लोकसंग्रह-दृष्टिसे अपने विनोदार्थ (पृ० १८४-१९२)

अब दो श्लोकोंमें बतलाते हैं कि अज्ञानसे किस प्रकार कर्म का बन्धन हो जाता है और ज्ञानद्वारा किस प्रकार कर्म-बन्धनसे मुक्ति हो जाती है। इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके द्वारा जो कर्मके विषयमें शङ्का की गई थी उसका यहाँतक समाधान करते हुए भगवान् अब फिर अपने मुख्य आशयपर आते हैं और ज्ञानयुक्त (योगयुक्त) कर्मका वर्णन करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

[वास्तवमें तो] कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही किये जा रहे हैं, तो भी अहङ्कारसे विमोहितचित्त 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान बैठता है।

भावार्थ—सत्त्व, रज व तम, प्रकृतिके तीन गुण हैं। जितना कुछ भी व्यापार प्रत्येक प्राणीद्वारा होता है वह इन तीनों गुणोंद्वारा ही होता है। तमोगुणसे प्रमाद, मोह, आलस्य एवं निद्रादिकी प्रवृत्ति होती है। रजोगुणसे चञ्चलता, राग, लोभ और कर्मोंमें आसक्ति होती है तथा सत्त्वगुणसे

निर्मलता, सुख, ज्ञान, प्रकाश व शान्ति आदिकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार प्रत्येक पुरुषके देह, इन्द्रियाँ और मन-बुद्धिमें जितना कुछ भी स्फुरण व स्पन्द उत्पन्न होता है, वह सब व्यापार अपने-अपने गुणोंके अनुसार इन तीनों गुणोंद्वारा ही होता है। गुणोंसे भिन्न अन्य कोई वस्तु देहेन्द्रियादिमें स्फुरण व स्पन्दका हेतु नहीं होती। जिस कालमें जौनसा गुण उद्बुद्ध होता है उसके अनुसार वैसा ही व्यापार देहेन्द्रियादिद्वारा प्रकट होता है। परन्तु आत्मा इन गुणों व कर्मोंका कदाचित् कर्ता नहीं होता, किन्तु इन गुण-कर्मोंसे असंग इनका केवल साक्षीरूप द्रष्टा ही रहता है। ऐसा होते हुए भी अहङ्कारसे विमोहितचित्त 'मैं कर्ता हूँ' इस रूपसे अपने आत्माको इन सब व्यापारोंका कर्ता मान बैठता है। इस मिथ्या कर्तृत्वाभिमान करके ही इस पुरुषके लिये भोक्तृत्वका बन्धन हो जाता है। वास्तवमें तो अपने-अपने गुणोंसे प्रेरित ये देह, इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि अपने-अपने व्यापारमें वर्त रही हैं, एकका दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल इस मिथ्या अहंकारने ही अपने अज्ञानरूपी सूत्रमें मालाके मणकोंकी भाँति इन सब देहेन्द्रियादिको गूँथ रखा है इससे यह आप ही इन सबके धर्म-कर्मोंका कर्ता बन बैठता है। केवल यह अज्ञान ही इस पुरुषके बन्धनका हेतु है।

अब इस अज्ञान-निवृत्तिका उपाय वर्णन करते हैं—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

[परन्तु] हे महाबाहो ! गुण-कर्म-विभागके* तत्त्वको जानने-

* त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय, इन सबके समुदायका नाम गुण-विभाग है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम कर्म-विभाग है

वाला ज्ञानी पुरुष तो गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं (अर्थात् इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें वर्त रही हैं),ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता।

भावार्थ—जिस तत्त्ववेत्ताने अपने आत्मस्वरूपको साक्षात् देहादिसे असंग जाना है, वह तो 'देहेन्द्रियादि अपने-अपने विषयोंमें वर्त रही हैं मैं इनके व्यवहारोंका कर्ता नहीं हूँ, किन्तु मैं तो वह अलुप्त प्रकाश हूँ जिसमें गुणोंद्वारा इन सब देहेन्द्रियादिका भावाभावरूप व्यापार हो रहा है, परन्तु मुझको किसीका कुछ स्पर्श नहीं होता' ऐसा मानकर इन गुण-कर्म-विभागमें अहन्ता व कर्ता-भावसे आसक्त नहीं होता और इनसे लेपायमान नहीं होता (पृ० १६२-२०६)

परन्तु इस तत्त्वको न जानकर जो अज्ञानी—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

प्रकृतिके गुणोंसे अति मूढ हुए जो गुण-कर्मोंमें आसक्त हो रहे हैं (अर्थात् देहेन्द्रियादिसे अभिन्न हुए अपनेको कर्ता-भोक्ता जानते हैं) उन असम्यग्दर्शी मंद बुद्धि पुरुषोंको सम्यग्दर्शी पुरुष कर्मसे विचलित न करे।

क्योंकि कर्मोंद्वारा मल-दोष निवृत्त होनेपर वे सम्यग्दर्शी हो सकेंगे, कर्म-त्यागसे ही नहीं।

अब अर्जुनको लक्ष्य करके भगवान् उसी ज्ञानयुक्त कर्मका उपदेश करते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

[इस लिये हे अर्जुन ! तू तो] मेरेमें अध्यात्म-दृष्टिसे सब कर्मोंका त्याग करके, आशा व ममतासे छूटा हुआ सन्तापसे मुक्त होकर युद्ध कर ।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाशके आश्रय सम्पूर्ण द्रव्य, गुण व कर्मोंका उत्पत्ति-नाश होता है, परन्तु कोई विकार आकाशको स्पर्श नहीं करता, इसी प्रकार सम्पूर्ण गुण व कर्मरूप व्यापार आत्माके आश्रय होते हुए भी आत्माको स्पर्श नहीं करते। ऐसा अपने आत्माको साक्षात् अपरोक्ष करना और उसमें अभेदरूपसे योग प्राप्त करना, वस्तुतः यही 'सर्वकर्म-संन्यास' है। केवल इस अपरोक्ष ज्ञानद्वारा ही सर्वकर्म-संन्यासकी सिद्धि होती है। इस से भिन्न 'सर्व कर्मोंका संन्यास कर और युद्ध कर' यह दोनों विरोधी बातें तो एक अधिकरणमें और एक कालावच्छिन्नमें रात और दिनके समान कैसे इकट्ठी रह सकती हैं? इस प्रकार अर्जुन ! तू इसी ज्ञाननिष्ठ चित्तसे कि 'न मैं देह हूँ न मेरा देह है, न मैं कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ, किन्तु मैं तो वह स्वयंप्रकाश हूँ जिसके प्रकाशमें देहादि और कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सब भावोंकी सिद्धि होती है' मुझ सर्वसाक्षी सर्वात्मामें सर्वकर्म-संन्यास करके देहादिसे असंग हुआ फलकी आशा और राज्यादि व बान्धवादिकी ममतासे मुक्तहोकर सन्ताप रहित हुआ युद्ध कर।

(पूर्वपक्ष) 'केवल फल ही नहीं, किन्तु मैं अपने सम्पूर्ण कर्म भगवान्में समर्पण करता हूँ' इस भावनासे भी सर्वकर्म-संन्यासकी सिद्धि हो सकती है।

(समाधान) प्रथम तो भावनामय त्याग यथार्थ नहीं, क्योंकि भावना मायाराज्यका पदार्थ है और अज्ञानका कार्य है, इसलिये मलसे मलको धोनेके तुल्य है। द्वितीय, यद्यपि इसने सर्वकर्म-संन्यासकी भावना की है, तथापि इस भावनाका त्याग नहीं किया और नहीं हुआ, बल्कि यह भावना और इस भावनाका कर्ता दोनों विद्यमान हैं। अतः जबकि भावना और उसका कर्ता दोनों विद्यमान हैं तब सर्वकर्म-संन्यासकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि

फलका हेतु तो भावना ही है। यद्यपि यह भावना पवित्र है और तात्त्विक सर्वकर्म-संन्यासकी सिद्धिमें सहायक है, परन्तु यह अपने स्वरूपसे ही सर्वकर्म-संन्यासकी सिद्धि नहीं कर सकती।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो पुरुष दोष-बुद्धिसे रहित और श्रद्धासहित होकर मेरे इस मतका नित्य ही अनुष्ठान करते हैं,वे भी कर्म बन्धनसे छूट जाते हैं।

भावार्थ—जिन पुरुषोंका उपर्युक्त रीतिसे तत्त्वसाक्षात्कार-द्वारा सर्वकर्म-संन्यास अभी सिद्ध नहीं हुआ, परन्तु जो मेरे इस मतमें श्रद्धासंयुक्त हैं कि 'वास्तवमें असंगरूप हमारे आत्मामें किसी प्रकार कर्मोंका लेप नहीं है' और दोष-दृष्टिसे छूटे हुए हैं तथा इसका नित्य अनुष्ठान व अभ्यास करते हैं, वे पुरुष भी इस श्रद्धा व अभ्यासके प्रभावसे तत्त्वसाक्षात्कार-द्वारा योग प्राप्त करके कर्मोंसे छूट जायँगे।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

[परन्तु] जो इसमें दोष-दृष्टि रखते हुए मेरे इस मतका अनुष्ठान नहीं करते सब ज्ञानोंसे विमूढचित्त उन अविवेकियोंको तू भ्रष्ट हुआ ही जान।

भावार्थ—इसके विपरीत जो पुरुष मेरे इस मतमें न श्रद्धा ही रखते हैं, न इसका अभ्यास ही करते हैं, बल्कि उलटा दोष-दृष्टि करते हैं कि 'यह कैसे हो सकता है कि आत्मामें कर्मोंका लेप नहीं और वह कर्ता भी नहीं, यह हम कैसे मान लेवें' ऐसे लोगोंका तो अधःपतन ही समझो।

इसप्रकार कर्मकी अनादिता व अनिवार्यताका वर्णन करते

हुए भगवान्‌ने अन्तमें उस योगयुक्त कर्मका वर्णन किया जिसके द्वारा कर्मबन्धन समूल कट जाता है और 'सर्वकर्म-संन्यास' सिद्ध हो जाता है। अब इस अध्यायके उपसंहारमें अर्जुनके इस प्रश्नपर दृष्टि करके कि यदि कर्मसे ज्ञान ही श्रेष्ठ है तो आप मुझे इस घोर कर्ममें क्यों जोड़ते हैं' भगवान् स्पष्ट करते हैं कि जैसा तुमने समझा है, स्वरूपसे कर्म-त्यागमें हमरा आशय नहीं है, किन्तु

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है और सभी प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन वर्तते हैं, फिर इसमें कोई निग्रह क्या करेगा ?

भावार्थ—पूर्वकृत पुण्य-पापादिके संस्कार जो वर्तमान जन्ममें प्रकट होते हैं, उनका नाम यहाँ 'प्रकृति' है। इस प्रकार सब कर्मरूप व्यापार प्रकृतिराज्यका पदार्थ है तथा अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार इसका देहेन्द्रियादिमें प्रकट होना स्वाभाविक ही है। अपनी प्रकृतिके विरुद्ध इसका निग्रह करना मिथ्या ही पुरुषार्थ है। वास्तव पुरुषार्थ यही है कि तत्त्व-दृष्टिद्वारा अपने आत्माको इन देहेन्द्रियादिसे असंग कर लिया जाय, जिससे कर्मका बन्धकत्व ही निवृत्त हो जाय। वैसे तो अपनी प्रकृतिसे बन्धायमान हुआ ज्ञानवान् भी उसके अनुसार चेष्टा करता ही है और सभी भूत अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार वर्तते हैं, फिर इसमें निग्रहसे क्या होगा ?

जबकि इस प्रकार प्रकृति बलवान् है और वह अनिवार्य है, तब पुरुषका प्रयत्न निष्फल होगा और शास्त्र भी निरर्थक होंगे। ऐसी शङ्काका अवकाश होनेपर भगवान् कहते हैं कि पुरुषका प्रयत्न यही है कि—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें जो राग एवं द्वेष स्थित है, उनके वशीभूत न हो जाय, क्योंकि ये ही इसके कल्याण-मार्गमें ठग† हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार वञ्चक पुरुष जीवके साथ-साथ लगे रहकर और उसको भ्रमाकर उसका धन हरण कर लेते हैं, इसी प्रकार ये राग-द्वेष भी जीवके हृदयमें ही बैठकर और असत्य विषयोंमें सत्य-बुद्धि दृढ कराके इस जीवको भ्रमा देते हैं और इसका आत्म-धन हरण कर लेते हैं। अतः मनुष्यका पुरुषार्थ यही है कि वह अपने विवेक व विचारबलसे इन राग तथा द्वेषोंके वशीभूत न हो जाय। क्योंकि वैसे तो यद्यपि प्रत्येक इन्द्रियका अपने अनुकूल विषयमें राग और प्रतिकूल विषयमें द्वेष स्वाभाविक ही रहता है, तथापि आप भी इनके साथ लगकर इन्द्रियस्वरूप न बन जाय। किन्तु विचारद्वारा अपने-आपको इनसे इसी प्रकार पृथक् कर लेवे, जैसे तुली से मूँज अलग कर ली जाती है।

इस लिये मनुष्यको चाहिये कि अपना कल्याण साधन करनेके लिये कम-से-कम स्वधर्मका आचरण करे, क्योंकि स्वधर्माचरणसे ही ये राग-द्वेष दबाये जा सकते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

† धनीके सोते हुए जो धन चुरा ले जाय, उसको 'चोर' कहते हैं। तथा धनीकी सावधानीमें शस्त्रबलसे जो धनका हरण करे, उसको 'डाकू' कहते हैं। परन्तु धनीके साथ-साथ लगा रहकर और मित्रभाव दर्शाते रहकर चालाकीसे जो धनका हरण करे, उसको 'ठग' कहते हैं।

दूसरेके धर्मका आप आचरण करनेसे, गुणरहित भी अपना धर्म कल्याणरूप है, अपने धर्ममें मर जाना भी श्रेष्ठ है, परन्तु परधर्म भयदायक है।

भावार्थ—आशय यह है कि स्वधर्मका आचरण प्रकृति (यहाँ प्रकृतिका अर्थ ईश्वरीय नियम अर्थात् क़ानून है) के अनुकूल है, इसलिये अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वाभाविक चेष्टा भी जीवको ऊँचा उठा ले जानेकी ज़ुम्मेवार है, चाहे वह सदोष भी हो। परन्तु प्रकृतिविरुद्ध चेष्टा चाहे वह उत्तम भी हो, तथापि जीवके कल्याणमें बाधक है। जैसे ज्वरपीड़ित रोगीको रूखा अन्न ही उसकी प्रकृतिके अनुकूल है, चाहे वह बलहीन भी हो, फिर भी इसीसे बल प्राप्त करता हुआ वह कालान्तरमें घृत भी पचा सकता है। यदि उसको अभी घृतका सेवन कराया जाय, तो वह उसके लिये पुष्टिकारक न होकर उसकी दुर्बलता का ही हेतु होगा। इसी प्रकार स्वधर्मका आचरण करते-करते मर जाना भी श्रेष्ठ है, क्योंकि इस प्रकार मरकर भी भावी जन्म में स्वधर्माचरण उसको उन्नत किये बिना न रहेगा। जैसे बालक प्रथम पाठ पढ़ता-पढ़ता यदि सो गया है, तो जागकर वह दूसरे दिन दूसरा पाठ ही पढ़ेगा। सारांश यह कि प्राकृतिक प्रवाहके साथ-साथ चलकर ही प्रकृतिपर क़ाबू पा सकते हैं, जैसे नदीके प्रवाहके साथ-साथ चलकर और उसको बहनेका मार्ग देकर ही नदीपर पुल बना सकते हैं और उसपर क़ाबू पा सकते हैं। शास्त्रानुकूल वर्णाश्रम धर्मके साथ-साथ जिन कर्मोंमें किसी भी अंशमें मानसिक, वाचिक, शारीरिक अथवा आर्थिक त्यागका सम्बन्ध हो और जिनको चित्त स्वाभाविक ग्रहण करता हो, वेही कर्म स्वधर्माचरणरूप कहे जाते हैं। इसी स्वधर्माचरणसे राग-द्वेष दब सकते हैं। क्योंकि इस स्वधर्माचरणमें अधिकारानुसार

त्याग निहित है और केवल त्याग ही राग-द्वेषके दबानेकी कुञ्जी है।

इसपर अर्जुन ऐसी शङ्का मनमें लाकर कि 'सुख सभी चाहते हैं दु:ख तो कोई भी नहीं चाहता, इस लिये कल्याणके इच्छुक तो सभी होते हैं, फिर भी मनुष्य पापरूप दु:खोंकी ओर क्यों खिंचा चला जाता है' आश्चर्यमान् हो प्रश्न करता है—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! फिर यह मनुष्य किस शक्तिद्वारा प्रेरा हुआ न चाहता हुआ भी इसी प्रकार पापका आचरण कर बैठता है, मानो किसीने बलात्कारसे इसको जोड़ दिया हो?

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह 'काम' है, और यही 'क्रोध' है। भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाले महापापी इस 'काम'को ही तू इस विषयमें (जीवका) वैरी जान।

अपने लक्ष्यमें विघ्न होते देखकर यह काम ही क्रोधाकार हो जाता है, इस लिये क्रोध कामकी ही एक दूसरी अवस्था है।

अर्थात् यद्यपि सुख तो सभी चाहते हैं, तथापि अपने रजोगुणी वेगके कारण यह काम जीवको देखने नहीं देता कि इसका वास्तविक कल्याण किसमें है।

यह काम किस प्रकार जीवको आच्छादन कर लेता है?—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धूएँसे अग्नि ढकी रहती है, जैसे मलसे दर्पण ढक जाता है तथा जैसे जेरसे गर्भ ढका रहता है, तैसे ही उस कामसे यह (ज्ञान) ढका हुआ है।

इस प्रकार कामका आवरण तीन प्रकारका बतलाया गया, एक अग्निको ढकनेवाले धूमके समान सूक्ष्म आवरण, दूसरा मध्यम आवरण दर्पणको ढकनेवाले मलके समान तथा तीसरा गाढ़ा आवरण जेरके समान जिसमें लपेटा हुआ गर्भ दिखलाई भी नहीं पड़ता।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

[इसी प्रकार] हे कौन्तेय! ज्ञानियोंके नित्य वैरी और अग्नि के समान जो कभी पूर्ण होनेवाला नहीं है तथा इच्छा जिसका रूप है, ऐसे इस कामद्वारा ज्ञान ढका हुआ है।

इसी लिये जीवको अपना कल्याण नहीं सूझता। शत्रुको पकड़नेके लिये उसके घरका पता जानना चाहिये, अतः भगवान् उसके घरका पता देते हैं कि वह कहाँ रहता है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि इसके निवासस्थान कहे जाते हैं, इनमें बैठकर और ज्ञानको आच्छादन करके यह जीवको विमोहित कर देता है (और जीवको अपना श्रेयः देखने नहीं देता)।

इसको पकड़नेका क्या उपाय है?

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इस लिये हे भरतश्रेष्ठ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके

ज्ञान-विज्ञानके नाश करनेवाले इस पापीको जय कर। (गुरु शास्त्र-द्वारा आत्मानात्म-विवेकका नाम ज्ञान है और उसका विशेषरूप से अनुभव विज्ञान कहलाता है)।

तू यह जान कि इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि, कामरूपी शत्रुके गढ़ की ये तीन ड्यौढ़ियाँ हैं, इनपर अधिकार पानेसे लोक-परलोक सभी जीते जाते हैं। वह इस प्रकार—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

(बाह्य प्रपञ्चसे) इन्द्रियोंको परे (श्रेष्ठ, अन्तःस्थ व सूक्ष्म) कहते हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी परे है वह आत्मा है।

भावार्थ—दृश्य प्रपञ्च व शरीर इन दोनोंसे इन्द्रियाँ परे हैं, अर्थात् इन दोनोंसे श्रेष्ठ, अन्तःस्थ व सूक्ष्म हैं। इन्द्रियोंको वश में करनेसे सभी संसार वश किया जा सकता है, जैसे वीणा-दुन्दुभी आदि बाजोंपर अधिकार पानेसे उनसे निकलनेयोग्य सभी स्वरोंपर अधिकार पाया जाता है। जब इन्द्रियाँ इस जीव के शत्रु हो जाती हैं तो सभी संसार इसका शत्रु हो जाता है। अर्थात् जब इन्द्रियाँ बेलगाम घोड़ेकी तरह भोगपथमें मनमाने रूपसे विचरने लग जाती हैं, तभी सम्पूर्ण संसार सशस्त्र इस जीव के विरुद्ध खड़ा हो जाता है। इन्द्रियोंसे परे मन है, इन्द्रियोंपर अधिकार पानेसे मनपर भी अधिकार पा सकते हैं, जैसे घोड़ेको पकड़नेसे सवार भी पकड़ा जाता है। मनसे परे बुद्धि है, अर्थात् मनरूपी घोड़ेको पकड़नेसे बुद्धिरूपी सवार भी पकड़ा जाता है। और जो बुद्धिसे भी परे है वह आत्मा है, अर्थात् इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि पर अधिकार पानेसे कामरूपी शत्रुको पकड़ सकते हैं और फिर आत्म-साक्षात्कारद्वारा इसको भस्म कर सकते हैं।

इस प्रकार इन्द्रियों, मन व बुद्धिपर अधिकार पानेसे काम-रूप शत्रुकी गिरफ़्तारी और आत्मज्ञानद्वारा उसका समूल उच्छेद कहा गया, अब इसी विषयको स्पष्टतया वर्णन करते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

हे महाबाहो ! इस प्रकार अपने मन-इन्द्रियोंद्वारा अपनी बुद्धिको वशमें करके तथा बुद्धिसे परे जो आत्मा है उसको साक्षात्कार करके दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार ।

भावार्थ—आशय यह है कि इन्द्रियों, मन व बुद्धिको वशमें करनेसे कामरूपी शत्रु दबाया जा सकता है, मारा नहीं जा सकता। केवल आत्मसाक्षात्कारद्वारा स्वरूपस्थिति प्राप्त करके ही यह कामरूप शत्रु समूल भस्म किया जा सकता है। जब यह शिव-शम्भु अपना तृतीय ज्ञानरूपी नेत्र खोले तो एकदम कामरूप शत्रु समूल भस्म हो जाता है। विचारसे देखा जाय तो सब का-मनाओंके मूलमें भेद-दृष्टि ही एकमात्र कारणरूपसे पाई जाती है। काम्य वस्तुको जब अपनेसे भिन्न जाना, तब राग करके उसकी प्राप्तिकी इच्छा और द्वेष करके निवृत्तिकी इच्छा स्वतः ही होती है। कामना मन-बुद्धिका धर्म है, इस लिये धर्मीको दबानेसे धर्म भी दब तो जाता है, परन्तु जबतक भेद-बुद्धि बनी हुई है और काम्य वस्तु अपनेसे भिन्न प्रतीत हो रही है, काम समूल नष्ट नहीं हो सकता। परन्तु जब ज्ञानद्वारा भेद-दृष्टिरूप अज्ञान दग्ध हो जाय और अपने आत्मासे भिन्न कोई वस्तु स्वरूप से शेष ही न रहे तो काम्य वस्तुके अभावसे कामनाका भी स्व-रूपसे ही अभाव हो जाता है। अधिष्ठान-ज्ञानसे अध्यस्त-वस्तु की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है, जैसे शुक्तिके ज्ञानसे भ्रम-

जन्य दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। इसी प्रकार सम्पूर्ण काम्य वस्तु व कामनाका अधिष्ठान जो आत्मा उसके साक्षात्कार से कामरूप शत्रुका अत्यन्ताभाव सम्भव है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीआत्मेश्वरानन्दी अनुभवार्थ-दीपिका' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

तृतीय अध्यायका स्पष्टीकरण

द्वितीय अध्यायके अन्तमें स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा कि 'जिस संसार-चक्रमें सब भूत-प्राणी जागे हुए हैं उसमें वह स्थितप्रज्ञ सोया पड़ा है और जिस परमार्थ-तत्त्वमें सब भूत-प्राणी अचेत हैं अर्थात् सोये हुए हैं, उसमें वह जाग रहा है अर्थात् उसका रस ले रहा है (२ । ६९)। तब अर्जुनने इसका अर्थ यह समझा कि भगवान् कर्मत्यागरूप कोरे ज्ञानकी प्रशंसा कर रहे हैं। इसपर तीसरे अध्यायके आरम्भमें उसने भगवान्‌से प्रश्न किया कि यदि कर्मकी अपेक्षा आप ज्ञानको श्रेष्ठ समझते हैं तो इस घोर कर्ममें मुझे क्यों जोड़ रहे हैं (श्लो० १-२)।

स्थितप्रज्ञके उपर्युक्त लक्षणसे भगवान्‌का आशय तो यह था कि इस 'योग'की इतनी विशाल महिमा है, जिसके प्रभावसे यह पञ्चभौतिक विशाल प्रपञ्च सन्मुख खड़ा हुआ भी स्वप्नरूप हो जाता है और वह योगी अपने साक्षीस्वरूपमें ऐसा डटकर आसन लगाता है कि संसारमें ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसको वहाँसे विचलित कर सके। तथा शरीर, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिसे 'कर्ता' 'अहन्ता' व 'ममता' का नाता यहाँतक टूट जाता है कि शरीरादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी वह अपना न कुछ कर्तापन जानता

है और न अपने स्वरूपमें कुछ होता हुआ ही देखता है। बल्कि इसके शरीरादिद्वारा स्वाभाविक चेष्टाएँ इसी प्रकार होती रहती हैं, जैसे किसी घड़ीमें चाबी लगा दी जाय तो वह नियत समयतक अपने-आप टिक-टिक करती रहती है। इस प्रकार सब कुछ करता हुआ भी वह कुछ नहीं करता और नहीं बँधता है।

परन्तु अर्जुनके इस प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने समझा कि यह हमारे आशयको कुछ भी ग्रहण नहीं कर पाया है। तब नीचे उतरकर उन्होंने उसको उपदेश किया कि जैसा तुमने समझा है, स्वरूपसे कर्म-त्यागमें हमारा आशय कदापि नहीं है। इस संसारमें दो प्रकारकी निष्ठाएँ मेरे द्वारा पूर्व कथन की गई हैं, एक 'सांख्यनिष्ठा' दूसरी 'योगनिष्ठा' (इन दोनोंके भेद बतानेमें भगवान्‌का तात्पर्य नहीं है, किन्तु इनका भेद अध्यारोप करके इन दोनोंके अभेदरूप समन्वयमें ही उनका तात्पर्य है)। परन्तु इन दोनोंमेंसे किसी भी निष्ठामें स्थिति पानेके लिये कर्म-त्यागसे काम नहीं चल सकता और प्रकृति-राज्यमें स्वरूपसे कर्मका त्याग हो भी नहीं सकता। क्योंकि केवल हाथ-पाँव के हिलन-चलनका नाम ही कर्म नहीं है, बल्कि मन-बुद्धिमें जो भावरूप स्पन्द होता है, वह सब कर्म ही है। जब ऐसा है तो हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियोंको जकड़कर जो मनसे विषय-चिन्तन करता रहता है वह कर्म-त्यागी नहीं होगा, बल्कि वह तो मिथ्याचारी ही कहा जायगा। इस प्रकार कर्मकी अनिवार्यता बतलाकर इस मिथ्या कर्मत्यागसे उस निष्काम-कर्मके आचरणको भगवान्‌ने आदर दिया, जिसके द्वारा इधर मिथ्याचारित्वके दोषसे छूटकर रजोगुणी वेग निवृत्त हो जाता है तथा रजोगुणी वेगसे छुटकारा पाकर अन्तःकरणकी निर्मलता हो जाती है और उधर ईश्वरकी प्रसन्नताद्वारा ज्ञानराज्यका अधिकार प्राप्त हो जाता है। यही कर्मका फल था (३-९)।

इस प्रकार कर्मकी अनिवार्यता कथन करके कर्मकी अनादिता निरूपण की और बतलाया कि ब्रह्माने सृष्टिके साथ ही कर्मरूप यज्ञका निर्माण किया

है, इस लिये जबतक सृष्टि विद्यमान है कर्म कैसे छूट सकते हैं? बल्कि कम-से-कम मनुष्यपर यही कर्तव्य है कि वह अपने कर्मरूप यज्ञद्वारा संसार के सञ्चालन करनेवाली शक्ति जो देवता हैं उनको प्रसन्न करे, जिनकी प्रसन्नतासे संसारकी भलाईके साथ-साथ इसकी अपनी भी भलाई हो। फिर उस यज्ञरूप चक्रका वर्णन किया, जिसके द्वारा वर्षा व अन्नकी उत्पत्ति होती है और अन्नद्वारा प्रजाकी सृष्टि होती है। इस प्रकार कर्मसे प्रजा और प्रजासे कर्मका जो अनादि चक्र चला आ रहा है उसका वर्णन किया और उन इन्द्रियारामी निषिद्ध सकामियोंकी निन्दा की, जो निष्काम-कर्मद्वारा ईश्वरके कृपापात्र होकर न ज्ञानराज्यके अधिकारी हुए और न जिन्होंने शुभ सकाम कर्मद्वारा इस प्रकार ससार-चक्रको घुमानेमें ही अपना हाथ बटाया (१०-१६)।

इस प्रकार भगवान्‌ने बतलाया कि प्रकृतिके राज्यमें तो किसी तरह कर्म से छुटकारा है ही नहीं। परन्तु हाँ, वे वीर पुरुष जिन्होंने मदमाते केसरी सिंहके समान देखते-देखते प्रकृतिके पिञ्जरेको चूरचूर करके ज्ञानाग्निसे भस्म कर दिया है और अपने आनन्दस्वरूपमें झण्डे गाड़कर परमानन्दसे तृप्त हो रहे हैं, उनके लिये तो कुछ भी कर्तव्य नहीं। क्योंकि कुछ करके या न करके उनको कुछ पाना या त्यागना नहीं रहता और कर्ममें प्रवृत्ति कुछ पाने या त्यागनेके लिये ही होती है। इस लिये अर्जुन! तू उस सच्ची स्वतन्त्रताको पानेके लिये, जहाँ सब कर्तव्य इस सिंहके सन्मुख शृगालोंकी भाँति पीठ दिखाते होते हैं, सदैव अनासक्त भावसे-कर्म कर, क्योंकि अनासक्त कर्मद्वारा ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है। इस रीतिसे कर्म का पर्यवसान उस आत्मतृप्तिमें ही किया और अनासक्त कर्मद्वारा उसकी प्राप्तिका क्रम बतलाया तथा जनकादिको इसमें दृष्टान्त रूपसे वर्णन किया (१७-१९)।

तत्पश्चात् तत्त्ववेत्ता ज्ञानियोंके लिये किसी प्रकार कर्तव्यता व प्राप्तव्यता न रहते हुए भी लोकसंग्रहार्थ कर्ममें प्रवृत्त होनेके लिये उन्हें परामर्श

किया। उनके कर्म न करनेसे जिस प्रकार संसारकी हानि और उनके कर्मा-चरणसे जिस प्रकार संसारी जीवोंका लाभ होता है, उस हेतु व फलका वर्णन किया तथा इस विषयमें स्वयं अपने-आपको दृष्टान्तरूपसे प्रस्तुत किया (२०-२६)।

इस रीतिसे वास्तवमें कर्म तो किसी भी अवस्थामें छूटते नहीं हैं, ऐसा कर्मकी बलवत्ताका वर्णन करके 'प्रकृतिके कार्य देहादिमें अज्ञानसे आसक्त हुआ पुरुष किस प्रकार कर्म-बन्धनमें आ जाता है और तत्त्ववेत्ता पुरुष देहा-दिसे असंग हुआ किस प्रकार कर्मोंसे निर्लेप रहता है' सो स्पष्ट करके बत-लाया और अर्जुनको उपदेश किया कि तू इसी ज्ञाननिष्ठ चित्तसे मुझमें सब कर्मोंका संन्यास करके विगतज्वर हुआ युद्ध कर। फिर कहा कि जो पुरुष मेरे इस मतमें श्रद्धा रखते हैं और इसका अभ्यास करते हैं, वे भी कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो इस मतमें कि 'हमारा आत्मा अकर्ता व अभोक्ता है' श्रद्धा भी नहीं रखते बल्कि दोष-दृष्टि रखते हैं, उनका तो अधःपतन ही होता है (२७-३२)। तदनन्तर इस अध्यायके उप-संहारमें अर्जुनको कहा कि जैसा तुमने समझा है, स्वरूपसे कर्म-त्यागमें हमारा आशय नहीं है, किन्तु उस योगयुक्त कर्ममें ही हमारा तात्पर्य है जिसके द्वारा यथार्थ व शुद्ध सर्वकर्म-संन्यासकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि कर्म तो क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी किसीसे भी छूटते नहीं हैं। इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें जो राग-द्वेष है, उसको परमार्थ-पथमें बटमार कहा गया और स्वधर्माचरणद्वारा उस राग-द्वेषको दबाने की आज्ञा दी गई (३३-३५)।

तत्पश्चात् अर्जुनके पूछनेपर कि यह पुरुष पापोंकी इच्छा न रखता हुआ भी क्योंकर पापोंकी ओर बलात्कारसे खिंचा चला जाता है? भगवान्‌ने बत-लाया कि रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही जीवका शत्रु है। अग्निके समान भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला यही ज्ञानको आच्छादित कर देता है जिससे मनुष्यको अपना श्रेयः नहीं सूझ पड़ता। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इसके रहनेके स्थान बतलाये गये और समझाया कि इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिको

दबानेसे यह कामरूप शत्रु दब जाता है, नष्ट नहीं होता; परन्तु बुद्धिसे परे जो आत्मा है, उसके साक्षात्कारसे यह समूल दग्ध हो जाता है (३६-४३)।

इस प्रकार वह अर्जुन जो मोह करके कर्मसे ग्लानि कर बैठा था, इस अध्यायमें भगवान्‌ने उसको कर्मका विचित्र रहस्य समझाया। तथा कर्मकी बलवत्ता, अनिवार्यता, अनादिता, सृष्टि व कर्मका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध, लोकसंग्रहके निमित्त कर्मकी आवश्यकता और लोकसंग्रहकी विधि कथन करके यह समझाया कि वास्तवमें प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही सब प्रकार कर्मरूप व्यापार चल रहा है, जीवके वास्तविक आत्मस्वरूपमें तो इन का कुछ भी स्पर्श नहीं है। परन्तु अहंकार करके जिनका चित्त मोहित हो गया है, वे अपने आत्मामें कर्तापनका अहंकार धारण करके मुफ्तमें ही अपने-आपको भोक्तृत्वके बन्धनमें डाल लेते हैं। तथापि तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा इस विषयको ज्यों-का त्यों ऐसा समझ लेना कि 'मेरे वास्तव स्वरूपमें कर्मोंका कदापि कोई लेप नहीं है, मैं तो प्रकृति व प्रकृतिजन्य गुण-कर्मोंका केवल द्रष्टा-साक्षी हूँ और प्रकृतिके गुण-कर्म मेरे आत्मस्वरूपके चमत्कार व तरङ्गे-मात्र हैं, जैसे समुद्र अपनी तरङ्गोंसे भीग नहीं जाता, तैसे ही कर्तृत्व व कर्म मेरेसे भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं और मेरेमें इनका कोई सङ्ग नहीं है' यही भगवान्‌में सर्वकर्म-सन्यास है। कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ बैठना कर्म-संन्यास नहीं है, यहाँ आकर ही 'सांख्य' व 'योग' दोनोंका यथार्थ समन्वय हो जाता है। यही सच्चा व ठोस कर्म-सन्यास करके अन्तमें अर्जुनको युद्ध करनेके लिये उपदेश किया गया (श्लो० ३०)।

इस रीतिसे कर्मसे विमूढचित्त अर्जुनको वास्तव कर्म-त्यागका स्वरूप बोधन करके अध्यायकी समाप्ति की गई। अब चतुर्थ अध्यायके आरम्भमें भगवान् उसी अभिन्नरूपसे भगवत्स्वरूप-स्थितिरूप योगकी स्वयं चर्चा करते हैं, जिसका दूसरे अध्यायके अन्तमें भी निरूपण कर चुके हैं। अब उस योगकी अनादि परम्परा तथा अव्ययताका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—इस अव्यय योगको मैंने (सृष्टिके आदिमें) सूर्यके प्रति कहा था, सूर्यने (अपने पुत्र) मनुको और मनुने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकुके प्रति कहा।

भावार्थ—'इमं अव्ययं योगम्', (यह अविनाशी योग) यहाँ 'इमम्' (यह) शब्दसे यह संकेत किया गया कि जो अभी पहले कहा जा चुका है, वह योग। अर्थात् जिस योगका दूसरे अध्यायमें निरूपण हो चुका है और तीसरे अध्यायके अन्तमें भी 'अपनेमें सर्व-कर्म-संन्यास' रूपसे जिसका बोधन किया गया है, वही यह योग। 'अव्यय' शब्द इस योगकी पुरातन परम्परा का बोधन करता है। 'योग' शब्दका अर्थ यहाँ निष्काम-जिज्ञासु का 'कर्तृत्व' व 'कर्तव्य' बुद्धि धारकर केवल कर्मफल-त्यागरूप 'योग' नहीं और वह अविनाशी भी नहीं है। किन्तु अन्तःकरण की शुद्धिमात्र ही उसका फल होनेसे उसका नाश है, क्योंकि फलवाली वस्तु अविनाशी नहीं हो सकती। किन्तु जहाँ तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा 'सांख्य' व 'योग' दोनोंका समन्वय होकर अर्थात् कर्मत्याग व फलत्याग दोनोंकी एकता होकर जीवका अपने परमात्मस्वरूपमें योग (अभेद) हो जाता है, वही यह 'योग' है। इस योगका कदापि नाश नहीं होता, इस लिये यही अविनाशी योग है। क्योंकि जीवका ब्रह्मसे परमार्थसे भेद नहीं होता है, केवल अज्ञानकी उपाधिके कारण सोपाधिक भेदकी कल्पना होती है। ज्ञानद्वारा उपाधिके बाधित हो जानेपर नित्य-निरन्तर अचल योगकी ही सिद्धि हो जाती है। 'मैंने सूर्यके प्रति कहा

था' इसका तात्पर्य यह है कि मैं भी इस योगका प्रकट करनेवाला था, रचनेवाला नहीं, इस लिये यह 'योग' अनादि है। इस प्रकार इस योगको अज व अव्ययरूपसे वर्णन किया गया।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

इस प्रकार परम्परासे प्राप्त करते हुए इस (योग) को राजर्षियोंने जाना। हे परन्तप ! वही योग बहुत कालसे (इस लोकमें) नष्ट हो गया था।

नष्ट होनेका भाव नाश हो जाना नहीं है, किन्तु दब जाना, लुप जाना ही इसका तात्पर्य है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वही यह पुरातन योग आज मैंने तेरे प्रति कथन किया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है; इसलिये यह उत्तम रहस्य प्रकट किया गया।

इसपर अर्जुन शङ्कायुक्त होकर बोला—

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुन बोला—आपका जन्म तो अभी (वसुदेवके गृहमें) हुआ है और सूर्यका जन्म सृष्टिके आदिमें हुआ था। तब सृष्टिके आदिमें आपने (इस योगको) कथन किया था, यह मैं कैसे जानूँ ?

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। हे परन्तप ! उन सब (जन्मों) को मैं जानता हूँ, परन्तु तू नहीं जानता।

भावार्थ—अर्जुन ! तेरी ज्ञानशक्ति पुण्य-पापादिके संस्कारों से आच्छादित है, इसलिये तू अपने उन व्यतीत जन्मोंको नहीं जानता। परन्तु मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव हूँ, इसलिये मेरी ज्ञानशक्ति आवरणरहित होनेसे मैं उन सब जन्मोंको जानता हूँ।

जब आप सर्वज्ञ, ईश्वर, नित्य व शुद्धस्वरूप हैं, तब पुण्य-पापके संस्कारों बिना आपका जन्म कैसे होता है ? ऐसी शङ्का उपस्थित होनेपर भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अज-अविनाशी आत्मा होते हुए भी और सब भूतोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको वशमें करके अपनी माया-रूप लीलासे प्रकट होता हूँ।

भावार्थ—अन्य प्राणियोंका जन्म अपने पुण्य-पापरूप संस्कारों से प्रकृतिके अधीन परवश होता है। परन्तु मेरा जन्म अपने किसी पुण्य-पापादि संस्कारोंसे प्रकृतिके अधीन नहीं होता, किन्तु मैं तो प्रकृतिको अपने अधीन करके जन्म धारण करता हूँ। तथा मेरा जन्म मायामात्र लीलारूप है, वास्तविक नहीं। क्योंकि अन्य प्राणियोंकी भाँति मेरे जन्मका फल सुख-दुःखादि-भोग नहीं है।

ऐसा आप किस समय जन्म धारण करते हैं ?

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती

है, तब-तब ही मैं अपने स्वरूपको प्रकट करता हूँ ।

आपके जन्मका प्रयोजन क्या होता है ?

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधु पुरुषोंका उद्धार, दुष्टोंका नाश तथा धर्म-स्थापना करने के लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ ।

भावार्थ—साधु पुरुषोंके पुण्य और दुष्टोंके पाप ही इकट्ठे मूर्तिमान होकर मेरे शरीरकी रचना करते हैं । और सत्पुरुषों का उद्धार, दुष्टोंका नाश तथा धर्म-स्थापना ही इस शरीरकी रचनाका प्रयोजन होता है । इससे भिन्न इस शरीर-रचनामें मेरा अपना न कोई हेतु है और न फल ही है ।

अब अपने जन्म-कर्मोंकी दिव्यताका निरूपण करते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

[इस प्रकार] हे अर्जुन ! मेरे जन्म व कर्म दिव्य हैं, ऐसा जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीर त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझे ही प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—मैं सर्वसाक्षी, नित्य अजन्मा व अकर्मा मायामात्र जन्मता-सा दीखता हुआ भी वास्तवमें नहीं जन्मता । तथा कर्म करता-सा प्रतीत होता हुआ भी कुछ नहीं करता और कर्म होते-से दीखते हुए भी मेरेमें कुछ नहीं बनते । अर्थात् वे जन्म व कर्म मुझ सर्वसाक्षीके आश्रय मायाराज्यमें स्वप्नवत् प्रतीत होते हुए भी मुझमें उन जन्म-कर्मादिका कोई लेप नहीं है, यही मेरे जन्म-कर्मकी दिव्यता है । ऐसा जो मुझ सर्वात्मा और अपने आत्माको तत्त्वसे अभिन्नरूप जानता है । अर्थात् जिसने तत्त्वसे

यह साक्षात् अपरोक्ष कर लिया है कि 'जिस प्रकार आकाशके आश्रय आँधी, वर्षा व तापादि प्रकट होते हुए भी आकाशको रञ्चकमात्रभी स्पर्श नहीं करते, इसी प्रकार अस्ति-भाति-प्रियरूप आत्माके आश्रय सम्पूर्ण जन्म-कर्मादि आभासमात्र प्रतीत होते हुए भी आत्माको स्पर्श नहीं करते, देहादिसे असंग सो आत्मा मैं ही हूँ।' वह पुरुष जीता हुआ ही मुक्त है और वह शरीर त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझे ही प्राप्त हो जाता है।

ऐसा आपको जानकर कोई मुक्त हुआ भी है?

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

जिनके राग, भय व क्रोध निवृत्त हो गये हैं और जो मत्परायण व मदाश्रित हुए हैं, ऐसे ज्ञानरूपी तपसे पवित्र हुए बहुत-से पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं।

भावार्थ—इस प्रकार राग, भय व क्रोधसे छूटे हुए बहुत-से पुरुष ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए मेरे स्वरूपको प्राप्त होगये हैं। ज्ञानसे भिन्न अन्य कोई तप इस जीवको ऐसा पवित्र नहीं कर सकता, जिसके द्वारा यह जीव अपने आत्मस्वरूपमें योग प्राप्त कर सके। केवल यह ज्ञान ही इसको पवित्र करके अपने आत्मस्वरूपसे अभेद करा सकता है कि 'मैं देहादिसे असंग नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप हूँ।' तथा इस ज्ञानके अधिकारी वे ही होंगे जो राग, भय व क्रोधादिसे मुक्त होकर केवल भगवत्परायण हुए होंगे।

इस प्रकार ज्ञानरूप तपसे तो बहुत-से मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए ही हैं, परन्तु अन्य भी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो जिस भावसे मुझे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ, (इस प्रकार) हे पार्थ! सब प्रकार मनुष्य मेरे मार्गके अनुसार ही वर्तते हैं। (अर्थात् मुझ सत्तास्वरूपके आश्रय ही उनका सब व्यवहार सिद्ध होता है)।

भावार्थ—आशय यह कि मैं सामान्य चेतन और सर्वसाक्षी स्वय नीरूप होते हुए भी जैसी-जैसी जीवोंकी भावरूप उपाधिको पाता हूँ उनके लिये वैसा ही बन जाता हूँ। जैसे वायु तथा अग्नि अपना कोई आकार न रखते हुए भी, जैसी-जैसी लम्बी, चौड़ी, टेढ़ी, सीधी उपाधिरूप काष्ठ अथवा स्थानके साथ मिलते हैं, आप वैसा-वैसा ही आकार धारण कर लेते हैं। 'वायुर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूपं रूप प्रतिरूपो बभूव' (कठ० उप०)। इसी प्रकार रावणादिके वैरभावसे भजनेपर मैं उनके लिये शत्रुरूप, दशरथ तथा वसुदेवके पुत्रभावसे भजनेपर उनके लिये पुत्ररूप, अर्जुन और सुदामाके मित्रभावसे भजनेपर सखारूप, कामनियोंके लिये कामरूप, सकामियोंके लिये इच्छित वस्तुरूप, निष्कामियोंके लिये शांतिरूप और अभेदभावसे भजनेवालोंके लिये आत्मरूप धारण कर लेता हूँ। इसी प्रकार यह संसार अपना कोई रूप न रखता हुआ भी दुष्टोंके लिये कलियुगरूप, सत्त्वगुणीके लिये सत्युगरूप, कामियोंके लिये भोगरूप, वैराग्यवानोंके लिये अग्निके समान तप्तरूप और ज्ञानवानोंके लिये आनन्दरूप सिद्ध होता है। यद्यपि इस संसारका अपना कोई रूप नहीं है, तथापि उनकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न दृष्टियोंके अनुसार मैं ही उन-उनको संसाररूपमें वैसा-वैसा प्रतीत होने लगता हूँ। इस प्रकार सब प्राणी मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं, अर्थात् सब प्राणियोंकी सब गतियों मैं ही हूँ। सब प्राणियोंकी सब गतियाँ एकमात्र सुखके लिये ही होती हैं, सो मुझ सुख-

स्वरूपको जो जिस भावसे भजते हैं, मैं भी उनके लिये वैसा ही रूप धारण कर लेता हूँ।

इसी नियमके अनुसार—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

इस लोकमें कर्मोंके फलको चाहते हुए जो देवताओंको पूजते हैं, मानुष लोकमें (मेरे द्वारा) उनके कर्मोंसे उत्पन्न हुई फल-सिद्धि शीघ्र ही होती है।

भावार्थ—जो सकामी फलाशा धारकर देवताओंका भजन करते हैं, उनकी भावनाके अनुसार उस-उस देवताके रूपमें मैं सर्वात्मा ही उनका पूज्य इष्टदेवरूप धारण करता हूँ। तथा उनकी इष्ट वस्तुके रूपमें भी मैं ही उनके सम्मुख उपस्थित होता हूँ, जैसे सुवर्ण ही कटक-कुण्डलादिके रूपमें प्रकट होता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

[तथा] गुण व कर्मके भेदसे चतुर्वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य व शूद्र) मेरे द्वारा ही रचे गये हैं, मुझ अविनाशी अकर्ता को ही तू उनका भी कर्ता जान।

भावार्थ—वास्तवमें तो मैं अविनाशी व अकर्ता हूँ, कर्ता बननेसे मैं अविनाशी नहीं रह सकता, क्योंकि जिसमें कर्तापन का विकार है वह अविनाशी कैसे रह सकता है? परन्तु वस्तुतः अकर्ता होते हुए भी केवल मेरी सत्ता-स्फूर्तिद्वारा ही यह सब रचना प्रकृतिराज्यमें होती है, अतः मुझमें कर्तापनका आरोप होता है। जैसे आकाश स्वयं कुछ न करता हुआ भी केवल उसकी सत्ताके आश्रय उसमें अखिल ब्रह्माण्डकी रचना

होती है, इसी प्रकार प्रकृतिराज्यमें गुण व कर्मके विभागसे चारों वर्णोंकी रचना मेरी सत्ता-स्फूर्तिद्वारा ही सिद्ध होती है।

इस प्रकार सब कुछ मेरे द्वारा सिद्ध होते हुए भी तत्त्वसे—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

न मुझको कर्म लेपायमान करते हैं और न मेरी कर्मफलमें आसक्ति ही है, ऐसा जो मुझको जानता है, वह भी कर्मोंसे बन्धायमान नहीं होता।

भावार्थ—जैसे आकाशके आश्रय आकाशमें सभी रचनाएँ होती हैं, परन्तु आकाशको उन सबका कोई लेप नहीं होता। इसी प्रकार सब कर्ता, कर्म व करण मुझ सर्वसाक्षी सर्वात्माकी विद्यमानतामें मेरे आश्रय सिद्ध होते हुए भी वे मुझको लेपायमान नहीं करते। ऐसा जो मुझ सर्वात्माको आत्मरूपसे अपरोक्ष जानता है कि 'वही मैं हूँ' वह कर्मोंसे बन्धायमान नहीं होता।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

इस प्रकार जानकर (कि मुझ सर्वात्माको किसी प्रकार कर्म का लेप नहीं है तथा ऐसा मुझे यथार्थ जाननेवाला भी कर्मसे नहीं बँधता) पहले मुमुक्षुओंद्वारा भी (मुझे इस प्रकार जानने के लिये) कर्म किया गया है। इस लिये (हे अर्जुन!) तू भी परम्परासे किये हुए कर्मको ही कर। (स्मरण रहे कि उपासना व तत्त्व-चिन्तनादि भी अधिकारीके लिये कर्म ही हैं कर्महीनता नहीं पृ० ११३-१२१ देखिये)।

इस प्रकार भगवान्‌ने अपने दिव्य जन्म व कर्मोंका बोधन किया और उनको यथार्थरूपसे जाननेका फल भी वर्णन किया।

अब कर्म-अकर्मका स्वरूप कथन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

[वास्तवमें] कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इस विषय में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये मैं उस कर्म का तत्त्व तेरे प्रति कहता हूँ, जिसको जानकर तू अशुभरूप संसारसे छूट जायगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

'कर्म' का स्वरूप भी जानना चाहिये और 'विकर्म' (निषिद्ध कर्म) का स्वरूप भी जानना चाहिये तथा 'अकर्म' (कर्मशून्यता) का स्वरूप भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्मकी गति गहन है।

इस प्रकार कर्म-अकर्मादिका स्वरूप कथन करनेकी प्रतिज्ञा करके अब उनका स्वरूप निरूपण करते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो पुरुष कर्ममें अकर्म देखता है तथा अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वह युक्त है और वही सब कुछ कर चुका है।

भावार्थ—'आत्मैवेदं सर्वं' (यह सब दृश्यमान प्रपञ्च आत्मा ही है) इस ज्ञानकी दृढ अपरोक्षता करके जिसका परिच्छिन्न-अहंकार दग्ध हो गया है और देहेन्द्रियमनबुद्धिसे अहंभाव छूट कर जो अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें ही अहंरूपसे स्थित हो गया है, वह पुरुष सम्पूर्ण द्रव्य, गुण व कर्मरूप संसारको आत्मरूप ही देखता है और अपने आत्मासे भिन्न इनकी अपनी कोई सत्ता

नहीं देखता, जैसे कटक-कुण्डलादि अनेक आभूषणोंमें सर्राफकी सुवर्ण-दृष्टि अपरोक्ष होती है। ऐसे पुरुषके देहेन्द्रियमनबुद्धयादि-द्वारा सब चेष्टाएँ स्वाभाविक प्रकट होती हुई भी, वह आकाश-वत् देहेन्द्रियादिके व्यापारोंका अपने आत्मस्वरूपमें कोई लेप नहीं देखता और स्वप्नवत् कुछ बनता हुआ नहीं जानता। यही 'कर्म' में 'अकर्म' (आत्म) दर्शन है। इसके विपरीत जो पुरुष देहाभिमानसंयुक्त रहते हुए शारीरिक बाह्य चेष्टाओंको तो त्याग बैठा है, परन्तु मनसे विषयोंका चिन्तन कर रहा है और इस प्रपञ्चमें उसकी सद्बुद्धि भी विद्यमान है, वह पुरुष न करता हुआ भी सब कुछ कर रहा है और वस्तुतः कर्म-बन्धनमें है क्योंकि वह वासना व भावनासंयुक्त है, यही 'अकर्म' (कर्म-त्याग) में भी कर्म-दर्शन है। ऐसा जो तत्त्वसे जानता है वही बुद्धिमान् है, वही अपने आत्मामें योगयुक्त है और उसीने सब कुछ कर लिया है, अर्थात् ऐसा तत्त्ववेत्ता कृतकृत्य है और उस के लिये कुछ कर्तव्य नहीं रहता।

अब उसी योगीका स्वरूप, जो कर्ममें अकर्मदर्शी है, पाँच श्लोकोंमें नीचे वर्णन करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके सभी कर्म कामना और संकल्पसे रहित हैं तथा जिसने ज्ञानाग्निसे सभी कर्मोंको भस्म कर दिया है, उसको बुद्धिमान् पुरुष 'पण्डित' कहते हैं।

भावार्थ—कर्ममें प्रवृत्तिके हेतु काम (इच्छा) व संकल्प ही हैं और काम व संकल्पका मूल परिच्छिन्न-अहंकार है। अज्ञान के प्रभावसे पुरुष जब अपने-आपको अपने वास्तविक आत्मस्व-रूपसे भिन्न कुछ कल्पना करता है, तभी काम उत्पन्न होता है

और फिर कामसे संकल्प बनता है। परन्तु जब ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित होकर अज्ञानको भस्म कर देती है और 'सर्व मैं ही हूँ' इस ज्ञानकी प्रौढतासे 'अहन्ता' का आसन परिच्छिन्न-अहंकारसे उखड़कर सर्वसाक्षी अपने आत्मामें जम जाता है, तब वह सम्पूर्ण कारण-कार्यकी एकमात्र सत्ता अपने आत्माको ही देखता है और तब अज्ञान करके प्रतीयमान अहंकाररूप कर्ता, काम व संकल्परूप निमित्त तथा कर्मरूप कार्य—ये सभी त्रिपुटीरूप शृङ्खला शिथिल हो जाती है। फिर तो क्या कर्ता, क्या निमित्त और क्या कर्म—सभीकी अधिष्ठानरूप सत्ता वह अपने आत्माको ही देखता है। और ये सभी कर्ता व कर्मादि अपने स्वरूपकी आभासमात्र तरंगें ही भान होने लगती हैं तथा काम व संकल्प भुने हुए बीजके समान रह जाते हैं। इस प्रकार जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म होकर काम-संकल्पवर्जित हो रहे हैं, उसीको ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं (पृ० २१४-२१५)।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

[ऐसा] नित्यतृप्त व निराश्रयी (योगी) कर्ममें कर्तृत्वाभिमान और फलकी आसक्तिको त्यागकर कर्ममें भली भाँति प्रवृत्त हुआ भी कुछ भी नहीं करता है।

भावार्थ—अपने परमानन्दस्वरूपमें जो नित्य तृप्त है, तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा देहादिके संगसे जो असंग है, 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे कर्तृत्वाभिमानसे जो विमुक्त है, जिसने कर्म-फलको त्याग दिया है तथा जो उभय लोकके इष्टफलके साधनरूप आश्रयसे भी रहित है, ऐसा योगी देहेन्द्रियमनबुद्धिद्वारा कर्मोंमें भली भाँति प्रवृत्त हुआ भी कुछ भी नहीं करता है। जैसे स्वप्नसे जागा हुआ पुरुष स्वप्नव्यवहारोंका अपनेमें कोई लेप नहीं देखता, इसी प्रकार वह

तत्त्वारूढ हुआ कर्ममें अकर्मदर्शी होता है (पृ० २२६)।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

[तथा वह पुरुष जिसने] चित्त व शरीरको जीत लिया है तथा सम्पूर्ण भोगसामग्रीको त्याग दिया है, ऐसा निराशी पुरुष केवल शारीरिक कर्म करता हुआ पापको प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—उपर्युक्त विचारानुसार चित्त व शरीरसे 'अहंभाव' निवृत्त होकर अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें 'अहंरूप' से स्थित होना, यही चित्त व शरीरका जीतना-अर्थात् ठीक-ठीक जीतना है। पदार्थोंमें सद्बुद्धि करके ही आशाका प्रवेश होता है, परन्तु सर्वाधिष्ठान अपने आत्मस्वरूपमें स्थिति पा जानेके कारण आशाके विषय सब पदार्थ साक्षात् स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं तथा जब पदार्थोंकी अपनी कोई सत्ता ही नहीं रही तब आशाको ठौर कहाँ? इस प्रकार यह योगी स्वाभाविक ही निराशी है। जिसके सम्बन्धसे सुखशून्य हुए भी ये विषय सुखरूप भान होते थे ऐसा सुखस्वरूप अपना आत्मा नकद प्राप्त हो जानेके कारण सब परिग्रहरूप भोग-सामग्रीका स्वतः ही त्याग हो जाता है। ऐसा तत्त्व-योगी केवल शारीरिक कर्म करता हुआ 'किल्बिष' (पाप) को प्राप्त नहीं होता अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारमें नहीं आता। 'शारीरं केवलं कर्म' का अर्थ शरीरनिर्वाहमात्र कर्म नहीं है। यदि ऐसा अर्थ किया जाय तो 'यस्य सर्वे समारम्भाः (श्लो० १९) तथा 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि' (श्लो० २०) ऊपरके इन वचनोंसे इसकी सङ्गति नहीं लगती और न ऐसा विधिसे बन्धायमान पुरुष कि उसको शरीरनिर्वाहमात्र ही कर्म करना कर्तव्य है, कर्ममें अकर्मदर्शी ही हो सकता है। किन्तु आशय यह है कि केवल शरीर इन्द्रिय मन तथा बुद्ध्यादिद्वारा किसी कर्तव्यके बिना स्वाभाविक सब कर्म करता हुआ भी, उन कर्मोंके साथ

अहंकारका सम्बन्ध न होनेके कारण, वह उनके पुण्य-पापरूप बन्धनमें नहीं आता। क्योंकि बन्धन व पापादिका मूल अहंकार ही होता है, सो ज्ञानाग्निद्वारा भस्म हो चुका, अब शरीरादि इञ्जिन के समान अपनी प्रारब्धरूपी सड़कपर चल रहे हैं। यही 'शारीरं केवलं कर्म' का भावार्थ है। स्मरण रहे कि 'शारीरं' शब्द यहाँ केवल स्थूल शरीरका ही वाचक नहीं है, किन्तु स्थूल-सूक्ष्म दोनों का ही वाचक है। क्योंकि सूक्ष्म शरीरके संयोग बिना केवल स्थूल शरीरमें कर्मका असम्भव है। तथा 'किल्बिष' शब्द भी पुण्य-पाप दोनोंका ही वाचक है, क्योंकि पुण्य भी बन्धनका हेतु होनेसे किल्बिषरूप ही है (पृ० २१६-२१८)।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

[तथा वह पुरुष] अपने-आप जो कुछ आ प्राप्त हो उसमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला, (हर्ष-शोकादि) द्वन्द्वोंसे अतीत, मत्सरता-रहित तथा सिद्धि व असिद्धिमें समचित्त कर्मोंको करके भी बन्धनमें नहीं आता है।

भावार्थ—शरीर-इन्द्रियादि भोगसाधन, भोग्यरूप सामग्री और इनके सम्बन्धसे अनुकूल-प्रतिकूलज्ञानद्वारा हर्ष-शोकादि अन्तःकरणकी वृत्ति—ये सब उस समयतक ही अपना प्रभाव रखते हैं और जीवको अपने बन्धनमें लाते हैं, जबतक शरीरादिमें अज्ञानकल्पित 'अहंबुद्धि' बनी रहती है। परन्तु जब इस 'अहं-बुद्धि' का नाता यहाँसे टूटकर अपने सच्चे आत्मस्वरूपमें जा मिला, तब इच्छाके विषय पदार्थोंकी सत्ताके अभाव-दर्शनसे वह योगी स्वाभाविक 'यदृच्छालाभसंतुष्ट' होता है तथा द्वन्द्वोंकी कोई सत्ता न देखता हुआ स्वतः 'द्वन्द्वातीत' है। और 'यह सब मेरा ही चमत्कार है' इस दृष्टिसे मत्सरताशून्य है, क्योंकि मत्सरताका

हेतु भेददृष्टि ही हुआ करती है। इस प्रकार अहंकर्तृत्वभाव न रहनेसे सिद्धि व असिद्धिमें समता स्वाभाविक आ जाती है। ज्ञानाग्निके प्रभावसे शरीरादि भोक्ता, भोग्य सामग्री तथा सुख-दुःखादि फलमेंसे सत्यतारूपी रस दग्ध हो जानेके कारण ये सब उसके स्वरूपमें आभासमात्र रह जाते हैं, वह अपने स्वरूपमें इन का कोई स्पर्श नहीं देखता और वास्तवमें अपने आत्मस्वरूपमें इन करके कुछ बनता हुआ नहीं पाता। इस रीतिसे वह आभासमात्र क्रिया करता हुआ भी कुछ नहीं करता और नहीं बँधता, चाहे अन्य अज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह कर्ता-सा और भोक्ता-सा प्रतीत होता भी हो, परन्तु वस्तुतः वह कर्ममें अकर्मदर्शी ही है(पृ० २१८)।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

[इस प्रकार] सर्वसम्बन्धशून्य, ज्ञानमें स्थितचित्तवाले मुक्त पुरुषके सम्पूर्ण कर्म यज्ञार्थ आचरण करते हुए नष्ट हो जाते हैं।

अर्थात् उसके सम्पूर्ण कर्म यज्ञरूप हो जाते हैं, 'यज्ञ' नाम व्यापक विष्णुका है।

भावार्थ—जिस प्रकार एक तरङ्गका तो अन्य तरङ्गसे सम्बन्ध सम्भव है, परन्तु जलके साथ जलरूप ही होनेसे किसी भी तरङ्गका सम्बन्ध सम्भव नहीं। इसी प्रकार अपने सर्वात्मस्वरूपमें स्थित हो जानेके कारण वह ज्ञानावस्थित पुरुष स्वाभाविक ही सब सङ्गों से मुक्त है। ऐसा पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' और 'मुझे कुछ कर्तव्य है' इस भावसे छूटा हुआ स्वाभाविक ही जिन कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, वे सभी यज्ञरूप अर्थात् ब्रह्मरूप ही होते हैं (पृ० २१९)।

उन आत्मस्वरूपस्थ योगियोंद्वारा अपनी-अपनी पूर्व प्रकृति के अनुसार स्वाभाविक जो भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ यज्ञरूप होती हैं, अब उनका वर्णन करते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

अर्पण (अर्थात् स्रुवादि) ब्रह्म है, हवि (अर्थात् हवनयोग्य द्रव्य) भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्ताद्वारा जो हवनरूप किया है वह भी ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म-कर्म-समाधि-वाले पुरुषद्वारा जो प्राप्तव्य वस्तु है वह भी ब्रह्म ही है।

भावार्थ—आशय यह है कि कर्मप्रवृत्तिमें छः कारक होते हैं, वे इस प्रकार—

(१) क्रियाका 'कर्ता', (२) जिसपर क्रियारूप व्यवहार हो, वह 'कर्म', (३) जिस साधनद्वारा क्रिया हो, वह 'करण', (४) जिस के लिये क्रिया की जाय, वह 'सम्प्रदान', (५) जहाँसे क्रिया की जाय, वह 'अपादान', (६) तथा जिसमें क्रिया की जाय, वह 'अधिकरण'।

इस प्रकार इस ब्रह्म-कर्म-समाधिवाले पुरुषकी प्रवृत्तिके हेतु छहों कारकोंमें ब्रह्म-दृष्टि ही बनी रहती है। जिस प्रकार रज्जुके ज्ञाताकी भ्रमके विषय सर्प, दण्ड व माला आदिमें रज्जु-दृष्टि ही रहती है। 'यज्ञ' शब्द करके इन कारकोंको अग्नि, हवि आदिके अलङ्काररूपसे वर्णन किया गया है। 'यज्ञ' शब्दका अर्थ व्यापक विष्णु है, अर्थात् ऐसे योगियोंकी स्वाभाविक सब चेष्टाएँ ब्रह्मरूप ही होती हैं। 'ब्रह्मकर्मसमाधिना' का समास इस प्रकार हैं—ब्रह्म एव कर्म=ब्रह्मकर्म, तस्मिन् ब्रह्मकर्मणि समाधि (एकत्वदृष्टि) यस्यासौ ब्रह्मकर्मसमाधि, तेन 'ब्रह्मकर्मसमाधिना'। अर्थात् ब्रह्मरूप कर्ममें ही जिसकी एकत्व-दृष्टि हो रही है, उस पुरुषकी सब चेष्टाएँ ब्रह्मरूप ही होती हैं।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

अन्य योगी दैवयज्ञको ही भली भाँति उपासते हैं और अन्य योगी ब्रह्मरूप अग्निमें (ज्ञानरूप) यज्ञद्वारा यज्ञको ही हवन करते हैं।

भावार्थ—आशय यह कि किसी कर्तव्यके बिना स्वाभाविक अपनी प्रकृतिके अनुसार कोई तत्त्ववेत्ता योगी देवार्चनरूप यज्ञ का आचरण करते हैं। इसमें जनक व श्रीरामचन्द्रादि दृष्टान्त-रूप हैं। ब्रह्माग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञका हवन करना यह है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रूपी ज्ञानयज्ञ करके यज्ञको ही भस्म कर बैठते हैं। अर्थात् उपर्युक्त ज्ञानकी पराकाष्ठा करके 'कुछ करने अथवा कुछ न करने' से ही हाथ धो बैठते हैं, इसमें श्रीदत्तात्रेयादि अवधूत दृष्टान्तरूप हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्य योगी श्रोत्रादि इन्द्रियोंको संयमरूप अग्निमें हवन करते हैं और दूसरे शब्दादि विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियोंका संयमरूप अग्निमें हवन यह है कि इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयसम्बन्धसे निरोध करके स्वाधीन कर लेते हैं। तथा शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्निमें हवन यह है कि शास्त्रविधिसे रसवर्जित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका सेवन करते हैं। जड़भरतादि योगी इसमें दृष्टान्तरूप हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अन्य योगीजन सब इन्द्रियों व प्राणोंके व्यापारोंको ज्ञानसे प्रज्वलित हुई आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन करते हैं।

भावार्थ—'अहं ब्रह्मास्मि' रूप आत्माकार अपरोक्ष वृत्तिद्वारा जिन्होंने ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करके 'देहोऽहम्', 'कर्ताभोक्ताहम्' इत्यादिरूप देहाभिमानको दग्ध किया है और जो अपने आत्म-स्वरूपमें अभेदरूपसे स्थित हुए हैं। अर्थात् 'मैं देहेन्द्रिय व प्राणादिसे असंग हूँ, मैं इनके धर्मोंका धर्मी नहीं, किन्तु द्रष्टा-साक्षी हूँ' इस नक़द ज्ञानद्वारा जिन्होंने अपने आत्मस्वरूपमें विश्राम पाया है। ऐसे अन्य योगी इन्द्रियों व प्राणोंके व्यवहारों को आत्मसंयमरूप योगाग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रिय व प्राणोंके कर्मोंके तमाशाई रहते हैं। यही आत्मसंयमरूप योगाग्नि में इन्द्रिय व प्राणोंके कर्मोंकी आहुति है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

[इसी प्रकार] यत्नशील तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त कोई योगी द्रव्य-यज्ञ, कोई तपोयज्ञ, कोई योगयज्ञ, कोई स्वाध्याययज्ञ तथा कोई ज्ञानयज्ञका आचरण करते हैं।

भावार्थ—तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा अपने आत्मस्वरूपमें योग पाये हुए योगी कर्तृत्वभावके बिना अपनी-अपनी पूर्व प्रकृतिके अनुसार भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ करते हुए भी कर्ममें अकर्मदर्शी ही हैं। उनमें कोई परमार्थ पथमें द्रव्यका व्ययरूप द्रव्य-यज्ञ करते हैं, कोई तप-यज्ञ करते हैं, कोई अष्टांग-योगरूप* यज्ञका आचरण करते हैं, कोई वेदाध्ययनरूप स्वाध्याय-यज्ञको धारण करते हैं तथा कोई तत्त्वोपदेश व अध्यात्मविषयक ग्रन्थरचना-रूप ज्ञानयज्ञका आचरण करते हैं।

*१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान व ८ समाधि—इन अष्ट अङ्गवाले योगका नाम 'अष्टांगयोग' है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अन्य योगी अपान-वायुमें प्राण-वायुको हवन करते हैं तथा प्राण-वायुमें अपान-वायुको हवन करते हैं और कोई प्राण व अपानकी गतिको रोककर प्राणायामपरायण होते हैं ।

भावार्थ—प्राणायाम तीन प्रकारका होता है । पहला, अपान-वायुमें प्राण-वायुका लयरूप 'पूरक' नामसे कहाता है । दूसरा, प्राण-वायुमें अपान-वायुका लयरूप 'रेचक' नामसे कथन किया जाता है । तीसरा, प्राण व अपानकी गतिका निरोधरूप 'कुम्भक' नामसे बोला जाता है । इस प्रकार प्राणायामपरायण हुए कई योगी शरीरमें स्थित रहते हुए भी शरीरसे असंग हुए प्राणापानकी धौंकनियोंको धौंकते रहते हैं । योगवाशिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, भुशुण्डिवाशिष्ठ-संवादमें भुशुण्डिका जीवन इस यज्ञमें दृष्टान्तरूप है ।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

दूसरे नियमित आहार करनेवाले (योगीजन) प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन करते हैं, इस प्रकार यज्ञ (ज्ञानयज्ञ) द्वारा जिनका पाप नाश हो गया है, ऐसे ये सभी योगी यज्ञरूप ब्रह्मके वेत्ता हैं ।

इस प्रकार सात श्लोकोंमें तत्त्ववेत्ता योगियोंकी भिन्न-भिन्न स्वाभाविक चेष्टारूप यज्ञोंका वर्णन किया गया । अब इसका फल तथा व्यापक दृष्टिसे यज्ञका महत्त्व वर्णन करते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

[इस प्रकार] यज्ञशेष ब्रह्मानन्दामृतका पान करते हुए (वे योगी) सनातन ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं । हे कुरुश्रेष्ठ ! यज्ञशून्य

पुरुषको यह लोक ही (सुखदाई) नहीं है, फिर परलोक कैसे (सुखदाई) होगा ?

भावार्थ—इस प्रकार यज्ञरूप अपनी सब वृत्तियोंद्वारा ब्रह्मानन्दका उपभोग करते हुए वे योगी सनातन ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं। कुरुश्रेष्ठ ! व्यापक दृष्टिसे त्याग ही यज्ञ है। जिस-किसी चेष्टाके साथ शारीरिक, वाचिक, मानसिक, अथवा आर्थिक त्यागका किसी भी अंशमें सम्बन्ध होता है, वही यज्ञरूप चेष्टा हो जाती है। त्यागके सम्बन्ध बिना किसी यज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती, इस लिये त्याग ही यज्ञ है, ऐसा कहना चाहिये। इस प्रकार त्यागशून्य (यज्ञशून्य) पुरुषको जब यहाँ ही सुखका असम्भव है, तब उसको परलोकमें सुख होगा, इसकी क्या आशा की जा सकती है ?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तार किये गये हैं, उन सबको तू कर्मजन्य ही जान, ऐसा तत्त्वसे जानकर (संसार-बन्धनसे) मुक्त हो जायगा।

भावार्थ—जिन यज्ञोंका ऊपर वर्णन किया गया है, वे तथा अन्य बहुत प्रकारके यज्ञ वेदमें निरूपण किये गये हैं। परन्तु उन सभी यज्ञोंकी सिद्धि देह, इन्द्रियों, प्राण, मन व बुद्धिकी क्रियाद्वारा ही होती है, इस लिये देहेन्द्रियादिके कर्मजन्य ही वे सब यज्ञ हैं। अहंरूप आत्मा इन सब यज्ञरूप व्योपारोंसे असंग है, ऐसा अपने आत्माको असंग, अकर्ता व अभोक्ता जानकर और उसमें योग पाकर तू संसारबन्धनसे मुक्त हो जायगा।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

[इस प्रकार] हे परतप ! द्रव्यसे सिद्ध होनेवाले यज्ञोंसे ज्ञान-यज्ञ ही श्रेय' है, (क्योंकि) हे पार्थ ! यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें पर्यवसानको प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—जितने भी यज्ञ द्रव्यसाध्य हैं, वे सब कर्मजन्य हैं। उन सब यज्ञोंका फल साक्षात् मोक्ष नहीं, किन्तु साधन-सम्पन्न होकर ज्ञानराज्यका अधिकार प्राप्त करा देना, यही सब द्रव्यमय यज्ञोंका फल है। इसलिये द्रव्यमय यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है, क्योंकि मोक्षका यही साक्षात् हेतु है, इसके बिना द्रव्य-यज्ञ अपने-आप मोक्षको प्राप्त नहीं करा सकते। इस प्रकार यावत् कर्म ज्ञानका अधिकार प्राप्त कराके अपने फलसे मुक्त हो जाते हैं।

अब उस ज्ञानयज्ञकी प्राप्तिका साक्षात् साधन कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

[तत्त्वदर्शी पुरुषोंको] भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम करनेसे बारम्बार प्रश्न करनेसे और उनकी सेवा करनेसे तू उस ज्ञानको प्राप्त कर, वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे ।

भावार्थ—प्रथम, साधनचतुष्टयसम्पन्न* होकर सद्गुरुकी शरणको प्राप्त हो। द्वितीय, भली भाँति उनको दण्डवत् प्रणाम करके और निष्कपट भावसे उनकी सेवा करके उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर। तृतीय, जिज्ञासु-भाव और तर्करहित बुद्धिसे उनसे बारम्बार प्रश्न कर कि 'भगवन् ! इस जीवको दुःखरूप संसारका बन्धन कैसे हुआ तथा इससे यह कैसे मुक्त हो?' इस प्रकार तेरे कोमल व्यवहारसे द्रवीभूत हो वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञानोपदेश करेंगे। अर्थात् केवल शास्त्रवेत्ता ज्ञानियोंसे कार्यसिद्धि न होगी, किन्तु तत्त्वदर्शी ज्ञानी ही तुझे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करा सकेंगे।

* पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिकामें इसका लक्षण देखिये ।

अब चार श्लोकोंमें उस ज्ञानका फल निरूपण करते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

हे पाण्डव ! जिस ज्ञानको प्राप्त होकर तू फिर इस प्रकार मोहको प्राप्त न होगा और जिस ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण भूतोंको अपने आत्मामें और मुझमें (अभिन्नरूप) देखेगा ।

भावार्थ—पाण्डव ! जिस ज्ञानयज्ञमें स्थित होकर तुझे फिर इस प्रकार मोहकी प्राप्ति न होगी कि 'मैं भीष्म-द्रोणादिको मारनेवाला हूँ, अथवा भीष्म-द्रोणादि मारेजानेवाले हैं इत्यादि।' किन्तु जिस ज्ञानके प्रभावसे तू सम्पूर्ण भूतोंको अपने आत्मस्वरूप में अपनी चमत्काररूप तरंगें ही देखेगा, जिन तरंगोंके उत्पत्ति-नाशसे तेरे आत्म-समुद्रमें कोई वृद्धि-क्षति नहीं होती तथा अपने आत्माका मुझ परमात्मासे अभेद भी जानेगा ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

यदि तू सब पापियोंसे भी अधिकतर पाप करनेवाला है, तो भी ज्ञानरूप नौकाद्वारा सम्पूर्ण पापोंको भली भाँति तर जायगा ।

भावार्थ—जिस प्रकार नौकारूढ हुआ पुरुष सारे समुद्रको जलके स्पर्श विना ही सुखसे तर जाता है, इसी प्रकार देहाध्यास से छूटकर तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा अपने सर्वसाक्षी आत्मस्वरूपमें स्थित हुआ पुरुष इस ज्ञानरूपी नौकामें आरूढ हुआ कि 'मैं देहादिके धर्म-कर्मोंका कदापि कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, किन्तु सदैव इनके व्यवहारोंका साक्षीरूप द्रष्टा हूँ'—सम्पूर्ण पापोंके समुद्रको किसी खेदके विना तर जाता है । क्योंकि जैसे गंदले गड्ढेमें स्थित हुआ आकाश मलिन नहीं हो जाता तथा समुद्रमें स्थित

आकाश खारी नहीं हो जाता, इसी प्रकार देहादिके सब व्यवहारों में असंगरूप आत्मा नित्य-निर्मल है; जिसमें यह योगी एकत्वभाव से योग पा जाता है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

[क्योंकि] हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्ममय कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मरूप ईंधनको जलाकर भस्ममय कर देती है।

भावार्थ—सब कर्म व संस्कार अहं-कर्तृत्वाभिमानके आश्रय रहते हैं और सभी कर्मरूप बीज इसी मिथ्या अभिमानरूपी भूमिमें फलते-फूलते हैं। उस मिथ्याभिमानको इस योगीने उपयुक्त ज्ञानद्वारा भस्म कर दिया है और अपने आत्मस्वरूपमें एकत्वभावसे योग प्राप्त कर लिया है। इस लिये आधारभूत भूमिके बिना इसके सब सञ्चित कर्मरूप बीज निर्बीज हो जाते हैं और क्रियमाण कर्म भी बीजके हेतु नहीं होते।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

[इसलिये] संसारमें ज्ञानके समान कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है, उस ज्ञानको समय पाकर (मुमुक्षु) योगके भली प्रकार सिद्ध होनेपर अपने हृदयमें स्वयं ही अनुभव करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्णको शुद्ध करनेके लिये यदि समुद्रोंके जलोंसे धोया जाय, अनेक प्रकारसे सोडा-साबुन आदि का प्रयोग किया जाय, तो भी कोई वस्तु उसके मलको निवृत्त नहीं कर सकती। परन्तु उसी सुवर्णको यदि अग्निमें भली भाँति तपाया जाय तो वह तत्काल निर्मल हो जाता है और अपना पूरा

मूल्य नक़द प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार पुण्य-पापके कर्ता, दुःख-सुखके भोक्ता और जन्म-मरणके धर्ता इस जीवको यदि कर्म, दान, यज्ञ व तपादिसे अथवा अन्य संसारी साधनोंसे अनेक जन्मोंपर्यन्त पवित्र किया जाय तो भी यह असम्भव है। केवल ज्ञानाग्नि ही इसके कर्तृत्व-भोक्तृत्व, पुण्य-पाप तथा जन्म-मरणादि सम्पूर्ण मलोंको तत्काल भस्म करके तुच्छको महान् ईश्वरोंका-ईश्वर, नित्य-निष्पाप, नित्यानन्द, अज व अव्ययरूपसे पवित्र कर सकती है। इसलिये ज्ञानके समान कोई पवित्र वस्तु संसारमें नहीं है।

इस प्रकार ज्ञानकी महिमा व फल निरूपण करके अब अधिकारका वर्णन करते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३६॥

श्रद्धावान्, तत्पर एवं जितेन्द्रिय (मुमुक्षु) ज्ञानको प्राप्त होता है और ज्ञानको प्राप्त होकर उसी क्षण परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—गुरु-शास्त्रके वचनोंमें अचल विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है। ज्ञानके लिये कटिबद्ध होनेको 'तत्परता' कहते हैं। और अश्वारूढ पुरुषकी भाँति इन्द्रियोंका स्वाधीन विचरना 'जितेन्द्रियता' कहलाता है। इस प्रकार जिस मुमुक्षुके अन्तःकरणमें ये तीनों एक साथ एकत्रित हो जाते हैं वही ज्ञानको प्राप्त होता है। तीनोंमेंसे किसी एकके बिना भी ज्ञानकी प्राप्ति दुष्कर है; जैसे आटा, घृत व शक्कर इन तीनोंमेंसे किसी एकके बिना भी महाप्रसादकी सिद्धि असम्भव है। उस ज्ञानको प्राप्त करके वह अपने परमानन्दस्वरूप परम शान्तिको इसी प्रकार तत्काल नक़द प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार सोया हुआ पुरुष जागकर और स्वप्नकी व्यथासे छूटकर अपने स्वरूपको पा लेता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

[इसके विपरीत] जो अज्ञानी व श्रद्धाहीन है तथा संशयात्मा भी है वह विशेषरूपसे नष्ट हो जाता है। संशयात्माको तो न इस लोक की ही प्राप्ति होती है, न परलोक और न सुख ही मिलता है।

भावार्थ—यद्यपि अज्ञानी व श्रद्धाहीन पुरुषका कल्याण कठिन है, तथापि किसी प्रकार उनका कुछ कल्याण हो भी जाय परन्तु संशयात्मा पुरुषका तो कल्याण असम्भव ही है और उसे दोनों लोकोंसे ही भ्रष्ट जानो।

अध्यायके आरम्भमें जिस योगका वर्णन किया था, उसी का उपसंहार करके अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

हे धनञ्जय! योगद्वारा जिसने सब कर्मोंका त्याग कर दिया है और ज्ञानद्वारा जिसके सब संशय नष्ट हो गये हैं, ऐसे आत्म-वेत्ताको कर्म नहीं बाँध सकते।

भावार्थ—अपने आत्मस्वरूपमें एकत्वभावसे योग प्राप्त करके जिसने सब कर्मोंका संन्यास कर दिया है अर्थात् अपनी असङ्गताके कारण देहादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी जो वस्तुतः अकर्ता है। तथा अपने आत्मा व परमात्माके अभेद ज्ञान-द्वारा जिसके कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सब संशय नष्ट हो गये हैं, ऐसे आत्मवेत्ताको सञ्चित-क्रियमाणादि शुभाशुभ कर्म बन्धन करनेमें समर्थ नहीं होते।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिये हे भारत! अज्ञानजन्य हृदयस्थ इस संशयको अपनी ज्ञानरूपी खड्गसे काटकर योगमें स्थित हो और युद्धके लिये खड़ा हो।

भावार्थ—भारत ! तेरा हृदयस्थ यह संशय कि 'मैं अर्जुन हननरूप क्रियाका कर्ता हूँ और भीष्मादि मरणरूप विकारके विकारी हैं' केवल अज्ञानजन्य है । इस संशयको अपनी ज्ञानरूपी खड्गसे काट और समझ कि वस्तुतः आत्माका परमात्मासे कदाचित् कोई भेद नहीं, नित्य ही अभेद है। केवल अज्ञानद्वारा देहादि के मिथ्याहंकारसे भेदकी कल्पना होती है, परन्तु वास्तवमें भेद हो नहीं जाता, नित्य अभेद ही रहता है । जिस प्रकार घटकी उपाधिसे यद्यपि महाकाशसे घटाकाशके भेदकी कल्पना की जाती है, परन्तु वास्तवमें घट अपने सम्बन्धसे आकाशमें कोई परिच्छेद कर नहीं सकता तथा घटके उत्पत्ति-नाशसे घटाकाश का उत्पत्ति-नाश भी नहीं होता । इसी प्रकार देहादिके उत्पत्ति-नाशसे आत्माका उत्पत्ति-नाश नहीं होता और न व्यापक चेतन (परमात्मा) से उसका कभी कोई भेद ही होता है । इस प्रकार ज्ञानद्वारा योगमें स्थित हो और युद्धके लिये खड़ा हो । मारना व मरनारूप व्यवहार देहोंका है, आत्माका नहीं । अज्ञान करके देहादिके व्यवहारोंको अपने आत्मामें कल्पना करके ही तुझे यह भ्रम हो रहा है कि 'मैं मारनेवाला हूँ और ये मारे जानेवाले हैं।' (पृ० २२०-२२२)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे-श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्रविषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी अनुभवार्थदीपक' भाषा-भाष्यमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

चतुर्थ अध्यायका स्पष्टीकरण

चतुर्थ अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने उसी तात्त्विक योग (अर्थात् आत्म-स्वरूपमें अभिन्नरूपसे स्थितिरूप योग) की स्वयं चर्चा की, जिसका द्वितीय व तृतीय अध्यायमें निरूपण किया गया था और उस योगको अव्ययरूपसे वर्णन किया। वास्तवमें बात तो यही है कि जीवका अपने परमात्मासे वियोग तो कभी हुआ ही नहीं और होगा भी नहीं, केवल मध्यमें ही अज्ञान करके मिथ्या वियोगकी कल्पना कर ली गई है। ज्ञानद्वारा जब उस अज्ञानको दग्ध कर दिया जाय, तब स्पष्ट प्रतीत होगा कि योग तो स्वाभाविक नित्य ही सिद्ध था और वह अनादि-अनन्त है। जैसे तरङ्ग अपने किसी लम्बे-चौड़े बाह्य आकारपर अभिमान करके बाहर-भीतर सर्वत्र व्यापक अपने अनन्त जलस्वरूपको भुला बैठे और अपनी सजातीय तरङ्गोंकी मारसे व्याकुल होकर जलके साथ अभेद होनेके लिये आतुर हो, परन्तु जब किसी साधनद्वारा उसको अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाय और वह अपने अन्दर-बाहर सर्वत्र व्यापक जलस्वरूपको पाकर तरङ्ग अभिमान छोड़ बैठे, तब तो उसे अनुभव होगा कि उसका जलके साथ वियोग कदाचित् सम्भव ही नहीं था, बल्कि सब तरङ्गें उसीका चमत्कार थीं, फिर मार कैसी? यह सब कुछ तो उसीका विलास था। इस प्रकार इस योगको अव्ययरूप वर्णन करके फिर इसकी परम्पराका वर्णन किया और जिस प्रकार कल्पके आदिमें भगवान्‌के द्वारा इसका प्रादुर्भाव होकर यह हाथों-हाथ चला आ रहा था, उसका निरूपण करके भगवान्‌ने कहा कि काल-प्रभावसे यह योग लुप्त गया था, वही योग मैं अब तेरे प्रति कथन कर रहा हूँ (१-३)।

इसपर अर्जुनने शङ्का की, कि सूर्यसे पहले आपका जन्म था और तब इस योगको आपने कल्पके आदिमें कथन किया था, यह मैं कैसे जानूँ? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने बतलाया कि मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, तू उनको नहीं जानता, परन्तु मैं उन सबको जानता हूँ। अन्य

जीवोंकी भाँति मेरा जन्म पुण्य-पापादिके फल सुख-दुःखादिके भोगके लिये नहीं होता, किन्तु अज-अविनाशी होता हुआ भी जब-जब धर्ममें ग्लानि होती है, तब-तब मैं धर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रकृतिको अपने अधीन करके अवतार धारण करता हूँ (४-८)। परन्तु जन्मता-सा प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः मैं अजन्मा ही हूँ और कर्म करता-सा दीखता हुआ भी अकर्ता ही हूँ, ऐसा मेरे स्वरूपको जो तत्त्वसे जानते हैं वे भी मुक्त हो जाते हैं और बहुत-से साधनसम्पन्न अधिकारी इसी ज्ञानके प्रभावसे मुक्त होगये हैं। सकामी, निष्कामी जो-जो जिस-जिस भावसे मुझे भजते हैं, उनके सब भावोंकी सिद्धि मेरे सकाशसे ही होती है। तथा अन्य सब व्यवहार एवं वर्णाश्रमादिकी व्यवस्था गुण-कर्मोंके विभागसे मेरे द्वारा ही सिद्ध होती हैं, परन्तु वे कोई कर्म मुझे लेपायमान नहीं करते। मेरे ऐसे दिव्य जन्म व कर्मों को जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, वे भी कर्मसे बन्धायमान नहीं होते और मेरे स्वरूपको ऐसा जानकर पहले भी मुमुक्षुओंद्वारा कर्म किया गया है (९-१५)।

इसके उपरान्त भगवान्ने आज्ञा की, कि कर्मकी गति बड़ी गहन है, बुद्धिमान् भी इस विषयमें मोहित हो जाते हैं कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है ? फिर उस कर्म-अकर्मका स्वरूप इस प्रकार बोधन किया कि तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा अपने आत्मस्वरूपमें योग प्राप्त करके जो देहेन्द्रियादिके अभिमानसे छूट गये हैं और देहेन्द्रियादिद्वारा स्वाभाविक कर्मोंको करते हुए जो कर्तृत्वाभिमानसे मुक्त हैं, वे कर्म करते हुए भी वस्तुतः अकर्मी ही हैं। परन्तु देहाभिमानसंयुक्त रहते हुए जिन्होंने केवल देहादिके व्यापारोंका ही त्याग किया है, वे कुछ न करते हुए भी अवश्य कर्म-बन्धनमें हैं (१६-१८)।

तत्पश्चात् उन योगियोंका स्वरूप निरूपण किया जो सब कुछ करते हुए भी अकर्ता ही हैं, जिन्होंने ज्ञानाग्निसे कर्मोंको भस्म कर दिया है, कर्म में अकर्मदर्शी हैं और जिन असंग पुरुषोंकी सब चेष्टाएँ स्वाभाविक यज्ञरूप हो गई हैं (१९-२३)। फिर उन योगियोंकी स्वाभाविक भिन्न-भिन्न यज्ञ-रूप चेष्टाओंका निरूपण किया, जो कि यज्ञशेष ब्रह्मानन्दामृतका पान करते

है। अन्तमें सब द्रव्यमय यज्ञोंसे इस ज्ञानयज्ञकी सर्वोत्कृष्टता वर्णन की, जिसके सिद्ध होनेपर सम्पूर्ण कर्म सफल हो जाते हैं। फिर इस ज्ञानयज्ञकी सिद्धिका साधन बतलाया और उसका फल भी वर्णन किया, जिसके प्रभाव से पापी-से पापी भी पापोंके समुद्रको अनायास तर जाता है और ज्ञानाग्नि से उसके सभी कर्म इसी प्रकार भस्म हो जाते हैं, जैसे भौतिक अग्नि ईंधन के ढेरको भस्ममय कर देती है (३४-३७)। इसके बाद ज्ञानके अधिकारी का लक्षण किया तथा अनधिकारीका स्वरूप भी बतलाया (३३-४०)। और कहा कि इस प्रकार अपने आत्मस्वरूपमें योग प्राप्त करके जिसके सभी कर्मोंका त्याग हो गया है और जो कर्ममें अकर्मदर्शी हुआ है तथा ज्ञानद्वारा जिसके सब भेद व संशय कट गये हैं, ऐसे आत्मवान्‌को कर्म बन्धन नहीं करते। इसी ज्ञानरूपी खड्गसे कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सब संशयोंका छेदन करके तथा योगमें स्थित होकर अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त होनेके लिये उपदेश किया ४१ ४२)।

इस प्रकार यहाँ 'आत्मस्वरूप-स्थितिरूप योग' जिसमें सब कुछ करके भी कुछ न करना रह जाता है, कथन करके इस अध्यायकी समाप्ति की गई और अ० ३ श्लो० ३० में कहे गये (ज्ञाननिष्ठ चित्तसे मुझमें सब कर्मोंका सन्यास करके तथा आशा-ममतासे छूटकर सन्तापरहित हुआ युद्ध कर') इसी योगको इस अध्यायमें विस्तारसे दृढ किया गया। इस अध्याय में कभी कर्म (१२-१७) और कभी ज्ञान (१८-३६) की महिमा सुनकर पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने फिर शङ्का की, कि कभी आप कर्म-सन्यास (ज्ञान श्लो० ४१) और फिर कभी योग (श्लो० ४२) की प्रशंसा करते हैं, इसलिये इन दोनोंमें जो निश्चित श्रेय हो वह एक मुझे कहिये। वास्तवमें भगवान्‌का आशय तो इन दोनोंके भेद बतानेमें कभी नहीं हुआ, किन्तु कर्मसन्यास (साध्य) व योगके अभेदमें ही उनका मुख्य लक्ष्य रहा है। क्योंकि 'अहंकर्तृबुद्धि रूप' अहंकारको बनाये रखकर कर्मोंको त्याग बैठना तो कोई सच्चा कर्म सन्यास नहीं है, किन्तु वह तो एक ऐसा ही मिथ्या कर्म-

संन्यास है, जैसे किसी वृक्षकी मूलमें जलसिञ्चन करते रहकर केवल पत्तोंको तोड़ते रहना। सच्चा कर्म-संन्यास तो वहीं हो सकता है, जहाँ ज्ञानद्वारा अपने आत्मस्वरूपमें एकत्वरूपसे योग पाकर, छिन्नमूल वृक्षकी भाँति कर्मोंकी मूल जो कर्तृत्व-बुद्धिरूप अहंकार है, उसको निर्मूल करके कर्मोंको ही निष्फल कर दिया जाय। इसके साथ ही कर्तव्य-बुद्धि बनाये रखकर भावनामात्र फल-त्याग कि 'मुझे कर्मफलकी इच्छा नहीं है' न यह भगवद्दृष्टिसे सच्चा 'कर्म-योग' है, किन्तु मिथ्या ही योग है। क्योंकि कर्तृत्व व कर्तव्य बनाये रखकर चाहे फल-त्यागकी भावना की गई है, फिर भी जैसा ईश्वरीय नीतिमें रचा गया है, उसका फल है ज़रूर। कर्ताको भोक्ता होना पड़ेगा, ऐसी ईश्वरकी नीति बन चुकी है। हाँ, यह अवश्य है कि फल-त्यागकी भावनाके कारण फलत्यागके सम्बन्धसे उसका फल महान् है, ऐसी त्यागकी महिमा भी उसी नीतिमें रची गई है। यदि फलकी इच्छा न रहनेमात्रसे ही कर्म फलशून्य होता हो, तो दुःख-फल-भोगकी इच्छा तो पापीको भी नहीं है और किसी को भी नहीं है, इसलिये फलकी इच्छा न होनेसे किसीको भी दुःख भोग न होना चाहिये। इस प्रकार कर्तृत्व व कर्तव्य बने रहकर फलाशात्याग फलभोगसे छुटकारा नहीं देता। यद्यपि इसका फल उत्तम लोकोंकी प्राप्ति है, परन्तु फल है अवश्य। इसलिये भगवद्दृष्टिसे यह यथार्थ योग भी नहीं। किन्तु सच्चा निष्काम-कर्म-योग यही है कि ज्ञानद्वारा अपने भगवत्स्वरूपमें योग पाकर कर्तृत्व-बुद्धिरूपी मूलको ही दग्ध कर दिया जाय, फिर आभासमात्र कर्म सच्चे निष्कामयोगको सिद्ध करनेवाले हो सकते हैं।

इस प्रकार अभेदरूपसे भगवत्स्वरूप-स्थितिरूप योगद्वारा 'कर्मसंन्यास' व 'कर्मयोग' की एकता बनाना ही भगवान्का मुख्य लक्ष्य है। परन्तु भगवान्के इस तात्पर्यको अभीतक न समझकर अर्जुन पुनः प्रश्न करता है—

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

इस प्रकार 'सांख्य' (संन्यास) व योगके तत्त्वको न समझकर

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! आप कर्मसंन्यासकी और फिर योगकी प्रशंसा करते हैं, इसलिये इन दोनोंमें जो एक श्रेय हो वह मुझे निश्चित रूपसे कहिये ।

भावार्थ—उपर्युक्त संन्यास व योगके अभेदको न समझ और कर्मसंन्यास तथा कर्मयोगका अन्धकार व प्रकाशके तुल्य भेद जान, अर्जुन भगवान्‌के प्रति प्रश्न करता है—भगवन् ! 'अखिल कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं' 'ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको भस्ममय कर देती है' 'ज्ञानके समान कोई पवित्र वस्तु संसारमें नहीं है' (अ० ४ श्लो० ३३-३८) तथा 'योगद्वारा जिसने सब कर्मोंका संन्यास कर दिया है' (श्लो० ४१) इत्यादि रूपसे कभी आप कर्मसंन्यासरूप ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं और फिर 'योगमें स्थित होकर युद्धके लिये खड़ा हो' (४।४२), इस रूपसे 'योग' की प्रशंसा करते हैं । इसलिये इन दोनोंमें जो एक श्रेय हो वह मुझे निश्चितरूपसे कहिये ।

'अर्जुन तू मूढ है, अबतक हमारे आशयको नहीं समझा' ऐसा तो उस शरणागतके प्रति कहना भगवान्‌ने उचित न समझा, और ऐसे कठोर वचनोंद्वारा शिष्यकी बुद्धिको हत करना न उचित ही होता है । इसलिये मुख्य आशयको मनमें रखकर और अर्जुनकी भेददृष्टिको अङ्गीकार करके, अर्जुनकी मान्यताके अनुसार भगवान् पहले कथन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान् बोले— कर्मसंन्यास व कर्मयोग दोनों ही मुक्ति के देनेवाले हैं, उन दोनोंमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग विशेष है।

भावार्थ— आशय यह है कि श्लोकके प्रथम पादमें अपने लक्ष्य की ओर दृष्टि रखकर दोनोंको निःश्रेयस्कर कथन किया गया, क्योंकि वास्तवमें दोनों एक ही हैं। और दूसरे पादमें अर्जुनकी भेद-दृष्टिको ग्रहण कर साधनको दृढ़ानेके लिये योगको विशेषता दी गई। यदि ऐसा माना जाय कि 'कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधन में सुगम होनेसे श्रेष्ठ मन्तव्य है' तो ऐसा आशय विचारसे सिद्ध नहीं होता। क्योंकि 'संन्यास' से 'योग' श्रेष्ठ तब बताया जा सकता है, जबकि 'संन्यास' व 'योग' दोनों भिन्न-भिन्न मार्ग हों, अथवा दोनों स्वतन्त्र हों, परन्तु ऐसा है नहीं। मुख्य सिद्धान्त-दृष्टिसे तो दोनोंका भेद नहीं अभेद है, जैसा पिछले अध्यायोंमें और इसी अध्यायके श्लो० ४ व ५ में आगे स्पष्ट किया गया है। तथा अध्यारोप-दृष्टिसे दोनों स्वतन्त्र नहीं, किन्तु निष्काम-कर्मयोगद्वारा कर्मसंन्यास (सांख्य) में आरूढ होना होता है, फिर साध्यसे साधन श्रेष्ठ कैसे हो? यदि किसी प्रकार दोनोंको परस्पर निरपेक्ष व स्वतन्त्र माना जाय, तो निष्काम-कर्मयोग स्वतन्त्र मोक्ष प्रदान करनेमें किसी तरह भी समर्थ नहीं है (पृ.६०-६६), फिर इसकी श्रेष्ठता कैसे मानी जाय? इस प्रकार कर्म-संन्याससे निष्काम-कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है, ऐसा अर्थ किसी प्रकार अनुभवानुसारी नहीं होता। किन्तु अपने अधिकारके अनुसार ही कर्मयोगकी श्रेष्ठता है, जिसकी संन्यासमें गम नहीं उसके लिये निष्काम-कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। जैसे ज्वरपीड़ित जो रोगी घृत

नहीं पचा सकता, उसके लिये अधिकारानुसार रूक्ष अन्न ही श्रेष्ठ है।

अब अर्जुनके अधिकारानुसार 'संन्यास' व 'योग' की भेद-दृष्टिसे कर्मयोगकी महिमा करते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

हे महाबाहो ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह नित्य-संन्यासीही जाननेयोग्य है, (क्योंकि राग-द्वेषादि) द्वन्द्वोंसे मुक्त पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे छूट जाता है ।

भावार्थ—सब बन्धनोंका मूल कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अहङ्कार ही है, जन्म-मरणादि अन्य सभी बन्धन तो इसकी शाखाएँ हैं। जो पुरुष न किसी प्रतिकूल विषयसे द्वेष करता है और न अनुकूल विषयकी इच्छा करता है, वह सुखपूर्वक कर्तृत्वादि-बन्धनसे छूट जाता है। अर्थात् द्वेष व इच्छा ही कर्तृत्वादि-बन्धनको सुदृढ़ करनेवाले हैं, इनके अभाव हुए कर्तृत्वादि-बन्धन शिथिल हो जाता है। इस प्रकार जो पुरुष द्वेष व आकांक्षादि द्वन्द्वोंसे छूटा हुआ कर्मोंको करता है, वह सुखसे ज्ञान प्राप्त कर सकता है, क्योंकि द्वेष व आकाङ्क्षा ही ज्ञानमें प्रतिबन्धक हैं। फिर इस निष्काम-कर्ममें तो फल-त्यागकी भावना होनेसे ये दोनों ही नहीं रहते। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह स्वतन्त्र निष्काम कर्म-द्वारा ही बन्धनसे छूट जाता है, किन्तु द्वेष व आकांक्षारहित कर्म करनेसे बन्धन ढीला हो जाता है और फिर वह सुखपूर्वक ज्ञानद्वारा बन्धन-मुक्त हो जाता है, यही इसका तात्पर्य है। 'ऐसा निष्कामी पुरुष नित्य-संन्यासी ही जानना चाहिये' इस वचनका यह भावार्थ नहीं है कि वह वस्तुतः 'नित्य-संन्यासी' शब्दका वाच्यार्थ है और 'नित्य-संन्यासी' शब्द उसमें वस्तुतः प्रवृत्त हो

रहा है। किन्तु जितना कुछ द्वेषादिका त्याग उसके द्वारा हुआ है, उस त्यागकी महिमामें ही तात्पर्य है। जैसे देवदत्तकी वीरता-अंशको लेकर, उसकी वीरताकी महिमाके लिये कहा जाता है कि 'देवदत्त सिंह है' तहाँ 'सिंह' शब्दका वाच्यार्थ देवदत्तमें प्रवृत्त होता है, इसमें तात्पर्य नहीं है। स्मरण रहे कि 'संन्यास' शब्द गीतामें चतुर्थाश्रमके अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ है, किन्तु तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा देहेन्द्रियमनबुद्धिके अहंकारसे सर्वथा मुक्तिका नाम ही गीताकी भाषामें 'संन्यास' है, चाहे वह किसी भी आश्रममें सिद्ध कर लिया जाय। कई टीकाकार 'संन्यास' शब्दका अर्थ चतुर्थाश्रम ग्रहण करके और साम्प्रदायिकताको लेकर खण्डन-मण्डनमें प्रवृत्त हो गये हैं, जो कि भारी भूल है।

अब पुनः अपने मुख्य सिद्धांतको ग्रहण कर 'संन्यास' व 'योग' का अभेद प्रतिपादन करते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

[वास्तवमें तो] 'सांख्य' व 'योग' को बालक भिन्न-भिन्न कहते हैं न कि पण्डित, क्योंकि एकमें भी भली-भाँति स्थित हुआ पुरुष दोनोंके ही फलको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—वास्तवमें 'सांख्य' व 'योग' एक ही हैं, केवल नामका ही भेद है, रूपका भेद नहीं। जो इनमें भेदकी कल्पना करते हैं, वे रहस्यको न जाननेवाले बालबुद्धि ही हैं, तत्त्ववेत्ता इनमें भेदकी कल्पना नहीं करते। जैसा चतुर्थ अध्यायके स्पष्टी-करणके अन्तमें स्पष्ट किया गया है, उससे यह बात भली-भाँति सिद्ध है कि कर्तृत्वाभिमान बनाये रखकर केवल कर्मोंको त्याग बैठना 'कर्म-संन्यास' नहीं हो सकता, क्योंकि त्यागका अभिमान रहनेके कारण वह कर्मत्याग भी अपना फल रखता है। और

इधर कर्तृत्वाभिमान रखकर फलाशारहित कर्म 'योग' भी नहीं बनता, क्योंकि कर्मका कर्ता बनकर चाहे यह भावना की गई है कि 'मुझे कर्मफलकी इच्छा नहीं और मैं उसे ईश्वरार्पण करता हूँ' तथापि उसका फल अवश्य है। क्योंकि कर्मका कर्ता जब विद्यमान है और भावना भी सजीव है, तब फल कहाँ जा सकता है? कर्मसंस्कार सदैव कर्ताके आश्रय रहते हैं और जिस भावनासे किये जाते हैं वैसा ही फल देते हैं, यह नीति ईश्वरने रची है। यहाँ जब कि न कर्तृत्व-अभिमान ही दग्ध हुआ और न भावना ही दग्ध हुई, तब कर्मसंस्कार निष्फल कैसे बनाये जा सकते हैं और तब फल कहाँ जा सकता है? हाँ, यह अवश्य है कि भावनामें फलत्याग रहने के कारण उसका फल उत्तम है, पर है अवश्य। इसके विपरीत कर्तृत्वाभिमानके दग्ध होनेपर चाहे शरीर-इन्द्रियादि मशीनकी भाँति चेष्टाएँ कर रही हों, परन्तु कर्ता न रहनेसे वे फलकी हेतु नहीं हो सकतीं। क्योंकि वे न संस्कारको उत्पन्न करती हैं और न किसी भावना से ही की जा रही हैं। इसलिये वह कर्म करता हुआ भी सच्चा 'कर्म-संन्यासी' और सच्चा 'कर्म-योगी' है, क्योंकि न कर्ता है, न भावना है और न कर्म-संस्कार ही हैं, फिर फल कहाँ और किसको? इस प्रकार अभिन्नरूपसे आत्मस्वरूपस्थितिरूप योग-द्वारा कर्तृत्वाभिमान दग्ध होनेपर 'कर्मसंन्यास' व 'कर्मयोग' दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं और इसके बिना दोनों ही सिद्ध नहीं होते। यहाँ आकर ही दोनोंका मेल व अभेद है। ऐसा जो तत्त्व से जानता है वह पण्डित है और इस प्रकार कर्तृत्वाभिमानसे छुटकारा पाकर जो योग (प्रवृत्ति) अथवा सांख्य (निवृत्ति) दोनों मेंसे किसी एकमें भी भली प्रकार स्थित हुआ है, वह दोनोंके मोक्षरूप फलको पा जाता है। स्मरण रहे कि यहाँ 'सांख्य' तथा

'संन्यास' दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। क्योंकि यद्यपि प्रश्न तो 'संन्यास' तथा 'योग' के विषयमें किया गया था, परन्तु उसका उत्तर 'सांख्य' व 'योग' शब्दोंसे दिया जा रहा है।

इसके विपरीत जिन्होंने 'योग' व 'सांख्य' को साधन-साध्य-रूप ग्रहण करके अथवा परम्परासे फलकी एकता होनेसे इन दोनोंकी एकता ग्रहण की है, वे तो बाल-बुद्धि हैं ही। क्योंकि साधन व साध्यका परस्पर भेद ही देखा गया है, हेतु व फलकी एकता कैसे बने? यदि परम्परासे फलोंकी एकता होनेसे इनकी एकता मानी जाय, तो यज्ञ-दान-तपादि भी परम्परासे ज्ञानमें साधन होनेसे व परम्परासे फलकी एकता होनेसे इनका भी "सांख्य' से अभेद मानना चाहिये। और जिन्होंने 'सांख्य' व 'योग' को भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र व निरपेक्ष मार्ग मानकर इनकी एकता ग्रहणकी है, वे तो बालकोंसे भी परे अत्यन्त बालक कहे जाने चाहियें। क्योंकि 'कर्म कर' (योग) और 'कर्म छोड़' (सांख्य) ये दोनों परस्पर भाव व अभावरूप होनेसे अन्धकार व प्रकाशके समान इनका भेद ही है, किसी प्रकार इनकी एकता नहीं बनती और इस प्रकार परस्पर विरोधी मार्गोंका न फल ही एक हो सकता है (विस्तारके लिये पृ० २२२-२२६ देखिये)।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

[तथा] सांख्योंद्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है योगियों-द्वारा भी वहीं पहुँचा जाता है, इसलिये 'सांख्य' व 'योग' को जो एक देखता है वही यथार्थ देखता है।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे जब कि 'सांख्य' व 'योग' का अभेद है, तब उनके द्वारा प्राप्य स्थान भी एक ही है। क्योंकि अभेदरूपसे अपने आत्मामें योग पाये बिना कर्मसंन्यास सर्वथा

असम्भव है। शरीरसे चेष्टाओंका त्याग हो भी गया तो मनसे चेष्टाएँ चालु रहेंगी, और वे अपना फल रखेंगी ही। परन्तु आत्मामें योग पाकर तो अनर्गल प्रवृत्ति रखते हुए भी सर्वथा कर्मसंन्यास ही है और उनका कोई फल नहीं, क्योंकि अब वह अपने आत्मामें कुछ भी बनता हुआ नहीं देखता, जैसे स्वप्नसे जागा हुआ स्वप्न-चेष्टाओंका अपने स्वरूपमें कोई लेप नहीं देखता। तथा आत्मस्वरूपमें योग बिना फलत्याग भी अशक्य है, जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है कि कर्ता-बुद्धिके रहते हुए फल अवश्य रहता है। परन्तु तात्त्विक योग प्राप्त होनेपर तो कर्मत्याग व फलत्याग दोनों ही यथार्थ रूपसे सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार जो दोनोंको स्वरूपसे एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे महाबाहो! योगके बिना सन्यासकी प्राप्ति दुष्कर है, परन्तु योगयुक्त मुनि तो तत्क्षण ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—महाबाहु! अपने आत्मस्वरूपमें एकत्वभावसे योग प्राप्त किये बिना कर्मसंन्यास दुष्कर है, जैसा पिछले श्लोकोंमें इस विषयको विस्तारसे स्पष्ट किया जा चुका है। तात्त्विक योगके बिना कर्मत्याग भी त्यागका कर्ता रहनेसे अपना फल रखता है, यथार्थरूपसे कर्मसंन्यासको सिद्ध नहीं कर सकता। परन्तु अपने आत्मस्वरूपमें योग पाया हुआ मननशील योगी तो किसी विलम्बके बिना तत्क्षण ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। यदि 'योग' शब्दका अर्थ निष्काम-कर्मयोग माना जाय तथा 'सांख्य' (संन्यास)से उसका भेद अर्थात् क्रम-समुच्चय* अङ्गीकार किया

* निष्काम कर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और तत्पश्चात् ज्ञानसे मोक्ष होता है, इस मतको 'क्रम-समुच्चय' कहते हैं।

जाय, तो उपर्युक्त भगवद्वचनोंकी यथार्थ सङ्गति नहीं लगती। क्योंकि प्रथम तो निष्काम-कर्मी मननशील मुनि नहीं है, किन्तु कर्ता व कर्तव्य-बुद्धिरूप भेददृष्टिसंयुक्त कर्मी है। द्वितीय, जैसा इस श्लोकमें कहा गया है, निष्काम-कर्मयोगी किसी विलम्बके बिना तत्काल ही ब्रह्मको प्राप्त नहीं कर सकता। बल्कि सांख्य (संन्यास) तथा योगकी भेद-दृष्टिसे तो उसको योगद्वारा 'सांख्य' (संन्यास) में आरूढ होना होगा, फिर सांख्य (संन्यास) द्वारा ब्रह्मप्राप्ति करनी होगी। अथवा 'योग' को स्वतन्त्र मार्ग अर्थात् † सम-समुच्चय मानकर भी, जैसा इस श्लोकमें कहा गया है, वह तत्काल ब्रह्मप्राप्ति नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो अभी कर्ता व कर्तव्यरूप भेद-दृष्टि रखता है, फिर तत्काल ब्रह्मप्राप्तिका मुँह कहाँ? (पृ० ६०-६६)। तत्काल ब्रह्मप्राप्ति तो इस नरकेसरीके हिस्सेमें ही आ सकती है, जिसने तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा कर्तृत्व व कर्तव्यादि प्रकृतिके सब बन्धनोंको स्वप्नसे जागे हुएके समान काट दिया है और जीते-जी ही जीवन्मुक्त है। जिस प्रकार स्वप्नसे जागकर मनुष्य तत्काल अपने स्वरूपको पा लेता है, इसी प्रकार योगयुक्त मुनि ज्ञान-जागृति प्राप्त करके अपने ब्रह्मस्वरूप में किसी विलम्बके बिना स्थित हो जाता है। अतः स्पष्ट हुआ कि 'योग' शब्दका अर्थ यहाँ पारमार्थिक योग ही है और उसी का पारमार्थिक संन्याससे अभेद है।

ऊपरके तीन श्लोकोंमें सांख्य (संन्यास) व योगका स्वरूपसे अभेद किया गया, अब आगे सारे अध्यायमें दोनोंके अभेदको 'योग' शब्दसे व्यवहार करके कथन करते हैं—

† निष्काम-कर्म और ज्ञान दोनों मोक्षप्राप्तिमें स्वतन्त्र व तुल्यबल हैं, एकको दूसरेकी अपेक्षा नहीं, इस मतको सम-समुच्चय कहते हैं।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

[इस प्रकार] अपने आत्मस्वरूपमें योग पाया हुआ विशुद्धान्त करण योगी, जिसने मन व इन्द्रियोंको भली भाँति जीत लिया है तथा सर्वभूतोंका आत्मा ही जिसका अपना आत्मा हो गया है, कर्म करता हुआ भी लेपायमान नहीं होता ।

भावार्थ—निष्काम-कर्मयोगी कर्ता व कर्तव्य-बुद्धिसंयुक्त होनेसे देहाध्याससे मुक्त नहीं कहा जा सकता । ऐसी अवस्थामें वह सब चराचर भूतोंके आत्माको अपना ही आत्मा साक्षात् अनुभव नहीं कर सकता और कर्तृत्वाभिमानके कारण कर्म करता हुआ न निर्लेप ही रह सकता है । इसलिये देहाभिमानसे मुक्त तथा आत्मस्वरूपमें एकत्वभावसे स्थित पुरुष ही 'योग-युक्त'शब्दका अर्थ है और उसीमें ये सब वचन सार्थक होते हैं ।

ऐसा पुरुष किस ज्ञान एव भावसे कर्ममें प्रवृत्त होता हुआ निर्लेप रहता है ?

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

तत्त्वको जाननेवाला योगयुक्त योगी, 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसे मानता है और देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, पकड़ता हुआ तथा नेत्रों को खोलता व मींचता हुआ भी, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें वर्त रही हैं, ऐसी धारणा रखता हुआ (कर्मोंमें प्रवृत्त होता है)।

भावार्थ—'मैं साक्षीस्वरूप आत्मा कुछ भी नहीं करता हूँ, न मैं इन्द्रियाँ हूँ, न मेरी इन्द्रियाँ हैं, न मैं इनके व्यापारोंका कर्ता हूँ। किन्तु मैं तो वह अलुप्त प्रकाश हूँ, जिसके सत्तारूप प्रकाश में इनका भावाभावरूप व्यवहार सिद्ध होता है और वह कोई व्यवहार मुझको स्पर्श नहीं करता।' तत्त्ववेत्ता योगी ऐसी अपरोक्ष दृढ धारणा रखता हुआ इन्द्रियों और उनके व्यापारोंसे असंग व कूटस्थ रहता है तथा इन्द्रियोंद्वारा सब कार्य करता हुआ भी कुछ नहीं करता और नहीं बँधता।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

[इस प्रकार] जो पुरुष संगत्याग और ब्रह्ममें अर्पण करके कर्मोंको करता है, वह जलसे पद्म-पत्रके समान पापोंसे लेपायमान नहीं होता।

भावार्थ—जो पुरुष कर्तृत्व-संगका परित्याग करके ब्रह्मार्पण-दृष्टिसे कर्मोंको करता है, वह कमल-पत्रके समान पुण्य-पापादि से लेपायमान नहीं होता। ब्रह्ममें कर्मोंका अर्पण क्या है? इस विषयमें विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि कर्ता व कर्मादि षट कारकोंका तत्त्वविचारद्वारा ब्रह्मसे अभेद हो जाना और ब्रह्म में लय होकर ब्रह्ममय हो जाना ही कर्मोंका वास्तविक ब्रह्मार्पण है, जैसा अ० ४।२४ में निरूपण कर आये हैं। ब्रह्म कोई मूर्तिमान् वस्तु नहीं और न कर्म ही मूर्तिमान् पदार्थ हैं कि जो मूर्तिमान् देवताके सदृश पत्र-पुष्पके रूपमें अर्पण किया जा सके। हाँ, भावनामय अर्पण तो हो सकता है कि 'मैं कर्म-कर्ता अपने कर्म ब्रह्मार्पण करता हूँ'। परन्तु ऐसा भावनामय अर्पण, जैसा इस श्लोकके दूसरे पादमें कहा गया है, पद्म-पत्रके समान पापादि-फलसे निर्लेप नहीं रखता। क्योंकि कर्म-कर्ता अपनेसे भिन्न कर्मों

को अपनेसे भिन्न ब्रह्ममें अर्पण कर रहा है और किये हुए कर्मों की भावना तथा अर्पणकी भावना अपने भीतर भर रहा है, फिर वे फलशून्य कैसे रह सकते हैं ? यद्यपि वह इसके फलमें पापसे तो लेपायमान नहीं हो सकता, परन्तु पुण्यसे अवश्य लेपायमान होना पड़ेगा। और 'पापसे लेपायमान नहीं होता' इसका आशय पुण्य-पाप दोनोंसे ही निर्लेपतामें है, न कि केवल पापसे ही।

इस प्रकार जबतक 'कर्ता' 'कर्म' व 'भावना' तीनों ही ज्ञानाग्निमें भस्म न हों, तबतक कर्मोंका वास्तविक ब्रह्मार्पण सम्भव नहीं और न पद्म-पत्रके समान पुण्य-पापादिसे निर्लेपता ही सम्भव है। क्योंकि भावनामय ब्रह्मार्पणमें 'कर्ता' व 'भावना' का सद्भाव रहनेसे भावनाका फल अवश्य रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

[इस रीतिसे] योगिजन कर्तृत्व-अहंकार त्यागकर केवल शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंद्वारा ही आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं।

भावार्थ—'योगिजन आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं' इस प्रसंगमें आत्मशुद्धि क्या है ? इस विषयपर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि दुर्वासना निवृत्त होकर अन्तःकरणमें शुभवासनाका प्रवाह चलना, यही आत्मशुद्धि नहीं है। किन्तु निर्वासनिक होना ही यथार्थ आत्मशुद्धि है; क्योंकि वासनामात्र अज्ञानजन्य व भ्रमरूप है। अहंकार करके वासनादि अन्तःकरणके धर्मोंको अपनेमें मान बैठना, यही आत्मअशुद्धि थी। अतः तत्त्वदृष्टिद्वारा अहंकारसे पल्ला छुड़ाकर अपने आत्माको असंग देखना और सर्वात्म-दृष्टि प्राप्त करना, यही एकमात्र आत्मशुद्धि हो सकती है। इस प्रकार आत्ममें योगयुक्त योगीजन केवल शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंसे कर्म करते हैं, परन्तु अहंकार इनके साथ

नहीं रहता। मालाके मणकोंकी भाँति इस अहंकारने ही इन सब देहादिको अपने सूत्रमें धारण किया हुआ था और अपने आत्मासे वियुक्त कर रखा था। अब तत्त्वदृष्टिके प्रभावसे यह अहंकाररूपी सूत्र खण्डित हो गया है और ये देहादि मणकोंकी भाँति बिखर गये हैं। इस प्रकार अब यह आत्मा इनका केवल तमाशाई है। यही आत्मशुद्धि है और योगीजन इसी दृष्टिसे कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

[इस प्रकार] युक्त पुरुष कर्म व फल त्यागकर स्थिर शान्तिको प्राप्त होता है, परन्तु अयुक्त पुरुष कामनावशात् फलमें आसक्त हुआ बन्धायमान हो जाता है।

भावार्थ—यह पारमार्थिक योगयुक्त पुरुष ही वस्तुतः यथार्थ कर्म व फल का त्यागी है, जिसने कर्तृत्वादि सब भावनाओंको दग्ध कर दिया है और यही अचल नैष्ठिक शान्तिको प्राप्त करता है। निष्काम जिज्ञासुका कर्मफल-त्याग भावनामय है, इसलिये वह सर्वथा फलशून्य नहीं। यद्यपि उसका फल उत्तम है, तथापि फल शेष रहनेसे वह अभी उस नैष्ठिक शान्तिको जैसा इस श्लोक में कथन किया गया है, प्राप्त नहीं हो सकता। यद्यपि वह उस मार्गपर है, परन्तु अभी फलत्यागकी भावना रखता हुआ अयुक्त होनेसे फलसे बन्धायमान होता ही है। इसलिये वह निष्काम कर्मी 'युक्त' नहीं कहला सकता, 'युक्त' तो वह तात्त्विक योगी ही कहलायेगा जो देहादि सर्वसंग, कर्म एवं फलोंसे मुक्त हो गया है और वही नैष्ठिक शान्तिको प्राप्त करता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

[साराश उपर्युक्त भाव व विचारके अनुसार] वशमें है अन्तःकरण जिसके ऐसा (योगयुक्त) देही सब कर्मोंको मनसे त्यागकर नवद्वारवाले पुरमें न कुछ करता हुआ और न करवाता हुआ सुखपूर्वक स्थित रहता है।

भावार्थ—देही अर्थात् देहसाक्षी आत्मा, उसमें तद्रूप हुआ योगयुक्त योगी मनसे सब कर्मोंको त्यागकर, अर्थात् इस दृढ निश्चयको धारकर कि 'इन्द्रियाँ ही अपने-अपने अर्थोंमें वर्त रही हैं, मैं साक्षी तो कुछ भी नहीं करता' * नवद्वारवाले शरीररूप पुरमें सुखपूर्वक निवास करता है। स्वय न कुछ करता है और न किसीको कुछ प्रेरणा करता है, किन्तु केवल इन्द्रियादिके व्यापारोंका देखनेवाला तमाशाई ही है। अन्त करण व इन्द्रियादिसे असंग होना और इनको स्वसत्ताशून्य जानना, यही इनका यथार्थ रूपसे जीतना है (पृ० २२६-२३२)।

योगयुक्त पुरुष जिस भाव व विचारसे कर्ममें प्रवृत्त होता हुआ निर्लेप रहता है, उसका निरूपण श्लो० ७से १३ तक किया गया। अब यह बतलाया जाता है कि वास्तवमें इन 'कर्तृत्व' व 'कर्मादि'की रचना नहीं हुई, किन्तु ये केवल अज्ञानसम्भूत ही हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

परमेश्वर तो भूत-प्राणियोंके न कर्तापनको, न कर्मोंको और न कर्मोंके फलसंयोगको ही रचता है, किन्तु प्रकृति ही (इन सब रचनाओंमें) प्रवृत्त होती है।

भावार्थ—'मैं कर्ता हूँ, अमुक कर्म मुझे कर्तव्य है और अमुक फल होना चाहिये, अथवा मुझे फल नहीं चाहिये यह

* दो कर्ण, दो चक्षु, दो नासिका, एक मुख तथा गुदा व उपस्थ, इस शरीररूपी पुरके ये नव द्वार हैं।

सब भेद-दृष्टिका पसारा है और अज्ञानसम्भूत है। इसलिये न तो परमेश्वरद्वारा इनकी रचना हुई और न परमेश्वरके स्वरूपमें इनका कोई स्पर्श ही है। किन्तु ये सब अज्ञानजन्य होनेसे प्रकृतिके राज्यमें ही हैं और प्रकृतिके ही परिणाम हैं। तथा परमात्मा के प्रकाशमें प्रकृति ही इन सब रूपोंमें नृत्य करती है और वही 'कर्तृत्व', 'कर्म' एवं 'फलसंयोग' के जोड़-तोड़ मिलाती रहती है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

[वास्तवमें] सर्वव्यापी परमात्मा तो न किसीके पापों और न पुण्योंको ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञानके द्वारा ज्ञान आच्छादित हो गया है, इसीसे प्राणी मोहित हो रहे हैं।

भावार्थ—सर्वव्यापी परमात्मा तो किसीके पुण्य-पापोंको ग्रहण नहीं करता, अर्थात् उसको किसी पुण्य-पापादिका स्पर्श नहीं होता। यद्यपि सब पुण्य-पापादिकी व्यवस्था उसकी साक्षी में ही सिद्ध होती है, परन्तु आकाशकी भाँति उसको किसी पुण्य-पापादिका लेप नहीं लगता। केवल अज्ञान करके जीव जब अपने वास्तविक सर्वव्यापी परमात्मस्वरूपको भुला बैठता है और ज्ञानके आच्छादित हो जानेसे जब अपने-आपको परिच्छिन्न जीव एवं कर्मोंका कर्ता तथा भगवान्‌को फलप्रदाता मान बैठता है, तभी प्रकृतिकी नीतिमें पुण्य-पापादिसे बन्धायमान हुआ सुख-दुःखादिके भोक्तृत्वके बन्धनमें बँध जाता है। इसी अज्ञान करके सब जीव मोहित हो रहे हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

[परन्तु] जिनका वह आत्म-अज्ञान आत्मज्ञानद्वारा नष्ट हो

गया है, उनका ज्ञान सूर्यके सदृश उनके परमात्मस्वरूपको प्रकाशित कर देता है ।

भावार्थ—जिन पुरुषोंका यह अज्ञान कि 'मैं कर्मोंका कर्ता एवं सुख-दुःखका भोक्ता संसारी हूँ और ईश्वर मेरे पुण्य-पापादि फलका भोगानेवाला है' आत्मज्ञानद्वारा नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उनके आत्मस्वरूपको प्रकाशित कर देता है। अर्थात् जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशमें वस्तुका ज्यों-का-त्यों साक्षात्कार हो जाता है और वस्तुके स्वरूपमें कोई सन्देह नहीं रहता, इसी प्रकार आत्मज्ञानद्वारा उनको अपने आत्मस्वरूपका ज्यों-का-त्यों संशयरहित साक्षात्कार हो जाता है, जिससे उनको यह साक्षात् अपरोक्ष हो जाता है कि 'न मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, किन्तु मैं तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप ही हूँ ।'

इस प्रकार ज्ञानद्वारा जिन पुरुषोंके कर्तृत्वादि-भ्रम निवृत्त हो गये हैं और जिन्होंने अपने आत्मस्वरूपमें योग पाया है, अब उनका लक्षण, अधिकार तथा फल निरूपण करते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तद्रूप (अर्थात् ब्रह्माकार) है बुद्धि जिनकी, तद्रूप है मन जिनका और उस परमात्मस्वरूपमें ही है निष्ठा जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानद्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—कर्तृत्व-भ्रम ही एकमात्र आवरण था, जिस करके मन-बुद्धयादिमें अहंता-ममताद्वारा पुण्य-पापादिका संग्रह हो रहा था। जब यह अज्ञानजन्य कर्तृत्व-भ्रम ज्ञानद्वारा शान्त हो गया, तब मन-बुद्धि और इनकी प्रत्येक चेष्टाका ब्रह्माकार होना निश्चित ही है। इस प्रकार जिन ब्रह्मनिष्ठ पुरुषोंके पाप ज्ञानद्वारा निवृत्त हो गये हैं वे अपुनरावृत्तिरूप मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं और

जीते-जी ही जीवन्मुक्त हुए विचरते हैं। सब पर्वोंकी मूल यह कर्तृत्व-भ्रम ही था, जिससे उन्होंने नकद मुक्ति प्राप्त कर ली है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

[ऐसे] ज्ञानीजन विद्या व विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी होते हैं।

भावार्थ—बाह्य आकारोंमें सत्यतादृष्टि धारे रखकर समदर्शिता नहीं होती, किन्तु तत्त्वज्ञानकी प्रौढ़ता करके जब बाह्य आकार स्वप्नवत् उनकी दृष्टिसे गिर जाते हैं और सबकी सत्ता जो अस्ति-भाति-प्रियरूप आत्मा है, जिसकी सत्तासे ये सब सत् प्रतीत हो रहे हैं, जब वह अस्ति-भाति-प्रियरूप दृष्टिमें बस जाता है, तब सब नाना रूपोंमें वे उसी एक रूपको देखते हैं और ये सब नानारूप उसी एक रूपके चमत्कार दृष्ट आते हैं। जैसे सुवर्णके ज्ञाताकी सब भूषणोंमें सुवर्ण-दृष्टि ही होती है तथा जलके ज्ञाताकी सब तरङ्ग-बुद्बुदादिमें जल-दृष्टि ही होती है, इसीका नाम समदर्शिता है। इस प्रकार ज्ञानीजन इस समतारूप ब्रह्म-दृष्टिको धारकर सब विषमरूप ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालादिमें सर्वाधिष्ठान ब्रह्म-दृष्टि ही रखते हैं और विषमताके हेतु बाह्य आकार उनकी दृष्टिसे गिर जाते हैं। इसके विपरीत बाह्य आकारोंमें सत्यता-बुद्धि धारकर जिन्होंने केवल व्यवहारकी समता को ही पकड़ लिया है, वे तो समताजन्य इस वास्तविक शान्तिसे वञ्चित ही रह जाते हैं, बल्कि विषमताजन्य राग-द्वेषके ही शिकार बने रहते हैं और वास्तविक तत्त्वसे दूर-से-दूर जा पड़ते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

[इस प्रकार]—जिनका मन इस समत्व-भावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही संसार जीत लिया गया, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष व सम है और वे उस ब्रह्ममें स्थित हो गये हैं।

भावार्थ—संसार तथा सब दु:खोंकी मूल एकमात्र विषम दृष्टि ही है। विषम दृष्टिके कारण राग-द्वेष करके ही जीव दु:ख-रूप संसार-बन्धनमें बन्धायमान होता है और वह विषम दृष्टि अज्ञानजन्य ही है। चूँकि वे ज्ञानीजन ज्ञानद्वारा अज्ञानको भस्म कर चुके हैं, उन्होंने तरंग-दृष्टिका परित्याग करके जल-दृष्टिको अङ्गीकार कर लिया है और अब वे उस ब्रह्मस्वरूपमें योग प्राप्त कर चुके हैं जो कि निर्दोष व सम है। इसलिये उन्होंने जीते-जी ही संसारको जीत लिया है, क्योंकि अब अपनी तत्त्वदृष्टिद्वारा वे विषमरूप संसारमें समरूपसे स्थित रहते हैं और किसी प्रकारकी विषमता उनको स्पर्श नहीं कर सकती।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥

[ऐसा] ब्रह्मवेत्ता स्थिरबुद्धि ज्ञानी ब्रह्ममें स्थित हुआ न तो प्रिय वस्तुको पाकर तुष्ट होता है और न अप्रिय वस्तुको पाकर रुष्ट होता है।

भावार्थ—प्रियता व अप्रियता वस्तुगत नहीं है, क्योंकि एक कालमें जो वस्तु प्रिय भान होती है, अन्य कालमें वही अप्रिय सिद्ध हो जाती है। यदि वस्तुगत प्रियता व अप्रियता होती तो ऐसा न होना चाहिये था। इससे स्पष्ट है कि चित्तकी अनुकूल वृत्तिमें प्रियता और प्रतिकूल वृत्तिमें अप्रियता है। क्योंकि वे वृत्तियाँ विषयसम्बन्धसे उत्पन्न होती हैं, इसलिये विषयमें प्रियता-अप्रियताका भ्रम हो जाता है। अब वह स्थिरबुद्धि ब्रह्मवेत्ता तो समरूप

ब्रह्ममें अभेदरूपसे स्थित होकर चित्त तथा चित्त-वृत्तियोंसे असंग हो गया है। इसलिये इन प्रिय-अप्रिय वृत्तियोंका तमाशाई होनेसे इनके सम्बन्धसे हृष्ट-तुष्ट नहीं होता।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

[इस प्रकार] बाह्य विषयोंमें अनासक्त पुरुष अपने आत्मामें भगवद्-ध्यानजनित जो आनन्द है, उसको प्राप्त होता है और वह ब्रह्ममें योगद्वारा एकीभावसे जुड़े हुए मनवाला पुरुष (ब्रह्मणि योगेन युक्त आत्मा यस्यासौ, स 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा') अक्षय सुखका भोग करता है।

भोग्य विषयोंको इस योगमें अन्तरायरूप वर्णन करते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जो भोग हैं, वे निस्सन्देह दुःखकी ही खानि हैं और आदि-अन्तवाले हैं। हे कौन्तेय! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता।

भावार्थ—विषयजन्य जो भोग हैं वे आदि-अन्तवाले हैं, इसमें तो कोई सन्देह है ही नहीं। जो वस्तु आदि-अन्तमें नहीं है वह मध्यमें भी वस्तुतः होती नहीं है, मध्यमें भी वह स्वप्न-समान केवल भ्रमरूप प्रतीतिका ही विषय होती है। इसके विपरीत भोगोंमें मन फँसाया जाता है तो उन्हें अपनी भूलसे सत्य व स्थिर जानकर ही फँसाया जाता है, परन्तु वहाँ तो सत्यता व स्थिरताका लेश भी नहीं होता। इसी अज्ञानके कारण उनके सम्बन्धसे दुःखोंका प्रवाह निकल पड़ता है, ऐसा तत्त्वसे जानकर बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

[इसलिये] जो मनुष्य शरीर छूटनेसे पूर्व ही इसी लोकमें काम-क्रोधजन्य वेगको सहन करनेमें समर्थ है, वही योगी है और वही सुखी है ।

भावार्थ—जो पुरुष शरीरका सम्बन्ध रहते हुए भी काम-क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगद्वारा चलायमान नहीं होता और उनसे असंग रहता है वही पुरुष अपने आत्मामें योग पाया हुआ है और वही सुखी है, ऐसा जानना चाहिये । अर्थात् शरीरकी विद्यमानतामें ही जिसने अपने मनका इस प्रकार जय कर लिया है वही अपने आत्मामें योग पानेका अधिकारी है ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

[इस प्रकार] जो पुरुष निश्चय करके अपने अन्तरात्मामें ही सुखी है, अन्तरात्मामें ही विश्राम पाया हुआ है तथा अन्त-रात्मामें ही प्रकाश रहा है, वह योगी ब्रह्मरूप हुआ निर्वाण ब्रह्म को ही प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जो पुरुष विषयसुखके आलम्बन विना निर्विषयक आत्मसुखको प्राप्त करके अपने अन्तरात्मामें ही सुखी है। जिस प्रकार क्षुधार्त भोजनसे सन्तुष्ट व तृप्त हो जाता है, इसी प्रकार आत्मसुखसे सन्तुष्ट व तृप्त होकर जो अपने अन्तरात्मामें ही विश्राम पा रहा है। तथा ज्ञानकी प्रौढताद्वारा जो अपने अन्त-रात्मामें ही प्रकाश रहा है, अर्थात् उसीमें एकत्वभावसे स्थित हो रहा है। ऐसा योगी देहाध्याससे मुक्त होकर ब्रह्मरूप हुआ शान्त ब्रह्मको ही प्राप्त हो जाता है ।

उपर्युक्त अवस्थाका अधिकारी कौन है? सो बतलाते हैं—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, द्वैतरूप संशय निवृत्त हो गया है, जिन्होंने मन-बुद्धिको जीता है तथा जो सब भूतोंके हितमें रत हैं, ऐसे ऋषिजन शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—इन सभी साधनोंकी सिद्धि एकमात्र ज्ञानद्वारा ही सम्भव है, कर्मकी यहाँ गम्य नहीं है। ज्ञानद्वारा ही अशेष पापोंका क्षय सम्भव है, प्रायश्चित्तादिद्वारा पापोंका निःशेष क्षय अत्यन्त असम्भव है (पृ० २७-२९ तथा अ० ४। ३६-३७)। द्वैत-रूप संशयोंकी निवृत्तिमें तो केवल ज्ञान ही उपयोगी है, यह तो निर्विवाद ही है। तथा मन-बुद्धिके जयमें भी ज्ञान ही सच्चा हेतु हो सकता है, तपादिद्वारा यद्यपि इनका दमन तो हो सकता है परन्तु जय नहीं हो सकता, किन्तु ज्ञानद्वारा तो मन-बुद्धयादिसे असंग होकर इनका समूल ही जय सम्भव है। इस प्रकार ज्ञान-द्वारा पापक्षय, संशयनिवृत्ति तथा मनोजय होनेपर सब भूतोंका हित तो स्वाभाविक ही है और ऐसे पवित्रात्मा ही यथार्थ रूपसे शान्त ब्रह्मको प्राप्त हो सकते हैं। यद्यपि कर्मादि व तपादि पाप-क्षय तथा मनोजयमें सहकारी हैं और इनके द्वारा ज्ञानका अधि-कार प्राप्त होता है, तथापि पापक्षय व मनोजयकी यथार्थ सिद्धि तो ज्ञानद्वारा ही सम्भव है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

[तथा ऐसे] काम-क्रोधसे विमुक्त यतचित्त तत्त्ववेत्ता यतियोंके लिये तो सर्व ओर शान्त ब्रह्म ही वर्तता रहता है ॥२६॥

भावार्थ—ऐसे तत्त्ववेत्ता यतियोंकी दृष्टिमें सर्व ओर शान्त ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता है। उनको अखिल प्रपञ्च आत्मस्वरूप ब्रह्मका चमत्कार ही भान होता है। तथा इन्द्रियों व विषयोंके संयोगजन्य प्रत्येक वृत्तिरूप प्यालोंद्वारा वे ब्रह्मानन्दामृतका ही पान करते रहते हैं। इस प्रकार जहाँ-जहाँ उनका मन जाता है वहाँ-वहाँ ही उनकी समाधि है।

अब साधनसहित सिद्धान्त कथन करके अध्यायका उपसंहार करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाह्य विषयोंको हृदयसे निकालकर, नेत्र-दृष्टिको भृकुटीके मध्य स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण व अपान वायुको सम करके जिस मोक्षपरायण मुनिने इन्द्रिय, मन व बुद्धिको जीता है तथा जिसके इच्छा, भय व क्रोध निवृत्त हो गये हैं, वह सदा मुक्त ही है।

भावार्थ—इन्द्रिय-मन-बुद्धिमें अहन्ता-ज्ञान ही बन्धनका मूल है। फिर इच्छा, भय व क्रोध करके यह अहन्ता अधिक दृढ होती जाती है। अवस्तुरूप बाह्य विषयोंमें जब वस्तुबुद्धि दृढ होती है, तब इस अज्ञानद्वारा वस्तुकी अप्राप्तिसे इच्छा, भेददृष्टिसे भय तथा प्रतिकूल दृष्टिसे क्रोध उत्पन्न होता है और बन्धन अधिकाधिक सुदृढ होता चला जाता है। परन्तु जिस मोक्षपरायण मुनिने अवस्तुरूप बाह्य विषयोंकी आसक्ति हृदयसे त्याग दी है, उनको अपने हृदयसे निकाल दिया है तथा प्राणापानकी गति

को सम और नेत्र-दृष्टिको भृकुटिमध्य स्थित करके जो सत्‌रूप व सुखरूप आत्माके अनुसन्धानमें ही लगा हुआ है, वह मुक्तके समान ही है। अर्थात् सुखस्वरूप अपने आत्माको साक्षात्कार करके वह शीघ्र ही बन्धनरूप बाह्य विषयोंको प्रत्यक्ष अवस्तुरूप जानकर इच्छा, भय व क्रोधादिसे वियुक्त हुआ इन्द्रियमनबुद्धिसे मुक्त होगा (पृ० २३२-२३६)।

अब फलसहित ज्ञेयरूप ब्रह्मका स्वरूप वर्णन करते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

[इस प्रकार] मुझ (ब्रह्मस्वरूप) को यज्ञों व तपोंका भोगनेवाला, सब लोकोंका महेश्वर तथा सब भूतोंका सुहृद् जानकर मोक्षपरायण मुनि शान्तिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—साक्षीस्वरूपसे सम्पूर्ण यज्ञों व तपोंके ठीक नीचे विराजमान रहनेके कारण सम्पूर्ण यज्ञों व तपोंका वास्तविक भोक्ता मैं ही हूँ। इसके विपरीत भोक्तृत्वाभिमानी जीव भोगों व तपादिका वास्तविक भोक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि भोक्तृत्वाभिमान के कारण उसका भोगोंके साथ संयोग ही होता है, एकता नहीं हो सकती। जैसे एक तरंगका दूसरे तरंगसे संयोग ही सम्भव है, एकता नहीं, परन्तु उनका आत्मा होनेसे जलकी तो सभी तरंगोंसे स्वाभाविक एकता है। इसी प्रकार भोक्तृत्वाभिमानी जीवका भिन्न-भिन्न यज्ञों, तपों व भोगोंसे संयोग ही सम्भव है। इसलिये वह तत्त्वसे उनका भोक्ता नहीं हो सकता। परन्तु मुझ सर्वसाक्षीका तो नाना तरंगोंमें एक ही जलके समान स्वाभाविक एकता होनेसे, मैं ही उन सबका तत्त्वसे भोक्ता होता हूँ, क्योंकि एकता होना ही वस्तुतः भोगकी असलियत है। और सम्पूर्ण लोकोंकी आधारभूत सत्ता होनेके कारण ब्रह्मादि सब

लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर मैं ही हूँ। तथा मुझ सर्वात्मस्वरूपके सान्निध्यमें जो जैसी इच्छा करता है, मेरी सत्ता स्फूर्तिसे उसको उसीकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे चोर चोरीकी इच्छा करता है तो उसको उसीकी प्राप्ति मेरे आश्रय हो तो जाती है, परन्तु इच्छा यदि दुष्ट है तो उसके प्रतीकारमें मेरी प्रकृति उस को कठोर दण्ड दे-देकर और पीट-पीटकर सीधे मार्गपर लाये बिना नहीं छोड़ती। इस प्रकार अपनी प्रकृतिरूपसे मैं सम्पूर्ण भूतोंका सुहृद् हूँ। इस रूपसे वस्तुतः मैं ही सब यज्ञ-तपादिका भोक्ता, सब लोकोंका महेश्वर तथा सब भूतोंका सुहृद् हूँ। ऐसा मुझे तत्त्वसे जानकर मोक्षपरायण मुनि शान्तिको प्राप्त हो जाता है। आशय यह है कि 'सर्व कर्ता परन्तु वास्तवमें अकर्ता' ऐसे मेरे स्वरूपको तत्त्वसे जानकर ही शांतिकी प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार भगवान्‌ने अपने स्वरूपकी प्राप्तिमें केवल ज्ञातव्यता ही साक्षात्‌रूपसे उपयोगी कथन की, न कि कर्तव्यता।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी अनुभवार्थदीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'कर्मसंन्यास योग' नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

पञ्चम अध्यायका स्पष्टीकरण

कर्मसन्यास व कर्मयोगकी एकताका विचित्र रहस्य जो पिछले अध्यायोंमें भगवान् निरूपण करते आ रहे हैं, न समझकर अर्जुनने फिर इस अध्याय के आरम्भमें प्रश्न किया—भगवन् ! कभी आप कर्मोंके संन्यासकी और

फिर कभी कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं, इसलिये इनमेंसे मेरे लिये जो एक श्रेयस्कर हो वह निश्चयसे कहिये (श्लोक १)। वास्तवमें भगवान्‌ने तो दो बातें कहीं ही नहीं, जिनमेंसे एक छोड़ दूसरी अंगीकार करनेको अर्जुनसे कहा जाता। बल्कि वे तो एकही बात कह रहे हैं कि चेष्टारूप कर्मोंको छोड़ बैठना तो कोई कर्मसंन्यास है ही नहीं। हाँ, छोड़ना केवल उस मिथ्या कर्तृत्वाभिमानका ही है, जो कि अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण वास्तवमें कुछ न करता हुआ भी बीचमें यों ही कर्तापनका अभिमानी बन बैठा है और अपने-आप मुफ्तमें ही पिटने-पिटानेवाला बनकर 'मान न मान मैं तेरा महमान' की कहावतको सिद्ध कर रहा है। अजी! चेष्टा तो सब हो रही हैं प्रकृतिके तीनों गुणोंके परिणाममें गुणोंद्वारा, और मैं साक्षीस्वरूप अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे इसको ताल दे रहा हूँ, जिससे यह नटनी मेरे विनोदके लिये मुझे अपना नाच दिखा रही है। जबतक मेरी अपनी खुशी है मैं अपना खेल देखूँगा और जब अपनी मरज़ी हुई अपने प्रकृतिरूपी पिटारेको बन्द करके अपने परमानन्दमें विश्राम करूँगा, तुम (कर्तृत्वाभिमान) बीचमें ही कौन ?

वृथा है सदमा भले बुरे का, हो कौन तुम और कहाँसे आये ?
ख़ुशी है मेरी मैं खेल अपना, बना बनाके मिटा रहा हूँ ॥

अच्छा! बनो कुछ बीचमें, परन्तु पीटे न जाओ और 'चनेके साथ घुनके समान' कालरूपी चक्कीमें पीसे न जाओ, तो कहना! परन्तु हाँ, वास्तवमें सत्यस्वरूप तो पीसा जा ही नहीं सकता, 'साँचको आँच कहाँ' ? पिट-पिटाकर जब तुमको कुछ सुध आ जायगी और अज्ञान-निद्रासे जाग कर जब मुझसे अभेद पा जाओगे, तब हम तमाशा देखनेवाले तो पहले ही थे, फिर फलत्यागरूप कर्मयोग कैसा ? भला, स्वप्नके कर्मोंने भी कभी किसीको बाँधा है, जिससे फलत्यागका संकल्प करना पड़े ? जब कर्म ही नहीं तो फलत्याग किसका ? लो! यह नई उपाधि और अपने सिरपर लेते हो और फलत्यागके अभिमानी बनकर दिखाऊ सुवर्णकी ज़ञ्जीरसे

अपना गला फिर बँधाने चले हो। जरा होशमें आओ! सुवर्णकी है तो भी क्या? आखिर तो ज़ञ्जीर ही है और रेशमकी नरम-नरम डोरी है तो भी क्या? है तो गलेको फाँसी लगानेवाली ही।

इस रीतिसे ज्ञानद्वारा कर्तृत्वाभिमानके दग्ध हो जानेपर कर्मत्याग व फलत्याग दोनों ही एक ही जाते हैं। परन्तु जबकि अर्जुन भगवान्‌के इस आशयको ग्रहण न कर सका, तब गाण्डीव धनुषधारी उस अपने प्रिय शिष्यके लिये 'तू मूर्ख है' ऐसा कहना तो भगवान्‌ने नीतिविरुद्ध समझा, क्योंकि ऐसा कहनेसे उसकी बुद्धि हत होनेकी सम्भावना थी, किन्तु उसकी बातको बड़ी करके और उसके अनुसार चलकर यों कहा, "अर्जुन! वास्तवमें 'सन्यास' व 'कर्मयोग' दोनों ही मुक्तिके देनेवाले हैं (अपने मन में रखकर—'क्योंकि दोनों एक ही हैं'), फिर भी दोनोंमेंसे कर्म छोड़ बैठनेसे तो कर्मयोग ही श्रेष्ठ है'। क्योंकि कर्म करते करते तो पुरुष अपने समयपर दोनोंके अभेदको अनुभव कर सकता है, परन्तु जो मूर्ख अपने अधिकारके विरुद्ध कर्म ही छोड़ बैठा, वह तो धोबीके कुत्तेके समान न घर का रहा न घाटका। इस प्रकार अर्जुनकी बातको बड़ी करते हुए भगवान्‌ने कहा कि द्वेष व आकांक्षासे छूटा हुआ जो पुरुष कर्मोंमें प्रवृत्त होता है उसको नित्य-सन्यासी ही जानना चाहिये, क्योंकि ऐसा निर्द्वन्द्व पुरुष सुखपूर्वक बन्धनसे छूट जाता है (२-३)। फिर उलटे पाँव ही पैंतरा बदलते हुए कहते हैं—सचमुच तो बात यह है, कि 'सांख्य' व 'योग' को मन्दबुद्धि बालक लो इनके तत्त्वको नहीं जानते पृथक्-पृथक् कहते हैं, न कि तत्त्ववेत्ता विद्वान्, क्योंकि वास्तवमें किसी एकमें भली भाँति स्थित होना ही दोनोंमें स्थित होनेके तुल्य है। जो मोक्षस्थान 'सांख्य' से प्राप्त किया जाता है वही साक्षात् 'योग' से, इसलिये जो इनको वस्तुतः अभेदरूप देखता है वही यथार्थ देखनेवाला है। और वास्तवमें तो अपने आत्मामें अभेदरूपसे योग पाये बिना कर्मसन्यास दुष्कर है, क्योंकि कर्तापन रहते हुए कर्मका त्याग भी त्यागका अभिमानी होनेसे कर्म बन जाता है। (४-६)।

इस प्रकार 'सांख्य' व 'योग' का तत्त्वसे अभेद करते हुए भगवान्‌ने कहा कि जो पुरुष अपने आत्मामें एकत्वरूपसे योगयुक्त हुआ है और कर्तृत्वाभिमानसे हाथ धो बैठा है, वह सभी भूतजातकी आत्मा हो गया है और वह सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप ही है। ऐसा तत्त्ववेत्ता इन्द्रियोंसे सब चेष्टाएँ करता हुआ भी इन्द्रियोंके व्यवहारोंको अपनेमें नहीं देखता और उसके सब कर्तृत्व व कर्म ज्ञानद्वारा ब्रह्मार्पण हो जानेसे वह पद्मपत्रके समान किसी फलसे लेपायमान नहीं होता। इसलिये ऐसे योगीजन कर्तृत्वभावके बिना केवल शरीर, मन, बुद्धि व इन्द्रियोंसे ही कर्म करते हैं। इस प्रकार जो योगयुक्त है वह तो नैष्ठिक शान्तिको प्राप्त होता है और कर्म व फलादिसे वस्तुतः छुटकारा पा जाता है, परन्तु अयुक्त पुरुष फलमें आसक्त हुआ बन्धायमान होता है। ऐसा योगयुक्त देही सब कर्मोंको मनसे त्यागकर, अर्थात् इस निश्चयको दृढतासे धारकर कि मैं साक्षीस्वरूप न स्वयं कुछ करता हूँ और न देहेन्द्रियादिसे कुछ करवाता हूँ, नवद्वारवाले पुर (शरीर) में सुखसे निवास करता है (७-१३)।

यदि यह कर्तृत्व, कर्म व फल आत्मामें नहीं हैं तो किसमें हैं? इसका समाधान करते हुए भगवान्‌ने आज्ञा की, कि उस सत्यस्वरूपकी सत्ता पाकर और उसके प्रकाशमें यह मायारूपी नटनी ही भानमतीका खेल कर रही है और कर्म व फलका जोड़-तोड़ मिलाती रहती है। अन्यथा वह सत्यस्वरूप साक्षी तो न किसीके पापको ही ग्रहण करता है न पुण्यको। केवल इस मायारूप अज्ञान करके ही जीवोंका ज्ञान ढका हुआ है, जिससे जीव मोहित हो जाते हैं और अपने-आपको कर्तृत्व-भोक्तृत्वके बन्धनमें बाँध लेते हैं। अजी! दौड़ते तो बादल हैं, परन्तु चन्द्रमाको दौड़ता हुआ क्या नहीं देख लेते हैं? इसी प्रकार अपने अज्ञान करके मायाका व्यापार मुक्त साक्षीस्वरूप के मत्थे मढ़ा दिया जाता है। परन्तु जिनका अज्ञान आत्मज्ञानसे नष्ट हुआ है और जिनपर मायाकी कलई खुल गई है, उनको मायाकी इन सब चेष्टाओंमें निर्लेप सर्वव्यापी आत्मा ज्यों-का-त्यों सूर्यवत् भान होता है। जिस

प्रकार दर्पणका मैल दूर हो जानेसे मुख स्पष्ट भान होता है, इसी प्रकार अज्ञानरूपी मल निवृत्त हो जानेसे उनके कर्तृत्वादिका नशा उतर जाता है (१४ १६)।

इसके उपरान्त भगवान्ने उन योगियोंका स्वरूप वर्णन किया, जिनका कर्तृत्वादि-भ्रम शान्त हो गया है और जो अपने आत्मामें योगयुक्त हुए हैं। फिर बतलाया कि उनकी मन-बुद्धिकी सब चेष्टाएँ आत्माकार ही होती हैं और वे अपुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं तथा वे ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ और कुत्ते में समदर्शी होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मस्थिति प्राप्त करके उन्होंने जीते-जी ही संसारको जीत लिया होता है। ऐसे पुरुष न प्रिय वस्तुको पाकर हर्षित होते हैं और न अप्रिय वस्तुसे उद्वेगवान्। उन पुरुषोंकी बाह्य विषयोंमें सुख-साधनता-बुद्धि निवृत्त हो जाती है और वे अपने अन्तरात्मामें ही अक्षय सुखका अनुभव करते हैं (१७-२१)। इस प्रकार योगियोंका स्वरूप वर्णन करके बाह्य विषयोंकी आसक्तिको इस योगमें प्रतिबन्धकरूप वर्णन किया गया और कहा कि जो काम-क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ हैं, वे ही युक्त हैं, वे ही निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और उनकी दृष्टिमें सर्व ओरसे ब्रह्म-दर्शन होता रहता है। तथा बाह्य विषयोंका मनसे त्याग, चाक्षुष दृष्टि की भृकुटिमें स्थिति, प्राणापान वायुकी समता, इन्द्रिय मन-बुद्धिका जय, मोक्षपरायणता तथा इच्छा, भय व क्रोधका त्याग, ये इस योगमें उपयोगी सामग्री वर्णन किये गये (२१-२८)। अन्तमें ज्ञेयरूप अपने स्वरूपका इस प्रकार कथन करके अध्यायकी समाप्ति की गई कि मैं जो सब यज्ञों व तपों का भोक्ता, सब लोकोंका महेश्वर तथा सब भूतोंका सुहृद् हूँ, मेरे ऐसे स्वरूप को तत्त्वसे जानकर ही जीव शान्तिको प्राप्त होता है (२९)।

इस प्रकार इस अध्यायमें 'सांख्य' व 'योग' की एकता, योगीका लक्षण, योगकी महिमा और योगमें उपयोगी सामग्रीका कथन करते हुए अध्यायकी समाप्ति की गई। अब फिर षष्ठ अध्यायके आरम्भमें भगवान् उसी 'सांख्य' व 'योग'के अभेदको स्वयं पुष्ट करते हैं।

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलके आश्रय बिना करने-योग्य कर्म करता है, वही 'संन्यासी' है और वही 'योगी' है, अग्नि व क्रियाओंको त्याग बैठनेवाला ही संन्यासी नहीं।

भावार्थ—कर्मफलका आश्रय कर्तृत्वबुद्धि ही होती है, अर्थात् अहंकर्तृत्व-बुद्धिके आश्रय ही किये हुए कर्मोंके संस्कार रहते हैं जोकि अपने समयपर फलोन्मुख होते हैं, सकाम अथवा निष्काम चाहे वे किसी भावनासे किये जायँ। जहाँ भावना है वहाँ भावनाके अनुसार फल अवश्य है और कर्तृत्व-बुद्धिके साथ भावना अवश्य रहती ही है। इस प्रकार कर्मफलका आश्रय जो कर्तृत्व-बुद्धि है, उसके बिना अर्थात् तत्त्व-ज्ञानद्वारा उस कर्तृत्व-बुद्धिका परित्याग करके जो पुरुष करनेयोग्य कर्म करता है। अर्थात् "देहेन्द्रियादि अपने-अपने व्यवहारोंमें वर्त रही हैं, मैं उनके व्यवहारोंका कर्ता नहीं किन्तु द्रष्टा हूँ" इस अपरोक्ष ज्ञानद्वारा जो स्वाभाविक कर्म करता है, वही कर्मसंन्यासी है और वही कर्मयोगी है। आशय यह कि देहादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी, देहादिसे असंग रहनेके कारण वह वस्तुतः कुछ नहीं करता और अकर्ता रहनेके कारण किसी फलके बन्धनमें नहीं आता। इस लिये वही यथार्थ संन्यासी है और वही यथार्थ योगी। कर्तृत्वाभिमानके रहते हुए केवल अग्नि व क्रियाओंके त्याग देनेसे ही कोई संन्यासी नहीं हो जाता। अर्थात् ऐसे संन्यासीने चाहे

अग्नि व क्रियाओंका त्याग कर दिया है, तथापि त्यागका अभिमानी रहते हुए वह वस्तुतः कर्म-संन्यासकी सिद्धि नहीं करता।

इस प्रकार संन्यासका योगसे अभेद किया गया, अब योग का संन्याससे अभेद करते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव! जिसको 'संन्यास' ऐसा कहते हैं, उसीको तू 'योग' जान, क्योंकि संकल्पत्याग बिना कोई योगी भी नहीं हो सकता।

भावार्थ—जिसको 'संन्यास' ऐसा कहते हैं उसीको तू 'योग' जान, जिस प्रकार जिसको 'कुम्भ' कहते हैं उसीको तू 'घट' जान। जिस प्रकार कुम्भ व घटमें केवल शब्दोंका भेद है अर्थका नहीं, इसी प्रकार तात्त्विक संन्यास और तात्त्विक योगमें शब्द-मात्र भेद है, अर्थसे कोई भेद नहीं। क्योंकि जिस प्रकार कर्तृत्व-बुद्धि रहते हुए केवल अग्नि व क्रियाओंके त्याग बैठनेसे ही कोई संन्यासी नहीं हो जाता, उसी प्रकार कर्तृत्व व कर्तव्यबुद्धि रहते हुए केवल फलत्यागकी भावनामात्रसे ही कोई योगी (निष्कामी) भी नहीं बन जाता। अर्थात् फलत्यागकी भावनामात्र से ही फलसे छुटकारा हो नहीं जाता, इस भावनाका कर्ता रहनेसे फलत्यागकी भावनाका फल अवश्य रहता है। इसलिये जबतक संकल्प-संन्यास न हो तबतक कोई योगी भी नहीं बन सकता। अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ और मुझपर अमुक कर्तव्य है' यही सब संकल्पोंका मूल संकल्प है, अन्य सब संकल्प तो इसकी शाखाएँ हैं, इस मूल संकल्पके अभाव बिना कोई योगी भी नहीं बन सकता। और इस मूल संकल्पके समूल निवृत्त हो जानेपर, अर्थात् कर्तृत्व व कर्तव्यबुद्धिका तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा बाध हो जानेपर तो संन्यास व योग दोनों ही एक हो जाते हैं

और दोनोंकी ही यथार्थ सिद्धि हो जाती है। तब कर्तृत्वबुद्धिके बाध हो जानेपर देहेन्द्रियादिसे असंगताके कारण, वह कर्म करता हुआ भी सच्चा कर्म-संन्यासी है और फलत्यागकी भावना न करता हुआ भी वस्तुतः फलत्यागी है।

कर्म किस स्थलपर उपयोगी है और किस स्थलपर इसकी अनुपयोगिता व प्रतिबन्धकता हो जाती है, सो निरूपण करते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये तो कर्म हेतु कहा गया है, परन्तु योगारूढ हो जानेपर उसीके लिये उपशम हेतु कहा गया है।

भावार्थ—आत्मस्वरूपमें स्थितिरूप योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मुनिके लिये तो (१) 'मैं कर्मका कर्ता हूँ, (२) अमुक कर्ममें प्रवृत्त होना ईश्वरकी ओरसे मुझपर कर्तव्य है, (३) इसलिये ईश्वरीय आज्ञा मानकर मैं अपने अधिकारानुसार कर्ममें प्रवृत्त होता हूँ और अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌की ही पूजा करता हूँ, (४) कर्मफल अपने लिये न चाहकर मैं भगवदर्पण करता हूँ, (५) तथा फलकी सिद्धि-असिद्धिमें मैं सम रहूँगा' इस प्रकार निष्काम-भावसे कर्ममें प्रवृत्त होना योग-प्राप्तिमें हेतु कहा गया है। परन्तु योगमें आरूढ हो जानेपर तो उसी पुरुषके लिये उपर्युक्त पाँच अङ्गोंवाले निष्काम-कर्मका उपशम ही योगारूढताकी दृढ स्थिति में हेतु कहा गया है। आशय यह है कि योगके जिज्ञासुके लिये तो कर्तव्य-कर्मका निष्काम-भावसे आचरण महान् उपयोगी है, इसके बिना वह तात्त्विक योग प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु उसी योगारूढके लिये फिर कर्तृत्व व कर्तव्य-भावका त्याग भी उतना ही ज़रूरी है। यदि वह कर्तृत्व व कर्तव्यादि संकल्प

को पकड़े ही रहे तो वह योगास्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे लक्ष्य भेदन करनेके लिये तीरको कमानपर चढ़ाकर खैंचना ज़रूरी है, यदि खैंचा न जाय तो वह लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकता, परन्तु लक्ष्य भेदन करनेके लिये खैंचकर फिर उसका ढीला छोड़ना भी उतना ही ज़रूरी है। यदि तीरको खैंचे ही रहें और ढीला न छोड़ें तो भी वह लक्ष्य भेदन करनेमें असमर्थ ही रहता है। कर्तृत्व व कर्तव्यादिरूप निष्काम शुद्ध अहंकारका मलिन अहंकारको निकालनेके लिये हृदयमें भरना जरूरी था, परन्तु मलिन अहंकारको निकालकर उसका अपना निकलना भी ज़रूरी है; फिर उसका रहना भी योगमें प्रतिबन्धक ही है, जैसे वस्त्रके मल को निकालकर फिर साबुनका अपना निकलना भी ज़रूरी होता है।

योगी पुरुष अपने-आपको कैसे जाने कि मैं योगारूढ हुआ हूँ? सो निरूपण करते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होता है और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पत्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है

भावार्थ—जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होता है कि 'मैं इन विषयोंका भोक्ता हूँ' और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है कि 'मैं कर्मोंका कर्ता हूँ।' इस प्रकार तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा कर्तृत्व व भोक्तृत्वसे मुक्त हुआ सर्वसंकल्प-त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है। संकल्पोंका स्वरूपसे लोप हो जाना संकल्प-संन्यास नहीं बनता किन्तु पूर्व दशामें जो यह पुरुष संकल्पोंका कर्ता बनता था, उसके बजाय सब संकल्पोंका साक्षी रहना, यही यथार्थ संकल्प-सन्यास है (पृ० २३६-२४०)।

इसलिये इस योगारूढ अवस्थाकी प्राप्तिके लिये पुरुषको चाहिये कि—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

आप करके अपने-आपेका उद्धार करे, अपने-आपेका अधःपतन न होने देवे, क्योंकि यह आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु।

भावार्थ—संसार-समुद्रमें डूबे हुए अपने इन्द्रियमनबुद्धयादिका अपने इन्द्रियमनबुद्धयादिसे ही उद्धार करे, अपने मनबुद्धयादिको संसार-समुद्रमें डूबने न देवे। जीवके कल्याणके लिये चार कृपाओंका एकत्रित होना आवश्यक है (१) ईश्वर-कृपा, (२) गुरु-कृपा, (३) शास्त्र-कृपा (४) और आत्मकृपा। 'मैं संसार-समुद्रसे किसी प्रकार मुक्त होऊँ' अधिकारीके चित्तमें ऐसी उत्कट जिज्ञासाका नाम 'आत्मकृपा' है। यदि आत्मकृपा जागृत् नहीं हुई तो अन्य तीन कृपाएँ सम्मुख हुईं भी सफल नहीं होतीं। परन्तु यदि आत्मकृपा यथार्थ रूपसे जागृत् हो गई है तो अन्य तीन कृपाएँ अविद्यमान हुईं भी इस अधिकारीकी ओर इसी प्रकार झपटनेके लिये बाध्य होंगी, जिस प्रकार दीपक की ओर पतङ्ग। इसी आशयको स्पष्ट करनेके लिये इस श्लोक में कहा गया है कि यह जीव आपसे आपका उद्धार करे और आपको गिरने न देवे। अपने उद्धारमें आत्मकृपा आन्तर होनेसे उपादानरूप और मुख्य है तथा शेष तीन कृपाएँ बाह्य होनेसे निमित्तरूप व अमुख्य हैं। निमित्तसे उपादानकी मुख्यता सबको ही मान्य है। जिस प्रकार लोहेसे लोहा काटा जाता है, इसी प्रकार मन-बुद्धिसे ही मन-बुद्धिका उद्धार किया जा सकता है, क्योंकि ये मन-बुद्धयादि अन्तर्मुख हुए आप ही अपने मित्र

होते हैं और बहिर्मुख हुए आप ही अपने शत्रु । जब प्रथम ये ही अपने शत्रु बनते हैं तब अन्य सब संसार इस जीवका शत्रु हो जाता है । परन्तु जब ये आप अपने मित्र बनते हैं तब सभी संसार इस जीवका मित्र हो जाता है । क्योंकि बाह्य अवस्तुमें वस्तुकी कल्पना करनेवाले ये ही होते हैं, फिर असत्यमें सत्यकी भावना करके मिथ्या स्वार्थ और राग-द्वेषद्वारा ये आप ही अपने शत्रु खड़े कर लेते हैं । परन्तु यथार्थ दृष्टिका आश्रय करके जब सभी स्वार्थ व कामनादिका परित्याग कर दिया जाता है तब अपने मित्र बनानेवाले भी ये आप ही होते हैं ।

किन लक्षणोंवाला आत्मा बन्धु और किन लक्षणोंवाला शत्रु है ? सो वर्णन करते हैं—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

उस आपेका वह आप ही तो मित्र होता है कि जिस आपे-द्वारा आपा ही जीत लिया गया और अनात्म-भावमें वर्तता हुआ आपा ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें वर्तता है ।

भावार्थ—जिस पुरुषने बाह्य मिथ्या विषयोंकी आसक्तिसे अपने इन्द्रियमनबुद्धयादिको जीता है वह पुरुष आप ही अपना बन्धु होता है । परन्तु इसके विपरीत जिस पुरुषने बाह्य विषयासक्तिमें अपने मनबुद्धयादिको फँसा दिया है, वह मानो आप ही अपना शत्रु बन गया है और फिर अन्य संसार भी उसका शत्रु बन ही जाता है ।

उपर्युक्त रीतिसे जो अपना-आप मित्र हुआ है, ऐसा—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मानापमानमें प्रशान्तचित्त एवं स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष परमात्माको आत्मरूपसे साक्षात् करनेमें समर्थ होता है।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे अपना-आप मित्र बनकर जो पुरुष अपने सुख-दुःख तथा मानापमानका कारण अपने अन्दर ही देखता है, अपनेसे बाहर शत्रु-मित्रादिमें अपने सुख-दुःखादिका कारण नहीं देखता, ऐसा जीते हुए मन व शान्तचित्त पुरुष ही सर्वत्र परमात्मदर्शनके योग्य है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

[ऐसा] ज्ञान एवं विज्ञानसे तृप्तचित्त, अचल तथा विशेषरूपसे जीती हुई इन्द्रियोंवाला योगी 'युक्त' ऐसा कहा जाता है और वह मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्णमें समदर्शी होता है।

भावार्थ—शास्त्रोक्त पदार्थोंको समझनेका नाम 'ज्ञान' है और शास्त्रसे समझे हुए विषयको अपरोक्ष अनुभव कर लेनेका नाम "विज्ञान' है। ऐसा ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त योगी, जो तत्त्व-दृष्टिद्वारा देहेन्द्रियादिके व्यवहारोंमें कूटस्थ व असंग है, इनके धर्म-कर्मोंको अपनेमें नहीं देखता और अपने आत्मासे भिन्न इनकी अपनी कोई सत्ता भी नहीं जानता, इस प्रकार जो विजितेन्द्रिय है, वह 'युक्त' कहाता है। अर्थात् वह अपने आत्मामें योग प्राप्त कर चुका है, ऐसा जानना चाहिये। फिर वह मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्णादि विषमरूप प्रपञ्चको आत्मरूपसे ही ग्रहण करता है और अपने आत्मामें व्यवहारिक प्रपञ्चको शुक्तिमें रजतके समान आभासमात्र प्रतीतिका विषय ही जानता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

[तथा वह] सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धुगण तथा पुण्यात्मा एवं पापियोंमें समान भाव रखनेवाला योगी श्रेष्ठ है।

भावार्थ—स्वार्थरहित हित करनेवाले को 'सुहृत्' कहते हैं, स्नेहवान्‌को 'मित्र', अहित करनेवालेको 'शत्रु, पक्षपातरहित को 'उदासीन,' विरोधी उभय पक्षके हितैषीको 'मध्यस्थ,' अपने अप्रिय को 'द्वेषी' और अपने सम्बन्धीको 'बन्धु' कहते हैं। तथा शास्त्रानुकूल वर्तनेवालेको 'पुण्यात्मा' और प्रतिकूल आचरणवाले को 'पापी' कहा जाता है। इस प्रकार जो इन सब सदाचारी व दुराचारी पुरुषोंमें गुण व दोष-दृष्टि नहीं रखता, अर्थात् उन सबके आत्मामें उन गुण-दोषादिका कोई लेप नहीं देखता, बल्कि निर्गुण निर्विकार ब्रह्म-दृष्टि ही रखता है, ऐसा योगी उत्तम है।

इस प्रकार योगप्राप्तिके लिये जैसा अधिकारी होना चाहिये सो वर्णन किया और उसको जिस अवस्थापर पहुँचना है, उस का दिग्दर्शन कराया गया। अब विशेष साधन कथन किया जाता है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी एकान्त स्थानमें स्थित हुआ अकेला ही मन इन्द्रियोंको जीतकर एवं आशा व परिग्रहका त्याग करके सदा ही आत्मानुसन्धानमें जुड़े।

भावार्थ—उपर्युक्त साम्यतामें स्थिति केवल आत्मानुसन्धानद्वारा ही साध्य है। और एकान्त स्थानमें निवास, अकेला, मन-इन्द्रियादिकी बहिर्मुखताको परित्याग करके उन्हें स्वाधीन रखना आशा व संग्रहका त्याग, ये आत्मानुसन्धानमें उपयोगी [illegible] कथन की गई।

इस आत्मानुसन्धानमें उपयोगी आसन तथा आहार-विहारादिका निरूपण भी करना चाहिये, इसलिये अब इन विषयोंका वर्णन करते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

पवित्र देशमें अपने आसनको स्थिर स्थापित करके, जो न अति ऊँचा और न अति नीचा हो तथा क्रमशः कुशा, मृगचर्म और वस्त्र बिछाकर बनाया गया हो।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

वहाँ उस आसनपर बैठकर, चित्त एवं इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर और मनको एकाग्र करके आत्म-शुद्धिके लिये योगमें जुड़े, (अर्थात् आत्मानुसन्धान करे)।

बाह्य आसनका वर्णन किया, शरीरको कैसे रखना चाहिये ?—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

काया, शिर और ग्रीवाको सम तथा अचल धारण करता हुआ स्थिर बैठे और दिशाओंको न देखता हुआ अपनी नासिका के अग्रभागमें दृष्टि रखे।

नासिकाग्र दृष्टिका फल मनकी एकाग्रताद्वारा आत्मानुसन्धान ही है, नासिकाग्र दृष्टि स्वयं फल नहीं।

आसन व शरीरका वर्णन हुआ, मन कैसा होना चाहिये ?—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

ब्रह्मचर्य-व्रतमें स्थित निर्भय, प्रशान्त अन्तःकरण तथा समाहित होकर और मनको वशमें करके मेरे परायण एवं मच्चित्त हुआ स्थित होवे।

भावार्थ—बहिर्मुखी मन आत्मानुसंधानके योग्य नहीं होता, किन्तु अन्तर्मुखी ही इस योग्य होता है इसलिये अन्तर्मुखतामें साधक मनका स्वरूप बतलाते हैं। प्रथम तो सांसारिक आशा व तृष्णासे मुक्त होकर शान्त एवं निर्भय हो क्योंकि अशान्ति व भयके हेतु आशा-तृष्णा ही है। तथा ब्रह्मचर्य-व्रतके पालन-द्वारा मनका संयम करे और उसको मेरेमें लगावे। अर्थात् सांसारिक आलम्बन छोड़कर मेरा आलम्बन देवे क्योंकि मन निरालम्ब नहीं रह सकता। इस प्रकार रजोगुणी सामग्रीका तिरस्कार करके सत्त्वगुणकी वृद्धि करे और मेरे परायण हो। ऐसा मन ही आत्मानुसंधानके योग्य होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार टिके हुए मनवाला योगी सदा आत्मानुसंधानमें जुड़ा हुआ मेरेमें स्थितिरूप परम निर्वाण शान्तिको प्राप्त होता है।

अब इस योगमें उपयोगी आहारादि नियमका वर्णन करते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवालेको सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवालेको ही, न अति शयन करनेवालेको और न बहुत जागते रहनेवालेको ही सिद्ध होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

[किन्तु] जिसका आहार व विहार नियमित है, कर्मोंमें चेष्टा नियमित है और जिसके जागरण एवं निद्रा नियमित हैं, उसको ही यह संसार-दुःख-नाशक योग प्राप्त होता है।

भावार्थ—जब कि यह योग केवल विचाररूप अभ्यासद्वारा ही साध्य है और विचार केवल सत्त्वगुणी वृत्तिमें ही हो सकता है, तब आहार, विहार, जागरण तथा निद्रादि सभी व्यवहारोंका नियमित होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि अनियमित होने पर ये सब व्यवहार रजोगुण व तमोगुणको ही बढ़ानेवाले होते हैं, इसलिये इस योगमें प्रतिबन्धक हैं।

ऐसा साधनपरायण योगी युक्त कब होता है?—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

[इस प्रकार योगके अभ्याससे] विशेषरूपसे वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें आत्मस्वरूपमें ही भली-भाँति स्थित हो जाता है तथा सब कामनाओंसे स्पृहारहित हो जाता है, उस कालमें 'योगयुक्त' ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ—जिस कालमें संसारकी ओरसे रुका हुआ चित्त अपने आत्मस्वरूपमें ही भली-भाँति स्थित हो जाता है, अर्थात् आत्मानुसन्धानकी प्रौढ़तासे चित्तकी आत्मासे भिन्न अपनी कोई सत्ता ही नहीं रहती, चित्तकी सब वृत्तियाँ दर्पणकी भाँति अपने आत्मस्वरूपका ही मुँह दिखलानेवाली बन जाती हैं तथा चित्तके सब विशेषरूप परिणामोंमें निर्विशेष सत्ता-सामान्य ही भासने लगता है। तथा ज्ञानकी दृढ़ता करके जिस समय सब प्रपञ्च मृगतृष्णाके जलके समान ही शेष रह जाता है और प्रतीतिमात्र सब पदार्थोंकी सब कामनाओंसे चित्त स्वतः ही स्पृहाशून्य हो जाता है। तब ऐसी अवस्थाके प्राप्त होनेपर यह

जानना चाहिये कि वह योगी 'योगयुक्त' हो चुका है, अर्थात् अपने आत्मस्वरूपमें अभेद प्राप्त कर चुका है।

अब उस समाधिस्थ चित्तकी उपमा कही जाती है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१६॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा आत्मानुसंधानमें जुड़े हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गई है।

अर्थात् निर्वात स्थानके दीपकके समान उस योगीका चित्त आत्मामें अचल स्थित हो जाता है और वहाँसे चलायमान नहीं होता। अब उसी चित्तका विशेष स्वरूप वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

जिस अवस्थामें (आत्मानुसन्धानरूप) योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त संसारसे उपराम हो जाता है, जिस अवस्थामें आत्मा करके आत्मदर्शन करता हुआ अपने आत्मामें ही संतुष्ट हो जाता है, जिस अवस्थामें (सूक्ष्म) बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य इन्द्रियातीत अनन्त सुखका अनुभव करता है, जिस अवस्थामें

स्थित हुआ यह योगी आत्मस्वरूपसे चलायमान नहीं होता, जिस लाभको प्राप्त करके उससे अधिक अन्य कुछ भी लाभ नहीं मानता और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता, उस अवस्थाको 'योग' नामक संज्ञा जानो, जिसमें दुःखके संयोगका अभाव है। उस योगका निश्चय-पूर्वक अखिन्न (तत्पर) चित्तसे अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ—यह अवस्था जिसका निरूपण श्लोक २० से २२ में किया गया है 'योग' नामसे पुकारी जाती है, जिसमें दुःखका स्पर्श ही असम्भव है। वह योग उपार्जन करना मनुष्यपर एक-मात्र कर्तव्य है, क्योंकि इसके बिना दुःखरूप संसारसे मुक्त होने का कोई अन्य उपाय न हुआ है न होगा। 'नान्यः पन्था विद्यते-ऽयनाय' (मुक्तिका और कोई मार्ग है ही नहीं), ऐसा वेदका ढिंढोरा है, इसलिये मनुष्यजीवनका ध्येय यह योग ही है। तत्त्व-विचारद्वारा आत्मस्वरूपस्थिति ही एकमात्र इस 'योग' शब्दका अर्थ है, जहाँ कर्मसंन्यास व कर्मयोग दोनोंका मेल हो जाता है। इससे भिन्न न निष्काम-कर्म और न हठयोग ही इस 'योग' शब्दका अर्थ हो सकता है, क्योंकि ये दोनों ही इस तात्त्विक योगके साधन तो हो सकते हैं, न कि स्वयं साध्य और न ये दोनों अपने आचरणमात्रसे ही दुःखरूप संसारके संयोगसे मुक्त कर सकते हैं। इस प्रकार अभिन्न रूपसे आत्मस्वरूपस्थितिकी ही 'योग' नामसे संज्ञा की गई है।

अत्यन्त आवश्यक, जीवनका ध्येयरूप तथा परम उपयोगी जो यह योग है, फलसहित उसकी प्राप्तिके साधनोंको बारम्बार फिर पाँच श्लोकोंमें दृढाते हैं—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेष त्याग करके और इस प्रकार मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायको सब ओरसे भली-भाँति निरोध करके धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा शनैः-शनैः मनको उपराम करे, फिर उस मनको आत्मामें स्थित करके कुछ भी चिन्तन न करे ।

भावार्थ—यह आत्मस्थिति मनको इधरसे तोड़ने और उधर परमात्मामें जोड़नेसे ही सिद्ध होती है, जैसे प्याज़की पौद इधरसे उखाड़ने और उधर जमानेसे ही फलती-फूलती है । इसलिये मनकी बहिर्मुखता ही इसमें बाधक और अन्तर्मुखता ही साधक है । इसी उद्देश्यसे इधर तो अन्दर संकल्पजन्य सम्पूर्ण कामनाओंके त्यागकी आज्ञा दी गई और उधर बाहर सब ओरसे इन्द्रियसमुदायका निरोध कहा गया । इस प्रकार जब मन अन्तर्बाह्यसे रुका तब धैर्ययुक्त बुद्धिसे आत्मामें स्थित करना आवश्यक हुआ और जब मन आत्मामें स्थित हुआ तब सर्व चिन्तन अनावश्यक हो गया ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

[इस प्रकार] अस्थिर व चञ्चल मन जिन-जिन विषयोंमें विचरता है, वहाँ-वहाँसे इसको रोककर आत्मामें ही निरोध करे ।

भावार्थ—चूँकि इन विषयोंमें इस मनका प्रवाह चिर कालसे रहता चला आया है, इसलिये आत्मामें स्थित न होकर चिरकालीन अभ्यास-वलसे मनका बारम्बार विषयोंमें दौड़ना स्वाभाविक है । इसीलिये आज्ञा की गई कि चञ्चल मन जहाँ-जहाँ जावे,

वहाँ-वहाँसे इसको लौटाकर आत्मामें ही जोड़े। अर्थात् तत्त्व-दृष्टिसे विषयोंको आभासमात्र मृगतृष्णाके जलवत् देखता हुआ उनसे मनका संग मिटावे और आत्मामें लगावे, क्योंकि यह मन निरालम्ब नहीं रह सकता।

अब इसका फल वर्णन करते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

[इस रीतिसे अभ्यास करते हुए] इस प्रशांत मनवाले योगी को, जो निष्पाप है और जिसका रजोगुण शांत हो गया है, निश्चयसे ब्रह्मस्वरूप उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

[तथा वह]—पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्म-अभ्यास करता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिरूप अत्यन्त सुखका भोग करता है।(श्लो०४-२८का भावार्थ पृ० २४०-२४२ तक देखिये)।

अब उस ब्रह्मप्राप्त योगीका लक्षण चार श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्वत्र समदर्शी तथा आत्म (ब्रह्म) स्वरूपमें युक्तचित्त योगी सब भूतोंमें स्थित अपने आत्माको और सब भूतोंको अपने आत्मामें देखता है।

भावार्थ—अपने आत्मस्वरूप ब्रह्ममें एकत्व पाया हुआ योगी सब भूतोंमें आत्मदर्शन ही करता है, भूतोंमें भूतत्वरूपसे कुछ भी नहीं देखता। जैसे दूध व शक्करका परस्पर मिश्रण हो जाता

है, इस प्रकार भूतों तथा आत्माका परस्पर रल-मिलकर मिश्रण हो गया हो, ऐसा नहीं देखता। किन्तु कल्पित सर्पमें अधिष्ठान-रूप रज्जुके समान सब भूतोंमें स्थित अपने आत्माको ही अधिष्ठानरूपसे देखता है। अर्थात् जिसको सर्परूपसे जाना था, वह केवल रज्जु ही है, सर्प है ही नहीं, इसी प्रकार जिनको चराचर भूतरूपसे जाना था वे केवल आत्मा ही है, भूतादि कुछ हैं ही नहीं, ऐसा देखता है। तथा अपने आत्मामें सब भूतोंको विवर्त-रूपसे देखता है, अर्थात् जैसे कल्पित सर्पमें सर्पत्व कुछ भी नहीं है, इसी प्रकार सम्पूर्ण भूत स्वसत्ताशून्य और केवल भ्रम-रूप प्रतीतिके ही विषय हैं, वास्तवमें एकमात्र आत्मा ही है, ऐसी उसकी परिपक्व दृष्टि होती है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

[तथा] जो योगी मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं गोप्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये गोप्य नहीं होता है।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे जो योगी मुझ सर्वसाक्षी सर्वात्माको सर्वत्र अधिष्ठानरूपसे भरपूर देखता है और सब भूतोंको मुझ सर्वात्मामें विवर्त (कल्पित) रूपसे देखता है, उस योगीकी दृष्टिसे मैं कभी ओझल नहीं होता हूँ और वह भी मेरी दृष्टिसे कभी ओझल नहीं होता है। अर्थात् जिस प्रकार श्रावण मासमें जिसकी आँखें फूट जाती हैं उसको सर्वत्र हर-यावल ही दृष्ट आता है, इसी प्रकार उसकी प्रपञ्च-दृष्टि फूट जाती है और वह सर्वत्र मुझ सर्वात्माको ही आत्मस्वरूपसे देखता है। फिर वह तो मेरा आत्मा है ही, मेरी दृष्टिसे छुपे ही कैसे? उसीने पूर्व अपने अज्ञानके नीचे मुझे छिपा रक्खा था।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

[इस प्रकार] जो योगी मुझमें एकत्वरूपसे स्थित हुआ, सब भूतोंमें स्थित मुझ सर्वात्माको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी मुझमें ही रमता है।

भावार्थ—इस प्रकार जिसकी भूत-दृष्टि व प्रपञ्च-दृष्टि निकल गई है और सर्वात्मैक्य-दृष्टि ही भरपूर हो गई है, ऐसा मुझमें अभेदरूपसे स्थित हुआ योगी सब भूतोंमें स्थित मुझ सर्वात्माको ही भजता है। अर्थात् वह अपनी सर्वात्मैक्य-दृष्टियोंद्वारा सर्वत्र मेरा ही दर्शन करता है। फिर वह (योगी) चाहे कैसे भी वर्ताव करे, वह तो सब प्रकार वर्तता हुआ भी अपनी तत्त्व-दृष्टिके प्रभावसे मुझमें ही रम रहा है, उसके लिये कोई विधि-निषेध नहीं रहता। आशय यह है कि जिस प्रकार सब तरङ्गें जलरूप ही हैं, इसी प्रकार सब भूत अधिष्ठान-ब्रह्मरूप ही हैं। इस साक्षात्कार-दृष्टिसे वह पुरुष देहादिद्वारा चाहे कैसे भी वर्ते, परन्तु इस दृष्टिके प्रभावसे वह तो वस्तुतः मुझमें ही रमता है और केवल इसी दृष्टिके प्रभावसे वह सब पुण्य-पापादिके बन्धनसे मुक्त रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

[इसी प्रकार] हे अर्जुन! आत्मसादृश्यतासे जो सर्वत्र, चाहे सुख हो चाहे दुःख हो, समदृष्टि है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

भावार्थ—जैसे अज्ञानी पुरुषकी अपने शरीरमें 'अहं' रूपसे आत्मबुद्धि है, उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचर भूतजातमें जो आत्मदृष्टि

रखता है तथा सुख-दु:खादि मनोवृत्तियोंमें भी जिसकी आत्मदृष्टि ही है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। अर्थात् सम्पूर्ण चराचरमें, नाना-भूषणोंमें एक सुवर्णदृष्टिके समान जिसकी भेदसे रहित समदृष्टि हुई है तथा जिसका अनुकूल वृत्तिमें राग एवं प्रतिकूल वृत्तिमें द्वेष निवृत्त हो गया है और 'मैं अन्तःकरणरूप भोक्ता हूँ, सांसारिक विषय मेरे भोग्य हैं तथा इनके सम्बन्धसे सुख-दुःखादि-वृत्ति भोगरूप है' इस रीतिसे भोक्ता भोग्य व भोगरूप त्रिपुटीमें जिसका कारण-कार्यभाव निवृत्त हो गया है और सब त्रिपुटियोंमें एक आत्मदृष्टि ही दृढ हो गई है, वह योगी परम श्रेष्ठ है।

योगकी ऐसी विचित्र महिमा सुन और अपनेको इसके अयोग्य जान अर्जुन विस्मित हो भगवान्‌के प्रति प्रश्न करता है—

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुन बोला—हे मधुसूदन! जो यह योग समत्व-भावसे आपके द्वारा कथन किया गया, मनके चञ्चल होनेसे इसकी मैं टिकाऊ स्थिति नहीं देखता हूँ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

[क्योंकि] हे कृष्ण! मन (बड़ा ही) चञ्चल प्रमथन स्वभाववाला (शरीर व इन्द्रियोंको क्षुब्ध व परवश कर देनेवाला) बलवान (किसीके द्वारा वशमें किये जानेको अशक्य) और दृढ (छेदन करनेको अशक्य) है। ऐसे मनका निग्रह करना वायुके निग्रहके समान मैं दुष्कर मानता हूँ।

इसपर अर्जुनके वचनोंका अनुमोदन करते हुए-से भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे महाबाहो ! निस्सन्देह मन चञ्चल व दुर्निग्रह है, तथापि अभ्यास और वैराग्यके बलसे यह वश किया जा सकता है ।

भावार्थ—सजातीय वृत्तियोंके प्रवाहका नाम 'अभ्यास' है तथा दृष्ट व अदृष्ट विषयोंमें बारम्बार दोष-दर्शनद्वारा विगतराग होनेका नाम 'वैराग्य' है । यद्यपि मन चञ्चल है और कठिनाईसे निग्रह होता है, तथापि निग्रहयोग्य ही नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, किन्तु अभ्यास और वैराग्यके बलसे निग्रह किया जा सकता है । अज्ञानके प्रभाव और विषयोंमें सम्यग्दृष्टिके अभ्यास से राग करके स्वयं ही इस मनको चञ्चल बनाया गया है । प्रकृति के राज्यमें अभ्यास ही एक मुख्य वस्तु है, जैसा जिसके अभ्यास का बल होता है, वैसा ही उसका रूप और वैसी ही उसकी प्रकृति हो जाती है । इसलिये यदि विषयोंमें असम्यग्दृष्टि व दोष-दर्शनका अभ्यास भरा जाय तो यह निग्रह किया जा सकता है (पृ० २४२-२४४) ।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

[चाहे कुछ भी हो, परन्तु] जिसका मन वशमें नहीं है उसके द्वारा यह योग प्राप्त होना कठिन है, ऐसा मेरा मत है । परन्तु जिसका मन वशमें है उसके द्वारा यत्न करते-करते उपायसे यह प्राप्त होनेको शक्य है ।

भावार्थ--जैसा पीछे श्लोक १० से २८ तक निरूपण किया गया है, उसी उपायसे यह योग केवल आत्मानुसंधानद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। आत्मानुसंधान निग्रहीत एकाग्र मन में ही हो सकता है, विक्षिप्त चित्तमें कदापि नहीं। इसी लिये भगवान्ने संयतात्माद्वारा ही इस योगका सम्भव वर्णन किया और असंयतात्माको इस योगका अनधिकारी ठहराया।

अर्जुनकी दृष्टिसे प्रथम तो इस योगमें स्थिति दुष्कर है, यदि कोई पुरुष इस योगमें प्रवृत्त होवे भी तो इस एक जन्ममें ही इसे सिद्ध कर लेवे, यह तो अत्यन्त ही दुष्कर है। इस प्रकार यदि कोई पुरुष इस योगमें प्रवृत्त हुआ भी, परन्तु इसकी सिद्धिसे पूर्व ही उसका शरीर पात हो गया, अथवा किसी प्रकार उसका चित्त इस योगसे विचलित हो गया, तब ऐसी अवस्थामें उसके लिये क्या गति होगी? अब यह शङ्का उसके चित्तमें बलवान् हुई और आतुर होकर उसने भगवान्के प्रति प्रश्न किया--

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोला--हे कृष्ण! जो पुरुष योग-मार्गमें शिथिल प्रयत्नवान् है, परन्तु श्रद्धासंयुक्त है और योगसे (किसी प्रकार) उसका चित्त चलायमान हो गया है, वह योग-सिद्धिको न पाकर फिर किस गतिको प्राप्त होता है?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो! जिस प्रकार बादल छिन्न भिन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वह ब्रह्म-पथसे मोहित हुआ आश्रयरहित

पुरुष दोनों, अर्थात् कर्म तथा ज्ञान-मार्गसे भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! इस मेरे संशयको पूर्णतया छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, आपके बिना दूसरा कोई इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना असम्भव है ।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुषका न इस लोकमें और न परलोकमें ही सर्वथा नाश होता है, क्योंकि हे प्यारे ! शुभ कर्म करनेवाला कोई भी अशुभ गतिको तो जा ही नहीं सकता ।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रकाशका अन्धकारसे और अग्निका जलसे संयोग असम्भव है, इसी प्रकार भगवत्मार्गमें प्रवृत्त हुए कल्याणकारी पुरुषको दुर्गतिका सम्बन्ध असम्भव है ।

तब फिर इस योगभ्रष्टकी क्या गति होती है ?

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

वह योगभ्रष्ट पुण्यवानोंके लोकों (स्वर्गादि उत्तम लोकों) को प्राप्त होकर और उनमें असंख्य वर्षोंतक वास करके फिर पवित्र श्रीमानोंके कुलमें जन्म लेता है ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा वह बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें जन्म लेता है, संसार में इस प्रकारका जन्म लेना, यह बहुत ही दुर्लभ है।

भावार्थ—यदि योगभ्रष्टके चित्तमें कुछ भोग-वासना शेष थी, जिसको दबाकर वह योग-मार्गमें प्रवृत्त हुआ था और योगके सिद्ध न होनेके कारण वह निर्मूल नहीं हुई थी, तब ऐसी अवस्थामें उसका जन्म श्रीमान् कुलोंमें होना आवश्यक होगा। यदि वह निर्वासनिक तो हुआ, परन्तु योग-सिद्धिसे पूर्व उसका शरीर गिर गया, तब ऐसी अवस्थामें निर्धन एवं बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें उसका जन्म होगा। ऐसा जन्म संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि वहाँ योगकी सब सामग्री उसको अनायास प्राप्त हो जाती है और वह उसी जन्ममें अनायास योग-सिद्धिको इसी प्रकार प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार तेल व बत्ती सब सामग्रीकी विद्यमानतामें दियासलाई घिसकर लगानेमात्रसे ही अन्धकारकी निवृत्ति हो जाती है।

दोनों प्रकारके योगभ्रष्ट इस प्रकार जन्म धारण करके—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

वहाँ उस पूर्व शरीरसम्बन्धी बुद्धिके संयोगको प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके उपरान्त योगकी सम्यक् सिद्धिके लिये वह फिर यत्न करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार पथिक मार्गमें रात्रि पड़ जानेसे किसी पड़ावपर शयन करता है और प्रभात उठकर फिर अपने उद्दिष्ट-स्थानकी ओर अग्रसर होता है, इसी प्रकार यह योगभ्रष्ट भी फिर जन्म धारण करके योग-सिद्धिके मार्गपर अग्रसर हो जाता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

[तथा] उसी पूर्वके अभ्याससे परवश हुआ वह निश्चयसे (योग-पथमें) आकर्षित होता है, इस प्रकार योगका जिज्ञासु भी वेदसे उल्लंघित वर्तता है।

भावार्थ—पूर्व जन्ममें जितना कुछ योग-मार्गमें अभ्यास किया था, इस जन्ममें उस पूर्वाभ्यासके बलसे उससे आगेकी ओर ही आकर्षित होता है। जिस प्रकार कोई पुरुष लिखता-लिखता सो गया हो तो जागकर आगे लिखने लग पड़ता है, इसी प्रकार योग (आत्मसाक्षात्कार) का जिज्ञासु भी वेदोक्त वर्णाश्रमादिके विधि-निषेधसे मुक्त हो जाता है, फिर योगी तो सब विधि-निषेधोंसे मुक्त है ही, उसका तो कहना ही क्या है ? वेदोक्त विधि-निषेधों का फल यह जिज्ञासा ही थी जोकि अपना फल देकर कृतार्थ हुए।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

[इस प्रकार] अधिक यत्नसे साधनमें लगा हुआ योगी, अनेक जन्मोंके सञ्चित-संस्कारोंसे पापोंसे निर्मल हुआ तब परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—अनेक जन्मोंमें थोड़े-थोड़े भगवत्प्राप्तिविषयक पुण्य-संस्कारोंको एकत्रित करता हुआ योग-जिज्ञासु, उनके प्रभावसे अन्तके जन्ममें अधिक प्रयत्नशील हुआ सब पापोंसे निर्मल होकर परम गति मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

अब योगकी सर्वोत्कृष्टता वर्णन करके अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

[इसलिये] योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रवेत्ताओंसे भी श्रेष्ठ

माना गया है तथा (अग्निहोत्रादि) कर्म-कर्ताओंसे भी योगी श्रेष्ठ है, इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो ।

भावार्थ—तप, स्वाध्याय, सकाम एवं निष्काम-कर्म, सबका फल साक्षात् अथवा परम्परा करके तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा यह आत्मस्वरूप-स्थितिरूप 'योग' ही है। इसलिये सब साधनोंका साध्य होनेसे यही सबसे श्रेष्ठ है और यही मनुष्य जीवनका लक्ष्य होनेसे परम पुरुषार्थ है। अत: इसीमें आरूढ होनेके लिये अर्जुन को उपदेश किया गया ।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सब योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें संलग्न अन्तरात्माद्वारा मुझे भजता है, वह मुझे सबसे श्रेष्ठ योगी मान्य है।

अपनी सब वृत्तियोंमें जो मुझ सर्वसाक्षीको ही देखता है, वह मुझे सर्वश्रेष्ठ योगी मान्य है, अर्थात् 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः' जहाँ-जहाँ भी उसका मन जाता है वहाँ-वहाँ ही उसकी समाधि है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी अनुभवार्थदीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'ध्यान-योग' नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

षष्ठ अध्यायका स्पष्टीकरण

पञ्चम अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नपर जो संन्यास व योगका अभेद भगवान् ने स्पष्ट करके निरूपण किया था, उसीको फिर इस अध्यायके आरम्भमें स्वयं पुष्ट करते हैं और कहते हैं— अर्जुन ! कर्म-फलका आश्रय जो कर्तृ-बुद्धि, उसको त्यागकर जो पुरुष कर्तव्य कर्म करता है, वही (कर्म) संन्यासी और वही (कर्म) योगी है । कर्तृबुद्धि बनाये रखकर केवल अग्नि व क्रियाओंको त्याग बैठनेवाला ही कर्म-संन्यासी नहीं हो जाता । क्योंकि यदि कर्तृबुद्धि विद्यमान है तो कर्म तथा अग्नि भले ही वह त्याग बैठे, फिर भी इनके त्यागका कर्ता वह अवश्य बनेगा और त्यागके अभिमान करके त्यागरूप क्रियाके संस्कार अपने अन्दर ले जायगा । इस प्रकार जबकि संस्कारोंका सद्भाव है तब वे अपने फल-भोगके लिये इसको जन्म-मरणके बन्धनमें लाये बिना न रहेंगे और फिर अपने पुण्य-फल-भोगके लिये 'तवेसे उतरे तो चूल्हेमें गिरे', 'कूँवेसे निकले तो खड्डमें पड़े' की कहावत सत्य हुए बिना न रहेगी । यद्यपि त्यागके भोग उत्तम हैं, तो भी कर्म करके जो बनाया जाता है वह आखिर बिगड़ता ही है, स्थिर रहनेवाला नहीं । जब कि उनका क्षय है, तब चाहे कितने भी दीर्घ काल स्थायी महान् ऐश्वर्य हों, नाशके भयसे वे मज़ा नहीं देते और जबकि उनका नाश है तब फिर वही दरिद्री-के-दरिद्री । इसलिये जब सच्चा स्वराज्य प्राप्त हो सकता है तो वह क्यों न ले लिया जाय ? स्वप्नके षट रसोंसे क्षुधा निवृत्त नहीं होनेकी, आखिर भूखे-के-भूखे ! इस प्रकार कर्तृबुद्धि बनाये रखकर तो न कर्म छोड़ बैठनेसे ही निस्तारा है और न कर्मफल-त्यागकी भावनामात्रसे ही छुटकारा होता है । भला ! कण्टकके वृक्षकी मूल बनाये रखकर डाली-पत्ते तोड़ते रहनेसे ही कहीं कण्टकोंने पीछा छोड़ा है ? कण्टकोंसे छुटकारा चाहते हो तो बल करके मारो ज्ञानरूपी कुठार इसकी जड़ पर, फिर सभी प्रतीयमान कण्टक एकदम फूलोंमें न बदल जायँ तो कहना !

इस रीतिसे कर्तृत्वाभिमानरूपी जड़ जब समूल उखाड़ डाली गई, तो फिर 'सन्यास' भी वही है और 'योग' भी वही है। जैसे 'उदक' भी वही है और 'तोय' भी वही, दोनों शब्दोंके नीचे अर्थरूप वस्तु एक ही है। इस प्रकार जब तुच्छ 'अहं'से पल्ला छुटा, ज्ञानका मुकुट लगाकर अपने साक्षी-स्वरूपके सिंहासनपर जमकर बैठा और इस 'मैंपन' को फाँसीपर लटका दिया गया, तब इस एक शरीररूपी राजधानीपर ही नहीं, किन्तु सप्तद्वीप नवखण्डमें इसका डंका बज जाता है। फिर तो क्या सूर्य, क्या चन्द्र और क्या तारागण सबमें इसीकी चमक होती है और सब इसीके भयसे भागे फिरते हैं। सब तो सब कुछ कर्ता धर्ता यही है, परन्तु कुछ नहीं करता, सब फल इसीसे सिद्ध होते हैं, परन्तु यह आप निर्लेप और निष्कामी है। अजी! महाराजाधिराजके राजतिलक होते ही न्याय (Judicial), अर्थ (Financial) तथा कृषि (Revenue) विभागके मन्त्रियोंसे लेकर क्लर्क, पटवारी एवं चपरासीतक सब उसीकी सत्ता पाकर अपनी-अपनी ड्यूटियोंपर भागे फिरते हैं, तब क्या महाराजाको उनके पीछे-पीछे दौड़ना पड़ता है? सब कुछ उसीकी सत्तासे होता है, पर वह आप अकर्ता (कर्म-सन्यासी) है, सब फल उसीकी कृपा-कटाक्षसे सिद्ध होते हैं, परन्तु वह निष्कामी (कर्म-योगी) है। इसी प्रकार अभेदरूपसे स्वरूपस्थिति प्राप्त कर लेनेपर जिसको 'सन्यास' कहते हैं उसीको 'योग' जानना चाहिये। क्योंकि कर्ता-बुद्धि रहते हुए कर्ममात्र छोड़ बैठनेसे ही जैसे कोई सन्यासी (कर्म-त्यागी) नहीं हो जाता, वैसे ही कर्तृत्व व कर्तव्यादि सङ्कल्पोंके रहते हुए कोई योगी (फलत्यागी) भी नहीं हो सकता। कर्तृत्व-बुद्धि रहते हुए जब कर्तव्यताका भूत सरपर सवार होता है कि मुझे अमुक कर्तव्य है, तब उसके आवेशमें नाना सङ्कल्प शाखारूपसे निकल पड़ते हैं, जो कि अपना फल रखते हैं और जिस करके कर्तृत्व-बुद्धि अधिकाधिक दृढ़ होती चली जाती है। इस प्रकार कर्तव्यत्याग बिना कोई सन्यस्तसङ्कल्पी नहीं बन सकता और अपने साक्षीस्वरूपमें डेरे डाले बिना कर्तृत्व व कर्तव्यादि सङ्कल्प भी पीछा

नहीं छोड़ते। इसलिये अपने साक्षीस्वरूपमें स्थिति पाये बिना कोई योगी भी नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह कि कर्तृत्व-बुद्धिकी विद्यमानतामें वस्तुतः न 'संन्यास' सिद्ध होता है न 'योग' और कर्तृत्व-बुद्धिसे छुटकारा पा लेनेपर दोनों ही अभेद रूपसे सिद्ध हो जाते हैं। (श्लो० १-२)।

इसके उपरांत भगवान्‌ने कहा कि योगजिज्ञासुके लिये यद्यपि पूर्वावस्था में निष्काम-कर्म योगमें हेतु कहा गया है, तथापि उत्तर योगारूढ अवस्थामें स्थित रहनेके लिये फिर उस कर्मका त्याग ही हेतु कहा गया है, अर्थात् कर्तृत्व व कर्तव्यादि भावोंके रहते हुए योगारूढ होना असम्भव है। फिर योगारूढ पुरुषके लक्षण करते हुए कहा कि जिस कालमें इन्द्रियोंके अर्थोंमें प्रवृत्त होते हुए भी अहंभोक्तृत्वभाव उदय नहीं होता और कर्मोंमें प्रवृत्त होते हुए भी अहंकर्तृत्वभाव उदय नहीं होता, उस कालमें वह पुरुष योगारूढ जानना चाहिये। (३-४)। इससे आगे गीतामें 'संन्यास' व 'योग' का कोई भेद नहीं रक्खा गया है और दोनों 'योग' शब्दसे ही अभेदरूपसे व्यवहार किये गये हैं। अपने साक्षीस्वरूपमें अभेदरूपसे स्थित होना ही 'योग' शब्दका अर्थ है और यह योग ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। इससे आगे गीतामें न हठयोग ही 'योग' शब्दका अर्थ है और न निष्काम जिज्ञासु की कर्तव्यबुद्धिसे कर्मप्रवृत्ति ही 'योग' शब्दका अर्थ है। यद्यपि निष्काम-कर्म गीता-दृष्टिसे अनादरणीय नहीं है, बल्कि आदरणीय है, तथापि इतना मात्र ही गीताका प्रतिपाद्य विषय नहीं है। गीता तो उस ऊँचे शिखरपर चढ़कर देखती है, जहाँ न कोई कर्ता है, न कुछ कर्तव्य है, न कर्म है और न संसार ही है, बल्कि ये सब उसीसे सिद्ध होते हैं, परन्तु उसमें कुछ नहीं बनता। यही सच्चा कर्मयोग है और यही कर्मसंन्यास।

तत्पश्चात् इस अवस्थाकी सिद्धिके निमित्त साधनोंका निरूपण करते हुए भगवान्‌ने कहा कि सबसे पहले तो मनुष्यको चाहिये कि अपने मनको अपना मित्र बनावे और संसारमें गिराकर उसको अपना शत्रु न बना लेवे (५-६)। ऐसा मनोनिग्रहवान् पुरुष ही आत्मसाक्षात्कारका अधिकारी

वर्णन किया गया। फिर उस तत्त्ववेत्ता योगीकी समदृष्टिका वर्णन किया कि वह पत्थर-सुवर्णमें और शत्रु मित्रादि सब भावोंमें अभेददर्शी ही होता है (७-९)। और इस योगस्थितिमें एकाकी, एकांतवास, आशा व परिग्रहका त्याग, पवित्र देश, आसन-विधि, मन व इन्द्रियोंका संयम, काया शिर व ग्रीवा की समता, नासिकाग्र दृष्टि, शांत चित्तता, निर्भयता, ब्रह्मचर्यपालन, ईश्वर-परायणता तथा आहार विहार एवं जागरण-स्वप्नादिकी नियमितता, इत्यादि उपयोगी सामग्रीका वर्णन किया गया (१०-१९)। तथा 'जब मन सब कामनाओंसे छूटकर आत्मामें ही स्थित हो जाता है, तब वह युक्त कहाता है' ऐसा युक्तचित्तका लक्षण किया गया और निर्वातस्थानस्थ दीपशिखासे उस चित्तकी उपमा दी गई (१८-१९)। जिस अवस्थामें योगाभ्यासद्वारा निरुद्धचित्त आत्मदर्शन करता हुआ आत्मामें ही तुष्ट हो जाता है, सूक्ष्म बुद्धिद्वारा इन्द्रियातीत अत्यन्त सुखका अनुभव करता है, जिसको पाकर उससे अधिक कुछ पानेयोग्य नहीं मानता और जिसमें स्थित हुआ भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता, उस अवस्थाको 'योग' नामसे पुकारा गया (२०-२३)। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये पुनः संकल्पजन्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग, मनद्वारा इन्द्रियग्रामोंका संयम, धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा विषयोंसे उपरामता, उस बुद्धिकी आत्मामें स्थिति तथा सब ओरसे चञ्चल मनको खेंचकर आत्मामें जोड़ना, इत्यादि साधनोंपर जोर दिया गया और इस उपायद्वारा रजोगुणके शान्त होनेपर सुखेन ब्रह्मरूप अत्यन्त सुखके भोगका आश्वासन दिलाया गया (२४-२८)। फिर श्लोक २९ से ३२ तक ऐसे स्वरूपस्थित योगीका विस्तारसे लक्षण किया गया।

इसपर अर्जुनने इस योगको दुराध्य जान तथा मनोनिग्रहको इस योगमें अनिवार्य व परम आवश्यक साधन समझ, भगवान्‌से प्रश्न किया कि इस मनका निग्रह कैसे हो? क्योंकि वायुके समान इसको रोकना कठिन है (३३-३४)। इसपर भगवान्‌ने विषयोंसे वैराग्य तथा बारम्बार सारासार-विवेकरूप अभ्यासको मनोनिग्रहमें एकमात्र हेतुरूपसे वर्णन किया और

अनिग्रहवान्‌को इस योगमें निश्चित रूपसे अनधिकारी बतलाया (३५-३६)। तत्पश्चात् अर्जुनने पुनः प्रश्न किया कि जो श्रद्धावान् परन्तु शिथिल प्रयत्नशील योगका जिज्ञासु योगमें प्रवृत्त होकर विचलित हो गया हो, वह किस गतिको प्राप्त होगा (३७-३९)? इसपर भगवान्‌ने योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन किया कि उसके लिये अधोगति तो हो ही नहीं सकती, किन्तु वह भावी जन्ममें निश्चित रूपसे योग-मार्गमें ही अग्रसर होता है। और इस प्रकार पूर्व-पूर्व जन्मके अभ्याससे योग-मार्गमें अधिकाधिक आकर्षित होता हुआ वह प्रयत्नशील योगी पापोंसे शुद्ध होकर परम गतिको प्राप्त हो जाता है (४०-४६)। अन्तमें तपस्वियों, शास्त्रवेत्ताओं तथा कर्ममार्गियोंसे उस योगी की सर्वोत्कृष्टता निरूपण करते हुए अध्यायकी समाप्ति की गई (४६-४७)।

इस प्रकार इस अध्यायके आरम्भमें संन्यास व योगका अभेद पुष्ट करके पश्चात् योग प्राप्तिकी विधि, मन-संयमके उपाय, योगका महत्त्व और योगीके लक्षण कथन किये गये। फिर अर्जुनके प्रश्नपर मनोनिग्रहका साधन, इसकी उपयोगिता, योगभ्रष्टकी उत्तम गतियोंका वर्णन और योगकी सर्वोत्कृष्टता दर्शाई गई। इस रीतिसे पिछले छः अध्यायोंमें सांख्य व योगका स्वरूप निरूपण करके उनका अभेद पुष्ट किया गया। अब अगले अध्यायोंमें योगस्थितिमें उपयोगी अपने स्वरूपका निरूपण करते हैं।
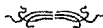
॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! तू मुझमें आसक्तचित्त और मेरे परायण योगमें जुड़ा रहकर, जिस प्रकार संशयरहित सर्वरूप (अर्थात् कारण-कार्य, विशेषण-विशेष्य अधार-आधेय सब मैं ही हूँ, ऐसा) मुझे जानेगा, वह तू सुन ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तुझे विज्ञानके सहित वह ज्ञान पूर्णतया वर्णन करूँगा जिसे जानकर फिर इस संसारमें अन्य कुछ जाननेयोग्य शेष नहीं रहता ।

भावार्थ (श्लो० १-२)—भगवान्‌में चित्तका आकर्षण होना और भगवत्परायण जीवन रहना, योगसिद्धिमें यही मुख्य हेतु है। इस के विपरीत जिनके चित्तका आकर्षण संसारमें है और जो संसार-परायण हैं, उनकी यहाँ गम्य नहीं है । तथा सब रूपोंमें भगवद्-दर्शन करना और सर्वरूपमय भगवान्‌को ही जानना, यही योगका फल है। गुरु-शास्त्रद्वारा आत्माके स्वरूपको जानना, 'ज्ञान' कहाता है और उसको साक्षात् अनुभव कर लेना 'विज्ञान' कहलाता है। अब भगवान् अपने अनुभवसहित उस ज्ञानका निरूपण करते हैं, जिसको जान लेनेपर संसारमें और कुछ जानना शेष नहीं रहता । अर्थात् जिसने सुवर्णके स्वरूपको जाना, उसके द्वारा सुवर्णके अशेष कार्य कटक-कुण्डलादि सभी जाने गये ।

इस प्रकार केवल ज्ञानद्वारा ही साक्षात् योगप्राप्ति वर्णन की गई, न कि कर्मादिद्वारा। अब उस ज्ञानकी दुर्गम्यता वर्णन करते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हज़ारों मनुष्योंमें कोई ही मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करनेवालोंमेंसे कोई ही मुझे तत्त्वसे जानता है।

भावार्थ—प्रथम तो माया करके भरमाये हुए मेरी प्राप्तिके निमित्त कोई यत्न ही नहीं करते, मृगतृष्णावत् संसारके यत्नमें ही लगे रहते हैं। हज़ारों मनुष्योंमें कोई विरला ही ऐसा निकलता है जो मेरे निमित्त यत्न करे। फिर यत्नपरायण उन पुरुषोंमें भी कोई विरला ही ऐसा निकलता है, जो इसी जन्ममें मुझे तत्त्वसे जान लेवे। जिस प्रकार वन तो बहुत होते हैं, परन्तु हाथी जिस वनमें हो ऐसा कोई ही वन होता है तथा हाथियोंके भी झुंड-के-झुंड तो मिल जाते हैं, परन्तु मोती जिसके मस्तकसे निकले ऐसा विरला ही हाथी मिलता है।

अब उस ज्ञान-विज्ञानका निरूपण करते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ऐसे आठ प्रकारसे विभक्त यह मेरी प्रकृति है।

यहाँ पाँचों भूतोंके स्थूल रूपको ग्रहण न करके इनकी तन्मात्राओंको ही ग्रहण करना चाहिये।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

यह (अष्टधा प्रकृति) तो अपरा है और हे महाबाहो ! इससे अन्य जीवरूपा मेरी परा प्रकृति जानो, जिससे यह (सम्पूर्ण) जगत् धारण किया जाता है।

भावार्थ (श्लो० ४ ५)—उपर्युक्त अष्टधा अपरा प्रकृति तो तूला अर्थात् कार्य प्रकृति है जो प्रकृतिकी विकृति है । परन्तु इससे भिन्न मेरी दूसरी परा अर्थात् मूला प्रकृति है, जो कि इस अष्टधा प्रकृतिके रूपमें परिणामिनी होकर जगत्‌की उत्पत्ति करती है। इसीके आश्रय संसार खड़ा हुआ है और इसीके सम्बन्धसे चेतनकी जीव संज्ञा हुई है । आशय यह है कि सुषुप्ति अवस्थामें जो प्रकृति है वह परा अथवा मूला प्रकृति कहाती है और वही संसारका परिणामी उपादान या बीज है । वही जब जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्थामें परिणत होती है, तब अष्टधा अपरा प्रकृतिके रूपमें परिणत होकर ही संसारको उत्पन्न करती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण भूतोंकी योनिरूप ये दोनों प्रकृतियाँ ही हैं, ऐसा जानो और मैं अखिल जगत्‌का उत्पत्ति तथा प्रलयस्थान हूँ ।

भावार्थ—सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही निकलते हैं, इसलिये ये दोनों प्रकृतियाँ भूतोंकी योनि अर्थात् परिणामी कारण † हैं । तथा संसारकी उत्पत्ति-प्रलयरूप प्रकृतिका यह नृत्य जिसके प्रकाशमें होता है, वह अधिष्ठानरूप सत्ता मैं ही हूँ और इस उत्पत्ति-प्रलयका विवर्तोपादान कारण हूँ † ।

† वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिकामें इनके लक्षण देखिये ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

[इस प्रकार] हे धनञ्जय ! मुझसे परे अन्य कुछ भी नहीं है, मुझमें यह सब इसी प्रकार पिरोया हुआ है, जिस प्रकार माला के मणके धागेमें ।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकृति तथा प्रकृतिका कार्य यह जगत् मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि यह सब मेरा ही आभास और मेरा ही चमत्कार है, इसलिये सर्वरूपोंमें मैं ही प्रकाश रहा हूँ । जैसे कटक-कुण्डलादि सम्पूर्ण भूषण सुवर्णसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं, वे सब सुवर्णका ही आभास व चमत्कार हैं और उन सबमें सुवर्ण ही प्रकाश रहा है । इसी प्रकार सब जगत् मुझमें ही पिरोया हुआ है ।

अब सबमें अपनी सर्वरूपता एवं सर्वात्मताका संक्षेप से दिग्दर्शन कराते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

हे कौन्तेय ! जलमें रस, सूर्य व चन्द्रमामें प्रभा, सब वेदोंमें ॐकार, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पौरुषरूप मैं ही हूँ ।

भावार्थ—जलका जो सार है उसका नाम रस है, उस रस-रूप मुझ परमात्मामें ही सम्पूर्ण जल पिरोया हुआ है । वैसे ही सूर्य व चन्द्रमामें सारभूत जो प्रभा है, उस प्रभारूप मुझ परमात्मामें ही सूर्य, चन्द्र व तारागण दमकते हैं । सम्पूर्ण वेदोंका सारभूत ॐकाररूप मुझ परमात्मामें ही सब वेद पिरोये हुए हैं । तथा शब्दरूप मुझ परमात्मामें ही सम्पूर्ण आकाश गुँथा हुआ है । और पुरुषोंमें पौरुषरूप भी मैं ही हूँ, अर्थात् जिस सत्ता करके

उत्तमें पुरुष-बुद्धि की जाती है, उस पौरुषरूप मुझ परमात्मामें ही सम्पूर्ण पुरुष प्रकाशते हैं।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

[तथा] पृथ्वीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, सब भूतोंमें जीवन और तपस्वियोंमें तप मैं हूँ।

भावार्थ—पृथ्वीका सार पुण्य गन्ध अर्थात् सुगन्ध है, उस सुगन्धरूप मुझ परमात्मासे सम्पूर्ण पृथ्वी ओत-प्रोत हो रही है। इसी प्रकार अग्निका सार तेज है, उस तेजरूप मुझ परमात्मामें अग्नि प्रकाशती है। तथा जिससे सब प्राणी जीते हैं, वह सब भूतोंका जीवन मैं ही हूँ और तपस्वियोंमें सारभूत तपरूपसे मैं ही स्थित हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

[सारांश] हे पार्थ ! सब भूतोंका सनातन बीज अर्थात् मूल कारण मुझे ही जान तथा बुद्धिमानोंमें बुद्धि एवं तेजस्वियोंमें तेज-रूप मैं ही हूँ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे भरतश्रेष्ठ ! बलवानोंका आसक्ति व कामनारहित बल और सब भूतोंमें धर्मानुकूल काम मैं हूँ।

भावार्थ—आसक्ति व कामनासंयुक्त बल तामसिक तथा आसुरी बल है, जिसके सम्बन्धसे देहाभिमानकी वृद्धि होती है। इससे विपरीत पदार्थोंकी अहन्ता-ममताका त्याग, गुरु-शास्त्रके वचनोंमें श्रद्धा, भोगोंमें सुखबुद्धिका त्याग और परलोकमें

आस्तिकता, इत्यादि रूपसे काम व रागवर्जित सात्त्विक व दैवी बल मैं ही हूँ, जो कि मैं इस रूपसे दैवी सम्पद्वानोंमें विराजता हूँ, जिस बलद्वारा वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। तथा 'हम किसीके लिये दुःखरूप एवं स्वार्थपरायण न हों, दुःखरूप संसारके बन्धनसे छूटें और मोक्षके भागी हों'—इत्यादि रूपसे भूतोंमें मैं धर्मानुकूल काम हूँ, जिसके द्वारा जीव मेरे मार्गपर आता है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

[तथा] और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले तथा रजोगुण व तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले भावरूप पदार्थ हैं, वे सब मेरे द्वारा ही उत्पन्न हुए जान, वे मेरेमें हैं परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।

भावार्थ—यावत् प्रपञ्च तीनों गुणोंवाला ही प्रतीत होता है और तीनों गुण ही प्रपञ्चकी उत्पत्तिमें कारणरूपसे जाने जाते हैं। परन्तु वास्तवमें इन गुणोंमें कारणता-प्रतीति भ्रम है, वास्तव में क्या गुण और क्या गुणोंका कार्य प्रपञ्च, वे सब तू मुझसे ही उत्पन्न हुए जान। यद्यपि वे मुझसे उत्पन्न होते हैं और मेरे आश्रय हैं, परन्तु मैं उनके आश्रय नहीं हूँ। मेरे आश्रय भी वे केवल अभासमात्र ही हैं और मेरी सत्ता-स्फूर्तिके द्योतकमात्र ही हैं, वास्तवमें तो वे स्वसत्ता-शून्य ही हैं। जिस प्रकार राजाके महलपर ध्वजा, महलमें राजाकी विद्यमानताको सूचित करती है, इसी प्रकार त्रिगुण व भाव अपने अन्तर मुझ सत्ता-सामान्यकी विद्यमानताका पता देते हैं, परन्तु वे स्वयं अपनी सत्ता कुछ नहीं रखते।

इस प्रकार यद्यपि मैं सबका रूप और सबका आत्मा ही हूँ, परन्तु ऐसा होते हुए भी—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन त्रिगुणात्मक भावोंसे मोहित हुआ यह सारा जगत्, इनसे परे जो मैं अविनाशी तत्त्व हूँ उसको नहीं जानता ।

भावार्थ—सत्त्व, रज व तम त्रिगुणमय ही ये सब भावरूप पदार्थ हैं और जहाँ इन त्रिगुणात्मक भावोंकी प्रतीति होती है, वहाँ वास्तवमें मैं ही विद्यमान होता हूँ । स्वसत्ताशून्य होनेसे मेरे बिना इन भावोंकी प्रतीति ही असम्भव है। जैसे एकाङ्क (१) बिना शून्योंकी असिद्धि ही है और शून्य (०) अपने स्वरूपसे कुछ होते ही नहीं हैं, स्वयं कुछ न होते हुए भी केवल उस एकाङ्कके आश्रय ही इन शून्योंकी भावरूप सिद्धि व प्रकाश होता है। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक भावरूप पदार्थ अपने स्वरूपसे तो होते ही नहीं हैं। अपने स्वरूपसे अभावरूप होते हुए भी मुझ भावरूप सत्ता के आश्रय ही ये भावरूप प्रतीत होते हैं। ऐसा होते हुए भी त्रिगुणोंसे मोहित हुआ सारा जगत् अपने दृष्टि-दोष करके मुझको नहीं देखता और त्रिगुणमय भावोंको ही देखता है। जैसे किसीके नेत्रोंमें पीतिमा-रोग होनेसे पीत-वर्ण न होते हुए भी वह सारे जगत्‌को पीत-वर्ण ही देखता है।

इसमें हेतु क्या है और वह कैसे निवृत्त हो ?—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

[क्योंकि] मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो मेरी ही शरणको प्राप्त होते हैं वे इस मायासे तर जाते हैं ।

भावार्थ—मेरी इस दैवी मायाका तरना महान् कठिन है,

और इसीके प्रभावसे जीव मोहित हुआ मुझे न देख त्रिगुणमय भावोंको ही देखता है। परन्तु जो पुरुष सर्वात्मभावसे मेरे सम्मुख होते हैं और मेरी शरण ग्रहण करते हैं, केवल वे ही इस मायाके पार जा सकते हैं। क्योंकि मेरेसे विमुख होकर ही इस जीवको इस मायाका आवरण हुआ था, जैसे सूर्यके अभाव करके अन्धकारका आवरण होता है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

[परन्तु] जो अधम पुरुष, मूढ व दुष्कर्मी हैं तथा मायाद्वारा जिनका ज्ञान हरा हुआ है और जो आसुरी स्वभावको धारण किये हुए हैं, ऐसे पुरुष मेरी शरणको प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ—जहाँ दुष्कर्म, मूढता एवं आसुरी सम्पत्ति विराजमान हैं, वहाँ जानना चाहिये कि मायारूपी नटनीका बोल-बाला हो चुका है और उसके प्रभावसे ज्ञान-ध्यानादिने कूँचका नगारा बजा दिया है। जब ज्ञान-ध्यानादि ही विदा हो गये, तब वे मेरी शरणमें कैसे प्राप्त होंगे? और जब मेरी शरणागति ही नहीं, तब अज्ञानके प्रभावसे सूर्यके समान अखण्ड प्रकाशता हुआ भी, मैं उनकी दृष्टियोंसे इसी प्रकार ओझल हो जाता हूँ, जिस प्रकार उलूक पक्षीकी दृष्टिसे प्रकाशमान् सूर्य अन्धकारका गोला प्रतीत होता है।

फिर आपकी शरणको कौन प्राप्त होते हैं?—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे भरतश्रेष्ठ! आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी एवं ज्ञानी चार प्रकारके पुण्यकर्मी पुरुष मुझको भजते हैं।

भावार्थ—चार प्रकारके ही मनुष्य भगवान्को भजते हैं—(१) आर्त—अर्थात् रोग, इष्ट वस्तुके अभाव, अथवा चोर-व्याघ्रादि के भयसे दुःखी। (२) अर्थार्थी—अर्थात् धन-पुत्रादिकी कामनावाला। (३) जिज्ञासु—अर्थात् विवेक-वैराग्यादि-साधनसम्पन्न पुरुष, जो भगवान्को ही परम श्रेय जान उनकी प्राप्तिकी उत्कट इच्छावाला होता है। (४) ज्ञानी—जिसने भगवान्के स्वरूपको ज्यों-का-त्यों जान लिया है। इस प्रकार संसारमें चार प्रकारके ही मनुष्य हैं जो भगवान्को अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भजते हैं। और वे चारों ही पुण्यवान् हैं क्योंकि उन्होंने अपनी दृष्टिके अनुसार भगवान्को ही सर्वोत्कृष्ट एवं शरणागतवत्सल जाना है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

[तथापि] उन चारोंमें ज्ञानी, जो मुझमें नित्य ही जुड़ा हुआ और अनन्य भक्तिमान् है, श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।

भावार्थ—परम प्रेमका विषय आत्मा ही है। संसारमें जो कोई जिस किसी वस्तुसे प्रेम करता है, उसको आत्मदृष्टिसे अथवा आत्मसुखके लिये ही प्रेम करता है। फिर उस ज्ञानीने तो तत्त्वसे छान-बीन करके अपरोक्षरूपसे केवल मुझे ही अपना आत्मा जाना है, इसलिये मैं उसको अत्यन्त प्यारा हूँ। फिर वह तो मेरी आत्मा होनेसे मुझे प्यारा है ही।

फिर क्या अन्य तीन आपको प्रिय नहीं हैं?—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

[यद्यपि] ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही

है, ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मुझ अनुत्तम (जिससे उत्तम और कुछ भी नहीं) गतिमें ही जुड़ा हुआ भली-भाँति स्थित है।

भावार्थ—ये सभी भक्त उदार हैं, अर्थात् यद्यपि वे तीनों भी मुझे प्रिय ही हैं, तथापि ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। क्योंकि उसने सर्वत्याग किया है और अपने परिच्छिन्न अहंकार एवं अखिल संसारको मुझपर ही न्यौछावर कर दिया है तथा मुझ अनुत्तम गतिमें ही सब भावोंसे युक्त है। यह नीति है कि जो कोई जितना कुछ जिस किसीके लिये अपने स्वार्थ व ममताका परित्याग करता है, उतना ही वह उसका प्रेम-पात्र होता है। इस-लिये त्याग ही प्रेम है, ऐसा कहना चाहिये। फिर इस ज्ञानीने तो मेरे लिये कुछ भी बचा न रक्खा, किन्तु सभी अहन्ता-ममतादि समूल लुटा दी और वह तो सर्वात्मभावसे मेरी ही शरण ग्रहण कर चुका, अतः वही सोलह आने मायाके पार जाता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१६॥

[इस प्रकार] बहुत जन्मोंके पुरुषार्थसे अन्तके जन्ममें तत्त्व-वेत्ता ज्ञानी 'यह सब भगवत्स्वरूप ही है' इस भावसे मुझे प्राप्त हो जाता है, ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।

भावार्थ—ज्ञान-प्राप्तिके लिये जिनमें संस्कारोंका संग्रह किया जाय, ऐसे बहुत-से जन्मोंमें ज्ञान-संस्कारोंके परिपक्व हो जानेपर अन्तके जन्ममें जिज्ञासु ज्ञानवान् होकर और तत्त्वसाक्षात्कार करके मुझे प्राप्त कर लेता है। क्योंकि भगवत्-प्राप्तिके मार्गमें प्रवृत्त हुए जिज्ञासुके लिये अधोगति नहीं है, बल्कि प्रत्येक ऐसे जन्ममें ज्ञानके संस्कारोंको अधिकाधिक सञ्चय करता हुआ तथा योगभ्रष्टरूपसे अवतीर्ण होता हुआ (जैसा अ. ६ श्लो ४० से ४५ में कहा गया है) वह अन्तके जन्ममें अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करके मुक्त

हो जाता है। उस ज्ञानका क्या स्वरूप है, जिसके द्वारा भगवत्-प्राप्ति होती है? सो कहते हैं—'मन-इन्द्रियोंका विषय अहं-त्वमादि जितना कुछ यह स्थावर-जंगम एवं स्थूल-सूक्ष्मरूप प्रपञ्च है, यह सब भगवत्स्वरूप ही है। अर्थात् भगवान्के बिना इस प्रपञ्चकी कोई स्थिति नहीं और भगवान्के स्वरूपमें इसका कोई स्पर्श नहीं। जैसे आकाशके बिना इस ब्रह्माण्डकी स्थिति नहीं और आकाशमें इसका कोई स्पर्श नहीं।' ऐसा अपने स्वरूपको अपरोक्षरूपसे जाननेवाला महात्मा अति दुर्लभ है और वही गोपदके समान नकद इस मायाको उल्लङ्घन कर जाता है।

चतुर्विध भक्तोंमेंसे ज्ञानीका निरूपण किया गया, दूसरा जिज्ञासु भक्त भी ज्ञान-संस्कारोंको सञ्चय करता हुआ किसी-न-किसी जन्ममें भगवत्प्राप्तिद्वारा अवश्य मायासे तरेगा। अब शेष दो आर्त व अर्थार्थी भक्तोंका वृत्तान्त कहते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

[धन-पुत्रादि]—उन-उन भोग-कामनाओंद्वारा जिनका ज्ञान हरा गया है, वे (आर्त व अर्थार्थी भक्त) तो अपनी प्रकृति (स्वभाव) से प्रेरे हुए, उस-उस नियमको धारण करके अन्य ही देवताओंकी शरणमें जाते हैं।

भावार्थ—जैसा श्लोक १५ में कथन किया गया है, वे निषिद्ध सकामी पामर पुरुष तो सब प्रकार मुझसे विमुख हैं ही, फिर ये शुभ सकामी आर्त (संकट-मुक्तेच्छु) एवं अर्थार्थी (भोगेच्छु) भक्त भी यथार्थरूपसे मेरे सम्मुख नहीं होते। किन्तु अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न कामनाओंसे उनका विवेक हरा हुआ रहनेके कारण वे भी अन्य ही देवताओंके परायण रहते हैं। अर्थात् रजोगुणी कामनाओंके वेगसे उनका हृदय विक्षिप्त रहनेके कारण उनमें यह विचार

उत्पन्न ही नहीं होने पाता कि 'सुखस्वरूप मैं सर्वात्मा ही हूँ और उनके अत्यन्त सन्निकट उनके हृदयोंमें ही भरपूर हूँ।' इसलिये इस विवेकके अभावसे काम्य पदार्थोंमें ही सुख-बुद्धि दृढ होनेके कारण वे भी अपनी कामनापूर्त्तिके लिये अपने रजोगुणी स्वभावसे प्रेरे हुए उन-उन देवताओंकी आराधनामें ही तत्पर रहते हैं, जिनसे उनको अपने मनोरथ-सिद्धिकी आशा होती है। उन देवताओंकी पूजाके लिये जो-जो नियम लोकमें प्रसिद्ध हैं, वे उस-उस नियमको ही धारण करते हैं और मुझ वास्तविक सुखस्वरूपसे वञ्चित ही रहते हैं।

यद्यपि वे अपने अज्ञान करके मुझको नहीं देखते, तथापि उनके सब मनोरथोंकी सिद्धि होती तो मेरे द्वारा ही है; वह इस प्रकार—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो-जो भक्त जिस-जिस देव-विग्रहको श्रद्धापूर्वक पूजनेकी इच्छा करता है, उस-उस भक्तकी उस देवसम्बन्धी श्रद्धाको मैं ही स्थिर कर देता हूँ।

भावार्थ—सांसारिक अथवा पारमार्थिक सब फलोंकी सिद्धि में मुख्यता अपनी श्रद्धाकी ही है, अपनी श्रद्धाबिना कोई भी देव हमको कुछ भी नहीं दे सकता, इसलिये श्रद्धा ही मुख्य देव है। सो मैं सर्वात्मा ही उस भक्तके हृदयमें उस देवके प्रति श्रद्धारूपसे विराजमान होता हूँ, जिससे वह उस देवताकी आराधना करनेमें समर्थ होता है। यदि श्रद्धारूपसे मैं उसके हृदयमें अपनी सत्ता-स्फूर्ति प्रदान न करूँ तो वह रञ्चकमात्र भी उस देवार्चनके योग्य न रहे, फिर उस श्रद्धाहीन भक्तको सम्मुख विद्यमान रहता हुए भी वह देवता कुछ भी फल न दे सके।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

[तथा] वह भक्त उस श्रद्धासे युक्त हुआ उस देवताके आराधनकी चेष्टा करता है और (उस देवताके रूपमें) मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन भोगोंको निस्सन्देह प्राप्त होता है।

भावार्थ—आशय यह कि सब कुछ मेरे द्वारा ही सिद्ध होता है। इधर भक्तोंके हृदयोंमें श्रद्धा मेरे द्वारा ही स्थापित होती है और उधर उनकी भावनाके अनुसार श्रद्धेय देवरूपसे मैं ही उनके सम्मुख होता हूँ। वास्तवमें जबकि मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, तब इस प्रकार वे जिस-जिस देव-विग्रहका अर्चन करते हैं, वह पूजा भी मुझ सर्वसाक्षी सर्वात्माको ही पहुँचती है और फल-सिद्धि भी मेरे द्वारा ही होती है। क्योंकि इधर उनकी भावना ही मेरी सत्ता-स्फूर्तिसे देवरूप धारती है और उधर उनकी भावना ही मेरी सत्ता-स्फूर्तिसे फलाकार होती है। इस प्रकार जड़ भावनाको अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे मैं ही चेतन करता हूँ और सब कुछ मेरे द्वारा ही सिद्ध होता है। परन्तु अपने अज्ञान करके वे अपने-आपको आराध्य देवका ही पूजक मानते हैं और फल-सिद्धि भी उस देवद्वारा ही जानते हैं। इस प्रकार अपने अज्ञान करके वे मुझ सर्वात्मासे वञ्चित ही रह जाते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

[इसी अज्ञानके कारण] उन अल्प बुद्धिवालोंको वह नाशवान् फल ही मिलता है, इस प्रकार देवताओंके भजनेवाले देवताओं को और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—केवल इस अज्ञानके कारण ही इस विषयको तत्त्व

से न जानकर कि 'सब कुछ मेरे द्वारा ही सिद्ध होता है, सब देवादिरूपोंमें मैं ही होता हूँ और मुझ सर्वसाक्षीमें सर्वरूप आभासमात्र ही होते हैं' उन अल्प बुद्धिवालोंका सब पुरुषार्थ निष्फल ही होता है। और सुखके निमित्त उनकी सारी दौड़-धूप व्यर्थ ही रहती है, क्योंकि सभी प्राणी अपनी सब चेष्टाओंमें खोज तो पूर्ण सुखकी ही करते हुए पाये जाते हैं। परन्तु सब कुछ करके भी उन अल्पबुद्धियोंको ज्ञान-दारिद्र्यके कारण दुःख-दारिद्र्य ही मिलता है। वास्तवमें मायाके कार्य होनेसे क्या देवता, क्या देवलोक और क्या भोग, सभी क्षणभङ्गुर होते हैं और अपने परिणाममें दुःखकी ही प्राप्ति करते हैं। इस प्रकार देवताओंके भजनेवाले देवताओंको ही प्राप्त होते हैं, परन्तु मुझ अखण्ड अविनाशी सर्वात्माके भक्त जिज्ञासु एवं ज्ञानीजन तो मुझ अविनाशी स्वरूपको ही नकद प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार श्लोक १५ से यहाँतक चार प्रकारके भक्त आर्त, अर्थार्थी' जिज्ञासु व ज्ञानी वर्णन किये गये। जिनमें जिज्ञासु व ज्ञानी ही मायासे तरने और सर्व रूपोंमें भगवत्साक्षात्कार करने के अधिकारी वर्णन किये गये। अब यह बतलाते हैं कि सर्व साधारण मेरी शरणमें क्यों नहीं आते हैं?—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अविनाशी व सर्वोत्तम परम भावको न जानते हुए मुझ अव्यक्तस्वरूपको व्यक्तिवाला मानते हैं।

भावार्थ—वास्तवमें मैं हूँ तो अव्यक्तस्वरूप अर्थात् मन-इन्द्रियों का अविषय, इसलिये अपनी कोई व्यक्ति नहीं रखता और मन-इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य हूँ। मन-इन्द्रियोंद्वारा तो विशेषरूप व्यक्त

वस्तु ही ग्राह्य होती है, निर्विशेष सामान्य वस्तु अव्यक्तस्वरूप होनेसे मन-इन्द्रियों-द्वारा ग्रहण नहीं हो सकती। यद्यपि उन विशेषरूप ग्राह्य-ग्राहक व्यक्तियोंके नीचे ही वह निर्विशेष अव्यक्त-स्वरूप विद्यमान होता है, उसीके आश्रय उन सब ग्राह्य-ग्राहकरूप व्यक्तियोंकी सिद्धि होती है और उसीके आश्रय सब व्यक्तियोंका भावाभावरूप उत्पत्ति-नाश होता है, तथापि उन विशेषरूप व्यक्तियोंके भावाभावमें वह निर्विशेष अव्यक्तस्वरूप तो ज्यों-का-त्यों अचल व कूटस्थ ही रहता है। जिस प्रकार विशेषरूप कटक-कुण्डलादिके भावाभावकी सिद्धि निर्विशेष तथा सामान्यरूप सुवर्णके आश्रय ही होती है और उन विशेष रूपोंके भावाभाव में सामान्यरूप सुवर्ण अचल व कूटस्थ ही रहता है। मैं ऐसा निर्विशेष, सामान्य तथा अव्यक्तस्वरूप होता हुआ भी और सब व्यक्तियोंकी भासमान सत्ता होता हुआ भी, वे बुद्धिहीन पुरुष मेरे अविनाशी परम भावको न जानते हुए, इन्द्रियोंके ही अभ्यासी होनेसे मुझे व्यक्तस्वरूप ही मानते हैं। और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार राम-कृष्णादि किसी व्यक्तस्वरूपकी ही उपासना करते हैं, इसी लिये वे मुझ सर्वसाक्षी सर्वात्माकी शरण को प्राप्त नहीं होते। यद्यपि वे राम-कृष्णादि मुझ सर्वात्माके लीलाविग्रह हैं और उनकी उपासना मेरी शरणागतिके लिये एक बीचका सोपान है, परन्तु उस सोपानको ही उद्दिष्ट स्थान मान कर वे वहीं डेरे डाल देते हैं और मेरी ओर आगे नहीं बढ़ते।

इस प्रकार जब आप सब व्यक्तियोंमें हैं और सबकी आत्मा ही हैं, फिर सबके दृष्टिगोचर क्यों नहीं होते?—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥

. . योगमायासे आच्छादित हुआ मैं सर्वसाधारणके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये यह मूढ जगत् (प्राणिसमुदाय) मुझ अज-अविनाशी सर्वात्माको नहीं जानता ।

भावार्थ—जिस प्रकार नट मायारूप अपने नाना स्वाँगोंसे आच्छादित हुआ सर्वसाधारणके प्रत्यक्ष नहीं होता, यद्यपि वे मायारूप नाना स्वाँग उसकी अपनी दृष्टिको नहीं छुपाते तथा अन्य किसी-किसी चतुर पुरुषकी दृष्टिसे भी वह छुपा नहीं रहता। इसी प्रकार तीनों गुणोंके योग (मेल) वाली मायासे छुपा हुआ, सब रूपोंमें विद्यमान हुआ भी मैं सर्वसाधारणके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ। यद्यपि वह योग-माया मेरी अपनी दृष्टिको छुपा नहीं सकती तथा मेरे मर्मको जाननेवाले अन्य तत्त्ववेत्ताओंकी दृष्टिसे भी मैं छुप नहीं सकता, परन्तु वह योग-माया मूढ अज्ञानी जगत्‌के हृदय एवं दृष्टिमें ही गाढ़रूपसे स्थित रहनेके कारण उनकी दृष्टियोंको बहिर्मुख ही रखती है, अन्तर्मुख नहीं होने देती और इस प्रकार अपनी दोष-दृष्टि करके वे मायारूप जगत्‌को ही देखते हैं मुझको नहीं देखते। जिस प्रकार मूढ वानर निर्मल दर्पणके सन्निकट स्थित हुआ अपनी दोष-दृष्टि करके वहाँ अपने संकल्पकी छायाको ही अन्य वानररूप से देखता है, दर्पणको नहीं देखता। इसी प्रकार मूढ प्राणियोंके सम्मुख अन्दर-बाहर सब रूपोंमें उपस्थित हुआ भी मैं उनकी दोष-दृष्टिके कारण उनको नहीं भासता और वे मुझ अज-अविनाशी को वहाँ न देख अपने संकल्परूप जगत् को ही देखते हैं।

इस प्रकार यद्यपि भूत-प्राणी मुझको नहीं जानते, तथापि—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए, वर्तमानमें स्थित तथा भविष्य में होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मेरेको कोई नहीं जानता ।

भावार्थ—यद्यपि वे भूत-प्राणी मुझ अपने आत्मस्वरूपको, जो कि उनके सर्व ज्ञान, सर्व दृष्टि और सर्व चेष्टाओंमें ही विद्यमान हूँ, माया करके नहीं जानते, तथापि भूत, भविष्य व वर्तमान त्रिकालजात भूतोंको मैं अपने आत्मरूपसे ही जानता हूँ । यद्यपि जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि जाती है वहाँ-वहाँ उनकी दृष्टियोंमें छुपा हुआ मैं सर्वात्मा ही सब नाम-रूपोंको प्रकाशता हूँ, परन्तु वे तो अपनी मायामय दृष्टिके कारण मायामात्र नाम रूपोंको ही देखते हैं । मिथ्या नाम-रूपोंमें जो दमक रहा है और जिसके भाससे ये सब भास रहे हैं, उससे उनकी आँखें नहीं लड़तीं । इस प्रकार मैं त्रिकालजात भूतोंको अपने आत्मरूपसे जानता हुआ भी, वे मुझ सर्वात्माको स्वात्मरूपसे नहीं जानते और देहादिमें ही आत्म-बुद्धि रखते हैं ।

किन प्रतिबन्धकोंके कारण आप इस प्रकार नहीं जाने जाते ?

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

हे भारत ! इच्छा एवं द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्व मोहसे सब भूत हे परन्तप ! जन्मते ही मूढ भावको प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—अपने सर्वसाक्षी सर्वात्मस्वरूपके अज्ञानसे देहमें आत्म-बुद्धि होती है । तथा देहात्मबुद्धिसे भेददृष्टि उत्पन्न होकर किसी वस्तुमें अनुकूल और किसीमें प्रतिकूलबुद्धि हो जाती है। फिर अनुकूलबुद्धिके विषय पदार्थोंकी इच्छा और प्रतिकूलबुद्धि के विषय पदार्थोंसे द्वेष होता है । इस प्रकार इच्छा व द्वेष करके

ही अहन्ता-ममताद्वारा सुख-दुःख, हानि-लाभ तथा काम-क्रोधादि द्वन्द्व मोह उत्पन्न होते हैं। और इन द्वन्द्व मोहोंसे ही मोहित हुए सब भूत-प्राणी शुरुसे ही मूढभावके वशीभूत हुए रहते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

[परन्तु] जिन पुण्यकर्मी पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे द्वन्द्व मोहसे छूटे हुए दृढनिश्चयी पुरुष मुझे भजते हैं।

भावार्थ—'सुखस्वरूप केवल भगवान् ही हैं, संसारिक भोग रोगरूप हैं, बारम्बार जन्म-मरण दीर्घ रोग है और केवल भगवान् की अनन्य शरणद्वारा ही इस रोगकी निवृत्ति सम्भव है' ऐसा जिनका दृढ निश्चय है वे दृढव्रती कहलाते हैं। ऐसे दृढव्रती पुण्यकर्मी जन जिनका पाप निवृत्त हो गया है, वे काम-क्रोध तथा राग-द्वेषादि द्वन्द्व मोहसे छूटकर मुझे भजते हैं, अर्थात् मेरी शरणमें प्राप्त होते हैं। पुण्य कर्मोंसे पाप इसी प्रकार निवृत्त होते हैं, जैसे प्रकाशसे अन्धकार। फिर पापोंकी निवृत्तिसे द्वन्द्व मोहसे छुटकारा होता है, द्वन्द्व मोहसे छूटनेपर भगवत्परायणता प्राप्त होती है और भगवत्परायणतासे भगवत्प्राप्तिद्वारा जन्म-मरणसे छुटकारा होता है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

[इस प्रकार] जरा-मरणसे छूटनेके लिये जो पुरुष मेरे परायण होकर यत्न करते हैं, वे सम्पूर्ण अध्यात्म और अखिल कर्म को उस ब्रह्मस्वरूप ही जान लेते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

[तथा] अधिभूत, अधिदैव एव अधियज्ञके सहित जो पुरुष मुझ ब्रह्मस्वरूपको अन्तकालमें भी जान लेते हैं, उन्हें मुझमें युक्तचित्त ही जान।

भावार्थ (श्लो २९ व ३०)—जैसा श्लोक २८ में कथन किया गया है, उसके अनुसार जो पुरुष मेरे परायण होकर जन्म-मरण-रूप दुःखसे छूटनेके लिये दृढ पुरुषार्थ करते हैं, वे सम्पूर्ण अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, अधियज्ञ तथा कर्मादि अखिल भावोंको मुझ ब्रह्मस्वरूप ही जान लेते हैं। अर्थात् अध्यात्म-अधिदैवादि अखिल भाव ब्रह्मरूप ही हैं, जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि सब भूषण सुवर्णरूप ही हैं और 'सो ब्रह्म मैं ही हूँ।' इस प्रकार अन्त समयमें भी जिन्होंने ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्षरूपसे जाना है, उन्हें मुझमें युक्तचित्त अर्थात् योगयुक्त जानो। इसी अपरोक्ष-ज्ञानके प्रभावसे वे फिर जन्म-मरणको प्राप्त नहीं होते। अध्यात्म-अधिदैवादिका स्वरूप अर्जुनके प्रश्नपर अष्टम अध्यायमें निरूपण किया जायगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एव ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'ज्ञानविज्ञान' नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तम अध्यायका स्पष्टीकरण

इस अध्यायमें अपने स्वरूपमें एकत्व भावसे योग पानेके निमित्त भगवान्‌ने अपनी सर्वात्मता तथा सर्वरूपताका उपदेश किया। प्रथम दो श्लोकों में उस ज्ञान-विज्ञानके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा की, जिसके जाननेसे सब रूपोंमें ही भगवान्‌को जाना जा सकता है और जिसके जान लेनेपर संसार में और कुछ जानना शेष नहीं रहता तथा उस ज्ञानकी दुर्विज्ञेयता कथन की (श्लो० १-३)। फिर बतलाया कि अखिल संसारकी योनि, अर्थात् जिस से संसार निकलता है, मेरी प्रकृति ही है, जो कि परा व अपरा भेदसे दो भागोंमें विभक्त है। यद्यपि मेरी प्रकृति मुझसे भिन्न नहीं है, जैसे पुरुषकी छाया पुरुषसे भिन्न नहीं होती, तथापि मैं प्रकृतिस्वरूप नहीं बन जाता, जैसे पुरुष स्वयं छाया नहीं हो जाता; किन्तु मैं तो प्रकृति व प्रकृतिका परिणामरूप संसार सबसे परे हूँ, परन्तु मुझसे परे कुछ नहीं है। आकाशके समान सबमें अनुगत रहकर सबसे असंग रहनेका नाम 'सबसे परे' होना है। फिर कहा कि सम्पूर्ण संसार मुझमें इसी भाँति पिरोया हुआ है, जैसे माला के मणके सूत्रमें पिरोये होते हैं (४-७)। तदनन्तर पञ्चभूतों, वेदों, तीनों गुणों तथा इनके कार्यरूप सम्पूर्ण जगत्‌में जिस प्रकार भगवान् ओत-प्रोत हो रहे हैं, उसका संक्षेपसे वर्णन किया और कहा कि मेरी छाया होनेसे ये सब मेरे आश्रय हैं परन्तु मैं इनके आश्रय नहीं हूँ (८-१२)। फिर समझाया कि यद्यपि मैं इन सबमें ओत-प्रोत हूँ, तथापि त्रिगुणमय भावोंसे मोहित हुआ यह जगत् मुझ उस परम अविनाशीको नहीं जानता, जिसके परम-भावसे अत्यन्त अभावरूप हुआ भी यह जगत् भावरूप प्रतीत होता है। जैसे जिस हाथकी शक्तिसे चिमटा सब बाह्य पदार्थोंको पकड़ सकता है, उसी हाथको पकड़नेमें वह असमर्थ होता है, उसी प्रकार जिस सत्तासे ये त्रिगुणमय भाव सत्तावान् हो रहे हैं उसी सत्ताको ये स्वयं नहीं

जान सकते। इस अज्ञानमें अपनी दुस्तर माया ही मुख्य कारणरूपसे कथन की गई और अनन्यरूपसे भगवान्‌की शरण ही उस मायासे तरनेका एकमात्र उपाय बतलाया गया (१३-१४)।

तत्पश्चात् यह स्पष्ट करके निरूपण किया कि जो मूढ, दुष्कर्मी तथा अधम पुरुष हैं और आसुरी भावसयुक्त होनेसे मायाद्वारा जिनका ज्ञान हरा हुआ है, वे तो किसी प्रकार मेरी शरण ग्रहण करते ही नहीं हैं। इस लिये उनके सम्बन्धमें तो मायासे तरनेकी कोई चेष्टा आकाशको लाँघनेके तुल्य ही है। इनको छोड़कर ससारमें वे चतुर्विध भक्त १ आर्त, २ अर्थार्थी, ३ जिज्ञासु तथा ४ ज्ञानी ही हैं, जो अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार जिस-तिस भावसे भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं। इनमेंसे एक ज्ञानी भक्त ही भगवान्‌ने अपनेको अत्यन्त प्रिय बतलाया, जिसकी उनमें अनन्य भक्ति है, जो नित्य ही उनमें अभेदरूपसे युक्त है और केवल वही मायासे तरने के योग्य कहा गया। दूसरा जिज्ञासु भक्त भी अनेक जन्मोंके पुरुषार्थसे सब जगत्‌को वासुदेवमय जानकर और इस प्रकार भगवान्‌को प्राप्त करके मायासे अवश्य तरेगा (१५-१९)। शेष दो आर्त व अर्थार्थी भक्तों, अर्थात् विषयी पुरुषोंके सम्बन्धमें कहा गया कि अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न कामनाओं करके प्रेरे हुए और उन कामनाओंद्वारा उनका ज्ञान हरा हुआ होने के कारण वे अपनी प्रकृतिवशात् अन्य देवताओंकी ही शरण ग्रहण करते हैं। यद्यपि उनकी कामनाओंके अनुसार उस-उस देवके प्रति उनकी श्रद्धाको मैं ही स्थापन करता हूँ, जिस श्रद्धासे युक्त होकर वे उस-उस देवकी आराधनामें समर्थ होते हैं और उस देवके रूपमें उनके सम्मुख होकर उनको फल भी मैं ही प्रदान करता हूँ, तथापि वे कामान्ध हुए मुझको वहाँ नहीं देखते। इसी अज्ञानके कारण सब कुछ करते हुए भी वे मुझ परमानन्दसे वञ्चित ही रहते हैं और इस प्रकार वे अल्पबुद्धि नाशवान् फलको ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार चतुर्विध भक्तोंका स्वरूप वर्णन किया गया, जिनमें ज्ञानी एव जिज्ञासु भक्त ही अपनी प्राप्तिद्वारा मायासे तरनेके अधिकारी वर्णन किये गये (२०-२३)।

जबकि आप परमानन्दस्वरूप हैं और सबके आत्मा ही हैं, तब प्राणी आपको छोड़ अन्य देवपरायण क्यों हो जाते हैं ? ऐसी शङ्काके सम्भव हुए भगवान्ने स्पष्ट करके बतलाया कि उन दुर्बुद्धि पुरुषोंकी देह व इन्द्रियादिमें ही आत्म-बुद्धि होनेके कारण तथा इसके फलस्वरूप भेद व परिच्छेद-दृष्टिके ही शिकार बन जानेके कारण और मन-इन्द्रियोंके विषय व्यक्त पदार्थों के ही अभ्यासी रहनेके कारण, वे अल्पबुद्धि मुझे लोकविशेष-वासी तथा देवविशेष-व्यक्ति ही मानते हैं। इसलिये वे आँखोंमें ही नित्य स्थित रहकर मुझ सबके देखनेवालेको नहीं देखते तथा हृदयमें ही नित्य प्राप्तको नहीं पाते। इसीलिये अपनी मायासे आच्छादित हुआ मैं सर्वसाधारणको अज-अविनाशीरूपसे दृष्टिगोचर नहीं होता हूँ। इस प्रकार यद्यपि प्राणिसमुदाय मुझ अपने सर्वात्माको नहीं जानते, तथापि मैं त्रिकालजात भूतोंको अपने आत्मरूपसे जानता हूँ। इसी अज्ञानके कारण इच्छा व द्वेषजन्य द्वन्द्वमोहसे मोहित सर्वभूत मुझ सर्वात्माको न जानकर जन्म-मरणको ही प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन पुण्यात्माओंके पाप निवृत्त हो गये हैं वे तो दृढव्रती द्वन्द्व-मोहसे छूटकर मुझे भजते हैं। इस प्रकार जरा-मरणसे मुक्त होनेके लिये जो पुरुष मेरे परायण होकर यत्न करते हैं वे सम्पूर्ण अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, अधियज्ञ व अखिल कर्मोंको ब्रह्मरूप ही जान लेते हैं। यहाँतक कि अन्त समयमें भी जो मुझे ऐसा जान लेते हैं, उनको मुझमें योगयुक्त ही जानो और वे इसी ज्ञानके प्रभावसे फिर जन्म नहीं लेते।

इस प्रकार इस अध्यायमें अपनेमें योगप्राप्तिके लिये अपने स्वरूपका वर्णन किया और अध्यायके आरम्भमें अपने समग्ररूपके कथन करनेकी जो प्रतिज्ञा की थी, उसका निरूपण किया। इसपर अष्टम अध्यायके आरम्भमें ब्रह्म, अध्यात्म व अधिदैवादिके स्वरूपको न जान अर्जुन प्रश्न करता है—

ॐ ॐ ॐ

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अर्जुन बोला—हे पुरुषोत्तम ! (१) वह ब्रह्म क्या है ? (२) अध्यात्म क्या है ? (३) कर्म क्या है ? (४) अधिभूत किसको कहते हैं ? (५) अधिदैव क्या कहा जाता है ? (६) हे मधुसूदन ! इस शरीरमें अधियज्ञ कैसा है और वह कौन है ? (७) तथा अन्त समयमें स्थिरचित्त पुरुषोंद्वारा आप किस प्रकार जाने जाते हैं ?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—परम अविनाशी ब्रह्म है स्वभाव अध्यात्म कहा गया है तथा भूतोंमें भावको उत्पन्न करनेवाला व्यापार 'कर्म' नामसे संज्ञा किया गया है ।

भावार्थ—(१) जो परम अक्षर है सो ब्रह्म है । अर्थात् अक्षर (अविनाशी) तो न्यायमतमें आकाश, कालादिको भी नित्य-द्रव्य मानकर कथन किया गया है । तथा सांख्यमतमें प्रकृतिको विभु मानकर अक्षररूपसे कथन किया गया है । परन्तु जिसमें आकाशादि द्रव्य तथा विभुरूप प्रकृति अत्यन्त शून्य हो जाते हैं, ऐसा जो अक्षरों-का-अक्षर परम अक्षर है सो 'ब्रह्म' है ।

(२) तथा स्वभाव अध्यात्म नामसे कहा गया है । अर्थात्

जो किसी कारण करके उत्पन्न न हुआ हो, उसको 'स्वभाव' कहते हैं। ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्तिके रूपमें परिणामी उपादानको *'अध्यात्म' कहा जाता है। ऐसे स्वरूपवाली यह प्रकृति ही है जो स्वयं किसी कारणसे उत्पन्न नहीं हुई और अखिल ज्ञान एवं क्रियाशक्तिका परिणामी उपादान है। इसलिये प्रकृति ही 'अध्यात्म' नामसे कही गई है।

(३) भूतोंमें भावको उत्पन्न करनेवाले शुभाशुभ व्यापारकी 'कर्म' नामसे संज्ञा की गई है। मन-बुद्धिमें स्फुरणरूप तरंगका नाम 'भाव' है। इसलिये मन-बुद्धिका साक्षात् परिणाम अथवा मन बुद्धिकी जानकारीमें जो व्यापार देहेन्द्रियद्वारा हो रहा है, वह सब भावोत्पादक होनेसे 'कर्म' कहा जाता है। आशय यह है कि जिस चेष्टाद्वारा भोग अथवा संस्कारकी उत्पत्ति हो उसीका नाम 'कर्म' है और मन-बुद्धिमें भावोत्पादक चेष्टा ही भोगरूप तथा संस्काररूप हो सकती है, अन्य नहीं। यद्यपि भोजन खानेके पश्चात् शरीरके भीतर मल, मूत्र, रस तथा रक्तादि बननेपर्यन्त असंख्य व्यापार उत्पन्न होता है, तथापि वह सब व्यापार न मन-बुद्धिकी जानकारीमें है, न मन-बुद्धिका परिणाम है और न किसी शुभाशुभ संस्कारको ही उत्पन्न करता है, इसलिये वह कर्मकी व्याख्यामें नहीं आता। अतः 'कर्म' की यही व्यापक व्याख्या है, इससे भिन्न 'देवोंके उद्देश्यसे द्रव्यादिके त्याग' मात्रकी ही 'कर्म' नामसे संज्ञा करना, कर्मको अति संकीर्णरूपमें प्रकट करना है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

---

* पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार— ये चौदह 'अध्यात्म' कहे जाते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान व क्रियारूप व्यापार इन्हीं के द्वारा प्रकट होता है।

[तथा] क्षर (नाशवान्) पदार्थ 'अधिभूत' है, पुरुष 'अधिदैव' है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ ! इस शरीरमें 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ।

भावार्थ—(४) जितना कुछ दृश्यरूप प्रपञ्च है वह उत्पत्ति-विनाशधर्मा होनेसे 'अधिभूत' कहा जाता है, अर्थात् जो कुछ नाशवान् पदार्थ है वह सब अधिभूत है (५) उत्पत्ति-विनाश-धर्मी प्रत्येक पदार्थरूपी पुरमें स्थित वह चेतनरूप दैवशक्ति, जिसके अनुग्रहसे ये सब विकार सिद्ध होते हैं, अर्थात् समष्टि इन्द्रियों तथा अन्त करणोंमें ज्ञान व क्रियारूप व्यापार जिसके अनुग्रहसे सिद्ध होता है उस दैवी शक्तिको अधिदैव कहते हैं। (६) तथा इस देहमें कर्ता-भोक्तारूपसे जितना कुछ व्यापार हो रहा है सो सब यज्ञरूप ही है और जीवात्माके भोगके लिये ही है। इस सम्पूर्ण भोगरूप यज्ञकी सिद्धि अन्तर्यामीके अधिष्ठातृत्व में ही हो रही है यथा—'यो मनसोन्तर यमयति एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृत' (बृहदारण्यक)। अर्थात् जो मन व इन्द्रियादिमें अन्त स्थित होकर सबको चला रहा है वही अन्तर्यामी अमृतरूप तेरा आत्मा है। इस भोगरूप यज्ञका अधिष्ठाता अर्थात् 'अधियज्ञ' इस देहमें यह अन्तर्यामी मैं ही हूँ।

इस प्रकार अर्जुनके छ प्रश्नोंका उत्तर दिया गया। अब इस सातवें प्रश्नका उत्तर कि 'आप अन्तकालमें स्थिरचित्त पुरुषों-द्वारा किस प्रकार जाने जाते हैं' विस्तारसे अध्यायकी समाप्ति-पर्यन्त कथन करेंगे—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावम् याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अन्तकालमें जो पुरुष मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह मेरे ही स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

भावार्थ—जो पुरुष अन्त समयमें मुझ सच्चिदानन्दघन, सर्वव्यापी, सर्वात्माका चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागता है, वह तो मेरे साक्षात् ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होता ही है, इसमें तो संदेहका अवकाश ही नहीं है। क्योंकि उस तत्ववेत्ताने तो मुझे जीते-जी ही करामलकवत् नक़द प्राप्त कर लिया है। इसलिये उसकी आँखें तो मुझसे कदाचित् ओझल होती ही नहीं हैं। तथा यह तो जीव का वास्तव स्वरूप ही है, केवल अज्ञान करके बीचमें ही विपरीत भावना हो गई थी, इसलिये इसमें तो सन्देह क्या हो सकता है?

जिसकी आँखें मुझसे नहीं लड़ीं, वह पुरुष—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

अथवा हे कौन्तेय! जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ अन्त समयमें शरीर त्यागता है, सदा उसी भावसे तदाकार हुआ वह उस-उस रूपको ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—यह जीव भावका ही पुतला है और भावनामय ही संसार है। इसलिये 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जैसी जिसकी भावना दृढ़ होती है, वैसा ही उसका रूप हो जाता है। वेदान्तका यही सिद्धान्त है कि अपनी प्रारब्ध बनानेवाला यह जीव आप ही होता है। अन्तकालमें जैसी-जैसी जीवकी भावना होती है उसके अनुसार उसको वैसी-वैसी ही भावी गति और भोगकी प्राप्ति होती है, क्योंकि भावनामें सत्य-स्वरूप परमात्मा विद्यमान है, इसलिये वह निष्फल नहीं होती। परन्तु अन्तकालमें भावना अकस्मात् और-की-और नहीं हो जाती, किन्तु जीवनकालमें जैसा-जैसा इसका आचार व विचार दृढ़ रहा है, उसके अभ्याससे वैसी ही भावना होती है। इस नियमके अनुसार यदि इस स्थिरचित्त पुरुषकी वृत्ति जीवनकालमें, अति

सूक्ष्म बुद्धिका विषय होनेसे, मेरे वास्तविक सर्वसाक्षीस्वरूपमें नहीं जुड़ी और उसका अभ्यास नहीं हुआ तो सगुण अथवा निर्गुण, जिस-जिस भावमें यह सदा भावित रहा है उस-उस भावके अभ्यासके बलसे यह अन्तकालमें भी उसी भावका स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर मेरे उसी रूपको प्राप्त होता है।

इस प्रकार जबकि अन्त कालकी भावना ही मुख्य है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये तू सर्वकालमें मेरा ही स्मरण कर और युद्ध कर, इस प्रकार मेरेमें मन-बुद्धि अर्पण किये हुए तू निस्सन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा।

भावार्थ—इसलिये जैसा श्लोक पाँचमें कथन किया गया है, तू सर्वकालमें मुझ सर्वसाक्षी सर्वात्माका ही चिन्तन कर और इतना दृढ अभ्यास कर कि युद्ध जैसी भयकर प्रवृत्तिमें प्रवृत्त होकर भी 'मैं अर्जुन मारनेवाला हूँ और ये दुर्योधनादि मारेजाने-वाले हैं तथा मेरा इनसे अमुक सम्बन्ध है'—इत्यादि रूपसे कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि देहसंग कदापि न फुरे। बल्कि अनिच्छित प्राप्त स्वधर्ममें स्वाभाविक प्रवृत्त होकर भी (किसी कर्तव्य करके नहीं) तेरी यही अखण्ड वृत्ति बनी रहे कि 'मेरे आत्मस्वरूपमें न कोई अर्जुन मारनेवाला है न कोई दुर्योधनादि मारेजानेवाले हैं, न युद्ध है, न युद्धका कोई निमित्त है न हननरूप क्रिया है, न हन्तव्य देहादि हैं और न हनन-क्रियाके करणरूप शस्त्रादि ही हैं। किन्तु ये सब मेरे आत्मस्वरूपके चमत्कार हैं और आभास-मात्र तरंगे हैं, जिन आभासोंमें यद्यपि मैं आत्मस्वरूप ही भास रहा हूँ, चमक रहा हूँ, परन्तु मेरे स्वरूपमें इन आभासोंकी न कोई उत्पत्ति है न नाश, न कुछ हुआ है और न होगा। इस

प्रकार इस ज्ञानकी प्रौढतासे देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादिको मेरेमें अर्पण किये हुए तू निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। कर्तावुद्धि बनाये रखकर मन-बुद्धिआदिका भगवानमें अर्पण यथार्थ अर्पण नहीं, यह अर्पण तो केवल भावमय है, वास्तविक नहीं, जिसका फल केवल अन्तःकरणकी शुद्धि है, भगवत्प्राप्ति नहीं। परन्तु यहाँ तो भगवान् का वचन है कि 'तू इस प्रकार निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा' (मामेवैष्यस्यसंशयम्), जिससे उपर्युक्त ज्ञानरूप समर्पण ही जानना चाहिये।

इस प्रकार अन्तकालमें भगवत्-चिन्तन करते हुए शरीर त्यागनेवाले उन स्थिरचित्त योगियोंका वर्णन किया गया, जो उपर्युक्त रीतिसे शरीर त्यागकर ज्ञानद्वारा सद्योमुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इस श्रुतिवचनके अनुसार (कि वह आत्मतत्त्व सूक्ष्मदर्शी पुरुषों-द्वारा सूक्ष्म व तीक्ष्ण बुद्धिसे ही देखा जाता है) जिन स्थिरचित्त योगियोंकी बुद्धिका ज्ञानद्वारा उस सूक्ष्म तत्त्वमें प्रवेश नहीं हुआ, उनके लिये निर्गुण-ध्यानद्वारा क्रम-मुक्तिका वर्णन करते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

[अथवा] हे पार्थ ! अभ्यासरूप योगसे युक्त अनन्यगामी चित्तसे चिन्तन करता हुआ (स्थिरचित्त योगी) परम दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे यदि स्थिरचित्त योगी ज्ञानद्वारा अपने मन व बुद्धि भगवानमें समर्पण न कर सका तो वह अभ्यास-रूप ध्यान-योगसे युक्त तल्लीन चित्तद्वारा अन्त समयमें ध्यान-रूप चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर आकाशस्थ सूर्य-मण्डल में जो परम दिव्य पुरुष है, उसको प्राप्त होता है। भगवत्-

सम्बन्धी सजातीय वृत्तियोंकी आवृत्ति एवं विजातीय वृत्तियोंकी निवृत्तिका नाम अभ्यासयोग अथवा ध्यानयोग है।

किन लक्षणोंसे युक्त परम पुरुषको प्राप्त होता है?—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

[जो पुरुष] सर्वज्ञ पुरातन सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म सबके धारण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन-प्रकाश तथा अविद्यासे अति परे—ऐसे स्वरूपका ध्यान करता है (वह उसका स्मरण करता हुआ उसी रूपको प्राप्त हो जाता है)।

किस रीतिसे ध्यान करता है?—

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

अन्तकालमें अचल मनसे भक्ति करके युक्त तथा योगबलसे भृकुटिके मध्यमें प्राणोंको भली-भाँति प्रवेश करके (उपर्युक्त स्वरूपका चिन्तन करता हुआ) वह योगी उस दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

भावार्थ—यद्यपि ज्ञानमें अन्त समय ज्ञेयाकार वृत्ति रहना आवश्यक नहीं है और न यह विधि ही है कि यदि अन्त समय ब्रह्माकार वृत्ति न रहे तो ज्ञानीकी सद्योमुक्तिमें बाधा होगी। क्योंकि ज्ञानी तो ज्ञान-समकालीन ही मुक्त है। तथा सर्वभेद-विनिर्मुक्त ब्रह्मसाक्षात्कार हो जानेसे उसके निश्चयमें तो आत्म-अनात्म और जीव-ब्रह्मका कोई भेद ही नहीं रहता इसलिये 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः' अर्थात् जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है, वहाँ-वहाँ ही उसकी समाधि है—इस रूपसे उसकी

स्वाभाविक ही समाधि है। जिस प्रकार सुवर्णके ज्ञाताकी कटक-कुण्डलादिमें स्वाभाविक ही सुवर्ण-दृष्टि रहती है और उसको परस्पर कटक-कुण्डलादिमें कोई भेद नहीं भासता।

परन्तु ध्यानके सम्बन्धमें ऐसा नहीं है, किन्तु ध्यान-योगीकी अन्त समयमें ध्येयाकार वृत्ति रहना अत्यन्तावश्यक है। मान लिया जाय कि ध्यान-योगी जीवन-कालमें ध्येयस्वरूपका अभ्यास करता रहा, परन्तु किसी निमित्तसे यदि अन्त समय उसकी वृत्ति ध्येयाकार न रहे तो उसके ध्येयस्वरूपकी प्राप्तिमें सन्देह रहता है। किन्तु जैसा श्लोक ६ः में कथन किया गया है, अन्त समय जिस-जिस भावका उसको चिन्तन रहेगा उसी स्वरूप की प्राप्ति होगी, जैसा जड़भरतके * दृष्टान्तसे भी स्पष्ट है। क्योंकि ध्यान-योगीका मूलाज्ञान अभी ज्ञानद्वारा दग्ध नहीं हुआ है, इसलिये वह अभी प्रकृतिके बन्धनमें है। और प्रकृतिमें यह नियम किया गया है कि 'अन्त मति सो गति' अर्थात् जैसी मति वैसी गति। यही ज्ञान व ध्यानका बड़ा अन्तर है। इसीलिये भगवान्‌ने यहाँ ध्यान-योगीके लिये प्रयाणकालमें अचल मनसे ध्येयाकार वृत्तिकी विधि कथन की और भक्ति तथा योग उभय बलका प्रयोग बतलाया। योग (प्राण-निरोधरूप योगसे यहाँ तात्पर्य है) का फल प्राण-निरोध है, प्राण-निरोधसे मनका निरोध होता है। तथा भक्तिका फल प्रेमद्वारा ध्येयरूपमें मनकी संलग्नता है।

* जड़भरत एक महान् विरक्तात्मा था, जो कि पूर्व जन्ममें निर्जन वनमें कुटि बनाकर भगवान्‌की आराधना करता था। उस जन्ममें उसको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई थी। उसी कालमें एक मृगके बच्चेमें उसका अत्यन्त स्नेह हो गया। शरीर छोड़ते समय उसको उसी बच्चेका ध्यान रहा, जिसके प्रभाव से उसको मृग-योनिकी प्राप्ति हुई, फिर भावी जन्ममें ज्ञान सम्पादन करके वह मुक्त हुआ।

इसलिये योगद्वारा अन्य ओरसे मनका तोड़ना तथा भक्तिद्वारा ध्येयरूपमें जोड़ना फल होनेसे दोनोंकी सफलता है। इस प्रकार प्रथम हृदय-कमलमें चित्तको स्थिर करके, फिर ऊपरकी ओर जानेवाली नाड़ीद्वारा भ्रुकुटिके मध्यमें प्राणोंको स्थापन करके भली प्रकार सावधान हुआ वह योगी 'कविं पुराण'—इत्यादि रूपका चिन्तन करता हुआ उस दिव्य परम पुरुषको ही प्राप्त होता है।

साधनसहित इसी विषयका पुन तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेदवेत्ता जिस पदको 'अक्षर' नामसे कथन करते हैं (जैसा श्लोक ३ में अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रह्मका कथन किया गया है) वीतराग यत्नशील यतिजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे ब्रह्मचर्य धारण किया जाता है, वह पद मैं तेरे प्रति संक्षेपमें कहूँगा।

भावार्थ—इस श्लोकमें उस पदकी प्राप्तिके अधिकारका वर्णन किया गया है। अत भगवान् कहते हैं कि जो यत्नशील यति हैं जिनके राग-द्वेषादि कषाय निवृत्त हो गये हैं तथा ब्रह्मचर्यपालन-द्वारा जिन्होंने मन-इन्द्रियोंको जीता है वे ही स्थिरचित्त उस पद के अधिकारी हैं जिसको वेदवेत्ता 'अक्षर' नामसे कथन करते हैं।

अब उस स्थिरचित्तके प्राण-प्रयाण-कालमें ब्रह्मचिन्तनका क्रम बतलाते हैं—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

सब द्वारोंको रोककर, मनको हृदयमें निरुद्ध करके तथा अपने प्राणोंको मस्तकमें स्थापन करके योगधारणामें स्थित हुआ जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और इसके अर्थरूप मुझ ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—बाह्य विषयोंसे मनका सम्बन्ध इन्द्रिय-द्वारोंसे ही होता है जो कि विक्षेपका हेतु है, इसलिये इन्द्रिय-द्वारोंका संयम कथन किया गया। तथा आन्तर संकल्प-विकल्पसे छूटनेके लिये मनको हृदयमें निरोध करनेकी आज्ञा दी गई। और मनका सम्बन्ध प्राणोंसे है, प्राणरूपी घोड़ेपर आरूढ होकर ही मन चलता है, इसलिये प्राणोंको मस्तकमें स्थापन करना ज़रूरी समझा गया, जिससे मनको भली भाँति बन्द लग सके। इस प्रकार योग-धारणामें अर्थात् प्राण-निरोधरूप धारणामें स्थित हुआ, वहाँ प्राणोंको स्थिर रखते हुए और 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करते हुए निरन्तर उसके अर्थरूप मुझ ब्रह्मका चिन्तन करे। ॐकारकी ब्रह्मरूपसे उपासनाका प्रकार माण्डूक्योपनिषद्में तथा भाषाग्रन्थ विचारसागरके पञ्चम तरङ्गके अन्तमें विस्तारसे वर्णन किया गया है, जिनको जिज्ञासा हो वहाँ देख लें। यह उपासना लयचिन्तनरूप ध्यान-योग है और उन पुरुषोंके लिये है जिनका बुद्धि-मान्द्य अथवा किसी सूक्ष्म कामनारूप प्रतिबन्धक के कारण ज्ञानमें प्रवेश न हो सके, परन्तु साथ ही जो श्रद्धासंयुक्त एवं संयतेन्द्रिय जिज्ञासु हैं और गुरु-शास्त्रके उपदेशसे सूक्ष्म कामनाको दवाकर जो संसारसे विरक्त हुए हैं। ऐसा ध्यानयोगी अन्त समय ॐकारका ब्रह्मरूपसे चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर उत्तरायण मार्गसे उत्क्रान्ति करके, जैसा इसी अध्यायके श्लोक २४ में वर्णन होगा, ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। वहाँ वह

सत्यकाम व सत्यसंकल्प होता है और ब्रह्माके साथ सायुज्य मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस लोकमें तमोगुण व रजोगुणके अभावसे तथा सत्त्वगुणकी प्रौढतासे गुरु-शास्त्रके बिना ही उसको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। और वह प्रलयपर्यन्त वहाँके दिव्य भोगोंको भोगकर प्रलय-कालमें ज्ञानद्वारा ब्रह्माके साथ विदेहमुक्त हो जाता है, संसारमें नहीं आता। इसीका नाम क्रम मुक्ति है।

इस प्रकार श्लोक ८ से यहाँतक क्रम-मुक्तिका निरूपण किया गया, अब पुन ज्ञान-योगकी महिमा करते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

[परन्तु] हे पार्थ! जो पुरुष सदा ही अनन्य चित्तसे (मुझमें स्थित हुआ) निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस मुझमें निरन्तर युक्त हुए योगीके लिये तो मैं सुलभ ही हूँ।

भावार्थ—जिसकी चित्तवृत्तिमें मुझ सर्वात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं और जिसकी दृष्टिमें दृश्यमान प्रपञ्च आकाशवत् शून्य हो गया है, ऐसा अनन्यचेता तो अपनी सब वृत्तियोंमें निरन्तर मुझे ही भजता है। आपनेमें नित्य ही अभेदरूपसे तदाकार हुए उस ज्ञानयोगीके लिये तो मैं सदा ही सुलभ हूँ। अर्थात् शरीर त्यागकर उसको कहीं आना-जाना नहीं होता, वह तो जीते-जी सदा ही मुक्त है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति तत्रैव समविलीयन्ते' (श्रुति), अर्थात् उस तत्त्ववेत्ताके प्राण नहीं उठते, किन्तु मरणकालमें वहीं लीन हो जाते हैं।

आपके सुलभ होनेसे क्या प्राप्त होगा?

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मोक्षरूप परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मेरेको प्राप्त होकर, जो दुःखोंका घर है और साथ ही क्षणभङ्गुर है ऐसे पुनर्जन्मको नहीं पाते।

परन्तु मेरी प्राप्ति विना—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावृत्तिवाले हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।

भावार्थ—ज्ञानद्वारा केवल एक मेरी प्राप्तिसे ही पुनर्जन्म एवं पुनरावृत्तिसे छुटकारा सम्भव है, इसके सिवा अन्य कोई उपाय न हुआ है न होगा। मेरी प्राप्ति विना चाहे ब्रह्मलोकको भी क्यों न प्राप्त कर लिया जाय, परन्तु अन्ततः वहाँसे भी पुनरावृत्ति होगी और पुनर्जन्म होगा। जैसा श्लोक १३ के भावार्थमें कथन किया गया है, केवल उन ध्यानयोगियोंकी ही ब्रह्मलोकसे पुनरावृत्ति नहीं होती जिन्होंने अपने जीवनमें निर्गुण अहंग्रह-ध्यानका दृढ अभ्यास करके और अन्त समय इसी ध्यानपरायण रहकर शरीर त्याग किया है तथा लयचिन्तनद्वारा ज्ञानके संस्कार संपादन किये हैं। इससे भिन्न जिन पुरुषोंने उत्कृष्ट यज्ञ, दान व तपादिके प्रभावसे ब्रह्मलोकमें सालोक्यमुक्तिको ही प्राप्त किया है, उनके लिये अवश्य ब्रह्मलोकसे भी पुनरावृत्ति होगी और पुनर्जन्म होगा। क्योंकि कर्म करके जो कुछ बनाया जाता है उसका क्षय अवश्य होता है, इसलिये कर्मरचित पुण्योंके क्षयसे ब्रह्मलोकसे भी पुनरावृत्ति निश्चित ही है, 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। ऐसे पुरुषोंमें न ज्ञानके संस्कार ही होते हैं, न विवेक-वैराग्यादि साधन-संपन्नतारूप ज्ञानका अधिकार ही होता है और न वहाँ गुरु-शास्त्रादि ज्ञानकी सामग्री ही प्राप्त होती है। इसलिये संस्कार,

अधिकार तथा सामग्री बिना ज्ञान कहाँ और ज्ञान बिना निस्तारा कहाँ? ऐसी अवस्थामें ब्रह्मलोक भी अन्तत काल करके अवधि-वाला ही है फिर पुनरावृत्तिसे छुटकारा कैसे मिले ?

ब्रह्मलोक काल करके अवधिवाला किस प्रकार है ?

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

ब्रह्माका जो दिन है वह एक हजार चौकड़ी युगकी अवधि-वाला और उसकी रात्रि भी हजार चौकड़ी युगकी अवधिवाली है—ऐसा जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, वे ही दिन-रात्रिको (अर्थात् कालके तत्त्वको) जाननेवाले हैं।

भावार्थ—मनुष्यके एक दिनप्रमाण कालमें ऐसे कितने ही छोटे-छोटे कृमि होते हैं, जो अपना जीवनकाल अनुभव कर चुकते हैं। देवताओंके एक दिन-रातप्रमाण कालमें मनुष्य एक वर्षका अनुभव करते हैं। ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु और चौदह इन्द्र क्रम-क्रमसे अपना जीवनकाल अनुभव कर लेते हैं। विष्णुकी एक घड़ीमें सहस्र ब्रह्मा अपना जीवनकाल अनुभव करके चले जाते हैं। तथा महेश्वरके एक पलमें सहस्र विष्णु अपना जीवन व्यतीत कर लेते हैं। और शक्तिके अर्धपलमें सहस्र महेश्वर अपना जीवन क्रम-क्रमसे समाप्त कर चुकते हैं। यथा—

चतुर्युगसहस्राणि दिनमेकं पैतामहम् ।
पितामहसहस्राणि विष्णोर्घटिकमेव च ॥
विष्णोरेकसहस्राणि पलमेकं माहेश्वरम् ।
महेश्वरसहस्राणि शक्तेरर्धपलं भवेत् ॥

अर्थ ऊपर आ चुका है। आशय यह है कि जब यह चेतनदेव अपनी चेतनताको विस्मरण कर जड़ता करके किसी भी व्यक्ति-

रूपमें प्रकट होता है, तभी कालकी मर्यादारूप बन्धनमें बन्धायमान हो जाता है। और जब कि कालके साथ बन्धायमान हुआ, तब काल चाहे कितना भी दीर्घ क्यों न हो, अवधिवाला होनेसे अपने सम्बन्ध करके सबको नष्ट करता ही है। फिर कालके साथ मिलकर नष्ट वस्तुका रूपान्तरमें प्रकट होना भी अनिवार्य ही है। इस प्रकार कालके साथ बँधकर यह चेतनदेव घटीयन्त्रके समान आवागमनके चक्रमें पड़ जाता है, जबतक यह अपने वास्तव परम अव्यक्तभावको प्राप्त न हो। द्वितीय यह कि अपनी-अपनी योनिमें जन्मके साथ ही कालकी नियती नियत हुई है। यदि काल अपने स्वरूपसे हुआ होता तो जैसा ऊपर कहा गया है, शक्तिके कालसे लेकर कीटादिके कालमें क्रम-क्रमसे इतना आश्चर्यजनक अन्तर, सुमेरुकी तुलनामें राईके समान न हुआ होता। परन्तु वास्तवमें काल अमर्यादित है, केवल जब कि जीव अपने कर्मानुसार किसी योनिमें जन्म लेता है, तब उस योनिके अनुसार ही कालकी मर्यादा रची जाती है, अपने स्वरूपसे काल मर्यादित नहीं। इस प्रकार जबतक जीव व्यक्तभावसे छूटकर परम अव्यक्तभावको प्राप्त न हो, कालके बन्धनसे कदापि नहीं छूट सकता। क्योंकि व्यक्त-भावके साथ ही काल निकल पड़ता है और जीवको अपने बन्धन में डाल देता है। यदि काल अपने स्वरूपसे मर्यादित होता तो ब्रह्माका एक दिन सब देव, मनुष्य तथा कीटादिके लिये एक दिन ही भान होना चाहिये था, न यह कि ब्रह्माका एक दिन मनुष्यके लिये तो ४३२0000000 * वर्ष भान हो और देवताओंके लिये १२000000 वर्ष। अतः स्पष्ट हुआ कि ज्ञान बिना व्यक्तभावमें रहते

* चार युगोंका प्रमाण इस प्रकार है—सतयुग १७२८०००, त्रेता १२९६०००, द्वापर ८६४००० तथा कलियुग ४३२००० वर्ष, कुल जोड़ एक चौकड़ी युगका ४३२००००। तथा एक चौकड़ी युगमें देवताओंके

हुए चाहे ब्रह्मलोकको भी क्यों न प्राप्त कर लिया जाय, पुनरावृत्ति अवश्य है, क्योंकि ब्रह्मलोक भी कालकी मर्यादामें ही है। ऐसा जो तत्त्वसे जानते हैं वे ही कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं।

मेरी प्राप्ति विना ब्रह्माके दिन व रात्रीमें क्या होता है ?—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

ब्रह्माके दिन आनेपर सब व्यक्तियाँ अव्यक्तसे उत्पन्न होती हैं तथा रात्रि आनेपर उसी अव्यक्त संज्ञामें लीन हो जाती हैं।

भावार्थ—ब्रह्माकी निद्रित अवस्था, अथवा प्रकृतिके तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम अव्यक्त है, क्योंकि प्रकृतिके तीनों गुणोंकी विषमतासे ही संसारकी उत्पत्ति और गुणोंकी समतासे संसारका लय होता है। भगवत्प्राप्ति विना ब्रह्माके प्रबोध कालमें अखिल चराचर भूतजात इसी अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और स्वप्नावस्थामें इसी अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं। किसी प्रकार जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं पाते।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ ! इसी प्रकार वही यह भूतसमुदाय वरवश ब्रह्माकी रात्रि आनेपर हो होकर लीन हो जाता है और दिन आनेपर उत्पन्न हो आता है।

अर्थात् किसी भी कालमें और किसी भी प्रकार भगवत्प्राप्ति विना पुनरावृत्तिसे छुटकारा नहीं होता।

१२००० वर्ष होते हैं। ऐसी एक हज़ार चौकड़ी युगमें ब्रह्माका एक दिन पूरा होता है, जोकि मनुष्योंके ४३२०००००० वर्ष और देवताओंके १२०००००० वर्षके बराबर होता है।

जिसकी प्राप्तिसे पुनरावृत्तिसे छूट जाता है उसका स्वरूप पुनः कथन करते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परन्तु उस अव्यक्तसे भी परे अन्य सनातन अव्यक्त भाव है, जो वह सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ।

भावार्थ—जिस अव्यक्तका स्वरूप पिछले दो श्लोकोंमें वर्णन हुआ है वह परम अव्यक्त नहीं, क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कार होनेपर उसका भी त्रिकालाभाव सिद्ध हो जाता है, जैसे रज्जुका बोध होनेपर सर्पका त्रिकालाभाव हो जाता है। परन्तु उस अव्यक्तसे परे अर्थात् उससे विलक्षण अन्य सनातन अव्यक्त भाव है, जो कि सब भूतोंके नाश हो जानेपर भी नष्ट नहीं होता और जिसके जान लेनेपर वह अव्यक्त भी शून्यरूप सिद्ध हो जाता है, जैसे जलरूपसे तदाकार होनेपर तरङ्गादि निस्सार रह जाते हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

वही 'अव्यक्त' 'अक्षर' ऐसे कहा गया है और उसीको परमगति कहते हैं, वही मेरा परमधाम है जिसको प्राप्त करके पुनरावृत्ति नहीं होती ।

उसकी प्राप्तिका उपाय कथन किया जाता है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ ! वह परमपुरुष अनन्य भक्तिद्वारा ही प्राप्त होनेयोग्य है जिसके अन्तर्गत अखिल भूत स्थित हैं और जिस करके यह सब जगत् परिपूर्ण है ।

भावार्थ—वह परमपुरुष परमात्मा, जो जड़-चेतनात्मक सब उपाधिरूप पुरोंमें पूर रहा है, केवल अनन्य भक्तिद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान लक्षणा भक्तिका नाम ही यहाँ अनन्य-भक्ति है, अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब परमात्मस्वरूप ही है) इस ज्ञानके अपरोक्षद्वारा ही वह पानेयोग्य है। आशय यह कि जो सबका कारण है उस परम कारणमें अपने परिच्छिन्न अहंकारका लीन हो जाना ही अनन्य भक्ति है और इसकी सिद्धि उपर्युक्त ज्ञान करके ही हो सकती है। जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि सब भूषण सुवर्णमें ही स्थित हैं और सुवर्ण ही सब में परिपूर्ण है, इसी प्रकार सब भूत परमात्मामें ही स्थित हैं और सबमें परमात्मा ही परिपूर्ण है।

इस प्रकार श्लोक १४ से यहाँतक केवल तत्त्वज्ञानद्वारा ही पुनरावृत्तिका असम्भव दर्शाया गया, ज्ञान विना सब लोक पुन-रावृत्तिवाले ही सिद्ध किये गये तथा पुनर्जन्मका प्रवाह अखण्ड बतलाया गया। अब जो ॐकारकी ब्रह्मरूपसे उपासनाद्वारा क्रम-मुक्तिके पात्र हैं, ब्रह्मप्राप्तिके लिये उन ध्यानयोगियोंका आगेका मार्ग कहा जाता है—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतश्रेष्ठ! जिस कालमें शरीर त्यागकर गये हुए योगि-जन अपुनरावृत्तिको और जिस कालमें गये हुए पुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं, वह काल मैं कहता हूँ।

भावार्थ—कालका अर्थ यहाँ 'समय' नहीं है, किन्तु 'मार्ग' है। अर्थात् जिन-जिन कालाभिमानी देवताओंके अधिकारमें जिस-जिस मार्गसे जाकर अपुनरावृत्ति एवं पुनरावृत्ति होती है, उन मार्गोंका कथन किया जाता है। स्मरण रहे कि अपुनरावृत्ति

व पुनरावृत्ति कालके सम्बन्धसे नहीं, किन्तु अपने साधनके अधीन ही होती है। अर्थात् उत्तरायण कालमें जो शरीर त्याग करेंगे वे सभी अपुनरावृत्तिको प्राप्त होंगे और दक्षिणायन कालमें शरीर त्यागनेवाले सभी पुनरावृत्तिको प्राप्त होंगे, ऐसा आशय नहीं है। किन्तु आशय यह है कि ब्रह्मलोकके अधिकारी ज्योतिर्मय उत्तरायण मार्गद्वारा गये हुए ब्रह्मलोकको प्राप्त होंगे तथा स्वर्गादि लोकके अधिकारी धूमयान दक्षिणायन मार्गद्वारा गये हुए स्वर्गादि लोक पायेंगे, चाहे उनका शरीर किसी भी कालमें छूटे, अपने अधिकारानुसार वे उसी मार्गसे सम्बन्ध पा जायेंगे।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

[जिस मार्गमें] ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी तथा दिन, शुक्ल-पक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंके अभिमानी देवता हैं, मरकर उस मार्गसे गये हुए ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जैसा पीछे श्लोक ८ से श्लोक १३ तक कथन किया गया है, जो ध्यान योगी क्रम-मुक्तिके पात्र हैं, वे तो शरीर त्यागकर इन कालाभिमानी देवताओंके अधिकारमें गये हुए ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। और फिर ब्रह्मज्ञानद्वारा ब्रह्मको ही प्राप्त हो जाते हैं, जैसा श्लोक १३ की व्याख्यामें कथन किया गया है; वे पुनरावृत्तिको प्राप्त नहीं होते।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

[तथा जिस मार्गमें] धूमाभिमानी, रात्र्याभिमानी, कृष्ण-पक्षाभिमानी तथा दक्षिणायनके छः महीनोंके अभिमानी देवता हैं (उनके अधिकारमें मरकर गया हुआ निष्काम-कर्मी) योगी

चन्द्रमाकी ज्योतिमें (स्वर्गलोकको) प्राप्त होकर (तथा फल भोगकर) पीछे आता है।

भावार्थ—सकाम-कर्मी योगी नहीं हो सकता, किन्तु निष्काम-कर्मी ही योगी हो सकता है। ऐसे निष्काम-कर्मयोगीको ब्रह्मलोककी प्राप्ति असम्भव है, क्योंकि न उसने अहंग्रह ब्रह्मोपासना की है और न लय-चिन्तन ही किया है। इसलिये वह गीता अ० ६ श्लो० ४१ के अनुसार पुण्य भोगकर और योगभ्रष्ट होकर जन्म लेता है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

[इस प्रकार] ये शुक्ल व कृष्ण (अर्थात् देवयान पितृयान, अथवा उत्तरायण-दक्षिणायन) गति संसारमें सनातनसे मानी गई हैं, जिनमें एकके द्वारा अपुनरावृत्ति और दूसरीके द्वारा पुनरावृत्तिकी प्राप्ति होती है।

अब पुन ज्ञानयोगकी महिमा कथन करके अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

[परन्तु] हे पार्थ ! इन दोनों मार्गोंको जानता हुआ कोई भी योगी (इन मार्गोंमें) मोहित नहीं होता, इसलिये हे अर्जुन ! तू सर्वकालमें योगयुक्त हो।

भावार्थ—इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता हुआ कि 'ये दोनों मार्ग मायाराज्यमें ही हैं, मेरे आत्मस्वरूपमें कोई मार्ग नहीं' कोई भी तत्त्व-योगी इन मार्गोंमें मोहित नहीं होता, अर्थात् इन मार्गोंमें आसक्त नहीं होता। किन्तु वह तो मदमाते केसरी-सिंहके समान ज्ञान-बलसे प्रकृतिके पिञ्जरेको यहीं काटकर जीते-

जी ही मुक्त हो जाता है। इसलिये अर्जुन! तू सर्वदा तत्त्व-योगमें युक्त हो, अर्थात् तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा अपने आत्मस्वरूपमें अभेदरूपसे स्थित हो।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

[क्योंकि] वेदाध्ययनमें तथा यज्ञ, दान व तपादिके करनेमें जो पुण्यफल कथन किया गया है, तत्त्व-योगी (अपने आत्मस्वरूप को) जानकर इन सब पुण्यफलोंको पार कर जाता है और परम आदि स्थानको (अर्थात् ब्रह्मको) प्राप्त हो जाता है।

आशय यह कि अपने स्वरूपको जानकर वह उस उच्च पदमें स्थित हो जाता है, *जहाँ इन पुण्य कर्मों व फलोंका न कर्ता रहता है, न भोक्ता और जहाँसे ये सब पुण्य कर्म व फल निकलते हैं।*

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

अष्टम अध्यायका स्पष्टीकरण

सप्तम अध्यायके अन्तमें भगवान्‌के इन वचनोंको श्रवणकर कि '**अखिल कर्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत तथा अधियज्ञको** जो अन्तकालमें भी मुझ ब्रह्मरूप जान लेते हैं, अर्थात् ये सब ब्रह्मरूप ही हैं और 'सो ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा जो अपरोक्षरूप अपने आत्माको जान लेते हैं उनको तू मुझमें पूर्वोक्त रीतिसे योगयुक्त ही जान'—अर्जुनने इस अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न किये कि जिनको आप ब्रह्मरूप जाननेके लिये कहते हैं

उन अध्यात्म आदिका स्वरूप क्या है?(श्लो १, २)। इसपर भगवान्‌ने ब्रह्म, कर्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञका स्वरूप श्लो. ३ व ४ में कथन किया, अर्थात् छः प्रश्नोंका उत्तर दिया । इस सप्तम प्रश्नके उत्तरमें कि 'अन्त समय स्थिरचित्त पुरुषोंद्वारा आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं'— भगवान्‌ने कहा कि अन्तकालमें जो मेरे सच्चिदानन्दस्वरूपका चिन्तन करते हुए शरीर त्याग करते हैं वे तो मेरे इसी भावको प्राप्त हो ही जाते हैं, इसमें तो सन्देह हो नहीं है। अथवा जो-जो पुरुष मेरे जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर त्यागते हैं वे मेरे उसी भावको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अन्तकालमें शरीर त्यागनेवाले स्थिरचित्त योगियोंको भगवान्‌ने दो अधिकारियोंमें विभक्त किया, प्रथम ज्ञानयोगी, दूसरे ध्यानयोगी। इनमें ज्ञानयोगीको महत्त्व देते हुए भगवान्‌ने कहा कि तू सर्वकाल मुझ सर्वसाक्षी सर्वात्मस्वरूपका ही चिन्तन कर, यहाँतक कि युद्ध जैसी भयंकर प्रवृत्तिमें भी तेरेमें कर्तृभाव जाग्रत् न हो, इस प्रकार मेरेमें मन-बुद्धि समर्पण करके तू निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त हो जायगा। इस रीतिसे मुख्यतया इस ज्ञान-योगमें ही स्थिर होनेके लिये अर्जुनको उपदेश किया (५-७) । परन्तु बुद्धि-मान्द्य आदि दोष करके जिनका इस ज्ञानयोगमें प्रवेश न हो सके, उनके लिये भगवान्‌ने ध्यान-योगका निरूपण किया, जिसके द्वारा हिरण्यमय परमदिव्य पुरुषकी प्राप्ति होती है। फिर ध्येयरूप उस निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप कथन किया तथा अन्त समय जिस प्रकार ध्यान करते हुए शरीर त्यागना चाहिये यह विधि भी कथन की। और संक्षेपसे ॐकारकी ब्रह्मरूपसे उपासनाका प्रकार भी बतलाया जिसके द्वारा योगी ब्रह्मलोकको प्राप्त करके क्रम-मुक्ति का पात्र होता है (८-१३)।

तत्पश्चात् उस अनन्यचेता ज्ञानयोगीके लिये तो भगवान्‌ने अपनी प्राप्ति बहुत ही सुलभ बतलाई, जिसकी चित्तवृत्तिमें निर्गुणस्वरूप भगवान्‌के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं और जिसके हृदयसे सब भेद कर्पूरकी भाँति उड़ गये हैं। इस प्रकार उस नित्य ही युक्तयोगीके लिये तो आँख, नाक,

कान आदिके बन्द करनेकी कोई विधि नहीं रहती। यह सब बन्धन तो उस समयतक ही रहता है, जबतक अपने आत्मस्वरूपसे भिन्न अन्य वस्तु प्रतीत होती है, परन्तु जब सर्वात्मैक्य-दृष्टि नक़द प्राप्त हो गई, तब बन्द करना क्या और खोलना क्या? जब सब अपने आत्मस्वरूपके ही चमत्कार दीख पड़े, तब मन भड़केने जाना ही कहाँ है और इसका रोकना ही क्या है? इस प्रकार इस सद्योमुक्तिद्वारा ही क्षणभङ्गुर दुःख-भण्डाररूप पुनर्जन्मसे छुटकारा बतलाया गया और ज्ञान तथा उपर्युक्त ध्यानके बिना ब्रह्मलोक-पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्तिवाले बतलाये गये, क्योंकि ये सभी लोक काल करके अवधिवाले हैं (१४-१७)। फिर बतलाया कि मेरी प्राप्तिके बिना ब्रह्माका दिन आनेपर सब भूत अव्यक्तरूप मायासे उत्पन्न हो आते हैं और ब्रह्माकी रात्रिमें उसी अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार यह भूतसमुदाय हो-होकर नष्ट होता रहता है, किसी प्रकार कालसे छुटकारा नहीं पाता (१८-१९)। ऐसे कालके बन्धनसे छूटनेके लिये एक अपना परमअव्यक्त भाव ही बतलाया गया, जो कि इस मायारूप अव्यक्तसे परे है और सब भूतोंके नाश होनेपर भी जिसका नाश नहीं होता। इसीको 'अव्यक्त' 'अक्षर' 'परमगति' तथा 'परमधाम' नामसे कथन किया गया और केवल इसीकी प्राप्तिसे पुनरावृत्तिसे मुक्ति कही गई तथा ज्ञानलक्षणा अनन्य भक्तिसे ही उसकी प्राप्तिको सम्भव बतलाया गया (२०-२२)।

तत्पश्चात् इस परमअव्यक्त भावको प्राप्त होनेसे पहले, परन्तु इस मार्गमें प्रवृत्त हुए जो योगी शरीर त्यागकर जिस प्रकार अपुनरावृत्ति व पुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं, उन भिन्न-भिन्न देवयान व पितृयान अर्थात् उत्तरायण व दक्षिणायन दो मार्गोंका निरूपण किया गया। इनमें जो ध्यानयोगी उपर्युक्त निर्गुण अहंग्रह-उपासनाद्वारा देह त्यागकर जाते हैं, उनके लिये तो उत्तरायण मार्गद्वारा ब्रह्मलोककी प्राप्ति कही गई और फिर उस लोकमें ज्ञानद्वारा अपुनरावृत्ति बतलाई गई। परन्तु जो निष्काम कर्मयोगी अपने कर्मोंद्वारा कर्तव्यपरायण होकर भगवान्‌को पूजते हुए शरीर त्यागते हैं, उनके लिये

दक्षिणायन मार्गद्वारा स्वर्गलोककी प्राप्ति कथन की गई और योग भ्रष्टरूपसे पुनरावृत्ति कही गई। परन्तु जो यज्ञ यागादिद्वारा स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं, वे सकामी तो फल भोगकर ज्यों-के-त्यों वापसी ही पुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं, योगभ्रष्ट होकर भी नहीं जन्मते (२३-२६)।

अन्तमें तत्त्वयोगीकी महिमा कथन करते हुए इस अध्यायकी समाप्ति की और कहा कि पार्थ ! जिसने मेरे सर्वसाक्षीस्वरूपमें अभेदरूपसे स्थिति पाई है वह योगी तो कहीं भी नहीं जाता किन्तु मदमाते केसरी सिंहके समान वह तो प्रकृतिके बन्धनको यहीं तोड़कर नक़द मोक्ष प्राप्त कर लेता है और जीता हुआ ही मुक्त है, क्योंकि ये दोनों मार्ग और कहीं आना-जाना तो प्रकृतिके राज्यमें ही हैं। जो कोई प्रकृतिके साथ बँधा हुआ है और प्रकृतिके साथ मिलकर शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता है, उसीको फल-भोगके लिये आना-जाना पड़ता है, क्योंकि जो कोई सेवा करता है वह बदला पाता है, प्रकृतिमें यह नियम हो चुका है। परन्तु यह योगी तो कुछ नहीं करता, कर्ता भान होता है परन्तु सच्चा अकर्ता है और प्रकृतिके साथ मिलकर मोहित नहीं होता। बल्कि राजाधिराजकी भाँति यह तो प्रकृतिराज्यका स्वामी बन बैठा है, प्रकृतिराज्य इसीकी कृपा-कटाक्षसे चल रहा है, पर यह निर्लेप है। इसलिये अर्जुन ! तू योगयुक्त हो। वेदाध्ययन, यज्ञ, तप एवं दानमें जो पुण्य-फल कहा गया है, यह योगी तो सर्व कर्तावुद्धिसे छूटकर सर्वोत्तम हुआ सर्वके आदि स्थानको प्राप्त कर जाता है और इन सर्व फलोंको पार कर जाता है।

इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए, 'अन्तकालमें मैं कैसे पाया जाता हूँ' यह भगवान्‌ने स्पष्ट किया और प्रसङ्गसे देवयान व पितृयान मार्गोंका कथन करके उनका फल वर्णन किया। फिर अन्तमें अपने स्वरूपमें स्थिति पाये हुए योगियोंकी सर्वोत्कृष्टता निरूपण करके तत्त्व योगकी महिमा कथन करते हुए अध्यायकी समाप्ति की। अब फिर उसी ज्ञान-विज्ञानका निरूपण करते हैं जिसका आरम्भ सप्तम अध्यायमें किया गया था और जिसके द्वारा तात्त्विक योग सिद्ध होता है—

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—(हे अर्जुन !) यह परम गोपनीय ज्ञान विज्ञानके सहित मैं तुझ दोष-दृष्टिरहित भक्तके प्रति कथन करता हूँ, जिसको जानकर तू संसार-बन्धनसे मुक्त हो जायगा ।

भावार्थ—जो ज्ञान पूर्व अध्यायोंमें वर्णन किया जा चुका है तथा अष्टम अध्यायके अन्तमें वेद, यज्ञ व तपादिसे जिसकी सर्वोत्कृष्टता निरूपण कर आये हैं, उसी ज्ञानके कथन करनेकी भावनासे 'इदम्' (इस) शब्दका प्रयोग किया गया। तथा दोष-दृष्टिरहित जिज्ञासु इस ज्ञानका अधिकारी वर्णन किया गया और दुःखरूप संसार-बन्धनसे मुक्ति इसका फल बतलाया गया। इस प्रकार इस ज्ञानके अधिकारीका कथन करके भगवान् असूयारहित अर्जुनके प्रति अनुभव-ज्ञानके सहित उस ज्ञानके कथन करने की प्रतिज्ञा करते हैं कि संसार-बन्धनसे मुक्ति जिसका फल है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह ज्ञान सब विद्याओं और सब गुह्योंका राजा है, पवित्र एवं उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभवरूप धर्ममय है, साधनमें सुगम और (फलमें) अविनाशी है ।

भावार्थ—जिसको जानकर और कुछ जानना नहीं रहता, अर्थात् जिसको जानकर सब अज्ञात भी ज्ञात हो जाते हैं, ऐसा अतिशय प्रकाशयुक्त होनेसे इस ब्रह्मज्ञानको 'राजविद्या' कहा

गया। राजगुह्यका भाव यह है कि यह ज्ञान इन्द्रियादिद्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, किन्तु गूँगेके गुड़की भाँति स्वानुभवगम्य ही है, अर्थात् स्वसंवेद्य है, परसंवेद्य नहीं तथा जिसको जान लेनेपर कोई वस्तु उससे भिन्न गुह्य नहीं रहती, इसलिये इसे 'राजगुह्य' कहा गया। साथ ही यह ज्ञान महान् पवित्र एवं उत्तम है, अर्थात् जिसके जान लेनेपर जन्म जन्मान्तरके पाप-कर्म तथा जातीय दोष, प्रकाशसे अन्धकारकी निवृत्तिके समान तत्काल नष्ट होकर जीव शिवरूप ही हो जाता है। इसका फल नकद है यज्ञ-यागादिकी तरह उधार नहीं, ऐसा यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभवरूप है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जागा हुआ मनुष्य स्वप्नकी व्यथाओंसे साक्षात् मुक्त हो जाता है, इसी प्रकार इस ज्ञानद्वारा संसार-दुःखसे तात्कालिक मुक्ति होती है। इस ज्ञानका किसीसे विरोध न होनेसे तथा अविरोधरूप होनेसे यह धर्ममय है। तथा जिस प्रकार सांसारिक भोग क्लेशसे प्राप्त होते हैं और प्राप्त होकर भी बिजलीके चमत्कारके समान क्षणभङ्गुर सिद्ध हो जाते हैं, ऐसा यह नहीं है, किन्तु यह आचरणमें अति सुगम और फलमें अविनाशी है। अर्थात् किसी तपादिद्वारा इसकी प्राप्ति नहीं होती, केवल विचारसे ही इसकी सिद्धि है और प्रत्यक्ष सिद्ध हो जानेपर इसका कदाचित् नाश नहीं होता, इसलिये यह अविनाशी है। सारांश, किसी भी कार्यमें ये तीन बातें देखकर ही प्रवृत्ति होती है, (१) प्रत्यक्ष फल देनेवाला हो, (२) साधनमें सुगम हो (३) और नित्य स्थायी हो। ये सब बातायें केवल इस ज्ञानमें ही अनायास सिद्ध होती हैं, इससे भिन्न अन्य किसीमें भी नहीं, इसलिये यह ज्ञान श्रद्धा करनेयोग्य है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

[परन्तु] हे परंतप ! इस (तत्त्वज्ञानरूप) धर्ममें जो पुरुष श्रद्धाशून्य हैं, वे मुझे न पाकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें ही भ्रमते रहते हैं।

भावार्थ—इस ज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धा ही मुख्य हेतु है। जो इसमें श्रद्धा रखते हैं वे अवश्य इस इन्द्रिय-अगोचर ज्ञानको अपने पुरुषार्थ-बलसे करामलकवत् प्राप्त कर जायँगे। परन्तु जो श्रद्धा-शून्य हैं वे मुझे कदापि प्राप्त न कर सकेंगे, किन्तु कर्मरूपी पाशसे बँधे हुए अपने-अपने कर्मानुसार जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें ही घटीयन्त्रके समान उनको भ्रमण करना होगा। जो वस्तु मन-इन्द्रिय-अगोचर है उसमें प्रथम श्रद्धा बिना प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, प्रवृत्ति बिना पुरुषार्थ नहीं हो सकता और फिर पुरुषार्थ बिना उसकी प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है? इसीलिये इस ज्ञानके निमित्त साधन-सामग्रीमें प्रथम श्रद्धा ही सबसे मुख्य कथन की गई, श्रद्धाके प्रभावसे अन्य सब सामग्रियाँ स्वतः आकर्षित होती हैं।

इस प्रकार अधिकारी, फल, विषय व साधनका निरूपण करके अब उस ज्ञानको कथन करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मुझ अव्यक्त-मूर्ति करके यह सब (व्यक्तरूप संसार) परिपूर्ण हो रहा है, सब भूतजात मेरेमें स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार सम्पूर्ण मृत्तिका-पात्र मृत्तिकासे और सम्पूर्ण भूषण सुवर्णसे परिपूर्ण हैं, पात्र तथा भूषणका कोई भी अंश अपने उपादानसे खाली नहीं है। इसी प्रकार अखिल जगत्

मुझ सच्चिदानन्दघन अव्यक्तस्वरूपसे भरा पड़ा है। यद्यपि इन सब भूतोंकी प्रतीति मेरे आश्रय हो रही है, परन्तु मैं उनके आश्रय नहीं हूँ। आशय यह कि जैसे भूषणादिकी प्रतीति उपादान-सुवर्णके आश्रय ही होती है, भूषणादिमें अपना कोई भास नहीं होता, वे तो केवल अपने उपादान-सुवर्णके भाससे ही भासमान होते हैं, परन्तु सुवर्ण तो अपने ही भाससे भासमान है, अपने किसी कार्यके आश्रय उसकी प्रतीति नहीं। इसी प्रकार सब भूतजातकी प्रतीति मेरे आश्रय हो रही है, परन्तु मैं उनके आश्रय नहीं हूँ। अर्थात् भूतजातमें अपना कोई भास नहीं है, वे तो केवल मेरे भाससे ही भासमान हो रहे हैं और मुझ सत्तासामान्यके आश्रय उनकी केवल भ्रमरूप ही प्रतीति होती है। जैसे रज्जुके आश्रय सर्पकी भ्रमरूप ही प्रतीति होती है, सर्पका अपना कोई भास नहीं होता, केवल अधिष्ठान-रज्जुके भाससे ही वह भासमान होता है। किन्तु मैं तो भूतोंकी उत्पत्तिसे पूर्व, उनके नष्ट होनेपर तथा उनकी विद्यमानतामें भी ज्यों-का-त्यों ही हूँ, कदाचित् विकारको प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार मैं सबकी सत्ता होता हुआ सब से असंग हूँ।

इसी असंगता के कारण—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

[वास्तवमें] सब भूत मेरेमें स्थित नहीं हैं, इस प्रकार तू मेरे योगरूप ऐश्वर्यको देख कि भूतोंको उत्पन्न करता हुआ तथा भूतोंका भरण-पोषण करता हुआ भी मेरा आत्मा भूतोंमें स्थित नहीं है।

भावार्थ—आशय यह कि विवर्तरूप वस्तु अपने अधिष्ठानके आश्रय प्रतीत होती हुई भी अधिष्ठानको स्पर्श नहीं करती। अधिष्ठान आप ज्यों-का-त्यों रहता हुआ अपने आश्रय विवर्तरूप वस्तुकी प्रतीतिमात्र कराता है, परन्तु विवर्तरूप वस्तुके रूपमें

परिणामी नहीं हो जाता। जैसे रज्जुमें प्रतीयमान सर्पके विषसे रज्जु विषैली नहीं हो जाती तथा मृगतृष्णाके जलसे पृथ्वी गीली नहीं हो जाती, इसी प्रकार मैं सर्वात्मा अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे सब भूतोंको धारण-पोषण करता हुआ और अपने साक्षीरूपसे सब भूतोंमें स्थित हुआ भी भूताकारको प्राप्त नहीं हो जाता। इस मेरे योगरूप ऐश्वर्यको देख कि सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः मैं अकर्ता ही हूँ और सबसे निर्लेप हूँ।

उपर्युक्त दो श्लोकोंके अर्थको दृष्टान्तसे स्वयं स्पष्ट करते हैं—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे महान् तथा सर्वत्र विचरनेवाला वायु नित्य ही आकाशमें स्थित है, इसी प्रकार सब भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा तू जान।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश नित्य ही अचलरूपसे स्थित है, महान् वायु सर्वत्र आकाशमें विचरती हुई भी उसको चलायमान नहीं कर सकती और न उसको स्पर्श ही कर सकती है। इसी प्रकार सब भूत मेरे आश्रय उत्पत्ति, स्थिति व नाशको प्राप्त होते हुए भी मुझको चलायमान नहीं कर सकते और न मेरे में उनके विकारोंका कोई स्पर्श ही होता है। सब भाव व अभावों की सिद्धि होती मेरे आश्रय ही है, परन्तु मैं सब भाव-अभावोंसे असंग हूँ और मैं अपने में किसी भी भाव-अभावको नहीं देखता।

जब कि आप सर्वभूतोंसे अचल व असंग हैं, तो ये सर्वभूत किससे उत्पन्न होते हैं और किसमें लय होते हैं?—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कौन्तेय! सर्वभूत कल्पके अन्तमें मेरी प्रकृतिमें लयको

प्राप्त होते हैं और कल्पके आदिमें मैं उनको फिर प्रकृतिसे उत्पन्न कर देता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

[इस प्रकार] अपनी प्रकृतिको वशमें करके मैं इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको, जोकि प्रकृतिवश पराधीन है, बारम्बार रचना करता हूँ।

भावार्थ—(श्लो० ७ व ८) आशय यह है कि जबतक जीव तत्त्व-ज्ञानद्वारा मुझमें एकत्वरूप योग प्राप्त नहीं कर लेता और मुझसे भिन्न कर्मोंका कर्ता बनकर रहता है, तबतक वह प्रकृति के अधीन फलभोगके लिये बरबश होकर जन्म मरणके प्रवाहमें भ्रमण करता ही रहता है और शरीर त्यागकर भी मुझमें अभेद न पाकर मेरी प्रकृतिमें ही लय होता है। तथा फिर फल-भोग के लिये मेरी प्रकृतिसे इसी प्रकार निकल पड़ता है, जैसे नाना जातिके बीज भूमिमें छुपे हुए अपने समयपर प्रकट हो आते हैं। यहाँतक कि कल्पके अन्तमें भी वह मुझमें लय न होकर प्रकृति में ही लय होता है और कल्पके आदिमें फिर प्रकृतिसे उत्पन्न हो आता है, किसी प्रकार जन्म-मरणके प्रवाहका अन्त नहीं आता। जैसे बीजमें जबतक फल उपजानेकी योग्यता है और वह अग्निमें भूना नहीं गया तबतक बारम्बार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीजका प्रवाह चालु रहता है। इसी प्रकार जीव जबतक ज्ञानाग्निद्वारा कर्मरूपी मलको भस्म करके निर्मल नहीं हो जाता तबतक प्रकृतिके अधीन कर्मसे शरीर और शरीरसे कर्मका प्रवाह अखण्ड चलता ही रहता है। इस प्रकार प्रकृतिका यह सब व्यवहार मेरे द्वारा होता रहता है और अपनी किसी इच्छाके बिना मैं प्रकृति

के व्यवहारको चलाता रहता हूँ। मेरी सत्ता बिना स्वयं प्रकृति कुछ भी करनेमें असमर्थ है और प्रकृतिका यह सारा नृत्य मेरे अधीन ही होता है।

तब तो प्रकृतिकी विषम रचनासे सम्बन्ध होनेके कारण आप परमेश्वरको तज्जन्य पुण्य-पापका लेप भी होता होगा?—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे धनंजय! मुझको वे कर्म बन्धन नहीं करते, किन्तु मैं तो उन कर्मोंमें उदासीनके समान आसक्तिरहित स्थित रहता हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाशके आश्रय शीत, उष्ण तथा वर्षा आदि सब व्यवहारकी सिद्धि होती है, परन्तु आकाश स्वयं शीतोष्णरूपको प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृतिका यह लय-विकाशरूप सब व्यवहार मेरे आश्रय होता हुआ भी मुझको बन्धन नहीं करता, किन्तु मैं तो प्रकृतिके इन सब व्यवहारोंमें उदासीनकी भाँति अनासक्तरूपसे ही स्थित रहता हूँ। न मैं फलकी इच्छा रखता हूँ और न किसी प्रकारसे कर्तृत्वाभिमान ही मुझमें रहता है, इसीलिये वे कर्म मुझे बन्धन नहीं करते। इससे समझना चाहिये कि अन्य भी जो कर्तृत्वाभिमान एवं फलसम्बन्धी आसक्तिसे मुक्त हैं, वे भी कर्म-बन्धनमें नहीं आते।

आप उन कर्मोंको करते हुए भी उदासीनके समान कैसे रहते हैं, जिससे वे कर्म आपको बन्धन नहीं करते?—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचररूप जगत्‌को

उत्पन्न करती है, इसी हेतुसे जगत् विशेषरूपसे परिणामको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार चुम्बककी सत्तासे जड़ लोहा नृत्य करता है, परन्तु उन सब नृत्योंमें चुम्बक तो कूटस्थरूपसे अचल ही स्थित रहता है। इसी प्रकार मेरी अधिष्ठानरूप सत्ताके आश्रय प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है, परन्तु मैं तो उन सब व्यवहारोंसे असंग ही रहता हूँ। यद्यपि मेरे बिना प्रकृतिके किसी व्यवहारकी सिद्धि नहीं हो सकती, परन्तु मेरेमें उन व्यवहारोंका कोई लेप नहीं होता। इसी मेरे अधिष्ठानरूप हेतुसे जगत् परिणामको प्राप्त होता है और इस प्रकार किसी कर्तृत्वके बिना मैं उन कर्मोंमें उदासीनवत् स्थित रहता हूँ।

ऐसा होते हुए भी—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मैं जो सब भूतोंका महेश्वर हूँ, उस मेरे परमभावको न जानते हुए मूढ पुरुष मुझे मनुष्य-शरीरधारी जानकर तुच्छ समझते हैं।

भावार्थ—वे यह नहीं समझते कि मुझ परमेश्वरका यह शरीर अपने किसी कर्म-संस्कारोंके बिना केवल मायामात्र है और साधु पुरुषोंके उद्धार तथा दुष्टोंके संहारके निमित्तसे ही है, अपने किसी सुख-दुःख-भोगके लिये नहीं। तथा इस प्रकार निमित्त-मात्र शरीर धारण करता हुआ भी वस्तुतः मैं सबसे निर्लेप हूँ और प्रकृतिकी सब झंझटोंमें केवल उदासीनरूपसे ही स्थित रहता हूँ। ऐसा न जानकर वे मुझे एक सामान्य व्यक्ति ही समझते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

ऐसे विपरीत चित्तवालोंकी आशा, कर्म व ज्ञान व्यर्थ ही होते हैं, जो कि मोहनेवाली राक्षसी व आसुरी प्रकृतिके ही आश्रय हो रहे हैं।

भावार्थ—ऐसे मूढ पुरुषोंकी सब आशाएँ, सब कर्म तथा सब ज्ञान व्यर्थ ही होते हैं। क्योंकि उनकी आशा, कर्म व ज्ञानोंका फल न ऐहलौकिक सुख-शान्ति ही होता है और न पारलौकिक। जिन्होंने केवल दृश्यमान इन्द्रियगोचर प्रपञ्चको ही सत्य व सुदृढ-रूपसे ग्रहण किया हुआ है और यह नहीं जाना कि 'जो कुछ इन्द्रियगोचर है वह केवल माया है, इसके नीचे कोई एक अचल कूटस्थ वस्तु है जिसकी सत्तासे यह असत् भी सत् प्रतीत हो रहा है।' ऐसा न जानकर और इस मायामात्र दृश्यको ही सुदृढ-रूपसे ग्रहण करके जो मोहनेवाली आसुरी व राक्षसी प्रकृतिके आवेशमें केवल देहात्मवादी ही बन गये हैं और तोड़ो, फोड़ो, खाओ, पीओ, लूटो ही जिन क्रूर-कर्मियोंका व्यवहार बन गया है।

परन्तु जो श्रद्धायुक्त हैं और भगवद्भक्तिरूप मोक्ष-मार्गमें प्रवृत्त हैं, ऐसे—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

हे पार्थ! महात्माजन तो दैवी प्रकृतिके आश्रित हुए मुझे सब भूतोंका आदि व अविनाशी जानकर अनन्य मनसे भजते हैं।

भावार्थ—'संसार असाररूप है, इस असार संसारमें सार-भूत केवल भगवान् ही हैं।' पार्थ! ऐसे विवेकी महात्माजन तो शम, दम, श्रद्धा, दया, उदारता आदि सद्गुणरूप देवोंके स्व-भावका अवलम्बन करनेवाले मुझे अनन्य मनसे भजते हैं। अर्थात् 'सुखस्वरूप केवल भगवान् ही हैं' ऐसा दृढ निश्चय धारण करके उन्होंने अपने जीवनका ध्येय केवल मुझे ही बनाया है और मुझे

ही सर्वभूतोंका आदि कारण तथा अविनाशी स्वरूप जाना है। तथा इस रूपसे दृढ धारणा की है कि जिस प्रकार व्यापक अग्नि किसी निमित्तसे किसी स्थानविशेषमें यदि विशेषरूपसे प्रकट हो आती है तो इससे उसकी व्यापकता भङ्ग नहीं हो जाती, इसी प्रकार मैं सर्वव्यापी सर्वात्मा यदि किसी निमित्तसे विशेषरूपमें प्रकट होता हूँ तो इससे मेरी सर्वव्यापकता भङ्ग नहीं हो जाती और मैं अपने सामान्यरूपसे च्युत नहीं हो जाता।

ऐसा जानकर वे मुझे किस प्रकार भजते हैं?—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

ऐसे दृढनिश्चयवान् महात्माजन निरन्तर मेरा ही कीर्तन करते हुए, मेरे ही निमित्त यत्न करते हुए, मुझे ही नमस्कार करते हुए और मेरेमें ही नित्ययुक्त हुए भक्तिपूर्वक मेरी ही उपासना करते हैं।

भावार्थ—'केवल भगवान्‌के चरण-कमलोंकी अनन्य शरण ही इस दुःखरूप संसार-समुद्रसे पार होनेके लिये सुदृढ नौका है, इससे भिन्न इससे पार होनेका उपाय न कोई हुआ है और न होगा, चाहे कोटि कल्प भी क्यों न बीत जावें।' ऐसा जिन्होंने दृढ निश्चय धारण किया है, मेरे परायण वे नित्ययुक्तजन भक्तिपूर्वक अपनी सब चेष्टाओंद्वारा केवल मेरी ही उपासना करते हैं; मेरा ही कीर्तन और मुझे ही नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार श्लोक ११ से यहाँतक पामर पुरुषों तथा जिज्ञासुओं का व्यवहार वर्णन किया, अब तत्त्ववेत्ता ज्ञानियोंका वर्णन करते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्वय—पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखं मां अन्ये चापि ज्ञान-यज्ञेन एकत्वेन यजन्त उपासते ।

अर्थ—और भेद-दृष्टिसे बहुत रूपोंमें जगदाकार प्रतीत होनेवाले मुझ परमेश्वरको अन्य ज्ञानीजन ज्ञान-यज्ञके द्वारा (अभेद-दृष्टिसे) एकत्वभावसे यजन करते हुए उपासते हैं ।

भावार्थ—जैसे एक ही जल तरङ्ग, फेन, बुद्बुद, चक्र तथा आवर्त आदि रूपसे भिन्न-भिन्न आकारोंमें प्रतीत होता हुआ, ज्ञान-दृष्टिसे जल ही है । इसी प्रकार मैं सर्वात्मा भेद-दृष्टिसे भिन्न-भिन्न आकारोंमें विश्वाकार प्रतीत होता हुआ भी तत्त्व-दृष्टिसे सर्वभेदशून्य अपने सामान्यरूपमें ही स्थित हूँ । ऐसा ज्ञानीजन ज्ञानयज्ञके द्वारा मुझे यजन करते हुए उपासते हैं ।

अब ऐसे तत्त्ववेत्ताओंकी स्वाभाविक तात्त्विकी दृष्टिका निरूपण श्लोक १९ पर्यन्त करते हैं—

> अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
> मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

मैं ही क्रतु (श्रौतकर्मविशेष), मैं ही यज्ञ (स्मार्तकर्मविशेष), मैं ही स्वधा (पितरोंके निमित्त अन्न), मैं ही औषध, मैं ही मंत्र, मैं ही हवि, मैं ही अग्नि और मैं ही हवनरूप क्रिया हूँ ।

भावार्थ—आशय यह कि कल्पित वस्तु जिस सत्य अधिष्ठान में प्रतीत होती है, अपने अधिष्ठानसे भिन्न उस कल्पित वस्तुका अपना कोई रूप नहीं होता, किन्तु वह अधिष्ठानरूप ही होती है । जैसे अधिष्ठान-रज्जुमें प्रतीयमान सर्प रज्जुरूप ही होता है । इसी प्रकार सर्वाधिष्ठान मुझ ब्रह्मस्वरूपमें प्रतीयमान सर्व प्रपञ्च, अपनी कोई भिन्न सत्ता न रखनेसे मुझ ब्रह्मस्वरूप ही होता है । इस प्रकार सर्व वस्तुओंको अधिष्ठान-ब्रह्मरूप ही देखना, यही यथार्थ ज्ञान-यज्ञ है । अतः उन तत्त्ववेत्ताओंकी दृष्टिमें सम्पूर्ण श्रौत

तथा स्मार्त यज्ञ, स्वधा, औषध व मंत्रादि मुझ ब्रह्मस्वरूप ही होते हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

[इसी प्रकार] मैं ही इस जगत्‌का पिता, (जन्मदात्री) माता, (कर्मफलका विधान करनेवाला) धाता, पितामह, जानने-योग्य पवित्र ॐकार तथा ऋक्, साम व यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थान निधान बीजमव्ययम् ॥१८॥

[तथा] मैं ही (सबकी) गति, भर्ता, स्वामी, साक्षी, (सबका) निवासस्थान, शरण, सुहृद्, (सबकी) उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधान और अविनाशी बीज हूँ।

भावार्थ—सब भूतोंकी सब शारीरिक, मानसिक, ऐहलौकिक तथा पारलौकिक चेष्टाएँ जिसके आश्रय हो रही हैं, वह सबकी सर्व 'गति' मैं ही हूँ। तथा सबका पोषण करनेवाला 'भर्त्ता', सबका स्वामी 'प्रभु', सब प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंका द्रष्टा 'साक्षी', सबका आधारभूत 'निवास', सब शरणागतोंके दुःखोंको हरण करने-वाला 'शरण' तथा प्रत्युपकारके बिना सबका हित करनेवाला 'सुहृद्' भी मैं ही हूँ। सबकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय, सबके सञ्चित-कर्मोंका भण्डाररूप 'निधान' और अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ। सारांश यह कि श्लोक १६, १७ व १८ में कथन की गईं ये सब अवस्थाएँ संसारकी उपाधि करके मुझ अवस्थातीतमें आरोपित होती हैं, वास्तवमें मैं इन सब अवस्थाओंसे परे हूँ। इस प्रकार तत्त्ववेत्ता इन सब अवस्थाओंमें मुझ अवस्थातीतको ही देखते हैं और इस रीतिसे ज्ञान-यज्ञके द्वारा मुझे भजते हैं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

[तथा] हे अर्जुन ! (सूर्यरूप हुआ) मैं ही तपाता हूँ, मैं ही वर्षाता हूँ, मैं ही आकर्षण करता हूँ और फिर त्याग करता हूँ । तथा अमृत व मृत्यु और सत् व असत् मैं ही हूँ ।

भावार्थ—सूर्यरूप धारकर तपाना, वर्षाना, वर्षा कर चुकने पर पुनः शोषण करना तथा शोषण करके पुनः वर्षा करना—इत्यादि सब व्यवहार मेरे द्वारा ही हो रहा है । अर्जुन ! अमृत व मृत्यु तथा सत् व असत् मैं ही हूँ । आशय यह कि जितना कुछ भी प्राणियोंके अनुकूल-वृत्तिका विषय होता है वह 'अमृत' तथा जो प्रतिकूल-वृत्तिका विषय होता है वह 'मृत्यु'—इत्यादि अनुकूल-प्रतिकूल-वृत्तिके विषय सब पदार्थ मैं ही होता हूँ । तथा जितना कुछ भी सत् व असत्‌रूपसे ग्रहण किया जाता है, अर्थात् 'है' वा 'नहीं' रूपसे जो कुछ भी बोधन किया जाता है, वह सब भाव व अभावरूप पदार्थ मैं ही होता हूँ । तात्पर्य यह कि प्रकृति-राज्यमें जितना कुछ भी द्वन्द्वरूप परिणाम अनुकूल-प्रतिकूलरूप तथा भाव-अभावरूप दृष्टिगोचर होता है, वह सब मेरे आश्रय ही प्रतीत होता है, परन्तु मुझको स्पर्श नहीं करता । जिस प्रकार भित्तिके आश्रय सब चित्रोंकी सिद्धि होती है, परन्तु भित्तिको उनका कोई स्पर्श नहीं होता ।

इस प्रकार तत्त्ववेत्ताओंकी तात्त्विकी दृष्टिरूप ज्ञान-यज्ञका वर्णन किया गया । अब शुभ सकामी अर्थात् विषयी पुरुष जिस प्रकार भगवानका यजन करते हैं वह निरूपण किया जाता है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

जो ऋक्, यजु और साम तीनों वेदोंके जाननेवाले, सोमरस पान करनेवाले एवं पापोंसे पवित्र हुए पुरुष यज्ञोंके द्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग प्राप्तिकी चाहना करते हैं, वे पुण्य-फलरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर दिव्य देव-भोगोंको भोगते हैं ॥२०॥

भावार्थ—अर्थात् अग्निष्टोमादि यज्ञोंद्वारा वे सकामी पुरुष जिन इन्द्रादि देवताओंकी पूजा करते हैं, वास्तवमें वह पूजा उन इन्द्रादि देवताओंके रूपमें स्थित मुझ परमात्माकी ही होती है। परन्तु वे अपनी कामनाओंके प्रवाहमें बहे हुए मुझे वहाँ नहीं देखते, किन्तु अपनी कामनाके विषय इन्द्रादि देवताओंको ही देखते हैं। इस प्रकार अपने-आपको उन्हींकी पूजा करता हुआ जानते हैं और मुझ वास्तव स्वरूपसे, जो कि उनकी भावनाओं के अनुसार ही उन देवरूपोंमें भास रहा हूँ, विमुख ही रह जाते हैं। अतः वे नित्य-फलसे वञ्चित रहकर अनित्य-फलके ही भागी होते हैं।

अब उस फलका वर्णन करते हैं, जो अज्ञान करके उन सकामियोंको प्राप्त होता है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मर्त्यलोकको प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वैदिक कर्मोंका आश्रय लेनेवाले कामकामी पुरुष आवागमनको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई धनी पुरुष अन्य विलायतोंमें विषय-भोगोंके निमित्त अपनी धन-सम्पत्ति साथ लेकर जाता है और धनसम्पत्ति खर्च हो चुकनेपर अपने घर खाली-का-खाली आ जाता है। इसी प्रकार वे सकामी पुरुष अपने पुण्यरूप भोग-सामग्रीको लेकर स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं और उसके समाप्त

होनेपर ज्यों-के-त्यों दरिद्री-के-दरिद्री रहकर मर्त्यलोकमें गिरा दिये जाते हैं, साथ कुछ भी नहीं लाते।

इस प्रकार चार कोटिके मनुष्य कहे गये, जो अपने-अपने भावानुसार भगवान्‌को भजते हैं, अब सामान्यरूपसे भिन्न-भिन्न फलका वर्णन करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

[परन्तु जिनकी दृष्टिमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ऐसे]—अनन्यभावसे चिन्तन करते हुए जो जन मेरी उपासना करते हैं, अपनेमें नित्य ही युक्त उन योगियोंका मैं योग-क्षेम चलाता हूँ।

भावार्थ—अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। जिन्होंने तन, मन, इन्द्रिय व प्राणादिरूपसे अपना-आपा कुछ भी नहीं बचा रक्खा और सर्वस्व मुझको अर्पण कर दिया है; ऐसे अनन्य और अपनेमें नित्ययुक्त योगियोंका योग-क्षेम मैं इसी प्रकार सावधानीसे चलाता हूँ, जिस प्रकार जिसने अपना-आपा सब प्रकार मातापर निर्भर कर दिया होता है, उस शिशुका सारा योग-क्षेम माता अपनी जुम्मेवारीसे चलाती है। केवल व्यवहारिक योग-क्षेम ही नहीं, किन्तु व्यवहार व परमार्थ उभयरूप योग-क्षेमका मैं समानरूपसे जुम्मेवार होता हूँ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

[तथा] जो अन्य देवताओंके भक्त श्रद्धापूर्वक (अन्य देवताओंको) पूजते हैं, वे भी हे कौन्तेय! पूजते तो मुझे ही हैं, परन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक होता है।

भावार्थ—आशय यह कि जिन देवताओंको अपने सम्मुख

निमित्त करके वे उन देवताओंकी पूजा करते हैं, वहाँ वास्तवमें सर्वाधार सर्वात्मा मैं ही विद्यमान होता हूँ। केवल उनको उनकी अपनी भावनाके अनुसार मैं ही उन देवताओंके रूपमें प्रतीत होने लग जाता हूँ। जैसे मृगको जलकी भावनासे मरुस्थल ही जलका प्रवाह दीखने लग पड़ता है, इसी प्रकार उन भक्तोंकी अपनी-अपनी देवमयी भावना होते हुए भी वस्तुत वहाँ होता तो मैं ही हूँ। ऐसी अवस्थामें जो पूजा वे उस देवताको उद्देश्य करके करते हैं वह वस्तुतः मेरी ही पूजा होती है, क्योंकि सचमुच वहाँ मैं ही होता हूँ। यह सब होते हुए भी केवल उनकी भावना मुझमयी न होनेके कारण उनकी वह पूजा अविधिपूर्वक ही होती है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

[इसी प्रकार यद्यपि] निश्चयपूर्वक सब यज्ञोंका भोक्ता व स्वामी मैं ही होता हूँ, परन्तु वे मुझको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं।

भावार्थ—इसी प्रकार यद्यपि उन सकामी पुरुषोंके सब यज्ञों का भोक्ता व स्वामी मैं ही होता हूँ और उनके मन्त्र, द्रव्य, अग्नि, हवि तथा देवतादि सब व्यवहारोंमें साक्षीरूपसे विराजमान रहकर उन सबका द्रष्टा ही होता हूँ। परन्तु कामनाके प्रभावसे उनकी आँखें मुझ सर्वके देखनेवालेसे नहीं लड़तीं और वे मुझे तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे वे गिरते हैं और पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं।

सारांश, मेरे वास्तव स्वरूपमें योग न पाकर और कर्ता-बुद्धि धारकर अपनी-अपनी भावनाके अनुसार जो जैसा करते हैं, वैसा ही फल वे मेरे द्वारा प्राप्त करते हैं, वह इस प्रकार कि—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओंका निश्चय धारनेवाले देवताओंको, पितरोंके निश्चयवाले पितरोंको और भूतोंके पूजनेवाले भूतोंको ही पाते हैं, परन्तु जो मेरे उपासक हैं वे तो मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष जैसा-जैसा निश्चय मेरे आश्रय धारण करता है, उसको उसके निश्चयके अनुसार उस-उस फलकी प्राप्ति मेरे द्वारा ही होती है। क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न निश्चयोंमें मैं सत्स्वरूप सर्वसाक्षी सर्वात्मा सत्तारूपसे विराजमान रहता हूँ और केवल मेरी सत्तामात्रसे ही उनके सब निश्चय इसी प्रकार फलके सम्मुख होते हैं, जैसे भूमिकी सत्तासे सब बीज अपने-अपने फल के सम्मुख हो जाते हैं। इस प्रकार मुझमें देवताओंके निश्चयवाले देवताओंको, पितरोंके निश्चयवाले पितरोंको तथा भूतोंके निश्चयवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं। परन्तु जो मुझमें साक्षात् मेरा ही निश्चय धारनेवाले हैं और विपरीत भावनासे छूटे हुए हैं, ऐसे, जो मेरे यथार्थ उपासक हैं, वे तो मुझ सर्वात्माको ही नक़द प्राप्त कर जाते हैं, क्योंकि तत्त्व यही है और फिर वे पुनर्जन्मके बन्धनमें नहीं आते।

इस प्रकार भगवान्ने भिन्न-भिन्न पुरुषोंकी भिन्न-भिन्न भावना, निश्चय, साधन और फलोंमें अपने स्वरूपका बोधन किया। अब सामान्यरूपसे अपने उस स्वरूपकी प्राप्तिका उपाय कथन करते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्र, पुष्प, फल व जल जो भक्त मुझे प्रेमपूर्वक अर्पण करता है, उस शुद्धात्मा भक्तके भक्तिसहित अर्पण किये हुए उन पदार्थों को मैं ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—मेरी प्राप्तिमें मुख्यता मेरे प्रति प्रेमकी ही है, पदार्थों की नहीं। पदार्थ चाहे कम-से-कम हो, एक पत्ता ही क्यों न हो, चाहे एक फूल व फल ही हो, और कुछ भी नहीं तो एक चुल्लू

पानी ही मेरे लिये बस है। परन्तु भक्ति व प्रेम मेरे प्रति अधिक-से-अधिक होना चाहिये, क्योंकि मैं पदार्थोंका ग्राहक नहीं हूँ, प्रेम ही मेरा स्वरूप होनेसे मैं तो केवल प्रेमका ही ग्राहक हूँ। पदार्थ तो प्रेम-समर्पणके लिये इसी प्रकार निमित्तमात्र होते हैं, जिस प्रकार पत्तेमें लपेटकर मिश्री दे दी जाती है, परन्तु मूल्य पत्तेका नहीं होता, मिश्री का ही होता है। इस प्रकार प्रेमान्त:करण प्रेमीकी भक्तिपूर्वक समर्पण की हुई भेंटको मैं प्रेमसे भोगता हूँ, क्योंकि मेरा प्रेम ही सांसारिक अहन्ता-ममताको खोकर मेरी प्राप्ति करानेमें समर्थ है।

इस प्रकार पत्र-पुष्पादिके रूपमें मुझे अपना प्रेम समर्पण करते-करते फिर—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे कुन्तीपुत्र ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है, अथवा जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

भावार्थ—जितना-जितना मेरे लिये प्रेमपूर्वक त्याग किया जाता है, उतना-उतना ही मेरा भक्त मेरे सन्निकट होता जाता है। इस प्रकार जब मेरे अनन्य प्रेमके प्रभावसे सर्वत्यागकी सिद्धि हो जाती है, तब तो मैं नकद ही प्राप्त हो जाता हूँ; क्योंकि त्याग ही मेरा मूल्य है। इसलिये कुन्तीपुत्र ! जो कुछ तू कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो कुछ दान देता है, अथवा तप करता है, वह सब तू मुझे ही निवेदन कर। यहाँतक कि 'मैं इन कर्मोंका कर्ता हूँ, अथवा मैं इनका फल भगवान्‌को अर्पण करनेवाला हूँ' इस अभिमानको भी मुझे निवेदन कर। यही सर्व-त्याग है और केवल इसीसे मेरी प्राप्ति सम्भव है, क्योंकि कर्तृत्वा-भिमान करके ही मुझसे वियोग हुआ था, उसके निवृत्त होनेपर

स्वाभाविक योगस्थिति होती है। जैसे सर्वकर्ता जल होनेपर भी तरङ्ग अपने किसी छोटेसे आकारमें कर्तृत्वाभिमान धारकर महासागरसे वियुक्त हो जाती है, परन्तु जब वह अपने इस तुच्छ अभिमानका त्याग करदे तब तत्काल महासागरसे योग पा जाती है।

इस रीतिसे सर्वत्यागकी सिद्धि होनेपर फिर—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

इस प्रकार तू संन्यासरूप योगसे युक्तचित्त हुआ कर्मके शुभाशुभ फलरूप बन्धनोंसे छूट जायगा और उनसे मुक्त होने पर मुझे ही प्राप्त होवेगा।

भावार्थ—इस प्रकार तत्त्वानुसन्धानद्वारा अपने सर्वसाक्षी स्वरूपमें स्थित होना और कर्तृत्वाभिमानसे वस्तुतः मुक्त हो जाना, यही सर्वत्याग है, यही संन्यास है और यही तात्त्विक योग है। इसी संन्यासरूप योगमें युक्त चित्त पुरुष कर्मके शुभाशुभ फलरूप बन्धनोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ है और कर्म-बन्धनोंसे छूटकर भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। इस सर्वत्यागके सिद्ध हुए बिना कर्मबन्धनसे मुक्ति खपुष्पके समान है। इसके बिना कर्तव्यबुद्धिसे कर्मफल-समर्पणादि जो कुछ भी साधन किया जायगा, वह यदि अशुभरूप फलबन्धनमें न डालेगा तो शुभरूप फलबन्धनमें तो कर्ताको अवश्य बाँधेगा और वास्तविक स्वरूपसे जीवको वियुक्त ही रखेगा; क्योंकि शुभ अथवा अशुभ कर्मफलरूप बन्धन से ही जीव अपने आत्मासे वियुक्त हो रहा है (पृ. ६० से ६६)।

'संन्यासयोगयुक्तात्मा' वाक्यका समास इस प्रकार है—'संन्यासः चासौ योगः संन्यासयोगः तेन संन्यासयोगेन ब्रह्मणि युक्त आत्मा चित्तं यस्य तव स त्वं 'संन्यासयोगयुक्तात्मा'।

अपने जिस स्वरूपमें युक्त होना है उसका सामान्य निरूपण

तथा युक्त होनेकी विधि अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त वर्णन करते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

[इस प्रकार यद्यपि] मैं सब भूतोंमें समान भावसे स्थित हूँ, न मेरा कोई अप्रिय है और न प्रिय ही है, तथापि जो भक्त मुझे प्रेमसे भजते हैं वे मेरे में हैं और मैं उनमें हूँ ।

भावार्थ—जैसे महाकाश सब भूतोंमें समभावसे स्थित है, इसी प्रकार मैं पञ्चतत्त्वरचित सब चराचर भूतोंमें समान भावसे स्थित हूँ और सबका आत्मा ही हूँ। सर्वात्मा होनेसे न मेरा किसी से राग है और न द्वेष ही है, क्योंकि आत्मासे भिन्न जो वस्तु जानी जाती है, उसीमें अनुकूल-बुद्धिसे राग और प्रतिकूल-बुद्धि से द्वेष होता है, अपना आत्मा किसीके लिये भी राग अथवा द्वेषका हेतु नहीं होता। ऐसा होते हुए भी जो मुझे अनन्य प्रेम से भजते हैं, वे मेरे में हैं और मैं उनमें हूँ। आशय यह कि मैं तो उनमें पहले भी था, कहीं अन्य देशसे अब उनमें नहीं आया, किन्तु उन्होंने ही मुझे अपने तुच्छ अहङ्कारके नीचे दबाया हुआ था, इसलिये मैं उनमें रहता हुआ भी वे मुझमें नहीं थे। अब जो उन्होंने अनन्य ज्ञान-लक्षणा भक्तिके द्वारा मुझे भजा और अपने तुच्छ अहंकारको खो बैठे, तो वे मुझमें योग प्राप्त कर गये और वे मुझमें मैं उनमें एकत्व भावसे स्थित हो गये ।

अब सब भूतोंमें अपनी नित्य निर्मलताका वर्णन करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

चाहे कोई अतिशय दुराचारी भी रहा हो परन्तु यदि वह अनन्य भावसे मुझे भजता है, तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है ।

भावार्थ—जिस प्रकार गन्धसे गढ़ेमें स्थित आकाश गढ़ेकी गन्धसे कदाचित् लेपायमान नहीं होता, नित्य निर्मल ही रहता है, इसी प्रकार मैं सर्वसाक्षी सर्वात्मा सबमें समान भावसे रहता हुआ किसीके सदाचार व दुराचारसे लेपायमान नहीं होता हूँ। इस सिद्धान्तके अनुसार चाहे कोई अतिशय दुराचारी भी क्यों न रहा हो, परन्तु यदि वह अपने दुराचारोंसे छूटकर मुझे अनन्य भावसे भजता है तो वह साधु ही मानना चाहिये। जैसे सुवर्ण की डली कीचड़में धँसी हुई स्व-स्वरूपसे च्युत नहीं होती, कीचड़ धो लेनेपर वह ज्योंकी-त्यों सुवर्ण ही है और अपना पूरा मूल्य पाती है। इसी प्रकार यदि जीव दुराचाररूपी कीचड़से निकलकर अनन्य भक्तिरूप जलसे (कि यह सब वासुदेव ही है) अपने मिथ्या तुच्छ अहंकारको धोकर शुद्ध हो जाय तो वह सच्चा साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि 'मैं कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित नित्य-शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप हूँ' ऐसा इसने अपने आत्मस्वरूपमें यथार्थ निश्चय किया है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

[इसलिये वह] शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और अचल शान्तिको प्राप्त होता है। हे कुन्तीपुत्र! तू दृढ़ निश्चय कर कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता है।

भावार्थ—इस प्रकार पूर्वकृत दुराचरणोंसे छूटकर जो मेरी अनन्य भक्तिद्वारा निर्मल हुए हैं और इस भक्तिके प्रभावसे देहाभिमानसे मुक्त होकर जो मुझ सर्वसाक्षीसे अभिन्न हो गये हैं, वे तत्काल ही धर्मात्मा अर्थात् आत्मस्वरूप हो जाते हैं और नित्य शान्तिको प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि साक्षी नित्य निर्लेप ही है, कदाचित् देहादिके शुभाशुभ विकारोंसे लेपायमान नहीं होता। इस प्रकार कौन्तेय! तू निश्चय कर कि मेरे भक्तका

कदाचित् अधःपतन नहीं होता। अर्थात् मेरे मार्गपर आये हुए भक्तके लिये अधोगति तो है ही नहीं, किन्तु वह स्वाभाविक इसी प्रकार मेरी ओर अग्रसर होता है, जैसे गङ्गाका प्रवाह स्वाभाविक समुद्रकी ओर दौड़ता चला जाता है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

[यहाँतक कि] हे पार्थ! मेरी शरण होकर चाहे कोई पापयोनि भी क्यों न हों, अर्थात् स्त्री, वैश्य व शूद्र जाति भी क्यों न हों, वे भी मेरी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—आशय यह कि मेरे स्वरूपमें जात-पाँतका कोई लेप नहीं है। जात-पाँतका भेद तो प्रकृतिके राज्यमें ही है, वह भी स्थूल शरीरतक ही, सूक्ष्म शरीरमें भी यह भेदभाव नहीं रहता। फिर जो मेरी शरण होकर प्रकृतिके राज्यसे ही निकल गये, वे तो स्वभाविक ही सब भेदभावसे मुक्त होकर मेरी परम गतिको ही प्राप्त हो जाते हैं चाहे वे कोई भी क्यों न हों।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

[जब ऐसा है] फिर पुण्यवान् ब्राह्मणों तथा मेरे भक्त राजर्षियोंका तो कहना ही क्या है? इसलिये सुखशून्य व क्षणभङ्गुर इस मनुष्य शरीरको पाकर मेरा ही भजन कर।

भावार्थ—मेरे परायण हुए पापयोनि भी जब मेरी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, तब जो स्वभावसे ही पुण्यवान् हैं, ऐसे ब्राह्मण और राजर्षि मेरे भक्त मेरे परायण होकर मेरी परम गतिको प्राप्त हों, इसमें तो सन्देह ही क्या है? इसलिये अर्जुन! इस दुर्लभ नरदेहको पाकर, जोकि अनेक पुण्योंसे प्राप्त होती है और इन्द्रादि भी जिसकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं तथा जो अपने स्वरूपसे तो

अनित्य व दुःखरूप ही है परन्तु परम पुरुषार्थका एकमात्र साधन है, तू मुझ परमेश्वरको ही भज।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

[सारांश] हे अर्जुन ! तू मेरा ही भक्त हो, मेरा ही पूजन और मुझे ही नमस्कार कर। इस प्रकार मुझमें जुड़कर मेरे परायण हुआ तू मुझ सर्वात्माको ही प्राप्त हो जायगा।

भावार्थ—अज्ञानद्वारा मनने मुझ सर्वसाक्षीसे भिन्न जो अपनी मिथ्या ही सत्ता कल्पना की हुई है, ज्ञानद्वारा उसको बाध करके तू मुझमें ही अभिन्न होकर मन्मना हो। जिस प्रकार सब भूषणोंमें एकमात्र सुवर्ण ही है, इसी प्रकार सब भूतोंमें भेदभावसे मुक्त एकमेवाद्वितीयम् मैं ही हूँ, ऐसा दृढनिश्चयी होकर अपनी सब चेष्टाओंद्वारा तू मेरा ही पूजन कर। तथा इसी निश्चयसे अपनेमें और सबमें मुझको ही साक्षात् देखता हुआ मुझे ही नमस्कार कर। इस प्रकार तू मेरा भक्त होकर मेरे परायण हुआ मुझ अपने आत्मामें योग पाकर मुझे ही प्राप्त करेगा। सारांश, मुझमें युक्त होनेके लिये न कोई पिछले दुराचार ही प्रतिबन्धक हो सकते हैं, न कोई जात-पाँतकी ही मर्यादा है, किन्तु सब दुराचारोंसे छूटकर नक़द मन्मना-भाव और मत्परायणता ही मुझमें योग प्राप्त करानेकी एकमात्र कुञ्जी है, इस सिद्धांतकी सत्यतामें वाल्मीकादि ज्वलन्त दृष्टांत हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्यमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'राजविद्या-राजगुह्ययोग' नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ।

नवम अध्यायका स्पष्टीकरण

इस अध्यायके प्रथम दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने ज्ञानरूप योगकी महिमा वर्णन की और इस योगको राजविद्या व राजगुह्य नामसे कथन किया। तृतीय श्लोकमें श्रद्धाको ही इस योगप्राप्तिमें मुख्य हेतु कहा गया और श्लो० ४ से ६ तक अपने उस स्वरूपका दृष्टान्तसहित निरूपण किया, जिसको तत्त्वसे जानकर उसमें योग प्राप्त किया जा सकता है। फिर इस योगप्राप्तिके बिना अखिल भूतप्राणी जिस प्रकार प्रकृतिके आवागमनरूपी चक्रमें अनन्त कल्पोंपर्यन्त भ्रमण करते रहते हैं, उस क्रमका वर्णन किया और बतलाया कि कल्पके क्षय हुए भी भूतप्राणी आवागमनसे छूट नहीं सकते, किन्तु कल्पके आदिमें फिर उनको परवश प्रकृतिके अधीन उत्पन्न होना पड़ता है। फिर समझाया कि यद्यपि प्रकृतिका यह सब व्यवहार मेरी सत्ता-स्फूर्तिमें ही होता है और मैं ही प्रकृतिके सब व्यवहारोंको चलाता हूँ, परन्तु वे सब कर्म मुझे बन्धन नहीं करते, क्योंकि मैं किसी कर्तृत्वाभिमान के बिना अनासक्तरूपसे उन कर्मोंमें स्थित रहता हूँ। इस प्रकार मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर जगत्‌को उत्पन्न करती है और जगत् आवागमन-चक्रमें घूमता रहता है (७-१०)।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने उन चतुर्विध पुरुषोंका वर्णन किया, जो इस संसारमें अपनी भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे भगवान्‌का पूजन करते हैं। (१) इनमें सर्वश्रेष्ठ उस तत्त्ववेत्ता ज्ञानीको ही बतलाया गया, जो अपनी सात्त्विक दृष्टिसे विविधरूप दृश्यमान प्रपञ्चमें सर्वभेदविनिर्मुक्त एक भगवान्‌को ही ज्ञान-यज्ञद्वारा यजन करता है। जिसकी पवित्र दृष्टिमें सब श्रौत व स्मार्त कर्म तथा स्वधा, औषध, मन्त्र, द्रव्य एवं अग्नि आदि सब पदार्थ भगवत्-स्वरूप ही हो गये हैं। और सर्वकी सर्वगति, प्रभु, निवासस्थान, शरण, सर्वकी उत्पत्ति-प्रलय तथा सब संसारके माता-पिता एक भगवान् ही हैं। यहाँतक कि सत्-असत्‌रूपसे और अमृत-मृत्युरूपसे संसारमें जो कुछ भी

ग्रहण किया जाता है, उसकी दृष्टिमें वह सब भगवत्स्वरूप ही होता है। अर्थात् मायारचित प्रपञ्च उसकी दृष्टिसे गिर गया है और सर्वसाक्षी भगवान् ही उसकी दृष्टिमें करामलकवत् समा गये हैं। (२) द्वितीय कोटिमें उन महात्माओंको वर्णन किया, जो दैवी प्रकृतिको आश्रय करके भगवान्को ही सर्व भूतोंका आदि व अविनाशी कारण जानकर अनन्य मनसे भजते हैं और जो निरन्तर भगवान्का कीर्तन, यजन व नमस्कारादि करते हुए दृढ व्रतसे ज्ञान-कोटिके जिज्ञासु हैं। (३) तृतीय कोटिमें उन सकामियोंको वर्णन किया, जो तीनों वेदोंमें विधान किये हुए यज्ञोंके द्वारा भगवान्को यजन करके स्वर्ग-प्राप्तिकी इच्छा करते हैं और वास्तविक सुखस्वरूप भगवान्से विमुख हुए मिथ्या विनाशी स्वर्गभोगोंमें ही सुखस्वरूप भगवान्को खोजते हैं। इस प्रकार वे सच्चे मार्गसे च्युत होनेके कारण पुण्य क्षीण होनेपर मृत्यु-लोकमें ही गिरा दिये जाते हैं और आवागमन-चक्रके ही अधिकारी बने रहते हैं। (४) चतुर्थ कोटिमें उन मूढ पामरोंको वर्णन किया, जो राक्षसी व आसुरी प्रकृतिके आश्रय हुए सब भूतोंमें स्थित भगवान्के परम भावको न जानकर निषिद्ध विषयभोगोंमें ही सुखस्वरूप भगवान्को ढूँढते हैं। अर्थात् वस्तुतः सुखशून्य विषयभोग, जिस सुखस्वरूप एवं सुन्दररूप भगवान्की सत्तासे सुखरूप व सुन्दररूप भासते हैं, उस सुखस्वरूप भगवान्को वहाँ न देख वे अपनी स्थूल दृष्टिसे तुच्छ भोगोंको ही सुखरूपसे ग्रहण करते हैं और इसी अज्ञानके कारण सुखी होनेके बजाय अनन्त दुःखोंके ही पात्र हो जाते हैं (११-२१)।

इस प्रकार चतुर्विध पुरुषोंका निरूपण करके भगवान्ने बतलाया कि यद्यपि सब पुरुषोंकी सब चेष्टाओंका एकमात्र विषय मैं सुखस्वरूप ही होता हूँ, तथापि अनन्यरूपसे जो जन मुझे उपासते हैं और मेरी प्राप्तिके सीधे सच्चे मार्गका अनुसरण करते हैं, उनका तो योग-क्षेमादिका मैं जुम्मेवार होता ही हूँ। और भी जो अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मुझ सुखस्वरूपकी अन्य देवताओंके रूपमें अथवा यज्ञों, पितरों व भूतोंके रूपमें उपासना करते

हैं वह उपासना भी वस्तुतः होती तो मेरी ही है, क्योंकि उनकी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मैं ही उन-उन रूपोंमें उनके सम्मुख होता हूँ, मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं जो उनके सामने उपस्थित हो। परन्तु केवल उनकी भावना मुमुक्षमयी न होनेके कारण वे मुझे प्राप्त नहीं होते और अपनी-अपनी भावनाके अनुसार वे *आवागमन-चक्रमें* ही पड़े रहते हैं (२०-२५)। अपने ऐसे स्वरूपकी प्राप्तिके लिये अपनी प्रेमा भक्तिको ही भगवान्‌ने हेतुरूपसे वर्णन किया, जिसके द्वारा अहन्ता-ममताका त्याग हो सकता है। इस प्रकार सर्वस्व-त्याग ही अपना मूल्य बतलाया, जिसके द्वारा सन्यासरूप योगकी सिद्धि होकर भगवत् प्राप्ति होती है और शुभाशुभरूप कर्मबन्धनसे जीव मुक्त हो जाता है (२६-२८)। अत अपनी समता, नित्य निर्मलता और सर्वात्मताका निरूपण करते हुए भगवान्‌ने कहा कि चाहे कोई अतिशय दुराचारी भी क्यों न हो, परन्तु यदि वह अनन्य भावसे मुझे भजता है तो उसे साधु ही जानना चाहिये। क्योंकि उसने देहादिकी अहन्ता-ममताका त्याग किया है, इसलिये वह शीघ्र ही आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जाता है। यहाँतक कि मुझ सर्वसाक्षीकी शरण होकर चाहे कोई पापयोनि भी क्यों न हो, अर्थात् स्त्री, वैश्य व शूद्र भी क्यों न हों वे भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि साक्षीस्वरूप आत्मा सर्वत्र नित्य निर्मल है। सब दोषों व पापोंका बन्धन जीवको उस समयतक ही होता है, जबतक जीव अपने साक्षीस्वरूपसे विमुख रहता है। फिर पुण्यवान् ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तोंका तो कहना ही क्या, इसलिये अनित्य व सुखशून्य मनुष्य-जीवनमें भजन ही सार है। अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनको सब चेष्टाओंद्वारा अपने *परायण मन्मना* होकर अपने आत्मामें योग प्राप्त करनेके लिये उपदेश किया (२९-३४)।

इस प्रकार अपने योगकी महिमा, उसका स्वरूप, उसकी प्राप्तिका साधन तथा अधिकारका वर्णन करते हुए इस अध्यायकी समाप्ति की गई

ॐ ॐ ॐ

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

नवम अध्यायमें भगवान्ने अपने योगस्वरूपका वर्णन किया। विषय दुर्विज्ञेय होनेसे इस अध्यायमें पुनः उसीका वर्णन आरम्भ करते हैं। 'भूय' शब्दसे पिछले अध्यायसे इस अध्यायकी संगति की गई है कि जो कुछ पीछे कहा गया है उसीको फिर भी श्रवण कर—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो ! तू फिर भी मेरे परम वचन श्रवण कर, जो कि मैं तुझ अतिशय प्रेमीके लिये हितकी कामना से कहूँगा।

भावार्थ—जिन वचनोंद्वारा केवल ऐहलौकिक प्रेय ही सिद्ध होता हो वे परम वचन नहीं कहलाते, किन्तु परम वचन वे ही हैं जिनके द्वारा पारलौकिक श्रेयःकी प्राप्ति हो। ऐसे परम वचन भगवान् अर्जुनके प्रति उसीके हितकी कामनासे कहते हैं। वे परम वचन क्या हैं ?—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरे प्रभावको न देवगण ही जानते हैं न महर्षिजन, क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि कारण हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार भूषण सुवर्णको नहीं जानता, तरङ्ग जलको नहीं जानता; इसी प्रकार अपने देव-भाव और महर्षि-भाव में अहं-अभिमान रखते हुए न देवगण ही मुझे जान सकते हैं और न महर्षिजन। जिस प्रकार भूषण व तरङ्ग अपने अपने तुच्छ अहंकारको मिटाकर और अपने-अपने कारणोंमें अभेद पाकर ही

अपने वास्तविक स्वरूपको जान सकते हैं, इसी प्रकार अपने अहं-अभिमानको खोकर और मुझ 'कारण कारणानाम्'में अभेद पाकर ही मुझे जाना और पाया जा सकता है। अपना-आपा बनाये रखकर मुझे कोई भी किसी प्रकार नहीं जान सकता, चाहे वे देवगण हों, चाहे महर्षिजन, क्योंकि मैं सबका सब प्रकार आदि कारण हूँ, परन्तु अपना कोई कारण नहीं रखता।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

[इस प्रकार] जो पुरुष मुझ अजन्मा, अनादि तथा सर्व-लोकोंके महेश्वरको जान जाता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् सब पापोंसे छूट जाता है।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे जो पुरुष तत्त्वसे यह जान लेता है कि 'जन्मादि षडविकार परमात्माके आश्रय सिद्ध होते हुए भी परमात्मामें उन विकारोंका कोई लेप नहीं लगता, किन्तु ये सब मायाके राज्यमें ही आभासमात्र है। जिस प्रकार भूषणोंके उत्पत्ति-नाशादि विकार सुवर्णके आश्रय सिद्ध होते हुए भी सुवर्ण में उनका कोई लेप नहीं होता, इसी प्रकार वह परमात्मा मेरा आत्मा ही है।' ऐसा अपने आत्माको ब्रह्मरूपसे साक्षात् जानने-वाला पुरुष देहाभिमानसे छूटा हुआ निस्सन्देह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। क्योंकि सब पापोंका मूल देहमें अहंभाव ही है, इसी परिच्छिन्न-अहंकारसे सब पापोंकी उत्पत्ति होती है और यही सब पापोंका मूल है। देहमें अहंभाव होनेसे भेद-दृष्टि होती है, भेद-दृष्टिसे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और फिर राग-द्वेषोंसे ही सब पापों की उत्पत्ति होती है। परन्तु जिसने श्रीकृष्णकी भाँति इस परि-च्छिन्नअहंरूपी कुब्जाकी पीठमें दृढतापूर्वक ज्ञानरूपी लात मारी और इसकी कुबको सीधा करके अपने वास्तविक अपरिच्छिन्न-

स्वरूपमें स्थिति पाई, उसके भूत, भविष्य व वर्तमान तीनों काल सीधे हो जाते हैं और फिर वह सभी पापोंसे सोलह आने मुक्त है। मैं लोकोंका महेश्वर कैसे हूँ ?—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

[क्योंकि ये] 'बुद्धि'–अन्तःकरणकी निश्चयात्मिका शक्ति, 'ज्ञान'–आत्मविषयक बोध, 'असंमोह'–मूढभावसे रहित विवेकपूर्वक प्रवृत्ति, 'क्षमा'–अपने प्रति अपराध करनेपर भी चित्तमें विकार न होना, 'सत्य'–जैसा अपने चित्तमें अनुभव हुआ है ज्यों-का-त्यों उसको दूसरेकी बुद्धिमें पहुँचानेके लिये कही जानेवाली वाणी, 'दम'–इन्द्रियनिग्रह, 'शम'–मनोनिग्रह, 'सुख'–आह्लाद, 'दुःख'–सन्ताप, 'भव'–उत्पत्ति, 'अभाव'–नाश, 'भय'–त्रास, 'अभय'–तद्विपरीत, 'अहिंसा'–प्राणियोंको किसी प्रकार पीड़ा न पहुँचाना, 'समता'–चित्तका समभाव, 'तुष्टि'–यथालाभ संतोष, 'तप'–स्वधर्माचरणपूर्वक देहेन्द्रियादिको स्वाधीन करना, 'दान'–यथाशक्ति ईश्वरके निमित्त द्रव्यत्याग, 'यश'–कीर्ति, 'अयश'–अपकीर्ति–ये भूतोंके भाँति-भाँतिके भाव मुझसे ही सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि नाना विशेष रूपोंका उत्पत्ति-नाश सामान्यरूप सुवर्णके आश्रय ही होता है, परन्तु सुवर्ण अपने स्वरूपसे कदाचित् च्युत नहीं होता, किन्तु सब विशेष रूपोंके उत्पत्ति व नाशमें आप ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इसी प्रकार विशेषरूप भूतोंके नाना भाव मुझ सत्तासामान्यके आश्रय ही उत्पन्न और लीन होते हैं, परन्तु उन विशेषरूपोंके उत्पत्ति-

नाशमें में अपने स्वरूपसे कदाचित् च्युत नहीं होता। किन्तु अपनी सत्तामात्रसे उनके भाव-अभावोंको प्रकाश करता हुआ स्व-स्वरूप में ज्यों-का-त्यों ही रहता हूँ। इसीलिये मैं सब लोकोंका महेश्वर हूँ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

[यहाँतक कि] पूर्वमें होनेवाले (भृग्वादि) सप्त महर्षि और चार मनु, कि अखिल संसार जिनकी प्रजा है, मेरी भावरूप सत्ता तथा मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं।

भावार्थ—यहाँतक कि सृष्टिके उपजानेवाले जो सप्त महर्षि और चार मनु, जिन्होंने सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमरूप सृष्टिकी रचना की है, वे भी मेरी भावरूप सत्ता और मेरे संकल्पसे ही उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कारण-कार्योंका एकमात्र कारण मैं ही हूँ, परन्तु अपना कोई कारण नहीं रखता और मैं उनके भाव-अभावमें ज्यों-का-त्यों ही रहता हूँ।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

[इस प्रकार] जो पुरुष मेरी इस विभूति तथा योगको तत्त्वसे जान लेता है, वह अचल योगद्वारा मेरेमें अभेद पा जाता है, इसमें कोई संशय नहीं।

भावार्थ—जो पुरुष मेरी इस विभूतिको जान लेता है कि 'अखिल संसार मेरा ही चमत्कार है और मुझसे भिन्न यह कुछ भी नहीं, जिस प्रकार तरङ्ग-फेन-बुद्बुदादि जलके ही चमत्कार हैं और जलसे भिन्न वे कुछ भी नहीं।' तथा इस प्रकार जो मेरे योगस्वरूपको तत्त्वसे जान लेता है कि 'सब कुछ मेरे द्वारा ही सिद्ध होता है परन्तु मेरे में कुछ नहीं होता।' वह तत्त्ववेत्ता

पुरुष मुझमें ऐसा अचल योग प्राप्त कर लेता है कि जिसका कदाचित् वियोग नहीं होता। वास्तवमें योग कुछ बनाना नहीं है, वह तो नित्य ही सिद्ध है। अज्ञानजन्य भेद-दृष्टि करके जो वियोगाभास हो रहा है, ज्ञानद्वारा केवल उसकी निवृत्ति हो जाती है, जिससे नित्यसिद्ध योगमें अचल स्थिति होती है। केवल कर्मद्वारा इस योगकी सिद्धि सर्वथा असम्भव है। जिस प्रकार तरङ्ग अपने जलस्वरूपसे नित्ययुक्त हुई भी तरङ्गत्व-अभिमानके कारण वियुक्त रहती है और ज्ञानद्वारा तरङ्गत्व अभिमानको खोकर अपने जलस्वरूपमें नित्य अचल योग प्राप्त कर लेती है।

इस प्रकार भगवान्‌ने अपनी विभूति व योगका वर्णन किया, अब इस योग-प्राप्तिका यथार्थ अधिकारी कौन है? सो निरूपण करते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका मैं ही कारण हूँ और (चुम्बकसे लोहेके समान) सम्पूर्ण जगत् मेरेसे ही चेष्टा करता है, ऐसा समझकर श्रद्धाभावसंयुक्त बुद्धिमान् मुझे ही भजते हैं।

भावार्थ—'स्वस्वरूपसे यह संसार असार व तुच्छ है, केवल साररूप भगवान्‌की सत्तासे ही यह साररूप प्रतीत हो रहा है। इसलिये इस असार संसारमेंसे साररूप परमात्माको अन्वेषण कर लेना, यही हमारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य है'—ऐसा समझकर बुद्धिमान् संसारपरायण न रहकर केवल भगवत्परायण ही रहते हैं और श्रद्धा व भक्तिभावसंयुक्त भगवान्‌को ही भजते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

[ऐसे अधिकारी] जिन्होंने अपना चित्त मुझे ही अर्पण कर दिया है और मुझे ही प्राण निवेदन कर दिये हैं परस्पर मेरा ही बोधन करते हुए और नित्य मेरी ही चर्चा करते हुए मुझमें ही तृप्त रहते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं।

भावार्थ—केवल भगवदर्थ ही अपना जीवन कर देना प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक श्वासमें भगवान्‌का ही चिन्तन बना रहना सांसारिक दृष्टि चित्तसे लुप्त हो जाती और पारमार्थिक जो हानि है वही हानि तथा पारमार्थिक जो लाभ है वही लाभ—इत्यादि रूपसे प्रत्येक हानि-लाभ, सुख-दुःख तथा वृद्धि-क्षतिको परमार्थ-दृष्टिसे ही जाँचना, 'मच्चित व मद्गतप्राण' शब्दका अर्थ है। ऐसे मच्चित पुरुष परस्पर मेरा ही बोधन और नित्य मेरी ही चर्चा करते हुए मुझमें ही तृप्त रहते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं।

अपने ऐसे अनन्य भक्तोंको अपनी प्राप्तिके लिये मैं किस प्रकार सहायता देता हूँ? सो दो श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

मुझमें निरन्तर जुड़े हुए और प्रीतिपूर्वक भजनेवाले उन भक्तों को मैं ऐसा (विचाररूप) बुद्धि-संयोग प्रदान कर देता हूँ जिससे वे मुझको प्राप्त कर जाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

[तथा] उनके ऊपर ही अनुग्रह करनेके लिये मैं उनके हृदय में स्थित हुआ, उनके अज्ञानजन्य मोहान्धकारको प्रकाशमय ज्ञान-रूप दीपकमें नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—(श्लो॰१०-११) अपने-आपको अनन्यरूपसे भगवद्-

परायण कर देना और उपर्युक्त रीतिसे अपने चित्त व प्राणोंको भगवान्‌को निवेदन कर देना, इतनामात्र ही सच्चे अधिकारीका कर्तव्य है। यहाँ पहुँचकर उसके पुरुषार्थकी समाप्ति हो जाती है। इससे आगे भगवान्‌का एकमात्र अनुग्रह ही अधिकारीके लिये ध्रुवतारेके समान पथ-प्रदर्शक होता है और ऐसे अनन्य अधिकारीपर भगवान्‌का अनुग्रह निश्चित तथा अनिवार्य ही है। उसकी शुद्ध सात्त्विकी बुद्धिमें ऐसे पवित्र विचारोंका स्फुरण तथा उसके हृदयमें स्थित होकर ऐसी तत्त्वज्ञानरूप ज्योति प्रकट कर देना जिससे उसका अज्ञानान्धकार तत्काल निवृत्त हो जाय, यही सर्वव्यापी परमकृपालु भगवान्‌का अत्यन्त अनुग्रह है, जो कि उन की अनुकंपा विना अन्य किसी भी साधनद्वारा अलभ्य ही है। जिस प्रकार अपना दृढ बाहुबल और अनुकूल वायु दोनों सामग्री मिलनेपर ही नौकाद्वारा समुद्रको तरा जा सकता है, इसी प्रकार अनन्यरूपसे भगवत्परायणतारूप अपना दृढ पुरुषार्थ और भगवदनुकम्पारूप अनुकूल वायु, दोनों मिलकर ही इस अधिकारी को संसार-समुद्रसे पार करनेमें समर्थ होते हैं। सद्गुरुकृपा और भगवत्कृपा भिन्न नहीं किन्तु एक ही है, केवल शब्दोंका भेद है अर्थभेद नहीं।

भगवान्‌के उपर्युक्त रहस्यमय वचनोंको श्रवणकर अर्जुनको सन्तोष हुआ और वह भगवान्‌के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हुआ विकसित चित्तसे बोला—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

अर्जुन बोला—हे भगवन्! आप परब्रह्म-परमात्मा, परमधाम (अर्थात् सबको अवकाश देनेवाले) और परम पवित्र (अर्थात्

सब शुभाशुभको प्रकाशते हुए सबसे निर्लेप) हैं। आप दिव्य सनातन पुरुष (अर्थात् सब शरीररूपी पुरियोंमें कूटस्थरूपसे निवास करते हुए सब उत्पत्ति-नाशोंसे असंग) हैं। तथा सब देवताओंके आदि कारण, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

[ऐसा] आपको सब ऋषि, देव-ऋषि नारद, असित, देवल और व्यास कथन करते हैं तथा स्वयं आप भी (श्रीमुखसे) मेरे प्रति ऐसा ही कहते हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

[इसलिये] हे केशव! जो कुछ भी आप मेरे प्रति आज्ञा करते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! वस्तुतः आपकी उत्पत्तिको न देवता ही जानते हैं और न दानव ही।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

[किन्तु] हे पुरुषोत्तम! हे भूतोंके उत्पन्न करनेवाले! हे भूतोंके ईश्वर! हे देवोंके-देव! हे जगत्पते! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपनेको जानते हैं।

भावार्थ—अर्थात् किसी वृत्ति-ज्ञानद्वारा आप फलव्याप्तिके विषय नहीं होते, जैसे चाक्षुषादि बाह्य वृत्तियोंद्वारा घटादिका ज्ञान होता है। किन्तु उपाधिरूप सब वृत्तियोंका बाध करके अपने-आपसे ही आप प्रकाशते हैं, जैसे सूर्य अन्धकारका नाश करके अपने प्रकाशसे आप ही प्रकाशता है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

[इसलिये] हे भगवान् ! आप ही अपनी उन दिव्य विभूतियोंको अशेषतासे मेरे प्रति कथन करनेको योग्य हैं, कि जिन विभूतियोंद्वारा आप इन लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगेश्वर ! निरन्तर आपका चिन्तन करता हुआ मैं आपके स्वरूपको कैसे जानूँ ? तथा हे भगवन् ! आप किन-किन (विभूतिरूप) भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करनेयोग्य हैं ?

अर्थात् आपके वास्तव स्वरूपको न जानता हुआ जिन विभूतिरूप भावोंमें आपका चिन्तन करते-करते मैं आपके वास्तव स्वरूप को जान सकूँ, उन भावरूप विभूतियोंको आप मेरे प्रति कथन करें ।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

[अतः] हे जनार्दन ! आप अपने योग एवं विभूतिको विस्तारपूर्वक फिर कथन करें, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है ।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं तेरे प्रति अपनी दिव्य विभूतियाँ प्रधानतासे (अर्थात् मुख्य-मुख्य) कथन करूँगा, क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है ।

उनमें तू पहली विभूतिको ही सुन—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सब भूतोंका आदि, मध्य एवं अन्त भी मैं ही हूँ।

इसी रूपमें मेरा ध्यान करना चाहिये तथा निम्नलिखित रूपोंमें भी मेरा ध्यान किया जा सकता है—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

बारह आदित्योंमें विष्णु नामक आदित्य, ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य, वायुसम्बन्धी देवताओंमें मारीचि और नक्षत्रोंमें मैं चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदोंमें सामवेद, देवोंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन और भूतोंमें मैं चेतना (अर्थात् ज्ञान-शक्ति) हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

एकादश रुद्रोंमें शङ्कर, यक्ष राक्षसोंमें कुबेर, आठ वसुओंमें अग्नि और शिखरवालोंमें मैं सुमरु हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ ! पुरोहितोंमें देवताओंका मुख्य पुरोहित बृहस्पति

मुझको जान, सेनापतियोंमें देवसेनापति स्वामी कार्तिकेय और सरोवरोंमें मैं समुद्र हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षियोंमें भृगु, वाणीसम्बन्धी भेदोंमें एक अक्षर ॐकार, यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थावरोंमें मैं हिमालय हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

सम्पूर्ण वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ नामक गन्धर्व और सिद्धोंमें मैं कपिल मुनि हूँ।

जन्मसे ही अतिशय धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यको प्राप्त हुए जो पुरुष हैं, वे 'सिद्ध' कहे जाते हैं।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

[हे अर्जुन !] घोड़ोंमें अमृतसे उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा, हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा तू मुझको ही जान।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

शस्त्रोंमें वज्र, गौओंमें कामधेनु, प्रजाकी उत्पत्ति करनेवाला कामदेव और सर्पोंमें मैं वासुकि हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागोंमें शेषनाग, जलसम्बन्धी देवोंमें वरुण, पितरोंमें अर्यमा और शासन करनेवालोंमें मैं यमराज हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्योंमें प्रह्लाद, गणना करनेवालोंमें काल, पशुवोंमें सिंह और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवित्र करनेवालोंमें वायु, शस्त्रधारियोंमें राम, मछलियोंमें मगरमच्छ और नदियोंमें मैं गङ्गा हूँ ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ, विद्याओंमें ब्रह्मविद्या और (वाद, जल्प तथा वितण्डारूप) वादोंमें मैं तत्त्वका निर्णय करनेवाला वाद हूँ ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षरोंमें अकार, समासोंमें द्वन्द्व नामक समास और मैं ही अक्षयकाल (अर्थात् कालका भी महाकाल) तथा मैं ही सब ओर मुखवाला विधाता हूँ ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सर्वका नाश करनेवाला मैं मृत्यु, आगे होनेवालोंकी उन्नतिकी प्राप्तिका कारण अर्थात् उद्भव तथा स्त्रियोंमें मैं कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति एवं क्षमा हूँ ।

कीर्ति आदि ये सात देवताओंकी स्त्रियाँ हैं और स्त्रीवाचक नामवाले ये गुण भी प्रसिद्ध हैं, इसलिये उभय प्रकारसे ही भगवान्‌की विभूतियाँ हैं ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री छन्द, महीनोंमें मार्गशीर्ष मास और ऋतुओंमें मैं वसन्त ऋतु हूँ ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छल करनेवालोंमें जूवा, तेजस्वियोंमें तेज, जीतनेवालोंमें विजय, निश्चय करनेवालोंमें निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंमें मैं सत्त्व हूँ ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिवंशियोंमें मैं वासुदेव (जो तुम्हारे सम्मुख चाक्षुष वृत्तिका विषय हूँ), पाण्डवोंमें धनञ्जय (जो यह गीताका श्रोता है), मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें मैं शुक्राचार्य हूँ ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दमन करनेवालोंका मैं दण्ड (अर्थात् दमन करनेकी शक्ति), विजय चाहनेवालोंकी नीति (अर्थात् न्याय), गोप्य भावोंमें मौन, और ज्ञानवानोंमें मैं ज्ञान हूँ ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

[सारांश] हे अर्जुन ! सब भूतोंका जो कुछ भी बीज है वह

में ही हूँ, क्योंकि चर व अचर ऐसा कोई पदार्थ है ही नहीं जो मेरे बिना सिद्ध हो सके। (अर्थात् सत्ताशून्य कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता और वह सबकी सत्ता मैं ही हूँ)।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

[इस प्रकार] हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, यह तो अपनी विभूतियोंका विस्तार मेरे द्वारा संक्षेपसे कथन किया गया है। (क्योंकि सर्वात्मरूप ईश्वरकी विभूतियाँ 'इतनी ही हैं' ऐसा कोई कथन कर नहीं सकता)।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

[हे अर्जुन !] तू ऐसा समझले कि जो-जो भी वस्तु विभूतिमान्, कान्तिमान् तथा शक्तिमान् है वह मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है ? (तू तो इतना ही समझ ले कि) इस सम्पूर्ण जगत्को मैं अपने एक अंशसे धारण करके स्थित हूँ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्याय ॥१०॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप विभूति योग नामक दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

दशम अध्यायका स्पष्टीकरण ।

नवमें अध्यायमें भगवान्‌ने अपने योगस्वरूपका जो कुछ निरूपण किया उसीको फिर कथन करनेके लिये अर्जुनके चित्तको आकर्षण करते हैं और कहते हैं—महाबाहो ! तुझ प्रेमीके हितकी कामनासे जो कुछ मैं कहता हूँ उस मेरे परम वचनको तू फिर भी श्रवण कर । मेरे प्रभावको न देवता जानते हैं और न महर्षिगण, क्योंकि मैं सब प्रकारसे सबका आदि कारण हूँ पर अपना कोई कारण नहीं रखता । ये सब देवता और अखिल संसार मेरी ही विभूति व चमत्कार हैं । जैसे समुद्रका तरङ्ग, फेन, बुदबुदादिके रूपमें तरङ्गायमान होना समुद्रकी विभूति व चमत्कार ही है, जैसे मृत्तिकाका घट-शरावादिके रूपमें विकास व लय मृत्तिकाकी अदाएँ ही हैं तथा जैसे स्पन्द व निस्पन्द वायुका स्फुरण ही है, इसी प्रकार सब देव, महर्षि और अखिल संसार मेरी विभूति व चमत्कार ही हैं । जैसे चन्द्रमाकी चाँदनी चन्द्रसे भिन्न और हीरेकी दमक हीरेसे भिन्न नहीं होती, तैसे ही संसाररूप मेरा चमत्कार मुझसे भिन्न नहीं है । इस प्रकार जो पुरुष मुझ सब लोकोंके ईश्वरको ज्यों-का-त्यों अजन्मा एवं अनादि जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् मेरे स्वरूप में स्थित हुआ सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । इस प्रकार भगवान्‌ने बुद्धि, ज्ञान, क्षमा, सत्य, दम, शम, भय-अभय, सुख-दुःख, भाव-अभाव, यश-अयश, अहिंसा और समता आदि नाना भावों तथा सप्तमहर्षि एवं चार मनुओंको, जिनसे यह आधिभौतिक सृष्टि उत्पन्न हुई है, अपना ही चमत्कार वर्णन किया । और कहा कि जो मेरी इस विभूति तथा योगको उपर्युक्त रीतिसे तत्त्वसे जान लेता है, वह मुझमें अचल व अटल योग प्राप्त कर लेता है (१-७) । फिर उन अधिकारियोंके अनन्यभावका वर्णन किया, जो इस प्रकार भगवान्‌को जाननेके योग्य हैं और ऐसे अधिकारियोंको जिस प्रकार भगवान् अपनी प्राप्तिके लिये बुद्धि-संयोग प्रदान कर देते हैं तथा उनके हृदय में स्थित होकर अज्ञानान्धकारनाशक ज्ञानदीप प्रज्वलित कर देते हैं, उस

अपनी अनुकम्पाका भी वर्णन किया। (८-११)।

इसपर अर्जुनके चित्तको शान्तिका आस्वादन मिला, उसका हृदय आनन्दसे प्रफुल्लित हो आया. उसने नतमस्तक हो भगवान्‌के वचनोंका आदर किया और छातीपर हाथ रखकर उन्हें स्वीकार करते हुए कहा—"भगवन्! निस्सन्देह आप परब्रह्म, परमधाम, परम पवित्र, शाश्वत पुरुष, अजन्मा, आदिदेव और सर्वव्यापी हैं। नारदादि सभी ऋषि व मुनि आपका ऐसा ही बखान करते हैं और स्वयं आप भी मुझे ऐसा ही कथन कर रहे हैं। इसलिये जो कुछ आप मुझसे कथन करते हैं, वह मैं अक्षरशः सत्य मानता हूँ। देव! वास्तवमें आपके स्वरूपको न देवता ही जानते हैं और न दानव, किन्तु पुरुषोत्तम! स्वयं आप ही अपनेसे अपनेको जानते हैं। इसलिये देव! आप ही अशेषतासे अपनी उन दिव्य विभूतियोंको मुझे बतलानेमें समर्थ हैं, कि जिन विभूतियोंद्वारा आप इन लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं। योगस्वरूप! आपके वास्तव स्वरूपको न जानता हुआ, निरन्तर आपका चिन्तन करते-करते मैं आपको कैसे जानूँ? भगवन्! मेरे द्वारा आप किन-किन भावोंमें चिन्तन करनेयोग्य हैं? इसलिये जनार्दन! आप अपने योग एवं विभूतिको फिर भी विस्तारसे कथन करें, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती है" (१२-१८)।

अर्जुनके उपर्युक्त वचनोंसे भगवान्‌को इसी प्रकार सन्तोष हुआ, जिस प्रकार माली उत्तम क्षेत्रमें उत्तम बीज बोकर उत्तम फलकी आशासे सन्तुष्ट होता है। फिर उन्होंने उमगमें भरकर अर्जुनके प्रति कहा—"हाँ, कुरुश्रेष्ठ! मैं तेरे प्रति अपनी दिव्य विभूतियोंको प्रधानतासे कथन करूँगा, अशेषतासे तो मेरी विभूतियोंका कथन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, क्योंकि मुझ अनन्तकी विभूतिरूप चमत्कारोंका अन्त कैसे पाया जाय और मेरे विस्तारका अन्त कैसे हो? ? भगवान्‌के उपर्युक्त वचनोंका भावार्थ तो यह था कि 'मन बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमानादि-प्रमाणोंसे जो कुछ जाने जाते हैं वे सभी मेरे चमत्कार और विभूति हैं तथा मुझसे भिन्न इस

दृश्यकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। जैसे सुवर्णसे भिन्न भूषण कोई वस्तु नहीं होता तथा सुवर्णमें भूषणका कोई लेप भी नहीं होता, भूषण सुवर्णका चमत्कारमात्र ही होता है। जैसे समुद्र अपनी तरङ्गोंसे भीग नहीं जाता, इसी प्रकार यह सारा प्रपञ्च मेरे आश्रय खड़ा हुआ भी मेरे स्वरूपमें अपना कोई लेप नहीं करता और इस प्रपञ्चके भावाभावमें मैं अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों हूँ। जैसे नट नाना प्रकारके स्वाँगोंमें प्रकट होता हुआ भी अपने स्वरूपमें उन स्वाँगोंका कोई लेप नहीं देखता, इसी प्रकार इस प्रपञ्चके रूपमें दृष्टिगोचर होता हुआ भी मैं अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों हूँ।' परन्तु भगवान्‌के इस आशयको यथार्थरूपसे धारण न कर सकनेके कारण अर्जुनने उनसे उनके उन दिव्य भावोंको पूछा, कि जिनके आश्रय वह अपने मनको स्थिर करके उनका निरन्तर चिन्तन करता हुआ उनके सर्वरूपको जान सके। इसपर भगवान्‌ने भी उसके चित्तके अधिकारानुसार उसके प्रश्नको उचित जान उसके चित्तको उठानेके लिये अपनी उन मुख्य विभूतियोंका वर्णन किया, कि जिनमें वह भगवान्‌का रूप देखता हुआ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सर्वरूपोंमें ही उनका रूप देख सके। जैसे शालिग्रामकी विष्णुरूपसे पूजा शास्त्रमें विधिरूपसे वर्णन की गई है, वहाँ शास्त्रका यही आशय है कि जब नन्हे-से शालिग्राममें ही सत्तारूपसे व्यापक विष्णुके दर्शन किये गये, तब तो पृथ्वी, पर्वत, नदियाँ तथा उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज व जरायुज सभी जड़-चेतनरूप खानि अवश्य ही विष्णुरूप होने चाहियें; न यह कि केवल एक छोटा-सा पाषाणका टुकड़ा ही विष्णु है। इसी प्रकार भगवान्‌ने सभी जातियोंमें संक्षेपरूपसे अपनी सत्ता-स्फूर्तिका निर्देश किया, जिससे वह उन मुख्य-मुख्य विभूतियोंमें भगवान्‌ की सत्ता-स्फूर्तिका दर्शन करता हुआ अखिल ब्रह्माण्डमें और अपनेमें उनके स्वरूपको जान ले।

इस प्रकार श्लोक २० से ३८ तक भिन्न-भिन्न रूपोंमें अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन करते हुए बतलाया—गुडाकेश ! देखो, प्रथम तो सर्वभूतोंके हृदय-देशमें आत्मरूपसे मैं ही स्थित हूँ और सबकी सब सुख-

दु खादि वृत्तियोंको अपने प्रकाशसे प्रकाशता हू, जहाँ न तो सूर्यका प्रकाश है न विद्युत्का, किन्तु वहाँ मैं ही अपने साक्षी-प्रकाशसे सब ज्ञानोंको प्रकाश रहा हूं, मेरा सबसे निकटका पता तो यही है। और देखो, स्थूल दृष्टिसे सबके दृष्टिगोचर ज्योतियोंमें सूर्यरूपसे मैं ही चमक रहा हूँ। नक्षत्रोंमें चन्द्रमारूपसे मैं ही सब हृदयोंको शीतल कर रहा हूँ। सब इन्द्रियोंमें मनरूपसे मैं ही सब शरीरोंको मथन कर रहा हूँ। सब भूतोंमें चहल-पहलरूप जो चेतना देखनेमें आती है, वह मेरा ही चमत्कार है। अग्नि-रूपमें सारे संसारका व्यवहार मेरे द्वारा ही हो रहा है। शिखरोंमें सुमेरु-रूपसे मैं ही जड़ताकी चादर ताने हुए गहरी निद्रामें टाँगें पसार शयन कर रहा हूं। जलाशयोंमें समुद्ररूपसे मैं ही आनन्दसे डाँडें मार-मारकर हँस रहा हूँ। महर्षियोंमें त्यागमूर्ति भृगुको मेरा ही चमत्कार जानो, जिसने लक्ष्मीपतिकी छातीमें सर्वत्यागकी लात मार दी थी। वाणीमें एक अक्षर ॐकार अर्थात् अकार, उकार व मकार मैं ही हूँ। बच्चा पैदा होते ही रोने लगता है तब अ अ अ, या उ उ. उ, अथवा म. म. म करके रोता है, इस प्रकार सब वाणी क्या शब्दात्मक और क्या ध्वन्यात्मक सबकी मूल ॐ है और वह मैं ही हूँ। यज्ञोंमें सबके द्वारा सुखसाध्य जपयज्ञ मैं ही हूँ। स्थावरोंमें हिमालयरूपसे श्वेत चिट्टी चादर ओढ़े हुए मैं ही सबको शीतल कर रहा हूं। वृक्षोंमें सत्त्वगुणसे भरपूर पीपल और देवर्षियोंमें नित्य आनन्दकी तान बजानेवाला नारद मैं ही हूँ। गन्धर्वोंमें सबको मुग्ध करनेवाला चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मैं ही हू। घोड़ोंमें उच्चैश्रवा और गजोंमें ऐरावतरूपसे मैं ही अपनी सर्वव्यापकताकी हिन्हिनाहट तथा चिंहाड़से सबको सावधान करता हूं कि देखो ! मैं सर्वत्र हाजिर-हुजूर हूँ। नरोंमें नरेशरूपसे मैं दुष्टोंका दमन करता हूं, शस्त्रोंमें वज्ररूपसे अपनी अच्छेद्यताका पता देता हूँ और कामधेनुरूपसे सबको सफल-मनोरथ करता हूँ। सर्पोंमें वासुकी और नागोंमें अनन्त (शेष) रूपसे मैं ही अपनी शक्ति व तेजकी फूत्कार मार रहा हूँ और सर्वत्र अपनी सत्ताका ढिंढोरा

पीट रहा हूँ। पितरोंमें अर्यमा और शासन करनेवालोंमें यमराजरूपसे मैं ही संसारकी रक्षा व दमन कर रहा हूँ। दैत्योंमें प्रह्लादरूपसे मैं ही अपने सत्य प्रेमकी झलक दिखा जाता हूँ और गिनती करनेवालोंमें क्षण-क्षण करके सबकी उत्पत्ति-संहार कर्ता अगणित काल मैं ही हूँ। मृगोंमें सिंह-रूपसे मैं ही अपनी अतुल शक्तिका परिचय दे रहा हूँ और पक्षियोंमें गरुड़रूपसे सबकी आँखोंमें अपनी सुन्दरताकी चोट मार जाता हूँ। पवित्र करनेवालोंमें पवन और शस्त्रधारियोंमें धनुषधारी रामरूपसे मैं ही अपनी मर्यादाका पता देता हूँ। नदियोंमें गंगारूपसे मैं ही ॐ की गम्भीर गर्जना करता हुआ दौड़ रहा हूँ। इस प्रकार सृष्टिका आदि, मध्य व अन्त मैं ही हूँ। विद्याओंमें करामलकवत् मेरे स्वरूपका प्रत्यक्ष करानेवाली वेदान्त-विद्या मैं ही हूँ। अक्षरोंमें आदि अक्षर अकार, समासोंमें द्वन्द्व-समास और अक्षय काल मैं ही हूँ। विराट्‌रूपसे सबको धारण-पोषण करनेवाला और मृत्यु-रूपसे सबको गड़‌प्प कर जानेवाला भी मैं ही हूँ। स्त्रियोंमें श्री आदि, गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री-छन्द, महीनोंमें मार्गशीर्ष-मास और ऋतुओंमें बसन्त-ऋतु मैं ही हूँ। तथा वृष्णि-वंशियोंमें मैं वासुदेव, पाण्डवोंमें तुम धनञ्जय, मुनियोंमें व्यास और कवियोंमें उशना कवि मैं ही हूँ। दमन करनेवालोंमें दण्ड, जयकी इच्छावालोंमें नीति, गोप्योंमें मौन और ज्ञानवानोंमें ज्ञानरूपसे मेरा ही चमत्कार है। इत्यादि रूपसे अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियोंका वर्णन किया और अन्तमें कहा कि अस्ति अथवा नास्तिरूपसे जो कुछ भी बोधन होता है, उन सब भूतोंका बीज मैं ही हूँ। सारांश, चराचरमें ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जो मेरे बिना रहती हो, क्योंकि सत्ताशून्य कोई भी वस्तु नहीं हो सकती और वह सबकी सत्ता मैं ही हूँ।

आशय यह कि अर्जुन ! तुम ऐसा न समझ बैठना कि मैं अपनी इन विभूतियोंके रूपमें परिणामी होकर आता हूँ। नहीं, नहीं, कदापि नहीं !! मैं तो अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही हूँ और सब विकारोंसे रहित निर्विकार

ही हूँ। ये मेरी सब विभूतियाँ तो मुझ सत्ता-सामान्यके दर्शन कराने और मेरी झाँकी करानेके लिये केवल दर्पणस्थानीय ही हैं, जिनमें मैं एक ही बिहारीजी उतरकर भाँति-भाँतिसे अपना दर्शन देता हूँ और अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही रहता हूँ। जिस प्रकार उपाधिरूप दर्पणके धर्म प्रतिबिंबको ही स्पर्श करते हैं बिंबको नहीं। छोटे दर्पणमें प्रतिबिंब छोटा, बड़े दर्पणमें बड़ा भान होता है, परन्तु बिंब तो अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही रहता है। अथवा जैसे एक ही व्यापक महाकाश नाना घट, मठ तथा कूपादिकी उपाधियोंमें आया हुआ अपनी-अपनी उपाधिके अनुरूप रूपवान् भान होता है, परन्तु वस्तुतः अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों है। इसी प्रकार मैं जड़ उपाधिमें जड़रूप, चेतन उपाधिमें चेतनरूप, चरमें चररूप और अचरमें अचररूप अपनी-अपनी उपाधिके अनुरूप रूपवान् भान होता हुआ भी जड़-चेतन तथा चर-अचरसे रहित अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही हूँ। इस प्रकार परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियोंका कोई अन्त नहीं है, यह तो मैंने तेरे प्रति अपनी विभूतियोंका विस्तार संक्षेपसे लक्ष्यमात्र कथन किया है। जिस प्रकार स्वामी शीश-महलमें प्रवेश करके नाना दर्पणोंमें एक अपने ही मुखको देख-देखकर मग्न होता है, उसी प्रकार ब्रह्मासे आदि लेकर तृणपर्यन्त यह विभूतिरूप अखिल ब्रह्माण्ड मेरा शीश-महल ही है, जिसमें मैं सुन्दरों-का-सुन्दर और यौवनवालों-का यौवन अपने परमानन्दमें मचलता हुआ अपने इन नाना विभूतिरूप दर्पणोंमें अपना ही मुँह देख-देखकर अपने-आपमें नहीं समाता। इस प्रकार अर्जुन! जो कुछ भी विभूति, सत्ता, ऐश्वर्य, कान्ति एवं शक्तियुक्त भान होता है, वह सब तू मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुआ जान। अथवा बहुत जाननेसे क्या? तू इतना ही निश्चय धार ले कि मैं ही अपने एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रहा हूँ, सम्पूर्ण जगत् मेरा ही चमत्कार है और वह मैं ही हूँ।

इस प्रकार भगवान्‌ने अपनी विभूति व योगकी महिमा कथन करते हुए इस अध्यायकी समाप्ति की ॥ ॐ ॥

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

दशम अध्यायमें भगवान्‌के विभूति-योगको श्रवणकर अर्जुन का चित्त प्रफुल्लित हुआ और उसने भगवान्‌के प्रति प्रार्थना की—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे भगवन् ! मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन आपके द्वारा कथन किये गये, उनसे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है ।

अर्थात् आत्मस्वरूपबोधक जो उपदेश आपने कथन किया, उससे मेरा यह अज्ञान कि 'मैं कुछ कर्ता हूँ' नष्ट हो गया है और मैंने जाना कि वस्तुतः सर्वकर्ता तो आप ही हैं ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

हे कमलपत्राक्ष ! आपसे ही भूतोंकी उत्पत्ति व प्रलय है, ऐसा मैंने विस्तारपूर्वक श्रवण किया और आपके अविनाशी माहात्म्यको भी श्रवण किया है ।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! आप अपनेको जैसा कहते हैं यह ठीक ऐसा ही है, (फिर भी) हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके रूप एवं ऐश्वर्यको (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है, यदि आप ऐसा मानते हों तो हे योगेश्वर ! आप अपने अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये ।

अर्जुनके इस प्रकार प्रेरणा करनेपर

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकारके नाना (नील-पीतादि) वर्ण तथा आकृतिवाले दिव्य रूपोंको देख ।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! मेरेमें (द्वादश) आदित्यों, (आठ) वसुओं,(एकादश) रुद्रों, दोनो अश्विनीकुमारों तथा (उञ्चास) मरुद्गणोंको देख। तथा और भी पहले न देखे हुए बहुत-से आश्चर्यमय रूपोंको देख।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे गुडाकेश ! अब यहाँ मेरे शरीरमें एक जगह ही स्थित हुए सम्पूर्ण चराचररूप जगत्को देख । तथा और भी जो कुछ तू देखना चाहता है सो देख ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

[परन्तु] मेरेको अपने इन (प्राकृत) नेत्रोंद्वारा ही देखनेको तू समर्थ नहीं है, इसलिये मैं तेरे प्रति दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ, इससे तू मेरे योग व ऐश्वर्यको देख ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

सञ्जय धृतराष्ट्रके प्रति बोला—हे राजन् ! महायोगेश्वर हरिने ऐसा कहकर तदनन्तर अर्जुनके प्रति अपने परम रूप एवं ऐश्वर्य को दिखलाया।

वह कैसा रूप है ?—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

जो अनेक मुख व नेत्रोंसे युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाला, अनेक दिव्य भूषणोंसे युक्त और अनेक दिव्य शस्त्रोंको (हाथोंमें) उठाये हुए है।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

[तथा] जो दिव्य माला एवं वस्त्रोंको धारण किये हुए है और दिव्य गन्धोंके लेपनसे युक्त है, ऐसे सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त विश्वाकारको प्राप्त हुए अनन्तदेवको अर्जुनने देखा।

उस रूपका तेज कैसा है ?—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

यदि आकाशमें हज़ार सूर्य एकसाथ उदय हों तो भी वह प्रकाश उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

उस कालमें अर्जुन देवोंके-देव भगवान्‌के शरीरमें वहाँ एक जगह ही स्थित तथा अनेक प्रकारसे विभक्त सम्पूर्ण जगत्‌को देखता हुआ।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

उसके उपरान्त वह आश्चर्ययुक्त तथा हर्षित रोमोंवाला अर्जुन उस विश्वरूप परमात्माको शिरसे प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़े हुए बोला—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोला—हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओं, (स्थावर-जङ्गमरूप) भूतोंके विशेष समूहों, कमलासनपर स्थित प्रजापर शासन करते हुए चतुर्मुख ब्रह्मा तथा सम्पूर्ण ऋषियों, और दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

हे विश्वके स्वामी! हे विश्वरूप! अनेकों भुजा, उदर, मुख और नेत्रोंसंयुक्त मैं सब ओरसे आपके अनन्त रूपको देख रहा हूँ, जिस रूपका न अन्त है, न मध्य और न आदि ही है ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥

[तथा हे देव!] मैं आपके मुकुट, गदा और चक्रयुक्त सब ओरसे दीप्तिमान् तेजपुञ्ज स्वरूपको देख रहा हूँ, जो सब ओरसे

प्रज्वलित अग्नि व सूर्यके समान प्रकाशयुक्त है तथा देखनेमें अति गहन और चाक्षुषादि प्रमाणोंका अविषय है ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

[इसलिये आपकी योग-शक्तिको देखकर] मेरा ऐसा मत है कि आप (मुमुक्षुओंद्वारा) जाननेयोग्य परम अक्षर (अर्थात् परब्रह्म), इस संसारके परम आश्रय, अविनाशी, सनातन धर्मके रक्षक और सनातन पुरुष हैं ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

[हे परमेश्वर !] मैं आपको आदि, मध्य व अन्तसे रहित, अनन्त पराक्रम, अनन्त भुजा तथा सूर्य-चन्द्ररूप नेत्रोंसंयुक्त देख रहा हूँ, जो आप प्रज्वलित अग्निसदृश मुखवाले हैं और अपने तेजसे इस विश्वको तपा रहे हैं ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग एवं पृथिवीके बीचका संपूर्ण आकाश और सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हो रही हैं, ऐसे आपके इस अद्भुत और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं ॥२०॥

अर्जुनके मनमें पहले ऐसा संशय था कि 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' अर्थात् 'हम उनको जीतेंगे, या वे हमको जीतेंगे'। इस संशयका निर्णय कराते हुए और पाण्डवोंकी निश्चित विजय दर्शाते हुए भगवान् अपना वैसा ही रूप दिखलाने लगे। उस रूपको देखते हुए अर्जुन बोला—

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥

[हे भगवन् !] ये देवताओंके समूह आपमें ही प्रवेश कर
१ रहे हैं और कई भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम व
गुणोंका उच्चारण कर रहे हैं तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय
'कल्याण हो' ऐसा कहकर अनेकों स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति कर
रहे हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥

[तथा और भी] जो रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव,
दोनों अश्वनीकुमार, मरुत् और पितृगण हैं तथा जो गन्धर्व, यक्ष,
राक्षस एवं सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सभी विस्मित हुए आपको
देख रहे हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

[क्योंकि] हे महाबाहो ! आपके बहुत-से मुख एवं नेत्रोंवाले,
बहुत-से भुजा, जंघा और पैरोंवाले तथा बहुत-से उदर और
विकराल जाड़ोंवाले महान् रूपको देखकर मैं और सभी लोक
व्याकुल हो रहे हैं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥

[इस प्रकार] हे विष्णो ! आकाशको छुए हुए, देदीप्यमान
अनेकों वर्णोंसे युक्त फैलाये हुए मुखों और प्रकाशमान् विशाल

नेत्रोंसंयुक्त आपके रूपको देखकर मैं भयभीत अन्तःकरणवाला धैर्य एवं शान्तिको प्राप्त नहीं होता हूँ ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

[क्योंकि हे विराट्स्वरूप !] आपके विकराल जाड़ों और प्रलय कालकी अग्निके समान मुखोंको देखकर ही मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ (अर्थात् मुझे दिग्भ्रम हो गया है) और मैं विश्राम को प्राप्त नहीं होता हूँ, इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों ॥ २५ ॥

जिन शूरवीरोंके कारण पहले मुझे पराजयकी आशंका थी, अब वह भी चली गई, क्योंकि मैं देखता हूँ कि—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥

पृथ्वीके पालन करनेवाले राजाओंके दलोंसहित ये सब ही धृतराष्ट्रके पुत्र और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, वह कर्ण तथा हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंसहित सब-के-सब आपके विकराल जाड़ोंवाले भयङ्कर मुखोंमें शीघ्रतासे प्रवेश कर रहे हैं । और कई चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें चिपके हुए दिखलाई पड़ रहे हैं ॥ २६-२७ ॥

वे आपके मुखोंमें किस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं ?—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

जिस प्रकार नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं, इसी प्रकार ये मनुष्य-लोकके शूरवीर भी आपके प्रज्ज्वलित हुए मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

[अथवा] जैसे प्रज्ज्वलित अग्निमें अपने नाशके लिये पतंगे तीव्र वेगसे प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें तीव्र वेगसे प्रवेश कर रहे हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥

[और] आप उन सम्पूर्ण लोकोंको सब ओरसे अपने प्रज्ज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए चाट रहे हैं। हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्को अपने तेजसे परिपूर्ण करके तपायमान कर रहा है ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

[इसलिये] आप मुझे बतलाइये कि उग्ररूप आप कौन हैं? हे देवश्रेष्ठ! आपके लिये नमस्कार हो, आप प्रसन्न हो। मैं आपको आदिको भली-भाँति जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता हूँ ॥ ३१ ॥

अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका क्षय करनेवाला बढ़ा-चढ़ा काल हूँ और लोकोंका संहार करनेके लिये यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये तेरे बिना भी (अर्थात् तू युद्ध न करेगा तो भी) दोनों सेनाओंमें जो योद्धा खड़े हुए हैं वे सब कोई भी न रहेंगे। अथवा तुझको छोड़कर दोनों सेनाओंमें जो योद्धा खड़े हुए हैं, वे कोई भी न बचेंगे ॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥

इसलिये तू उठ खड़ा हो, (मुफ़्तमें ही) यशको प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर समृद्धि-सम्पन्न राज्यको भोग, क्योंकि ये सब (शूरवीर) मेरे (कालस्वरूपके) द्वारा पहले ही मारे पड़े हैं, इस लिये हे सव्यसाची ! तू तो केवल निमित्तमात्र बन। (बाएँ हाथसे तीर चलानेका अभ्यासी होनेसे अर्जुनका नाम 'सव्यसाची' हुआ था) ॥३३॥

जिन मुख्य-मुख्य योद्धाओंसे अर्जुनको पराजयका भय था, अब उनका स्पष्ट नाम ले-लेकर भगवान् अर्जुनको निर्भयता प्रदान करते हैं—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा दूसरे भी शूरवीरोंको, जो मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं उनको तू मार, भय मत कर और युद्ध कर, तू वैरियोंको रणमें जीतेगा ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

सञ्जय धृतराष्ट्रके प्रति कहता है, हे राजन् ! भगवान् केशवके इन वचनोंको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन दोनों हाथ जोड़े हुए, काँपता हुआ, नमस्कार करके और भयभीत हुआ प्रणाम करके फिर भगवान् कृष्णके प्रति गद्गद् वाणीसे यह बोला ॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥

अर्जुन बोला—हे हृषीकेश ! यह योग्य ही है कि जो आपके नाम व प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित होता है और अनुराग को प्राप्त होता है, राक्षस भयभीत हुए दिशाओंमें भागते हैं और सिद्धोंके सब समुदाय आपको नमस्कार करते हैं ॥३६॥

भगवान् हर्षादि भावोंके योग्य स्थान कैसे हैं ? इसमें कारण बतलाया जाता है—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥

हे महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदि कर्ता और सबके पूज्य आपके लिये वे नमस्कार कैसे न करें ? क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! अस्ति-नास्तिरूपसे जो कुछ व्यवहार किया जाता है वह आप ही हैं तथा सत्-असत्से परे जो अक्षर ब्रह्म है, वह भी आप ही हैं ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

[हे प्रभो !] आप आदिदेव तथा सनातन पुरुष हैं, आप ही इस संसारके परम आश्रय हैं, आप ही ज्ञाता और आप ही ज्ञेय

हैं, तथा आप ही परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे ही यह जगत् परिपूर्ण हो रहा है॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा एवं ब्रह्मा हैं और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये नमस्कार हो, नमस्कार हो, हजारों बार नमस्कार हो और फिर भी बारम्बार नमस्कार हो॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः॥

[हे अनन्त!] आपके लिये आगेसे तथा पीछेसे नमस्कार हो। हे सर्वरूप! आपको सर्व ओरसे ही नमस्कार हो, आप अनन्त सामर्थ्य एवं अमित पराक्रमी हैं। आप अपने एक स्वरूपसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिये सर्वरूप आप ही हैं॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

आपकी इस महिमाको न जानते हुए और आपको एक सखा मानकर, मेरे द्वारा प्रमादसे या स्नेहसे हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा! ऐसा अपमानपूर्वक वचन कहा गया, अथवा हँसीके तौरपर विहार, शय्या, आसन तथा भोजन-समयमें अकेले या दूसरोंके सम्मुख आपका जो असत्कार किया गया, हे अच्युत! मैं उनकी आप अप्रमेयस्वरूपसे क्षमा कराता हूँ॥४१-४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

[क्योंकि] आप इस चराचर जगत्के पिता हैं और गुरुसे भी बड़े गुरु एवं पूजनीय हैं। हे अतुल प्रभावशाली! तीनों लोकमें आपके समान कोई भी नहीं है, फिर अधिक तो कोई कैसे हो? ॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

इसलिये मैं शरीरको नम्रतापूर्वक आपके चरणोंमें रखकर और प्रणाम करके आप स्तुति करनेयोग्य ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे अपनी प्रियाके अपराधोंको सहन करता है, वैसे ही आप भी मेरे अपराधोंको सहन करनेके लिये योग्य हैं ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

हे देव! पहले न देखे हुए आपके इस रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और भयसे मेरा मन व्याकुल भी हो रहा है। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! मुझे अपने उसी रूपका दर्शन कराइये और प्रसन्न होइये ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥

हे सहस्रबाहो! मैं आपको वैसे ही मुकुट धारण किये हुए तथा गदा व चक्र हाथमें लिये हुए उसी चतुर्भुज रूपसे देखना

चाहता हूँ। इसलिये हे विश्वमूर्ते! आप वही रूप धारण करें ॥४६॥

अर्जुन द्वारा ऐसी प्रार्थना करनेपर

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! मेरी प्रसन्नतासे यह परम तेजोमय, अनन्त, आदि विश्वरूप अपनी योगशक्तिसे तेरे प्रति दिखलाया गया है, जिस मेरे रूपको तेरे सिवा पहले अन्य किसीने नहीं देख पाया है ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥

हे कुरुप्रवीर ! मैं मनुष्यलोकमें इस रूपसे तेरे सिवा अन्य किसीके द्वारा न वेदाध्ययनोंसे, न यज्ञोंसे, न दानोंसे, न कर्मरूप क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही देखे जानेको शक्य हूँ ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥

मेरे इस ऐसे विकराल रूपको देखकर तेरेको व्याकुलता और मूढ भाव न हो, इसलिये तू निर्भय और प्रसन्नचित्त हुआ फिर मेरे उसी इस चतुर्भुजी रूपको देख ॥४९॥

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

सञ्जय बोला हे राजन् ! वासुदेव भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति ऐसा कहकर फिर अपने चतुर्भुजी रूपका दर्शन कराया और

महात्मा श्रीकृष्णने सौम्य मूर्ति धारकर इस भयभीत हुए अर्जुनको धीरज दिलाया ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोला—हे जनार्दन आपके इस सौम्य मानुषी रूपको देखकर अब मैं शान्तचित्त हुआ अपने स्वभावको प्राप्त हो गया हूँ।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

इसपर श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! मेरा यह विराटरूप जिसको तुमने देखा है, अति दुर्लभ है देवता भी इस रूपके दर्शनकी नित्य आकांक्षा करते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

तुमने जिस रूपमें मेरा दर्शन किया है वैसा मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।

फिर आप किस प्रकार देखे जा सकते हैं ?—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

हे परंतप अर्जुन ! मैं केवल अनन्य भक्तिद्वारा ही इस प्रकार प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ और अपने स्वरूपमें प्रवेश पाया जा सकता हूँ।

उस अनन्य भक्तिका स्वरूप क्या है ?—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे पाण्डव ! जिसकी सब चेष्टाएँ मेरे ही लिये हैं, जो मेरे ही परायण है, जो सब संगोंसे छूटा हुआ है और सब भूतोंमें वैर-भावसे मुक्त है, ऐसा जो मेरा भक्त है, वही मुझे प्राप्त होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक एकादश अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

एकादश अध्यायका स्पष्टीकरण

दशम अध्यायमें भगवान्‌की विभूति व योगको श्रवण करके अर्जुनके चित्तको आश्वासन मिला । इस अध्यायके आरम्भमें उसने भगवान्‌के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और कहा—मेरे ऊपर अनुग्रह करके जो परम गुह्य वचन आपके द्वारा कहे गये, उनसे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने जाना है कि निस्सन्देह सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति व प्रलय आप ही हैं। तथा उसने भगवान्‌से पुनः प्रार्थना की, कि मुझे आपके उस ऐश्वर्य व रूपके प्रत्यक्ष देखनेकी अभिलाषा है, यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य हो तो मेरे प्रति अपने उस अव्यय स्वरूपका दर्शन करानेकी कृपा कीजिये (१-४) ।

अर्जुनकी इस प्रार्थनापर भगवान्‌ने अपने विराट कालस्वरूपका उसको दर्शन कराया, जिससे अहन्ता-ममताके सम्बन्धोंसे जो उसके हृदयमें दृढ हो रहे हैं साक्षात् वैराग्य हो, सब संसारको प्रत्यक्ष रूपसे क्षणभङ्गुर व कालका ग्रास जानकर वह उससे उदासीन हो और उसके कर्तापनका नश। कि

इन सब योद्धाओंको मैं ही मारनेवाला हूँ, उतर जाय। तथा उसको यह स्पष्ट भान हो जाय कि वास्तवमें इन सब व्यापारोंमें रञ्चकमात्र भी मेरा कोई कर्तृत्व नहीं है, केवल वह काल भगवान् ही सबके हृदयोंमें बैठकर सबको नचा रहे हैं और उन्होंने ही यह संसाररूपी चौपड़की बाज़ी पसारी है जिसमें ८४ (अर्थात् ८४ लाख योनियाँ) खाने हैं। उन्हीं करके प्रेरी हुई ये जीवरूपी गोटें उनके मुखमें तीव्र वेगसे इसी प्रकार प्रवेश कर रही हैं, जैसे नदियाँ तीव्र वेगसे समुद्रमें प्रविष्ट होनेके लिये दौड़ती हैं। इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूपसे संसारसे दृढ वैराग्यवान् होकर और कर्तृत्वाभिमानसे छूटकर भगवान्के वास्तव स्वरूपमें योग पा जाय। इसी उद्देश्यसे अर्जुनकी प्रार्थनाको स्वीकार करके भगवान्ने कहा—"हाँ, पार्थ! तुम मेरे सैंकड़ों-हज़ारों नाना प्रकारके दिव्य वर्ण एवं आकृतिवाले रूपोंको देखो। आदित्य, वसु, रुद्रादि और बहुत-से पूर्वअदृष्ट आश्चर्योंको देखो तथा मेरे इस शरीरमें ही एकत्रित सम्पूर्ण चराचर जगत्को देखो। परन्तु इन चर्म-चक्षुओंसे ही तुम मुझे नहीं देख सकते, इसलिये मैं तुमको दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ"। (५-८)।

ऐसा कहकर महायोगेश्वर भगवान्ने अर्जुनके प्रति अपना दिव्य रूप व ऐश्वर्य दिखलाया और उस रूपकी महिमा सञ्जयने धृतराष्ट्रके प्रति वर्णन की (९-१३)। तदनन्तर भगवान्के उस दिव्य रूपके दर्शनसे विस्मययुक्त होकर अर्जुनने दोनों हाथ जोड़े हुए भगवान्को शिरसे प्रणाम किया और कहा—"देव! मैं आपके शरीरमें देवता, ब्रह्मा, महादेव, ऋषि, नाग एवं सम्पूर्ण भूतसमुदायको देख रहा हूँ, जिन आपके अनेक भुजा, उदर, मुख व नेत्र हैं और जिनका न आदि है, न मध्य और न अन्त। मैं आपके ऐसे अनन्त रूपको देख रहा हूँ।" इस प्रकार जैसा-जैसा भगवान्का अद्भुत रूप अर्जुनने प्रत्यक्ष-प्रमाणसे देखा था, वैसा-वैसा उसने भगवान्के प्रति वर्णन किया। इसके उपरान्त जिन योद्धाओंसे अर्जुनको पराजयका भय था, उनसे उसको निर्भयता प्रदान करनेके लिये भगवान् उसे उन योद्धाओंका प्रत्यक्ष

मरण दर्शाने लगे और उस दृश्यको देखकर वह कहने लगा—"भगवन् ! मैं देखता हूँ कि राजाओंके समुदायोंसहित ये धृतराष्ट्रके पुत्र तथा भीष्म, द्रोण, करण और हमारी सेनाके भी मुख्य-मुख्य योद्धा आपके भयानक जाड़ोंवाले मुखोंमें इसी प्रकार तीव्र वेगसे प्रवेश कर रहे हैं, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्निमें पतंगें अपने नाशके लिये प्रवेश करते हैं। कई योद्धा भग्न-शिर आपके दाँतोंमें चिपके दिखलाई पड़ रहे हैं और आप सब लोकोंको चारों ओरसे ग्रास करते हुए एवं चाटते हुए दिखलाई पड़ रहे हैं। इसलिये आप मुझे बतलाइये कि इस उग्र रूपमें आप कौन हैं? मैं आपके स्वरूपको जानना चाहता हूँ। मैं नहीं समझता कि आपकी यह प्रवृत्ति किस निमित्त से है" (१४-३१)?

इसपर भगवान्‌ने उत्तर दिया—"मैं लोकोंका क्षय करनेवाला बढ़ा-चढ़ा काल हूँ और लोकोंका संहार करनेके लिये ही यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ। जो कोई भी योद्धा दोनों सेनाओंमें हैं, वे तेरे सिवा कोई भी न बचेंगे। क्योंकि ये सब मुझ कालस्वरूपके द्वारा पहले ही मारे पड़े हैं, इसलिये तू उठ खड़ा हो, मुफ्तमें यशका भागी बन और शत्रुओंको जीतकर राज्य-लक्ष्मी को भोग। सव्यसाची ! तू केवल निमित्तमात्र बन और भीष्म-द्रोणादि जो मेरे द्वारा पहले मारे हुए हैं उनको मार, भय मत कर, तेरी जय होगी" (३२-३४)।

यहाँ निष्कर्ष यह है कि जब जीव अपने स्वरूपके अज्ञानसे परिच्छिन्न-अहंकारके आवेशमें आया हुआ कर्मोंका कर्ता बनता है, तब वे कर्मरूप चेष्टाएँ तो उसी समय नष्ट हो जाती हैं, परन्तु बीजरूपसे अपने संस्कार कर्ताके हृदयमें छोड़ जाती हैं और वे संस्कार उस कर्तृत्व-अहंकारके आश्रय ही रहते हैं। जिस प्रकार अनेक जातिके बीज भूमिमें छुपे हुए कालके अधीन अपने समयपर फूट निकलते हैं, इसी प्रकार हृदयमें अव्यक्तरूपसे रहनेवाले कर्म-संस्कार कालके अधीन व्यक्तरूपमें प्रकट होकर अपने भीतरसे भोगरूप फल तथा भोग-सामग्रीको निकालते हैं। इस प्रकार अपने कर्मोंद्वारा जीव

अपने भोगोंका आप ही उपादान होता है। बाह्य पदार्थ देश, काल अथवा वस्तु आदि कोई भी इन भोगोंके उपादान नहीं बन सकते। यद्यपि वे इन भोगरूप फलोंकी उत्पत्तिमें निमित्त तो होते हैं, परन्तु उपादान कदापि नहीं। क्योंकि उपादानका कार्यके भीतर रहना ही आवश्यक है, यह नियम है, कार्यसे भिन्न देशमें उपादान कदापि नहीं रह सकता। जैसे घटका उपादानरूप मृत्तिका घटदेशमें ही रहती है, घटसे भिन्न नहीं रह सकती। वस्तु-स्थिति तो यही है, परन्तु जीव अपनी भूलसे अपने दुःख-सुखादि भोगोंका कारण अपने भीतर न देख, चर्मचक्षुओंसे प्रतीत होनेवाले जो बाह्य निमित्त हैं, उन निमित्तोंको ही उपादानरूपसे ग्रहण करने लगता है कि 'मेरे दुःखादिके कारण ये ही हैं'। इसी भूल करके अकारणमें कारण-बुद्धि से राग-द्वेष करने लगता है और राग-द्वेष करके पुण्य-पापके संस्कारोंको फिर उत्पन्न कर लेता है। वास्तवमें तो जब वे कर्म-संस्कार वर्तमान भोगरूप फल के सम्मुख हुए थे, तब उन्होंने ही इन बाह्य पदार्थोंको अपने निमित्तरूपसे रचा था। इस प्रकार यह सब व्यापार सत्यस्वरूप परमात्माकी साक्षीमें कालके अधीन ही सिद्ध होता है।

इसी सिद्धान्तके अनुसार जो सम्बन्धी अर्जुनद्वारा मारे जानेवाले थे, वास्तवमें उनकी मृत्युका उपादान अर्जुन नहीं था, किन्तु उनके अपने-अपने कर्म-संस्कार ही उनकी मृत्युके उपादान थे। अर्जुन तो बीचमें केवल निमित्तमात्र ही था और वह निमित्त भी उनके अपने-अपने कर्मसंस्कारों-द्वारा ही बनाया गया था। अथवा इन सब जोड़-तोड़ोंको सगठन करने-वाला यह काल-भगवान् ही था, जिसके घुमाये हुए काल-चक्रद्वारा ये सब संयोग व सम्बन्ध पूरे पूरे उतरते हैं। परन्तु अपने मिथ्या कर्तृत्वाभिमानके कारण अर्जुन बीचमें मुफ्त ही कर्ता बन बैठा था कि 'इन भीष्मादिकों का मारनेवाला मैं ही हूँ'। अब अपने कालस्वरूपके दर्शनद्वारा भगवान्ने अर्जुनको प्रत्यक्ष दर्शा दिया कि जीवोंके अपने-अपने कर्मोंके अनुसार यह सब शतरञ्जकी बाज़ी मेरे द्वारा ही रची गई है। अर्जुन मुफ्तमें ही

कर्तापनका मिथ्या अभिमान धारकर अपनी मूर्खतासे क्यों मेरे काल-चक्रमें पिसना स्वीकार करता है। यदि वह इस चक्रसे बचना चाहता है तो उसकी ख़ैर इसीमें है कि वह अपने कर्तृत्वाभिमानकी तिलाञ्जलि देकर अपने देह, इन्द्रियों, मन व बुद्धिको जड़ कठपुतलीवत् बनाकर मेरे हाथमें सौंप दे और इनके अन्दर बैठा हुआ मैं साक्षीस्वरूप अपने काल-चक्रद्वारा इनको जैसे नचाऊँ वैसे नाचना क़बूल करे। इसी रीतिसे वह काल एवं कर्मके बन्धनसे सहज मुक्त हो सकता है और मुझमें अभेदरूप योग प्राप्त कर सकता है।

भगवान्‌के उपर्युक्त वचनोंको श्रवण कर अर्जुन काँपता हुआ दोनों हाथ जोड़े हुए भगवान्‌को प्रणाम करके गद्‌गद्‌वाणीसे उनकी स्तुति करने लगा, सब ओरसे उनको बारम्बार नमस्कार किया और प्रार्थना की— "आपकी इस महिमाको न जानकर मेरे द्वारा प्रमादसे अथवा प्रेमसे जो कुछ भी अपमानके वचन सखाभावसे विहार, शय्या, आसन एवं भोजनादि काल में कहे गये हों, उन सबके लिये आप मुझे क्षमा करें।" फिर विनती की— आपके इस अपूर्व रूपको देखकर मैं हर्षित होता हूँ और साथ ही भय से मेरा मन व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये मैं आपका उसी चतर्भुजी रूपमें दर्शन करनेकी इच्छा करता हूँ, कृपया उसी रूपमें मुझे दर्शन दीजिये (३१-४६)। इसपर भगवान्‌ने उसी चतुर्भुज सौम्यरूपमें अर्जुनको दर्शन दिया और कहा—"पार्थ! मेरे इस विराट रूपका दर्शन जैसा तुमने देखा है, अति दुर्लभ है, देवता भी मेरे इस रूपके दर्शन पानेकी नित्य अभिलाषा करते हैं। मैं इस प्रकार वेद, यज्ञ, दान व तपादिद्वारा देखे जानेको समर्थ नहीं हूँ, किन्तु केवल अनन्य भक्तिद्वारा ही मैं इस प्रकार तत्त्वसे जानने, देखने और अपने स्वरूपमें प्रवेश पानेके लिये समर्थ हूँ (४७-५४)।"

यहाँ आशय यह है कि भगवान्‌के स्वरूपमें इस प्रकार तत्त्वसे प्रवेश प्राप्त करनेमें एकमात्र यह परिच्छिन्न-अहंकार ही प्रतिबन्धक है, जो कि भगवान्‌की अनन्य भक्ति व प्रेमद्वारा ही दूर हो सकता है। यज्ञ, दान व तपादि अपने स्वरूपसे इस प्रतिबन्धकको गलित नहीं कर सकते, किन्तु भक्ति बिना वे

सभी कर्तृत्वाभिमानको बढानेवाले ही हैं। यद्यपि सांसारिक धन-यौवनादिके मदसे यज्ञ-दानादिका मद श्रेष्ठ है, तथापि अनन्य भगवद्भक्तिके संयोग बिना है मद ही, जो कि 'कूँवेसे निकले तो गढेमें गिरे' की भाँति स्वर्गादिके बन्धन में ही बाँधनेवाला है और सच्चे सुखसे वियुक्त ही रखता है। संसारमें केवल प्रेम ही एक ऐसी पवित्र वस्तु है जो कि अहंभावकी भेंट लेनेमें समर्थ है। जब अनित्य तथा कल्पित स्त्री आदिका प्रेम ही अपने प्रेम कालमें मैंपनको लुप्त कर देता है, तब नित्य सत्य प्रेम अहंभावको समूल उखाड़ डाले, इसमें तो आश्चर्य व सन्देह ही क्या है? उसमें तो वस्तुतः ऐसा आकर्षण व चुम्बक है कि यदि वह इस तुच्छ अहंभावकी बलि ले लेवे तो योग्य ही है। जिस प्रकार तरङ्ग समुद्रकी थाह पाना चाहे तो नहीं पा सकती, परन्तु वही जब अपने-आपेको खो बैठे तो समुद्ररूप होकर समुद्रकी थाह पा सकती है। इसी प्रकार भक्त जब अपनी अनन्य भक्तिद्वारा भगवान्‌में अपने तुच्छ अहंकारको खो बैठे, तब भगवद्रूप हो तत्त्वसे भगवान्‌में प्रवेश पा सकता है। इसलिये भक्ति बिना भगवत्स्वरूपमें प्रवेश अशक्य है। भक्ति-शून्य वेद, यज्ञ, तप एवं दानादिकी यहाँ गम्य नहीं। इस प्रकार इस अध्यायके अन्तमें सूत्ररूपसे यही उपदेश करके अध्यायकी समाप्ति की गई कि *पाण्डव!* जिस पुरुषकी मेरे निमित्त ही सब चेष्टाएँ हैं, जो मेरे ही परायण हुआ है, संसार-सम्बन्धी भोग-कामनादिका भक्त न रहकर जो मुझे ही प्रेम करनेवाला है, जो अहन्ता-ममताके सर्वसङ्गोंसे छूटा हुआ है और सब कर्तृत्व मुझे ही सौंपकर आप कठपुतलीके समान केवल नाचनेवाला ही बन गया है तथा इस प्रकारके आचरणोंसे जो सब भूतोंके प्रति निर्वैर हो गया है, वही मुझे प्राप्त हो सकता है (श्लो० ५५)।

इस प्रकार अपनी अनन्य भक्तिको अपने स्वरूपमें योगप्राप्तिका साधन कथन करके अध्यायकी समाप्ति की गई।

ॐ ॐ ॐ

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

एकादश अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने अपने स्वरूपके जानने, देखने और प्रवेश पानेमें अपनी अनन्य भक्तिकी अति महिमा वर्णन की, उसके प्रभावको सुनकर अर्जुनने इस अध्यायके आरम्भमें ही प्रश्न किया—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—इस प्रकार जो भक्त निरन्तर आपमें जुड़े हुए आप सगुणरूपकी उपासना करते हैं और जो दूसरे अविनाशी इन्द्रियातीत निर्गुणस्वरूपकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमें सर्वश्रेष्ठ योगवेत्ता कौन हैं ?

भावार्थ—'एवं' (इस प्रकार) शब्द एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोकसे सम्बन्ध जोड़ता है कि आपके कथनानुसार जो पुरुष आपके निमित्त कर्म करता है, आप सगुणरूपके परायण है और सर्वसंग-विवर्जित एवं सर्व भूतोंमें निर्वैर हुआ आप मुरली-मनोहरकी ही उपासना करता है तथा जो दूसरा आपके निर्गुण-रूपकी, जिसकी महिमा द्वितीय अध्यायसे ही गाई जा रही है, उपासना करता है, उन दोनों प्रकारके भक्तोंमें श्रेष्ठतम योगका जाननेवाला कौन हो सकता है ? अर्थात् सगुणभक्त योगवित्तम है, अथवा निर्गुणभक्त । पूर्व अध्यायोंमें निर्गुणस्वरूपकी महिमा गाई जाती रही और इस अध्याय (११।५५) में अपने सगुणरूप की अनन्य भक्तिको अपने स्वरूपके देखने, जानने और प्रवेश पाने में हेतुरूपसे कथन किया गया, इसलिये इस स्थलपर अर्जुनका यह प्रश्न समिचीन ही है ।

श्रीभगवानुवाच ।
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त हो मेरेमें मनको स्थिर करके और मेरे सगुणरूपमें निरन्तर जुड़े रहकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरेको सर्वश्रेष्ठ योगी मान्य हैं।

भावार्थ—द्वितीय अध्यायसे आरम्भ कर नवम अध्यायपर्यन्त भगवान् अपने सर्वसाक्षी, सर्वात्म इन्द्रियातीत अव्यक्तस्वरूपकी ही महिमा वर्णन करते रहे और उसीमें अभेदरूप योगप्राप्तिद्वारा जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्ति कथन की जाती रही। अब इस श्लोकमें परम श्रद्धासे युक्त अपने सगुणरूपके उपासकको सर्व श्रेष्ठ योगी कथन किया गया। अर्जुनका प्रश्न था कि 'जो आपके अक्षर, अव्यक्त सर्वसाक्षी, निर्गुणस्वरूपकी उपासना करते हैं तथा जो दूसरे मन-इन्द्रियोंके विषय आपके निर्गुणरूपकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमेंसे श्रेष्ठतम योगी कौन हो सकते हैं?' उत्तरमें कहा गया कि 'परम श्रद्धासे युक्त हो जो मेरे सगुणरूपमें मनको स्थिर करके मेरेमें नित्ययुक्त हुए मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे श्रेष्ठतम योगी मान्य हैं।' यदि इन वचनोंको वस्तुत तथा अक्षरशः सत्य माना जाय तो नवम अध्यायपर्यन्त भगवान्के द्वारा जो अपने अव्यक्त अक्षर, सर्वात्मस्वरूपका वर्णन किया गया है, वह सब व्यर्थ व निरर्थक सिद्ध हो जाता है। परन्तु वस्तुत' ऐसा नहीं है, आशय यह है कि प्रथम सगुणरूपमें मनको स्थिर किये विना एकाएक निर्गुणस्वरूपमें मनका प्रवेश होना अत्यन्त दुर्लभ एव असम्भव ही होता है। क्योंकि मन नाम-रूपका पुतला है और नामरूप-संसारमें ही फँसा हुआ है, इसलिये इसका एकाएक वेनाम वेरूपमें प्रवेश होना अशक्य है। जिस प्रकार लोहेसे

ही लोहा काटा जा सकता है तथा विषसे ही विष मारा जा सकता है, इसी प्रकार भगवान्‌के सगुण नाम-रूपके सहारेसे तथा सगुण नाम-रूपमें श्रद्धापूर्वक मनको स्थिर करके ही नामरूप-संसारसे मनको निकाला जा सकता है। जिस प्रकार शीतके संयोगसे जड़ताको प्राप्त हुई वर्फ जबतक सूर्य-तापसे पानीके रूपमें पतली होकर न बहे, तबतक भापके रूपमें उड़ाई नहीं जा सकती। इसी प्रकार नामरूप-संसारके संयोगसे जड़ताको प्राप्त हुआ मन जबतक भगवान्‌के सगुण नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीलादिमें स्थिर होकर भक्तिरूपी तापसे भगवान्‌के प्रेममें पानीके समान पतला होकर न बहे, तबतक भापके समान भगवान्‌के निर्गुण-स्वरूपकी ज्ञानाग्निमें उड़ाया नहीं जा सकता। क्योंकि भगवान्‌के अव्यक्त व अक्षरस्वरूपकी स्थितिमें यह मन ही प्रतिबन्धकरूप है। और जब भगवान्‌के सगुणरूपमें भली-भाँति स्थिर होकर मन नामरूप-संसारसे निकल जाय, तब निर्गुणस्वरूपमें स्थिति तो कुछ दुर्लभ है ही नहीं। जैसे आम्रवृक्षमें जब फूल निकल आया, तब फलके निकलने और पकनेमें तो कोई सन्देह है ही नहीं, प्राकृतिक नियमके अनुसार फल तो फूलके पीछे-पीछे आ ही रहा है और फूलके खिल जाने तथा परिपक्व हो जानेपर वह स्वतः ही प्रकट होगा। ठीक, इसी प्रकार सगुण-भक्ति फूल और निर्गुण-भक्ति फल है। सगुण-भक्तिरूप पुष्पके विकसित और परिपक्व होनेपर निर्गुण-उपासना तो अपने समयपर स्वतः ही स्रवित होगी। क्योंकि प्राकृतिक नियमके अनुसार फलके समान वह तो सगुण-भक्तिरूपी पुष्पके पीछे-पीछे आ ही रही है, उसके लिये तो कोई चिन्ता ही नहीं है। इसके विपरीत यदि सगुण-उपासनाका परित्याग करके एकाएक निर्गुणस्वरूपमें मनको स्थिर करना चाहें तो यह सर्वथा असम्भव है। स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे इसी अध्यायके

पञ्चम श्लोकमें कथन करेंगे कि 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' अर्थात् संसारसम्बन्धी देहादिकी अहन्ता-ममतामें फँसे हुए पुरुषद्वारा अव्यक्त गति कष्टसाध्य है। इस प्रकार चूँकि इस सगुण-उपासनाद्वारा ही निर्गुणस्वरूपमें मनकी स्थिरता सम्भव है, इसीलिये सगुण-उपासकको 'युक्ततम' कहा गया कि वह इस सगुण-उपासनाद्वारा मुख्य ध्येयरूप निर्गुणस्वरूपमें आरूढ हो जाता है और फिर निर्गुणस्वरूपमें आरूढ हुआ पुरुष तो अपने स्वरूपसे युक्ततम है ही। निर्गुणकी अपेक्षा सगुण-उपासक अपने स्वरूपसे स्वतन्त्र ही युक्ततम है, इसका यह तात्पर्य नहीं। जिस प्रकार आयुर्वेद शास्त्रमें घृतको आयुकी वृद्धि करनेवाला होनेसे 'आयुष्य' नामसे पुकारा गया है, तहाँ यह तात्पर्य नहीं कि घृत स्वयं आयुष्य है, बल्कि आयुष्यका हेतु होनेसे वह आयुष्यरूपसे कथन किया गया। इसी प्रकार निर्गुणस्वरूपका सहायक होनेसे सगुण-उपासकको युक्ततमरूप कहा गया है, स्वतन्त्र अपने स्वरूपसे ही नहीं।

अब दूसरे प्रकारके निर्गुण-उपासकोंके विषयमें कथन किया जाता है—

> ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
> सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
> संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
> ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

जो पुरुष इन्द्रियसमुदायोंको भली-भाँति वशमें करके अविनाशी, अकथनीय, मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, नित्य और अचल—ऐसे निर्गुण-ब्रह्मको अभेदरूपसे उपासना करते हैं, वे सर्वत्र समबुद्धि तथा सर्वभूतोंके हितमें रत

(योगी तो) मेरे सर्वसाक्षी सर्वात्मस्वरूपको प्राप्त होते ही हैं।

भावार्थ—अब ध्येयरूप निर्गुणस्वरूपके विशेषणोंको बतलाते हैं। भूत, भविष्य व वर्तमान तीनों कालोंमें जिसका नाश न हो वह 'अक्षर' कहा जाता है। इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिका विषय न होनेसे उसको 'अव्यक्त' व 'अचिन्त्य' कहते हैं, क्योंकि जो वस्तु इन्द्रियादि करणोंसे जाननेमें आती है उसीका मन-बुद्धिसे चिन्तन किया जा सकता है, परन्तु 'अक्षर' इससे विपरीत होनेसे 'अचिन्त्य' कहा गया। आकाशके समान सर्वत्र व्यापक तथा देश-कालसे अपरिच्छिन्न होनेसे उस अक्षरको 'सर्वव्यापी' कहा गया। कूट अर्थात् मिथ्या माया जिसकी सत्तासे सत् प्रतीत हो रही है, उस कूटरूप मायामें साक्षी तथा अधिष्ठातारूपसे स्थित रहनेसे उस अक्षरको 'कूटस्थ' कहा गया। तथा चलरूप मायामें अचलरूपसे स्थित होने करके उस अक्षरको 'अचल' व 'ध्रुव' कहा गया।

जो योगी इन्द्रियसमुदायको रोककर सर्वत्र समबुद्धि हुए मेरे ऐसे निर्गुणस्वरूपकी अभेदरूपसे उपासना करते हैं, वे सर्वभूतोंके हितमें रत योगी तो मुझ सर्वसाक्षी सर्वात्मस्वरूपको प्राप्त होते ही हैं, इसमें तो सन्देह है ही नहीं। सगुण-उपासकके लिये भगवान्ने युक्ततम तो कहा, क्योंकि वह सगुण-उपासनाद्वारा इस निर्गुण-उपासनामें आरूढ होनेका पात्र होता है, परन्तु 'वह मुझे प्राप्त होता ही है' उसके साथ ऐसा निश्चित वचन नहीं क[illegible] गया। क्योंकि सगुण-उपासक अपनी सगुण-उपासनाके [illegible] ही भगवान्को साक्षात् प्राप्त नहीं कर सकता, किन्त[illegible] से निर्गुण-उपासनाद्वारा ही भगवत्प्राप्तिका अ[illegible] परन्तु इस निर्गुण-उपासकके लिये तो [illegible] दिया कि 'वह तो मुझे प्राप्त होता [illegible]

सगुण-उपासना साधन है और निर्गुण साध्य व फल है। इस निर्गुण-उपासनाके लिये इन्द्रियसमुदायका संयम, सर्वत्र समबुद्धि और सर्वभूतहितरति, ये तीन साधन निरूपण किये गये। इन्द्रियों की अपने-अपने विषयोंमें स्वाभाविक ही अनुकूल एवं प्रतिकूल-बुद्धिसे राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति होती है, वहाँ अनुकूल व प्रतिकूल-बुद्धिसे छूटकर अपने विषयोंमें रागद्वेषवर्जित प्रवृत्तिका नाम 'इन्द्रियसंयम' है। भूषण-दृष्टिका बाध करके सब भूषणोंमें सुवर्ण-दृष्टिके समान सब भूतोंमें अधिष्ठानरूप एकत्व-दृष्टिको 'समबुद्धि' कहा जाता है। सो समबुद्धि भावनामय व ज्ञानमय दो प्रकारकी होती है, इनमें भावनामय साधन है और ज्ञानमय फल है। इस स्थलपर भावनामय साधनरूप समबुद्धिसे ही अभिप्राय है। तथा सांसारिक दृष्टिका परित्याग करके केवल पारमार्थिक दृष्टिसे सब भूतोंके हितमें रतिको 'सर्वभूतहितरति' कहते हैं। इस प्रकार ये तीनों परस्पर सापेक्ष हैं। इन्द्रियसंयमसे समबुद्धि और समबुद्धिसे इन्द्रियसंयम पुष्ट होता है। तथा इन्द्रियसंयम व समबुद्धिसे सर्वभूतहितरति और सर्वभूतहितरतिसे इन्द्रिय-संयम व समबुद्धि सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार शरीरके आश्रय प्राण और प्राणके आश्रय शरीर रहता है, इसी प्रकार ये तीनों परस्पर सापेक्ष हैं।

अब इस निर्गुण-उपासनामें प्रतिबन्धरूप जो कष्ट है, सो भगवान् कथन करते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

[परन्तु] इन्द्रियातीत पदमें आसक्तचित्तवाले उन पुरुषोंको साधनमें क्लेश अर्थात् परिश्रम अधिकतर है क्योंकि देहाभिमा-नियोंद्वारा अव्यक्त-गति बड़े ही कष्टसे प्राप्त होती है।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकारसे जो पुरुष अपने चित्तको इन्द्रियातीत अव्यक्तस्वरूपमें आसक्त करनेमें लगे हुए हैं, उनके लिये साधनमें अधिकतर क्लेश उपस्थित होता है। क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, अव्यक्तस्वरूपमें चित्तकी स्थितिके लिये इन्द्रियसंयम तथा सर्वत्र समबुद्धि आवश्यक साधन है। परन्तु जो पुरुष संसारसम्बन्धी अहन्ता-ममतामें फँसे हुए हैं, जिन्होंने देहको ही आपा करके जाना है, देहके सम्बन्धियोंमें जिनकी ममता-बुद्धि है और इन्द्रियोंके विषयोंमें जिनकी राग-द्वेषसहित प्रवृत्ति भी हो रही है, ऐसे देहाभिमानियोंद्वारा अव्यक्तस्वरूपमें गति प्राप्त करना अत्यन्त कष्टप्रद है। क्योंकि देहेन्द्रियादिकी अहन्ता-ममतामें सत्यबुद्धिसे आसक्ति होने करके न उनका इन्द्रियसंयम ही सिद्ध होता है और न समबुद्धि। इस प्रकार जब इन्द्रियसंयम और समबुद्धि ही सिद्ध न हुए, तब इन्द्रियरूप शत्रुओंकी प्रबलता और विषम-बुद्धिके रहते हुए अव्यक्तस्वरूपमें चित्तकी स्थिति तो सम्भव हो ही कैसे? ऐसी अवस्थामें तो प्रथम मन-इन्द्रियादिका प्रवाह भगवान्के सगुणरूपमें चलाना ही आवश्यक है, जिससे मन सांसारिक नाम-रूपोंकी आसक्तिसे निकलकर भगवान्के सगुण नाम-रूपमें चहुँटे। और जब सांसारिक नाम-रूपोंसे निकल कर मनकी आसक्ति भगवान्के सगुणरूपमें हो जाय, तब स्वाभाविक सांसारिक विषयोंमें आसक्तिके अभावसे इन्द्रियसंयम व समताबुद्धिकी सिद्धि हो जाती है और फिर इन्द्रियसंयम व समताबुद्धिके सिद्ध होनेपर निर्गुणस्वरूपमें चित्तकी प्रवृत्ति व स्थिति सम्भव होती है। इससे सिद्ध हुआ कि देहाभिमानियोंद्वारा अव्यक्तस्वरूपमें प्रवृत्ति असम्भव ही है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

[परन्तु] जो भक्त मेरेमें सब कर्मोंका संन्यास करके मेरे परायण हुए, अनन्य योगके द्वारा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं हे पार्थ ! उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसारसागरसे शीघ्र ही भली भाँति उद्धार करनेवाला होता हूँ ।

भावार्थ—देहेन्द्रियमनबुद्धिद्वारा जो व्यवहार हो रहा है, उनमें अभिमान करके अपने-आपको कर्ता न जानना किन्तु यह निश्चय धारण करना कि 'जो कुछ व्यवहार देहादिद्वारा हो रहा है उसमें इन देहादिका कर्तापन रत्तीकमात्र भी नहीं है, किन्तु सर्व कर्ता-धर्ता भगवान् ही हैं, वे ही अन्तर्यामी इनके अन्दर बैठकर सूत्रधारकी भाँति जड़ कठपुतलियोंके समान इन देहेन्द्रियमनबुद्धयादिको नचा रहे हैं'। इस निश्चयसे अपने सब कर्तृत्व एवं कर्मोंको विश्वरूप सगुण परमेश्वरमें समर्पण करना, इसीका नाम यहाँ 'सर्वकर्मसंन्यास' है। उपर्युक्त रीतिसे सर्वकर्मसंन्याससे भगवत्परायणता प्राप्त होती है भगवत्परायणतासे अनन्य योग सिद्ध होता है अनन्य-योगसे ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानसे पुनः सर्वकर्मसंन्यास पुष्ट होता है। जिस प्रकार तालसे मेघ पुष्ट होता है और मेघसे ताल पुष्ट होता है इसी प्रकार सर्वकर्मसंन्याससे ध्यान और ध्यानसे सर्वकर्मसंन्यासकी परस्पर पुष्टि होती है। इस असार दृश्यमान प्रपञ्चमें भगवान्के सिवा अन्य कोई वस्तु सारभूत है ही नहीं, ऐसा मनके दृढ निश्चयका नाम 'अनन्य-योग' है। इस अनन्ययोगके द्वारा चित्त-वृत्तियोंका प्रवाह भगवान्के सगुणरूपमें चलाना 'ध्यान' कहाता है। इस प्रकार मुझ सगुणरूप परमेश्वरमें सर्वकर्मसंन्यास करके मेरे परायण जो अनन्य-योगद्वारा

मेरा ध्यान करते हुए मेरी आराधना करते हैं, इस रीतिसे मुझमें आसक्तचित्तवाले भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-सागरसे भली भाँति उद्धार कर देता हूँ। अर्थात् अपनी अनन्य भक्तिद्वारा सांसारिक आसक्तियोंसे छुड़ाकर और अव्यक्त-गतिका अधिकारी बनाकर उन भक्तोंको मैं शीघ्र ही अपने वास्तविक सर्वसाक्षीस्वरूपकी प्राप्ति करा देता हूँ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

[इसलिये] तू मुझ सगुणरूपमें ही मन लगा, मुझमें बुद्धि स्थिर कर, इस प्रकार तू मेरे वास्तविक स्वरूपमें निवास करेगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

भावार्थ—अब उभय प्रकारकी उपासना और साधन साध्य-रूप विषयका उपसंहार करते हुए भगवान् निष्कर्षरूपसे कथन करते हैं। इसलिये, अर्थात् मेरे अव्यक्त निर्गुणस्वरूपकी प्राप्तिके लिये तू प्रथम मुझ सगुणरूप परमेश्वरमें ही मन लगा और मुझमें ही बुद्धि स्थिरकर। इस प्रकार सगुण-उपासनाके प्रभावसे तू मुझ निराकार अव्यक्तस्वरूपमें निवास करेगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

और यदि तू मुझ सगुणरूप परमेश्वरमें चित्त स्थापित करनेमें समर्थ नहीं है तो हे धनञ्जय! अभ्यासरूप योगद्वारा मुझ सगुणरूप परमेश्वरकी प्राप्तिकी इच्छा कर।

भावार्थ—चित्तको सब ओरसे खींचकर बारम्बार एक अवलम्बनमें स्थिर करनेका नाम 'अभ्यास' है। इस प्रकार सब सांसारिक पदार्थोंसे चित्तको खींचकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरमें ही

मनको जोड़नेका अभ्यास कर। इस अभ्यासके प्रभावसे तू मुझमें चित्त स्थिर करनेमें समर्थ होगा।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि तू अभ्यासमें भी समर्थ न हो तो मेरे निमित्त कर्म-परायण हो, इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करता हुआ भी तू सिद्धिको प्राप्त होगा।

भावार्थ—(१) पत्र, पुष्प एवं जलादिसे प्रेमपूर्वक भगवान्‌की सेवा, पूजा, आरती, स्तुति आदि करना तथा साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम व प्रदक्षिणा करना, (२) भगवद्भक्तोंको भगवद्रूप जान तन-मन-धनसे उनकी सेवा-पूजा करना और नम्रभावसे वारम्वार नमस्कारादिद्वारा उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना, (३) भगवान्‌के मन्दिरको झाड़ू व जलसिञ्चनादिद्वारा शुद्ध रखना, (४) भगवान्‌के निमित्त मन्दिर, कूप, वापी व वाटिकादि निर्माण करना तथा करवाना, (५) भक्तिसम्बन्धी भगवत्कथाओंका नित्य श्रवण करना तथा कराना, (६) भगवन्नाम, गुण एवं लीलाओंका कीर्तन करना व कराना, (७) भगवान्‌के नाम व मन्त्रका निरन्तर जाप करना (८) तथा परस्पर मिलकर भगवत्सम्बन्धी चर्चा करनी और भगवान्‌के प्रेममें गद्गद्-कण्ठ व रोमाञ्चित होना—इन सब साधनोंको भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे दृढ़तापूर्वक आचरणमें लाना, 'भगवदर्थ कर्म' कहाता है। इस प्रकार अर्जुन! यदि तू मेरे ध्यानके निमित्त अभ्यास करनेमें भी समर्थ न हो तो उपर्युक्त रीतिसे मेरे निमित्त कर्मपरायण हो। इस प्रकार मदर्थ कर्म करनेसे अभ्यासमें प्रतिबन्धक जो रजोगुण, उसकी निवृत्ति होगी और रजोगुणके निवृत्त होनेपर श्लो० ८ व ९ के अनुसार अभ्यासद्वारा तू ध्यानपरायण होगा। इस प्रकार मेरी सगुण-भक्तिके

प्रभावसे फिर इन्द्रियसंयम तथा समताबुद्धिद्वारा मेरे अव्यक्त-स्वरूपकी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त होगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और यदि ऐसा करनेमें भी तू समर्थ न हो, तो मेरे योगके आश्रय मन-इन्द्रियोंको वशमें किये हुए सब कर्मोंके फलका त्याग कर।

भावार्थ—यदि श्लोक १० के अनुसार तू मदर्थ कर्म भी न कर सके, तो मेरी प्राप्तिरूप योगको लक्ष्य करके और मन-इन्द्रियोंको सांसारिक भोग-विषयोंसे रोककर अपने सब कर्मोंके फलोंका त्याग कर। अर्थात् संसारके उद्देश्यसे कर्म न कर, किन्तु जो कुछ स्वाभाविक कर्म तेरे द्वारा हो उसका फल मुझे निवेदन कर। इस निष्काम कर्मप्रवृत्तिसे अन्तःकरणकी शुद्धि-द्वारा तू मदर्थ कर्मका अधिकारी होगा और फिर उपर्युक्त सोपान-क्रमसे अभ्यास व ध्यानादिद्वारा मुझे प्राप्त करेगा।

इस प्रकार श्लोक ९ से यहाँतक सगुण भक्तिके सम्बन्धमें जो सोपान-क्रम कथन किया गया, अब उसका उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान विशेष है और ध्यानसे कर्म एवं फलका त्याग श्रेष्ठ है, (क्योंकि इस) त्यागसे तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—भगवत्सम्बन्धी कथा, कीर्तन एवं जापादिके अभ्याससे, जिसको श्लो० १० में मदर्थ-कर्मके नामसे वर्णन किया गया

है, भगवान‍्के स्वरूपका परोक्ष-ज्ञान श्रेष्ठ है। क्योंकि कथा-कीर्तनादिका फल यही है कि सगुणरूप परमेश्वरके स्वरूपका परोक्ष-ज्ञान हृदयमें दृढ हो जाय। साधनसे फलमें श्रेष्ठता सबको ही मान्य है। इसलिये कथा-कीर्तनादि मदर्थ-कर्मके अभ्याससे परोक्ष-ज्ञानको श्रेष्ठ कहा गया। फिर ईश्वरके परोक्ष-ज्ञानसे ध्यान विशेष है, क्योंकि जिस वस्तुका ध्यान इष्ट होता है प्रथम उसके स्वरूपका परोक्ष-ज्ञान आवश्यक हुआ करता है, जिस वस्तुका परोक्ष-ज्ञान ही न हो उसका ध्यान सर्वथा असम्भव ही है। इस प्रकार परोक्ष-ज्ञानका फल ध्यान होनेसे ज्ञानसे ध्यानको श्रेष्ठ कहा गया। तदनन्तर ध्यानसे कर्म एवं फलके त्यागको श्रेष्ठ कहा गया। यहाँ कर्म-फल-त्यागसे वह कर्म फल-त्याग इष्ट नहीं है, जो श्लोक ११ में सबसे निम्न सोपान कथन किया गया है; क्योंकि न वह ध्यानसे श्रेष्ठ ही हो सकता है, न वह ध्यानका फल ही हो सकता है और जैसा इस श्लोकमें कहा गया है न उससे तुरन्त शान्ति ही मिल सकती है। किन्तु कर्म-फल-त्यागसे यहाँ वह सर्वकर्मसंन्यास अभिप्राय है, जिसका श्लोक ६ में वर्णन किया गया है कि 'मुझ सगुणरूप परमेश्वरमें अपने सब कर्तृत्व, कर्म एवं फलोंका समर्पण कर।' यही सर्व-कर्मसंन्यास ध्यानसे श्रेष्ठ हो सकता है, क्योंकि ईश्वरके ध्यानके अभ्याससे वही मूर्ति हृदयमें दृढ हो जानेके कारण सत्य प्रेमके आवेशमें देहेन्द्रियादिसे अहन्ता-ममताका नाता स्वाभाविक टूट जाता है और इसकी सिद्धिके पश्चात् ही शान्ति प्राप्त होती है। इसलिये यह कर्म-फल-त्याग अर्थात् श्लो ६ उक्त सर्वकर्म-संन्यास ही ध्यानसे श्रेष्ठ है। इस सर्वकर्मसंन्याससे ही 'इन्द्रियसंयम' तथा सर्वत्र 'समबुद्धि' की सिद्धि होकर अन्य फलरूपमें प्रवृत्तिरूप शान्तिकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार ध्यानादिद्वारा जिनका सर्वकर्मसंन्यास सिद्ध हुआ है और सगुण-उपासना परिपक्व होकर जो निर्गुण-उपासना के अधिकारी हुए हैं, उन भक्तोंका लक्षण कथन करना चाहिये। इसलिये भगवान् अब उनके लक्षण अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त कथन करते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो सर्वभूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी एवं हेतुरहित दयालु है, जो अहन्ता व ममतासे छूटा हुआ, सुख-दुःखमें सम और अपने प्रति अपराधीको क्षमा करनेवाला है तथा जो हानि-लाभमें संतुष्ट सर्वदा समाहितचित्त, जीते हुए स्वभाववाला एवं दृढनिश्चयी है, जिसने अपने मन-बुद्धि मुझ में अर्पण कर दिये हैं, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है।

भावार्थ—सर्व द्वेषोंके मूलमें शरीरसम्बन्धी अहन्ता व ममता ही एकमात्र कारणरूपसे रहा करती है और सब दुःख-सुखोंमें भी इसीका राज्य हुआ करता है, परन्तु इस अहन्ता-ममताका भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन हो जानेसे सभी भूत भगवान्‌के नाना रूपोंकी झाँकी करानेवाले बन जाते हैं, फिर द्वेषका अवकाश कहाँ ? तब तो दुःख-सुखमें समता भी स्वाभाविक सिद्ध हो जाती है और अपराधीपर क्रोध एवं बदला लेनेका प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि उस विरोधीके रूपमें तो भगवान् ही प्रेमकी चुटकियाँ लेते हुए दीख पड़ते हैं। ऐसे कोमलचित्त भक्तके हृदयमें स्वाभाविक ही सुखी के प्रति मैत्री और दुःखीके प्रति

करुणा उत्पन्न होती है। फिर ऐसा भक्त, जिसने भगवान्‌के चरणोंमें अपने मन-बुद्धि अर्पण कर दिये हैं, स्वाभाविक ही सर्वत्र संतुष्ट, समाहितचित्त, संयमी तथा दृढनिश्चयी सिद्ध होता है और वह भगवान्‌का प्यारा होता है। ज्ञानी तो भगवान्‌की आत्मा ही होता है, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (अ ७ श्लो १८), इसलिये वह प्यारा नहीं कहला सकता किन्तु भक्त ही भगवान्‌को प्यारा होता है क्योंकि आत्मासे भिन्न वस्तु ही प्रेमका विषय होता है, आत्मा प्रेमका विषय नहीं होता किन्तु वह तो प्रेमस्वरूप ही है। इसलिये इस अध्यायमें श्लो १३ से २० पर्यन्त जो लक्षण कथन किये गये हैं, वे उन अनन्य भगवद्-भक्तोंके ही हो सकते हैं, जिनकी सगुण-उपासना श्लो ६ के अनुसार परिपक्व होकर जिनका सर्वकर्मसंन्यास सिद्ध हुआ है और जो निर्गुणस्वरूपमें प्रवेश पानेके अधिकारी हुए हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे कोई जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो आप भी किसी जीवसे उद्वेगवान् नहीं होता, इस प्रकार जो हर्ष, अमर्ष, भय एवं उद्वेगसे मुक्त है, वह भक्त मुझे प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो मेरा भक्त आकांक्षारहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित, निर्भय और सब आरम्भोंका त्याग करनेवाला है, वह मुझे प्यारा है।

भावार्थ (श्लो० १५, १६)—दूसरेके उत्कर्षको देखकर सन्तप्त होनेका नाम 'अमर्ष' है। हर्ष, अमर्ष, भय व उद्वेगादि सब वृत्तियाँ

शरीरसम्बन्धी अहन्ता-ममताके कारण ही उत्पन्न होती हैं। उस कारणके अभावसे इस भक्तने इन सभी दुर्वृत्तियोंसे सहज ही छुटकारा पा लिया है और वह भगवान्‌का प्यारा है। इसी प्रकार सब आकांक्षाएँ तथा आरम्भरूप कर्म इस लोक अथवा परलोक के सुखके निमित्तसे ही होते हैं, परन्तु सुखस्वरूप भगवान् हृदय व नेत्रोंमें ही बस जानेके कारण वह स्वाभाविक सभी आकांक्षाओं से मुक्त है और ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सभी आरम्भों का परित्यागी है। फिर सब पक्षपात, भय अथवा कष्ट भी संसारसम्बन्धसे ही होते हैं, परन्तु भ्रमरके समान भगवान्‌के चरण-कमलोंमें मनका निवास हो जानेसे स्वतः ही संसारसे उदासीनता व निर्भयता हो जाती है, अतः पवित्रता व दक्षता स्वाभाविक उस भक्तकी सेवा करती हैं। अनेक कर्तव्योंके प्राप्त होनेपर तुरन्त ही यथार्थ कर्तव्यको निश्चित कर लेनेका नाम "दक्षता' है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है और न कामना ही करता है, ऐसा शुभाशुभका परित्याग करनेवाला जो भक्तिमान् पुरुष है, वह मुझे प्यारा है।

भावार्थ—इष्ट-अनिष्टबुद्धिके कारण ग्रहण-त्यागके प्रभावसे ही हर्ष, द्वेष, शोच एवं कामनारूप वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु हृदयमें समताकी दुन्दुभी गूँजते रहनेसे इस भक्तके हृदयसे इन सभी वृत्तियोंका आसन उठ जाता है। इस प्रकार विषमताके हेतु शुभ व अशुभरूप द्वन्द्वोंसे छूटा हुआ जो भक्तिमान् पुरुष है, वह मुझे प्यारा है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो शत्रु-मित्र मान-अपमान सर्दी-गर्मी एवं सुख-दुःखमें सम है जो सांसारिक आसक्तिसे रहित है जिसके लिये निन्दा व स्तुति समान है जिसने वाणीको जीता है, जो जिस-किसी प्रकार से भी (शरीर-स्थितिमात्रसे ही) सन्तुष्ट है जो स्थान बनाकर रहनेवाला नहीं है तथा स्थिरबुद्धि है ऐसा भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है।

भावार्थ— संगविवर्जित शब्दका अर्थ यह है कि किसी वस्तु को शारीरिक अहन्ता व ममताके नातेसे ग्रहण न करना किन्तु अहन्ता-ममताके विषय सब पदार्थोंको केवल भगवान्‌के नातेसे ही ग्रहण करना। 'मौनी' शब्दका अर्थ चुप रहनेवाला नहीं है किन्तु वाक्-इन्द्रियको वशमें करनेवालेका नाम मौनी है। खान-पान आच्छादन एवं शयनादि शरीर निर्वाहके सम्बन्धमें जो यथा-लाभ सन्तुष्ट रहे उसको 'सन्तुष्टो येन केनचित्' कहा जाता है। 'अनिकेत' शब्दका अर्थ है कि जो किसी स्थानादिकी ममता नहीं रखता, अथवा स्थान मठ आदि बनाकर नहीं रहता किन्तु जो सर्पकी भाँति दूसरे बने बनाये स्थानोंमें ही रहता है। इस प्रकार उपर्युक्त समता-बुद्धि करके जो शत्रु-मित्र मान अपमान, शीत-उष्ण तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें समान है और भगवत्स्वरूपमें जिसकी बुद्धि स्थिर है ऐसा भक्त मुझे प्यारा है।

अन्तमें इस विषयका उपसंहार करते हुए भगवानने कहा—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

जो इस यथोक्त धर्ममय अमृतको सेवन करते हैं तथा श्रद्धा-युक्त मेरे परायण हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं।

भावार्थ—जैसा श्लोक १३ से १६ पर्यन्त वर्णन किया गया है, जो पुरुष इस धर्ममय अमृतके अनुष्ठानमें लगे हुए हैं, अर्थात् जो उपदेश 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' से आरम्भ करके यहाँतक किया गया है, यह सब धर्मोंका प्राण होनेसे धर्मसे ओत-प्रोत है, सब धर्मोंका फल यही है तथा अमृतत्वका हेतु होनेसे अमृतरूप ही है। इस यथोक्त धर्ममय अमृतमें जिनकी पूर्ण श्रद्धा है और जो इस प्रकार भगवत्परायण हैं, चाहे उन्होंने अभी पूर्णरूपसे इस को सिद्ध नहीं किया है, परन्तु जो श्रद्धासंयुक्त इसकी सिद्धिमें तत्पर हो रहे हैं, वे भक्त तो मुझे अत्यन्त ही प्यारे हैं। जिस प्रकार जो शिष्य गुरुके वचनोंमें पूर्णरूपसे श्रद्धालु है और उन वचनोंके अनुसरणमें कटिबद्ध है वह गुरुको अत्यन्त प्यारा होता है, इसी प्रकार जो भक्त भगवान्‌के इस उपदेशमें श्रद्धासंयुक्त है और भगवत्परायण हुआ इस उपदेशके अनुसरणमें तत्पर है, वह भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरमेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय समाप्त हुआ।

द्वादश अध्यायका स्पष्टीकरण

एकादश अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनकी प्रार्थनापर उसको अपने विराट्-स्वरूपका दर्शन कराया और अन्तमें कहा कि मैं न वेद-यज्ञादिसे और न दान तपादिसे इस प्रकार देखे जानेको शक्य हूँ, जिस प्रकार तूने मेरेको देखा है, किन्तु एक अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं इस प्रकार तत्त्वसे जाना व देखा जा सकता हूँ और अपनेमें प्रवेश पाया जा सकता हूँ। इसपर अर्जुनने इस अध्यायके आरम्भमें ही भगवान्‌से प्रश्न किया कि जो भक्त इस प्रकार निरन्तर आपके सगुणरूपमें जुड़े हुए आप सगुणरूपकी उपासना करते हैं और जो दूसरे आपके अविनाशी, इन्द्रियातीत निर्गुणरूपकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन-से हैं? (श्लो० १)।

उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि मेरे सगुणरूपमें मनको एकाग्र करके जो भक्त नित्य ही मुझमें जुड़े हुए परम श्रद्धासे मुझ सगुणरूपकी उपासना करते हैं, वे मुझे अत्युत्तम योगी मान्य हैं। आशय यह कि जिस प्रकार शिशु अपने अधिकारानुसार माताके स्तनपानसे बल प्राप्त करता हुआ मेवे-मिठाई सब कुछ पचा सकता है और माताका प्रेमपात्र होता है, मेवे-मिठाई पचानेके लिये प्रथम स्तनपान एक आवश्यक व अनिवार्य सोपान है। इसी प्रकार भगवान्‌ने अपने सगुणरूपके उपासकको युक्ततम कहा, क्योंकि वास्तविक युक्ततम अवस्थाकी प्राप्तिके लिये इसमेंसे होकर गुजरना आवश्यक है, इसके बिना अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्ति असम्भव ही है। जिस प्रकार जो पथिक गङ्गास्नानके निमित्त हरिद्वार जा रहा है और वह अभी लुक्सरमें ही है तो वह हरिद्वारका ही यात्री कहलाता है, इसी प्रकार इस सगुण-उपासकको युक्ततम कहा गया, न इस दृष्टिसे कि यह सगुण उपासना ही स्व-स्वरूपसे अन्तिम लक्ष्य है (२)। फिर निर्गुण-उपासनाके विषयमें भगवान्‌ने कहा—"जो मेरे यथोक्त अक्षर स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे तो मुझे प्राप्त होते ही हैं, अर्थात् किसी अन्य सोपानके बिना मुझे साक्षात् प्राप्त कर लेते हैं, इसमें तो कुछ सन्देह ही नहीं है। परन्तु अव्यक्त-

उपासनामें क्लेश अधिकतर है, क्योंकि देहाभिमानीके लिये अव्यक्तस्वरूपमें गति दुष्कर होती है (३-५)।" इसलिये देहाभिमान रहते हुए तो अपने सगुणरूपमें सर्वकर्मसंन्यास तथा अनन्य-योगद्वारा अपने सगुणरूपके ध्यान को ही भगवान्‌ने प्रशस्त कथन किया और उन भक्तोंको मृत्युरूप संसार-सागरसे शीघ्र ही उद्धार करनेकी प्रतिज्ञा की (६-७)। सगुण-उपासकके लिये भगवान्‌ने वचन किया कि 'मैं उसका उद्धार कर देता हूँ' 'परन्तु निर्गुण-उपासक अर्थात् ज्ञानीके लिये श्लो० ४ में ऐसा नहीं कहा गया, बल्कि ऐसे निश्चित वचन कहे गये कि 'वह तो मुझे प्राप्त होता ही है।' इससे स्पष्ट है कि भक्त भगवान्‌की अनुकम्पाद्वारा ज्ञान-राज्यका अधिकारी होता है और भक्ति ज्ञानमें उचित सोपान है।

इस प्रकार सगुण-ध्यानके निमित्त भगवान्‌ने अपने सगुणरूपमें मन-बुद्धि स्थिर करनेको कहा और इसके अभावमें जिज्ञासापूर्वक अभ्यास करने की आज्ञा दी गई। अभ्यासमें भी सामर्थ्यके अभावसे भगवदर्थ कर्म करने को कहा गया और भगवदर्थ कर्ममें भी सामर्थ्यके अभावसे निष्काम भावसे कर्म-फल-त्याग कथन किया गया (८-११)। अन्तमें इन सोपानोंका उप-संहार करते हुए भगवान्‌ने कहा कि भगवदर्थ-कर्मके अभ्याससे मेरे स्वरूप का परोक्ष-ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानसे सर्वकर्मसंन्यास श्रेष्ठ है और कर्मसंन्यासके अनन्तर निर्गुणस्वरूपमें स्थितिद्वारा ही शान्ति प्राप्त होती है(१२)। तत्पश्चात् श्लो० १३ से २० पर्यन्त उन अनन्य भक्तोंका लक्षण किया गया, जिनका ध्यानकी परिपक्वता करके सगुणरूपमें सर्वकर्मसंन्यास सिद्ध हुआ है और जो अव्यक्तस्वरूप निर्गुण-उपासनाके अधिकारी हुए हैं। स्मरण रहे कि उपर्युक्त लक्षण भगवद्भक्तोंके लिये तो यत्नसाध्य होते हैं, परन्तु भक्तिद्वारा तत्त्वसाक्षात्कार हो जानेपर ज्ञानियोंके लिये स्वभावसिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार इस अध्यायमें अपने निर्गुणस्वरूपमें योग-प्राप्तिके निमित्त भक्तियोगको उपयोगी साधन कथन करके इस अध्यायकी समाप्ति की गई।

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

पिछले अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नपर भगवान्‌ने सोपानसहित अपनी सगुण-भक्तिका निरूपण किया। सगुण-भक्तिका फल जो भगवान्‌के निर्गुणस्वरूपमें प्रवेश, उस अपने निर्गुणस्वरूपका निरूपण करनेके लिये अब भगवान् इस अध्यायमें प्रवृत्त होते हैं। चूँकि वह निर्गुणस्वरूप अवाङ्मनसगोचर है, उसको वाणीद्वारा साक्षात् कथन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, इसलिये उसमें उपाधिका आरोप करके ही उसके स्वरूपका केवल दिग्दर्शन कराया जा सकता है। चूँकि सर्वसाधारणकी शरीरमें स्वाभाविक ही आत्मबुद्धि है, इसलिये भगवान् शरीररूप क्षेत्रकी उपाधि को ही ग्रहण करके उस उपाधि-भागके त्यागद्वारा निरुपाधिक निर्विशेष तत्त्वको क्षेत्रज्ञरूपसे कथन कर रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुन्तीपुत्र! यह शरीर 'क्षेत्र' ऐसा कहा जाता है जो इसको जानता है उसको 'क्षेत्रज्ञ' ऐसा तत्त्ववेत्ता कथन करते हैं।

भावार्थ—'शरीर' शब्दसे केवल स्थूल शरीर ही अभिप्रेत नहीं है, किन्तु [1]स्थूल सूक्ष्म व कारण तीनों शरीरों और पाँचों कोशोंसे तात्पर्य है। जिस प्रकार खेतमें डाले हुए नाना जातिके बीज अपने-अपने समयपर परिपक्व होकर फल देते हैं, इसी प्रकार भाँति-भाँतिके कर्मरूपी बीज इस शरीररूपी क्षेत्रमें आरोपण

[1] इन तीनों शरीरोंका ब्योरा अ० २ श्लो० २२ की टिप्पणमें देखिये।

लिये हुए अपने-अपने समयपर फलके सम्मुख होते हैं, इसीलिये इस शरीरकी 'क्षेत्र' नामसे संज्ञा की गई। इस शरीरको जो जानता है, अर्थात् प्रकाश करता है, उसको तत्त्ववेत्ता महानुभाव 'क्षेत्रज्ञ' ऐसा कहते हैं। 'मैं शरीर हूँ' अथवा 'मेरा शरीर है'—इस वृत्ति व विषयका जिससे प्रकाश होता है, उसीका नाम 'क्षेत्रज्ञ' है। अन्धकारमें तो किसी भी विषयका ज्ञान नहीं होता, किसी-न-किसी प्रकाशमें ही विषयोंका ज्ञान हुआ करता है। 'मैं नहीं हूँ'—ऐसा ब्रह्मासे लेकर चिउँटीपर्यन्त कभी किसीको ज्ञान नहीं होता। किन्तु क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न और क्या सुषुप्ति सब अवस्थाओंमें ही 'मैं हूँ' ऐसा सबको सर्वदा अखण्ड ज्ञान बना रहता है, चाहे प्रलय कालका घोर अन्धकार भी क्यों न हो। इस ज्ञान व विषयकी जिस प्रकाशमें सिद्धि होती है, उसीको तत्त्ववेत्ता 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। यदि 'क्षेत्रज्ञ' शब्दका अर्थ 'देहको आत्मरूपसे जाननेवाला देहाभिमानी जीव' किया जाय, तो समिचीन नहीं। क्योंकि देहात्मबुद्धि तो सर्वसाधारणकी ही दृष्टि है, इसलिये देहात्मबुद्धि ही कोई तत्त्ववेत्ताओंकी दृष्टिका विषय नहीं हो सकती, किन्तु देहसाक्षी ही तत्त्ववेत्ताओंकी दृष्टिका विषय हो सकता है। और यहाँ तो भगवान्‌का वचन है कि 'इसको जो जानता है उसको तत्त्ववेत्ता क्षेत्रज्ञ कहते हैं' तथा इससे आगे दूसरे श्लोकमें ही भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि 'वह क्षेत्रज्ञ मुझको ही जानो' इसलिये 'क्षेत्रज्ञ' शब्दका अर्थ देहाभिमानी न कर देहसाक्षी करना ही उचित है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

हे भारत! सब शरीररूप क्षेत्रोंमें वह क्षेत्रज्ञ तू मुझको ही

ज्ञान, क्षेत्र व क्षेत्रज्ञको जो तत्त्वसे जानना है वही मेरे स्वरूपका ज्ञान माना गया है।

भावार्थ—सब शरीररूपी क्षेत्रोंमें सब शरीरोंका सत्तारूप प्रकाश, अर्थात् जिसकी सत्तासे ये शरीरादि क्षेत्र अत्यन्त असत् हुए भी सत् प्रतीत हो रहे हैं और स्वसत्ताशून्य एवं जड़ हुए भी प्रकाशमान् व चेतन हो रहे हैं, सब शरीरोंमें वह एक क्षेत्रज्ञ तू मुझे ही जान। जैसे तन्तुसे भिन्न पटादि, मृत्तिकासे भिन्न घटादि और सुवर्णसे भिन्न कुण्डलादिकी अपनी कोई सत्ता नहीं होती, केवल अपने उपादानकी सत्तासे ही असत् हुए भी वे सत् प्रतीत होते हैं। वास्तवमें तो वे घट-पटादि कार्य स्वसत्ताशून्य ही हैं और केवल शब्द-प्रयोगमात्र ही होते हैं अपने उपादान मृत्तिका, तन्तु व सुवर्णमें इनका कोई अर्थ नहीं पाया जाता। इसी प्रकार जिस साक्षी-चेतनकी सत्तासे ये शरीरादि अत्यन्त असत् हुए भी सत्तावान् प्रतीत हो रहे हैं और जिस साक्षी-चेतनमें ये केवल 'शरीर' आदि नामको तो धारण कर रहे हैं, परन्तु जिसमें 'शरीरादि' अर्थरूपसे कुछ भी नहीं मिलता, वह सब शरीरोंमें सबकी एक सत्तारूप 'क्षेत्रज्ञ' तू मुझको ही जान। जिस प्रकार अनेक तरङ्गोंमें जल एक ही होता है, तरङ्गोंकी अनेकतासे जलमें अनेकता नहीं आ जाती, इसी प्रकार सब क्षेत्रोंमें वह क्षेत्रज्ञ एक मैं ही हूँ क्षेत्रोंकी अनेकतासे मुझ क्षेत्रज्ञमें अनेकता नहीं आ जाती।

इस प्रकार जो क्षेत्र व क्षेत्रज्ञका तत्त्वसे जानना है कि 'शरीरादि क्षेत्र असत्, जड़ एवं दुःखरूप हैं तीनों कालमें इनका अभाव है, वर्तमान कालमें भी रज्जुमें सर्पकी भाँति ये केवल भ्रमरूप प्रतीति के ही विषय हैं। वास्तवमें मन-इन्द्रियग्राह्य जितना कुछ भी यह प्रपञ्च दृष्टिगोचर हो रहा है, यह सब सत्, चित् व आनन्दस्वरूप

क्षेत्रज्ञ ही है, जैसे रज्जुमें भासमान सर्प रज्जुरूप ही होता है, सर्पत्व कुछ भी नहीं होता।'

ऐसा जो तत्त्वसे क्षेत्र व क्षेत्रज्ञका स्वरूप जानना है, यही मेरे स्वरूपका जानना है और यही मेरा ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है।

संक्षेपसे कथित विषयको अब विस्तारसे कथन करते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है, वह तू संक्षेपतः मेरेसे सुन।

भावार्थ—वास्तवमें असत्-जड़-दुःखरूप क्षेत्र और उसके विकारादिके निरूपण करनेका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं था। परन्तु यह उस सत्-चित्-आनन्दस्वरूप क्षेत्रज्ञके स्वरूपका द्योतक है, इसलिये उसके स्वरूप-बोधनकी अपेक्षासे इस असत्-जड़रूप क्षेत्रका निरूपण किया जा रहा है कि जिसकी सत्तासे असत् हुए भी ये विकारादि सत् प्रतीत हो रहे हैं और जिसमें ये सब भास रहे हैं तथा जिसके ये सब चमत्कार हैं, यथा—

'यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।'

अर्थात् 'जिसमें ये सब हैं, जिससे ये सब हैं, जो ये सब है और जो सब ओर है' इनके द्वारा उस भासमान व चमत्कारवान्का बोध कराया जाय। जैसे प्रेमीके पत्रको हृदय व आँखोंसे इसी लिये लगाया जाता है कि वह अपने प्रेमीका सन्देश देता है, वास्तवमें प्रयोजन पत्रसे नहीं किन्तु प्रेमीसे ही है। इसी प्रकार उस क्षेत्रज्ञकी छवि दर्शानेवाले होनेसे ये क्षेत्रादि विकार गाये जा रहे हैं, परन्तु वास्तविक प्रयोजन उस सत्-चित्-

आनन्दस्वरूपसे ही है, न कि इन मिथ्या भासोंसे ।

अब श्रोताकी बुद्धिमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये कहे जाने-वाले क्षेत्र व क्षेत्रज्ञके यथार्थ स्वरूपकी स्तुति कर रहे हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

[यह क्षेत्र व क्षेत्रज्ञका तत्त्व] ऋषियोंद्वारा और नाना प्रकारके वेद मन्त्रोंद्वारा पृथक्-पृथक् बहुत प्रकारसे गायन किया गया है तथा भली प्रकार निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी बोधन किया गया है ।

भावार्थ—वेदों व ऋषियोंका बहुत प्रकारसे गायन करनेका यह तात्पर्य नहीं कि यह क्षेत्रज्ञ अनेक प्रकारका है । अनेकता केवल उपाधिरूप क्षेत्रके सम्बन्धसे ही है, न कि क्षेत्रज्ञके सम्बन्ध से । तात्पर्य यह कि उस निर्विशेष तथा अवाङ्मनसगोचर क्षेत्रज्ञ का निरूपण करनेके लिये उपाधिरूप क्षेत्रका उसमें अनेक प्रकार से आरोप किया गया है । परन्तु अन्ततः आरोपित उपाधि का बाध करके और तत्तत् उपाधिसे उस क्षेत्रज्ञको व्यावृत्त करके उस केवल केवली-भावका बोधन करानेमें ही सब ऋषियों व शास्त्रोंका प्रयोजन है ।

अब दो श्लोकोंमें संक्षेपसे क्षेत्रका निरूपण करते हैं—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूल प्रकृति, ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय—(इन चौबीस तत्त्वोंवाला क्षेत्र कहा गया है) ।

भावार्थ—१ आकाश, २ वायु, ३ अग्नि, ४ जल व ५ पृथ्वी—

ये पाँच सूक्ष्म महाभूत हैं, जो सब विकारोंमें व्यापक होनेके कारण महान् कहे जाते हैं और पञ्चीकृत-पञ्चभूतोंका कारण होनेसे सूक्ष्म कहे जाते हैं। महाभूतोंका कारण अहं-प्रत्ययरूप ६ अहंकार, अहंकारकी कारणरूपा निश्चयात्मिका ७ बुद्धि और बुद्धिका भी कारण ८ अव्यक्त-प्रकृति। पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ, अर्थात् ६ श्रोत्र, १० त्वक्, ११ चक्षु, १२ रसना व १३ घ्राण। पञ्च-कर्मेन्द्रियाँ, अर्थात् १४ वाक्, १५ हस्त, १६ पाद, १७ पायु, १८ उपस्थ तथा १६ मन— ये ग्यारह इन्द्रियाँ। और पाँच इन्द्रियोंके विषय, अर्थात् २० शब्द, २१ स्पर्श, २२ रूप, २३ रस व २४ गन्ध। इस प्रकार चौबीस तत्त्वोंवाला यह क्षेत्र कहा गया है।

अब इस क्षेत्रके विकारोंका संक्षेपसे निरूपण करते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, पिण्डरूप देह, चेतना एवं धृति— इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित संक्षेपसे कहा गया।

भावार्थ—सुख-बुद्धिके विषय दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थोंकी प्राप्तिकी चाहका नाम 'इच्छा' है। जो पदार्थ दुःख-बुद्धिका विषय अनुभूत हुआ हो, उसके त्यागकी इच्छाका नाम 'द्वेष' है। अनुकूल-वृत्तिका नाम 'सुख' तथा प्रतिकूल-वृत्तिका नाम 'दुःख' है। देह व इन्द्रियोंका समूह 'संघात' कहाता है। जिस प्रकार लोह-पिण्ड अग्निके सम्बन्धसे प्रकाशमान् होता है, इसी प्रकार अन्तःकरणकी वृत्ति आत्म-चैतन्यके प्रकाशसे प्रकाशमान् हुई 'चेतना' कहाती है। तथा शरीर व इन्द्रियादि जिससे धारण किये जाते हैं वह 'धृति' कहाती है। ये सब अन्तःकरणके धर्म होनेसे और उत्पत्ति-नाशरूप कार्य होनेसे विकार कहे गये। इस प्रकार संक्षेपसे विकारोंसहित क्षेत्रका वर्णन किया गया।

आशय यह है कि चौबीस तत्त्वोंवाला यह क्षेत्र और इच्छा-द्वेषादि इसके विकार, ये सब जिसके प्रकाशसे प्रकाशमान् हो रहे हैं जिसके आश्रय इनकी उत्पत्ति, स्थिति व लय होता है, जो इन सब तत्त्वोंकी गाँठ बाँधकर इन सब अचेतन पदार्थोंको सचेतन कर देता है और फिर इस जड़ पुतलेमें भाँति-भाँतिके विकार प्रकट करता है, वही क्षेत्रज्ञ सत् है और वही एकमात्र तत्त्व है। ये सब तो उसके चमत्कारमात्र और असत्त्व ही हैं।

यह ज्ञान केवल कथनमात्र ही नहीं, बल्कि अपरोक्ष करने के लिये है। अमृत कथन करनेसे ही कोई अमर नहीं हो जाता, पान करनेसे ही होता है। इसलिये इस ज्ञानरूपी अमृतके लिये हृदयरूपी पात्र कैसा होना चाहिये ? सो पाँच श्लोकोंमें कथन करते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

मानका अभाव दम्भका अभाव, अहिंसा, क्षमा सरलता, गुरुसेवा, शौच, स्थिरता और आत्मनिग्रह।

भावार्थ—अपना बड़प्पन प्रगट करना मानित्व है उसका अभाव 'अमानित्व' कहाता है। जो श्रेष्ठ गुण अपनेमें न हो उसको अपनेमें प्रकट करनेका नाम दम्भ है, उस दम्भके अभावका नाम 'अदम्भित्व' है। प्राणियोंको किसी प्रकार कष्ट न देनेका नाम 'अहिंसा' है। अपने प्रति दूसरेका अपराध देखकर भी विकार-रहित रहनेका नाम 'क्षमा' है। मन-वाणीसे भोजन-आच्छादनादि सब व्यवहारोंमें सरलता एवं अकुटिलताका नाम आर्जवता है। श्रद्धा-भक्तिसहित तन-मन-धनसे गुरुकी सेवाद्वारा उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना 'आचार्योपासना' कहाती है। सत्यतापूर्वक द्रव्यका उपार्जन करना और ऐसे शुद्ध द्रव्यसे शुद्ध आहारद्वारा शरीरका

पोषण करना तथा जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धि, यह तो बाह्य शौच कहा जाता है तथा राग-द्वेषादि विकारोंसे अन्तःकरणकी निर्मलताका नाम अन्तः शौच है। इस प्रकार अन्त-र्बाह्य उभय शुद्धिका नाम 'शौच' है। सांसारिक प्रवृत्तिसे हटकर अन्तःकरणका मोक्ष-मार्गमें अचल प्रवाह, 'स्थिरता' कही जाती है। देह, इन्द्रियों तथा मनको स्वाधीन रखना 'आत्मनिग्रह' कहा गया है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इस लोक व परलोकके इन्द्रियोंके विषयोंमें रागका अभाव एवं अहंकारका अभाव तथा जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और व्याधिरूप दुःखोंमें वारम्वार दोष-दर्शन करना।

भावार्थ—जन्ममें गर्भवास तथा योनिद्वारा बाहर निकलनेका जो दुःख है, उसका चिन्तन करना। वैसे ही मृत्युमें शरीरसे प्राणोंका वियोग तथा सम्बन्धियोंका वियोगजन्य जो दुःख है, उसको विचारना। वृद्धावस्थामें प्रज्ञाशक्ति एवं तेजका तिरोभाव तथा तिरस्काररूप दुःखका मनन करना। इसी प्रकार शरीर-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी पीड़ाओंमें दोषदर्शन करना। बाल्या-वस्थामें अशक्तता व चपलतादि दुःख तथा युवावस्थामें कामादि विकारजन्य अनेक दुःखोंका वारम्वार चिन्तन करना। ये सब दुःखके साधन होनेसे दुःख कहे गये हैं। इस प्रकार इन सब दुःखोंमें दोषदर्शन और इस दोषदर्शनद्वारा उभय लोकके इन्द्रि-यग्राह्य विषयोंमें राग तथा अहंकारका त्याग करना।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री एवं गृहादिमें आसक्ति और अभिष्वङ्ग (ममता) का

अभाव तथा इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें नित्य ही चित्तका सम रहना।

भावार्थ—संसारसम्बन्धी स्त्री, पुत्र व धनादिमें प्रीतिका नाम सक्ति है, उसका अभाव 'असक्ति' कहाता है। विशेष सक्तिको 'आसक्ति' कहते हैं। गाढ अभिनिवेशरूप जो विशेष आसक्ति, उसका नाम अभिष्वङ्ग है, जैसे स्त्री-पुत्रादिके सुखी दुःखी और जीने-मरनेपर अपने-आपको ही सुखी-दुःखी और जीता-मरता मानना। इस अभिष्वङ्ग अर्थात् गाढ ममताके अभावका नाम 'अनभिष्वङ्ग' है। तथा इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें हर्ष और अनिष्टकी प्राप्तिमें शोकरूप जो मनोविकार है, उसके अभावका नाम 'सम-चित्तता' है। इस प्रकार ममताके विषय पदार्थोंमें आसक्ति व ममताका त्याग तथा इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें समचित्त रहना।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मुझ सगुणरूपमें अनन्ययोगद्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देशमें रहनेका स्वभाव तथा जनसमुदायमें अरुचि होना।

भावार्थ—जिस अनन्ययोगरूपा सगुण भक्तिका निरूपण अ० १२ श्लो० ६ में किया जा चुका है, भगवान् वासुदेवमें उस अनन्य भक्तिका नाम 'अव्यभिचारिणी भक्ति' है। जो देश स्वभावसे पवित्र हो, या भाड़ने, बुहारने अथवा लेपनादिसे शुद्ध किया गया हो तथा सर्प-व्याघ्रादि जन्तुओंसे रहित हो, ऐसे वन, नदी-तीर अथवा देवालयादि एकान्त पवित्र देशमें रहनेका जिसका स्वभाव हो, वह 'विविक्तदेशसेवी' कहा जाता है। तथा विषयासक्त पुरुषों के संगसे मनमें अत्यन्त ग्लानि होना।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

[तथा] आत्मविषयक ज्ञानका नाम अध्यात्म-ज्ञान है, उसमें मनकी नित्य स्थिति तथा इन साधनोंद्वारा उत्पन्न होनेवाला जो तत्त्वज्ञान उसका अर्थ जो संसारसे उपरतिरूप मोक्ष, उसकी खोज करना। ये सब तो ज्ञानके साधन होनेसे 'ज्ञान' कहा गया है और इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह अज्ञान है।

भावार्थ—इस प्रकार श्लोक ७ से यहाँतक ज्ञानके साधनों का वर्णन किया गया। जैसी वस्तु हो उसके लिये पात्र भी वैसा ही चाहिये, पञ्चामृतको दुर्गन्धयुक्त पात्रमें डालनेसे पवित्र भी अपवित्र हो जाता है। इसी प्रकार इस पवित्र ज्ञानके लिये हृदय-रूपी पात्र ऐसा होना चाहिये, जिसमें संसाररूपी मलकी दुर्गन्ध न हो। यदि दुर्गन्धयुक्त मान, दम्भ, आसक्ति तथा अभिमान-वाले हृदयमें यह ज्ञान भरा जायगा तो वह अवश्य वाचिक ज्ञानी बनकर ही निकलेगा, जिससे वह अपने लिये एवं संसारके लिये शान्तरूप होनेके बजाय अशांतरूप ही सिद्ध होगा और आसुरी-सम्पद्रूप धनका ही धनी रहेगा।

इस प्रकारके निर्मल अन्तःकरणमें जो वस्तु अन्वेषण करने-योग्य है, अब उसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जो वस्तु जाननेयोग्य है और जिसको जानकर मनुष्य अमृतत्व प्राप्त करता है, उस वस्तुका मैं भली भाँति कथन करता हूँ। वह आदिरहित परब्रह्म न सत् और न असत् ही कहा जाता है।

भावार्थ—जो वस्तु उपर्युक्त साधनोंद्वारा जाननेयोग्य है, उसको मैं भली भाँति कथन करता हूँ। उसके जाननेसे किस फलकी प्राप्ति होगी ? उसको जाननेवाला मनुष्य अमरभावको प्राप्त हो जायगा, अर्थात् उसको साक्षात् जानकर जन्म-मरणरूप

संसारके बन्धनसे छूट जायगा और अमृतरूप परमानन्द प्राप्त कर लेगा। उसके ज्ञानमात्रसे ही उस परमानन्दकी प्राप्ति कैसे होगी? क्योंकि वह परमानन्द सब जीवोंका अपना-आप है, केवल उसके अज्ञान करके और अज्ञानद्वारा उस अमृतरूपको अह-त्वंरूप प्रपञ्चके रूपमें अन्यथा ग्रहण करके ही एकमात्र जीवको कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा जन्म-मरणरूप दु:खोंकी प्राप्ति हो रही है। जिस प्रकार भयशून्य रज्जुको सर्पके रूपमें अन्यथा ग्रहण करके ही भ्रमित पुरुषको भय-कम्पनादिकी प्राप्ति होती है और रज्जुके अपरोक्ष ज्ञानसे तत्क्षण सर्परूप विषय तथा तज्जन्य भय-कम्पनादि की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार उस परमानन्दके साक्षात्कारसे यह प्रपञ्चरूप विषय, तज्जन्य कर्तृत्व-भोक्तृत्व और इसके फलस्वरूप जन्म-मरणादि क्लेशोंकी अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। इसीलिये किसी कर्मद्वारा उसकी प्राप्तिका असम्भव जान, उसके अपरोक्ष ज्ञानमात्रसे ही उस परमानन्दकी साक्षात् प्राप्ति और उसका भोग कथन किया गया।

वह जाननेयोग्य वस्तु क्या है? अनादिमत् परब्रह्म। नित्य स्थित, देशकालादि-परिच्छेदशून्य तथा उत्पत्तिशून्य होनेके कारण उसको आदिरहित (उत्पत्तिरहित) 'अनादि' कहा गया। अर्थात् भूत, भविष्य व वर्तमान तीनों कालोंद्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती, यद्यपि तीनों काल उस करके सिद्ध होते हैं। चूँकि वह परब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है, इसलिये निर्द्वन्द्व होनेके कारण किसी शब्दका उसमें साक्षात् प्रवेश असम्भव है। क्योंकि वाणीद्वारा जो कुछ भी बोधन किया जाता है वह द्वन्द्वरूप ही होता है, निर्द्वन्द्व में वाणीकी गम नहीं होती। वाणीद्वारा जाति, गुण, क्रिया अथवा सम्बन्धका ही बोध होता है, परन्तु वह परब्रह्म न कोई जाति ही रखता है न गुण, न वह क्रिया ही है और न सम्बन्ध। इसलिये

उसके स्वरूप-बोधनके निमित्त निषेधात्मक विरोधी शब्दोंका प्रयोग किया गया कि वह परब्रह्म न सत् कहा जा सकता है, न असत्। सत् तो उसको तब कहें कि जब उससे भिन्न उसके समान-सत्तावाली कोई असत्‌रूप वस्तु विद्यमान हो। किन्तु जैसे जलमें जलसे भिन्न तरङ्गादि कोई वस्तु हाथ नहीं लगती, केवल दृष्टिका धोखा ही होता है; वैसे ही परब्रह्ममें परब्रह्मसे भिन्न प्रपञ्च कुछ मिलता नहीं है। और जब उसमें उससे भिन्न असत्‌रूपसे कोई वस्तु है ही नहीं, तब उस परब्रह्मको सत् कैसे कहें? क्योंकि केवल असत् से व्यावृत करनेके लिये ही 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। फिर असत् तो उसको कहा ही कैसे जाय कि जिसकी सत्तासे असत्‌रूप प्रपञ्च भी सत् हो रहा है। तथा 'असत्' शब्द भी सत् से व्यावृत्तिके लिये ही है, परन्तु जब उस परब्रह्मसे भिन्न सत्‌रूप कोई वस्तु है ही नहीं, फिर उसको असत् कैसे कहें और 'असत्' शब्दके अर्थकी उसमें गम कैसे हो? यदि उससे भिन्न सत्‌रूप कोई वस्तु हुई होती तो उस सत्-वस्तुसे व्यावृत्तिके लिये उसे असत् कहा जाता। इसलिये वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही। 'सत्' 'असत्' शब्दोंकी उसमें गम न होनेके कारण उसको शून्यरूप भी न समझ लिया जाय। बल्कि भावार्थ यह है कि जिस प्रकार सुवर्णमें कटक-कुराडलादि भूषणोंका न भाव है न अभाव। कटक-कुराडलादिके प्रयोगकालमें भी सुवर्ण अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों है और उनके अभाव-प्रयोगकालमें भी ज्यों-का-त्यों ही है। यद्यपि कटक-कुराडलादिके भाव व अभावका स्फुरण सुवर्णके आश्रय ही होता है, परन्तु सुवर्णके स्वरूपमें उन भाव एवं अभावोंका कोई स्पर्श नहीं होता। इसी प्रकार यद्यपि 'सत्' 'असत्' शब्द व अर्थ उस परब्रह्मके आश्रय ही स्फुरित होते हैं, परन्तु उसके स्वरूपमें उन शब्दों व अर्थोंका कोई स्पर्श

नहीं होता। 'सत्' 'असत्' शब्द व अर्थ केवल वाचारम्भणमात्र ही हैं वस्तुतः साररूप सारे-का-सारा परब्रह्म ही है, सत्-असत् आदि उसमें रञ्चकमात्र भी नहीं।

वह ज्ञेय 'सत्' शब्दद्वारा होनेवाली प्रतीतिका विषय नहीं है, इस उपर्युक्त वचनसे उसके न होनेकी आशङ्का उत्पन्न होती है। इसलिये उस आशङ्काकी निवृत्तिके लिये भगवान् स्वयं निम्न श्लोक कथन करते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

वह ज्ञेय सब ओरसे हाथ-पाँववाला सब ओरसे नेत्र, शिर एवं मुखवाला और सब ओरसे श्रोत्रवाला है तथा संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।

भावार्थ—वह ज्ञेय सब ओरसे हाथ, पाँव, नेत्र, शिर मुख तथा श्रोत्रवाला है। अर्थात् सब प्राणियोंकी सब इन्द्रियरूप उपाधियोंद्वारा उस ज्ञेयरूप क्षेत्रज्ञका अस्तित्व जाना जाता है। देह, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धयादि जिस शक्तिसे अपने-अपने व्यवहारमें वर्त रही हैं वह सबकी सत्ता-स्फूर्तिरूप यह परब्रह्म ही है। संसार में इससे भिन्न और कोई है ही नहीं कि जिसकी शक्तिको धारकर यह जड़ संसार नृत्य करे, किन्तु सब शक्तियोंकी-शक्ति यही है। इसीलिये संसारमें जितने भी असंख्य हाथ पाँव आदि देहेन्द्रियाँ हैं वे सब इसीके हैं, क्योंकि हाथों-का-हाथ, आँखों-की-आँख, श्रोत्रों-का-श्रोत्र, प्राणों-का-प्राण और मनों-का-मन यही है। यथा श्रुति—'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्' इत्यादि। इससे भिन्न तुच्छरूप अहंकार जो बिडालकी भाँति इस शरीररूपी बिलमें बैठकर 'मैं' 'मैं' घुर्राता रहता है केवल देहेन्द्रियादिके व्यवहारोंमें अहंकर्तृत्वाभिमान धार लेनेके सिवा वास्तवमें इसका अपना

कर्तापन कुछ भी नहीं होता है। जो कुछ भी आँखके द्वारा देखने में आता है, उस दृष्टिरूप व्यवहारमें मस्तिष्कके अन्दर असंख्य नाड़ियोंमें असंख्य चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं, तब दृष्टिरूप व्यवहार की सिद्धि होती है। उन किसी भी चेष्टाओंसे इस तुच्छ अहंकारका रञ्चकमात्र कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु इस ज्ञेयरूप चेतनकी सत्ता-स्फूर्ति तो तरंगोंमें जलके समान प्रत्येक नाड़ी और प्रत्येक चेष्टाके ऐन नीचे ही विद्यमान रहती है। विचारसे देख सकते हैं कि जब यह चेतनशक्ति इस स्थूल शरीरसे निकलकर स्वप्न-अवस्थामें केवल मन-बुद्धिसे ही बर्ताव रखती है और उनमें ही अपना प्रकाश डालती है, तब देह व इन्द्रियोंका व्यापार एकदम बन्द हो जाता है। मुखमें रसयुक्त, घ्राणमें गन्धयुक्त द्रव्य मौजूद भी हो और सभी इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे सम्बन्ध विद्यमान भी हो, परन्तु तब वे कोई भी अपने विषयको ग्रहण नहीं कर सकतीं। इससे स्पष्ट है कि वे सब इस चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिसे ही अपने-अपने व्यवहारोंमें समर्थ होती हैं, इस तुच्छ अहंकारका कर्तृत्व रञ्चक भी नहीं होता। कर्तृत्वाभिमान को धारकर अपनेको फल-भोगके बन्धनमें बन्धायमान कर लेना, केवल यही इसका प्रयोजन रह जाता है और कुछ भी नहीं। शेषमें इस चेतनशक्तिके सिवा और कोई तो इस संसाररूपी कठपुतलीको नचानेवाला हो ही नहीं सकता। बल्कि कहना पड़ेगा कि इस तुच्छ अहंकारमें भी अहन्ता उसी चेतनके आभाससे इसको उधार मिली हुई है, इसमें अपनी अहन्ता भी नहीं। क्योंकि सुषुप्ति-अवस्थामें जब यह चेतनदेव इसमेंसे अपना आभास निकाल लेता है, तब इसकी अहन्ता भी लुप्त हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि देहेन्द्रियादिके सब व्यवहारोंकी एकमात्र सत्ता यही है। और जैसे यह एक शरीरको चलाता है, वैसे

ही समष्टि देहेन्द्रियमनबुद्धयादिका सञ्चालक भी यही परब्रह्म है। इसीलिये कहा गया कि 'वह सब ओरसे हाथ, पाँव, आँख, शिर, मुख तथा श्रोत्रवाला है और सबको आवृत्त करके स्थित है।' अर्थात् इन सब इन्द्रियादिकी उपाधियोंमें उसीकी सत्ता होते हुए भी वह स्वयं उपाधिवाला नहीं हो जाता।

वह स्वयं उपाधिवाला नहीं हो जाता, इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिये अगला श्लोक कथन किया जाता है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

[वह ज्ञेय] सब इन्द्रियों और उनके गुणोंको प्रकाश करनेवाला है, परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे अतीत है। सबको धारण-पोषण करता हुआ भी सबसे निर्लेप है और सब गुणोंको भोगता हुआ भी गुणातीत है।

भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें उस परब्रह्मको सब ओरसे हाथ पाँव, शिर तथा मुखवाला कहा गया। इससे कोई यह अनुमान न करले कि वह परब्रह्म रावणादिके समान बहुत-से शिर-मुखवाला कोई व्यक्ति विशेष होगा। इसलिये इस श्लोकमें स्पष्ट करके कहते हैं कि वह परब्रह्म सब इन्द्रियों और उनके विषयोंको प्रकाश करनेवाला है, परन्तु आप इन्द्रियातीत है। इन्द्रियाँ और उनके विषय अपने स्वरूपसे कादाचित्क हैं, अर्थात् कदाचित् हैं और कदाचित् नहीं। श्रोत्र व त्वक् आदि इन्द्रियाँ और शब्द-स्पर्शादि उनके विषय जाग्रत्में हैं, परन्तु स्वप्नमें नहीं। तथा मन-बुद्धयादि अन्तःकरण और निश्चय-संकल्पादि उनके विषय जाग्रत्-स्वप्नमें हैं, परन्तु सुषुप्तिमें नहीं। जो वस्तु कदाचित् है और कदाचित् नहीं, वह आदि-अन्तके बिना केवल मध्यकालवर्ती होनेसे मृगतृष्णाके जलके समान आभासमात्र ही होती है।

और आभासकी सिद्धि किसी एक त्रिकाल-अबाधित सत् अधिष्ठानके आश्रय ही हो सकती है। इस प्रकार मन-बुद्ध्यादि अन्तःकरण, श्रोत्र-त्वक् आदि बाह्यकरण (इन्द्रियाँ) और उनके विषय कादाचित्क होनेसे आभासमात्र ही हैं। परन्तु वह पर-ब्रह्म तो नित्य, अचल तथा कूटस्थ होनेसे इन सब इन्द्रियों व विषयोंकी अधिष्ठानरूप सत्ता है, जो कि जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति सभी अवस्थाओंमें विद्यमान है और इन इन्द्रियों व विषयोंके भाव व अभावको अपनी सत्तामात्रसे प्रकाशता है तथा आप इन सबसे अतीत है। ज्ञानके साधन होनेसे जिस प्रकार इन्द्रियाँ बाह्यकरण हैं, इसी प्रकार मन-बुद्ध्यादि भी अन्तःकरण होनेसे यहाँ 'इन्द्रिय' शब्दके अन्तर्गत ही जाननेयोग्य हैं। इस प्रकार वह परब्रह्म अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे सम्पूर्ण चराचर जगत्को धारण-पोषण करता हुआ भी, अनेक प्रतिबिम्बोंमें दर्पणके समान सबसे अतीत है। तथा सब गुणोंको भोगता हुआ भी, अर्थात् सत्त्व, रज व तम तीनों गुण और हर्ष, शोक व मोहादि इनके परिणामोंकी उपलब्धि का आश्रय होता हुआ भी वह परब्रह्म सब गुणोंसे अतीत है। इस प्रकार सब उपाधियों और उनके धर्मोंसे उस ज्ञेयकी असंगता वर्णन की गई।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

[तथा वह ज्ञेय] चराचर सब भूतोंके अन्तर्बाह्य परिपूर्ण है और चर एवं अचररूप भी वही है, सूक्ष्म होनेसे वह जाननेमें नहीं आता, परन्तु दूर व समीपमें वही स्थित है।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे उस ज्ञेयकी सत्ता सब उपाधिरूप देहेन्द्रियादिमें वर्णन की गई। ऐसी अवस्थामें वह ज्ञेयरूप परब्रह्म उपाधियोंमें ही सीमाबद्ध रहनेके कारण देश-परिच्छेदवाला होगा,

ऐसी अव्याप्ति-शङ्का मनमें लाकर भगवान् कहते हैं—

वह परब्रह्म केवल इन्द्रियात्मक देहोंमें ही नहीं, किन्तु स्थावर-जङ्गमरूप सब भूतोंमें स्थित है। जिस प्रकार पटमें तन्तु और घटमें मृत्तिका अनुगत होती है, इसी प्रकार वह परब्रह्म सब भूतोंमें अनुगत है। क्योंकि सब चराचर भूत स्वभावत. सत्तावान् प्रतीत होते हैं, सो सब भूतोंमें एकमात्र व्यापक सत्ता उस परब्रह्मकी ही है। इस प्रकार केवल भूतात्मक द्रव्योंमें ही नहीं, बल्कि चर-अचररूप सब क्रियाओंमें भी अपनी सत्तारूपसे वही प्रकाशता है, क्योंकि सब द्रव्य, गुण व क्रियाएँ अस्तिरूपसे ही अनुभव होते हैं, नास्तिरूपसे कोई भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। अत: वह परब्रह्म अपनी सर्वव्यापकता करके सम्पूर्ण द्रव्य, गुण व क्रियात्मक चराचर भूतोंमें उन सबकी सत्तारूपसे स्थित है। वास्तवमें यदि तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो चर एव अचररूपसे वही भासता है, अर्थात् रज्जुमें सर्पके समान सब चर व अचर भूतोंकी उसीके आश्रय आभासमात्र प्रतीति होती है। केवल भूतोंके अन्तर ही नहीं, बल्कि भूतोंसे भिन्न जितना कुछ भी बाह्य देश है, वह सब भी उस परब्रह्मसे ही व्याप्त है। इस प्रकार सर्वव्यापक हुआ भी वह परब्रह्म अपनी सूक्ष्मताके कारण अज्ञानियोंद्वारा जाना नहीं जाता। जिस प्रकार नेत्रमें स्थित अञ्जन, नेत्रोंके अति सन्निकट होनेसे नेत्रोंद्वारा देखा नहीं जा सकता, इसी प्रकार अपनी सूक्ष्मता करके इन्द्रिय-मन-बुद्धिमें तादात्म्यरूपसे स्थित हुआ भी वह परब्रह्म इन्द्रिय-मन-बुद्धिद्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। अत' अज्ञानियोंके लिये अज्ञात होनेके कारण और करोड़ों वर्षोंतक भी प्राप्त न हो सकनेके कारण वह दूर-से-दूर है, परन्तु ज्ञान-दृष्टिसे ज्ञानियोंके लिये उनकी आत्मा ही होनेके कारण निकट-से-निकट है। अथवा यूँ कहो कि दूर-

से-दूर और निकट-से-निकट सर्वत्र वही व्याप रहा है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

तथा वह ज्ञेय सब भूतोंमें पृथक्-पृथक्के सदृश प्रतीत होता हुआ भी (वस्तुतः एक रूपसे) विभागरहित स्थित है तथा भूतों का भरण-पोषण करनेवाला, संहार करनेवाला और उत्पत्ति करनेवाला वही है।

भावार्थ—उपर्युक्त वचनोंसे वह परब्रह्म यद्यपि देशगत परिच्छेदसे रहित सर्वदेशव्यापी सिद्ध हुआ, तथापि घट-पटादिके विभागसे वह परब्रह्म भी वस्तु-परिच्छेदवाला एवं विभक्त होगा और सर्वदेशगत होते हुए भी भूत-भविष्य कालके विना केवल वर्तमान कालमें ही रहनेवाला काल-परिच्छेद्य होगा। ऐसी शङ्का के उपस्थित होनेपर भगवान् कहते हैं—

वह परब्रह्म सब भूतोंमें पृथक्-पृथकरूपसे विभक्त-सा प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः अविभक्तरूपसे स्थित है। अर्थात् यद्यपि घटका पटसे भेद, मठका घटसे भेद, इत्यादि रूपसे सर्व वस्तुओं का परस्पर भेद है और वे परस्पर वस्तु-परिच्छेदवाले हैं, तथापि उन सब वस्तु-परिच्छेदोंमें वह परब्रह्म उनकी सत्तारूपसे एक ही उन सबमें अनुगत व व्यापक है। उस सत्ता-सामान्यमें किसीका भी भेद नहीं, किन्तु उसमें वे सभी अभेदरूप हैं। जिस प्रकार एक तरङ्गका दूसरी तरङ्गसे तो भेद है परन्तु जलसे किसीका भी भेद नहीं, इसी प्रकार ये पृथक्-पृथक् भूत अपने सम्बन्धसे उस परब्रह्मको किसी प्रकार विभक्त नहीं कर सकते। जिस प्रकार स्वप्न-प्रपञ्च अपने सम्बन्धसे जाग्रत्-आकाशमें कोई विभाग नहीं कर सकता, इसी प्रकार सब भूत अपने सम्बन्धसे उसमें

कोई विभाग नहीं कर सकते। अत वह परब्रह्म वस्तुपरिच्छेद से रहित कथन किया गया।

तथा भूतोंकी उत्पत्ति, पालन व संहार भी उस ज्ञेयरूप परब्रह्मके आश्रय ही होता है। जिस प्रकार मिथ्या व कल्पित सर्पदण्डादिकी उत्पत्ति, स्थिति व लय रज्जुके आश्रय ही सिद्ध होता है और रज्जु उनके आदि, मध्य व अन्तमें ज्यों-की-त्यों रहती है, इसी प्रकार भूतोंके आदि, मध्य व अन्तमें वह अचलरूपसे स्थित है और भूत, भविष्य व वर्तमान त्रिकालव्यापी सिद्ध है। अत वह काल-परिच्छेदसे भी रहित है।

इस रीतिसे वह परब्रह्म देश, काल व वस्तु त्रिविध परिच्छेद से रहित अपरिच्छिन्न सत्‌रूपसे वर्णन किया गया।

यदि सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी वह प्रत्यक्ष नहीं होता, तो क्या वह अन्धकार है? ऐसी शङ्का उपस्थित होनेपर श्रीभगवान् कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

[तथा वह ज्ञेय] ज्योतियोंका भी ज्योति है और मायासे परे (अर्थात् निर्लेप) कहा गया है। सब ज्ञान व ज्ञेयोंका प्रकाशनेवाला सबके हृदयोंमें ही स्थित है और तत्त्व-ज्ञानसे प्राप्त होता है।

भावार्थ—पिछले श्लोकोंमें उस परब्रह्मको त्रिविध-परिच्छेदविनिर्मुक्त सत्‌रूपसे वर्णन किया गया, अब उसको चेतनरूपसे वर्णन करते हैं—

वह परब्रह्म अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा विद्युत् आदि सब ज्योतियोंका भी ज्योतिरूप है। अर्थात् सूर्यादि ज्योतियोंमें अपनी कोई ज्योति नहीं है, किन्तु आप जड़रूप होते हुए भी ये सब उसी परब्रह्मकी ज्योतिसे ज्योतिर्मान् हो रहे हैं, जैसे लोहा स्वयं

जड़ होता हुआ भी अग्निके प्रकाशसे प्रकाशमान प्रतीत होता है। तमरूप जो माया व अज्ञान है, वह परब्रह्म उससे भी परे (अर्थात् असंग) है और उसका भी प्रकाश करनेवाला है। तथा वृत्ति-रूप ज्ञान एवं ज्ञानोंका विषय जो ज्ञेयरूप प्रपञ्च, उन सबका प्रकाश करनेवाला है। सब हृदयोंमें आत्मरूपसे वही स्थित है और केवल तत्त्वज्ञानसे ही प्राप्त होनेयोग्य है।

उपर्युक्त समस्त अर्थका उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान एवं ज्ञेयका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—इस प्रकार शरीररूप क्षेत्र (श्लोक ५-६), ज्ञान (श्लो.७-११) और ज्ञेयरूप परब्रह्मका स्वरूप (श्लो. १२-१७) संक्षेपसे कहा गया। मेरा भक्त (जो उपर्युक्त श्लो. ७ से ११ पर्यन्त कहे हुए साधनोंसे सम्पन्न है) इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। अर्थात्—

'सम्पूर्ण उपाधिरूप प्रपञ्च क्षेत्र है और वह अपने स्वरूपसे जड़, विकारी एवं तुच्छ है, अपनी कोई सत्ता नहीं रखता। क्षेत्रज्ञ सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह क्षेत्रके विकारोंसे विकारी नहीं होता। तथा यद्यपि सब विकारोंमें उसकी सत्ता अवश्य रहती है, तथापि वह आप सबसे असंग है।'

इस प्रकार तत्त्वसे साक्षात्कार करके कि 'सब क्षेत्रोंकी सत्ता और सबसे असंग वह क्षेत्रज्ञरूप आत्मा मैं ही हूँ' मेरा भक्त मुझमें अभेदरूप योग प्राप्त कर लेता है।

क्षेत्र व क्षेत्रज्ञरूपसे जो ज्ञान पीछे वर्णन किया गया, अब उसीको प्रकृति व पुरुष-विवेकरूपसे पुनः वर्णन करते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

[हे अर्जुन !] प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही तुम अनादि जानो तथा त्रिगुण एवं त्रिगुणात्मक जितने भी विकार हैं, वे सब प्रकृतिसे उत्पन्न हुए जानो।

भावार्थ—अनादि नाम अनुत्पन्नका है, जो वस्तु उत्पत्तिरहित हो उसको अनादि कहा जाता है। इन दोनोंमेंसे पुरुष तो नित्य, अज व अव्यय होनेसे अनादि है और रज्जुमें सर्पके समान, पुरुषमें प्रकृति केवल प्रतीतिमात्र होनेसे अनादि है । अर्थात् पुरुषमें यह प्रकृति किसी आरम्भ-परिणाम करके उत्पन्न नहीं हुई, केवल आभासमात्र फुर आई है, इसलिये भ्रममात्र, असत् व जड़रूप है। इस रीतिसे प्रकृति व पुरुष दोनोंको अनादि कहा गया। इससे विपरीत यदि दोनोंको नित्य, अज व अव्ययरूपसे अनादि माना जाय तो असम्भव है, क्योंकि समान-सत्ताके दो पदार्थ देश, काल एवं वस्तुपरिच्छिन्न होनेसे दोनों ही नाशवन्त होते हैं, इसलिये अनादि नहीं हो सकते। इस प्रकार पुरुष तो अचल-कूटस्थरूपसे स्थित है और सम्पूर्ण गुण व विकार प्रकृति के ही परिणाम हैं। अर्थात् अखिल संसार प्रकृतिका परिणाम और चेतन (पुरुष) का विवर्त है, यह सिद्ध हुआ। स्मरण रहे कि प्रकृतिके कल्पित सम्बन्धसे ही चेतनकी 'पुरुष' संज्ञा की जाती है। ज्ञानद्वारा कल्पित सम्बन्धका बाध हो जानेपर वह अपने-आपमें शुद्ध चेतन ही है।

यह संसार रचना प्रकृति व पुरुष दोनोंके परस्पर सम्बन्धसे ही हुई है, इसमें दोनों जिस-जिस अंशमें हेतु हैं, उसका कथन करते हैं—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य, करण और कर्तापनमें प्रकृति हेतु कही गई है और सुख-दुःखोंके भोगनेमें पुरुष हेतु कहा गया है।

भावार्थ—पञ्चभूत, तज्जन्य स्थूल-शरीर, जगत् तथा शब्द-स्पर्शादि पञ्च विषय तो कार्यरूप हैं और दश इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व अहंकार करणरूप हैं। तथा उपादानरूप कर्ता, अर्थात् कार्य व करणका परिणामी-उपादान यह प्रकृति है। इस प्रकार इन कार्य, करण व कर्तापनमें प्रकृति हेतु कही गई है, अर्थात् प्रकृति के बिना इन कार्यों व करणोंकी रचनाका असम्भव है। इसीलिये इन कार्य व करणोंके प्रति प्रकृतिको हेतुरूपसे कथन किया गया। और सुख-दुःखोंके भोगमें पुरुष हेतु कहा गया है, अर्थात् चेतन-पुरुषके बिना सुख-दुःखोंका भोग नहीं बन सकता, इसलिये पुरुष को सुख-दुःखके भोगके प्रति हेतुरूपसे कथन किया गया।

जिस प्रकार महाराजाधिराजके भोगके लिये उसके सेवक महल, बाग, बगीचे आदि भोग्यस्थल—मेवा, मिठाई, पान, इलायची आदि भोग्यसामग्री—तथा चाकू, चम्मच, रकाबी आदि भोगके सुन्दर-सुन्दर साधन हाज़िर कर देते हैं; इसी प्रकार यह प्रकृति भोग्यस्थल, भोग्य व साधनरूप यह संसार इस महाराजाधिराज पुरुषके भोगके लिये तत्काल निर्माण कर देती है। इसमें इस चेतन-पुरुषका कर्तृत्व रञ्चकमात्र भी नहीं है, केवल प्रकृति-रचित सामग्रीद्वारा सुख-दुःखोंका भोग कर लेना, इतने मात्रमें ही पुरुष तो हेतुरूपसे कथन किया गया है। जिस प्रकार मनुष्य चम्मच तथा प्याला आदिके द्वारा दूध-चाय आदिका भोग करता है, इसी प्रकार यह पुरुष इन्द्रियमनबुद्ध्यादिके द्वारा अखिल संसारका भोग करता है। इनमें इन्द्रियमनबुद्ध्यादि तो भोगके

साधन होनेसे करण है, शब्द-स्पर्शादि पञ्चविषयात्मक यह कार्य-रूप अखिल संसार भोग्य है और स्थूल-शरीर भोगायतन (अर्थात् भोग-स्थल) है। इन सब कार्य-करणोंको रचनेवाली यह प्रकृति ही है और इसकी सम्पूर्ण रचनाका एकमात्र हेतु यही होता है कि वह इस महाराजाधिराजको अपने बोये हुए कर्म-बीजोंके खट्टे-मीठे, अर्थात् सुख-दुःखरूप फल चखावे। इस प्रकार इन फलोंका स्वाद ले लेना, इतना मात्र ही पुरुषका प्रयोजन है।

पिछले श्लोकोंमें कहा गया कि प्रकृतिकी सम्पूर्ण चेष्टा एक-मात्र पुरुष (क्षेत्रज्ञ) के भोगके लिये ही है। अब ऐसी शङ्काके उपस्थित हुए कि इस पुरुषको भोगोंका बन्धन किस निमित्तसे है? इसका समाधान किया जाता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिजन्य गुणोंका भोग करता है और गुणोंका सङ्ग ही इस पुरुष (जीवात्मा) के लिये भली-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।

भावार्थ—आशय यह है कि यह पुरुष अनादि, अज व अव्यय होनेसे अपने स्वरूपसे तो नित्य-निर्विकार ही है। ऐसी अवस्था में अनित्य वस्तु (प्रकृति) के साथ नित्य वस्तुका सम्बन्ध और उस अनित्य वस्तुके सम्बन्धसे नित्य निर्विकारको भोगका बन्धन परमार्थसे नहीं, किन्तु काल्पनिक और अज्ञानजन्य ही है। केवल अपने स्वरूपके अज्ञानसे यह पुरुष प्रकृतिमें स्थित हुआ, अर्थात् प्रकृतिके साथ तादात्म्य हुआ प्रकृतिके गुण व परिणामोंको अपने में कल्पना करके आप ही अपने अज्ञानसे प्रकृतिके साथ बन्धाय-मान हो गया है और प्रकृतिस्वरूप ही बन गया है। सुख, दुःख व मोहादि हैं तो प्रकृतिके गुणोंके परिणाम, परन्तु उनको अपनेमें

मानकर 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूढ़ हूँ, मैं पण्डित हूँ'—ऐसा अपने स्वरूपमें अनुभव करता है। तथा कर्मोंका कर्तृत्व है तो प्राकृतिक गुणोंके परिणामरूप देह, इन्द्रिय, मन व बुद्ध्यादिमें, परन्तु देहेन्द्रियादिके सम्पूर्ण कर्तृत्वको अपनेमें आरोप करके 'मैं सोता-जागता हूँ, खाता-पीता हूँ, सुनता-देखता हूँ तथा संकल्प व निश्चय करता हूँ'—इत्यादि रूपसे अपनेमें देखने लगा। इस प्रकार अज्ञानद्वारा प्रकृतिके गुणोंका कर्तृत्व व भोक्तृत्वरूप संग एवं आसक्ति ही इस पुरुषके लिये भली-बुरी योनियोंमें जन्मका कारण है। जिस प्रकार राजा निद्रादोषसे स्वप्नमें अपनेको भिखारी जानता है और तज्जन्य दुःखोंका भोग करता है, इसी प्रकार यह पुरुष अज्ञानरूप मदिराके आवेशमें आया हुआ प्रकृतिके साथ बन्धायमान हो गया है। इस प्रकार देहेन्द्रियादिके कर्तृत्वको अपनेमें आरोप करके आप ही प्रकृतिकी नीतिसे बँधा हुआ शुभाशुभ कर्मोंद्वारा भली-बुरी योनियोंमें भ्रमण करता है और सुख-दुःखका भागी होता है।

परन्तु वास्तवमें ज्ञानद्वारा अज्ञानके निवृत्त होनेपर तो—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

[यह पुरुष] इस देहमें स्थित हुआ (त्रिगुणमयी प्रकृतिसे) परे अर्थात् असंग है और उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर व परमात्मा, ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ—पिछले श्लोकमें यह बतलाया गया कि इस पुरुषको प्रकृतिका संग तथा भोगका बन्धन केवल अज्ञानजन्य है, नित्य नहीं अनित्य है और वास्तविक नहीं काल्पनिक है। यदि किसी रीतिसे यह संग सत्य माना जाय, तो पुरुषको भोगका बन्धन नित्य ही रहना चाहिये। यदि बन्धन नित्य हुआ तो मोक्ष असंम्भव

होगा, मोक्षके साधन गुरु-शास्त्र निष्प्रयोजन होंगे और मोक्षनिमित्त पुरुषार्थ भी निष्फल ही होगा। परन्तु वस्तुत' ऐसा नहीं है, किन्तु अपने स्वरूपके अज्ञान करके और प्रकृतिके कर्तृत्व व भोक्तृत्वको अपनेमें कल्पना करके इसको मिथ्या ही जन्म-मरणका वन्धन होना है। जिस प्रकार भ्रमरूप सर्पसे रज्जु विषैली नहीं हो जाती, मृग-तृष्णाके जलसे पृथ्वी गीली नहीं हो जाती, इसी प्रकार काल्पनिक प्रकृतिके काल्पनिक संगसे पुरुषको परमार्थसे वन्धन नहीं हो जाता। ज्ञानद्वारा अज्ञानके निवृत्त हो जानेपर तो यह पुरुष न भोक्ता और न कर्ता ही होता है। किन्तु देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादि जो कर्म और भोगके साधन हैं, उनके अत्यन्त समीप असंगरूप से स्थित रहकर यह इसी प्रकार 'उपद्रष्टा' कहा जाता है, जिस प्रकार यज्ञ-विद्यामें कुशल कोई अन्य पुरुष स्वय यज्ञ न करता हुआ, यज्ञ-कर्ममें प्रवृत्त पुरोहित व यजमानोंद्वारा किये गये कर्म-सम्बन्धी गुण व दोषोंको तटस्थरूपसे देखता रहता है। तथा अन्तःकरण व इन्द्रियादिके व्यापारोंमें स्वय प्रवृत्त न होता हुआ भी उनके अनुकूल प्रवृत्त होता हुआ-सा दीखता है। अर्थात् अपने व्यापारोंमें लगे हुए अन्त करणादिको उनका साक्षी हुआ कदापि निवारण नहीं करता और इसी प्रकार 'अनुमन्ता' कहा जाता है, जिस प्रकार अपने नृत्य-व्यापारमें प्रवृत्त नटनीको नट ताल दे-देकर अनुमोदन करता रहता है। अपनी सत्तासे देहे-न्द्रियादिको धारण करनेवाला होनेसे 'भर्ता' कहा जाता है। तथा विषयसम्बन्धसे अन्तःकरणकी सुखाकार व दु'खाकार वृत्तियाँ चेतन-आत्मा (पुरुष)के आभासद्वारा ही ग्रहण की हुई-सी प्रतीत होती हैं। अर्थात् 'मैं सुखी हूँ, मैं दु'खी हूँ'—इत्यादि रूपसे सब वृत्तियाँ उस चेतन-पुरुषके सन्निधानसे ही सफल होती हैं इसलिये इसको 'भोक्ता' कहा जाता है। विचारसे देखा जाय तो

उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता—इत्यादि संज्ञाएँ प्रकृतिके व्यापारोंमें साक्षीरूपसे सन्निधानके कारण इस पुरुषमें उपचार की जाती हैं, वास्तवमें तो यह ब्रह्मादिकोंका भी स्वामी होनेसे 'महेश्वर' तथा सब चराचर भूतोंका आत्मा होनेसे एवं अपने शुद्ध सच्चिदानन्द-रूपसे 'परमात्मा' ऐसा कहा गया है। क्योंकि घटादिकी उपाधि करके जिस प्रकार आकाशमें कोई भेद व परिच्छेद नहीं हो जाता, इसी प्रकार देहादिकी उपाधि करके इस चेतन-पुरुषमें किसी प्रकार भेद व परिच्छेद नहीं हो सकता, वह तो अपने स्वरूपसे नित्य ही सब भेद व परिच्छेदोंसे विनिर्मुक्त है।

इस विवेकका फल निरूपण करते हुए इसका उपसंहार करते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो मनुष्य इस प्रकार 'पुरुष' और गुणोंके सहित 'प्रकृति'को तत्त्वसे जानता है, वह सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।

भावार्थ—जो पुरुष तत्त्वसे यह जानता है कि 'सम्पूर्ण कार्य-रूप संसार और इन्द्रियमनबुद्धयादि करण एकमात्र प्रकृतिके परिणाम हैं तथा प्रकृतिके कल्पित सम्बन्धसे प्रकृतिके गुण, कर्म व जन्मादिका पुरुषमें मिथ्या ही भास होता है, वास्तवमें पुरुषको इनका कोई स्पर्श नहीं होता। जैसे दर्पणमें मुखादिका भास होते हुए भी मुखादिरूप मलका दर्पणमें कदाचित् स्पर्श नहीं होता, तैसे ही पुरुष (आत्मा) प्रकृतिके गुण-कर्मादिसे सर्वथा निर्लेप है। सो साक्षीरूप पुरुष (आत्मा) मैं हूँ।' प्रकृतिसे भिन्न अपने साक्षी-स्वरूपको जो इस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे जानता है, वह सब प्रकार वर्तता हुआ भी मुक्त ही है और वह फिर जन्मके बन्धनमें नहीं आता।

ऊपरके श्लोकमें कहा गया कि जिन्होंने इस प्रकार प्रकृति व पुरुषके स्वरूपको तत्त्वसे जाना है, ऐसे तत्त्ववेत्ता ज्ञानी चाहे कैसे भी बर्ताव करें, वे फिर जन्मको प्राप्त नहीं होते और उनपर कोई विधि नहीं रहती। ऐसे तत्त्ववेत्ताओंका बर्ताव किस-किस प्रकारका होता है? सो नीचेके श्लोकमें कहा जाता है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई तो (शुद्ध व सूक्ष्म बुद्धिसे) ध्यानरूप समाधिके द्वारा कोई सांख्ययोगके द्वारा और कोई कर्मयोगके द्वारा आत्मा करके आत्मामें आत्माको देखते हैं।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे जिन तत्त्ववेत्ताओंने प्रकृतिके सम्पूर्ण गुण व परिणामोंसे अपने आत्माको असंग साक्षात् अपरोक्ष कर लिया है, उनपर यद्यपि कोई विधि नहीं है और वे जीते हुए ही मुक्त हैं, तथापि शरीरकी स्थितिपर्यन्त अपनी भिन्न-भिन्न शारीरिक व मानसिक प्रकृतिके अनुसार उनका भिन्न-भिन्न व्यवहार स्वाभाविक हुआ करता है, किसी कर्तव्य करके नहीं। उनमेंसे कोई तो सत्त्वगुणकी प्रबलतासे सब व्यवहारोंसे छूटे हुए श्रीशुकदेवजीकी भाँति ध्यान व समाधिपरायण रहते हैं और सब वृत्तियोंको गलित करके आत्माकार वृत्तिका ही पोषण करते हैं। कोई याज्ञवल्क्य मुनिके समान प्रवृत्तिसे छूटे हुए निवृत्तिपरायण रहते हैं और तत्त्व-विचाररूप सांख्ययोगद्वारा आत्मा करके आत्माको देखते हैं। और कोई प्रवृत्तिपरायण हुए जनकके समान किसी कर्तृत्व व कर्तव्यके बिना कर्मयोगद्वारा संसारके सब व्यवहारोंमें देहादिद्वारा प्रवृत्त हुए साक्षीस्वरूप अपने आत्माका साक्षात्‌रूपसे चमत्कार देखते हैं। यद्यपि प्रारब्धके अनुसार इन तत्त्ववेत्ताओंका व्यवहार भिन्न-भिन्न होता है, तथापि निश्चयसे वे

नित्यमुक्त अपने आत्मामें कोई कर्तव्य नहीं देखते और ग्रहण-त्याग-बुद्धिसे छूटे हुए बालकोंके समान अपना विनोद करते रहते हैं।

यदि ऐसा माना जाय कि ध्यान, सांख्य व कर्मयोग, ये तीनों जिज्ञासुके लिये भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र साधन आत्म-साक्षात्कारके निमित्त कहे गये हैं तो नहीं बनता। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार तो केवल आत्माकार वृत्तिद्वारा ही सम्भव होता है और आत्माकार वृत्ति केवल आत्मविचारद्वारा ही हो सकती है। किसी प्रकार कर्मादि अथवा ध्यानादिद्वारा आत्माकार वृत्ति होना असम्भव ही है, फिर ये तीनों आत्मसाक्षात्कारमें स्वतन्त्र साधन नहीं हो सकते। इसलिये यह श्लोक जिज्ञासुके निमित्त नहीं, किन्तु ज्ञानियोंके भिन्न-भिन्न व्यवहार दर्शानेके निमित्त ही है। कर्म तो अपने स्वरूपसे आत्मसाक्षात्कारका स्वतन्त्र साधन हो ही नहीं सकता (पृ० ९०-९६, १२१-१२७, १४४-१४९), ध्यान भी उसी वस्तुका किया जा सकता है जो अपनेसे भिन्न हो, अपना-आपा किसी प्रकार ध्यानका विषय नहीं हो सकता। इसलिये आत्मा अपना निज स्वरूप होनेसे किसी प्रकार ध्येय नहीं बन सकता, किन्तु 'दशम पुरुष' (टिप्पण पृ० ४८०-४८१)की तरह केवल ज्ञेय ही हो सकता है।

जिन्होंने ऐसा नहीं जाना और जिज्ञासु हैं, उनके विषयमें कथन किया जाता है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अन्य जिज्ञासु ऐसा न जानते हुए दूसरोंसे सुनकर उपासना करते हैं, वे श्रवणपरायण पुरुष भी निस्सन्देह मृत्युरूप संसार-सागरसे तर जाते हैं।

भावार्थ—दूसरे जिज्ञासु-पुरुष ऐसा तत्त्वसे न जानते हुए कि

'हमारा आत्मा प्रकृतिके सम्पूर्ण परिवार देहेन्द्रियादिसे असंग है' अन्य तत्त्ववेत्ता गुरु एवं शास्त्रादिसे ऐसा श्रवण करके उनके बतलाये हुए साधन व युक्तिसे आत्मानुसन्धानमें तत्पर होते हैं। वे श्रद्धा एवं तत्परतासंयुक्त साधनसम्पन्न पुरुष भी श्रवणपरायण होकर और तत्त्वसे अपने आत्माको असंग व साक्षीरूप साक्षात्कार करके अवश्य ही मृत्युरूप संसार-सागरसे तर जायेंगे।

अब अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त उक्त तत्त्वका पुनः मार्जन करते हैं–

यावत्सञ्जायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो कुछ भी स्थावर जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सम्पूर्णको तू क्षेत्र (प्रकृति) व क्षेत्रज्ञ (पुरुष)के संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान।

भावार्थ—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही सब स्थावर-जङ्गमरूप भूतोंकी उत्पत्ति होती है। तहाँ संयोग सदैव समान सत्ताके पदार्थोंका ही होता है, विषम-सत्ताके पदार्थोंका संयोग तो कदापि नहीं हो सकता। जिस प्रकार स्वप्नकी अग्नि जाग्रत्-शरीरको छू नहीं सकती, इसी प्रकार विषम-सत्ताके पदार्थ क्षेत्र (प्रकृति) व क्षेत्रज्ञ (पुरुष)का संयोग तो वस्तुतः असम्भव ही है। क्षेत्र (प्रकृति) व्यवहारिक सत्ताका ही पदार्थ है, परन्तु क्षेत्रज्ञ (पुरुष)की तो पारमार्थिक सत्ता है। यहाँ आशय यह है कि जिस प्रकार अधिष्ठानरूप रज्जुके आश्रय कल्पित सर्प-दण्डादिकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार चेतनस्वरूप क्षेत्रज्ञ (पुरुष)के आश्रय जड़ एवं कल्पित क्षेत्र और उसके विकारोंकी प्रतीति होती है। वह क्षेत्रज्ञ अपने अधिष्ठानस्वरूपसे अचल स्थित रहता हुआ अपने आश्रय सम्पूर्ण अध्यस्तरूप परिणामोंकी प्रतीति कराता है। इस प्रकार इनका संयोग पारमार्थिक नहीं काल्पनिक है। इस अधिष्ठान-अध्यस्त-

सम्बन्धसे ही स्थावर-जङ्गमरूप सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति होती है।

इसी विषयको स्पष्टरूपसे कथन करते हैं—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो पुरुष नाशवान् सर्व भूतोंमें अविनाशी परमेश्वरको सम भावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है ।

भावार्थ—सब भूत उत्पत्ति-विनाशरूप होनेसे अपने स्वरूप से तो विषमरूप ही हैं । परन्तु इन सब विषमरूप भूतोंके सम्पूर्ण विकारोंमें जो पुरुष अविनाशी परमेश्वरको एक व निर्विकाररूप से अचल-कूटस्थ देखता है । अर्थात् सम्पूर्ण विकारोंमें उसकी सत्ता होते हुए भी वह अपने अधिष्ठानरूपसे असंग है, ऐसा देहादिसे पृथक् चेतन-सत्ताको जो अपने आत्मरूपसे जानता है वही यथार्थवेत्ता है और वही यथार्थद्रष्टा है।

इसी ज्ञानको दूसरे-दूसरे शब्दोंमें नीचेके श्लोकोंमें कथन किया जा रहा है—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

[ऐसा ज्ञानवान् क्योंकि] सर्वत्र समभावसे स्थित ईश्वरको समान रूपसे देखता हुआ अपने द्वारा अपने आत्माका हनन नहीं करता, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—वह पुरुष सर्वत्र समभावसे स्थित ईश्वरको आकाश के समान सब विषमताओंसे रहित समरूप देखता है और इस यथार्थ दृष्टिसे अपने आत्माका हनन नहीं करता, इसलिये वह परम गतिको प्राप्त होता है। सर्वभेद व परिच्छेद-विनिर्मुक्त ईश्वर शुद्ध चेतनस्वरूप अपने आत्माको देहादिके रूपमें अन्यथा

ग्रहण करता, यही सब पापों एवं हत्याओंका मूल आत्महत्या है और इसीसे जन्म-मरणादि सब दुःखों व क्लेशोंकी उत्पत्ति होती है। इसलिये जिसने अपने आत्माको नहीं जाना, वही आत्म-हत्यारा है। परन्तु वह तत्त्ववेत्ता तो देहादि प्रपञ्चरूप सब विषमताओंमें सर्वत्र समभावसे स्थित ईश्वरको अपने आत्मरूपसे यथार्थ देखता है, इसलिये इस यथार्थ दृष्टिके कारण वह परम गति मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

सब प्रकार प्रकृतिके द्वारा ही कर्म किये जा रहे हैं, ऐसा जो देखता है तथा आत्माको अकर्ता जानता है, वही यथार्थ देखता है।

भावार्थ—वस्तुतः प्रकृतिके परिणाम महत्तत्त्व, अहंकार, मन व इन्द्रियोंद्वारा ही सब प्रकार कर्म किये जा रहे हैं, परन्तु अज्ञान करके पुरुष (आत्मा) प्रकृतिके साथ तादात्म्य हुआ उसके व्यवहारोंको अपनेमें आरोपित करके 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है। इस अयथार्थ दृष्टि करके ही उसको जन्म-मरणादि क्लेशोंका बन्धन हो जाता है। इसके विपरीत जो पुरुष अपनी तत्त्व-दृष्टिसे प्रकृतिके व्यवहारों व कर्मोंको प्रकृतिके ही मत्थे रखकर स्वयं कर्तृत्वभावसे मुक्त हुआ साक्षीरूपसे स्थित रहता है, वह सब जन्म-मरणादि क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है। इसी यथार्थ दृष्टिपर मोक्ष निर्भर है। इसलिये ऐसा देखने-जाननेवाला ही यथार्थ-द्रष्टा है और वह मुक्त है। प्रकृति, माया, अविद्या, अज्ञान, ये सब एक ही वस्तुके नाम हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जब कि भूतोंके न्यारे-न्यारे भाव एकमें ही स्थित देखता है और उस एकसे ही अनेकताका विस्तार हुआ जानता है, तब ऐसा जाननेवाला पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि नाना भूषण एक सुवर्णमें ही स्थित हैं और उन पृथक्-पृथक् भूषणोंका आदि व अन्त सुवर्ण ही है, मध्यमें ही वे केवल नामोंके भेदको धारण कर रहे हैं, परन्तु अपने स्वरूपसे हैं वे सुवर्ण ही। इसी प्रकार पञ्च-भूत और पञ्चभूतरचित सम्पूर्ण प्रपञ्च जो प्रकृतिका पसारा है, वह यद्यपि घट, मठ व पटादिरूपसे पृथक् पृथक् नाम-रूपोंको धारण कर रहा है, परन्तु उन सबके आदि व अन्तमें एक ही अस्ति-भाति-प्रियरूप आत्मा विराजमान है। बीचमें यद्यपि वे भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंको धारण कर रहे हैं, परन्तु उन सबके मूलमें सर्वभेद-विनिर्मुक्त एक ही सत्ता अपना खेल खेल रही है। उसीसे इन सबका विस्तार हुआ है और इन सब अनेकोंमें वह अपने स्वरूपसे एक-का-एक ही है। अर्थात् वह न्यारे-न्यारे कार्योंके न्यारे-न्यारे कारण नहीं देखता, किन्तु सब कार्य-कारणों का एकमात्र कारण उस परमात्माको ही जानता है, अन्य सब कारणोंको उत्पत्तिरूप होनेसे कार्य ही जानता है और अपने आत्मास्वरूपके विवर्त ही देखता है। ऐसा जो पुरुष अपने आत्मा को तत्त्वसे जान लेता है, वह ब्रह्मस्वरूप हुआ ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

एक ही आत्मा सब शरीरोंका आत्मा माना जानेसे उसका उन सबके दोषोंसे सम्बन्ध होगा, ऐसी शङ्काके सम्भव हुए कहा जाता है—

> अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
> शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे कौन्तेय ! अनादि और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित हुआ भी न कुछ करता है और न लेपायमान ही होता है ।

भावार्थ—परमात्माकी निर्लेपतामें दो हेतु कहे गये, एक अनादित्व और दूसरा निर्गुणत्व । जो अपना कारण रखता हो और उत्पन्न होता हो उसको सादि कहते हैं। ऐसा सादि पदार्थ देश, काल एव वस्तु-परिच्छेदवाला ही होता है तथा ऐसा पदार्थ परिच्छिन्न द्रव्य होनेसे सगुण ही होता है। परन्तु इसके विपरीत परमात्मा तो नित्य व अज होनेसे अपना कोई कारण नहीं रखता और सर्वपरिच्छेद-विनिर्मुक्त गुणातीत एव अज-अव्यय ही है। इसलिये सब शरीरोंमें स्थित हुआ भी वह न कुछ करता है और न लेपायमान ही होता है। करना और उससे लेपायमान होना सादि, सगुण एव परिच्छिन्न द्रव्यमें ही होता है, अनादि, निर्गुण व अपरिच्छिन्न पदार्थमें न करना है और न लेपायमान होना ही है।

अब इसी विषयमें दृष्टान्त कथन करते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सूक्ष्म होनेसे सर्वगत आकाश लेपायमान नहीं होता है, इसी प्रकार देहमें सर्वत्र स्थित हुआ भी आत्मा लेपायमान नहीं होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश सर्वगत एव सूक्ष्म है, उसी के आश्रय घट-मठादि सम्पूर्ण प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है, सूक्ष्म आकाशके आश्रय विना स्थूल प्रपञ्चकी उत्पत्ति असम्भव ही है। फिर प्रपञ्चका नाश भी आकाशके आश्रय ही होता है, परन्तु प्रपञ्चके उत्पत्ति-नाशसे आकाशका उत्पत्ति-नाश नहीं होता, वह तो सब उत्पत्ति-नाशोंमें निर्लेप ही रहता है। इसी प्रकार सब

देहोंमें सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आत्मा देहादिके विकारोंसे निर्लेप रहता है, यद्यपि सब उत्पत्ति-नाशरूप विकारोंकी सिद्धि इस आत्माके आश्रय ही सिद्ध होती है।

निर्लेपतामें दृष्टान्त दिया गया, अब आत्माकी प्रकाशरूपतामें अन्य दृष्टान्त दिया जाता है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे भारत ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करता है, इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य इस लोकमें सम्पूर्ण खोटे-खरे पदार्थों और उनके गुण-दोषोंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित कर देता है, परन्तु आप उनसे लेपायमान नहीं होता ; इसी प्रकार क्षेत्रज्ञरूप आत्मा श्लो० ५ व ६ में कहे गये महाभूत व अहंकार आदि से लेकर धृतिपर्यन्त सम्पूर्ण क्षेत्र और इसके विकारोंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित कर देता है, परन्तु आप ज्यों-का-त्यों निर्लेप ही रहता है।

सारे अध्यायके अर्थका उपसंहार नीचेके श्लोकसे किया जाता है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

[इस प्रकार] जो पुरुष ज्ञान-दृष्टिसे क्षेत्र व क्षेत्रज्ञके भेदको जानते हैं, वैसे ही भूत-प्रकृतिसे मुक्त हो जानेको भी जानते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—गुरु व शास्त्रके उपदेशद्वारा अपनी तत्त्व-दृष्टिसे जो पुरुष इस प्रकार क्षेत्र व क्षेत्रज्ञके भेदको, जैसा ऊपर कथन किया

गया है, साक्षात् अनुभव कर लेते हैं कि 'दृश्यमान क्षेत्र स्वसत्ता-शून्य है और रज्जुमें सर्पके समान क्षेत्रज्ञके आश्रय ही इसकी आभासमात्र प्रतीति होती है।' इस प्रकार क्षीर-नीर-विवेकके समान हंस-वृत्तिसे जो पुरुष साररूप अपने आत्माको भूत-प्रकृति से भिन्न कर लेते हैं और भूत-प्रकृतिको निस्सार जान जलके समान परित्याग कर देते हैं, वे ही परम पदको प्राप्त होते हैं।

स्मरण रहे कि श्लोक २९ से अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त क्षेत्रज्ञ, परमेश्वर, ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म व क्षेत्री शब्द हेर-फेरसे प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु शब्दोंके हेर-फेरसे अर्थका रञ्चकमात्र भी हेर-फेर नहीं है, किन्तु इनमेंसे प्रत्येक शब्दका अर्थ एक, निर्विकार, सर्वविशेष-विनिर्मुक्त सामान्य-चेतन ही है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक त्रयोदश अध्याय समाप्त हुआ॥१३॥

त्रयोदश अध्यायका स्पष्टीकरण

द्वादश अध्यायमें भगवान्ने अपनी सगुण भक्तिकी विधि, क्रम, लक्षण एवं फलका वर्णन किया, जिसके द्वारा उनके निर्गुणस्वरूपकी प्राप्ति सम्भव होती है। इस अध्यायमें उन्होंने भक्तिके फलस्वरूप अवाङ्मनसगोचर अपने उस निर्गुणरूपका वर्णन किया और उपाधिरूप देहादि प्रपञ्चको 'क्षेत्र' रूपसे ग्रहण करके उपहित साक्षीस्वरूप निर्गुण आत्माको 'क्षेत्रज्ञ' रूपसे बोधन किया। जिस प्रकार धान्यकी प्राप्ति भूसेसे ही होती है, भूसे बिना नहीं, परन्तु भूसेसे धान्यको लेकर भूसेका परित्याग कर दिया जाता है; इसी प्रकार उपाधिरूप देहादि प्रपञ्चमें ही क्षेत्रज्ञरूप धान्यको अन्वेषण करना चाहिये और फिर उसमेंसे साररूप क्षेत्रज्ञ (आत्मा)को ग्रहण करके असाररूप क्षेत्रका परित्याग कर देना चाहिये।

इस प्रकार भगवान्ने श्लोक ५ व ६ में चौबीस तत्त्वोंवाले क्षेत्र और इच्छा-द्वेषादि इसके विकारोंका संक्षेपसे वर्णन किया, जिसमें उस क्षेत्रज्ञका अन्वेषण कर्तव्य है। अर्थात् जिसकी सत्ता-स्फूर्तिसे इस क्षेत्र तथा इसके विकारोंके उत्पत्ति, स्थिति व लय होते हैं, उसीको क्षेत्रज्ञ जानना चाहिये। यह बात तो स्पष्ट ही है कि सम्पूर्ण चेष्टा एवं व्यापारकी सिद्धि किसी-न-किसी प्रकाशमें ही सम्भव होती है, केवल अन्धकारमें तो कोई भी व्यापार असम्भव ही है। इस प्रकार 'अस्मिन्महामोहमये कटाहे भूतानि कालः पचति'–अर्थात् इस महामोहमय संसाररूप कटाहके अन्दर काल जिसके प्रकाशमें भूतोंको पका रहा है, उसीको 'क्षेत्रज्ञ' जानना चाहिये। सूर्यादि जड प्रकाशोंके लुप्त हो जानेपर भी जो प्रकाशमान रहता है और अन्धकार व प्रकाश दोनों जिससे प्रकाशित होते हैं, ऐसा जो अलुप्त सत्ता-सामान्य-रूप स्वयंप्रकाश है, उसीको 'क्षेत्रज्ञ' जानना चाहिये। सूर्यादि जडप्रकाश

किसी भी वस्तुके स्वरूपको स्वयं प्रकाश करनेवाले नहीं होते, किन्तु एक-मात्र वस्तुको आच्छादन करनेवाले अन्धकारका ही विरोध करते हैं। परन्तु वस्तुका वह सत्तारूप प्रकाश, जो कि वस्तु-देशमें ही अनुगत रहकर वस्तुके भाव व अभाव दोनों को प्रकाशित कर देता है, वही 'क्षेत्रज्ञ' रूपसे ज्ञातव्य है। इच्छा, द्वेष, सुख एव दु खादि अन्त करणके विकार सूर्यादि किसी भी जड़ प्रकाशके द्वारा कदाचित सिद्ध नहीं हो सकते, परन्तु अन्त.करण, अन्त करणके विकार और इनके भावाभाव जिस प्रकाशमें प्रकाशित होते हैं, वही 'क्षेत्रज्ञ' रूपसे जानना चाहिये।

चूँकि वह क्षेत्रज्ञ सर्वात्मा है, इसलिये वह क्रियासाध्य नहीं, किन्तु केवल ज्ञानसाध्य ही है। क्रियासाध्य तो वही हो सकता है जो अपनेसे भिन्न हो, परन्तु वास्तवमें वह तो अपना आत्मा ही है और तुच्छ अहके नीचे ही छुपा हुआ है। इसलिये आवरणरूप उस तुच्छ अहके समूल नष्ट हुए बिना उस क्षेत्रज्ञकी प्राप्ति असम्भव ही है, क्योंकि उसकी प्राप्तिमें यही प्रतिबन्धक है। और इस तुच्छ अहकी निवृत्ति दण्ड-प्रहारादि किसी क्रिया-जन्य नहीं हो सकती, किन्तु केवल अधिष्ठान-क्षेत्रज्ञके ज्ञानद्वारा ही इसकी निवृत्ति सम्भव है, जैसे मिथ्या सर्पकी निवृत्ति रज्जु-ज्ञानद्वारा ही सम्भव होती है। इस प्रकार यद्यपि इस तुच्छ अहकी अत्यन्त निवृत्ति तो अधिष्ठान-ज्ञानसे ही सम्भव है, तथापि जबतक यह बड़ी-चढ़ी अवस्थाको प्राप्त है और दमन नहीं किया गया, तबतक अपने विरोधी ज्ञानको यह उत्पन्न भी नहीं होने देता। जैसे रोग व शत्रु जबतक बलवान् हैं समूल नष्ट नहीं किये जा सकते, प्रथम इनका दमन आवश्यक होता है, तभी ये समूल नष्ट किये जा सकते हैं, इसी प्रकार प्रथम अहकारका दमन किया जाना ज़रूरी है। इसलिये भगवान्‌ने उन साधनोंका वर्णन किया जिनके द्वारा यह दमन हो सके और तब ज्ञानको उत्पन्न कर सके। ज्ञानमें सहायक होने से श्लोक ७ से ११ तक कहे गये साधनोंकी ज्ञानरूपसे उपमा की गई और कहा—देखो! इस अहकाररूपी सर्पको पुष्ट करनेवाले ये मान, दम्भ

और हिंसा ही दुःखरूप हैं, जो कि यद्यपि आहार करते समय तो मीठे लगते हैं, परन्तु हैं विषको बढ़ानेवाले ही। इसलिये मान-दम्भादिका परित्याग करके इसको अमानित्व, अदम्भित्व एवं अहिंसाका कटु भोजन ही देना चाहिये, जिससे सञ्चित विष गलित हो। इसके साथ ही अपने प्रति अपराधीको क्षमा करना और मन-वाणी एवं आहार-व्यवहारकी सरलता, इस पथ्यका पालन किया जाना भी आवश्यक है। तन-मन-धनसे गुरुभक्ति, केवल शरीरकी ही नहीं, बल्कि उनकी वाणीकी पूजा की जाय, जिससे श्रद्धाभाव जाग्रत् हो जो कि ज्ञानमें परम उपयोगी साधन है। बाहर-भीतरकी शुद्धि और शम-दमादिके द्वारा मन-इन्द्रियोंका निग्रह अर्थात् स्वाधीन रखना, जिससे ये बेलगाम घोड़ेकी भाँति जीवको संसाररूपी गढ़ेमें डालने-वाले न हों। ब्रह्मलोकपर्यन्त इन्द्रियोंके विषयोंमें रसबुद्धिका परित्याग तथा शरीरसम्बन्धी जन्म-मरण और जरा-व्याधि आदि विकारोंमें दुःख-बुद्धि एवं दोषदर्शन करना। स्त्री, पुत्र व गृहादिमें आसक्ति एवं ममताका त्याग, इष्ट-अनिष्टकी उत्पत्तिमें समचित्त रहना, मुझ सगुणरूपमें अनन्य ध्यान-योगद्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति और जनसमुदायमें रहनेसे ग्लानी होकर एकान्त देश सेवन करना। तथा नित्य ही सारासार-विवेक और तत्त्वज्ञानके अर्थका चिन्तन—ये अट्ठारह साधन ज्ञानके हेतु होनेसे ज्ञानरूप कथन किये गये और इनसे जो विपरीत है वह अज्ञानरूप कहा गया। इस प्रकार विवेक, वैराग्य तथा शमादि षट् सम्पत्तिद्वारा इस अहंकारको दमन करके तत्त्व-जिज्ञासाकी ओर चित्तका प्रवाह चलानेकी आज्ञा दी गई।

इसके उपरान्त भगवान्‌ने श्लोक १२ से १८ पर्यन्त इन साधनोंद्वारा साध्य तथा तत्त्वज्ञानद्वारा ज्ञेयरूप जो क्षेत्रज्ञ-परमात्मा है, उसका स्वरूप वर्णन किया। और बतलाया कि वह परब्रह्म मन-वाणीका अविषय होनेसे न सत् कहा जा सकता है न असत्, परन्तु उसके ज्ञानमात्रसे ही अमृत-रूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। 'सत्' 'असत्' इन शब्दोंका अविषय होने से यह न समझ लिया जाय कि वह है ही नहीं, बल्कि वह तो सब ओरसे

हाथ, पाँव, श्रोत्र, चक्षु, सिर और मुखवाला है, अर्थात् इन सबमें वही व्याप रहा है। इससे यह धारणा भी न हो कि वह हाथ, पाँव तथा श्रोत्रादिकी उपाधिवाला ही है। नहीं! नहीं! वह तो इन सबको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करनेवाला है और इन सब इन्द्रियों व गुणोंसे अतीत है। इस प्रकार उस ज्ञेयको सर्वान्तर्यामी सबसे अलग तथा देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित अपरिच्छिन्न सत्-चित्-स्वरूप वर्णन किया गया। इस प्रकार संक्षेपसे क्षेत्र, ज्ञेय एवं ज्ञानका स्वरूप वर्णन करके भगवान्ने कहा कि जो मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जान लेता है वह मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

तदनन्तर इसी अध्यायके श्लोक १९ से २३ पर्यन्त प्रकृति पुरुषविवेकसे निरूपण किया गया और बतलाया कि गुण व विकाररूप जितना कुछ भी संसार प्रतीत होता है यह तो सब प्रकृतिका परिणाम है। तथा कार्य, करण एवं कर्तारूपसे जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है उसमें हेतु-रूप प्रकृति ही होती है। परन्तु प्रकृतिके साथ अज्ञानजन्य तादात्म्य करके ही यह पुरुष प्रकृतिजन्य गुणोंका भोग करता है और प्राकृतिक गुणोंका संग करके ही इसको भली-बुरी योनियोंकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें यह सब अज्ञानका ही खेल है। ज्ञानद्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर वास्तवमें तो यह पुरुष साक्षीरूपसे 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' एवं अपनी सत्ता-स्फूर्तिरूपसे अखिल संसारका 'भर्ता' 'भोक्ता' और देहमें स्थित हुआ भी देहसे अलग है तथा ईश्वरोंका-ईश्वर परमात्मस्वरूप ही है। फिर इस ज्ञानका फल यह बतलाया कि जो पुरुष इस प्रकार तत्त्वसे अपने-आपको प्रकृतिसे पृथक् जान लेता है, वह सब प्रकार बर्तता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।

इसके उपरान्त इस ज्ञानकी महिमा और ज्ञानी पुरुषोंके भिन्न-भिन्न व्यवहार वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा कि कोई सात्त्विक ध्यान-योग समाधिद्वारा कोई सांख्य-योग अर्थात् निवृत्ति-मार्गद्वारा और कोई कर्म-योग अर्थात् प्रवृत्ति-मार्गद्वारा बर्तते हुए अपने आत्मा करके आत्म-दर्शन ही करते हैं। अर्थात् उन तत्त्ववेत्ताओंकी सम्पूर्ण भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ अपने आत्माका चमत्काररूप

ही हो जाती हैं। परन्तु अन्य मन्दबुद्धि जो ऐसा न जानते हुए और साधनसम्पन्न हुए तत्त्ववेत्ताओंसे श्रवण करके आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त होते हैं, वे श्रुतिपरायण पुरुष भी तत्त्व-साक्षात्कार करके मृत्युसे तर जाते हैं (२४-२५)।

अन्तमें इस अध्यायका उपसंहार करते हुए भगवान्‌ने कहा कि जितना कुछ भी स्थावर-जंगमरूप पदार्थ उत्पन्न होता है, वह सब क्षेत्र (प्रकृति) व क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोगसे ही उत्पन्न हुआ जानो। इस प्रकार जो पुरुष सब नाशवान् भूतोंमें एक अविनाशी परमात्माको ही समरूपसे असंग व भरपूर देखता है, वही यथार्थद्रष्टा है। चूँकि वह पुरुष सर्वत्र समरूपसे स्थित अपने ईश्वरस्वरूपका ही दर्शन करता है और अपने आत्मा करके आत्माका हनन नहीं करता, अर्थात् अपने आत्माका अन्यथारूपसे ग्रहण नहीं करता और सर्राफकी भाँति सर्वत्र सुवर्ण-दृष्टि ही रखता है, इसलिये वह परम गति मोक्षको ही प्राप्त होता है। इस प्रकार उक्त अर्थका मार्जन करते हुए उस ज्ञानको दृढ़ाकर अध्यायकी समाप्ति की गई (२६ से ३४)।

इस रीतिसे इस अध्यायमें निर्गुणस्वरूप परमात्माका स्वरूप बोधन करनेके लिये क्षेत्र (प्रकृति), क्षेत्रज्ञ (पुरुष) और साधनरूप ज्ञानका निरूपण किया गया। तथा अपने उस परम गोपनीय स्वरूपका वर्णन किया गया, जिसको धारण करके करामलकवत् भगवान्‌के स्वरूपमें योग प्राप्त किया जा सकता है। और बतलाया कि इस पुरुषको प्रकृतिजन्य गुणोंके संग करके ही भली-बुरी योनियोंकी प्राप्ति होती है और वह गुणोंका संग केवल अज्ञान-जन्य है (श्लो. २१)। वास्तवमें तो यह पुरुष देहादिसे असंग प्रकृतिके सब व्यापारोंका 'उपद्रष्टा' अर्थात् साक्षीरूपसे देखनेवाला ही है और सब ईश्वरों का भी ईश्वर है (श्लो. २२)। अब अगले अध्यायमें प्रकृतिके गुणोंका वर्णन किया जाता है, जिनके संगसे इस पुरुषके लिये बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था होती है।

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

नित्यमुक्त आत्माको प्राकृतिक गुणोंके सम्बन्धसे जिस प्रकार बन्ध एवं मोक्षकी व्यवस्था होती है, इस अध्यायमें उसका वर्णन करनेके लिये श्रीभगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच

पर भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मनुयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—[हे अर्जुन !] ज्ञानोंमें उत्तम और परम ज्ञान मैं फिर भी तेरे प्रति कथन करता हूँ, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं।

भावार्थ—जिससे परे और कुछ नहीं है, उस परवस्तुको विषय करनेवाला होनेसे यह ज्ञान परमज्ञान कहलाता है तथा सर्वोत्कृष्ट फलसे युक्त होनेसे इस ज्ञानको उत्तम कहा गया। 'नित्य-मुक्त आत्माके आश्रय प्रकृति गुण-परिणामद्वारा अखिल देहादि प्रपञ्चकी रचना करती है, परन्तु आत्मामें इन सबका कोई लेप नहीं होता' तत्त्वसे ऐसा जान लेना, यही यज्ञ-यागादि सब सांसारिक ज्ञानोंसे इस ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टता है, क्योंकि केवल इसी ज्ञानसे जीव संसार बन्धनसे मुक्त हो सकता है और किसी उपायसे भी नहीं। और इसी ज्ञानको अपरोक्ष करके सब मुनिजन परमसिद्धिरूप मोक्षको प्राप्त हो गये हैं। यह तो इस ज्ञानकी महिमा वर्णन की गई।

अब इस ज्ञानद्वारा प्राप्त हुई सिद्धिकी नित्यतारूप फल वर्णन किया जाता है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानको आश्रय करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके उत्पत्ति-कालमें भी उत्पन्न नहीं होते और न प्रलय-कालमें व्यथाको ही प्राप्त होते हैं।

अर्थात् इस ज्ञानके प्रभावसे जन्म-मरणरूप संसारसे छूटकर परमात्मामें अभेद प्राप्त कर लेते हैं और नित्यमुक्त हो जाते हैं।

अब इस ज्ञानका निरूपण करते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! महद्ब्रह्म (अर्थात् त्रिगुणमयी माया) (सम्पूर्ण भूतोंको उपजानेवाली) मेरी योनि है, उसमें मैं (अपनी सत्ता-स्फूर्तिरूप) बीज स्थापन करता हूँ, उस (जड़-चेतनके संयोग) से सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—जितना कुछ भी विकाररूपसे प्रतीत होता है वह सब प्रकृतिका परिणाम है, इसलिये प्रकृतिको योनिरूपसे वर्णन किया गया। तथा चेतनकी सत्ता-स्फूर्ति बिना जड़ प्रकृतिमें स्वयं कोई विकार हो नहीं सकता, इसलिये भगवान्‌की सत्ता-स्फूर्तिको गर्भरूपसे वर्णन किया गया। इस प्रकार जड़-चेतनके संयोगसे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति कथन की गई।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

[इस प्रकार] हे कुन्तीपुत्र ! सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् आकार उत्पन्न होते हैं, उनमें महद्ब्रह्म (अर्थात् त्रिगुणमयी माया) तो योनि है और मैं बीज स्थापन करनेवाला पिता हूँ।

भावार्थ—देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी सब योनियोंमें जितने भी नाना प्रकारके आकार उत्पन्न होते हैं, उन सब मूर्तियोंकी

त्रिगुणमयी माया तो योनि है और मैं बीजप्रदाता पिता हूँ। जिस प्रकार गर्भको धारण करके फलकी प्राप्तिपर्यन्त सब कार्य माता के द्वारा ही होता है, पिता तो बीज प्रदान करके शेष सब व्यापारोंसे केवल असंग ही रहता है। इसी प्रकार चेतनस्वरूप परमात्माकी सत्ता स्फूर्तिरूप बीजको धारण करके सब आकार प्रकृति (माया) के द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं, चेतन तो उन सब व्यापारोंमें साक्षीरूपसे केवल असंग ही रहता है।

प्रकृति गुण-परिणामद्वारा ही सब मूर्तियोंकी रचना करती है, सो प्रकृतिके वे गुण कौन-कौनसे हैं और किस प्रकार बाँधते हैं?—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! सत्त्व, रज तथा तम—ऐसे ये प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीन गुण हैं, जो (अपने संगसे) अविनाशी आत्माको शरीर में बाँधते हैं।

अब गुणोंके बन्धनके भिन्न भिन्न प्रकार बतलाते हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मलता करके प्रकाशरूप और विक्षेपशून्य है, वह (इस पुरुषको) सुख एवं ज्ञान की आसक्तिसे बन्धन करता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! रजोगुणको रागरूप जानो, जो कि तृष्णा एवं आसक्तिकी उत्पत्तिका कारण है, वह आत्माको कर्मकी आसक्ति से बन्धन करता है।

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी अभिलाषाका नाम तृष्णा और प्राप्त वस्तुमें स्नेहका नाम आसक्ति है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

[तथा] हे भारत ! तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जानो, जो कि सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाला है, वह प्रमाद, आलस्य एवं निद्राके द्वारा बन्धन करता है।

यद्यपि अज्ञानसे तो तीनों ही गुण उत्पन्न हुए हैं, तथापि गाढ अज्ञानका कार्य होनेसे तमोगुणको विशेषरूपसे अज्ञानजन्य कहा गया।

भावार्थ (श्लो. ६, ७ व ८)—सत्त्व, रज व तम तीनों प्रकृतिके गुण हैं और अज्ञानके सद्भावमें तीनों ही इस अविनाशी जीवात्मा को अपने-अपने स्वभावोंसे बन्धन करते हैं। वह इस प्रकार—

सत्त्वगुण निर्मल व प्रकाशरूप है, इसलिये जिस प्रकार निर्मल दर्पणमें मुखका आभास होता है, इसी प्रकार निर्मल सत्त्वगुणमें सुखस्वरूप व ज्ञानस्वरूप आत्माका आभास होता है। अतः यावन्मात्र सुखाकार वृत्तियाँ केवल सत्त्वगुणके ही परिणाम हैं और सांसारिक सुखोंका उद्बोध भी इस सत्त्वगुणमें ही होता है। हृदयमें जिस-जिस वस्तुकी इच्छा रहती है, वह इच्छा तो रजोगुणका परिणाम होनेसे हृदयको चञ्चल ही रखती है। परन्तु जब इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है तब रजोगुणके निवृत्त हो जानेसे सत्त्वगुणका उद्बोध होता है, उस सत्त्वगुणी वृत्तिमें सुख-स्वरूप आत्माका आभास होनेसे ही सुखाकारवृत्तिका उद्बोध होता है। इस प्रकार यावत् सांसारिक सुख सत्त्वगुणद्वारा ही सफल होते हैं। अपने सम्बन्ध करके यह सत्त्वगुण जीवात्माको इस आसक्तिके बन्धनमें लाता है कि ऐसी ही सुख-शान्ति मुझे

निरन्तर प्राप्त होती रहे। यद्यपि तत्त्वदृष्टिसे तो आत्मा सुखस्वरूप व ज्ञानस्वरूप ही है, इसलिये सुखस्वरूपको सुखकी प्राप्ति असम्भव ही है, तथापि अज्ञानकी महिमासे उधरसे मुँह मोड़ सत्त्वगुण अपनी विद्यमानतामें सांसारिक सुख एवं ज्ञानकी आसक्तिसे इस अविनाशी जीवात्माको बन्धन करता है।

रजोगुण राग व विक्षेपरूप है, इसलिये अपनी विद्यमानतामें अपने संगसे इस निर्विकार जीवात्मामें तृष्णा एवं आसक्तिको उत्पन्न करता है और फिर उस तृष्णा व आसक्तिके वेगको निवृत्त करनेके लिये इस अक्रिय जीवात्माको कर्ममें जोड़ता है। क्योंकि रजोगुणके द्वारा जिस-जिस निमित्तको लेकर विक्षेप उत्पन्न होता है, उसकी निवृत्ति कर्मके द्वारा ही सम्भव होती है (पृ० १२१-१२६)।

तमोगुण अन्धकार व जड़रूप है, इसलिये अपनी विद्यमानता में अपनी गाढ़ जड़ता करके ज्ञानस्वरूप इस जीवात्माको अज्ञान करके मोहित करता है और प्रमाद, आलस्य तथा निद्राद्वारा बन्धन करता है।

इस रीतिसे तीनों गुणोंके बन्धनका प्रकार वर्णन किया गया। फिर भी संक्षेपसे इन गुणोंका व्यापार बतलाया जाता है—

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

हे भारत! सत्त्वगुण सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण (अपने आवरणात्मक स्वभावसे) विवेक-ज्ञानको आच्छादन करके प्रमादमें नियुक्त करता है।

प्राप्त कर्तव्यको न करनेका नाम प्रमाद है।

ये तीनों गुण अपना-अपना कार्य कब-कब करते हैं? सो कहते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत ! रज और तमको दबाकर सत्त्वगुण उद्बुद्ध होता है, रज एवं सत्त्वको दबाकर तमोगुण तथा तम व सत्त्वको दबाकर रजोगुण उद्बुद्ध होता है।

आशय यह है कि प्रत्येक जीवमें तीनों गुण विद्यमान रहते हैं, इनका नाश नहीं होता, किसी कालमें कोई एक गुण बढ़ा हुआ होता है और किसी कालमें कोई दूसरा। किसी एक गुण की वृद्धि कालमें शेष दो गुण दबे रहते हैं, नष्ट नहीं होते। जो गुण जिस कालमें बढ़ा हुआ होता है, उस कालमें उस गुणवाली ही वस्तु कहलाती है।

अब इन तीनों गुणोंमेंसे प्रत्येकके उद्बोध कालमें जो भिन्न-भिन्न चिह्न उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन किया जाता है—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

जिस कालमें इस देहके इन्द्रिय-मन-बुद्धयादि सम्पूर्ण द्वारोंमें चेतना एवं बोध-शक्तिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उस कालमें जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

लोभ, सांसारिक प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति एवं स्पृहा—हे भरतश्रेष्ठ ! रजोगुणकी वृद्धि होनेपर ये सब उत्पन्न होते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

[तथा] हे कुरुनन्दन ! तमोगुणके बढ़नेपर अविवेक, कर्मों में प्रवृत्तिका अभाव अर्थात् आलस्य प्रमाद एवं मूढ़ता इनकी उत्पत्ति होती है।

मरण कालमें जो गुण बढ़ा हुआ होता है उसके सम्बन्धसे जैसी-जैसी गति होती है उसका कथन किया जाता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय जब यह देहधारी मृत्युको प्राप्त होता है तब उत्तम विवेकवालोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त होता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुणकी वृद्धिके समय मृत्युको प्राप्त होकर कर्मसङ्गियोंमें अर्थात् कर्ममें आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणकी वृद्धिके समय मृत्युको पाकर पश्वादि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है।

जैसे-जैसे गुणमय कर्मोंसे जैसा फल होता है सो कहते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सुकृत् कर्म (अर्थात् निष्कामकर्म) का तो सात्त्विक व निर्मल (अर्थात् सुख ज्ञान व वैराग्यादि) फल कहा गया है, राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान अर्थात् मूढ़ता कहा गया है।

इन गुणोंसे क्या-क्या उत्पन्न होता है ? सो कहते हैं—

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह व अज्ञान उत्पन्न होते हैं।

गुणोंके सम्बन्धसे भिन्न-भिन्न गतियाँ कथन की जाती हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष (स्वर्गादि) उच्चलोकोंको जाते हैं, राजसी पुरुष मध्य (अर्थात् मनुष्य-लोक) में स्थित रहते हैं और तमोगुणके कार्य प्रमादादिमें स्थित पुरुष अधोगतिको (अर्थात् पश्वादि नीच योनियोंको) प्राप्त होते हैं।

प्रकृतिके साथ पुरुष (आत्मा) के मिथ्या संगसे पुरुषको त्रिविध गुणोंके भेदसे जिस-जिस प्रकार भली-बुरी योनियोंकी प्राप्ति और बन्धन होता है, जैसा अ. १३ श्लो. २१ में संक्षेपसे कथन किया गया था, सो यहाँतक विस्तारसे वर्णन किया गया। अब जिस ज्ञानद्वारा पुरुष इन गुणोंसे अतीत हो जाता है, उस ज्ञानका निरूपण करते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

'गुणोंसे भिन्न और कोई कर्ता नहीं है, (अर्थात् गुण ही कार्य, करण व कर्तारूपमें परिणत होते हैं)'—जिस कालमें यह द्रष्टा पुरुष ऐसा जानता व देखता है और अपने-आपको गुणोंसे परे (अर्थात् इन गुणोंके व्यापारोंमें अपने-आपको साक्षीरूपसे असंग) जानता है; ऐसा जाननेवाला वह तत्त्ववेत्ता मेरे सच्चिदानन्दस्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

कैसे प्राप्त होता है ? सो बतलाते हैं—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

[इस प्रकार उपर्युक्त ज्ञानमें स्थित] पुरुष देहकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु एव बुढ़ापा आदि दुःखोंसे छूटा हुआ अमृतरूप मोक्षका भोग करता है ।

भावार्थ—त्रिविध गुण, गुणोंके कार्य देहेन्द्रियादि तथा देहेन्द्रियादिके सम्बन्धसे जन्ममरणजरादिजन्य दुःखोंके साथ वास्तव में इस जीवात्माका कोई सम्बन्ध नहीं था, किन्तु केवल अज्ञानद्वारा काल्पनिक ही सम्बन्ध बना हुआ था । जिस प्रकार निद्रा-दोषके कारण स्वप्न-द्रष्टाका देहादि स्वप्न-प्रपञ्चके साथ मिथ्या काल्पनिक सम्बन्ध ही होता है, यथार्थ नहीं । तथा जिस प्रकार निद्रा-दोषके निवृत्त होनेपर देहादि स्वप्न प्रपञ्चसे साक्षात् मुक्ति हो जाती है, इसी प्रकार यह पुरुष केवल उपर्युक्त ज्ञानद्वारा अज्ञान-निद्रासे छूटकर तीनों गुण, इन गुणोंका कार्य देहादि-प्रपञ्च तथा देहसम्बन्धी जन्म-मरण एव जरादि-दुःखोंसे जीता हुआ ही मुक्त होकर अमृतत्वरूप स्व-स्वरूपका भोग करता है ।

इस प्रकार भगवान्‌के रहस्ययुक्त वचनोंको श्रवणकर अर्जुन ने प्रश्न किया—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोला—हे प्रभो ! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है, उसके आचरण कैसे होते हैं और किस उपायसे मनुष्य इन तीनों गुणोंसे अतीत हो सकता है ?

इस प्रकार अर्जुनने गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण तथा उपायसम्बन्धी तीन प्रश्न किये। इसके उत्तरमें—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

श्रीभगवान् बोले—हे पाण्डव! सत्त्वगुणसे प्रकाश, रजोगुण से प्रवृत्ति और तमोगुणसे मोह उत्पन्न होता है। जो पुरुष न तो भली भाँति प्रवृत्त हुए इन गुणोंके कार्योंसे द्वेष करता है और न निवृत्त हुए इन गुणोंके कार्योंकी इच्छा ही करता है, किन्तु एक साक्षीकी भाँति स्थित हुआ जो इन गुणोंसे विचलित नहीं होता तथा 'गुण ही अपने कार्योंमें बर्त रहे हैं' ऐसा समझकर जो अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, वहाँसे हिलता नहीं है।

भावार्थ—अपने प्रतिकूल गुणोंके कार्योंके उद्बुद्ध होनेपर जो पुरुष उनसे द्वेष नहीं करता तथा अनुकूल गुणोंके कार्योंके अनुद्बुद्ध हो जानेपर उनकी इच्छा नहीं करता। अर्थात् 'रजोगुणका कार्य प्रवृत्ति तथा तमोगुणका कार्य मोह व प्रमादादि मेरे चित्त को नहीं भाते, ये मुझमें क्यों उद्बुद्ध हो गये हैं? और सत्त्वगुण के कार्य ज्ञान व सुख मेरे चित्तको भाते हैं, वे मेरे चित्तसे क्यों निवृत्त हो गये हैं? वे किसी प्रकार मेरे चित्तमें उद्बुद्ध हों।' इस प्रकार जो पुरुष प्रवृत्त हुए गुणोंके कार्योंसे न तो द्वेष करता है और न निवृत्त हुए गुणोंके कार्योंकी इच्छा ही करता है, क्योंकि इस तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें स्वरूपस्थितिके प्रभावसे सब गुण व कार्य बाज़ीगरके खेलके समान मिथ्या हो गये हैं। जिस प्रकार यदि

बाज़ीगरने अपने तमाशेमें मूर्तिमान् हमारा कोई शत्रु सम्मुख खड़ा भी कर दिया हो तो मिथ्यात्व-दृष्टिसे हम कदापि उसको मारनेकी इच्छा नहीं करते तथा सुस्वादु आम्रफल भी हमारे सम्मुख रखे गये हों तो मिथ्यात्व-दृष्टिसे हम उनके खानेकी इच्छा नहीं रखते। इसी अपरोक्ष मिथ्यात्व दृष्टिसे जो पुरुष इन गुणों की इस तरह प्रवृत्ति-निवृत्तिमें इसी प्रकार उदासीनवत् स्थित रहता है, जिस प्रकार दो पुरुषोंके परस्पर जय-पराजयमें तीसरा पुरुष साक्षीरूपसे तमाशाई रहता है। तथा 'मेरेमें इन गुणों व कार्योंके भाव व अभावका कोई लेप नहीं है' इस दृढ निश्चयसे जो अपने स्वरूपसे हिलता नहीं है, अचल स्थित रहता है, ऐसा पुरुष गुणातीत जानना चाहिये।

गुणातीत पुरुषके अपने आप जाननेयोग्य ये स्वसंवेद्य लक्षण कहे गये। अब उसके आचरणोंका वर्णन किया जाता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

ऐसा अपने स्वरूपमें स्थित धीर पुरुष सुख-दुःखमें और मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्णमें समदृष्टि रहता है। तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें और अपनी निन्दा-स्तुतिमें समानभाववाला होता है एवं मान-अपमान और शत्रु-मित्रके सम्बन्धमें समदृष्टि रहता है। सब कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे मुक्त ऐसा पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

भावार्थ—गुणातीत पुरुष सुख-दुःख तथा मानापमानादि विषमताओंको अन्तःकरणका धर्म जानकर इनसे पृथक् अपने

साक्षीस्वरूपमें ज्यों-का-त्यों स्थित हो गया है। और इस दृढ निश्चयसे कि 'क्या अन्तःकरण व क्या अन्तःकरणके मानापमानादि धर्म मेरे आत्मस्वरूपकी आभासमात्र तरंगें हैं और गुणों के कार्य हैं, जिनके उदय-अस्तसे मेरे स्वरूपमें कोई विकार नहीं होता' अपने स्वरूपमें इनका रञ्चकमात्र भी कोई लेप नहीं देखता। इसलिये वह इन विरोधी धर्मोंके उदय-अस्तमें अचल रहता है। इसके विपरीत जो पुरुष अन्तःकरणमें ही रहकर इन विरोधी धर्मोंकी समता बनानेमें लग रहा है और इन परस्पर विरोधी धर्मोंको दबा रहा है, वह तो समतामें दिखता हुआ भी विषमता में ही है। क्योंकि इसकी दृष्टिमें इन परस्पर विरोधी धर्मोंकी सत्ता विद्यमान है, बाज़ीगरके खेलके समान इसने इनको अपरोक्षरूपसे मिथ्या नहीं जाना। इसलिये इसको अपने विरोधी धर्मोंसे भय है और उन विरोधी धर्मोंके उपस्थित होनेमें वह सम नहीं है। परन्तु वह तत्त्ववेत्ता तो अपनी तत्त्व-दृष्टिके प्रभाव से सब गुण और उनके परस्पर विरोधी कार्योंसे असंग है और उनका केवल तमाशाई होनेसे खरा-खरा गुणातीत है।

मनुष्य गुणातीत पदको कैसे प्राप्त होता है? अब इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो पुरुष मुझ ईश्वरस्वरूपको अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा सेवन करता है, वह भली भाँति इन गुणोंसे छूटकर मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य होता है।

भावार्थ—कभी मन भगवान्‌में और कभी संसारमें, इसको व्यभिचारी भक्ति कहते हैं। इसके बिना अर्थात् तन, मन व धन सभी भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन करके और सब ईषणाओंसे

छूटकर केवल भगवत्प्राप्ति ही जीवनका लक्ष्य बनाना और निरन्तर तैलधारावत् भगवच्चिन्तनमें लगे रहना, अव्यभिचारिणी भक्ति कहाती है। इस भक्तियोगके द्वारा जो पुरुष भगवान्‌को भजते हैं, वे गुणोंसे अतीत होकर मोक्ष पानेके योग्य होते हैं। जैसा एकादश अध्यायके स्पष्टीकरणके अन्तमें स्पष्ट किया गया है, एकमात्र भगवान्‌की अनन्य भक्तिमें ही ऐसी सामर्थ्य है जो तुच्छ अहम्भावकी भेंट ले सकती है। और जब तुच्छ अहंकार भगवत् चरणोंमें निवेदन हो गया, तब स्वाभाविक त्रिगुणोंका बन्धन शिथिल पड़ जाता है, क्योंकि केवल इस तुच्छ अहंके साथ ही गुणोंका सम्बन्ध होता है।

कैसे ब्रह्मको प्राप्त होता है? सो बतलाते हैं—

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
> शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

अविनाशी अमृत, शाश्वत धर्म और एकान्तिक सुखस्वरूप ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ।

भावार्थ—जिस ब्रह्मको गुणातीत पुरुष प्राप्त होता है, उसका स्वरूप बतलाया जाता है। वह ब्रह्म अविनाशी अमृत है, अर्थात् ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी अमृत हैं वे न अविनाशी हैं और न निरतिशय ही हैं बल्कि नाशवान् एवं अतिशय दोषसे युक्त हैं, परन्तु यह ब्रह्म तो अविनाशी अमृत है और क्षय-अतिशय दोष से मुक्त है। तथा यह ब्रह्म शाश्वत धर्मकी अवधि है, अर्थात् सांसारिक सम्पूर्ण धर्म शाश्वत नहीं, जो धर्म एकके लिये धर्म होता है वह अन्यके लिये अधर्म हो जाता है तथा जिस कालमें उसके लिये धर्म है अन्य कालमें उसीके लिये अधर्म हो सकता है। इसलिये सांसारिक धर्म शाश्वत नहीं, परन्तु यह ब्रह्म तो सब धर्मों-का-धर्म होनेसे शाश्वत है। सब धर्मोंको यही धारण

करता है और सब धर्मोंका फल इसीकी प्राप्ति है। इसीकी प्राप्तिपर सब धर्म पर्यवसानको प्राप्त हो जाते हैं, इस लिये यह शाश्वत धर्म है। तथा यह ब्रह्म एकान्तिक सुखकी अवधि है, अर्थात् सांसारिक सुख दुःखसे मिश्रित एवं नाशवान् होनेसे एकान्तिक नहीं, परन्तु यह ब्रह्म तो अन्यके संयोगरहित 'एकमेवाद्वितीयम्' केवल सुखस्वरूप ही है। ऐसे ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं अन्तरात्मा ही हूँ, क्योंकि यथार्थ ज्ञान होनेपर उपाधि-भागके त्यागद्वारा अन्तरात्मा ही ब्रह्मरूपसे निश्चित होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

चतुर्दश अध्यायका स्पष्टीकरण

त्रयोदश अध्यायमें भगवान्‌ने अपने स्वरूपमें योग-प्राप्तिके निमित्त अपने निर्गुणस्वरूपका रहस्यमय निरूपण किया। और बतलाया कि वास्तव में यह 'पुरुष' (क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा) नित्य-निरन्तर ही प्रकृतिसे असंग व निर्लेप है, केवल अज्ञानजन्य प्राकृतिक गुणोंके कल्पित संगसे कल्पित बन्धकी कल्पना करके ही यह ऊँच-नीच योनियोंमें भ्रमण करता रहता है। वस्तुत ज्ञान-दृष्टिसे तो यह प्रकृतिके सब व्यवहारोंका उपद्रष्टा व अनुमन्ता ही है। इस प्रकार इस तत्त्वज्ञानके अपरोक्ष कर लेनेपर इसमें बन्ध मोक्षकी सब कल्पनाएँ मिथ्या हो जाती हैं। अब इस अध्यायमें गुणोंके संगसे जिस प्रकार बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था होती है सो निरूपण किया जाता है जिससे कर्तृत्व-भोक्तृत्वका सब भार गुणोंके मत्थे ही छोड़कर अपने आत्माको असंग व नित्यमुक्त अनुभव किया जा सके।

वहाँ प्रथम श्लोकमें इस ज्ञानकी महिमा वर्णन की गई, जिसको करामलकवत् साक्षात्कार करके सब मुनिजन परमसिद्धिरूप मोक्षको प्राप्त हुए हैं। आशय यह कि प्रकृतिके साथ अज्ञानजन्य तादात्म्य ही इस जीवके सब बन्धनोंका मूल है तथा इस ज्ञानसे अतिरिक्त प्रकृतिके बन्धनसे छूटनेका और कोई उपाय न हुआ है न होगा। जो कोई जब कभी भी प्रकृतिके बन्धन से छूट पाया है केवल इस ज्ञानके आश्रय ही मुक्त हुआ है, यज्ञ-दान-तपादि कर्म प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त करनेमें न समर्थ हुए हैं न होंगे। इसीलिये इस ज्ञानको परम ज्ञान कहा गया और इसका यह महान् फल बतलाया कि इस ज्ञानके प्रभावसे पुरुष न सर्गके आदिमें उत्पन्न होता है और न प्रलयमें नष्ट होता है (२)। फिर कहा कि महद्ब्रह्मरूप मेरी प्रकृति सब भूतोंकी योनि है, जिसमें मैं अपना सत्ता-स्फूर्तिरूप बीज प्रदान करता हूँ और इसी योगसे सब चराचर भूतोंकी उत्पत्ति होती है। आशय यह कि जिस प्रकार नाना प्रकारके फलोपार्जनमें यद्यपि पृथ्वी ही हेतु है, परन्तु बीजके

बिना स्वयं पृथ्वी कोई भी फल प्रदान करनेमें कुछ भी समर्थ नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि प्रकृति ही सब भूताकारमें परिणामी होती है, तथापि भगवान् की सत्ता-स्फूर्ति बिना उसका नृत्य कुछ भी नहीं बन पड़ता और वह केवल शून्यरूप ही रह जाती है। इस प्रकार चारों खानि* और चारों वाणी† में परिणामरूपसे जितने भी आकारोंकी उत्पत्ति होती है, उनमें प्रकृति तो योनिरूपसे माता है और चेतन साक्षीपुरुष अपनी सत्ता-स्फूर्तिरूप बीज प्रदान करनेवाला पिता है; अर्थात् अखिल संसार प्रकृतिका परिणाम और चेतनका विवर्त है, ऐसा जानो (३)

इसके उपरान्त भगवान्‌ने सत्त्व, रज व तम—प्रकृतिके ये तीन गुण कहे, जो अपने संगसे इस असंग-अविनाशी आत्माको देहमें बन्धन करते हैं और उस अभेदमें भेद कर देते हैं। फिर इन गुणोंके बन्धनका प्रकार बतलाया, जो कि इस सुखस्वरूप आत्माको सुखकी आसक्तिसे, वितृष्णको तृष्णाकी आसक्तिसे, निष्कर्मको कर्मकी आसक्तिसे और नित्य-प्रबुद्धको निद्रादिकी आसक्तिसे देहमें बन्धायमान कर देते हैं (४-८)। तदनन्तर तीनों गुणोंके भिन्न-भिन्न फल वर्णन किये और जिस प्रकार दूसरे दो गुणोंको दबाकर एक गुण बलवान् होता है, वह प्रकार भी बतलाया (९-१०)। और प्रत्येक गुणकी वृद्धि-कालमें जैसे जैसे लक्षण प्रकट होते हैं, वे भिन्न-भिन्न वर्णन किये (११-१३)। तथा जिस-जिस गुणकी वृद्धि-कालमें इस जीवात्माका देहसे वियोग होता है, उसके अनुसार इस अजर-अमरको जैसी-जैसी गति प्राप्त होती है सो भिन्न-भिन्न निरूपण की और गुणभेदसे तीन प्रकारके कर्म एवं उनका फल वर्णन किया। फिर बतलाया कि इस प्रकार निर्विशेष एवं अधःऊर्ध्वभावसे रहित यह आत्मा सत्त्वगुणके संगसे स्वर्गादि उच्च लोकोंमें, रजोगुणके संगसे मध्यलोक मनुष्य-योनिमें और तमोगुणके संगसे पश्वादि नीच योनियोंमें भटकता फिरता है, कहीं शान्ति नहीं पाता; जैसे इन्द्र अज्ञान-निद्रामें सूकर-योनिको प्राप्त होकर दुःखका अनुभव करता रहा। (१४-१८)

*उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज व जरायुज। †परा, पश्यन्ति, मध्यमा व वैखरी।

इस प्रकार गुणोंका निरूपण करके फिर तत्त्व-दृष्टिका निरूपण किया कि वास्तवमें यह पुरुष (आत्मा) अपने स्वरूपसे सर्वव्यापी एवं असंग ही है, इसके लिये न कोई ऊर्ध्वगति और न अधोगति ही है। केवल अज्ञानद्वारा प्रकृतिके साथ तादात्म्य हुआ और प्रकृतिके गुण-कर्मोंको अपनेमें मानता हुआ, आप ही अपनेमें ऊँच-नीच व शुभाशुभकी कल्पना करता रहता है और मुझसे नित्ययुक्त हुआ वियुक्तकी भावना कर बैठता है। परन्तु वस्तुतः अपने स्वरूपसे कदाचित् च्युत नहीं होता, ज्यों-का-त्यों अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। जैसे उपाधिरूप घट-मठादि व्यापक आकाशको खण्डित करनेमें असमर्थ हैं तैसे ही प्रकृतिके परिणाम देहेन्द्रियादि इस अखण्ड आत्माको कदापि खण्डित नहीं कर सकते। जैसे चूहा आकाशको काट नहीं सकता, वायु आकाशको हिला नहीं सकती, वैसे ही प्रकृतिके गुण-कर्मादि इस अचल-कूटस्थको चलायमान नहीं कर सकते। जैसे समुद्र अपनी तरङ्गोंसे भीग नहीं जाता, तैसे ही प्रकृतिके गुण-परिणाम इसके अपने ही चमत्कार होने से इस आत्माको प्रभावित नहीं कर सकते।

इस प्रकार तत्त्व-दृष्टिका आश्रय करके जब यह 'पुरुष' अपने आपको प्रकृतिके गुण-कर्मादिसे सर्वथा असंग निश्चय कर लेता है और ज्यों-का-त्यों साक्षात्रूपसे यह जान लेता है कि 'गुण ही कर्मोंके कर्ता हैं गुणोंके सिवा अन्य कोई कर्तारूपसे नहीं है, मैं साक्षीपुरुष तो सर्वथा गुणोंसे निर्लेप ही हूँ'—तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है और मुझ नित्ययुक्तमें योग पा जाता है। इस प्रकार तीनों गुणोंसे छूटा हुआ वह पुरुष इस ज्ञानके प्रभावसे जन्म-जरा-मरणादि दुःखोंसे छूटा हुआ अमृतरूप मोक्षका भोग करता है (१९-२०)। वास्तवमें जरा-मरणादि व्याधि इस पुरुषमें पहले भी कोई नहीं थी, केवल अज्ञान-निद्रामें प्रकृतिके साथ अभेद होकर ही यह अपनेमें इनकी कल्पना कर रहा था, ज्ञान-जागृति आ जानेपर स्वतः ही कल्पित जरा-मरणादिकी निवृत्ति हो जाती है। यदि जरा-मरणादि व्याधि यथार्थ होती तो इसकी ज्ञानद्वारा निवृत्ति न होती, किन्तु इसकी निवृत्तिके

लिये भगवान् यज्ञ-तपादिका उपयोग निरूपण करते, क्योंकि ज्ञानका फल तो केवल अज्ञानकी निवृत्ति ही होता है, ज्ञानद्वारा किसी वस्तुको नष्ट नहीं किया जा सकता। परन्तु वास्तवमें ये जरा-मरणादि यथार्थ नहीं हैं, इसलिये ज्ञानके उदय होनेपर आत्मामें कल्पित जरा-मरणादिकी निवृत्ति भी कल्पित ही रह जाती है, जैसे रज्जु-ज्ञानसे रज्जुमें कल्पित सर्पकी निवृत्ति भी कल्पित ही होती है।

इसपर अर्जुनने भगवान्से गुणातीत पुरुषके लक्षण व आचरण पूछे और जिस उपायसे इस अवस्थाकी प्राप्ति होती है, सो भी पूछा (२१)। उत्तरमें श्लोक २२ से २५ तक भगवान्ने गुणातीत पुरुषके लक्षण व आचरण बतलाये और कहा कि जो पुरुष अपने साक्षीस्वरूपमें स्थित हुआ इन गुणोंसे अतीत हो गया है, वह इन गुणोंके लक्षण प्रकाश व प्रवृत्ति आदिके प्रवृत्त होनेपर इनको निस्सार जान न तो इनसे द्वेष करता है और इनके निवृत्त हो जानेपर तुच्छ जान न इनकी इच्छा ही करता है। जैसे रज्जु व शुक्तिके स्वरूपको जाननेवाला, अज्ञानी पुरुषके समान न तो प्रतीयमान सर्पसे भय करता है और न प्रतीयमान रूप्यकी आकांक्षा ही करता है। इसी प्रकार इन गुणोंकी प्रवृत्ति-निवृत्तिमें उदासीन पुरुष गुणातीत कहा जाता है। 'गुण प्रकृतिके राज्यमें ही वर्त रहे हैं, मुझ अधिष्ठानस्वरूप आत्मामें इनका कदाचित् लेप नहीं है' इस दृढ निश्चयसे वह अपने साक्षीस्वरूपमें स्थित हुआ अचल रहता है। तथा इसी दृष्टिकी परिपक्वता करके वह सुख-दुःख एवं मानापमानादि सब द्वन्द्वोंमें समान रहता है। वास्तवमें तो सुख-दुःखादि द्वन्द्व प्रकृतिके राज्यमें ही होते हैं और इनका भाव-अभाव भी अन्तःकरणमें ही रहता है, केवल अज्ञानके प्रभावसे यह 'पुरुष' अन्तःकरणस्वरूप बनकर वस्तुतः इसमें द्वन्द्व न होते हुए भी अपनेमें मान बैठता है। परन्तु ज्ञानके प्रभावसे जब इसने अपने-आपको अन्तःकरणसे पृथक् अन्तःकरणका द्रष्टा जाना, तब उपर्युक्त द्वन्द्व अन्तःकरणमें रहते हुए भी यह अपनेमें नहीं देखता। इस प्रकार

गुणातीतके स्वसंवेद्य लक्षण व आचरण वर्णन किये गये और इस *अवस्था* की प्राप्तिमें अपनी अव्यभिचारिणी भक्ति ही उपायरूपसे कथन की गई। आशय यह कि गुणोंका प्रभाव एकमात्र भेद-दृष्टिमें ही होता है, भेद-दृष्टि करके जब ऊँच नीच तथा शुभाशुभकी भावना दृढ होती है, तब ऐसी अवस्थामें ही गुणोंका राज्य होता है, उस भेद-दृष्टिकी निवृत्तिका उपाय एकमात्र भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति ही हो सकती है। इसलिये गुणोंसे छूटकर ब्रह्मभावकी प्राप्तिके लिये अपनी अव्यभिचारिणी भक्तिको ही हेतुरूपसे कथन किया गया। यह अव्यभिचारिणी भक्ति साधन कालमें भावप्रधान एवं क्रियासाध्य ही होती है, परन्तु ज्ञानकी परिपक्व अवस्थामें स्वतः सिद्ध हो जाती है। उपास्य-उपासक भाव गलित करके अहं-स्वरूप प्रपञ्चको केवल उपास्यरूप ही देखना, यही इस भक्तिकी परिपक्वता कही जाती है। अन्त में उस ब्रह्मका स्वरूप कथन करके इस अध्यायकी समाप्ति की गई, जो इस अव्यभिचारिणी भक्तिद्वारा प्राप्त किया जाता है (२६-२७)।

इस प्रकार *इस अध्यायमें प्रकृतिके साथ पुरुषका बन्धन-क्रम* बतलाया गया और अपनेमें योग पानेके लिये गुणोंसे मुक्तिका उपाय कथन किया गया तथा मुक्त पुरुषके लक्षण वर्णन किये गये।

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

चतुर्दश अध्यायमें जिस प्रकार गुणोंद्वारा आत्माको बन्धन होता है और जिस ज्ञानसे इसे गुणसंगसे मुक्ति हो जाती है, सो निरूपण किया गया। अब जिस तत्त्वके आश्रय इस बन्ध व मोक्ष की सिद्धि होती है, उस तत्त्वका निरूपण करनेकी इच्छासे—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—जिसकी मूल ऊर्ध्व है, शाखा नीचे हैं, और वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे संसाररूपी अश्वत्थ-वृक्षको अविनाशी कहते हैं, जो इसको (तत्त्वसे) जानता है, वही (यथार्थ) वेदवेत्ता है।

भावार्थ—सत्स्वरूप परमात्माकी सत्तासे ही इस कल्पितरूप संसारकी उत्पत्ति हुई है और वह परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा सर्वव्यापी होनेसे परात्पर है। जो परमात्मा इस संसारका आधार-भूत अर्थात् मूल है, उसके परात्पर होनेसे इस संसाररूप अश्वत्थको 'ऊर्ध्वमूल' कहा गया। 'अधःशाख' अर्थात् नीचे हैं शाखारूप विस्तार जिसका—इसका भावार्थ यह है कि जब जीव अज्ञान करके अपने परमात्मस्वरूपसे अधःपतनको प्राप्त हो जाता है, तभी वह अनेक शाखा (योनि) वाले इस संसारमें गिरता है, इसीलिये इस संसारको 'अधःशाख' कहा गया। दूसरे श्लोकमें भी 'शाखा' शब्दको 'योनि'के अर्थमें ही लिया गया है। अथवा इसका दूसरा भावार्थ यह हो सकता है कि वृक्षकी मूल सदैव नीचेको और शाखाएँ ऊपरको होती हैं, वृक्षकी

मूल ऊपर और शाखा नीचे हों, यह अत्यन्त असम्भव होता है। इसलिये जिस प्रकार ऊर्ध्वमूल और अध शाखा असम्भव हैं, इसी प्रकार सत्स्वरूप परमात्मामें असत्रूप संसारका होना भी सूर्य में अन्धकारके समान सर्वथा असम्भव ही है। इस प्रकार संसार की असम्भवता-दृष्टिसे ही इस संसाररूप अश्वत्थको 'ऊर्ध्वमूल-मध'शाखम्' कहा गया।

ईश्वरीय ज्ञानका नाम वेद है, जैसे अश्वत्थके पत्ते असंख्य होते हैं, तैसे ही ईश्वरीय ज्ञान भी अनन्त ही है। तथा जिस प्रकार अश्वत्थ वृक्षके तने, डाले व टहनियोंमें पत्तोंको छोड़कर कुछ भी शोभा नहीं होती, शोभा एकमात्र पत्तोंके सम्बन्धसे ही होती है और केवल पत्तोंकी हरयावल व छायाके आधार ही जीवको अश्वत्थ वृक्षके नीचे सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार संसारमें संसारसम्बन्धसे इस जीवको कहीं कुछ भी सुख नहीं है, केवल त्याग व ज्ञानमय वेदकी हरयावल व छायाके आश्रय ही त्रितापोंसे तपा हुआ यह जीव सुख-शान्तिका भागी हो सकता है। अतः त्याग व ज्ञानमय वेदकी शरणमें आना, यही इस असार संसारमें सार है। 'न श्व' अपि स्थाता इति अश्वत्थ'—इसका अर्थ यह कि 'कलतक भी स्थिर न रहनेवाला' अर्थात् किसी कालमें भी स्थिर न रहनेवाला होनेसे इस संसार-वृक्षको अश्वत्थ नामसे कथन किया गया। भगवान् व्यंग वचनोंमें कहते हैं कि 'लो जी! ऐसे चलायमान इस संसाररूपी अश्वत्थको लोग अविनाशी कहते हैं' अर्थात् 'अश्वत्थं अव्ययं प्राहुः'। आशय यह कि वास्तवमें तो यह संसार है ही नहीं और हुआ ही नहीं, केवल अपने परमात्मस्वरूपके अज्ञानसे यह यों ही अकारण भास आया है। जैसे रज्जुके अज्ञानसे रज्जुमें सर्प भास आता है और अकारण ही भय कम्पनादिका हेतु होता है, परन्तु वास्तवमें सर्प कहाँसे

आता नहीं है, सर्प तो रज्जुरूप ही होता है। इसी प्रकार अपने परमात्मस्वरूपके अज्ञानसे परमात्मामें यह अहं-त्वंरूप प्रपञ्च भास आया है और जन्म-जरा-मरणादि दुःखोंका हेतु हो रहा है, परन्तु वास्तवमें तो यह संसार अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म ही है। यही वेदका ढिंढोरा है। इस प्रकार जो पुरुष इस संसारको साक्षात् अधिष्ठान-ब्रह्मरूप ही जानता है, वही यथार्थ वेदवेत्ता है।

इसीका फिर आगे वर्णन करते हैं—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

गुणोंकरके वृद्धिको प्राप्त हुई तथा विषयरूपी कोपलोंवाली उस संसार-वृक्षकी शाखाएँ नीचे एवं ऊपर फैली हुई हैं और मनुष्ययोनिमें किये गये कर्मानुसार बाँधनेवाली इसकी वासना-रूपी जड़ें नीचेको फैली हुई हैं।

भावार्थ—सप्त उर्ध्व लोक तथा सप्त अधःलोकोंमें देव, मनुष्य एवं तिर्यगादि अनन्त योनिरूप इस संसार-वृक्षकी शाखाएँ नीचे-ऊपर फैली हुई हैं। अर्थात् इस संसार-वृक्षमें ब्रह्मापर्यन्त देवादि योनियोंकी प्राप्ति तो ऊर्ध्वशाखा और पश्वादि योनियोंकी प्राप्ति अधःशाखा हैं। ये योनिरूप शाखाएँ सत्त्व, रज व तम इन तीन गुणों करके ही बढ़ रही हैं, जिनमें शब्द-स्पर्शादि पञ्च विषयरूप कोपलें हैं, अर्थात् तीन गुण और पाँच विषयोंके संग करके ही इस जीवको नीचे-ऊपर अनन्त योनियोंमें भटकना पड़ता है। इस-लिये नाना योनिरूप शाखाओंके बढ़ने व पकनेमें ये गुण व विषय ही हेतुरूपसे कहे गये। इस जीवको गुणोंका संग अन्दर और विषय-संग बाह्य होता है। इसलिये जैसे-जैसे गुणवाला यह जीव होता है उसके अनुसार ही वैसे-वैसे बाह्य विषयोंमें इस जीवकी रुचि व प्रवृत्ति होती है और फिर उस रुचि व प्रवृत्तिके

अनुसार ही इस जीवको वैसी-वैसी योनिकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार गुण तो इन योनिरूप शाखाओंकी वृद्धि करनेवाले हैं और ये बाह्य विषय अपनी आसक्तिद्वारा इन शाखाओंको परिपक्व कर देनेवाले हैं।

अब भगवान् कहते हैं कि इन अनन्त योनिरूप शाखाओंकी अनन्त मूल इस जीवके अन्दर अनन्त वासनाएँ ही हैं। वासनाओं करके ही इस जीवको योनियोंकी प्राप्ति होती है और वे वासनाएँ जीवके हृदयमें ही रहती हैं, इसीलिये कहा गया कि इन योनिरूप शाखाओंकी वासनारूपी जड़ें नीचे ही फैल रही हैं। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही वे वासनाएँ जीवको बाँधनेवाली होती हैं, अर्थात् प्रथम जैसे-जैसे कर्म जीव करता है वैसी-वैसी ही वासना होती है और फिर जैसी-जैसी वासना होती है वैसी-वैसी ही योनिकी प्राप्ति होती है। इसलिये कर्मोंके अनुसार वासनाएँ ही इन योनिरूप शाखाओंकी जड़ें कही गई।

फिर मनुष्य योनिमें किये हुए कर्मोंके अनुसार ही वासनाएँ जड़रूपसे वर्णन की गई, अन्य योनियोंके कर्मोंको वासनाओंका हेतु नहीं कहा गया। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य-योनिसे इतर योनियाँ कर्म-भूमि नहीं केवल भोग-भूमि ही हैं, क्योंकि मनुष्य-योनिके कर्म ही बीजरूप होते हैं और वे ही अपने भोगके लिये वासनाको उत्पन्न करते हैं। मनुष्य-योनिसे इतर नीची योनियोंमें तो पञ्च-कोशोंका पूर्ण विकास ही नहीं होता, किसी योनिमें एक, किसीमें दो, किसीमें तीन और किसीमें चार कोशोंका विकास होता है। इसलिये पञ्चकोशविकासकी अपूर्णताके कारण उनमें कर्तृत्व-बुद्धि जाग्रत नहीं होती और पूर्णतया कर्तृत्व-बुद्धिके जाग्रत न होनेसे अन्य योनियोंके कर्म वासना एवं संस्कारको उत्पन्न कर ही नहीं सकते। इस प्रकार मनुष्य-योनिके कर्म ही वासना व

संस्कारके हेतु होनेसे योनियोंके मूलरूपसे वर्णन किये गये और फिर उन वासनाओं व संस्कारोंके अनुसार ही अधः-ऊर्ध्व योनियोंकी प्राप्ति कथन की गई।

निष्कर्ष यह कि मनुष्यलोकके कर्मानुसार जो वासनाएँ हैं, वे तो अधः-ऊर्ध्व योनियोंकी मूल हैं, जोकि जीवके हृदयमें नीचेको दृढ हो रही हैं और त्रिगुण इन योनिरूप शाखाओंको बढ़ानेवाले हैं। ऐसा इस संसार-वृक्षका विस्तार वर्णन किया गया।

अब तत्त्व-दृष्टिसे इस संसार-वृक्षका वर्णन करते हैं—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

[परन्तु जैसा इस संसार-वृक्षका स्वरूप ऊपर वर्णन किया गया है,] वैसा इसका रूप यहाँ (तत्त्व-दृष्टिसे) पाया नहीं जाता, (क्योंकि वस्तुतः) न तो इसकी उत्पत्ति, न अन्त और न भली प्रकार इसकी स्थिति ही है। इस दृढमूलवाले अश्वत्थ-वृक्षको दृढ असङ्ग शस्त्रसे काटकर तत्पश्चात् उस पदको अन्वेषण करना योग्य है जिसमें जाकर फिर लौटना नहीं होता। तथा 'उसी आदि पुरुषकी मैं शरण हूँ, जिससे यह पुरातन संसार-प्रवृत्ति विस्तृत हो रही है'–(इसी भावसे उसे खोजना चाहिये) ॥३,४॥

भावार्थ—जैसा इस संसार-वृक्षका विस्तार पीछे वर्णन किया गया है, वैसा वास्तवमें यह किसी आरम्भ-परिणाम करके उत्पन्न नहीं हुआ। केवल स्वप्नवत् अकस्मात् फुर आया है और भ्रमरूप अज्ञानका ही झमेला है। क्योंकि इस संसारका मूल जो परमात्मा है, उसमें इस संसारका न उत्पत्तिरूप, न स्थितिरूप और न

नाशरूप विकार ही है। बल्कि संसारकी उत्पत्ति स्थिति व लय तीनों अवस्थाओंमें वह उपादानरूप परब्रह्म तो ज्यों-का-त्यों ही है, उसके आश्रय केवल इसकी उत्पत्ति, स्थिति व लयका आभास ही होता है। जैसे दर्पणके आश्रय मुखका आभास होता है परन्तु दर्पणमें मुखका कोई स्पर्श नहीं होता, दर्पणमें मुखकी उत्पत्ति, स्थिति व लय केवल द्रष्टाका संकल्पमात्र ही होता है। अथवा जैसे सुवर्णके आश्रय कटक-कुण्डलादिकी उत्पत्ति, स्थिति व लयका आभास होता है, परन्तु कटकादिकी किसी अवस्थाका उसमें कोई स्पर्श नहीं होता। यदि इस नित्यविकारी संसारके विकारोंका कदाचित् उस मूलभूत परमात्मामें कोई स्पर्श हुआ होता तो वह परमात्मा भी विकारी हो जाना चाहिये था। यदि वह विकारी हुआ होता तो नाशवान् भी होना चाहिये था, क्योंकि विकारी वस्तु नियमसे नाशवान् ही होती है और वह कदाचित् स्थिर नहीं रहती। और इस प्रकार यदि वह परब्रह्म नाशवान् हुआ होता तो इस नाशवान् संसारका मूलरूप नहीं हो सकता था, क्योंकि नाशवान्के आश्रय नाशवान्की स्थिति असम्भव ही है। जैसे शून्य (०) के आश्रय शून्य (०) की स्थिति अलीक ही है, किन्तु एकाङ्क (१) के आश्रय ही शून्यकी स्थिति का सम्भव हो सकता है।

इस रीतिसे युक्ति, दृष्टान्त व प्रमाणसे उपर्युक्त विस्तारवाले इस संसार-वृक्षका सत्स्वरूप परमात्मामें कदाचित् कोई लेप पाया नहीं जाता। इसलिये उस सत्स्वरूपके आश्रय यह मिथ्या संसार इसी प्रकार केवल प्रतीतिमात्र है, जिस प्रकार सत् रज्जुके आश्रय मिथ्या सर्पकी भ्रमरूप ही प्रतीति होती है। तथा जिस प्रकार सत् रज्जुके आश्रय मिथ्या सर्प भ्रमकालमें सत्‌रूप प्रतीत होता है, इसी प्रकार अज्ञानकालमें सत्स्वरूप परमात्माकी सत्तासे असत्-

रूप जगत् सत्‌रूप प्रतीत होता है और अनहुआ भी हुआ-जैसा भासता है। इस प्रकार जबकि अपने सत्स्वरूप उपादानमें यह असत्‌रूप जगत् कदाचित् किसी प्रकारसे अपना कुछ भी लेप नहीं रखता, तब क्या तो इसकी उत्पत्ति कही जाय, क्या स्थिति और क्या इसका नाश कहा जाय? यदि रज्जुमें भ्रमरूप सर्पकी उत्पत्ति, स्थिति व लय कहा जा सकता हो तो परमात्मामें भी इस की उत्पत्ति, स्थिति व लय कहा जा सके। परन्तु परिणामरूपसे जब उस सत्स्वरूप उपादानमें कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, तब उत्पत्ति कैसी? और उत्पत्ति ही नहीं तो स्थिति व नाश कैसा? इसीलिये कहा गया कि—

'जैसा इस संसार-वृक्षका विस्तार वर्णन किया गया है, वैसा तत्त्व-दृष्टिसे पाया नहीं जाता, क्योंकि न इसकी उत्पत्ति ही है, न अन्त और न स्थिति ही।'

इस प्रकार अनहुआ भी यह संसार-वृक्ष केवल अहन्ता व ममतारूप संग करके ही दृढ कर लिया गया है और अहन्ता-ममता ही इसकी दृढ मूल है, इसलिये यह सर्वसंग-परित्यागरूप दृढ शस्त्रसे ही काटा जा सकता है। जबतक यह जीव अहन्ता-ममतादिके संगसे बन्धायमान हो रहा है, तबतक यह संसार-वृक्ष किसी प्रकार छेदन नहीं किया जा सकता, बल्कि अधिकाधिक इसका विस्तार ही सम्भव है, क्योंकि इस अहन्ता-ममतादि-संग के आधारपर ही यह वृक्ष खड़ा हुआ है। इस रीतिसे यद्यपि सर्वसंग-परित्यागरूप दृढ शस्त्रसे अहन्ता-ममतादि-संगको, जो इस संसार-वृक्षका आधारभूत है, काटा गया, तथापि इतनेसे ही कुछ न सरेगा। बल्कि उस अधिष्ठानस्वरूप परमपदका अन्वेषण भी अत्यन्त आवश्यक होगा, जिसमें आधारभूत अहन्ता-ममतादि-संग और आधेयभूत संसार-वृक्ष दोनों कल्पित हैं।

अतः उस सत्स्वरूप अधिष्ठानमें प्रवेश किये बिना आवागमनसे छुटकारा असम्भव है और उसमें प्रवेश पाकर तो आवागमनरूप संसारका त्रिकालाभाव ही सिद्ध हो जाता है जैसे सद्-रज्जुकी प्राप्तिसे मिथ्या-सर्प और तज्जन्य भय-कम्पनादिका अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसलिये उसी आदि पुरुषकी शरणको प्राप्त होना योग्य है जिसमें यह संसारप्रवृत्ति भासमान हो रही है।

इस प्रकार सर्वसंग-परित्याग और परम पदकी खोज—ये दो ही उपाय इस संसार-वृक्षके निर्मूलनके निमित्त वर्णन किये गये। अब उस खोजका साधन कथन करते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

जो मान व मोहसे छूटे हुए हैं, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जो नित्य ही अध्यात्मपरायण हैं, जिनकी सब कामनाएँ विशेषरूपसे निवृत्त हो गई हैं और जो सुख-दुःखसंज्ञक सब द्वन्द्वोंसे भली प्रकार मुक्त हो गये हैं ऐसे मूढभावसे छूटे हुए (तत्त्वजिज्ञासु) उस अव्यय परमपदको प्राप्त होते हैं॥५॥

भावार्थ—पिछले श्लोकमें संसार-वृक्षके निर्मूलनके दो ही उपाय बतलाये गये। प्रथम सर्वसंग-परित्यागरूप दृढ असंग-शस्त्रका प्रयोग, फिर उस परमपदकी खोज जिसके आश्रय यह संसार-वृक्ष खड़ा हुआ है। इस श्लोकमें उन दोनों उपायोंको स्पष्ट करके कथन करते हैं—

मान, मोह, आसक्ति, सब सांसारिक कामनाएँ और सुख-दुःखादि द्वन्द्व—ये सब तो निवृत्तिके अर्थ हेयरूप साधन कथन किये गये, इतनामात्र तो असंग-शस्त्रके प्रयोगके सम्बन्धमें कहा गया। फिर परमपदकी खोजके लिये एकमात्र अध्यात्मपरायणता ही प्रवृत्तिके अर्थ उपादेयरूप कथन की गई। मान, मोह, आसक्ति,

कामना एवं द्वन्द्व—ये सब अध्यात्मपरायणतामें प्रतिबन्धकरूप हैं, इसलिये प्रतिबन्धक दोषोंकी निवृत्तिके द्वारा ही ये निर्मान व निर्मोहादि अध्यात्मपरायणतामें सहकारी हैं। सत्पुरुषोंका संग और सच्छास्त्रोंके विचारद्वारा परमात्मस्वरूपकी आलोचनामें तत्पर होनेका नाम 'अध्यात्मपरायणता' है।

आधुनिक टीकाकारोंके मतानुसार भगवद्दृष्टिसे यदि निष्काम-कर्म परमपदकी प्राप्तिमें साक्षात् साधन मन्तव्य होता, तो इसका भी यहाँ कुछ उल्लेख होना चाहिये था। परन्तु इस निष्काम-कर्ममें साक्षात् साधनरूपता इष्ट होती तब ऐसा कथन किया जा सकता था। वास्तवमें भगवद्दृष्टिसे तो (जैसा पीछे श्लोक ३ में कथन किया गया है) यह संसार-वृक्ष उत्पन्न ही नहीं हुआ, फिर कर्मको साक्षात् साधन-कोटिमें कैसे शामिल किया जाता? भगवद्दृष्टिसे तो यह संसार-वृक्ष केवल अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और फिर अहन्ता-ममतादिके संगसे दृढ कर लिया गया है, इसलिये अहन्ता-ममतादि-संगको काटनेके लिये तो दृढ असंग-शस्त्रका प्रयोग बतलाया गया और अज्ञानकी निवृत्तिके लिये अध्यात्मपरायणतारूप ज्ञान कहा गया। क्योंकि ज्ञान ही एकमात्र अज्ञानका विरोधी है, कर्म तो अज्ञानका विरोधी नहीं बल्कि अज्ञानका का कार्य है, फिर वह यहाँ कैसे कहा जाता। अन्धकार प्रकाशसे ही दूर हो सकता है, लठ्ठिका-प्रहारादि कर्मसे कदापि दूर नहीं किया जा सकता।

अब आगे उस परमपदका स्वरूप बोधन करते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

[illegible] (स्वयंप्रकाश परमपद) को न सूर्य, न चन्द्रमा और न अ[illegible] प्रकाशित कर सकते हैं तथा जिसको प्राप्त करके

पुनरावृत्ति नहीं होती वही मेरा परमधाम है।

भावार्थ—वह परमपद ऐसा व्यापक तथा अलुप्त स्वयंप्रकाश है जिससे सब देश, काल व वस्तु और सम्पूर्ण गुण, क्रिया व द्रव्य तथा सम्पूर्ण वृत्तिरूप ज्ञान प्रकाशमान हो रहे हैं परन्तु वह आप किसी करके प्रकाशमान नहीं होता। उस परमपदको न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकते हैं, किन्तु उसके प्रकाशको प्राप्त करके ही ये सब प्रकाशमान हो रहे हैं। वास्तवमें विचारसे देखा जाय तो क्या सूर्यादि अधिभौतिक प्रकाश और क्या अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ज्ञान, स्वयं किसी भी वस्तुको प्रकाशित करनेमें कदाचित् समर्थ नहीं होते, किन्तु केवल वस्तुके आश्रय अन्धकार या आवरणका ही विरोध करते हैं। वस्तुके साक्षात् प्रकाशनमें इनका कोई प्रयोजन नहीं पाया जाता, केवल प्रकाशके विरोधी अन्धकारका तिरस्कार करना ही इनका प्रयोजन होता है। वास्तवमें तो सभी वस्तुओंको प्रकाश करनेवाला एकमात्र वह परमपद ही है, जो क्या स्थावर, क्या जङ्गम, क्या जड़, क्या चेतन, क्या अन्धकार और क्या प्रकाश—सभी वस्तुओं का सत्तारूप सामान्य प्रकाश है। केवल उसीके सत्तारूप सामान्य प्रकाशसे सभी वस्तुएँ प्रकाशमान हो रही हैं और असत् हुई भी सत् प्रतीत होती हैं।

ऐसा परमप्रकाश परमपद मेरा परमधाम है, जिसको प्राप्त करके पुनरावृत्ति नहीं होती। अर्थात् जिस परमपदको प्राप्त करके फिर न कहीं आना रहता है न जाना, तब तो सभी आवागमन भ्रममात्र सिद्ध हो जाते हैं। आवागमन सदैव परिच्छिन्नतामें ही होता है, यह नीति है। परन्तु मेरा परमपद तो सर्व परिच्छेदशून्य अपरिच्छिन्न है, फिर उसको प्राप्त करके पुनरावृत्ति कैसे हो? स्मरण रहे कि उस परमपद व परमधामकी प्राप्ति किसी क्रियारूप

व्यापारद्वारा सम्भव नहीं होती, किन्तु केवल तत्त्व-ज्ञानद्वारा ही उसमें प्रवेश सम्भव है। तत्त्वज्ञानकी महिमासे तत्त्वज्ञानीको यह साक्षात् अनुभव हो जाता है कि मेरा उस परमपदसे कभी वियोग हुआ ही नहीं था, किन्तु नित्य ही उसकी प्राप्ति थी। नित्यप्राप्तमें केवल अप्राप्तिका भ्रम था जोकि तत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो गया।

अब श्लोक ११ वें तक उसी परमपदका निकटका पता बतलाया जाता है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

जीवलोकमें जीवरूप हुआ (यह जीवात्मा) मेरा ही सनातन अंश है, जोकि प्रकृतिराज्यमें मनसहित छओं इन्द्रियोंको आकर्षित करता है।

भावार्थ—भगवान्‌ने अपने जिस परमपदका निरूपण ऊपरके श्लोकमें किया है, उसके अत्यन्त ही निकटका पता इस श्लोकमें इस प्रकार देते हैं। इस शरीरमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना व घ्राण-ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध-पृथक्-पृथक् इनके पाँच विषय हैं। जिस-जिस इन्द्रियके साथ मनोवृत्तिका संयोग होता है, वही अपने-अपने विषयको ग्रहण करती है। इस प्रकार यद्यपि इन सबका अपना-अपना भिन्न-भिन्न व्यापार है, एकके व्यापारका दूसरेके साथ कोई संसर्ग नहीं है। परन्तु वह जो इन सबके व्यापारोंको एकत्र भावसे ग्रहण करता है, 'मैं सुनता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं छूता हूँ'–इत्यादि तथा वह जो मन व इन्द्रियके संयोगमें स्थित है, जहाँ एक इन्द्रियके साथ मनका संयोग करता है, वहाँ दूसरी इन्द्रियके साथ वियोग कर देता है। जिस प्रकार टेलीफोनके एक्सचेञ्ज-आफिस (exchange office) में एक्सचेञ्ज-क्लर्क टेलीफोन-नम्बरोंका जोड़-तोड़

मिलाता रहता है, इसी प्रकार जो शरीररूपी एक्सचेंज-आफिस में स्थित हुआ मन-इन्द्रियोंके जोड़-तोड़ मिलाता रहता है अर्थात् जिसकी सत्तासे इन सब व्यापारोंकी सिद्धि होती है, वह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वह साक्षीस्वरूप मेरा ही परमपद है। यद्यपि इस जीवात्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वाध्यासकी प्रतीति हो रही है, तथापि वह वस्तुतः अपने स्वरूपसे तो अकर्ता-अभोक्ता ही है। यद्यपि अज्ञान करके अहंकारके साथ तादात्म्य हुआ कर्ता-भोक्ता-सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें तो अहंकार एवं मन-इन्द्रियादिके सब व्यापारोंका द्रष्टा व साक्षीस्वरूप केवल प्रकाश ही है।

मेरा सनातन अंश है'—यहाँ 'अंश' शब्दका अर्थ भिन्न-विभाग नहीं है, जैसे पाषाणका टुकड़ा पर्वतका भिन्न-विभागरूप अंश होता है। अंश शब्दका अर्थ यहाँ स्वरूप है, जैसे लोकमें अत्यन्त प्रिय आत्मीय वस्तुके लिये 'अंश' शब्द 'स्वरूप'के अर्थमें प्रयोग किया जाता है कि अमुक वस्तु मेरा अंश ही है, अर्थात् मेरा स्वरूप ही है। यदि 'अंश' शब्दका अर्थ 'भिन्न-विभाग' लिया जाय तो भगवान् जीवात्माको अपना सनातन अंश कथन करते हैं। और यदि जीवात्माको भगवान्का भिन्न-विभागरूप सनातन अंश माना जाय तो जीवात्माका परमात्मासे कदाचित् अभेद सम्भव न होगा और फिर मोक्षके निमित्त पुरुषार्थ भी निष्फल ही होगा। परन्तु ऐसा नहीं है, आशय यह है कि जीवात्मा मेरा सनातन स्वरूप ही है, केवल अविद्याकी उपाधि करके मुझसे वस्तुतः अभिन्न हुआ भी भिन्न हुआ-सा भान होता है। जैसे घट की उपाधि करके घटाकाश वस्तुतः महाकाशसे अभिन्न हुआ भी भिन्न-सा प्रतीत होता है।

इस रीतिसे वह जो मन-इन्द्रियोंके भिन्न-भिन्न व्यापारोंको एकत्र करके ग्रहण कर रहा है और जिस प्रकाशसे इनके

व्यापारोंकी सिद्धि हो रही है, वही द्रष्टा-साक्षी मेरा परमपद है।

जीवात्मा मनसहित छओं इन्द्रियोंको कब आकर्षण करता है और कैसे आकर्षण करता है ? सो कथन करते हैं—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

[इस प्रकार यह] देहका स्वामी जीवात्मा जिस किसी शरीर से भी उत्क्रान्ति करता है और जिस अन्य शरीरको प्राप्त होता है, तब इन (इन्द्रियों) को ग्रहण करके इसी प्रकार साथ ले जाता है, जैसे वायु पुष्पसे गन्धको ले जाता है।

भावार्थ—आशय यह कि इस जीवात्माका शरीरके साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं, किन्तु केवल भोगके निमित्तसे नैमित्तिक सम्बन्ध ही है और वास्तविक नहीं काल्पनिक है। जब भोगका निमित्त पूरा हो जाता है, तब यह इस शरीरसे अपने भोगके साधन मन-इन्द्रियोंको आकर्षण करके इसी प्रकार चम्पत हो जाता है, जिस प्रकार वायु पुष्पसे गन्धको उठा ले जाती है। वास्तवमें तो शरीरको प्राप्त करता हुआ-सा तथा उत्क्रान्ति करता हुआ-सा दीखता हुआ भी यह न तो शरीरकी प्राप्ति ही करता है और न उत्क्रान्ति, बल्कि वह जो सब प्राप्ति व उत्क्रान्तिसे असंग है और जिस प्रकाशमें ये सब उत्क्रान्त्यादि सिद्ध होते हैं, वही साक्षीस्वरूप जीवात्मा मेरा परमपद है। जिस प्रकार घटकी उपाधिके कारण घटके गमनागमनसे घटाकाशके गमनागमनकी कल्पना की जाती है, परन्तु वास्तवमें घटाकाश (घटदेशमें आये हुए आकाशमात्र) का गमन-आगमन नहीं होता; इसी प्रकार सूक्ष्म व कारण शरीरकी उत्क्रान्त्यादिसे उस साक्षीस्वरूप जीवात्मामें उत्क्रान्त्यादिकी कल्पना होती है, परन्तु वास्तवमें वह तो स्वयं अचल रहता हुआ उत्क्रान्त्यादिसे पूर्व ही वहाँ विद्यमान

रहता है, जहाँ इस जीवको जाना होता है। वही साक्षीस्वरूप मेरा परमपद है, जिसके जाननेपर यह संसार-वृक्ष उखड़ जाता है।

वे इन्द्रियाँ कौन-कौनसी हैं और उनके द्वारा कैसे भोग होता है? सो कथन करते हैं—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

[यह जीवात्मा] श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना एवं घ्राणद्वारा मन की अधिष्ठानतामें विषयोंका सेवन करता है।

भावार्थ—पाँचों इन्द्रियाँ स्वयं अपने किसी विषयका भोग नहीं कर सकतीं, किन्तु जिस-जिस इन्द्रियसे मनका संयोग होता है वही अपने विषयभोगमें समर्थ होती है, जिस प्रकार मंत्रीकी प्रेरणासे सब अधिकारी अपने-अपने अधिकारमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिये मनको इनका अधिष्ठाता कहा गया। वास्तवमें तो निर्विकार होनेसे यह जीवात्मा किसी भी विषयका भोक्ता नहीं है, परन्तु मनके साथ तादात्म्य होनेसे इस साक्षीस्वरूप जीवात्मामें मनस्कृत भोगोंका आरोप होता है, वस्तुतः तो यह अपने स्वरूप से सब भोगरूप त्रिपुटियोंका तमाशाई ही है। इस प्रकार यह जो मनको आश्रय करके श्रोत्रादि इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका सेवन करता-सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें सबसे असंग है, वही साक्षीस्वरूप जीवात्मा मेरा परमपद है, जिसके जाननेपर यह संसार-वृक्ष उखड़ जाता है।

ऐसा होते हुए भी—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

शरीर छोड़कर जाते हुए, शरीरमें स्थित हुए, विषयोंका भोग

करते हुए तथा गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानी जन नहीं देखते, किन्तु ज्ञाननेत्रोंवाले ही देखते हैं ।

भावार्थ—एक शरीरसे उत्क्रान्ति, दूसरे शरीरमें स्थिति, विषयभोग तथा सुख-दुःख-मोहादि गुण—इत्यादि सब गुण-क्रियाओंमें जो आत्मा नित्य-निरन्तर विद्यमान है तथा जिसकी सत्तामात्रसे ही इन सब गुण-क्रियाओंकी सिद्धि होती है और जिसको तत्त्वसे जानलेनेसे ही परमपद व परमधामकी प्राप्तिरूप मोक्ष सिद्ध हो जाता है, उस सूर्यवत् प्रकाशमान आत्माको उलूकवत् अज्ञानीजन नहीं जानते और उसको न जाननेके कारण ही संसार-समुद्रमें बहे जाते हैं। वस्तुतः इस जीवात्मामें न तो शरीर छोड़कर जानारूप उत्क्रान्ति, न स्थिति, न विषयोंका भोग और न गुणोंसे सम्बन्ध ही है। प्रथम शरीरसे उत्क्रान्ति करता हुआ-सा भान होते हुए भी वास्तवमें न इसमें कोई उत्क्रान्ति ही है और द्वितीय शरीरमें स्थित होता हुआ-सा भान होते हुए भी न इसमें कोई स्थितिरूप व्यवहार ही है। तथा गुणोंसे युक्त हुआ-सा एवं विषयोंको भोगता हुआ-सा प्रतीत होता हुआ भी न यह गुणोंसे लिप्त होता है और न विषयोंका भोक्ता ही बनता है । सब उत्क्रान्ति, सब स्थिति, सब गुणोंके तारतम्य और सम्पूर्ण भोगोंमें यह होता अवश्य है, परन्तु स्वयं कुछ नहीं करता, केवल साक्षीरूपसे द्रष्टा ही रहता है। सम्पूर्ण उत्क्रान्ति, स्थिति व भोगादि इसीकी सत्तासे सिद्ध होते हैं, परन्तु यह आप असंग रहता है। वस्तुतः ये सब उत्क्रान्ति, स्थिति, गुण व भोग अविद्यारूप प्रकृति के राज्यमें ही हैं और अविद्याकी उपाधि करके इस साक्षीस्वरूप जीवात्मामें कल्पना किये जाते हैं। इसीलिये इस साक्षीस्वरूपमें इन विकारोंका कोई लेप नहीं होता। जिस प्रकार आकाशमें 'घटाकाश' नाम और जलका आनयनरूप व्यवहार, घटकी उपाधि-

दृष्टिसे कल्पना किये जाते हैं । घटकी उपाधि बिना व्यापक आकाशमें न 'घटाकाश' नाम है और न आनयनरूप व्यवहार ही है। यद्यपि इन नाम व व्यवहारोंकी सिद्धि होती आकाश के आश्रय ही है, परन्तु आकाश तो अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों असंग ही है। इसी प्रकार व्यापक चेतनमें 'जीवात्मा' एवं 'साक्षी' नाम तथा उत्क्रान्ति, स्थिति व भोगादि व्यवहार, अविद्याकी उपाधि-दृष्टिसे कल्पना किये जाते हैं। अविद्याकी उपाधि बिना न इसमें 'जीवात्मा' एवं 'साक्षी' नाम है और न उत्क्रान्त्यादि व्यवहार ही है। यद्यपि ये सब नाम, रूप व व्यवहार होते इसीके आश्रय हैं, इसकी सत्ता बिना तो इन सब व्यवहारोंका असम्भव ही है; तथापि यह तो अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही है।

इस रीतिसे सर्वकर्ता यही है, परन्तु वस्तुत अकर्ता है, सर्व भोक्ता यही है, परन्तु वस्तुत अभोक्ता है। इस प्रकार जो सब गुण-क्रियाओंमें और सब भोगोंमें हाज़िर-हज़ूर है, उस परमपद को मूढ़ पुरुष नहीं देखते। परन्तु जिनके ज्ञानरूपी दिव्यनेत्र खुले हुए हैं, ऐसे ज्ञानीजन अपने ज्ञान-नेत्रोंसे इस परमपदको अपनेमें ही करामलकवत् प्रत्यक्ष देखते हैं और जीते-जी ही मुक्त हो जाते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

[इस प्रकार] योगीजन यत्न करते हुए अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको (तत्त्वसे) जान लेते हैं; परन्तु जिन्होंने अपने अन्त -करणको शुद्ध नहीं किया, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते हुए भी (अपने हृदयमें ही स्थित) इस आत्माको नहीं जानते।

भावार्थ—इस प्रकार समाहितचित्त योगीजन यत्न करते हुए इस साक्षीस्वरूप परमपदको अपने हृदयमें करामलकवत् साक्षात्

देख लेते हैं कि 'वही मैं हूँ'। परन्तु जिनका अन्तःकरण सांसारिक आसक्तिरूप मलसे निर्मल नहीं हुआ, ऐसे अकृतात्मा अज्ञानीजन तो यत्न करते हुए भी अपने अत्यन्त ही सन्निकट उस परमानन्द-स्वरूप परमपदको नहीं देख पाते। जिस प्रकार निद्रा-दोषके कारण माता छातीसे चिपटे हुए भी अपने शिशुको नहीं देख पाती और 'मेरा बच्चा खोया गया! मेरा बच्चा खोया गया'—ऐसा स्वप्नमें बड़-बड़ाती है। आशय यह है कि ब्रह्मासे लेकर चिउँटीपर्यन्त सम्पूर्ण भूत-प्राणी अपनी प्रत्येक चेष्टामें उस परमानन्दकी खोज कर रहे हैं। इसलिये क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी सबकी दौड़-धूप है तो एकमात्र उस परमपदकी खोजके लिये ही, परन्तु वे अकृतात्मा यत्न करते हुए भी और गुरु-शास्त्रद्वारा श्रवण करके भी अपने हृदयमें ही स्थित उस परमपदको प्राप्त नहीं कर पाते और उनका सब पुरुषार्थ निष्फल ही रहता है। जिस प्रकार दर्पणकी मलिनताके कारण अति सन्निकट होते हुए भी उसमें मुख दिखलाई नहीं पड़ता, इसी प्रकार उनका अन्तःकरण सांसारिक रागादि मलसे मलिन रहनेके कारण तथा वैराग्य-रूपी झाड़ूसे शुद्ध न होनेके कारण उनको अपना आत्मस्वरूप अत्यन्त अव्यवहित हुआ भी प्रत्यक्ष नहीं होता और वे वहाँ अपने आत्मस्वरूपको न देख देहादि प्रपञ्च को ही देखते हैं।

श्लोक ४में जिस परमपदकी खोजके लिये भगवान्ने आज्ञा दी थी और जिसकी प्राप्तिपर अपुनरावृत्तिका वचन किया था, उस परमपदका इस प्रकार अत्यन्त ही सन्निकटका पता दिया गया, जिसकी प्राप्ति हो जानेपर यह संसार-वृक्ष समूल उखड़ जाता है। अब चार श्लोकोंमें उस परमपदकी सर्वव्यापकता एवं सर्वात्मता का निरूपण करते हैं और कहते हैं कि संसारमें जितना कुछ भी नाम, रूप व क्रियाका प्राकट्य हो रहा है, वह सब उस परम-

पदकी सत्ता-स्फूर्तिसे ही है, उसीका चमत्कार है और वह परमपद मेरा ही स्वरूप है—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ अखिल जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा व अग्निमें स्थित है वह तेज तू मेरा ही जान।

भावार्थ—आशय यह कि सूर्य, चन्द्रमा व अग्निमें जो तेज है वह उनका अपना नहीं, किन्तु मुझ परमपदसे उधार लेकर ही वे तेजवान् हो रहे हैं। तथा सूर्यादिमें जो विशेषरूप तेज है ऐसा मेरा नहीं, किन्तु मेरा तेज तो एकरस, सर्व-व्यापी और सामान्य तेज है, जो सब विशेषताओंसे विनिर्मुक्त है। सूर्यादिमें तेजकी विशेषता उनकी उपाधिकी विशेष स्वच्छताके कारण है। जिस प्रकार उपाधिकी अस्वच्छता करके भित्ति व काष्ठके सम्मुख हुआ भी मुखका प्रतिविम्ब नहीं भासता, परन्तु जल व दर्पणमें जैसे-जैसे उपाधि अधिक स्वच्छ होती है वैसा-वैसा प्रतिविम्ब अधिक स्पष्ट भासता है तैसे ही मेरा सामान्य तेज एकरस एव सर्वगत हुआ भी सूर्य व चन्द्रादि की उपाधिमें जितनी-जितनी अधिक स्वच्छता होती है, उनमें उतना-उतना ही अधिक तेजका प्राकट्य करता है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

पृथ्वीमें प्रवेश करके मैं ही अपने ओजसे सब भूतोंको धारण कर रहा हूँ और रसात्मक चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको पुष्ट कर रहा हूँ।

भावार्थ—जिस ओजसे पृथ्वी सब भूतोंको धारण कर रही

है तथा महान् भारसे भारवती होकर भी न तो नीचेको गिरती है और न फटती ही है, वह ओज पृथ्वीमें अपना नहीं, किन्तु मुझ परमपदके ओजसे ही ओजस्वती होकर वह सब भूतोंको धारण कर रही है। तथा जिस रसस्वरूपसे रसवान् हुआ चन्द्रमा सम्पूर्ण ओषधियों, यवादि धान्यों एवं वनस्पतियोंको पुष्ट व स्वादयुक्त करता है, वह रस चन्द्रमामें अपना नहीं, किन्तु मुझ रसात्मकसे रसवान् हुआ ही वह सब ओषधियोंको रस बाँट रहा है और उन्हें पुष्ट कर रहा है, जिस प्रकार राजाके भण्डार से भण्डारी रोटियाँ ले-लेकर सब क्षुधार्थियोंको तृप्त करता है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

सब प्राणियोंके शरीरोंमें स्थित हुआ मैं ही वैश्वानर अग्नि होकर प्राण व अपानसे युक्त हुआ चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ।

भावार्थ—जो वैश्वानर अग्नि सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें स्थित हुई प्राण व अपान वायुकी धौंकनीसे भक्ष्य, भोज्य, लेह्य व चोष्य चार प्रकारके अन्नोंको पचाती है, वह धौंकन-क्रिया व पाचन-शक्ति वैश्वानरमें अपनी नहीं, किन्तु मेरी शक्तिसे ही शक्तिमती होकर वह अपने इस व्यापारमें प्रवृत्त हो रही है। जैसे अग्नि-देव आप शक्तिरहित हुआ भगवान्‌की शक्तिसे ही खाण्डव वनको जलानेमें समर्थ हुआ था (महाभारत आदि पर्व)।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

[तथा] सब प्राणियोंके हृदयोंमें मैं ही स्थित हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और उनका लोप भी होता है और सब वेदोंद्वारा मैं

ही जाननेयोग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता एवं वेदोंका जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

भावार्थ—जो प्रकाश सब प्राणियोंके हृदयोंमें स्थित है और जिस प्रकाशमें स्मृति-वृत्ति (भूत-ज्ञान), अनुभव-वृत्ति (वर्तमान-ज्ञान) तथा उनका लोप प्रकाशता है, वह प्रकाश मेरा ही है। जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाशसे आप प्रकाशमान हुआ घरमें स्थित सब वस्तुओंके भाव व अभावोंको प्रकाशित कर देता है। वेदोंके द्वारा जो ज्ञेयरूप वस्तु है वह मैं ही हूँ, इधर वेदान्तका कर्ता और उधर वेदवेत्ता भी मैं ही हूँ। अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेयरूप सब त्रिपुटियाँ मुझसे ही सिद्ध होती हैं और वे सब मैं ही हूँ।

इस प्रकार श्लोक १२ से यहाँतक दूर एव निकट अपनी सर्वात्मता व सर्वव्यापकताका वर्णन किया। अब क्षर व अक्षर इन दोनों उपाधियोंसे पृथक् अपने निरुपाधि शुद्ध परमात्मस्वरूपका निश्चय करानेकी इच्छासे अगले श्लोकोंका आरम्भ किया जाता है—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
> क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

संसारमें ये दो ही पुरुष हैं, एक क्षर और दूसरा अक्षर, इनमें दृश्यरूप सम्पूर्ण भूत तो 'क्षर' और मायाको 'अक्षर' कहा गया है।

भावार्थ—पञ्चभूतात्मक एवं पञ्चविषयात्मक जितना कुछ भी महतत्त्वसे लेकर दृश्यरूप जगत् है, वह सब तो कार्य होनेसे और उत्पत्ति-नाशरूप होनेसे 'क्षर-पुरुष' कहा गया है। तथा कूटस्थ अर्थात् माया जो क्षर-पुरुषकी उत्पत्तिका बीज है, क्षर-पुरुष जिसका विकार है और सम्पूर्ण जीवोंके कामना व कर्म-संस्कारोंका जो आश्रय है, ऐसी भगवान्की माया-शक्तिको

'अक्षर-पुरुष' कहा गया है। 'पुरुष' नाम राशिका है, अर्थात् जितना कुछ भी जगत् है, वह दो ही राशियों (पुरुषों)में विभक्त हो सकता है, एक मायाका कार्य अर्थात् परिणामरूप क्षर-पुरुष और दूसरा परिणामीरूप अक्षर-पुरुष स्वयं माया। कूट अर्थात् छलरूपसे जो स्थित है, जो वास्तवमें अपने स्वरूपसे नहीं है, जो केवल अज्ञान करके ही प्रतीत होती है और सब जीवोंको मोहनेवाली है, इसी लिये इस मायाको 'कूटस्थ' नामसे कहा गया। अज्ञान-कालमें सब संसारका नाश हो जानेपर भी इसका नाश नहीं होता और यह बीजरूपसे प्रलयमें भी शेष रहती है, इसलिये इसको 'अक्षर' कहा गया है।

इन दोनोंसे जो अतीत है और इन दोनोंका जो तत्त्व है, अब उसका निरूपण करते हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इन दोनोंसे विलक्षण उत्तम पुरुष है, वह 'परमात्मा' ऐसा कहा गया है, जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रवेश करके उनको धारण कर रहा है।

भावार्थ—जो 'क्षर' व 'अक्षर' इन दोनों राशियोंसे विलक्षण है, अर्थात् जिसके आश्रय 'क्षर' एवं 'अक्षर' दोनोंकी सिद्धि होती है, जिसमें इन दोनोंका त्रिकालाभाव है तथा जो आप न क्षर और न अक्षर ही है, ऐसा दोनोंका अधिष्ठानस्वरूप उत्तम-पुरुष 'परमात्मा' कहा गया है। वह अविनाशी ईश्वर पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग तीनों लोकोंमें प्रवेश करके अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे इन तीनोंको धारण कर रहा है और आप सबसे असंग है।

यह उत्तम पुरुष ही पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है, हेतुसहित उस पुरुषोत्तम नामकी सार्थकता जितलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक व वेदमें मैं 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रख्यात हूँ।

भावार्थ—मैं क्षररूप दृश्य एवं विकृतिस्वरूप जगत्‌से अतीत हूँ, अर्थात् विनाशरूप जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय मेरे आश्रय होते हुए भी मैं ज्यों-का-त्यों निर्विकाररूपसे ही स्थित रहता हूँ। तथा मैं अक्षररूप मायासे भी उत्कृष्ट हूँ, क्योंकि अक्षररूप माया भी केवल अज्ञान-कालमें ही प्रतीत होती है और अपना नाच नचाती है, फिर ज्ञान उदय होनेपर तो इसका भी त्रिकालाभाव हो जाता है, परन्तु मेरा कदाचित् अभाव नहीं होता। इस प्रकार 'क्षर' व 'अक्षर' उभय पुरुषोंसे उत्तम होनेसे मैं लोक व वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रख्यात हूँ।

इस आत्म-तत्त्वके जाननेवालेके लिये फल कथन किया जाता है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत! इस प्रकार जो ज्ञानी मुझ पुरुषोत्तमको जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष अपने सब भावोंसे मुझको ही भजता है।

भावार्थ—जिस प्रकार जलमें प्रतीयमान तरङ्ग, चक्र, फेन व बुद्बुदादि जलरूप ही है, इसी प्रकार सत्ता-सामान्यमें प्रतीयमान विशेषरूप जगत् सत्ता-सामान्यरूप ही है। अर्थात् अधिष्ठान-ब्रह्ममें कल्पितरूप जगत् ब्रह्मरूप ही है। इस प्रकार जो तत्त्ववेत्ता मुझ पुरुषोत्तमको अपरोक्षरूपसे जानता है कि 'वह मैं ही हूँ' वह सबको अपना आत्मरूप जाननेवाला सर्वज्ञ पुरुष अपने सब भावोंसे मुझे ही भजता है। अर्थात् अपनी सब मनोवृत्तियोंमें मेरा ही

दर्शन करता है और मुझमें ही रमण करता है।

इस मोक्षरूप फलको देनेवाले तत्त्वज्ञानकी स्तुति करते हैं—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप! इस प्रकार यह परम रहस्ययुक्त शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर हे भारत! मनुष्य बुद्धिमान् व कृतकृत्य हो जाता है।

भावार्थ—'सब शास्त्रोंमें यह शास्त्र परम गोपनीय है'—इस प्रकार इस पन्द्रहवें अध्यायकी शास्त्ररूपसे महिमा की गई, क्योंकि सम्पूर्ण गीता एवं सम्पूर्ण शास्त्रोंका तत्त्व इसमें आ चुका है। इसको तत्त्वसे जान लेनेसे ही मनुष्य बुद्धिमान् व कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् इसको तत्त्वसे जानकर और कुछ जानना शेष नहीं रहता और इस संसारमें जो कुछ करनेयोग्य है, कहना चाहिये कि उस मनुष्यने वह सब कर लिया है, उसके लिये और कुछ करना शेष नहीं रहता। इसके सिवा किसीके कर्तव्यकी अन्य प्रकारसे समाप्ति नहीं हो सकती। केवल इस ज्ञानके अपरोक्ष होनेपर ही कृतकृत्यतारूप मोक्ष अवलम्बित है, इसके बिना केवल किसी कर्मादिद्वारा ही इस कृतकृत्यताकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है और खपुष्पके तुल्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥

पञ्चदश अध्यायका स्पष्टीकरण

चतुर्दश अध्यायमें भगवान्‌ने प्रकृतिके तीनों गुणोंका विस्तारसे वर्णन किया, जिनके सगसे आत्मामें बन्ध व मोक्षकी व्यवस्था होती है। अपने स्वरूपमें योग-प्राप्तिके लिये अब फिर इस अध्यायमें अपने स्वरूपका ज्ञान निरूपण करते हैं और अध्यस्तरूप ससारकी कल्पितरूपता तथा अधिष्ठान-रूप परमात्माकी सत्यता वर्णन करते हैं।

प्रथम श्लोकमें संसारकी असम्भवता कथन की और इस ससारको वृक्ष की उपमा देकर 'ऊर्ध्वमूल' व 'अध शाख' बतलाया गया। अर्थात् इस ससारकी मूल सत्स्वरूप वह परमात्मा ही हो सकता है, उससे भिन्न और कोई वस्तु मूलरूपसे ग्रहण नहीं की जा सकती। क्योंकि उससे भिन्न और जो कुछ भी है, वह सब मिथ्या एव कार्य ही है और मिथ्यासे मिथ्याकी उत्पत्ति सर्वथा अलीक ही है। क्योंकि मिथ्या वस्तु पूर्व-उत्तरकालके बिना केवल मध्यकालमें ही प्रतीतिमात्र होनेसे स्वयं शून्यरूप होती है और शून्य किसी वस्तुका कारण बन नहीं सकता। तथा जो कार्य है वह आप जन्य है और जो जन्य है वह आप उत्पत्ति-नाशरूप होनेसे मिथ्या ही है, इसलिये कार्यरूप कोई वस्तु इस मिथ्या ससारका कारण नहीं हो सकती। शेषमें केवल सत्स्वरूप परमात्मा ही मूलरूपसे ग्रहण किया जा सकता है, जिसमें इस मिथ्या ससारका कोई विकार स्पर्श नहीं करता और जिसमें किसी आरम्भ-परिणामके बिना ही यह ससार इसी प्रकार अकस्मात् फुर आया है, जिस प्रकार स्वप्न-सृष्टि अकस्मात् फुर आती है, जो कदाचित् स्थित नहीं। इस प्रकार असम्भवता-दृष्टिसे इस ससारको 'अध शाख' कथन किया और आश्चर्य से कहा कि ऐसे इस ससारको अज्ञानीजन अविनाशी कथन करते हैं, परन्तु जो इसको तत्त्वसे जानता है वही यथार्थ वेदवेत्ता है।

दूसरे श्लोकमें इस संसार-वृक्षके विस्तारका वर्णन किया और कहा कि मनुष्य-योनिके कर्म ही इस संसार-वृक्षकी वृद्धिके हेतु हैं। तीसरे श्लोकमें कहा गया कि स्थूल दृष्टिसे जैसा इस संसार-वृक्षका विस्तार देखनेमें आता है वैसा तत्त्व-दृष्टिसे पाया नहीं जाता, क्योंकि वस्तुतः सत्स्वरूप परमात्मामें इस असत्‌रूप संसारकी न तो उत्पत्ति ही पाई जाती है, न स्थिति और न नाश ही। केवल अज्ञानद्वारा अहन्ता-ममतादिके संगसे इस अमद्रूप संसार-वृक्ष को अपनी ही कल्पनामें इसी प्रकार दृढ कर लिया गया है, जैसे अपनी ही परिछाईंमें अनद्रूप वेतालकी कल्पना करके बालक भयको प्राप्त होता है, इसलिये दृढ *असंग शस्त्रसे* इस संसार-वृक्षके छेदन करनेकी आज्ञा दी। चतुर्थ श्लोकमें उस अधिष्ठानस्वरूप परमपदके अन्वेषण करनेकी चेतावनी दी, जिसमें यह कल्पितरूप जगत् भास रहा है। इस प्रकार सर्वसंग-परित्यागरूप दृढ शस्त्र तथा परमपदकी खोज—ये दो ही उपाय इस संसार-वृक्षके निर्मूलनके बतलाये गये और पञ्चम श्लोकमें सर्वसंग-परित्यागरूप दृढशस्त्रके संग्रह के साधन कथन किये गये। फिर छटे श्लोकसे अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त जिसकी खोज कर चुकनेपर इस संसार-वृक्षका अत्यन्ताभाव हो जाता है, उस परमपदका दूर-से-दूर तथा निकट-से-निकटका पता इस प्रकार बतलाया गया—

जिस परमपदको सूर्य, चन्द्रमा व अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते और जहाँ जाकर लौटना नहीं होता, वही मेरा परमधाम है। इस जीवलोकमें जिसको 'जीव' कहा जाता है वह मेरा ही सनातन स्वरूप है। अर्थात् यह जीवात्मा अज्ञानसे पूर्व भी मेरा ही स्वरूप था और अज्ञानके निवृत्त हो जाने पर भी मेरा ही स्वरूप रहता है, केवल अज्ञान-कालमें अज्ञानकी महिमासे मुझसे भेदका भ्रम हो जाता है, परन्तु वस्तुतः उस कालमें भी भेद हो नहीं जाता, जैसे राजा स्वप्नमें भिखारी दीखनेसे भिखारी हो नहीं जाता। जिस प्रकार महाराजा चाक्षु, चमच एवं प्यालोंके द्वारा पदार्थोंका स्वाद लेता है, इसी प्रकार अज्ञानसे बँधकर यह जीवात्मा मन-इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका सेवन करता है। इस प्रकार जब यह यहाँ अपना भोग कर चुकता है, तब भोगके

साधन इन मन-इन्द्रियोंको अपने साथ लेकर इसी प्रकार अन्य शरीरमें चला जाता है, जिस प्रकार अपनी सब सामग्रीसहित राजा एक पड़ावसे दूसरे पड़ावपर चला जाता है और फिर वहाँ अपनी सग्रह की हुई सामग्री का भोग करता है। इस प्रकार उत्क्रान्ति, स्थिति व भोगादि सब व्यवहारोंमें हाज़िर-हुज़ूर, सब कुछ करके भी कुछ न करता हुआ और सबसे असग मुझ परमपदको अज्ञानीजन नहीं देखते, केवल ज्ञाननेत्रोंवाले ही मुझसे आँखें लड़ाकर मुझमें योग पा जाते हैं। सूर्य, चन्द्रमा व अग्नि मेरे ही तेज से तेजवान् हो रहे हैं और वे मेरे ही तेजकी ध्वजा फहरा रहे हैं। जिस प्रकार महाराजके महलपर फहराती हुई ध्वजा महलमें महाराजकी विद्यमानताको सूचित करती है, इसी प्रकार सूर्यादिका तेज अपने अन्दर मुझ तेजस्वरूपकी विद्यमानताका द्योतक है। पृथ्वीमें प्रवेश करके मैं ही अपने ओजसे सम्पूर्ण भूतोंको धारण कर रहा हूँ और रसात्मक चन्द्रमा हुआ सब ओषधियोंको पुष्ट कर रहा हूँ। प्राणियोंके देहोंके आश्रय वैश्वानर अग्नि हुआ मैं ही चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ और सबके हृदयरूपी मन्दिरोंमें मैं ही अपनी ज्योतिसे अनुभवादि सब ज्ञानोंको प्रकाश करता हूँ (६।१५)।

इस प्रकार ज्ञानात्मक, द्रव्यात्मक, गुणात्मक एव क्रियात्मक जितना कुछ भी तेज है उसमें अपनी विद्यमानताका पता दिया, अन्तमें निष्कर्षरूपसे कथन किया कि इस ससारमें दो ही पुरुष हैं, एक तो व्यक्तरूप सर्वभूत जो उत्पत्ति-नाशरूप होनेसे 'क्षर पुरुष' कहाता है, दूसरा अव्यक्तरूप माया जो भूतोंके नाश होनेपर भी नष्ट नहीं होती, उसको 'अक्षर पुरुष' कहते हैं। परन्तु इन दोनोंसे विलक्षण 'उत्तम पुरुष' है वह परमात्मा नामसे कहा जाता है, जो कि क्षर एव अक्षरात्मक तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सम्पूर्ण क्षर व अक्षरको धारण कर रहा है। चूँकि कार्यरूप नाशवान् जड़वर्गका उत्पत्ति-विनाश मेरे सकाशसे ही सिद्ध होता है, परन्तु मेरा उत्पत्ति-विनाश नहीं होता, इसलिये मैं क्षरसे अतीत व असंग हूँ। तथा अक्षर एव परिणामीरूप मायाका नृत्य भी मेरे प्रकाशमें ही सिद्ध होता है, परन्तु वह मुझको नचा

नहीं सकती, इसलिये मैं अक्षरसे भी उत्तम हूँ और इसी लिये लोक-वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ। आशय यह है कि क्या परिणामरूप जगत् (क्षर पुरुष) और क्या परिणामीरूप माया (अक्षर पुरुष) दोनों स्वसत्ता-शून्य हैं, केवल मेरी सत्तासे ही वे सत्तावान् प्रतीत होते हैं। तथा दोनों केवल अपने भ्रान्ति ज्ञानमें ही इसी प्रकार भासमान होते हैं, जिस प्रकार रज्जुकी सत्तासे सर्प, दण्ड व माला आदि अपने भ्रान्ति ज्ञानोंमें ही दृष्टि-गोचर होते हैं। वास्तवमें तो वे सर्प-दण्डादि रज्जुरूप ही हैं, इसी प्रकार परिणामरूप जगत् एवं परिणामीरूप माया दोनों मेरा ही रूप हैं। इस प्रकार जो तत्त्ववेत्ता ज्ञानी मुझ पुरुषोत्तमको साक्षात् जानता है, वह सब प्रपञ्चको अधिष्ठानरूप देखनेवाला सर्वज्ञ पुरुष अपने सब भावोंके द्वारा मेरा ही भजन करता है। अर्थात् 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः' जहाँ-जहाँ भी उस पुरुषका मन जाता है वहाँ-वहाँ वह अपने आत्मस्वरूप का ही दर्शन करता है।

इस प्रकार जिस परमपदकी खोज कर लेनेपर संसार-वृक्ष समूल उखड़ जाता है, उसका भगवान्‌ने निरूपण किया। और अन्तमें कहा कि हे निष्पाप ! यह परम गुह्य शास्त्र तेरे प्रति कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् व कृतकृत्य हो जाता है। आशय यह कि कृतकृत्यतारूप मोक्ष केवल इस ज्ञानपर ही निर्भर है।

ॐ ॐ ॐ

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

पन्द्रहवें अध्यायमें परमपदकी खोजके निमित्त अपने स्वरूपका ज्ञान निरूपण किया गया। अब उस ज्ञानमें साधक दैवी सम्पत्ति संग्रह करनेके लिये तथा बाधक आसुरी सम्पत्ति त्यागनेके लिये कथन की जाती है।

उनमें प्रथम दैवी सम्पत्तिका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—भयका अभाव, अन्तःकरणकी भली भाँति निर्मलता, ज्ञान व योगमें विशेषरूपसे स्थिति, दान, इन्द्रियोंका दमन, यज्ञ, सच्छास्त्रोंका पठन, तप एवं सरलता।

भावार्थ—अन्तःकरणमें कम्पन भय कहाता है, तिसके अभाव को 'अभय' कहते हैं। व्यवहारमें दूसरोंके साथ छल-कपट आदि अवगुणोंको छोड़कर शुद्ध भावसे आचरण, अन्तःकरणकी सामान्य निर्मलता है तथा हृदयसे संसारसम्बन्धी आसक्तिका निकल जाना, यथार्थ 'सत्त्वसंशुद्धि' कहा जाता है। गुरु-शास्त्रद्वारा आत्मादि पदार्थोंके जाननेको 'ज्ञान' कहते हैं तथा जाने हुए पदार्थ को इन्द्रिय-निग्रह व एकाग्रताद्वारा अनुभव कर लेना 'योग' है, उन दोनोंमें तन्मय होना 'व्यवस्थिति' है। यही प्रधान दैवी-संपद् है। अपनी शक्तिके अनुसार अन्नादि पदार्थोंके त्यागका नाम 'दान' है। इन्द्रिय-संयमको 'दम' कहते हैं तथा अग्नि-होत्रादि एवं देव-पूजनादि 'यज्ञ' कहा जाता है। परमार्थसम्बन्धी सच्छास्त्रोंके विचारपूर्वक पाठ करनेको 'स्वाध्याय' कहते हैं। तपका लक्षण

१७ वें अध्यायमें किया जायगा। शरीर, मन व वाणीकी सरलता एवं सीधेपनको 'आर्जव' कहते हैं।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

'अहिंसा'–शरीर-मन-वाणीसे किसीको कष्ट न देना। 'सत्य'–अप्रियता व असत्यसे रहित यथार्थ वचन। 'अक्रोध'–क्रोधका निमित्त उपस्थित होनेपर उत्पन्न हुए क्रोधको शान्त कर देना। 'त्याग'–शरीर-सम्बन्धी स्वार्थोंको छोड़ना। 'शान्ति'–अन्तःकरणकी अचलता। 'अपैशुनम्'–पराये छिद्रोंको दूसरोंके सामने प्रकट करना पैशुन्य है, तिसका अभाव 'अपैशुनम्' कहा जाता है। 'दया'–अन्तःकरणका द्रवीभूत होना। 'अलोलुप्त्व'–विषयोंमें विशेष आसक्ति लोलुपता कही जाती है, तिसके अभावको 'अलोलुप्त्व' कहते हैं। 'मार्दव'–कोमलता, 'ह्री'–लज्जा, 'अचापलम्'–व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

[तथा] 'तेज'–हृदय व वाणीमें तथा मुखपर सत्यका वह प्रभाव जिसके द्वारा दूसरे सत्य मार्गपर चलनेके लिये बाध्य हों। 'क्षमा'–अपराधीके प्रति बदला न चाहना। 'धृति'–धैर्य, 'शौच'–दो प्रकारका होता है, मिट्टी-जलादिसे शरीरकी शुद्धि बाह्य शौच तथा राग-द्वेषादिसे मनकी निर्मलता आन्तर शौच कहा जाता है। 'अद्रोह'–किसीके प्रति द्वेष न करना। 'नातिमानता'–अपनेमें अतिशय पूज्य भावनाका अभाव। हे भारत! श्लोक १ से लेकर यहाँ तक दैवी सम्पत्तिसे युक्त उत्पन्न हुए पुरुषके ये सब लक्षण हैं। अर्थात् देवताओंकी विभूतिका जो योग्य पात्र है और भविष्यमें जिसका कल्याण होना निश्चित है, उस पुरुषमें ये लक्षण होते हैं।

अब आसुरी संपत्तिका वर्णन करते हैं—

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

'दम्भ'–धर्मध्वजीपना, 'दर्प'–धन-परिवारादिके निमित्तसे घमण्ड, 'अतिमान'–अपनेमें पूज्य भावना, 'क्रोध'–अन्तःकरणकी क्षोभयुक्त दशा, 'पारुष्य'–कठोर वचन और 'अज्ञान'–अविवेक । हे पार्थ ! आसुरी सम्पदासे युक्त उत्पन्न हुए पुरुषके ये सब लक्षण हैं।

अब इन दोनों सम्पत्तियोंका भिन्न-भिन्न फल वर्णन करते हैं—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

[इन दोनोंमें] दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिये मानी गई है । हे पाण्डव ! तू सोच मत कर, क्योंकि तू तो दैवी सम्पत्तियुक्त उत्पन्न हुआ है ।

भावार्थ—अहन्ता, ममता, स्वार्थ, कामना व आसक्ति, इनके सम्बन्धसे ही संसारबन्धन है और इनसे छूटना ही मुक्ति है । जितना-जितना इन अहन्ता आदिका सम्बन्ध सुदृढ होगा, उतना-उतना ही मनुष्य संसार-बन्धनमें अधिक बन्धायमान हो जायगा। और जितना-जितना अहन्ता-ममतादिका सम्बन्ध शिथिल होगा, उतना-उतना ही मनुष्यके लिये संसार-बन्धन ढीला पड़ता चला जायगा । आसुरी सम्पद् अपने सम्बन्धसे अहन्ता-ममतादिको इसी प्रकार गाढ़ा बनाती है, जिस प्रकार शीतके संयोगसे जल ठोस बर्फ बन जाता है । इसलिये यह बन्धनकारक मानी गई है, परन्तु दैवी सम्पद् अपने सम्बन्धसे इन अहन्ता-ममतादिको इसी प्रकार सूक्ष्म कर देती है, जिस प्रकार अग्निके संयोगसे जल भाप के रूपमें सूक्ष्म हो जाता है और तब ही मनुष्य परमपदकी खोज

का अधिकारी होता है, इसलिये वह मोक्षका हेतु कही गई है। अर्जुनके चित्तमें ऐसी आलोचनात्मक भावना देखकर कि 'क्या मैं आसुरी सम्पत्तिसे युक्त हूँ, अथवा दैवीसे?' श्रीभगवान्‌ने कहा– "हे पाण्डव ! तू शोक मत कर, तू तो दैवी सम्पत्तिसे युक्त उत्पन्न हुआ है।" अर्थात् भविष्यमें तेरा कल्याण होनेवाला है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! इस संसारमें मनुष्योंकी दो प्रकारकी सृष्टियाँ हैं, एक दैवी सृष्टि और दूसरी आसुरी सृष्टि,इनमें दैवी सृष्टिका वर्णन विस्तारसे किया गया, अब आसुरी सृष्टिको मुझसे श्रवण कर।

भावार्थ—सृष्टिके आदिसे ही प्रजापतिकी दो सन्तानें देव व असुर श्रुति-पुराणोंमें वर्णन की गई हैं, इसलिये सभी मनुष्योंके हृदयोंमें इन दोनोंका निवास आवश्यक है। किसी व्यक्तिमें दैवी सम्पत्तिका बल अधिक होनेसे आसुरी सम्पत्ति दबी रहती है और किसीमें आसुरी सम्पत्तिका बल अधिक होनेसे दैवी सम्पत्ति दब जाती है, परन्तु होती दोनों ही हैं। बल्कि कालभेदसे भी इन दोनोंका प्रत्येक व्यक्तिमें बलाबल देखनेमें आता है, किसी एक कालमें दैवी सम्पत्ति और दूसरे कालमें आसुरी सम्पत्ति एक ही व्यक्तिमें बढ़ी-चढ़ी देखी जाती हैं। जिस प्रकार देवासुर-संग्राम शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यके हृदय में इन दोनोंका नित्य ही संग्राम होता रहता है।

अब अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त आसुरी सम्पत्तिका वर्णन किया जाता है,क्योंकि उसका स्वरूप जानकर ही त्याग किया जा सकता'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य न तो प्रवृत्तिको ही जानते हैं और न निवृत्तिको न उनमें शौच ही विद्यमान होता है न आचार और न सत्य ही।

भावार्थ—आसुरी स्वभाववाले मनुष्य ठीक-ठीक यह भी नहीं जानते कि हमको क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये? अर्थात् हमारे लिये संग्रह करने योग्य क्या है और त्यागने योग्य क्या जिससे हमको इस लोक एवं परलोकमें सुख मिले? किन्तु वे देहात्मवादी तो देहवृद्धि और देहस्वार्थको ही सन्मुख रखकर प्रत्येक कर्तव्य व अकर्तव्यका निर्णय करते हैं, जिसके परिणाममें उनको न पारलौकिक सुख ही प्राप्त होता है और न ऐहलौकिक। क्योंकि प्रकृतिराज्यमें यह नियम किया गया है कि जितना-जितना शरीर-सम्बन्धी स्वार्थको दृढ़ किया जायगा, उतना-उतना ही संसार उसके सन्मुख दुःखरूप खड़ा हो जायगा, जिसके परिणाममें राग द्वेष ईर्षा एवं क्रोधादि उसका स्वागत किये बिना न रहेंगे जैसा श्रीऋषभदेवने अपने [illegible] पुत्रोंको नीति धर्मोंसे उपदेश किया था। तथा वे आसुरी स्वभाववाले शौच आचार व सत्य जो कि धर्मके सबसे प्रथम अंग हैं उनको भी नहीं जानते और न धारण ही करते हैं, बल्कि अशौच, अनाचार व असत्यादि विपरीत आचरणोंमें ही प्रवृत्त रहते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

[तथा वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि] यह जगत् झूँठा है (अर्थात् जैसे हम झूँठसे भरे हुए हैं वैसे ही सारा संसार झूँठा है)। तथा यह आश्रयरहित है (अर्थात् धर्म-अधर्म आदि इसका कोई आधार नहीं है), और यह अनीश्वर है (अर्थात् पुण्य-पापकी अपेक्षासे इसका शासन करनेवाला

कोई स्वामी नहीं है)। फिर स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही इसकी उत्पत्ति है, इसलिये यह तो भोगोंको भोगनेके लिये ही है, इसके सिवा और क्या है?'

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इसी (उपर्युक्त) दृष्टिका अवलम्बन करके जिनका चित्त नष्ट हो गया है, ऐसे वे अल्प-बुद्धिजन क्रूर-कर्मी, संसारके शत्रु और संसारका नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—'न धर्म-अधर्म है, न पुण्य-पाप है, न फलप्रदाता कोई ईश्वर है, किन्तु यह संसार तो केवल भोगके लिये ही है'— इस दृष्टिका आश्रय करके वे मन्दबुद्धि परलोकके साधनसे भ्रष्ट हो जाते हैं। केवल भोग-दृष्टिको ही सम्मुख रखकर तथा लोक एवं वेदकी सब मर्यादाओंको भङ्ग करके वे ऐसे उच्छृङ्खल वर्तते हैं कि इस नन्दनवनको श्मशानमें ही बदल देते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

[इस प्रकार वे मनुष्य] दम्भ, मान और मदसे युक्त हुए किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर तथा अज्ञानसे अशुभ निश्चयको ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणोंसे युक्त हुए संसारमें वर्तते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

[तथा वे] मरणपर्यन्त रहनेवाली अपार चिन्ताओंसे बँधे हुए और विषय-भोगके भोगनेमें तत्पर हुए, 'इससे परे और कुछ आनन्द नहीं है' ऐसा माननेवाले होते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

[इस प्रकार वे] सैकड़ों आशारूप फाँसियोंसे बँधे हुए और काम व क्रोधके परायण हुए विषय-भोगोंकी पूर्तिके लिये अन्याय-पूर्वक धनादिसमुदायके संग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं।

भावार्थ—जब यह मनुष्य अपने आत्मस्वरूपको विस्मरण कर बैठता है, तब अविवेक उत्पन्न होता है। फिर अविवेकसे मोहकी उत्पत्ति और मोहसे कामकी वृद्धि होती है। कामके प्रबल होने पर आशा, चिन्ता एव क्रोध इसी प्रकार स्वय उपस्थित हो जाते हैं जैसे राजाके आनेसे उसके मंत्री व मुसाहिब साथ-साथ आ जाते हैं। कामके साथ ही आशा बँधी जाती है कि इस प्रकार कामनापूर्ति होनेसे हमको सुख प्राप्त होगा। परन्तु आशामें नैराश्यताकी भावना आनेसे चिन्ता हृदयको जलाती है और कामनामें विघ्न उपस्थित होनेसे क्रोधकी ज्वाला इसी प्रकार भभकती है,जैसे अग्निमें घृत डाल दिया हो। इस प्रकार ये आशा, चिन्ता व क्रोध ही सब दुःखोंके मूल परम दुःख हैं, जो कि नरककी अग्निके समान जीवको जीते-जी ही दग्ध करते हैं। अतः ज्यों-ज्यों कामकी वृद्धि होती है, त्यों-त्यों विवेक नष्ट और मोह पुष्ट होता है। इस प्रकार कामसे मोह और मोहसे काम परस्पर बलवान् होते जाते हैं। फिर ज्यों-ज्यो मोह व काम वृद्धिको प्राप्त होते हैं, त्यों-त्यो अहंकार ठोस जड़ताको प्राप्त होता जाता है और त्यों-त्यों ही आशा, चिन्ता व क्रोध अधिकाधिक बढ़ते जाते हैं। ऐसा प्रकृतिका यह विचित्र गोरखधन्धा है। यदि यह काम धर्म तथा लोक-वेदकी मर्यादामें बन्धायमान रखा जाता तो अवश्य अपने समय पर यह आप दुर्बल होकर मोह व अहंकारको भी क्षीण कर सकता था और आशा, चिन्ता व क्रोधसे भी उतनी ही मात्रामें पीछा

छुड़ा सकता था। परन्तु इन आसुरी सम्पत्तिके स्वामियोंने तो सभी मर्यादाओंको नमस्कार करके केवल काम व भोगको ही दृढ़तासे आलिङ्गन कर लिया है। इसलिये उनके हृदयोंमें तटोंकी मर्यादाको तोड़कर आशा, चिन्ता व क्रोधरूपी त्रिवेणीका वहना निश्चत ही है, फिर दुःख तथा सन्तापकी वरछी व कटारियोंका चलना भी अनिवार्य ही है। विचारसे देखा जाय तो कामके मूलमें एकमात्र ध्येय वस्तु तो सुख ही था, परन्तु अज्ञानका महात्म्य देखिये कि सुखके वजाय किस प्रकार अविनाशी दुःख मोल ले लिया जाता है।

इसके परिणाममें इन पुरुषोंके कैसे-कैसे अहंकारमूलक संकल्प होते हैं? सो बतलाया जाता है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

मैंने अब यह तो पा लिया है और इस मनोरथको और पाऊँगा तथा मेरे पास इतना धन तो है, फिर इतना धन और भी होवेगा (जिससे मैं धनवान् विख्यात् हो जाऊँगा)।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

[तथा] मेरे द्वारा अमुक शत्रु तो मारा गया, फिर मैं दूसरे शत्रुओंको भी मारूँगा, (इस प्रकार) मैं सर्व ऐश्वर्यसम्पन्न, बड़े भोग भोगनेवाला, सब सिद्धियोंसे युक्त बड़ा बलवान् और सुखी हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

[इस प्रकार] मैं बड़ा धनवान् और बड़े कुटुम्बवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा (अर्थात् यज्ञद्वारा भी दूसरोंको नीचा दिखाऊँगा), दान दूँगा (अर्थात् नट, वेश्या आदि

को इनाम दूँगा) और हर्षको प्राप्त होऊँगा । इस प्रकार वे मनुष्य अज्ञानसे विमोहित रहते हैं ।

ऐसे पुरुषोंकी स्वाभाविक प्रकृति कैसी होती है ? सो बतलाया जाता है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

[इस प्रकार] अनेक प्रकारके (उपर्युक्त विचारोंसे) भ्रान्त-चित्त, मोहरूपी जालमें फँसे हुए एवं विषय-भोगोंमें अत्यन्त आसक्त अज्ञानीजन अपवित्र नरकमें गिरते हैं ।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने-आपको ही सर्व गुणसम्पन्न माननेवाले, विनयरहित, धन व मानके मदसे युक्त पुरुष पाखण्डसे शास्त्र-विधिसे रहित नाममात्रके यज्ञोंद्वारा यजन करते हैं ।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

[तथा वे] अहङ्कार, (कामना व आसक्तिसे दूसरोंको दबानेके लिये होनेवाला) बल, घमण्ड, काम व क्रोधके परायण हुए एवं दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरे देहोंमें स्थित मुझ अन्तर्यामी देवसे द्वेष करनेवाले होते हैं ।

अर्थात् वे पुरुष यह नहीं जानते कि अपने व प्रतिपक्षीके शरीरमें एक ही अन्तर्यामी देव विद्यमान है । अतः मिथ्या शरीररूपी घटोंके भेदको दृढ करके जो द्वेषरूपी विष उगला जा रहा है वह उस सत्स्वरूपको ही स्पर्श करेगा और अन्ततः गुम्बदके शब्दके समान वह विष लौटकर अपनेको ही चढ़ेगा ।

ऐसी प्रकृतिवालोंका अन्तिम-परिणाम क्या होता है ? सो निरूपण किया जाता है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

उन द्वेष करनेवाले, पापाचारी, क्रूर व अधम पुरुषोंको मैं संसारमें वारम्बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता रहता हूँ ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

[इस प्रकार] हे कौन्तेय ! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हो-होकर और मुझको न पाकर (अर्थात् मेरी प्राप्ति तो कहाँ, किन्तु मेरी प्राप्तिके श्रेष्ठ मार्गको भी न पाकर) उससे भी अधम गतिको ही प्राप्त होते हैं ।

नीचे समस्त आसुरी सम्पत्तिका सार ये तीन ही कहे जाते हैं, जिन तीनोंमें सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्तिका अन्तर्भाव हो जाता है और जिन तीनोंके अभाव हुए सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है । अब उन तीनोंका निरूपण किया जाता है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

[हे कौन्तेय !] अपनी आत्माका नाश करनेवाले ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं, (अर्थात् ये अपने आत्माको अधोगति प्राप्त करानेवाले हैं तथा सब अनर्थोंके मूल एवं नरकके हेतु हैं) (वे कौन ?) १ काम, २ क्रोध तथा ३ लोभ । इसलिये (जिनको अपना कल्याण वाञ्छित हो तथा नरकसे बचना इष्ट हो उनको चाहिये कि) इन तीनोंको दूरसे ही परित्याग करें ।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कुन्ती-पुत्र ! जब मनुष्य इन तीनों अन्धकारमय नरक-द्वारोंसे छूटकर अपने कल्याणके लिये आचरण करता है, तब वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—अब उन आसुरी सम्पत्तिवालोंके लिये श्रेय साधन कथन करते हैं कि प्रथम तो उनको सब अनर्थोंके मूल जो ये काम, क्रोध व लोभरूप नरकके द्वार हैं, इनको अवश्य हठपूर्वक तिलाञ्जलि देनी चाहिये । इनको नागिनकी भाँति कोमल जानकर दूध पिलाते रहनेसे ही तो कभी किसीका उद्धार हो ही नहीं सकता । इन तीनोंको मारकर फिर यदि मनुष्य अपने कल्याणका साधन करे अर्थात् दैवी सम्पत्तिको उपार्जन करे तब वह शनैः-शनैः अपने पुरुषार्थरूप तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा परम गति मोक्षको प्राप्त हो सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है ।

आसुरी संपत्तिके त्याग और श्रेय साधनका मूल शास्त्र है, शास्त्रप्रमाणसे ही दोनों त्याग व संग्रह किये जा सकते हैं ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

[इसलिये] जो पुरुष शास्त्रविधिका परित्याग करके (अर्थात् शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके) मनमाना बर्ताव करता है वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न इस लोकमें सुखी होता है और न परलोकमें ही परमगतिको पाता है, (अर्थात् उभय लोकसे ही भ्रष्ट हो जाता है) । (साराश प्रत्येक मनुष्यकी प्रत्येक चेष्टा ऐहलौकिक या पारमार्थिक सुख, अथवा पुरुषार्थकी योग्यता, इन तीनोंमेंसे किसी एक पदार्थके लिये अवश्य होती है ।

परन्तु इस प्रकारके आचरणसे उसको तीनों ही प्राप्त नहीं होते)।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

[हे अर्जुन !] इसलिये 'हमारे लिये क्या करना योग्य है और क्या न करना योग्य है ?' ऐसी व्यवस्था उत्पन्न होनेपर तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है, शास्त्रोक्त विधानको जानकर ही इस कर्मक्षेत्रमें तुमको कर्म करना योग्य है ।

भावार्थ—'कर्म कर्तुम् इह अर्हसि' । इस स्थलपर 'इह' अर्थात् 'यहाँ' शब्दका यह अभिप्राय है कि जिस भूमिमें कर्मका अधिकार हो और कार्य व अकार्यकी शङ्का उपस्थित होती हो, उस स्थलपर इस प्रकार शास्त्र-विधिसे कर्म करना योग्य है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'दैवासुरसंपद्विभागयोग' नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥

षोडश अध्यायका स्पष्टीकरण

पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपने परमपदकी प्राप्तिके लिये अपने स्वरूपका ज्ञान निरूपण किया । इस अध्यायमें उस स्वरूपके ज्ञानमें साधकरूप दैवी सम्पत्ति संग्रह करनेके लिये तथा बाधकरूप आसुरी सम्पत्ति त्यागनेके लिये निरूपण की गई । प्रथम दैवी सम्पत्तिका वर्णन श्लो. १, २ व ३ में किया गया, जिसके द्वारा हृदय सांसारिक आसक्ति, कामना एवं राग-द्वेषादि विषमताओंसे निर्मल होकर तत्त्वविचारका पात्र होता है, क्योंकि यह नियम है कि जैसा पदार्थ हो उसके लिये पात्र भी वैसा ही चाहिये । यदि नवनीत

को शुद्ध चिकने मृत्तिका-पात्रमें रखेंगे तो खानेमें मज़ा देगा, शरीरको पुष्ट करेगा और रुचिवर्धक होगा। परन्तु इसके विपरीत यदि उसको केरोसिन-तेलके डब्बेमें भरा गया तो बेमज़ा हो जायगा, शरीरको पुष्ट करनेके स्थान पर विष उत्पन्न कर देगा और घृणाका हेतु होगा। इसी प्रकार तत्त्वविचार-रूपी नवनीत उत्तम-से-उत्तम महान् उत्तम है, जिसके द्वारा यह अनर्थरूप विशाल संसार दग्ध-रज्जुके समान निस्सार रह जाता है, जिसमें बन्धनकी कोई सामर्थ्य नहीं रहती तथा जिसके प्रभावसे यह दुःखरूप संसार परमानन्दस्वरूपमें बदल जाता है। इसलिये यदि इस नवनीतको कामना, भय, क्रोध, हिंसा, पैशुन्य, लोलुपता, चपलता, राग, द्वेष, मान, मोह एवं द्रोहादि मलोंसे निर्मल करके शम, दम, दान, स्वाध्याय, आर्जव, सत्य, दया, कोमलता, तेज, क्षमा, धैर्य तथा शौचादिकी चिकनाईसे चिकने किये हुए पात्रमें धारण किया जाय, तो यह (विचाररूपी नवनीत) ऐसा परम सुस्वादु निकलता है कि सांसारिक सम्पूर्ण रस इस रस-समुद्रके एक कणके बराबर भी नहीं उतरते। फिर मनरूपी शरीरको ऐसा पुष्ट करता है कि जिसके प्रभावसे यह जागता हुआ भी इस संसारकी ओरसे सोया हुआ ही रहता है, प्रलय कालके क्षोभ भी इसको चलायमान नहीं कर सकते तथा जिसको प्राप्त करते-करते यह अधिकारी कदापि नहीं अघाता। परन्तु इसके विपरीत यदि इस नवनीतको पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, पारुष्य एवं अज्ञानादि मलोंसे मलिन पात्रमें धारण किया गया, तो यह क्या अपने लिये और क्या संसारके लिये महान् भयदायक ही होगा। जिसके द्वारा विरोचनके समान देहात्मवादकी ही पुष्टि होगी तथा जिसके प्रभावसे यहाँ और वहाँ उभय लोकमें ही अक्षय अशान्ति एवं ताप ही दामनगीर रहेंगे। इसलिये दैवी सम्पद् मोक्षार्थ तथा आसुरी सम्पद् बन्धनार्थ कथन की गई और इस प्रकार संसारको देव व असुर दो सृष्टियोंमें विभक्त किया गया (४।६)।

तत्पश्चात् आसुरी सम्पत्तिके लक्षण श्लो० ७ से १२ तक कथन किये गये, कि वे असुर कर्तव्य व अकर्तव्यको भी ठीक-ठीक नहीं जानते, बल्कि

विपरीत रूपसे ही ग्रहण करते हैं। फिर वे तप, शौच, दया व सत्य-धर्मके इन चारों पादोंको ही भङ्ग कर डालते हैं, बल्कि इनके स्थानपर काम, अशौच, कठोरता व असत्यके चारों पादोंसहित अधर्मको सजीव करके इसी का ढिंढोरा पीट देते हैं जिसके प्रभावसे उनमें श्रद्धा व आस्तिकता तो कहीं ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलती। इस प्रकार वे सब शब्दादि प्रमाणोंको तिलाञ्जलि देकर केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणके ही अनुयायी हो जाते हैं और अपने प्रमादका यहाँतक प्रमाण देते हैं कि जगत्‌के कर्ता-धर्ता एवं नियन्ता अन्तर्यामी ईश्वर की सत्ताका ही लोप कर डालते हैं। यहाँतक कि उसको अपने हृदय-सिंहासनसे नीचे उतारकर वे उसके स्थानपर अपने तुच्छ पाशविक अहंकारको ही सर्व-कर्ता-धर्तारूपसे विराजमान कर देते हैं। इस प्रकार अपना जीवन केवल काममय ही बनाकर भोगपूर्ति ही अपना लक्ष्य बना डालते हैं और अपने आचरणोंसे विरोचनको भी पीछे हटा देते हैं। इसके परिणाममें मरण-पर्यन्त अनन्त चिन्ता, आशा व क्रोध ही उनके हृदयोंमें अपना घर बना लेते हैं, जो जोंककी भाँति उनके कलेजेका रक्तपान करते रहते हैं।

इसके उपरान्त जैसे-जैसे अशुभ संकल्प उन असुरोंमें उत्पन्न होते हैं, उनका दिग्दर्शन श्लो० १३ से १५ तक कराया गया और उनकी स्वाभाविक प्रकृतिका वर्णन श्लो० १६ से १८ तक किया गया। फिर श्लो० १९ व २० में उनकी गतिका वर्णन किया कि उन मूढ अधम पुरुषोंको मैं आसुरी योनियोंमें ही गिराता रहता हूँ और वे जन्म-जन्ममें मेरे सम्मुख न हो तथा आसुरी योनियोंको ही प्राप्त हो-होकर अधम-से-अधम गतिको प्राप्त होते रहते हैं। तत्पश्चात् सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्तिका काम, क्रोध व लोभमें ही अन्तर्भाव किया और ये तीन ही नरकके द्वार बतलाये गये। इन तीनोंसे छूटकर श्रेयःआचरण ही उन पुरुषोंके लिये परमगतिका मार्ग कथन किया तथा, इन मार्गावलम्बियोंके लिये कर्तव्य व अकर्तव्यकी व्यवस्था जानने को शास्त्र ही प्रमाणरूप बतलाया और शास्त्रोक्त विधानको जानकर ही कर्म करनेकी आज्ञा दी गई (श्लो० २१-२४)॥ ॐ॥

ही अपने-आप) उत्पन्न हुई वह श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी—अब तू उसको श्रवण कर ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत ! अपने अन्तःकरणके अनुरूप ही सब पुरुषोंकी श्रद्धा होती है और श्रद्धामय ही यह पुरुष है, जो जैसी श्रद्धा-वाला है वह आप भी वैसा ही होता है ।

भावार्थ—श्रद्धा अन्तःकरणका धर्म है और वह जन्मान्तरके शुभाशुभ संस्कारोंका आधारभूत है। जैसे-जैसे संस्कार अन्तः-करणमें भरपूर होते हैं, उनके अनुसार वैसी-वैसी ही जीवकी श्रद्धा एवं भावना स्वाभाविक होती है। फिर उस श्रद्धा व भावनाके अधीन जीवको वैसा-वैसा ही शरीर, जाति, कुल, आचार व विचारादिकी प्राप्ति होती है । इसलिये यह पुरुष श्रद्धामय ही है और श्रद्धाका ही पुतला है। जैसी-जैसी इसकी श्रद्धा होती है वैसा-वैसा ही भृङ्गीकीटके समान इसका रूप हो जाता है।

इसलिये कार्यरूप पूजाओंके चिह्नसे उन श्रद्धाओंका अनुमान कर लेना चाहिये—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

[इसी नियमके अनुसार] सात्त्विक श्रद्धावाले देवोंको, राजसी श्रद्धावाले यक्ष-राक्षसोंको और अन्य तामसी श्रद्धावाले पुरुष प्रेत एवं भूतगणोंको पूजते हैं ।

भावार्थ—शास्त्रविधिको न जानकर यद्यपि शास्त्रविधिका त्याग तो हो गया है, तथापि सात्त्विक श्रद्धावाले अपने स्वभावसे

ही देव-पूजापरायण होते हैं और उनकी वह निष्ठा सात्त्विकी होती है। राजसिक श्रद्धावाले स्वाभाविक यक्ष-राक्षसोंकी पूजा-परायण होते हैं और उनकी वह निष्ठा राजसी कही जाती है। तथा तामसिक श्रद्धावाले अपने स्वभावसे ही प्रेत एवं भूतोंकी पूजापरायण होते हैं और उनकी वह निष्ठा तामसी ही कही जाती है।

इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नपर त्रिविध श्रद्धा व निष्ठाका वर्णन किया गया, जिनमें सात्त्विकी निष्ठा संग्रह करनेके लिये और राजसी एवं तामसी निष्ठा परित्याग करनेके लिये कथन की गई। अब परित्याग करनेके लिये आसुरी पुरुषोंके स्वभावका वर्णन दो श्लोकोंमें किया जाता है—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

जो पुरुष शास्त्रविधिरहित घोर तपको तपते हैं तथा पाखण्ड व अहंकारसे संयुक्त और कामना व आसक्तिके बलसे युक्त हैं, वे अविवेकी पुरुष शरीरमें स्थित भूतसमुदायोंको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको दुःखी करनेवाले हैं, उन अज्ञानियोंको तू आसुरी निश्चयवाले जान।

भावार्थ—इधर तो शास्त्रविधिको नमस्कार करके घोर तपोंका अङ्गीकार किया गया और उधर पाखण्ड, अहंकार कामना व आसक्तिसे उसे विभूषित किया गया। इसके साथ ही इन्द्रियोंके रूपमें परिणित हुए भूतसमुदायोंको तंग किया गया तथा व्यर्थ ही हृदयमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको कचोचा गया। उन अविवेकियोंकी ये सब अनर्थरूप चेष्टाएँ न वर्तमानमें और न परिणाम

में ही सुखके लिये होती हैं, बल्कि लोक व परलोक दोनोंसे ही भ्रष्ट करनेवाली होती हैं। उनको निश्चयसे असुर ही जानना चाहिये और दूरसे ही नमस्कार करना चाहिये।

त्रिविध श्रद्धा व निष्ठाके भेदसे आहार, यज्ञ, दान तथा तपका भी वर्णन करना योग्य है, क्योंकि वस्तुका स्वरूप एवं गुण-दोष जाने बिना संग्रह व त्याग नहीं हो सकता। इसलिये अब त्रिविध भेदसे भगवान् इनके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

[अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार] पुनः भोजन भी सबको तीन प्रकारका प्रिय होता है, वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी (तीन-तीन प्रकारके होते हैं) तू उनके इस भेदको श्रवण कर।

भावार्थ—सात्त्विक श्रद्धा व निष्ठावान्को सात्त्विक, राजसी श्रद्धावान्को राजसी तथा तामसी श्रद्धावान्को तामसी ही आहार एवं यज्ञ दानादि प्रिय होते हैं, इसमें सन्देह ही क्या है? क्योंकि संसारमें प्राणिमात्रका सम्पूर्ण व्यवहार अपनी-अपनी गुणमयी प्रकृतिके अनुसार ही होता है और इन आहार व यज्ञ-दानादिके द्वारा ही उस पुरुषकी निष्ठा व श्रद्धाका परिचय मिल सकता है। यहाँ सात्त्विक आहार व यज्ञ-दानादि तो उपादेयरूप हैं और उनकासंग्रह ही पुरुषको कर्तव्य है, परन्तु राजसी व तामसी हेय रूप हैं इसलिये उनका त्याग करना ही पुरुषके लिये श्रेयः है।

प्रथम त्रिविध आहारका वर्णन किया जाता है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्यता, सुख व प्रीतिको बढ़ानेवाले एवं

रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार सात्त्विक पुरुषको (स्वभावसे ही) प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूखे एवं दाह-कारक तथा दुःख, शोक व रोगको बढ़ानेवाले आहार राजसी पुरुषको प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

[तथा] जो अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट हो तथा यज्ञके अयोग्य भी हो ऐसा भोजन तामसी पुरुषको प्रिय होता है।

जिस भोजनको पके हुए एक रात्री बीत जाय वह बासी खानेके पश्चात् बचे हुए अन्नको उच्छिष्ट और जो यज्ञके योग्य न हो, ऐसे भोजनको अमेध्य अर्थात् अपवित्र कहते हैं।

अब त्रिविध यज्ञोंका वर्णन किया जाता है—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

जो यज्ञ शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ है तथा 'यज्ञ करना ही हमारा कर्तव्य है'-इस प्रकार (केवल कर्तव्य-बुद्धिसे) मनका समाधान करके फलकी वाञ्छा न रखनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है (और सात्त्विकी श्रद्धावाले पुरुषोंको प्रिय होता है)।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

जो यज्ञ किसी फलको लक्ष्य करके एवं दम्भके लिये भी किया जाता है, हे भरतश्रेष्ठ ! उस यज्ञको तुम राजस जानो (और वह राजसी श्रद्धावालोंको प्रिय होता है)।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

[तथा] शास्त्र-विधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मंत्र और बिना दक्षिणाके हो एवं श्रद्धाशून्य (अर्थात् सात्त्विक श्रद्धाशून्य) हो उस यज्ञको तामस कहते हैं (और वह तामसी श्रद्धावालोंको प्रिय होता है)।

अब तपको तीन भागोंमें विभक्त करके बतलाते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा विद्वानोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

उद्वेगको न करनेवाला, सच्चा, साथ ही प्यारा एवं हितकारी—ऐसा भाषण तथा (यथाविधि) सच्छास्त्रोंका अभ्यास, यह वाणीसम्बन्धी तप कहलाता है।

भावार्थ—जो वचन दूसरोंके हृदयोंमें क्षोभ उत्पन्न न करे, साथ ही किसी चापलूसीके बिना यथार्थ हो, यथार्थ भाषणके साथ ही जो कठोर भी न हो किन्तु मधुर हो तथा लोक व परलोकका हितकारी हो—ऐसी चारों बातें जिस भाषणमें हों वह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है। चारोंमेंसे यदि एक भी नहीं है तो वह वाणीसम्बन्धी तप नहीं कहा जायगा, अर्थात्

वाणीसम्बन्धी तपमें उक्त चारोंका होना ज़रूरी है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

[तथा] मनकी प्रसन्नता, सौम्यत्व (अर्थात् सुमनसता व अन्तःकरणकी शान्त वृत्ति), मौन (अर्थात् अन्त करणका सयम), आत्म-विनिग्रह (अर्थात् सब ओरसे मनका निरोध) तथा भाव शुद्धि (अर्थात् दूसरोंके साथ छल-कपटसे रहित पवित्र एव सरल व्यवहार)—यह मनसम्बन्धी तप कहलाता है।

इस प्रकार कायिक, वाचिक व मानसिक तीन प्रकारके तप कहे गये। अब त्रिगुण-भेदसे इन त्रिविध-तपोंका वर्णन किया जाता है—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

ये तीन प्रकारके (कायिक, वाचिक एव मानसिक) तप जो समाहित पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किसी संसारसम्बन्धी फलकी आकांक्षा बिना तपे जायँ वे सात्त्विक कहे जाते हैं (और सात्त्विक पुरुषोंको प्रिय होते हैं)।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

जो तप अपने सत्कार, मान व पूजाके लिये और पाखण्डसे ही किया जाता है, वह यहाँ राजस तथा क्षणिक फलवाला होनेसे अनित्य कहा गया है (ऐसा तप राजसी पुरुषोंको प्रिय होता है)।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

[तथा] जो तप मूढतापूर्वक हठसे अपने शरीर, मन व वाणी को पीड़ा पहुँचाकर किया जाय, अथवा दूसरोंका बुरा करनेके लिये किया जाय वह तामस कहा जाता है (और तामसी पुरुषों को प्रिय होता है)।

अब दानके भेद वर्णन किये जाते हैं—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

'दान देना ही हमारा कर्तव्य है'—(इस निष्काम-भावसे) जो दान ऐसे पुरुषके प्रति दिया जाय जिससे कोई बदला पानेकी सम्भावना न हो तथा जो योग्य देश-काल व पात्रमें दिया जाय, वह दान सात्त्विक माना गया है (और वह सात्त्विक पुरुषोंको प्रिय होता है)।

भावार्थ—जिस देश, काल और पात्रमें जिस वस्तुका अभाव एवं अधिकार हो, उस अभावकी पूर्ति करनेवाले दानको योग्य देश, काल व पात्रमें दान कहा जाता है। जैसे ग्रीष्ममें जलादि, शीत कालमें वस्त्रादि, मरुभूमिमें वापी-कूपादि, भिक्षुमें अन्नादि, रोगीमें ओषधि व पथ्यादि देश काल व पात्रके अनुसार योग्य दान है। अथवा कुरुक्षेत्रादि पुण्य भूमि व संक्रांति आदि पुण्य काल और षडङ्गसहित वेदवेत्ता ब्राह्मण भी योग्य देश-काल व पात्र कहे जा सकते हैं।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान प्रत्युपकारके लिये, अथवा सांसारिक फलकामना के उद्देश्यसे और खेदपूर्वक दिया जाय, वह राजस कहा गया है (और ऐसा दान राजसी पुरुषोंको प्रिय होता है)।

भावार्थ—प्रायः वर्तमान समयके चन्दे-चिट्ठे आदिमें दान प्रत्युपकारार्थ कहा जा सकता है। तथा मान-बड़ाई व प्रतिष्ठाके लिये, रोगादिकी निवृत्तिके लिये, अथवा स्त्री-पुत्रादि एवं स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये जो दान दिया जाता है वह फलके उद्देश्यसे कहा जाता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

[तथा] जो दान बिना सत्कार किये एवं तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें कुपात्रोंके लिये दिया जाता है, वह तामस कहा गया है (और वह तामसी पुरुषोंको प्रिय होता है।)

भावार्थ—देश-कालका विचार सात्त्विक दानमें किया गया है। उसके विपरीत देश-कालमें मद्य-मांसादि अभक्ष्य भक्षण करनेवालों तथा चोरी-जारी आदि नीच कर्मियोंके प्रति दिये हुए दान को अयोग्य देश-काल-पात्र जानना चाहिये।

इस प्रकार सात्त्विक, राजस व तामस त्रिविध निष्ठा व श्रद्धावाले पुरुषोंको स्वाभाविक अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार जैसे-जैसे आहार एवं यज्ञ-दान-तपादि प्रिय होते हैं, उनका लक्षण वर्णन किया गया। तथा परमपदकी प्राप्तिमें साधक होनेसे सात्त्विक आहार एवं यज्ञ-दान-तपादि उपादेयरूप और राजस व तामस बाधक होनेसे हेयरूप कथन किये गये। अब यज्ञ-दान-तपादिको शास्त्रविधिके अनुसार सद्गुण-सम्पन्न बनानेके लिये उपदेश किया जाता है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ तत्, सत्—ऐसे तीन नामोंसे ब्रह्मका निर्देश माना गया

है, इसी नाम-निर्देशसे पूर्वकालमें ब्राह्मण, वेद व यज्ञ रचे गये हैं।

भावार्थ—जिससे कोई वस्तु जितलाई जाय उसका नाम 'निर्देश' है। इस प्रकार इन तीन नामोंसे उस ब्रह्मका निर्देश किया गया है जो वस्तुतः नाम-रूपविवर्जित है, ऐसा वेदान्तमें ब्रह्म-ज्ञानियों-द्वारा माना गया है। सृष्टिके आरम्भमें इसी नाम-निर्देशसे श्रीगणेश करके ब्राह्मण, वेद एवं यज्ञादि रचे गये हैं।

अब इन तीनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिये वेदके प्रवचन करनेवाले ब्राह्मणोंकी शास्त्रोक्त यज्ञ, दान व तपरूप क्रियाएँ निरन्तर 'ॐ' (ब्रह्मके इस नाम) उच्चारणसे ही आरम्भ होती हैं (और वे सम्पूर्ण क्रियाएँ शास्त्रविधिके अनुसार सद्गुण-सम्पन्न होती हैं, क्योंकि श्रद्धापूर्वक इस नाम उच्चारणसे वे ब्रह्मार्पण की गई हैं)।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

और 'तत्' (ब्रह्मके इस नाम उच्चारणसे) फलको न चाहकर (अर्थात् ब्रह्मार्पण करके) मोक्षार्थी पुरुषोंद्वारा यज्ञ, दान व तप आदि विविध क्रियाएँ आचरणमें लाई जाती हैं (और वे सब शास्त्रविधिसे सद्गुण-सम्पन्न होती हैं)।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

हे पार्थ! सद्भाव एवं श्रेष्ठ भावमें 'सत्' ऐसा प्रयोग किया जाता है तथा प्रशंसायोग्य कर्ममें भी 'सत्' शब्दकी योजना की जाती है।

भावार्थ—अविद्यमान वस्तुके विद्यमान होनेपर 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे अविद्यमान पुत्रके विद्यमान होनेपर 'पुत्रः सत्'—ऐसा कहा जाता है। तथा सदाचारी पुरुषके लिये भी 'सत्' शब्द प्रयोग किया जाता है, जैसे किसी सदाचारीके लिये 'सत्-पुरुष' ऐसा श्रेष्ठ भावमें कथन किया जाता है। और किसी प्रशंसा-योग्य कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है, जैसे विवाहादि प्रशंसायोग्य कर्मको 'सत् कर्म' कहा जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

[तथा] यज्ञ, तप एवं दानमें निष्ठाको भी 'सत्' कहा जाता है और परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये हुए कर्मको भी 'सत्' ऐसा बोला जाता है।

इस प्रकार ब्रह्म निर्देशरूप तीनों शब्दोंका वर्णन किया गया, जिनके श्रद्धापूर्वक प्रयोग और अपनी सात्त्विक श्रद्धाके प्रभाव से असात्त्विक कर्म भी सात्त्विक बना लिये जाते हैं, यह श्रद्धाकी महिमा कथन की गई। अब अश्रद्धाकी निन्दा करते हुए अध्यायकी समाप्ति की जाती है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ! श्रद्धारहित चाहे हवन किया गया हो, चाहे दान दिया गया हो, चाहे तप तपा गया हो, अथवा नमस्कार, स्तुति आदि जो कुछ भी कर्म किया गया हो, वह सब 'असत्' ही कहलाता है। वह न परलोकके लिये (श्रेय) है और न इस लोकके लिये (प्रेय)।

अर्थात् ये यज्ञ-दान-तपादि चाहे अपने स्वरूपसे सात्त्विक भी

हों, परन्तु अपनी सात्त्विक श्रद्धाके बिना वे सात्त्विक हुए भी असात्त्विक ही हो जाते हैं। न वे इस लोकके लिये लाभदायक होते हैं और न परमपदकी प्राप्तिमें ही सहकारी होते हैं। इसलिये श्रद्धा ही मुख्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

सप्तदश अध्यायका स्पष्टीकरण

सोलहवें अध्यायके अन्तमें अमर्यादित पुरुषोंकी कर्तव्य व अकर्तव्यरूप मर्यादा बाँधनेके लिये उनको शास्त्र विधिके अनुसार कर्तव्य कर्म करनेकी आज्ञा दी गई। इसपर इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया कि शास्त्र-विधिको न जाननेके कारण जिनसे शास्त्र-विधि तो छूट गई है, परन्तु जो श्रद्धापूर्वक यजनपरायण हैं, उनकी निष्ठा कैसी कही जा सकती है, सात्त्विकी, अथवा राजसी, या तामसी ? (१) । इसपर भगवान्‌ने जन्मान्तरके शुभाशुभ कर्म-संस्कारोंके प्रभावसे स्वाभाविक उत्पन्न हुई श्रद्धाके सत्त्व, रज एवं तमरूपसे तीन भेद किये और कहा कि पुरुषोंके अन्तःकरणमें जैसे-जैसे जन्मान्तरके शुभ वा अशुभ संस्कार बलवान् होते हैं उनके प्रभावसे उनमें वैसी-वैसी ही श्रद्धा स्वाभाविक प्रकट होती है। तथा उस-उस श्रद्धाके प्रभाव से पुरुषको वैसी ही जाति, कुल, आचार एवं विचार स्वाभाविक प्राप्त होते हैं, इसलिये यह पुरुष श्रद्धामय ही कहा जा सकता है। इस नियमके अनुसार न जाननेके कारण चाहे शास्त्र विधि छूट गई है, तथापि सात्त्विकी श्रद्धावान् स्वाभाविक देवपूजापरायण, राजसी श्रद्धावान् स्वाभाविक यक्ष-राक्षस-परायण तथा तामसी श्रद्धावान् स्वाभाविक भूत-प्रेतपरायण होते हैं और

उनकी वह निष्ठा उस-उस गुणमयी ही कही जानी चाहिये। (१-४)

तत्पश्चात् परित्याग करनेके लिये आसुरी पुरुषोंके आचरणोंका वर्णन किया और अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुरूप त्रिविध श्रद्धाके अनुसार उन पुरुषों को जैसे-जैसे आहार, यज्ञ, तप एव दान प्रिय होते हैं, उनका भिन्न-भिन्न लक्षण करनेकी प्रतिज्ञा की। तथा सात्त्विक आहार, यज्ञ, तप व दान तो परमपदकी प्राप्तिमें साधक होनेसे उपादेयरूप और राजसी व तामसी बाधक होनेसे हेयरूप कहे गये (२-७)। वहाँ सत्त्व, रज व तम त्रिविध आहारोंका लक्षण श्लो० ८-१० में और त्रिविध यज्ञोंका लक्षण श्लो० ११-१३ में कहा गया। फिर कायिक, वाचिक व मानसिक भेदसे तपको तीन भागोंमें विभक्त करके तीनों गुणोंके भेदसे उनके त्रिविध लक्षण कहे गये (१४-१९)। और त्रिविध दानका स्वरूप श्लो० २०-२२ में बतलाया गया।

इस प्रकार वस्तुतः सात्त्विक श्रद्धा ही 'श्रद्धा' शब्दवाच्य 'श्रद्धा' है व उपादेय है, परन्तु इसके विपरीत राजसी व तामसी श्रद्धाएँ हेयरूप होनेसे 'श्रद्धा'शब्दका वाच्य नहीं हो सकतीं,किन्तु वे तो वस्तुत अश्रद्धा ही कही जाती हैं। अन्तमें इसी सात्त्विकी श्रद्धाकी महिमा वर्णन की गई जिसके प्रभावसे असात्त्विक यज्ञ तप-दानादि भी सात्त्विक हो जाते हैं। अत ब्रह्म-निर्देशरूप 'ॐ' 'तत्' 'सत्'-इन तीन नामोंका वर्णन किया, जिनके प्रयोगसे यज्ञ, तप व दानादिमें सात्त्विक श्रद्धा उपार्जन की जाती है और जिस सात्त्विक श्रद्धाके प्रभावसे शास्त्र-विधिरहित कर्म भी शास्त्र-विधियुक्त बन जाते हैं। क्योंकि शास्त्र-विधिका प्राण केवल सात्त्विक श्रद्धा ही है और येन-केन प्रकारेण सात्त्विक श्रद्धा उद्बुद्ध कराना ही सब शास्त्र-विधियोंका लक्ष्य है। इसलिये जहाँ सात्त्विक श्रद्धा होती है, वहाँ शास्त्र-विधि अपने-आप पूर्ण हो जाती है। अन्तमें श्रद्धारहित यज्ञ-तप-दाना दिको असत्रूप कथन किया गया और वे न इस लोकके लिये और न परलोकके लिये ही हितकारी बतलाये गये। इस प्रकार शास्त्र-विधि एवं त्रिविध श्रद्धाका रहस्य वर्णन करके अध्यायकी समाप्ति की गई ॥ ॐ ॥

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः

इस अध्यायमें सम्पूर्ण गीता-शास्त्रका आशय एकत्रित करके कथन किया गया है, इसलिये यह अध्याय गीता-शास्त्रका उपसंहाररूप है। इस गीता-शास्त्रमें 'संन्यास' व 'त्याग'का स्थान स्थानपर निरूपण सुन और संन्यास व त्याग ही इस शास्त्रका मार्मिक विषय जान, अर्जुनने भगवान्से एक ही साररूप अन्तिम प्रश्न किया—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं 'संन्यास' तथा 'त्याग' का तत्त्व पृथक्-पृथक् जाननेकी इच्छा करता हूँ।

यद्यपि अर्जुनने संन्यास व त्यागका तत्त्व भिन्न-भिन्न पूछा है, परन्तु 'संन्यास' व 'त्याग' शब्द घट व पटके समान भिन्न-भिन्न अर्थके नहीं किन्तु एक ही अर्थके बोधक हैं। इसलिये भगवान् संन्यास व त्यागको एक ही अर्थमें ग्रहण करके अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं और प्रथम संन्यास व त्यागके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न चार मतोंका निरूपण करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डित तो काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं और कई बुद्धिमानोंने सब कर्मोंके फलत्यागको ही त्याग कहा है।

भावार्थ—धन, पुत्र, स्त्री तथा मान-प्रतिष्ठा आदिकी प्राप्ति के लिये और शत्रु व रोग-संकट आदिकी निवृत्तिके लिये जो यज्ञ, दान व तप आदि कर्म किये जाते हैं, वे 'काम्य-कर्म' कहे जाते हैं। कितने ही पण्डितोंका यह मत है कि 'स्वरूप से इन काम्य-कर्मोंके त्यागका नाम ही संन्यास है। क्योंकि ये कामनाद्वारा बन्धनके हेतु होते हैं, अन्य नित्य-नैमित्तिक कर्म बन्धनके हेतु नहीं हैं'। कितने ही बुद्धिमानोंका यह कथन है कि 'यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार अन्य सम्पूर्ण कर्म एवं शरीरसम्बन्धी योगक्षेम—इत्यादि जितने भी कर्तव्य कर्म हैं, उन सबको इस लोक तथा परलोकके फलकी इच्छाको छोड़कर करना चाहिये, इसीका नाम त्याग व संन्यास है। स्वरूपसे किसी भी कर्मको त्याग देनेका नाम त्याग नहीं है, क्योंकि कर्म अपने स्वरूपसे बन्धनरूप नहीं, किन्तु फलकी कामना ही बन्धनरूप होती है।'

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

[तथा] कई विद्वान् कहते हैं कि कर्म तो अपने स्वरूपसे दोषयुक्त ही है इसलिये त्यागनेयोग्य है और दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं।

भावार्थ—कई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि 'कर्म तो अपने स्वरूपसे दोष युक्त ही हैं, संसारमें ऐसा कोई कर्म नहीं है जो सब अंशमें और सबके लिये हितकारी हो। इसलिये सभी कर्म पुण्य-पापमिश्रित होते हैं। तथा पुण्यरूप कर्म भी अपने फल-भोगके लिये कर्ताको जन्म मरणके बन्धनमें डालनेवाले ही हैं। अतः बन्धन-कारक होनेके कारण कर्म तो अपने स्वरूपसे त्याज्य ही है और स्वरूपसे सब कर्मोंके त्यागका नाम ही संन्यास है।' परन्तु दूसरे

विद्वानोंका यह कथन है कि 'प्रथम तो स्वरूपसे सब कर्मोंका त्याग ही असम्भव है, दूसरे यज्ञ, दान तथा तपके त्याग बैठनेसे संसार का ह्रास होता है। इसलिये यज्ञ, दान व तपका आचरण करते हुए अन्य कर्मोंके त्यागका नाम ही संन्यास कहना चाहिये।'

इस प्रकार कर्म-संन्यासके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न चार मतोंका निरूपण किया गया। अब भगवान् अपना निश्चय वर्णन करते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब त्यागके सम्बन्धमें तू मेरे निश्चयको श्रवण कर, हे पुरुषसिंह! त्याग सत्त्व, रज व तमके भेदसे तीन प्रकारका ही कहा गया है।

त्याग व संन्यास शब्दोंका वाच्यार्थ एक ही है, इसलिये केवल त्यागके नामसे ही प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान व तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं, किन्तु वे कर्तव्य ही हैं, क्योंकि यज्ञ, दान व तप तीनों ही बुद्धिमानोंको पवित्र करनेवाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इन कर्मोंको भी आसक्ति व फलोंका त्याग करके ही करना चाहिये। हे पार्थ! ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है।

भावार्थ—ये यज्ञ, दान तथा तपरूप कर्म यदि आसक्ति व कामनासहित किये जायँ तो अवश्य बन्धनरूप ही होंगे और जैसा ऊपर श्लोक ५ में कहा गया है, ये पवित्र करनेवाले नहीं रहेंगे।

इसलिये उन बुद्धिमानोंके लिये ही इन यज्ञादिको पावन कहा गया है, जिन्होंने आसक्ति व कामनाका त्याग कर दिया है, सकामियोंके लिये पावन नहीं कहा गया। यही विषय इस श्लोकमें स्पष्ट करके कहते हैं कि इन यज्ञ दान व तप आदिको भी आसक्ति व फलोंका त्याग करके ही करना चाहिये. ये आसक्ति व फलके सहित कर्तव्य नहीं हैं. ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

[क्योंकि कर्मके अधिकारीके लिये] नियत कर्मोंका त्याग नहीं बन सकता इसलिये मोहसे नियत कर्मोंको त्याग देना, तामस त्याग कहा गया है।

भावार्थ—वर्णाश्रमके अनुसार जिस-जिस अधिकारीके लिये जो-जो कर्म नियत किया गया है उसका फल यही है कि निष्काम-भावसे उन नियत कर्मोंके आचरणद्वारा उस अधिकारी के अन्तःकरणमें स्थित मल-विक्षेपरूप दोषोंकी निवृत्ति हो। यदि वह इन दोषोंकी निवृत्तिसे पूर्व ही 'मेरे लिये कर्मोंकी कोई कर्तव्यता नहीं हैं'—ऐसे अज्ञानपूर्वक नियत कर्मोंका त्याग कर बैठे तो वह ऐसा ही है, जैसे किसी मलिन वस्त्रमें थोड़ा साबुन देकर मल-निवृत्तिसे पूर्व ही साबुनका परित्याग कर दिया जाय जिससे वह वस्त्र किसी भी प्रकारके रंग चढ़ानेके योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार कर्मोंकी कर्तव्यता रहते हुए मोहपूर्वक कर्मोंको त्याग बैठना किसी फलका हेतु नहीं और वह तामस त्याग ही है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

[तथा कर्मका अधिकार रहते हुए] 'कर्म दुःखरूप है'—इस प्रकार यदि कायाके क्लेशके भयसे कर्मका त्याग कर दिया जाय तो वह भी राजस त्याग करके त्यागके फलको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—क्योंकि अन्तःकरणकी निर्मलतासे पूर्व ही इस कर्मका त्याग हुआ है, इसलिये यह त्याग भी किसी फलका हेतु नहीं। यद्यपि 'कर्म निरर्थक है'-ऐसे मोहपूर्वक तो कर्मका त्याग नहीं हुआ इसलिये यह तामस त्याग तो नहीं है, तथापि कर्म सार्थक जानकर उसको त्याग बैठना ऐसा ही है, जैसे सिर-दर्दके लिये चन्दन उपयोगी जान घिसनेके क्लेशसे ही उसको छोड़ बैठना, जिससे रोग-निवृत्ति नहीं होती।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

[उपर्युक्त दोनों त्यागोंकी अपेक्षा] हे अर्जुन! 'कर्म करना हमारा कर्तव्य है'-इस भावसे जो नियत कर्म आसक्ति एवं फल का त्याग करके किया जाय, वह सात्त्विक त्याग माना गया है।

भावार्थ—'अमुक कर्म इसी प्रकार हो अन्य प्रकार न हो'-हृदयमें ऐसी दृढ संलग्नताका नाम आसक्ति है। इस आसक्ति तथा फलकी कामनाका परित्याग करके जो कर्म शास्त्र-विधिसे अपने अधिकारानुसार नियत किया गया है, उसे केवल कृष्णा-र्पण-बुद्धिसे अपने कर्तव्य-पालनके लिये निरालस्य होकर करना, यही सात्त्विक त्याग माना गया है। क्योंकि इस प्रकारके भाव-युक्त कर्मोंद्वारा अन्तःकरणकी निर्मलता होती है, इसलिये यह त्याग सफल है। कर्म अपने स्वरूपसे बन्धनका हेतु नहीं, किन्तु रजोगुणरूप विक्षेपकी निवृत्तिमें सहायक है। बन्धनका हेतु तो आसक्ति व कामना ही होती है जिसका त्याग किया गया, इसीलिये यह सात्त्विक त्याग कहा गया है।

इस प्रकार भावनामय आसक्ति व फल-त्यागद्वारा विशुद्धान्तःकरणमें जो आत्मज्ञानरूप तात्त्विक त्याग होता है, अब उसका स्वरूप कथन करते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

जो शुद्धसत्त्वसे भरपूर ज्ञानी है और जिसके सब संशय निवृत्त हो गये हैं, ऐसा तात्त्विक त्यागी तो न सकाम कर्मोंसे द्वेष करता है और न निष्काम कर्मोंमें आसक्ति ही करता है।

भावार्थ—आत्मा व अनात्माको विषय करनेवाला जो विवेक, उस विवेक-ज्ञानका हेतु जो शुद्ध-सत्त्वगुण, उस सत्त्वगुणसे भरपूर हुआ वह तत्त्ववेत्ता-ज्ञानी जिसके कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सब संशय नष्ट हो गये हैं। अर्थात् जो देहेन्द्रियमनबुद्धयादिसे असंग होकर अपने निर्विशेष आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया है और अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त हुई देह, इन्द्रिय, मन व बुद्धिके व्यवहारोंमें जिसका 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ'—यह अभिमान समूल नष्ट हो गया है; ऐसा तत्त्ववेत्ता ज्ञानी ही वस्तुतः सर्वत्यागी है और वही सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। वह तात्त्विक त्यागी तो न किसी सकाम कर्मसे ऐसा द्वेष ही करता है कि 'यह मेरे बन्धन का हेतु होगा' और न किसी निष्काम-कर्ममें इस आसक्तिसे ही प्रवृत्त होता है कि 'इस कर्मके द्वारा मेरी किसी प्रकार निर्मलता होगी।' क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा देहेन्द्रियमनबुद्धयादिसे निकलकर उसने अपने आत्मस्वरूपमें अभेदरूपसे स्थिति प्राप्त कर ली है। अब उसकी दृष्टिमें देहेन्द्रियादिकी सत्ता इसी प्रकार लुप्त हो गई है, जिस प्रकार जल अपनेमें तरङ्गादिकी कोई सत्ता नहीं देखता और सब तरङ्ग-फेन-बुद्बुदादिको जलरूप ही देखता है। इसलिये अकुशल-सकुशल, सकाम-निष्काम तथा शुभ-

अशुभकी सब विषमरूप भावनाएँ अब उसकी दृष्टिसे निकल गई हैं और अब वह इन देहेन्द्रियादिके व्यवहारोंका किसी प्रकार कर्ता नहीं है, किन्तु केवल साक्षीरूपसे इनके सब व्यवहारोंका तमाशाई ही है और अपनेमें इनका कोई लेप नहीं देखता।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

[परन्तु जिसका देहमें अहं-अभिमान है उस] देहाभिमानी-द्वारा तो (उपर्युक्त रीतिसे) अशेषतः कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं होता, इसलिये (देहमें अभिमान रखनेवाला पुरुष तो) जो कर्म-फलोंका त्याग करनेवाला है, वही त्यागी नामसे कहा जाता है।

अर्थात् उसकी त्यागी-नामसे प्रशंसा की जा सकती है, परन्तु 'त्यागी' शब्द उसमें यथार्थरूपसे प्रवृत्त नहीं हो सकता। क्योंकि त्यागनेयोग्य जो देहाभिमान था और जिसके त्यागसे सर्वत्याग सिद्ध हो सकता था, वह उसने अभी नहीं त्यागा।

अब कर्मका कैसा-कैसा फल है और किसके लिये है? सो कहते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कर्मका अनिष्ट, इष्ट व मिश्र—तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् उनके लिये होता है जिन्होंने सर्वत्याग नहीं किया, सर्व-त्यागी पुरुषोंके लिये कदाचित् कोई फल नहीं होता।

भावार्थ—कर्मका अनिष्ट फल नरक तथा पशु-पक्षी आदि योनियोंकी प्राप्ति, इष्ट फल देव-योनिकी प्राप्ति तथा इष्ट व अनिष्टसे मिश्रित फल मनुष्य-योनिकी प्राप्ति होती है। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ये भिन्न-भिन्न फल उन पुरुषोंको होते

हैं, जिन्होंने श्लोक १० के अनुसार सर्वत्याग नहीं किया। परन्तु उन तत्त्ववेत्ता सर्वत्यागियोंके लिये तो कदाचित् कोई फल नहीं होता, क्योंकि कर्मके उन पाँचों कारणोंमेंसे जिनका वर्णन अगले श्लोकमें होगा, उनका किसीमें भी आत्माभिमान नहीं रहता। देहाभिमानी कर्मफल-त्यागीके लिये, यद्यपि उसने श्लोक ६ के अनुसार सात्त्विक त्याग किया है, तथापि देहका अभिमान और फल-त्यागका अभिमान रहनेके कारण अनिष्ट फल नहीं तो इष्ट फल अवश्य मिलना ही चाहिये (पृ० ६०-६६)।

पञ्चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो ! सब कर्मोंकी सिद्धिमें ये पाँच ही कारण वेदान्त-सिद्धान्तमें कहे गये है, उनको तू मुझसे समझ।

उन पाँच कारणोंके ये नाम हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

(१) 'अधिष्ठान' (इच्छा, ज्ञान और कर्मरूप व्यापारों की अभिव्यक्तिका आश्रय शरीर, क्योंकि शरीरके आश्रय ही कर्मोंकी इच्छा, कर्मोंका ज्ञान एवं कर्मरूप व्यापार प्रकट होते हैं), (२) 'कर्ता' (उपाधिस्वरूप कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमानी जीव), (३) भाँति-भाँतिके 'करण' (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि जिनके द्वारा कर्म होता है), (४) नाना प्रकारकी न्यारी-न्यारी चेष्टाएँ (प्राण वायुओंका भिन्न-भिन्न व्यापार, जिनके द्वारा इन्द्रियों, मन व बुद्धिमें क्रिया उत्पन्न होती है) तथा (५) 'दैव' (इन्द्रियादिके अनुग्राहक आधिदैविक शक्तियाँ, जिनके अनुग्रहसे इन्द्रियादि अपने-अपने व्यापारोंमें प्रवृत्त होने

में समर्थ होती हैं, जैसे चक्षुका अधिदेव सूर्य और श्रोत्रका दिग्देवता है इत्यादि)।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य मन, वाणी एवं शरीरसे जो भी कर्म न्याय अथवा अन्याययुक्त आरम्भ करता है, उसके ये पाँचों ही कारण होते हैं।

भावार्थ—मनुष्यके द्वारा जितने भी कर्म होते हैं, उनको शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीन ही भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, इनसे भिन्न और कोई कर्म नहीं हो सकता। इस प्रकार त्रिविध कर्म चाहे विहित हों अथवा निषिद्ध, जो भी मनुष्यके द्वारा आरम्भ किये जाते हैं, उनमें दृष्टरूप हेतु उपर्युक्त पाँचों कारण ही होते हैं, पाँचोंके बिना किसी भी कर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

तहाँ ऐसा होते हुए भी अशुद्ध बुद्धिके कारण जो केवल अपने आत्माको ही कर्तारूप जानता है, वह दुर्बुद्धि कुछ नहीं जानता।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे कर्मके पाँच कारण होते हुए भी, जो मनुष्य अपनी अशुद्ध बुद्धिके कारण अकर्तारूप अपने आत्माको कर्तारूप देखता है। अर्थात् कर्मके करनेवाले तो ये उपर्युक्त पाँच कारण ही हैं, परन्तु अपनी दुर्बुद्धिके कारण उनमें कारणता न देखकर जो अपने शुद्धस्वरूप अकर्ता आत्मामें ही कर्तृत्वाभिमान धारण करता है, वह दुर्मति विपरीत द्रष्टा है और इस विपरीत दृष्टिके कारण ही वह जन्म-मरणकी फाँसीमें फँसता है। सब बन्धनोंका मूल केवल एक यही अज्ञान है।

फिर यथार्थ द्रष्टा कौन है? इसपर कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिस पुरुषमें 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानसे) लेपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी नहीं मारता और न (पापसे) बन्धायमान ही होता है।

भावार्थ—तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा जिस पुरुषका अविद्याकृत देहाभिमान निवृत्त हो गया है और ऊपर श्लोक १४ में कहे गये अधिष्ठानादि पाँचों कारणोंमें जिसका आत्म-अभिमान नष्ट हो गया है। अर्थात् जो इन पाँचोंमेंसे किसीको भी आत्मभावसे ग्रहण नहीं करता, किन्तु जिसने अपने आत्माको इन पाँचोंसे असंग जान लिया है और आकाशके समान जो इन पाँचोंके व्यवहारोंका अपनेमें कोई लेप नहीं देखता। इस प्रकार आत्म-स्थितिके कारण जिसकी बुद्धि कर्मोंमें लेपायमान नहीं होती, ऐसा पुरुष कर्मके इन पाँचों कारणोंद्वारा सब लोकोंको हनन करके भी अपनी दृढ़-असंगताके कारण हननरूप व्यापारका कर्ता नहीं होता और न उसके परिणाममें किसी पापादिसे बन्धायमान ही होता है। क्योंकि इस तत्त्ववेत्तामें देहधारीपनका अभिमान न रहनेके कारण, इसके द्वारा स्वाभाविक अविद्याकृत सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास हो जाता है, इसलिये यह कर्मके इष्ट अनिष्ट व मिश्र त्रिविध फलोंसे स्वाभाविक ही मुक्त होता है। यही सच्चा व ठोस संन्यास है, यही यथार्थ त्याग है जहाँ त्यागका भी त्याग हो जाता है।

अर्जुनने इस अध्यायके आरम्भमें संन्यास व त्यागका तत्त्व जाननेके लिये जो प्रश्न किया था, उसका यहाँतक समाधान किया गया। यही सम्पूर्ण गीता-शास्त्रके अर्थका उपसंहार है और यही यथार्थ कर्म-संन्यास है। यही वेदोंका सार है जो विद्वानों-

द्वारा विचारपूर्वक धारण करनेयोग्य है। केवल इसी विचार व धारणाके सिद्ध होनेपर जन्म-मरणकी निवृत्तिरूप मोक्ष निर्भर है। इस प्रकार शास्त्रके आशयका उपसंहार करके अब कर्मके प्रवर्तक बतलाये जाते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय—ये तीनों तो कर्मके प्रेरक हैं और कर्ता, करण व क्रिया—ये तीनों कर्मके संग्रह अर्थात् सामग्री हैं।

भावार्थ—किसी वस्तुको प्रकाश करनेवाला व्यापार जिसके द्वारा वस्तु जानी जाय, 'ज्ञान' कहलाता है। ज्ञानका विषय जो पदार्थ सो 'ज्ञेय' होता है तथा विषय करनेवालेको 'ज्ञाता' कहते हैं। ये तीनों ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय मिलकर ही किसी भी कर्मके प्रेरक होते हैं। अर्थात् जब प्रथम ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेयरूप त्रिपुटी-द्वारा किसी इष्ट-अनिष्टरूप द्रव्य, गुण व कर्मका बोध होता है, तब ही उसके ग्रहण-त्यागके निमित्त कर्म-प्रवृत्ति होती है, इसलिये ये तीनों कर्मके प्रेरक हैं। तथा कर्ता, करण व क्रिया—इन तीनोंके मिलनेपर कर्मरूप व्यापारकी सिद्धि होती है, इन तीनोंके अन्तर्गत ही श्लोक १४ में कहे गये अधिष्ठानादि पाँचों कारण आ जाते हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियोंको अपने-अपने व्यापारमें नियुक्त करनेवाला उपाधिरूप जीव 'कर्ता' कहा जाता है। जिसके द्वारा कर्म किया जाय उसको 'करण' कहते हैं, इस प्रकार श्रोत्रादि दस इन्द्रियाँ तो बाह्य-करण हैं और मन-बुद्धयादि चार अन्तःकरण हैं। तथा क्रियाद्वारा जो सम्पादन किया जाय, वह 'कर्म' कहा जाता है।

क्रिया, कारक व फल सभी त्रिगुणात्मक हैं, अतः सत्त्व, रज व तमके भेदसे उन सबका भेद कथन करना चाहिये—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

गुणोंके भेदसे ज्ञान, कर्म (चेष्टारूप व्यापार) एवं कर्ता भी तीन-तीन प्रकारके सांख्य-शास्त्रमें कहे गये हैं, उनको भी तू भली भाँति श्रवण कर।

तहाँ प्रथम ज्ञानके तीन भेद कथन किये जाते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञानके द्वारा पृथक्-पृथक् सर्वभूतोंमें भेदभावसे रहित एक ही अविनाशी तत्त्व देखा जाय, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान।

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्णरचित कटक-कुण्डलादि नाना भूषण वस्तुतः सुवर्णरूप ही हैं, सुवर्णसे भिन्न उनमें भूषणत्व रत्तीभर भी नहीं होता। यद्यपि वे सुवर्णकारकी दृष्टिमें भिन्न-भिन्न रूपसे ग्रहण किये जाते हैं, तथापि सर्राफकी दृष्टिमें तो वे सभी सुवर्णरूप ही होते हैं और सुवर्णका ही मूल्य पाते हैं। इसी प्रकार स्थावर-जङ्गमरूप नाना जगत्‌में सर्वभेदभावसे रहित एक ही अविनाशी तत्त्व भरपूर है और केवल वही सर्वभूतोंका एकमात्र उपादान है। इस प्रकार जिस ज्ञानके द्वारा कार्यरूप सम्पूर्ण भूतजात उपादानस्वरूप अस्ति-भाति-प्रियरूप ही जचते हैं, ऐसे अभेद ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान जानो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

जिस ज्ञानके द्वारा सर्वभूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावों को न्यारा-न्यारा करके जाना जाय, उस ज्ञानको राजस जान।

अर्थात् रजोगुणी ज्ञानके द्वारा जहाँ उपादान-दृष्टिका लोप

हो जाय और स्थूल दृष्टिके विषय भिन्न-भिन्न घट-शरावादि कार्य-दृष्टि ही दृढ हो जाय, वह यथार्थ ज्ञान न होनेसे राजस ज्ञान कहा जाता है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जिस ज्ञानके द्वारा किसी एक कार्यमें ही पूर्णताके सदृश आसक्ति हो जाती है (अर्थात् जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य नाशवान् शरीर आदिको ही आत्मरूपसे ग्रहण कर बैठता है और उसमें ही 'सब कुछ यही है' ऐसी आसक्ति कर लेता है) तथा जो ज्ञान युक्तिरहित एवं तत्त्व-अर्थको जितलानेवाला नहीं है और तुच्छ है- वह तामस कहा गया है।

अब कर्मके तीन भेद कथन किये जाते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ तथा फलकी इच्छा से रहित पुरुषके द्वारा किसी आसक्ति एवं राग-द्वेषके बिना किया गया है, वह सात्त्विक कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

जो कर्म फलकी इच्छावाले अथवा अहंकारयुक्त पुरुषके द्वारा बड़े परिश्रमसे किया जाता है, वह राजस कहा गया है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

[तथा] परिणाम, शक्ति, धनादिका क्षय, हिंसा और अपनी

सामर्थ्य—इन सब बातोंका विचार न करके जो कर्म केवल मोह से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा गया है।

अब तीन प्रकारके कर्ताके भेद कहे जाते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो कर्ता आसक्तिसे रहित, निरहंकारी तथा धारणा एवं उत्साहसे युक्त है और कार्यकी सिद्धि व असिद्धिमें निर्विकार है, वह सात्त्विक कहा जाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो कर्ता आसक्तियुक्त कर्मफलको चाहनेवाला लोभी, हिंसात्मक (दूसरोंको कष्ट देनेवाला), अपवित्र और (इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें) हर्ष-शोकयुक्त है, वह राजस कहा गया है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

[विया] विक्षिप्तचित्त अत्यन्त संस्कारहीन बुद्धिवाला, घमण्डी (दण्डके समान न झुकनेवाला) धूर्त, दूसरोंकी आजीविका हरनेवाला, आलसी शोकयुक्त स्वभाववाला और दीर्घसूत्री (अल्पकालमें होनेयोग्य कार्यको दीर्घकालमें करनेवाला) ऐसा कर्ता तामस कहा गया है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

हे धनञ्जय! अब गुणोंके अनुसार बुद्धि व धृतिके त्रिविध भेदोंको न्यारे-न्यारे अशेषतासे कहे हुए श्रवण कर।

अब त्रिविध बुद्धिके भेद कथन करते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

जो बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्तव्य-अकर्तव्य (विधि-निषेध), भय-अभय तथा बन्ध व मोक्षके स्वरूपोंको (यथावत्) जानती है, वह सात्त्विकी है।

अर्थात् जो बुद्धि उपर्युक्त विषयोंका ठीक-ठीक निश्चय करा देती है और प्रवृत्ति, अकर्तव्य, निषेध, भय एवं बन्धसे छुड़ाकर निवृत्ति, कर्तव्य, विधि, अभय तथा मोक्षमार्गमें कर्ताको जोड़ देती है, वह सात्त्विक बुद्धि कही जाती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ ! जिस बुद्धिके द्वारा धर्म व अधर्म तथा कर्तव्य व अकर्तव्यका स्वरूप यथावत् न जाना जाय, वह राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

[तथा] हे पार्थ ! तमोगुणसे आवृत्त हुई जो बुद्धि अधर्मको ही धर्म मान लेती है और सभी अर्थोंको विपरीत रूपसे ग्रहण करती है, वह तामसी है।

अब त्रिविध धृतिके भेद वर्णन करते हैं—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ ! अव्यभिचारिणी जिस धृतिके द्वारा समाधियोगसे मन, प्राण एवं इन्द्रियोंकी क्रियाएँ धारण की जाती हैं, वह धृति

अर्थात् धारणा-शक्ति सात्त्विकी है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पार्थ! जिस धारणा-शक्तिके द्वारा फलकी इच्छासे प्रसंगानुसार धर्म, अर्थ व कामोंको धारण किया जाता है, वह राजसी धृति है।

यथा स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

[तथा] जिस धृतिके द्वारा दुर्बुद्धि पुरुष स्वप्न, भय, शोक, दुःख एवं मदका परित्याग नहीं करता (और इनको धारण किये रहता है), वह धारणा तामसी मानी गई है।

बुद्धिकी वृत्ति-विशेषका नाम धारणा व धृति है।

इस प्रकार तीनों गुणोंके अनुसार क्रिया व कारकोंके भेद वर्णन किये गये, अब फलरूप सुखका भेद कथन किया जाता है—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु, मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तू सुख भी तीन प्रकारके मुझसे सुन, जिस सुखमें मनुष्य अभ्याससे रमण करता है और दुःखोंके अन्त को प्राप्त होता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

जो सुख आरम्भमें (अर्थात् कठिनाईके कारण ध्यान, वैराग्य व समाधि आदि साधनोंके आरम्भमें) विषके तुल्य है, परन्तु परिणाममें (साधनोंके परिपक्व होनेपर) अमृततुल्य है, वह आत्म-

विषयिणी बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न हुआ सुख सात्त्विक कहा जाता है। (यही श्लो० ३६के अनुसार अभ्याससे रमण करनेयोग्य है और इसीसे दुःखोंका अन्त होता है)।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

जो सुख इन्द्रिय व विषयके संयोगसे आरम्भमें अमृतके तुल्य है परन्तु परिणाममें (शरीर, मन, बुद्धि, लोक व परलोकका नाशक होनेसे) विषके समान है, वह राजस माना गया है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

[तथा] जो आरम्भ व परिणाममें बुद्धिको मोहित करनेवाला होता है, वह निद्रा, आलस्य व प्रमादजन्य सुख तामस कहा गया है।

अब त्रिगुणात्मक प्रसंगका उपसंहार किया जाता है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

ऐसा कोई पदार्थ पृथ्वी, स्वर्ग, अथवा देवताओंमें भी नहीं है, जो प्रकृतिजन्य इन सत्त्वादि तीनों गुणोंसे रहित हो, (अर्थात् प्रकृतिका कार्य चर-अचर जितना भी प्रपंच है वह अवश्य त्रिगुणात्मक होना ही चाहिये)।

इस प्रकार सम्पूर्ण संसार तीनों गुणोंका कार्य होनेसे त्रिगुणात्मक ही है। अब गीताके उपसंहारमें साररूपसे इस त्रिगुणात्मक संसारसे मुक्तिका उपाय कथन करना चाहिये। इस विषयमें प्रथम चारों वर्णोंके कर्मोंका भिन्न-भिन्न वर्णन किया जाना आवश्यक है, अतः इस विषयका आरम्भ किया जाता है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके कर्म अपनी-अपनी प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य त्रिवर्णको उपनयन, यज्ञ तथा वेदाध्ययनादिका अधिकार होनेसे एक कोटिमें ग्रहण किया गया और इनके अनधिकारी होनेसे शूद्रको भिन्न कोटिमें ग्रहण किया गया है। जबकि अखिल प्रपञ्च तीनों गुणोंका ही पसारा है और प्रत्येक योनिमें इन गुणोंके साथ जीवका सम्बन्ध बना हुआ है, तब जन्म-जात स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके भेदसे वर्णों एवं कर्मोंका भेद होना विनिश्चित ही है, इसलिये वर्णभेदसे कर्मों का भेद निरूपण किया जाता है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, (इन सबका वर्णन पीछे हो चुका है) सामान्य-ज्ञान, विशेष-ज्ञान एव आस्तिकता (अर्थात् वेद शास्त्रके वचनोंमें श्रद्धा)—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुराई, युद्धमें शत्रुको पीठ न दिखाना, दान (अर्थात् देनेयोग्य वस्तु खुले हाथों देना) और ईश्वरभाव (अर्थात् शासनयोग्य प्रजापर प्रभुत्व जमाना)—ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

[तथा] कृषि अर्थात् भूमिमें हल चलाना, गोपालन तथा क्रय-विक्रयरूप वाणिज्य, वैश्यका स्वाभाविक कर्म है और सेवा-परायणता शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।

ऐहलौकिक स्वार्थ व कामनाका परित्याग करके यदि उपर्युक्त कर्मोंको अपने-अपने वर्ण-धर्मानुसार केवल धार्मिक दृष्टिसे सत्यतापूर्वक आचरणमें लाया जाय तो इसका फल स्वर्गादि उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होता है, जैसा स्मृति व पुराणोंमें वर्णन किया गया है। परन्तु यदि ईश्वर-प्राप्ति उद्देश्य रखकर केवल पारमार्थिक दृष्टिसे अपने-अपने कर्मोंका आचरण किया जाय, तब—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

[कर्माधिकारी] अपने-अपने कर्मोंमें तत्पर हुआ भगवत्-प्राप्तिरूप सिद्धिके मार्गको प्राप्त होता है। अपने-अपने कर्मोंमें लगा हुआ पुरुष जिस प्रकार सिद्धिको प्राप्त होता है, वह तू श्रवण कर।

भावार्थ—उपर्युक्त लक्षणोंवाले अपने-अपने कर्मोंको यदि सत्यतापूर्वक केवल धार्मिक दृष्टिसे आचरणमें लाया गया है तो उसके फलमें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है और अपने रचे हुए कर्मोंका उत्तम भोग भोगकर तथा पुण्य क्षय होनेपर वे खाली-के-खाली फिर इसी लोकमें गिरा दिये जाते हैं, 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। भगवत्-प्राप्तिरूप सिद्धिके अधिकारको वे किसी प्रकार प्राप्त नहीं होते। परन्तु यदि अपने वर्ण-धर्मोंका आचरण भगवत्-प्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया है तो इसके फलमें अशुद्धि का क्षय होकर अन्तःकरणकी निर्मलताद्वारा वे ज्ञान-निष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धिको प्राप्त होते हैं, जिस योग्यताद्वारा ज्ञाननिष्ठा सिद्ध होकर भगवत्-प्राप्तिरूप परम सिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है। अब जिस प्रकार उस सिद्धिकी प्राप्ति होती है, वह तू श्रवण कर।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिस परमात्मासे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति होती है और जिस परमात्माद्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त अर्थात् ओत-प्रोत हो रहा है, अपने-अपने कर्मोंद्वारा उस परमेश्वरको पूजकर मनुष्य (ज्ञान-निष्ठाकी योग्यतारूप) सिद्धिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य-शरीरके नाना अङ्ग व उपाङ्ग हैं, यदि प्रत्येक अङ्ग व उपाङ्ग अपने-अपने धर्म व कर्ममें ठीक-ठीक वर्ताव करते रहें तो सारा शरीर स्वस्थ रहता है। परन्तु यदि उन अङ्गोंमेंसे कोई भी छोटे-से-छोटा अङ्ग अपने धर्म-कर्ममें ठीक-ठीक न बर्ते तो सारे-का-सारा शरीर रोगी व दुःखी हो जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विराट्भगवान्का शरीर है और चारों वर्ण, चारों आश्रम एवं प्रत्येक प्राणी उस विराट् के अङ्ग व उपाङ्ग हैं। इसलिये यदि सभी वर्ण व आश्रम अपने-अपने धर्ममें सावधान रहें तो यह सम्पूर्ण विराट्-वपु स्वस्थ रह सकता है। परन्तु यदि कोई वर्णाश्रमी अपने धर्म-कर्मका परित्याग कर दे तो इससे विराट्-वपुमें आघात लगनेसे सम्पूर्ण विराट् अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसलिये अपने-अपने कर्मोंद्वारा सृष्टिचक्रको चलानेमें सहायक होना प्रत्येक वर्णाश्रमीका धर्म है और उनपर ईश्वरकी ओरसे ऐसा कर्तव्य रखा गया है। इसी दृष्टिसे ईश्वरकी ओरसे अपने ऊपर कर्तव्य जान और ईश्वर-प्राप्ति उद्देश्य रखकर निष्काम-भावसे अपने-अपने कर्मोंका आचरण करना, यही अपने कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करना है जिसके फलस्वरूप अन्तःकरणकी निर्मलता होती है। यही ज्ञाननिष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धि है, जिससे उस निर्मल अन्तःकरणमें ज्ञाननिष्ठा का उद्बोध होता है। यही नहीं कि इस प्रकार केवल ब्राह्मण ही

ज्ञाननिष्ठाका अधिकारी होता है; बल्कि चारों ही वर्ण निष्काम-भावसे अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करके किसी बाधाके बिना भगवान्‌की प्रसन्नतारूप अन्तःकरणकी निर्मलताको प्राप्त हो सकते हैं, जिसके द्वारा वे ज्ञाननिष्ठाके अधिकारको प्राप्त हो जाते हैं।

जब कि ऐसा है, तब—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

दूसरेके भली प्रकार अनुष्ठान किये हुए धर्मसे अपना गुण-रहित भी धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि अपनी प्रकृतिके अनुसार नियत किये हुए (स्वधर्मरूप) कर्मका आचरण करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—जिस प्रकार अपने शरीरके अङ्गोंमें मल-मूत्र त्याग-नेवाली कर्मेन्द्रियाँ भंगीका गुणरहित व्यवहार करती हुई भी किसी दोषके भागी नहीं बनतीं, बल्कि उनका वह व्यवहार शारीरिक स्वास्थ्यके लिये नितान्त उपयोगी होता है; इसी प्रकार ब्रह्माण्डमें अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार नियत किया हुआ स्वधर्मरूप कर्म गुणरहित हुआ भी दूसरेके उत्तम धर्मसे श्रेष्ठ होता है। क्योंकि इधर तो अपने धर्मका आचरण स्वभावसिद्ध होनेसे सुगम होता है तथा स्वधर्मके त्यागसे विराट्-वपुमें जो आघातकी सम्भा-वना स्वाभाविक होती है, उससे वह स्वधर्म रक्षा करता है और उधर उपर्युक्त दृष्टिसे अपने कर्मोंद्वारा संसार-चक्रको चलानेमें सहायक होना तथा अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करना कल्याणरूप होता है, जिससे किसी पापका स्पर्श न होकर ज्ञान-निष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है और कर्मका यही वास्तविक फल है। वैसे देखा जाय तो मायाराज्यमें गुण व दोष सापेक्षिक ही होते हैं, जैसे ब्राह्मणके कर्मोंकी अपेक्षा शूद्रके

कर्म निकृष्ट हैं और शूद्र-कर्मोंकी अपेक्षा ब्राह्मणके कर्म उत्कृष्ट। ऐसा होते हुए भी यदि शूद्र अपने कर्मोंका परित्याग करके ब्राह्मणके कर्मोंका आचरण करने लगे तो यह उसके लिये श्रेय'रूप नहीं हो सकता। क्योंकि यह तो मानना ही पड़ेगा कि वर्तमान जिस जाति व कुलमें मनुष्यका जन्म होता है वह अकारण ही और-का-और नहीं हो जाता, बल्कि पिछले संस्कारोंके अधीन ही वर्तमान जाति व कुलकी प्राप्ति निश्चित है। जबकि ऐसा है तब वर्तमान जातीय कर्म अवश्य उसके स्वभावनियत कर्म होने चाहियें। फिर मनुष्य के लिये स्वाभाविक कर्म श्रेय तथा स्वभावविरुद्ध कर्म अश्रेय'रूप इसी प्रकार हो सकते हैं, जिस प्रकार प्रथम कक्षाके बालकके लिये सोपान-क्रमसे अपनी कक्षाका पाठ तो अपनी कक्षासे उत्तीर्ण कराके चतुर्थ कक्षातक पहुँचानेका जुम्मेवार है, परन्तु यदि सोपान-क्रमका उल्लङ्घन किया गया तो वह कदापि चतुर्थ कक्षामें नहीं पहुँच सकता और वहाँ नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार स्वभावनियत कर्म सुगम एवं श्रेयस्कर हो सकते हैं। जैसा भगवान् भाष्यकारने अ०१८ श्लो०४४-४६के भाष्यमें स्पष्ट किया है कि 'जातिविहित कर्म यदि भली भाँति अनुष्ठान किये जायँ तो उनका फल स्वर्ग-प्राप्ति होता है और बचे हुए कर्म-फलके अनुसार उसको श्रेष्ठ देश जाति, कुल धर्म, आयु विद्या, आचार, धन, सुख एवं मेधा आदिसे युक्त जन्म प्राप्त होता है। और यदि स्वाभाविक कर्म निष्काम-भावसे आचरण किया जाय तो वह ज्ञाननिष्ठाका अधिकार प्रदान करता है'। इसलिये सब प्रकारसे स्वाभाविक कर्म ही मनुष्यके लिये श्रेय है, स्वभावविरुद्ध कर्म कदापि नहीं।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

[इसलिये] हे कौन्तेय! सदोष भी अपना स्वाभाविक

(जन्म-जात) कर्म परित्याग न करे, क्योंकि यों तो सभी कर्म धूमसे अग्निके सदृश दोषसे घिरे हुए होते ही हैं।

भावार्थ—कर्म मायाके राज्यमें ही है और अज्ञानका कार्य है, इसलिये अपने स्वरूपसे कर्मका सर्वअंशमें निर्दोष होना असम्भव ही है। अवश्य उसका किसी-न-किसी अंशमें इसी प्रकार दोषसे आवृत्त होना निश्चित है, जिस प्रकार अग्नि आरम्भमें धूमसे आवृत्त रहती है। परन्तु जिस प्रकार धूमके साथ उत्पन्न होती हुई भी अग्नि पाककी सिद्धि कर देती है और फिर निर्धूम भी हो जाती है, इसी प्रकार स्वाभाविक कर्म सदोष हुआ भी निष्काम-भावके प्रभावसे अन्तःकरणकी निर्मलता सम्पादन कर देता है और फिर वह सदोष हुआ भी निर्दोष हो जाता है। इसलिये जबतक मनुष्य अज्ञानके साथ बन्धायमान है और कर्मका अधिकारी है, तबतक उसे अपना स्वाभाविक कर्म सदोष हुआ भी परित्याग नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार कर्मोंद्वारा ज्ञाननिष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धिकी प्राप्तिका वर्णन किया गया। अब इसका फल ज्ञाननिष्ठारूप नैष्कर्म्यसिद्धिका वर्णन करते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

जिस पुरुषकी बुद्धि सर्वत्र आसक्तिसे रहित है, जिसने अन्तःकरणको जीता है तथा जिसकी स्पृहा निवृत्त हो गई है, ऐसा पुरुष संन्यासके द्वारा नैष्कर्म्यरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—आसक्तिके स्थान जो स्त्री, धन व पुत्रादि हैं उनमें जिस पुरुषकी बुद्धि आसक्त नहीं होती, जिसने अन्तःकरणके राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादि दोषोंको जीत लिया है, जिसकी शरीर-निर्वाहके निमित्तमात्र भोगोंमें भी तृष्णा निवृत्त हो गई है और

जो अपने-आप प्राप्त हुए विषयोंसे ही शरीरका पोषण करता है, ऐसा पुरुष संन्यासके द्वारा अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यरूप तत्त्वज्ञानके द्वारा नैष्कर्म्यरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। देहेन्द्रियादिसे असंग होकर वह निष्क्रिय ब्रह्मके साथ अपनी आत्माका अभेद प्राप्त कर लेता है, यही तात्त्विक संन्यास है। तब देहेन्द्रियादि अपने-अपने व्यापारोंमें वर्तती रहती हैं, परन्तु वह उनके व्यापारों को अपनेमें नहीं देखता और न उनके व्यापारोंका कर्ता ही होता है, किन्तु साक्षीरूपसे द्रष्टा रहता है। इस प्रकार वह तत्त्वज्ञान-द्वारा सर्वकर्म-संन्यासरूप परम नैष्कर्म्य-सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

निर्मलान्तःकरण पुरुष ईश्वरार्चन-बुद्धिसे स्वधर्मानुष्ठानद्वारा जिस क्रमसे नैष्कर्म्य-सिद्धिको प्राप्त होता है, अब भगवान् उसका निरूपण करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

[निष्काम-भावसे स्वधर्मानुष्ठानरूप अपने कर्मोद्वारा ज्ञान-निष्ठाकी योग्यतारूप] सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार (सच्चिदानन्दरूप) ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा जो ज्ञानकी परा-निष्ठा है, हे कौन्तेय ! उसको तू संक्षेपसे मुझसे समझ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

विशुद्ध बुद्धि (अर्थात् कपटरहित एवं निश्चयात्मिक बुद्धि) से युक्त, धैर्यसे इन्द्रियोंको वशमें करके, शब्द-स्पर्शादि विषयोंका परित्याग करके (अर्थात् शरीरकी स्थितिमें जितने मात्र विषयोंकी आवश्यकता है, उनको रसवर्जित बुद्धिसे ग्रहण करके और शेष सब विषयोंका परित्याग करके) तथा राग व द्वेषको उखाड़ कर, एकान्त देशका सेवन करनेवाला (अर्थात् वन, नदीतीर, अथवा पहाड़की गुफा आदि एकान्त देशमें निवास करनेका जिसका स्वभाव है), हलका भोजन करनेवाला (हलके भोजनसे निद्रादि दोष जीते जाते हैं इसलिये इसका ग्रहण किया गया है) और शरीर, वाणी व मनको (स्वाधीन घोड़ेकी भाँति) जीतकर नित्य ध्यानयोगपरायण हुआ (अर्थात् आत्म-चिन्तनरूप ध्यानमें अपने चित्तको एकाग्र करनेके जो परायण है और यही जिसने अपना मुख्य कर्तव्य माना है) तथा (इहलोक व परलोकसम्बन्धी भोगों से जिसका राग निवृत्त हो गया है ऐसा) वैराग्यसम्पन्न होकर अहंकार, बल (अर्थात् काम व रागका बल), घमण्ड, काम, क्रोध व संग्रहका परित्याग करके ममतारहित तथा शान्तचित्त पुरुष ब्रह्मरूप होनेके योग्य होता है।

इस उपर्युक्त क्रमसे—

> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

प्रसन्नात्मा (अर्थात् अध्यात्म-लाभ पाया हुआ पुरुष) ब्रह्मस्वरूप हुआ न कुछ शोक करता है और न कुछ इच्छा करता है, किन्तु सब भूतोंमें समरूप हुआ मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—श्लोक ५१ से ५३ तक कथन किये हुए उपर्युक्त क्रमके अनुसार साधनसम्पन्न पुरुष अध्यात्म-लाभ पाया हुआ देहाभिमानसे निकलकर सर्वभेद व परिच्छेद-विनिर्मुक्त अपने

ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाता है। तब वह न कुछ शोक करता है और न कुछ इच्छा ही करता है, क्योंकि देहाभिमान करके भेद व परिच्छेद-दृष्टिके कारण ही शोक व आकांक्षाएँ हृदयमें कण्टककी भाँति चुभा करते थे, सो कण्टक निकलजानेके कारण अब वह इन सब वेदनाओंसे स्वाभाविक मुक्त है। और सब तरङ्गोंमें जलकी भाँति सब भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित हुआ वह मेरी ज्ञानलक्षणा पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

[तब उस परा] भक्तिके द्वारा वह पुरुष, मैं वास्तवमें जितना हूँ और जो कुछ हूँ, वैसा तत्त्वसे जान लेता है और तब मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश पा जाता है।

भावार्थ—उस ज्ञानलक्षणा पराभक्तिके द्वारा वह पुरुष, मैं जितना हूँ और जो कुछ हूँ, वैसा तत्त्वसे जान लेता है। अर्थात् 'अज्ञानकी उपाधि करके पञ्चभूतात्मक प्रपञ्चके रूपमें भान होता हुआ भी मैं वास्तवमें पञ्चभूतात्मक प्रपञ्चसे असंग ही रहता हूँ और मेरेमें इसका कोई लेप नहीं लगता। यद्यपि यह प्रपञ्च मेरे बिना कुछ भी नहीं है, तथापि मेरेमें यह कुछ भी नहीं है। यह विशेषरूप प्रपञ्च मुझ सत्तासामान्यके आश्रय प्रतीत होता हुआ भी मुझको स्पर्श कर नहीं सकता। अपनी सत्तामात्रसे उन विशेषरूपोंके भाव व अभावोंको प्रकाश करता हुआ भी मैं अपने-आपमें ज्यों का-त्यों ही रहता हूँ। जिस प्रकार सामान्यरूप सुवर्ण अपने आश्रय विशेषरूप कटक-कुण्डलादिकी प्रतीति कराता हुआ भी अपने-आपमें ज्यों-का-त्यों ही रहता है। यद्यपि सामान्यरूप सुवर्णके बिना विशेषरूप कटक कुण्डलादि कुछ भी नहीं हैं, तथापि सामान्यरूप सुवर्णमें ये कुछ भी नहीं है। सामान्यरूप सुवर्ण अपने

आश्रय विशेषरूप कटक-कुण्डलादिके भाव व अभावोंको प्रकाशता हुआ भी आप किसी भाव व अभावको प्राप्त नहीं हो जाता।' इस तत्व-साक्षात्कारका नाम ही ज्ञानलक्षणा पराभक्ति है। इस पराभक्तिके द्वारा वह भक्त इस प्रकार मुझे तत्त्वसे जानकर और अपना परिच्छिन्न-अहंकार मुझमें खोकर ज्ञान-समकालीन ही मुझमें प्रवेश पा जाता है और तात्त्विक योग प्राप्त कर लेता है।

अब इस तात्त्विक योगका फल निरूपण करते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

[जिसकी दृष्टिमें मुझ साक्षीस्वरूपके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, ऐसा] मद्व्यपाश्रय (अर्थात् मैं ही जिसका सर्व प्रकार आश्रय हूँ, ऐसा) योगी सदा सब कर्मोंको करता हुआ भी मेरे प्रसादसे मेरे शाश्वत अव्यय पदको प्राप्त हो जाता है।

अर्थात् सदा सब कर्मोंमें वर्तता हुआ भी वह कमल-पत्रके समान कर्मोंसे लेपायमान नहीं होता और किसी प्रकार कर्म-बन्धनमें नहीं आता।

इसलिये अर्जुन! जब कि ऐसा है, तब तू—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मनसे मेरेमें सब कर्मोंका भली भाँति त्याग करके मेरे परायण हुआ बुद्धियोगका अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें ही चित्त रखनेवाला हो।

भावार्थ—'न मैं कुछ कर्ता हूँ, न मुझपर कुछ कर्तव्य है, किन्तु मैं तो वह साक्षीस्वरूप अलुप्त प्रकाश हूँ, जिसके प्रकाशमें देहेन्द्रियमनबुद्धयादि अपने-अपने धर्म-कर्मोंमें वर्तते हैं, परन्तु

मुझको स्पर्श नहीं कर सकते।' इस तत्त्वसाक्षात्कारका नाम ही 'बुद्धि-योग' है, क्योंकि इस बुद्धिके द्वारा ही भगवान्‌में तात्त्विक योग होता है, अन्य किसी प्रकारसे भी नहीं और केवल इसी बुद्धिके द्वारा भगवान्‌में सर्वकर्म-संन्यासकी सिद्धि होती है। इसलिये अर्जुन! तू इसी बुद्धियोगके अवलम्बनसे मुझमें चित्तसे सर्वकर्म-संन्यास करके मेरे परायण हुआ निरन्तर मच्चित्त हो। अर्थात् देहेन्द्रियादिके सब धर्म-कर्मोंसे असंग हो, देहेन्द्रियादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता रह और सब कर्मोंमें मुझ साक्षीस्वरूप अकर्मको ही देख। इस प्रकार जो बुद्धियोग दूसरे अध्यायमें उपदेश किया गया था, उसीपर ग्रन्थका उपसंहार किया गया।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

[इस प्रकार] तू मच्चित्त हुआ मेरे प्रसादसे सभी सङ्कटोंसे तर जायगा और यदि तू अहङ्कारसे मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा (अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा)।

भावार्थ—'मैं अर्जुन इन सब सम्बन्धियोंका मारनेवाला हूँ इनके मारनेसे कुल नष्ट हो जायगा, इससे जाति-धर्म एवं कुल-धर्म नष्ट हो जायेंगे, स्त्रियाँ दुष्टा हो जायँगी, वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्ति होगी जिससे पिण्डोदक-क्रिया लुप्त हो जायगी और पितरोंका अधःपतन होगा'—अर्जुन! मेरे प्रसादसे तू मच्चित्त हुआ इस प्रकारके सब सङ्कटोंसे तर जायगा अर्थात् जब तू अपनी शरीररूपी बाँसुरीको अहं कर्तृत्वाभिमान एवं कर्तव्य-बुद्धिसे खाली करके मुझ सर्वसाक्षी व सर्वात्माके हाथोंमें दे देगा, तब मैं स्वयं इस बाँसुरीसे ऐसे उत्तम-उत्तम स्वर निकाल लूँगा, जो कि इस प्रकार रुदन करनेके बजाय तेरे लिये परमानन्दके कारण होंगे।

क्योंकि वस्तुतः तेरे आत्मस्वरूपमें इन सङ्कटोंका कोई स्पर्श न होते हुए भी केवल अज्ञानजन्य कर्तृत्वाभिमान व कर्तव्य-बुद्धि ही तेरे इन सब सङ्कटोंका मूल बन रहे हैं। इसलिये तू मच्चित हुआ अज्ञानजन्य कर्तृत्वाभिमान व कर्तव्य-बुद्धिसे छूटकर अनायास इन सभी सङ्कटोंसे तर जायगा और जन्म-मरणरूप मूल संङ्कटसे भी मुक्त हो जायगा। परन्तु यदि मेरे वचनोंपर ध्यान न देगा तो परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा।

इसके विपरीत—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५६॥

जो तू अहंकारको अवलम्बन करके ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है, क्योंकि तेरी क्षात्र-प्रकृति बरबश तुझे युद्धमें जोड़ देगी।

भावार्थ—उपर्युक्त रीतिसे अहं-कर्तृत्वाभिमान व कर्तव्य-बुद्धिका त्याग न करके (अ० १८ श्लो० १७ के अनुसार जिनका त्याग ही तात्त्विक त्याग है) यदि तू अहंकारके वशीभूत होकर ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो यह तेरा निश्चय मिथ्या ही है, क्योंकि शास्त्रविधिके अनुसार यह तेरा नियत कर्म है। यदि तू मोहसे इसे त्यागनेकी इच्छा करता है तो अ० १८ श्लो० ७ के अनुसार तेरा यह त्याग तामसिक त्याग होगा। दूसरे, यह तेरी क्षात्र-प्रकृतिके विरुद्ध भी होगा, अतः तेरी प्रकृति तुझे बरबश युद्धमें जोड़ देगी।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

[क्योंकि] हे कौन्तेय! अपने शूरवीरता आदि स्वाभाविक

कर्मोंसे बन्धायमान हुआ तू जो मोहसे युद्धरूप कर्म नहीं करना चाहता है वह तुझे बरबस करना ही पड़ेगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

[क्योंकि] हे अर्जुन ! ईश्वर सर्वभूतोंके हृदय-देशमें ही स्थित है और यन्त्रपर आरूढ हुई कठपुतलियोंके समान सर्वभूतोंको अपनी मायासे भ्रमा रहा है।

भावार्थ—जिस प्रकार यन्त्रपर आरूढ हुई कठपुतलियाँ स्वतन्त्र नहीं होतीं वे यदि यह अभिमान करें कि हम नृत्य नहीं करेंगी तो उनका यह अभिमान मिथ्या ही होता है। क्योंकि सूत्रधार जब सूत्रको हिलायेगा तब सूत्रसे बँधी रहनेके कारण उनको बरबश उसके इशारेके अनुसार नृत्य करना ही पड़ेगा और उनका त्यागका अभिमान मिथ्या ही सिद्ध होगा। इसी प्रकार अर्जुन ! ईश्वर सर्वका शासन करनेवाला अन्तर्यामी देव (मायाकी उपाधिको ग्रहण करके चेतनकी 'ईश्वर' संज्ञा की जाती है और मायारूप उपाधिके बाध हो जानेपर वही साक्षी व शुद्ध ब्रह्म कहा जाता है) सर्वभूतोंके हृदय-देशमें ही विराजमान है और प्रकृतिरूपी यन्त्र पर आरूढ हुए सर्वभूतोंको उनके अपने-अपने कर्मरूपी सूत्रसे बाँधकर भ्रमा रहा है। अर्थात् आप अचल रहता हुआ अपनी सत्ता स्फूर्तिसे अपनी मायाद्वारा सर्वभूतोंको नचा रहा है। अब तू प्रकृतिरूपी यन्त्रपर आरूढ होता हुआ अपनी प्रकृतिविरुद्ध जो यह मिथ्या अभिमान करता है कि 'मैं देहसे युद्ध न करूँगा' तो यह तेरा निश्चय मिथ्या ही है। क्योंकि जब वह सूत्रधारकी भाँति तेरे हृदयमें ही स्थित हुआ तेरी प्रकृतिके अनुसार सूत्रको हिलायेगा- तब तुझे उसके इशारेपर नृत्य करना ही पड़ेगा और तेरा त्यागका अभिमान धरा ही रह जायगा। देहेन्द्रियादि प्रकृतिके

परिणाम हैं और घट-शरावादिकी भाँति प्रकृतिरूपी चक्रपर आरूढ हो रहे हैं, फिर चक्रके घूमते हुए घट-शरावादिका अचल रहना कैसे सम्भव हो सकता है?

इसलिये श्रेयः यही है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत! अपने सर्वभावोंसे उसीकी शरणको प्राप्त हो, उसके प्रसादसे तू परम शान्ति और शाश्वत पदको प्राप्त होगा।

भावार्थ—देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादिके द्वारा जो कुछ व्यापार हो रहा है तू उसका कर्ता मत बन, किन्तु इनके अन्दर ही जो सर्व-कर्ता-धर्ता अन्तर्यामी-देव विराजमान है, सर्व कर्तृत्वका भार उस पर ही रख। तू तो कठपुतलियोंके समान देहेन्द्रियादिद्वारा उसके इशारेमात्रसे केवल नृत्य करनेवाला हो। इस प्रकार कर्तृत्वाभिमानके त्यागद्वारा उस अन्तर्यामी-देवके साथ अभेद प्राप्त कर और अपने सर्वभावोंके द्वारा उसीकी शरणको प्राप्त हो। अर्थात् तत्त्व-विचारद्वारा देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादिमें आत्मबुद्धि निवृत्त करके इनके साक्षीस्वरूपमें ही आत्मरूपसे स्थित हो। इस प्रकार उस अन्तर्यामीके अभेदरूप प्रसादसे तू परम शान्ति तथा परम धामको प्राप्त होगा। इसी रूपसे तेरा पुरुषार्थ सफल होगा। इसके विपरीत यदि तू नियत कर्मके त्यागका मिथ्या अहंकार धारण करेगा तो वह असद् व्यवहार होनेसे तेरी निष्फल चेष्टा ही सिद्ध होगी।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार गुह्यसे भी अति गुह्य अर्थात् रहस्यमय यह ज्ञान मैंने तेरे प्रति कथन किया है, इसको अशेषतासे भली भाँति

विचारकर फिर जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।

अब फिर सम्पूर्ण गीता-शास्त्रका तत्त्व संक्षेपसे कथन करनेके लिये श्रीभगवान् बोले—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

हे अर्जुन! सर्वगुह्योंसे भी अत्यन्त गुह्य मेरे परम वचनोंको तू फिर भी श्रवण कर क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है इसलिये मैं तेरे हितके लिये कहूँगा।

वे गुह्य वचन क्या हैं?—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

तू मुझमें ही मनवाला मेरा ही भक्त और मुझे ही पूजनेवाला हो तथा मुझे ही नमस्कार कर। इस प्रकार तू मुझे ही प्राप्त होगा मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा प्यारा है।

भावार्थ—मुझ सर्वसाक्षीसे भिन्न जो तेरा मन अपनी स्वतन्त्र सत्ता धारे बैठा है और साढ़े तीन हाथके टापुमें ही घर किये हुए अलग ही अपने अढ़ाई चाँवलकी खिचड़ी पका रहा है, ऐसे इस मनको वहाँसे उखाड़कर मुझ सर्वसाक्षीमें इसकी पौद लगा, जिससे यह अपनी स्वतन्त्र सत्तासे हाथ धो बैठे और मद्रूप हो जाय तथा इसके फलस्वरूप इसकी साढ़े तीन हाथकी राजधानी गरक होकर इसका अखिल ब्रह्माण्डपर ही शासन हो जाय। इस प्रकार अर्जुन! तू मिथ्या सांसारिक सम्बन्धियोंका भक्त न होकर मेरा ही भक्त हो, अर्थात् मेरे परायण हो और अपनी सब चेष्टाओंद्वारा मेरा ही पूजन कर। इस रीतिसे अपनी सब चेष्टाओंमें मुझ सर्वसाक्षीसे ही आँखें लड़ाता हुआ मुझे ही

नमस्कार कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, ऐसी मैं तेरे प्रति हाथ-पर-हाथ रखकर सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्यारा है।

अब अपने उपदेशकी समाप्तिपर अर्जुनके उन धर्मोंका स्मरण करके जो कि उसने प्रथम अध्यायमें अपने विषादके निमित्त बताये थे, श्रीभगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

[इसलिये हे अर्जुन!] सब धर्मोंका परित्याग करके केवल मेरी शरणको प्राप्त हो, ऐसा करनेसे मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

भावार्थ—कुल-धर्म, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, देश-धर्म और यज्ञ-दान-तपादि जितने भी धर्म हैं, उन सब धर्मोंका परित्याग करके केवल मुझ सर्वात्माकी अनन्य शरणको प्राप्त हो। क्योंकि जिस प्रकार सब नदियाँ नाना मार्गोंसे दौड़ती हुई एक समुद्रमें ही प्रवेश होनेके लिये हैं, इसी प्रकार सब धर्म अपने-अपने आचरण-द्वारा साक्षात् अथवा परम्परा करके मुझ सर्वात्मामें ही अभेद प्राप्त करानेके लिये हैं। इसलिये ये सब धर्म उस समयतक ही धर्मरूप हो सकते हैं, जबतक ये मुझ सर्वात्माकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक न होकर सहायक रहते हैं। परन्तु जब-जब जो-जो धर्म मुझ सर्वात्माकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धकरूप सिद्ध हो, तब-तब उस-उस धर्मका आचरण धर्मरूप न होकर उसका परित्याग ही धर्मरूप होता है। जिस प्रकार मिष्टान्नका सेवन उस समयतक ही पथ्य होता है, जबतक वह पेटमें विकार न करके शरीरकी पुष्टिमें सहायक हो, परन्तु जब वह विकारहेतु सिद्ध हो जाय तब उसका सेवन पथ्य न होकर उसका परित्याग ही पथ्यरूप सिद्ध होता

है। इस प्रकार अपने सब धर्मोंका लक्ष्य केवल मेरी प्राप्ति ही बनानेसे जिस प्रतिबन्धक धर्मके परित्यागसे जिस-जिस पापकी तुझे सम्भावना होती है, उन सब पापोंसे मैं तुझे मुक्त कर दूँगा, इस विषयमें तू शोक मत कर। क्योंकि मेरी प्राप्ति हो जानेपर सब धर्म इसी प्रकार स्वतःसिद्ध हो जाते हैं, जिस प्रकार आम्रवृक्ष की मूलमें जल-सिञ्चनसे सब शाखा-प्रशाखा अपने-आप हरी-भरी हो जाती हैं। सम्पूर्ण अहं-त्वंरूप भेद व परिच्छेद दृष्टिसे गिर जाना और सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म दृष्टिमें समा जाना, यही भगवान्‌की अनन्य शरणको प्राप्त होना है। यही आत्मस्वरूपस्थिति यावत् धर्मोंका लक्ष्य है और यहीं पहुँचकर सब पापों एवं जन्म-मरणादि दुःखोंसे मुक्ति होती है और किसी प्रकार भी नहीं।

इस प्रकार गीता-शास्त्रका उपसंहार करके अब शास्त्र-संप्रदायकी विधि बतलाते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

[हे अर्जुन!] तेरे (हितके) लिये कहा हुआ यह शास्त्र तपरहित मनुष्यको नहीं सुनाना चाहिये, (अर्थात् जिसके मन-इन्द्रियादि असंयमी हों उसके प्रति नहीं सुनाना चाहिये)। (तपस्वी होनेपर भी) जो ईश्वर व गुरुमें प्रीति न रखता हो उसको कदापि नहीं सुनाना चाहिये। (तपस्वी व भक्त होकर भी) जो सुननेकी इच्छा न रखता हो उसे भी नहीं सुनाना चाहिये। (तथा जो मुझ वासुदेवको साधारण मनुष्य जानकर और आत्म-प्रशंसादि दोषों का मुझमें आरोप करके ईश्वर-बुद्धि न रखता हो ऐसे) मेरी निन्दा करनेवालेके प्रति भी नहीं सुनाना चाहिये। (किन्तु जो तपस्वी, भक्त, जिज्ञासु एवं दोष-दृष्टिरहित हो, उसे ही इस शास्त्र

का श्रवण कराना चाहिये)।

अब इस शास्त्रकी परम्परा चलानेवालोंके लिये फल कथन करते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो मनुष्य इस परम गुह्य शास्त्रको (उपर्युक्त अधिकारी) मेरे भक्तके प्रति कथन करेगा, (वह निष्काम-भावसे इसके पाठन-द्वारा) मेरी परा भक्ति करके मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है।

अर्थात् जो निष्काम-भावसे अधिकारी भक्तके प्रति इसका श्रवण करावेगा, मेरी परा भक्तिका जो फल है वह पुरुष उसी फलको प्राप्त होगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

[तथा] मनुष्योंमें उस पुरुषके समान मेरा अतिशय प्रिय करनेवाला (वर्तमानमें) कोई भी नहीं है और भविष्यमें भी इस पृथ्वीपर उससे अधिक मेरा कोई प्यारा नहीं होगा।

यह तो पढ़ानेवालेके लिये कहा गया, अब पढ़नेवाले तथा श्रोताके लिये नीचे दो श्लोकोंमें कथन करते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

जो पुरुष हमारे-तुम्हारे इस धर्ममय संवादरूप गीता-शास्त्रको पाठ करेगा, जानना चाहिये कि उसने ज्ञान-यज्ञसे मेरी पूजा की है, ऐसा मेरा मत है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

जो मनुष्य श्रद्धासहित और दोषदृष्टिरहित होकर इसका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त हुआ पुण्य-कर्मियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त होगा ।

अर्जुनने शास्त्रके अभिप्रायको ग्रहण किया या नहीं, यह जानने के लिये भगवान् पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

हे पार्थ ! (मेरे द्वारा कथन किये हुए) इस शास्त्रको क्या तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया है? और हे धनञ्जय ! क्या अज्ञानसे उत्पन्न हुआ तेरा मोह नष्ट हुआ है ?

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

हे अच्युत ! आपके प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है । अब मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।

भावार्थ—'मैं अर्जुन इन सम्बन्धियोंका मारनेवाला हूँ और ये मारे जानेवाले हैं'—ऐसा मेरा अज्ञानजन्य देहात्मबुद्धिरूप मोह, जो संसाररूप समस्त अनर्थोंका कारण था और समुद्रकी भाँति अति दुस्तर था, नष्ट हो गया है । और आपकी कृपासे मुझको आत्मविषयक स्मृतिका लाभ हो गया है, जिससे जड़-चेतनरूप मेरी हृदय-ग्रन्थी छेदन हो गई है । तथा 'मुझपर कुछ कर्तव्य है, जिसके करने न करनेसे मैं पुण्य अथवा पापसे लेपायमान हूँगा —

ऐसा मेरा कर्तव्यता व फलविषयक सन्देह भी निवृत्त हो गया है। अब मैं कर्तव्ययुक्त एवं निस्संशय हुआ हूँ और आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये उद्यत हूँ।

शास्त्रका अभिप्राय समाप्त हुआ। अब कथाका प्रसंग जोड़ते हुए सञ्जय बोला—

सञ्जय उवाच।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

सञ्जय धृतराष्ट्रके प्रति बोला—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेव और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत तथा रोमाञ्चकारी संवादको श्रवण किया।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

मैंने श्रीव्यासजीकी कृपासे (दिव्य-दृष्टि प्राप्त करके) स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे साक्षात् कहा जाता हुआ यह परम गुह्य योग श्रवण किया है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस पुण्यरूप अद्भुत संवादको बारम्बार भली भाँति स्मरण करके मैं प्रतिक्षण हर्षित होता हूँ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

[तथा] हे राजन्! श्रीहरिके उस अति अद्भुत विराट्रूपका बारम्बार सम्यक् प्रकारसे स्मरण करके मुझको महान् आश्चर्य

होता है और मैं पुनः-पुनः हर्षित होता हूँ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

[अधिक क्या कहा जाय?] जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन है, वहाँ ही श्री है, वहीं विजय है, वहीं ऐश्वर्य है और वहीं अचल नीति है, ऐसा मेरा मत है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र-विषयक 'श्रीरामेश्वरानन्दी-अनुभवार्थ-दीपक' भाषा-भाष्य में श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप 'मोक्षसंन्यासयोग' नामक अट्ठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

अष्टादश अध्यायका स्पष्टीकरण

यह अध्याय सम्पूर्ण गीता-शास्त्रका उपसंहाररूप है। भगवान्के सम्पूर्ण उपदेशका रहस्य त्याग व संन्यास ज्ञान, अर्जुनने अन्तमें एक ही साररूप प्रश्न किया कि 'संन्यास' व 'त्यागका' तत्त्व मुझे पृथक्-पृथक् बतलाइये (श्लो० १)। यद्यपि अर्जुनने संन्यास व त्यागका तत्त्व पृथक्-पृथक् पूछा है, तथापि त्याग व संन्यास घट व पटके समान भिन्न-भिन्न अर्थके बोधक न होनेसे किन्तु उदक व तोयके समान एक ही अर्थके बोधक होनेसे, दोनोंको एक ही अर्थमें ग्रहण करके भगवान्ने अर्जुनके प्रश्नका उत्तर दिया और प्रथम त्याग-संन्यासके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न चार मतोंका निरूपण किया—

(१) प्रथम मतमें काम्य-कर्मोंका त्याग ही 'संन्यास' है।

(२) द्वितीय मतमें कर्मोंका त्याग न कर सब कर्मोंके फल-त्यागका नाम ही 'संन्यास' है।

(३) तृतीय मतमें अपने स्वरूपसे ही दोषरूप होनेसे सभी कर्म त्याज्य हैं।

(४) चतुर्थ मतमें यज्ञ, दान तथा तपरूप कर्म त्याज्य न होकर अन्य सब कर्मोंके त्यागका नाम ही 'संन्यास' है (२-३) ।

उपर्युक्त चारों मतोंकी अपेक्षा फिर भगवान्‌ने त्यागके विषयमें अपना मत वर्णन किया और त्रिगुणभेदसे त्यागको तीन श्रेणियोंमें विभक्त करते हुए कहा कि यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं, इसलिये आसक्ति व फलका त्याग करके इनको तो करना ही कर्तव्य है। इसके विपरीत न तो काम्य-कर्मोंका त्याग ही संन्यास हो सकता है, क्योंकि काम्य-कर्मोंको छोड़कर अन्य कर्म भी मनुष्यको बाँधनेवाले ही हैं। दूसरे, स्वरूपसे सब कर्मोंका तो त्याग ही अशक्य है, इसलिये न यही 'संन्यास' हो सकता है। तीसरे, सर्वकर्म-फल-त्याग भी 'संन्यास' नहीं हो सकता, क्योंकि उन कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण किये बिना यद्यपि कर्म-फलकी कोई इच्छा न रखी गई, तथापि अ० ३ श्लो० ९ के अनुसार वे कर्म भगवदर्थ अर्थात् यज्ञरूप न होनेसे यथार्थ फलके हेतु नहीं होते। इसलिये केवल सर्वकर्म-फलत्याग ही पर्याप्त नहीं किन्तु उन कर्मोंका भगवदर्थ होना ज़रूरी है। चौथे, आसक्ति व फलत्यागके बिना केवल यज्ञ-दानादि भी त्यागरूप नहीं हो सकते, क्योंकि आसक्ति व फल-सहित यज्ञ-दानादि पुण्यके ही हेतु होंगे, जिनका फल अधिक-से-अधिक स्वर्ग होगा। वास्तवमें त्याग व संन्यास तो वही है, जिसके द्वारा साक्षात् अथवा परम्परा करके कर्म-बन्धनसे मुक्ति हो। अतः परम्परासे कर्म-बन्धन से छुड़ानेमें सहायक होनेसे भगवदर्थ कर्म तो संन्यासके अन्तर्गत आ सकते हैं। इसके उपरान्त उपर्युक्त चारों मतोंसे विलक्षण अपना मत निरूपण किया और कहा कि नियत कर्मोंका त्याग नहीं बन पड़ता, क्योंकि उन कर्मोंकी कर्तव्यता रहते हुए यदि मोहसे उनको त्याग दिया जाय तो वह तामसिक त्याग ही होगा। और यदि उन कर्मोंको कर्तव्य मानकर काय-क्लेशसे बचनेके लिये ही त्याग दिया जाय तो वह त्याग भी किसी फलका हेतु न होकर राजसी त्याग ही होगा। सात्त्विक त्याग तो वही हो सकता

है कि नियत कर्मोंको भगवदर्थ कर्तव्य-बुद्धिसे आसक्ति व फलका त्याग करके किया जाय (४-९)।

इसके उपरान्त उस तात्त्विक त्यागका, जो अपने आत्मस्वरूपमें अभेद पाये हुए संशयरहित तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा होता है, निरूपण करते हुए भगवान्‌ने कहा कि उनका न तो सकाम कर्मोंसे द्वेष और न निष्काम कर्मोंसे राग ही होता है। क्योंकि सर्वात्मैक्य-दृष्टि नक़द प्राप्त हो जानेसे और अपने परमानन्दकी मस्तीमें अपने-आप भेद तथा कर्तृत्व व कर्तव्य-बुद्धि छूट जानेसे उनकी दृष्टिमें सकाम-निष्कामका भेद और तत्सम्बन्धी राग-द्वेष कोई नहीं रहता, बल्कि उनके सभी कर्म अकर्म ही होते हैं। इसके विपरीत जिनका देहमें अहं-अभिमान है उनके द्वारा तो इस प्रकार कर्मोंका अशेष त्याग असम्भव ही है, इसलिये ऐसे पुरुषोंद्वारा तो भगवदर्थ कर्मफल-त्याग ही 'त्याग' नामसे कहा जा सकता है। तत्पश्चात् कर्मका त्रिविध अनिष्ट, इष्ट व मिश्र फल उन पुरुषोंके लिये वर्णन किया, जिन्होंने आत्मस्वरूपस्थिति प्राप्त न करके सर्वत्याग नहीं किया और जिनके कर्म अकर्म नहीं हुए। इस प्रकार सब कर्मोंकी सिद्धिमें ये पाँच ही कारण बतलाये—

(१) अधिष्ठानरूप शरीर, जिसके आश्रय सब इच्छा, ज्ञान व कर्म सिद्ध होते हैं। (२) कर्ता, अर्थात् कर्तृत्वाभिमानी जीव। (३) इन्द्रिय, मन व बुद्ध यादि करण, जो कर्मके साधन हैं। (४) प्राणोंकी विविध चेष्टा, जिनके द्वारा देहेन्द्रियादिका सम्पूर्ण व्यापार सिद्ध होता है। (५) दैव, अर्थात् इन्द्रियादिकी अनुग्राहक अधिदैव शक्तियाँ, जैसे चक्षुका अधिदैव सूर्य।

इस प्रकार मन, वाणी एवं शरीरसे न्याय अथवा अन्यायरूप जो भी कर्म मनुष्यके द्वारा होता है, नियमसे उसकी सिद्धि उपर्युक्त पाँचों कारकोंद्वारा ही होती है। ऐसा होते हुए भी अज्ञानके कारण जो मनुष्य इनको कर्ता न जानकर केवल अपने आत्मामें ही कर्तृत्वाभिमान धारण करता है, वह दुर्बुद्धि कुछ भी नहीं जानता और केवल इसी अज्ञानके कारण जन्म-मरणके बन्धनमें आता है। परन्तु इसके विपरीत जो तत्त्वदर्शी अपने

आत्मामें कर्तृत्वाभिमान नहीं रखता, किन्तु उपर्युक्त पाँचों कारकोंको ही कर्ता जानता है और इन सबके भिन्न-भिन्न व्यापारोंमें अपने आत्माको साक्षीरूप से तमाशाई देखता है, वह देहादिद्वारा सारे संसारको मारकर भी नहीं मारता और इस ज्ञानके प्रभावसे पुण्य-पाप तथा जन्म-मरणादिके किसी बन्धनमें नहीं आता। यही तात्त्विक त्याग है, यही ठोस सर्वकर्म-संन्यास है, इसी ज्ञानके अपरोक्ष होनेपर जन्म-मरणादि सब बन्धनोंसे नकद मुक्ति मिल जाती है और यही ज्ञान व यही संन्यास गीताका प्रतिपाद्य विषय है (१०-१७)।

इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नपर भगवान्ने त्याग व संन्यासका तत्त्व निरूपण किया। फिर ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय—ये तीन तो कर्मके प्रवर्तक और कर्ता, क्रिया व करण—ये तीन कर्मकी सामग्री कही गई, जिनके मिलनेसे कर्म-रूप व्यापार सिद्ध होता है। तत्पश्चात् त्रिगुण भेदसे ज्ञान, कर्म व कर्ताके त्रिविध भेद निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा की (१८-१६)। यहाँ सत्त्व, रज व तम भेदसे श्लो० २० से २२ में तीन प्रकारका ज्ञान, श्लो० २३ से २५ में तीन प्रकारका कर्म और श्लो० २६ से २८ में तीन प्रकारका कर्ता वर्णन किया गया। फिर बुद्धि व धृतिके त्रिविध भेद कथन करनेकी प्रतिज्ञा करके श्लो० २६ से ३२ में तीन प्रकारकी बुद्धि तथा श्लो० ३३ से ३५ में तीन प्रकारकी धृति स्पष्ट करके बतलाई गई। तत्पश्चात् इन सबका फल जो सुख है उसको भी त्रिगुण भेदसे निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा करके सात्त्विक, राजस व तामस सुखका लक्षण वर्णन किया और कहा कि ऐसा कोई पदार्थ पृथ्वी, स्वर्ग तथा देवताओंमें नहीं है, जो इन तीनों गुणोंसे रहित हो (३६-४०)।

इसके उपरान्त गीताके उपसंहारमें इस त्रिगुणात्मक संसारसे मुक्तिका उपाय सार रूपसे कथन करनेकी इच्छासे प्रथम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र, चारों वर्णोंके प्राकृतिक कर्मोंका भेद श्लो० ४१ से ४४ में वर्णन किया। और बतलाया कि ऐहलौकिक स्वार्थ एवं कामनाका परित्याग करके यदि केवल धार्मिक दृष्टिसे तत्परतापूर्वक अपने-अपने वर्ण-धर्मका पालन किया जाय तो उसका फल स्वर्गादि उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होता है। परन्तु यदि पारमार्थिक-

दृष्टिसे ईश्वर-प्राप्ति उद्देश्य रखकर अपने-अपने वर्ण-धर्मका पालन किया जाय तो इसका फल पापोंका क्षय होकर अन्त करणकी निर्मलताद्वारा ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूप सिद्धि होती है, जिसके द्वारा ज्ञाननिष्ठा सिद्ध होकर परम पदकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें भगवान्‌ने सरल-से-सरल यही उपाय बतलाया कि जिस परमात्मासे सम्पूर्ण संसारकी प्रवृत्ति हुई है और जिससे यह सब ओत-प्रोत हो रहा है, निष्काम भावसे अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों के द्वारा उस परमात्माकी पूजा करके मनुष्य अन्तःकरणकी निर्मलता एवं भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है, जिससे ज्ञाननिष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है। यह विचार नहीं करना चाहिये कि उत्तम वर्ण-धर्मके द्वारा ही भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होती है। नहीं, नहीं, बल्कि अपना स्वाभाविक छोटे-से छोटा विगुण धर्म भी दूसरेके उत्तम धर्मसे श्रेष्ठ होता है और वह भगवान्‌की प्रसन्नताका हेतु हो जाता है। जिस प्रकार म्यूनिसिपैलिटी का दरोगा-सफाई तथा भंगी भी यदि सरकारकी प्रसन्नता का उद्देश्य रखकर निष्काम-भावसे अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा सरकारकी सेवापरायण होते हैं तो वे प्रजाप्रिय सरकारके हृदयमें उतना ही स्थान प्राप्त कर लेते हैं जितना एक मंत्री उसके हृदयमें स्थान रखता है। क्योंकि जिस प्रकार मन्त्रीके बिना राज्य नहीं चल सकता और राज्य-स्थापनामें उसकी जरूरत है, उसी प्रकार दरोगा व भंगी भी राज्यकी स्थापनामें उतने ही आवश्यक अङ्ग हैं। इस प्रकार निष्काम भावसे अपने स्वभावसे नियत किये हुए कर्मोंका आचरण करनेवाला मनुष्य किसी पापको प्राप्त न होकर भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। इसलिये अपना स्वाभाविक कर्म चाहे सदोष भी हो, त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि यों तो कर्म अपने स्वरूपसे दोषयुक्त ही है, जिस प्रकार अग्नि अपने स्वरूपसे धूमयुक्त ही होती है। परन्तु अपने निष्काम-भावके प्रभावसे वह सदोष भी निर्दोष हो जाता है और अन्त करण की निर्मलताद्वारा अपने बन्धनसे मुक्त कर देता है (४२-४८)। इस प्रकार कर्मोंद्वारा अन्त.करणकी निर्मलतारूप जो सिद्धि प्राप्त की जा सकती है,

उसका वर्णन करके निर्मलान्तःकरणमें जो परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्तव्य है, उसका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने उसकी निवृत्तिरूप साधन-सामग्रीका वर्णन किया। उनमें विशुद्ध-बुद्धि, इन्द्रियसंयम, एकान्तसेवन, अल्पाहार, ध्यान-योग एवं वैराग्यपरायणता ग्रहण करनेके लिये (उपादेयरूप) तथा शब्दादि विषय, राग, द्वेष, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध एवं परिग्रह—त्याग करनेके लिये (हेयरूप) आवश्यक सामग्री वर्णन किये गये। और बतलाया कि उपर्युक्त क्रमसे साधन-सम्पन्न पुरुष अभ्यासके बलसे ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है तथा सब भूतोंमें सम हुआ मेरी ज्ञानलक्षणा पराभक्ति को पा जाता है। उस पराभक्तिके द्वारा वह पुरुष, जितना मैं हूँ और जो मैं हूँ, वैसा मुझे तत्त्वसे जान लेता है और फिर मुझमें अचल प्रवेश अर्थात् सात्त्विक योग प्राप्त कर लेता है, जहाँसे फिर कभी उत्थान नहीं होता। फिर वह सब कर्मोको करता हुआ भी मेरे प्रसादसे शाश्वत अव्यय पदको प्राप्त हो जाता है (४९-५६)। इसलिये अर्जुन! तू चित्तसे अपने सब कर्मोको मुझ सर्वसाक्षीमें संन्यास करके, अपने कर्तृत्वाभिमानको खोकर और अपने आत्मस्वरूपमें अभेदरूपसे स्थितिरूप बुद्धियोगका आश्रय करके निरन्तर मुझमें मचित हो। इस प्रकार तू मचित हुआ शारीरिक, मानसिक एवं धार्मिक सब संकटोंसे तर जायगा, इससे भिन्न इन सकटोंसे तरनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। यदि अहंकारसे मेरे वचनोंपर ध्यान न देगा तो लोक व परलोकसे भ्रष्ट हो जायगा (५७-५८)। इसके विपरीत यदि अहंकारके वशीभूत हुआ तू ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो यह तेरा मिथ्या ही निश्चय है। क्योंकि तेरी क्षात्र-प्रकृति तुझे बलात्कारसे युद्धमें जोड़ देगी और मोहवश जो युद्ध तू नहीं करना चाहता है वह तुझे प्रकृतिवशात् करना ही पड़ेगा। ईश्वर सर्वभूतोंके हृदयोंमें ही स्थित हुआ अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे प्रकृतिरूप यन्त्रपर आरूढ हुए सब देहेन्द्रियादि कठ-पुतलियोंको उनके अपने स्वभावके अनुसार नचा रहा है, इसलिये प्रकृति-विरुद्ध किसीका कुछ हठ पेश नहीं जाता। इससे अच्छा तो यही है कि

प्रकृतिविरुद्ध कुछ हठ न करके और उस नचानेवालेसे विरोध न ठानकर अपने सर्वभावोंसे उसीकी शरणको प्राप्त होवे और जैसे वह नचावे वैसे नाचकर उसे प्रसन्न करे। इस प्रकार उसकी प्रसन्नतासे उससे अभेद प्राप्त किया जा सकता है (५९-६२)। अन्तमें भगवान्‌ने कहा कि इस उपदेश पर विचार करके जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। फिर अत्यन्त गुह्य अपने परम वचन जो सब उपदेशका साररूप है, अपने प्रिय भक्त अर्जुन को दो श्लोकोंमें कहे और उपदेशकी समाप्ति की (६३-६६)।

तत्पश्चात् शास्त्र-सम्प्रदायकी विधि बतलाते हुए, जो इस शास्त्र-श्रवण का अधिकारी है, उसके अधिकारका वर्णन किया और वक्ताके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए पढ़नेवाले तथा सुननेवालेके लिये फलका विधान किया (६७-७१)। फिर अर्जुनसे पूछा कि क्या तुमने एकाग्रचित्तसे हमारे वचनोंका श्रवण किया और क्या तुम्हारा मोह नष्ट हुआ? उत्तरमें अर्जुन ने छातीपर हाथ रखकर स्वीकार किया कि 'निस्सन्देह आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे आत्मविषयक स्मृतिका लाभ हो गया है, अब कर्तृत्व व कर्तव्य बुद्धिसे छूटकर मैं निस्संशय हुआ हूँ और आपकी आज्ञा-पालनके लिये कटिबद्ध हूँ।' अन्तमें सञ्जयने धृतराष्ट्रके प्रति कहा कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं वहीं श्री व विजय है (७२-७८) ॥ इति ॥

यह श्रीगीतादर्पण नामक ग्रन्थ श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी वि० स० १९९६ को तीर्थराज श्रीपुष्करमें समाप्त हुआ। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

आनन्द-कुटीर-ट्रस्ट पुष्करद्वारा प्रकाशित
इस ग्रन्थके लेखककी अन्य रचना

आत्मविलास—

पृष्ठ संख्या ५४०, २०"×३०"=१६ पेजी, मूल्य २॥)

(१) माननीय श्रीमन्तु सूबेदार बम्बई (M. L. A. Central) प्रधान श्रीसस्तु-साहित्य-वर्धक-कार्यालय-ट्रस्ट अहमदाबाद यूँ लिखते हैं—

'आत्मविलास' अर्थात् 'संसारके खरे-खोटे खेलमें अपना आत्मा किस प्रकार रम रहा है' यह दिखलानेवाला तथा 'अज्ञानमेंसे ज्ञानमें किस प्रकार पहुँचा जाता है' यह सूचित करनेवाला यह ग्रन्थ है। लेखककी प्रखर विद्या और ज्ञानबल तो इस पुस्तकसे ज्ञात होगा, परन्तु उन्होंने इस पुस्तकमें तो अपने अनुभवकी कथा लिखी है। उनका गम्भीर और हृदयस्पर्शी अध्यात्म-ज्ञान इस पुस्तकमें स्थल-स्थलपर तर आता है। वस्तु एक ही है। देहभाव तथा जीवभावमेंसे आत्मभाव व ब्रह्मभावमें कैसे पहुँचा जा सकता है, व्यवहारिक जीवनमेंसे आंशिक अथवा पूर्णरूपसे पारमार्थिक जीवनमें कैसे जा सकते हैं, तामसमेंसे राजसमें और राजसमेंसे सत्त्वमें कैसे जाना होता है और क्यों जाना चाहिये? इत्यादि प्रश्न प्रत्येक जिज्ञासुके चित्तमें प्रति-दिन खड़े होते हैं और यह बारम्बार नई-नई दृष्टिबिन्दुसे इनका उत्तर माँग रहा है। इस पुस्तकमें लेखकने ये उत्तर निश्चयात्मक रीतिसे प्रस्तुत किये हैं।

(२) शास्त्रार्थ महारथी पंडितराज श्रीवेणीमाधवजी शास्त्री, घटिकाशतक शतावधान संस्कृताशु कवि कविचक्रवर्ती, काशीसे लिखते हैं—

आपका लिखा हुआ आत्मविलास नामका दार्शनिक रहस्य-प्रकाश देखकर हृदय अत्यन्त प्रसन्न हुआ। आपने बहुत परिश्रमसे इस दर्शन-शास्त्रको तैयार किया है। आपने इस पुस्तकको विद्याबलसे ही नहीं लिखा, किन्तु विद्या-ज्ञान दोनों बलसे लिखा है, जैसा कि तुलसीदास स्वामीका रामायण दोनों बलसे है। लोकमान्य तिलकके प्रवृत्ति-मार्गको आपने प्रमाण व युक्तियोंसे ऐसा खण्डन किया है कि अभूतपूर्व कल्पना आपने की है।

इस पुस्तकसे देशका महान् कल्याण है। व्याकरण-न्यायादि शास्त्रोंमें हम भी बहुत टीकाएँ लिख चुके हैं। लेखरहस्यका हमको अनुभव है आपका सुलेख हमको मुग्धकर आपके दर्शनकी इच्छा करा रहा है।

(३) श्रीयुत् हनुमानप्रसादजी पोद्दार सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर—यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ आध्यात्मिक विषयकी खानि है और यदि इसका विस्तृतरूपसे प्रचार किया जाय तो निश्चय ही यह पाठकोंको अत्यन्त आध्यात्मिक लाभ प्रदान करेगा।

(4) 'Times of India Bombay' 2 January 1951

Atma-Vilas concerns the playful spirit of the soul which tries to rise to the supreme source of real knowledge It is a simple treatise on Indian philosophy, religions and ethics, in which the author has tried to describe in some detail his own experiences in a clear and methodical way, giving a correct exposition of the vast philosophical truths

The book consists of two parts, the first dealing with the theories of evolution, the many right and wrong Karma, the visible and invisible worlds, while the second narrates general duties and describes the five stages of creation The three paths of liberation are clearly defined Karma and the Sankhya philosophy have been specially discussed and the thoughts of Tilak synthesised in a masterly fashion

(४) 'टाइम्स आफ इंडिया बोम्बे' २ जनवरी सं० १९५१

'आत्मविलास' आत्माकी विलासमय लीलाका प्रदर्शक है, जोकि तात्त्विक ज्ञानके उच्चतम साधनोंकी ओर उड़ा ले जानेकी चेष्टा करता है। भारतीय दर्शन, धर्म एवं नीतिपर यह एक सरल ग्रन्थ है, जिसमें लेखकने अपने निजी अनुभवोंको लेकर विशाल दार्शनिक तत्त्वका किञ्चित् विस्तारके साथ एक स्पष्ट व क्रमबद्ध शैलीसे विशुद्ध विवेचन करनेका प्रयास किया है।

उक्त पुस्तक दो भागोंमें विभक्त है। प्रथम भागमें विकासवादके सिद्धांत, नाना भाँतिके युक्त व अयुक्त कर्म तथा भौतिक व अध्यात्मिक जगत्की चर्चा है। जबकि दूसरे भागमें सामान्य कर्तव्यों एवं सृष्टिके पाँच सोपानोंका वर्णन है। मुक्तिके तीन मार्गोंका विवेचनात्मक स्पष्टिकरण किया गया है तथा अनुभवपूर्ण शैलीसे लोकमान्य तिलकके विचारोंसे समन्वय करते हुए 'कर्मयोग' व 'सांख्ययोग' का विशेषरूपसे विवेचन किया गया है।

(४) 'हिन्दुस्तान' देहली २८ मई सं० १९५०

यह आत्म-चिन्तनविषयक ग्रन्थ दो खंडोंमें विभक्त है। पहले खंडमें पुण्य-पापकी व्याख्या ९१ पृष्ठोंमें की गई है और मनुष्योंको पेटपालू, कुटुम्ब-पालू, जाति-प्रेमी, देशभक्त तथा तत्त्ववेत्ता प्रकारांतरसे उद्भिज, कीट, पशु, मनुष्य और देवत्वपूर्ण बताकर ६२ वें पृष्ठसे आगे साधारण धर्मका विवेचन किया गया है तथा इस साधारण धर्मके प्रकरणमें भी मनुष्योंके पामर विषयी, निष्काम, उपासक तथा वैराग्यवान् जिज्ञासु पाँच भेद किये गये हैं। सिद्धार्थ अर्थात् लक्ष्य यह बताया गया है कि तत्त्ववेत्ता पुरुष ही संसारकी विभूति है और उनके बिना विश्वमें शांतिकी सच्ची स्थापना नहीं हो सकती। विद्वान् लेखकका अनुभव-आधारित आध्यात्मज्ञान सर्वत्र सरल शैलीद्वारा प्रस्फुटित हुआ है। कर्माकर्मका रहस्य, सगुणोपासना, पञ्च देवभक्ति आदि जटिलतर विषयोंकी बोधप्रद व्याख्या पाठककी पर्याप्त मनस्तुष्टि कर सकती है। इसके उत्तर या द्वितीय खंडमें लोकमान्य तिलकद्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांतका कि 'गीता कर्म योगप्रधान शास्त्र है' निराकरण किया गया है। वास्तवमें गीताके ७०० श्लोक इतने लचीले हैं कि उनका बुद्धिःपुरस्सर अर्थ करनेमें विद्वानोंको सुलभता रही है। कोई उसे अनासक्तिप्रधान, कोई उसे ज्ञानयोग-प्रधान और कोई उसे द्वैताद्वैतका सम्मिश्रण मानते हैं। स्वामीजीने

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

इस श्लोककी 'प्राप्यते' और 'गम्यते' क्रियाओंको लेकर कर्मयोगियोंसे

ज्ञानयोगियोंकी जो अधिक महत्ता प्रतिपादित की है और गीताको ज्ञान-प्रधान सिद्ध किया है, उसमें उनकी तर्क-पद्धति बड़ी अभिराम है। पुस्तक के अन्तके ४० पृष्ठोंमें मनकी एकाग्रतासम्बन्धी विवेचन भी श्रद्धालु पुरुषोंके लिये कामकी वस्तु है। प्रयोजन यह है कि जिन्हें आत्मसम्बन्धी जानकारी की वास्तविक इच्छा हो उनके लिये यह ग्रन्थ निश्चितरूपसे सच्चा मार्ग प्रदर्शन कर सकता है, ऐसी हमारी मान्यता है। ग्रन्थकी भाषा सरल और रोचक है और वेदान्त-जैसे जटिल विषयको समझानेमें लेखकको सफलता मिलना साधारण बात नहीं है। ब्रह्मदत्त शर्मा

(६) 'नवभारत टाइम्स' २४ दिसम्बर १९५०

प्रस्तुत पुस्तकका विषय अध्यात्म है और इसमें लेखकने 'संसारके खरे-खोटे खेलमें आत्मा किस प्रकार रम रहा है' इसकी झाँकी दिखलाकर अज्ञानान्धकारको ज्ञानके प्रकाशसे दूर करनेकी सम्यक् दृष्टि भी प्रदान की है। भारतीय दर्शन, धर्म और मीमांसाका यह सुन्दर ग्रन्थ है। लेखकने स्वत-के अनुभवोंको अत्यन्त सरल शैलीमें पुस्तिबद्ध किया है। नये दृष्टिकोणका भी पूरा ध्यान रखा गया है, जिससे पुस्तक अनमोल हो जाती है।

पुस्तकके दो भाग हैं। प्रथम भागमें विकास, एक ब्रह्म, अनेक पाप-पुण्य, कर्म और दृश्य तथा अदृश्य जगत्का विशद वर्णन है और फिर व्याख्याके अनुसार पूर्ण विवेचना की गयी है। सृजनात्मक श्रेणियोंके साथ तीन पुरुष तथा तीन जिज्ञासुकी व्याख्या बड़ी विद्वत्तापूर्वक की गयी है। जीवात्माके विकास-क्रमकी कथा अत्यन्त मनोरंजक है। आत्म-विलासमें विद्वान् लेखकने इसपर अच्छा प्रकाश डाला है। ज्ञान भक्ति एवं क्रियापर भी उन्होंने विवेचना करके सयोजन साधा है। कर्म तथा सांख्यके सिद्धान्तों पर दूसरे भागमें मौलिकतासे टीका की गयी है। पुस्तक नि:सन्देह अत्यन्त उपयोगी, मननशील और मौलिक है। परिशिष्ट भागमें (४० पृष्ठ) मन की एकाग्रतापर विशेषरूपसे प्रकाश डाला गया है।

मिलनेका पता—भ० गणपतराम गंगाराम सर्राफ, नया बाज़ार, अजमेर

(७) श्री १००८ पूज्य अमरचन्दजी मुनि जैन-आचार्य, 'जैन-प्रकाश' मुंबई

मानव, न केवल आत्मा है और न केवल शरीर। वह है, आत्मा तथा शरीरका एक मधुर संयोग। उसकी रचना दुहरी है। इस दुहरी रचनाके लिए खुराक भी दुहरी ही चाहिए; इसमें दो मत नहीं हो सकते। आत्माको आत्माकी खुराक और शरीरको शरीरकी खुराक देनेमें ही मानव-जन्मकी सार्थकता निहित है। आत्माकी खुराक है अहिंसा, सत्य, त्याग, वैराग्य, इन्द्रिय-संयम, तप आदि आत्म-गुणोंमें सतत रमण करना, और शरीरकी खुराक है रोटी, मकान, कपड़ा आदि। आज जागतिक रंगमंचकी हलचलकी ओर जब आँख उठाकर देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो सारा विश्व आत्माको छोड़कर मात्र शरीरसे ही चिपट गया हो। भौतिक वादकी दौड़में प्रत्येक राष्ट्र पड़ौसीको पीछे छोड़ देनेमें ही अपनी कृतकृत्यता समझ बैठा है। मानवके मन-वच-कायमें भौतिकता ऐसी गहरी पैठ गई है कि उसकी बोल-चाल, रहन-सहन, सोचने-समझने में सर्वत्र भौतिकताकी ही छाप नज़र आती है। ऐहिक महत्त्वाकाँक्षाएँ, पदार्थवादकी होड़ा-होड़ी, पार्थिव-लिप्सा, रोटी और भोगविलासमें रचे-पचे रहना—यही आजके मानवकी सर्वोच्चताके मान-दण्ड बन गये हैं। ये ही आजके महत्त्वपूर्ण और ज़िन्दा प्रश्न बन गये हैं। परन्तु आत्मा—जो भूख से कराह रही है—की चिन्ता आज किसे है? आज समूचे विश्वकी आत्मा भूखी है। वह तड़प रही है शान्तिके लिए, सुखके लिए, त्याग-वैराग्य एवं संयमकी आत्ममुखी प्रवृत्तिके लिए—जो उसकी असली खुराक है। यदि आत्माको आत्माकी खुराक नहीं दी गई तो वह दिन दूर नहीं, जब विश्वका रंग-मंच त्राहि-त्राहिकी दर्दनाक आवाज़से कराह उठेगा।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि स्वामी आत्मानन्दजीने आत्माकी सच्ची खुराक जुटानेके लिए 'आत्म-विलास' के रूपमें एक स्तुत्य एवं अनुकरणीय रचनात्मक प्रयास किया है। आत्म-विलासमें है क्या? सीधी-सादी भाषामें आत्माकी बात, आत्म-रमणकी बात। साथमें भारतके जीवित वेदान्त-दर्शनकी पुट सोनेपर सुहागेका काम करती है। सच्चे सुखका झरना कहाँ बहता है? आत्म-शान्तिका उपाय क्या है? पुण्य-पाप क्या है? धर्म का मर्म क्या है? कर्मका महत्त्व क्या है? आदि प्रश्नोंका हृदयस्पर्शी विवेचन सबको बरबस अपनी ओर खींच लेता है।

पुस्तक केवल कुछ पढ़े-लिखे तथा बुद्धि-जीवियोंके कामकी ही चीज़ न रहकर जन-साधारणके जीवनमें प्रवेश पानेयोग्य है । आत्म-रसके रसिक इस *आत्म-निर्झरसे अधिक-से-अधिक लाभान्वित हों*—एकमात्र यही मंगल कामना है ।

(८) 'शान्ति-संदेश' वर्ष २ अङ्क ३ खगड़िया (मुङ्गेर)

विश्वके प्राणीमात्रमें आत्माका अधिवास है, पर आत्माका वास्तविक वरणयन मानव-प्राणीमें ही सबल एवं सजीव रूपमें हुआ है । आत्मापर *अज्ञानके मैल जम जानेके कारण जीवमात्र अपने-अपने स्वरूप और विश्व* के रहस्योंको जानने, समझने और परखनेमें असमर्थ हैं । विश्वके रहस्यों तथा प्रकृतिमाताकी दैनिक क्रियाओंसे परिचित हो जानेपर ही जीव आप ही परमात्माके रहस्यों और लीलाओंको जानकर उस जगन्नियंता से साक्षात कर निर्वाणका पद प्राप्त कर सकता है । अवस्था-भेद, शरीर-भेद और योनि-भेदके ऊपर अन्त करणमें विश्वास कर 'अहं' और 'स्वार्थ' को परित्याग करते हुए अपने-अपने उत्तरदायित्वको परिपालन करनेसे हीं जीव सांसारिक कष्टोंसे मुक्त हो सकता है । 'आत्म-विलास' के विद्वान् और ज्ञान तथा अनुभवके धनी लेखकने अपनी सूझों, आत्मानुभूति–साधना और यौगिक क्रियाओंमें तल्लीन रहकर जो अनुभव प्राप्त किये हैं, उसे इस ग्रन्थमें सच्चे साधककी भाँति अभिव्यक्त कर दिये हैं । प्रकृतिमाताकी गोद में सब समय जीव खेलते रहनेपर भी वह क्यों प्रकृति और ईश्वरके बतलाये तथा दिखलाये रास्तेसे दूर भागकर रात-दिन विषय-वासना, लोभ-लालच और छल-प्रपंचमें डूबा रहता है ? इस प्रश्नका समाधान 'आत्म विलास' नामक ग्रन्थके 'मनन' चिन्तन एवं पठन करनेसे ही होगा । यह ग्रन्थ वेदान्तका निचोड़ है । इस समय हिन्दी-साहित्यमें ऐसे ग्रन्थोंका सर्वथा अभाव-ही-अभाव है । अध्यात्मवादपर आस्था रखनेवाले प्रत्येक जिज्ञासुओंको ग्रन्थकी एक प्रति अवश्य [illegible] चाहिये । हाँ, 'आत्म-विलास' में विषयोंका [illegible] कर उसको प्रतिपादित, विश्लेषण तथा चित्रण जिस तरह [illegible] है, उसे देखकर अटूट [illegible] होता है कि ऐसे ही ग्रन्थोंको अपने जीवनमें [illegible] देनेसे भारतियोंका नैतिक स्तर ऊँचा होगा और हृदयमें [illegible]नवताका विस्तार हो सकेगा ।

—श्रीरामं[illegible] सिंह 'साथी'